श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचित

गोम्मटसार

जीवकाण्ड

卐

हिन्दी टीकाकार

(स्व.) ब्र. पं. रतनचन्द जैन मुख्तार

卐

सम्पादक

पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमन्नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती-विरचित

गोम्मटसार-जीवकाण्ड

•

❀ हिन्दीटीका-प्रेरक ❀

(स्व०) आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज

•

❀ हिन्दीटीकाकार ❀

(स्व०) ब्र. पं. रतनचन्द जैन मुख्तार, सहारनपुर

•

❀ सम्पादक ❀

पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

•

❀ प्रकाशक ❀

आचार्यश्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज०)

गोम्मटसार : जीवकाण्ड

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

हिन्दीटीका-प्रेरक : (स्व०) आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज

आशीर्वचन : आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज
आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी

टीकाकार : (स्व.) पण्डित रतनचन्द जैन मुख्तार

सम्पादक : पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

प्रस्तुति : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रकाशक : आचार्यश्री शिवसागर दि. जैन ग्रन्थमाला, श्रीमहावीरजी (राज०)

प्राप्ति-स्थान : पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री
साटड़िया बाजार, गिरिवर पोल
भीण्डर (राज०) ३१३ ६०३

संस्करण : प्रथम, १००० प्रतियाँ, जनवरी १९९३

मूल्य : १५०) एक सौ पचास रुपये

मुद्रक : हिन्दुस्तान आर्ट प्रिण्टर्स, जोधपुर, फोन २५२७७

आचार्यश्री वर्धमानसागर जी महाराज

के

* आशीर्वचन *

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य षट्खण्डागम सिद्धान्तग्रन्थ का स्वाध्याय कर रहे थे। चामुण्डराय दर्शनार्थ पहुँचे, ग्रन्थ का स्वाध्याय बन्द हो गया। **चामुण्डराय** ने पृच्छा की—"स्वामिन्! इन ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय हम लोगों के बोधगम्य कैसे हो सकेगा?" बस! इसी प्रश्न को निमित्त करके सर्वजन-हिताय ग्रन्थ-निर्माण का मानस बना और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की लेखनी से प्रकट हुआ **गोम्मटसार** अपरनाम **पंचसंग्रह ग्रन्थ**। यह ऐतिह्य श्रुति सर्वजनप्रसिद्ध है। जैसे चक्ररत्न से चक्रवर्ती षट्खण्ड पृथ्वी पर अधिकार करता है, उसी प्रकार नेमिचन्द्र आचार्य ने अपने प्रज्ञाचक्र से सिद्धान्त के जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध रूप षट्खण्डों का ज्ञान प्राप्त कर सिद्धान्तचक्रवर्तित्व प्राप्त किया।

गोम्मटसार ग्रन्थ जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड ऐसे दो भागों में विभाजित है। षट्खण्डागम ग्रन्थ का सारभूत यह ग्रन्थ बहुत वर्षों से संक्षिप्त-विस्तृत टीकाओं सहित अध्येताओं द्वारा अध्ययन किया जाता रहा है। जैनजगत् के विश्रुत विद्वान् **पं. रतनचन्द्र मुख्तार** ने **आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज** की प्रेरणा से नेमिचन्द्राचार्य विरचित **त्रिलोकसार** एवं **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** की नवीन टीकाओं के सम्पादन में अपना अथक सहयोग दिया। **लब्धिसार-क्षपणासार** की नवीन टीका स्वयं उन्होंने लिखी। लब्धिसार-क्षपणासार की वाचना आ. क. श्रुतसागरजी के सान्निध्य में सम्पन्न हुई, उसी समय उनकी प्रेरणा से प्रस्तुत गोम्मटसार-जीवकाण्ड टीका लिखने का आपका मानस बना और टीका का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा जीवन के अन्तिम दिनों (३ दिन पूर्व) तक चला। टीका पूर्ण नहीं हो सकी, अन्तिम कुछ गाथाएँ शेष रह गईं जिनकी टीका आपके ही **एकलव्य तुल्य शिष्य जवाहरलाल जी सिद्धान्तशास्त्री** ने लिखी। प्रस्तुत समग्र ग्रन्थ का सम्पादन भी उन्हीं ने किया। सम्पादन में समर्पित सहयोग **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी** ने दिया। इन दोनों के प्रति यही मगलकामना एवं आशीर्वाद है कि उभय विद्वान् जिनवाणी माँ की सेवा में इसी प्रकार अहर्निश तत्पर रहकर भावश्रुतज्ञान-पुरस्सर केवलज्ञान-प्राप्ति के पुरुषार्थ में यथाशीघ्र अग्रसर हों। ग्रन्थ के नवीन टीकाकर्ता के परिश्रम की यही सार्थकता है कि वे यथाशीघ्र श्रेष्ठ मानव-पर्याय को पुनः प्राप्त कर अशुद्ध-निश्चयनय से अशुद्ध (संसारी) अपनी आत्मा को मोह-योग निमित्तक गुणस्थान एवं मार्गणास्थानों से अतीत करके शाश्वत शुद्ध सिद्धदशा-प्राप्ति हेतु मोहनाशपूर्वक अयोगीदशा प्राप्त करें। पाठकगण भी यही फल यथाशीघ्र प्राप्त करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

तारंगा सिद्धक्षेत्र • वर्षायोग, १९९२

आर्यिका १०५ विशुद्धमती माताजी के

❋ आशीर्वचन ❋

जैन वाङ्मय की अजस्र धारा १०८ **श्री महावीर स्वामी** से अद्यावधि अनवरत प्रवाहित होती चली आ रही है। इसी शृंखला में **भगवन्त भूतबलि-पुष्पदन्त** मुनिराजों को जो ज्ञान **बहुश्रुतज्ञ धरसेनाचार्यजी** से प्राप्त हुआ था, वह आज **षट्खण्डागम** के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त है। उसी षट्खण्डागम में से कुछ प्रमेय ग्रहण कर **आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ने **जीवकाण्ड - गोम्मटसार** की रचना की थी। जीवकाण्ड ग्रन्थ अपने-आप में एक महान् ग्रन्थ है। रत्नाकर के सदृश इसमें अनुपम रत्न रूपी अनेक प्रमेय भरे हैं।

इस ग्रन्थ की टीका विशेष क्षयोपशम के धनी **सिद्धान्तभूषण पण्डित रतनचन्द्र जी मुख्तार** ने अनेक ग्रन्थों का सहयोग लेकर बहुत परिश्रमपूर्वक की थी। अन्त की ३५ गाथाएँ अवशेष थीं और आप काल के प्रहार की चपेट में आकर स्वर्गस्थ हो गये। उन ३५ गाथाओं की टीका पं. **जवाहरलाल जी सिद्धान्तशास्त्री** ने की है।

स्व. ब्र. पं. रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुरवाले ज्ञान के अपूर्व भण्डार थे। पूर्व संस्कार के बल पर और इस जन्म के प्रबल पुरुषार्थ के बल पर आपने **धवल-महाधवल** जैसे महान् ग्रन्थों की कुञ्जियाँ खोली और गणितप्रधान **त्रिलोकसार** जैसे जटिल ग्रन्थ की टीका में मुझे परम सहयोग दिया। आप अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी थे। अल्पवय में ही धनार्जन की ओर से मुख मोड़ कर ज्ञानार्जन में संलग्न हो गये थे। आपकी शारीरिक शक्ति भी उत्तम थी। सदा एक बार भोजन-पान करते थे, किन्तु पठन-पाठन और लेखन-कार्य में आपके १८-२० घण्टे बिना थकान व्यतीत होते थे। आपके स्वर्गस्थ होने से विद्वज्जगत् में जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति आज तक नहीं हुई और न निकट भविष्य में होने की सम्भावना दिख रही है। आपके द्वारा की हुई यह टीका भव्यजीवों को सम्यग्ज्ञान की वृद्धि में चिरकाल तक सहायक बने, यही मेरी मंगल भावना है।

पं. श्री जवाहरलाल जी सि. शा. ने इस टीका के संशोधन एवं सम्पादन में अत्यधिक परिश्रम किया है। यथार्थ बात तो यह है कि आपकी हार्दिक लगन और सत्प्रेरणा का ही यह फल है जो यह महान् ग्रन्थ जिज्ञासु भव्यजीवों के हाथों में पहुँच रहा है।

प्रेसकॉपी सुवाच्य न होते हुए भी ग्रन्थ का मोहक एवं आकर्षक प्रकाशन यह **डॉ. श्री चेतनप्रकाश जी पाटनी** के ही अथक परिश्रम का फल है। सतत व्रत-उपवास करते हुए भी आपका यह कष्ट-साध्य परिश्रम यथार्थ में अतिश्लाघनीय है।

दोनों विद्वान् स्वस्थ रहते हुए जिनवाणी माँ की सेवा सतत इसी प्रकार करते रहें; यही मंगल भावना है। भद्रं भूयात्।

फलासिया वर्षायोग • **वि. सं. २०४६**

प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार

(स्व.) पण्डित रतनचन्द जैन मुख्तार, सहारनपुर का

संक्षिप्त परिचय

सः जातो येन जातेन, याति धर्मः समुन्नतिम् ।
अस्मिन् असारसंसारे, मृतः को वा न जायते ।।

अजीज और एण्ड्रूज, अविनाश और अक्षय सबके जन्मों का लेखा-जोखा नगरनिगम रखते हैं परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके जन्म का लेखा राष्ट्र, समाज और जातियों के इतिहास प्यार से अपने अंक में सुरक्षित रखते हैं। **जुलाई १९०२** में सहारनपुर (उ.प्र.) के बड़तलायादगार मोहल्ले में **पिताश्री धवलकीर्ति** के घर **माता बरफीदेवी** की कोख से जन्मे **रतनचन्द** ऐसे ही मान्य पुरुष हुए।

मध्यम कद, दुर्बल शरीर, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती सी ऐनक धारण की हुई आँखें, धीमा बोल, सधी चाल और सदैव स्मित मुखमुद्रा—बस, यही था उनका **अङ्गन्यास**।

सफेद धोती और दुपट्टा—सामान्यतः यही था उनका **वेषविन्यास**।

सहृदय, मृदुभाषी, सरल परिणामी, करुणाशील, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी; जीवन नियमित, दृष्टि स्पष्ट, शक्ति सीमित पर उसी में सन्तुष्ट, समझदार साथी, कड़वाहट पीकर भी वातावरण को मधुरता प्रदान करने वाले, वात्सल्य के धनी—बस, यही था उनका **अन्तर आभास**।

आप जब आठ वर्ष के थे तभी आपके पिता दिवंगत हुए। माता और बड़े भाई के संरक्षण में आपका जीवनक्रम आगे बढ़ा। सन् १९२० में आपने हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की और दिसम्बर १९२३ में मुख्तार-परीक्षा उत्तीर्ण कर आप सहारनपुर क्षेत्रीय न्यायालय में कार्य करने लगे। २४ वर्ष तक सफल मुख्तारी करने के बाद आपने सन् १९४७ में इसका परित्याग कर दिया। **बाबा भागीरथ जी वर्णी** की प्रेरणा से आप स्वाध्याय की ओर आकृष्ट हुए थे। अनन्तर आध्यात्मिक सन्त पूज्य **क्षुल्लक गणेश वर्णी जी** से आपका सम्पर्क हुआ। उन्हीं की प्रेरणा से आपने अठारह श्रावकाचार ग्रन्थों का स्वाध्याय किया और सन् १९४९ में उनसे ही श्रावक की दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। मुख्तारी छोड़ने के बाद से ही आप प्रतिदिन ८-१० घण्टे तक स्वाध्याय कर लेते थे। गृहस्थों में तो ऐसा स्वाध्यायी अभी तक नहीं सुना गया। आपने १-१२-७८ के पत्र में मुझे लिखा था—"प्रतिदिन ८-१० घण्टे से कम स्वाध्याय करने में सन्तोष नहीं होता। शारीरिक स्वास्थ्य व गृहकार्य का भार पाँच-छह घण्टे से अधिक स्वाध्याय नहीं होने देता।.........हम दो ही (पति पत्नी) प्राणी हैं और दोनों की वृद्ध व रुग्ण अवस्था, किन्तु जिनवाणी का शरण प्राप्त है इसलिए कष्ट का अनुभव नहीं होता।"

जिनवाणी के प्रति आपकी अटूट भक्ति व आस्था ही आपके जीवन का सम्बल रहा। यद्यपि आप अंग्रेजी व उर्दू ही पढ़े थे परन्तु आत्मबल से एवं जिनवाणी माँ की सेवा के प्रसाद से आपने हिन्दी, संस्कृत व प्राकृत में भी प्रवेश पा लिया था। किसी भी गुरु से नियमित रूप से सिद्धान्तग्रन्थों के अध्ययन का अवसर आपको नहीं मिला था। आप स्वयंपाठी थे। स्वकीय अध्ययन की अभीक्ष्णता से ही आपने थोड़े से समय में लगभग सभी दिगम्बर जैन शास्त्रों का गहन स्वाध्याय कर लिया था। आप अपने समय के शीर्षस्थ करणानुयोगज्ञ थे। धवला, जयधवला तथा महाधवला का अध्ययन तो आपका अद्वितीय था। इन ग्रन्थों के अनेक स्थल आपको कण्ठस्थ थे। वर्तमान में प्रकाशित इन ग्रन्थों में अपने गम्भीर व सूक्ष्म अध्ययन के बल पर आपने हजारों अशुद्धियाँ बताई थीं। कहाँ कितना विषय छूट गया है और कहाँ पर कितना ज्यादा है, यह सब आपके मस्तिष्क में था। तभी तो **पण्डित पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर** ने लिखा है—"**श्री ब्र. रतनचन्द जी मुख्तार पूर्वभव के संस्कारी जीव हैं।** इस भव का अध्ययन नगण्य होने पर भी इन्होंने अपने अध्यवसाय से जिनागम में अच्छा प्रवेश किया है और प्रवेश ही नहीं, ग्रन्थ तथा टीकागत अशुद्धियों को पकड़ने की इनकी क्षमता अद्‌भुत है। इनका यह संस्कार पूर्वभवागत है, ऐसा मेरा विश्वास है।"

निस्सन्देह, उच्चकोटि के सिद्धान्तग्रन्थों का आपका ज्ञान असाधारण था। आप सच्चे अर्थों में **सिद्धान्त-भूषण** थे। सन् १९५४ से जीवन के अन्त तक आपका '**शङ्का-समाधान**' स्तम्भ पहले **जैन सन्देश** में फिर **जैन गजट** में प्रकाशित होता रहा था जिससे हजारों स्वाध्यायी लाभान्वित होते थे। सन् १९६५ से १९६८ तक आप दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष रहे। कई वर्षों तक उदासीन आश्रम ईसरी व श्राविकाश्रम महावीरजी के अधिष्ठाता भी रहे।

आपकी साधुभक्ति अनुपम एवं सराहनीय थी। सहारनपुर में ही एक आर्यिका माताजी के समाधिमरण-काल में आपने निरन्तर निकट रहकर सेवा की एवं सुसमाधिमरण कराया। जब-जब भी सहारनपुर में मुनिसंघ आये, आपने आहार-दान दिया। मुनिसंघों से आपका सम्पर्क बराबर रहा। ये इन संघों में लगभग प्रत्येक वर्षायोग में जाते रहे थे। परम पूज्य **आचार्यकल्प श्रुतसागर जी महाराज** के संघ से तो आपका सम्पर्क जीवनान्त तक बना रहा। आचार्यकल्पश्री की प्रेरणा से ही आपने धवलत्रयादि के आधार पर **लब्धिसार, क्षपणासार** तथा **जीवकाण्ड की टीकायें** लिखीं। इन महत्त्वपूर्ण कृतियों से पहले भी आपने **द्रव्यसंग्रह (टीका), आलापपद्धति (टीका), प्रवचनसार** (सम्पादन) तथा **क्रमबद्धपर्याय, अकालमरण, पुण्यतत्त्व का विवेचन, गुणस्थान - मार्गणाचर्चा** (ट्रेक्ट) आदि साहित्य की रचना की।

'विद्या ददाति विनयम्' के आप साकार रूप थे। अगाध विद्वत्ता के बावजूद मान-अभिमान आपको रंचमात्र भी छू तक नहीं सका। पत्रोत्तर देना आपके स्वभाव का अंग था। कहीं से भी कोई शंका-समाधान या जिज्ञासा का पत्र आ जाए, वह अनुत्तरित नहीं रहता था। मुझे आपके साथ '**त्रिलोकसार**' का सम्पादन-कार्य करने का सौभाग्य मिला। उसका प्रकाशन-कार्य लगभग डेढ़ वर्ष तक चला। पूज्य पण्डितजी ने मेरी हर शंका का समाधान करते हुए स्नेहसिक्त उत्तर दिये। जब मैंने ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ अपना फोटो भेजने के लिए आपको लिखा तो आपने २३-११-७४ को उत्तर दिया—"तीन पत्र मिले। मेरे पास मेरा कोई फोटो नहीं है और न इच्छा है। ख्याति व ख्याति की चाह पतन का कारण है। 'त्रिलोकसार' में कहीं पर मेरा नाम भी न हो, ऐसी मेरी इच्छा है।" पण्डितजी की इस निःस्पृह निर्लेप वृत्ति की जितनी सराहना की जाए, कम है।

व्रतनिष्ठा व चारित्र के प्रति आपकी दृढ़ आस्था थी। आपका कहना था—**"जानना (सम्यग्ज्ञान) तभी सफल है जबकि वह आचरण में लाया जावे।** चारित्र के बिना दशपूर्वज्ञ सम्यग्दृष्टि को भी मोक्ष नहीं होता। अत: साक्षात् मोक्ष का कारणभूत चारित्र यदि सर्वदेश न पाला जा सके तब भी एकदेश तो पाला ही जाना चाहिए। **जिसने आंशिक संयम भी नहीं पाला उसका मनुष्यत्व पाना ही व्यर्थ है, क्योंकि मात्र सम्यग्दर्शन तो सर्वगतियों में सम्भव है।"**

जो भी मुख्तारजी की लेखनी या उनके व्यक्तित्व के सम्पर्क में आया, उनसे अप्रभावित नहीं रह पाया। **स्व. पं. माणिकचन्द जी कौन्देय न्यायाचार्य, फिरोजाबाद** ने कहा—"श्रीमान् सज्जनवर्य धर्मप्राण ब्र. रतनचन्द के लेख प्रौढ, विद्वत्तापूर्ण तथा आगमभृत् होते हैं। मैं उनको दो-तीन बार पढ़ता हूँ। इनकी लेखनी में न्याय व सिद्धान्त भरा हुआ है....।" **सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री** की दृष्टि में "सादे और त्यागमय जीवन वाले सत्पुरुष स्व. ब्र. रतनचन्द जी करणानुयोग के अधिकारी विद्वान् थे।" **क्षुल्लक जिनेन्द्र जी वर्णी** ने कहा—"स्व. बाबूजी रतनचन्द मुख्तार समतापूर्ण विद्वत्ता और विद्वत्तापूर्ण समता के धनी थे।" **प्रो. खुशालचन्द गोरावाला** कहते हैं—"मुख्तार सा. का जीवन अविरत, देशविरत और महाव्रतियों के लिए वह निदर्शन है जो कि पंचमकाल में निभ सकता है।"

वस्तुत:, वे चतुरनुयोग पारगामी सदाचारी महापुरुष थे। उनके द्वारा लिखी गई **गोम्मटसार : जीवकाण्ड** की यह **टीका** सर्वोपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

अंतो णत्थि सुईणं, कालो थोओ, वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं, जं जरमरणं खयं कुणइ ।।

यह अत्यन्त प्रशंसा एवं गौरव की बात है कि स्व. पूज्य पण्डितजी ने इस शास्त्रनिर्देशन के अनुसार ही अपने पूरे जीवन को ज्ञान की साधना में लगाया। वे अपनी आयु के ७९ वें वर्ष में दिवंगत हुए। उनका अभाव अपूरणीय है। यही भावना है कि उनकी आत्मा भुज्यमान पर्याय से च्युत होकर, नर-पर्याय पाकर, अमिट पुरुषार्थ को धारण कर अक्षय चारित्र धारते हुए अनन्त सुख की अनन्तकाल भोगी हो।

शास्त्रीनगर, जोधपुर **२५ दिसम्बर, १९९२** **—डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी**

卐 सम्पादकीय 卐

ग्रन्थनाम : 'गोम्मटसार' संस्कृत टीका की उत्थानिका के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना चामुण्डराय के प्रश्न के फलस्वरूप हुई है। चामुण्डराय अजितसेनाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने नेमिचन्द्राचार्य का भी शिष्यपना ग्रहण किया था। चामुण्डराय की प्रेरणा से नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार की रचना की। 'गोम्मट' चामुण्डराय का घर का नाम था जो मराठी तथा कन्नड़ भाषा में उत्तम, सुन्दर, आकर्षक एवं प्रसन्न करने वाला जैसे अर्थों में व्यवहृत होता है। 'राय' उनकी उपाधि थी, गोम्मट नाम के कारण ही चामुण्डराय द्वारा बनवायी गयी बाहुबली की मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' या 'गोम्मटदेव' नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी नाम की प्रधानता को लेकर ग्रन्थ का नाम भी गोम्मटसार रखा गया— जिसका अर्थ है गोम्मट (चामुण्ड) के लिए निकाला गया धवलादि ग्रन्थ का सार। इसी आशय को लेकर ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसंग्रहसूत्र' भी दिया गया है।

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मिय - दक्खिण-कुक्कुडजिणो जयउ ॥९६८॥ कर्मकाण्ड

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ग्रन्थ के दोनों भागों के नाम जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड भी टीकाकारों द्वारा दिये गये हैं। (गोम्मटसारनामधेयपंचसंग्रहं शास्त्रं प्रारभमाणः, मन्दप्र.टी.पृ.३। तद्गोम्मटसार-प्रथमावयवभूतं जीवकाण्डं विरचयन्, मन्दप्रबोधिका टीका)। मूल ग्रन्थकार ने तो ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' भी नहीं दिया। उन्होंने तो ग्रन्थ के दूसरे भाग के अन्त में इसका नाम **गोम्मटसंग्रहसूत्र** (कर्मकाण्ड गा.९६५,९६८) या **गोम्मटसूत्र** दिया है। गोम्मटसार नाम भी टीकाओं में ही पाया जाता है। टीकाकारों ने एक और नाम भी दिया है—**पंचसंग्रह** (म. प्र. टीका पृ. २,३) किन्तु यह नाम क्यों दिया गया, यह नहीं बताया गया। सम्भवतः अमितगति आचार्य के पंचसंग्रह को देख कर और उसी के अनुरूप कथन इसमें देख कर यह नाम दिया गया हो।[1]

ग्रन्थकर्ता : इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। आपने पुष्पदन्त भूतबली आचार्य द्वारा रचित षट्खण्डागम सूत्रों का गम्भीर मननपूर्वक पारायण किया था। इसी कारण आपको सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई थी। आपने स्वयं भी उल्लेख किया है कि जिस प्रकार भरत क्षेत्र के छह खण्डों को चक्रवर्ती निर्विघ्नता से जीतता है, उसी प्रकार प्रज्ञारूपी चक्र द्वारा मैंने भी छह खण्ड (षट्खण्डागम—जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध) निर्विघ्नतया साधित किये हैं।[2]

नेमिचन्द्राचार्य अपने विषय के असाधारण विद्वान् थे। आप देशीय गण के प्रसिद्ध आचार्य और गणितशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। गोम्मटसार पर कई विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं। श्री माधवचन्द्र

---

१. जैन साहित्य का इतिहास प्रथमभाग पृ० ३८९ (गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला)

२. जह चक्केण य चक्की छक्खंड साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंड साहियं सम्मं ॥३९७॥ गो. क. का.

त्रैविद्यदेव ने तो आपको चार अनुयोग के पारगामी और भगवान कहा है—'भगवान्नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारगः, त्रिलोकसार टीका पृ० २। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी मुमुक्षुओं से विशेष रूप से गोम्मटसार के पठन - पाठन का अनुरोध किया है, जो इस ग्रन्थ की उपादेयता तथा महत्ता को स्थापित करता है।

गोम्मटसार की रचना आपने चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय द्वारा निर्मापित जिनालय में स्थापित इन्द्रनीलमणि की एक हस्तप्रमाण श्री नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा के सम्मुख बैठ कर की थी। षट्खण्डागम के अतिरिक्त कषायपाहुड (चूर्णि सूत्रों सहित), तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों के भी आप पारगामी विद्वान् थे। इन्हीं सिद्धान्तग्रन्थों के सार - रूप में आपने गोम्मटसार के अतिरिक्त लब्धिसार, क्षपणासार व त्रिलोकसार की रचना की थी।

ग्रन्थकर्ता का समय—गोम्मटसार ग्रन्थ की कर्णाटकीय आदिवृत्ति के कर्ता केशववर्णी आदि अपने प्रारम्भिक कथन में लिखते हैं कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अनेक उपाधि विभूषित चामुण्डराय के लिए प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ (षट्खण्डागम) के आधार पर गोम्मटसारग्रन्थ की रचना की। स्वयं आचार्यदेव ने ही गो.क. की अन्तिम प्रशस्ति में राजा गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय का जयकार किया है। चामुण्डराय गंगनरेश श्री राचमल्ल के प्रधानमन्त्री एवं सेनापति थे। चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण शक सं. ९०० तदनुसार वि. सं. १०३१ में पूर्ण किया था। राचमल्ल का राज्यकाल वि. सं. १०४१ तक रहा है, ऐसा ज्ञात होता है। बाहुबली चरित में गोम्मटेश की प्रतिष्ठा का समय वि. सं. १०३७-३८ बतलाया है। गोम्मटेश की प्रतिष्ठा में स्वयं नेमिचन्द्राचार्य उपस्थित थे। इसलिए नेमिचन्द्राचार्य का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

ग्रन्थकर्ता के गुरु—त्रिलोकसार की अन्तिम[1] गाथा में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने आपको अभयनन्दी गुरु का शिष्य कहा है। इसके अतिरिक्त आचार्य वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी तथा कनकनन्दी का भी अत्यन्त श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की निम्नलिखित गाथा के प्रकाश में ग्रन्थकर्ता के दीक्षागुरु का आभास मिलता है। गाथा इस प्रकार है—

जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो, णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥४३६॥

वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी का वत्स जिनके चरणप्रसाद से अनन्तसंसाररूपी सागर से उत्तीर्ण हो गया, उन अभयनन्दी गुरु को मैं (नेमिचन्द्र) नमस्कार करता हूँ। अनन्त संसाररूपी सागर से उत्तीर्ण होने का अभिप्राय दीक्षा से ही है। अतः ऐसा लगता है कि उनके दीक्षागुरु अभयनन्दी हैं।

ग्रन्थ परिमाण— प्रस्तुत ग्रन्थ जीवकाण्ड में कुल ७३४ प्राकृत गाथाएँ हैं। ये सभी गाथाएं आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित ही हों, ऐसा नहीं है। परन्तु ग्रन्थकार ने अपने से पूर्वकालिक धवला जयधवला आदि अन्य ग्रन्थों से भी प्रसंगानुसार गाथाएँ लेकर उन्हें अपने ग्रन्थ का अंग बनाया है।[2]

---

१. इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणाभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु बहुगुणाइरिया ॥१०१८॥

२. षट्खण्डा० परिशी०, पृष्ठ ३०७ (ज्ञानपीठ)।

यथा जीवकाण्ड की गाथा संख्या २, ८, १७, १८, २०, २२, २७ से २९, ३१, ३३, ३४, ४६, ५१, ५२, ५४, ५६, ५७, ६१ से ६८, १२२, १२८, १४६ से १४८, १५०, १५१, १६६, १७३, १८५, १८९, १९१, १९२, १९४, १९६, १९७, २०१, २०२, २१७ से २२१, २३०, २३१, २३३, २३८ से २४०, २४२, २७२ से २७५, २८३ से २८६, २८८, २९८, ३०२ से ३०५, ३१४, ३६९, ४३७, ४५९, ४६९ से ४७१, ४७३ से ४७७, ४८२ से ४८५, ५०८ से ५१६, ५५५, ५५६, ५६०, ५६९, ५७३, ५७४, ५८१, ५८८, ६०१, ६२४ से ६२८, ६३२, ६४१, ६४५ से ६४६, ६४८, ६४९ ६५२, ६६६ ये गाथाएँ ज्यों - की-त्यों धवला से ली गई हैं। इन गाथाओं में किन्हीं को आपने प्रसंगानुरूप यत्किंचित् परिवर्तन के साथ भी अपने ग्रन्थ (जीवकाण्ड) में गृहीत किया है। इस तरह गोम्मटसार में पूर्ववर्ती ग्रन्थों से कितनी ही गाथाओं को लेकर उन्हें ग्रन्थ का अंग तो बनाया गया है परन्तु वहाँ 'ग्रन्थकार' अथवा "उक्तं च" आदि के रूप में किसी भी प्रकार की सूचना नहीं दी गई है।

इस प्रकार गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड) एक संग्रह - ग्रन्थ है। यह बात कर्मकाण्ड की गाथा सं. ९६५[1] में आये हुए "गोम्मटसंगहसुत्तं" नाम से स्पष्ट है। यह संकलन बहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित तथा परिपूर्ण है। इसी से दिगम्बर साहित्य में दीर्घ काल से इसका विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

इन ७३४ गाथाओं में गागर में सागर भर दिया गया है; धवला ग्रन्थराज का सार इस जीव-काण्ड में बहुत करके आ गया है।

विषय परिचय—गोम्मटसार ग्रन्थ दो खण्डों में है (१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। कर्मकाण्ड में आठ कर्मों की विविध अवस्थाओं का सांगोपांग वर्णन है। जीवकाण्ड में बाईस अधिकारों में अशुद्ध जीव का गुणस्थानों तथा मार्गणास्थानों के माध्यम से वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें आत्मा या जीवद्रव्य की संसारावस्था का वर्णन ही मुख्य है तथापि यह आत्मद्रव्य के शुद्ध एवं त्रैकालिक सहज स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है। ग्रन्थ की बीस प्ररूपणा का वर्णन करने वाले अधिकारों की अन्तिम गाथाओं द्वारा यह सहज ही जाना जा सकता है। गाथा संख्या ६८, ६९, १५२ २०३, २४३, २७६, २८९, ४६०, ४७५, ४८६, ५५६, ५५९, ७३१, शुद्ध जीव अथवा जीव की शुद्ध परिणति विषयक वर्णन भी करती हैं।

ग्रन्थ की प्रथम गाथा मंगलाचरणरूप है और अन्तिम गाथा आशीर्वचनात्मक है।

❀ प्रस्तुत भाषा-टीका ❀

प्रेरणा-स्रोत—सितम्बर १९७८ में पूज्य गुरुजी (मुख्तार सा०) आनन्दपुर कालू में थे। उस समय पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ससंघ वर्षायोग में वहीं विराजमान थे। गुरुजी वहाँ गो. सा. कर्मकाण्ड के सम्पादन-कार्य में व्यस्त थे। वे शीघ्रता से उसे पूरा करना चाहते थे, क्योंकि वे चाहते थे कि उनके जाने (देह-विसर्जन करने) से पूर्व यह कार्य पूरा हो जाये, अतः

---

१. गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं।
कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च ॥९६५ गो० क० तथा गाथा ९६८॥

१०-१२ घन्टे प्रतिदिन कार्य करते थे। उन दिनों आचार्यकल्पश्री का कहना था कि "जीवकाण्ड तथा लब्धिसार-क्षपणासार का काम भी आपको ही करना है, क्योंकि शुद्धि का यह कार्य आपके जीवन - काल में हो गया तो ठीक, अन्यथा बाद में इस कार्य को कोई पूरा करने वाला नहीं है।" बस, आचार्यकल्पश्री की उक्त प्रेरणा तथा मुनि वर्धमानसागर जी (सम्प्रति आचार्यश्री) के प्रबल सम्बल व अनुरोध से ही कर्मकाण्ड के कार्य की पूर्णता के पश्चात् लब्धिसार-क्षपणासार का कार्य भी हुआ तथा अन्त में गुरुजी ने जीवकाण्ड की टीका भी लिखी।

पूर्व टीकाएँ (संस्कृत/कन्नड़)—(अ) गोम्मटसार पर सर्वप्रथम एक **पंजिका** टीका है जो ५००० श्लोक प्रमाण है, भाषा प्राकृतमिश्रित संस्कृत है। इसके रचयिता गिरिकीर्ति हैं। टीका का नाम **गोम्मटपंजिका या गोम्मटसार टिप्पण** है। इस टीका का निर्माण शक सं. १०१६ (वि० सं. ११५१) में कार्तिक शुक्ला में हुआ। मन्दप्रबोधिकाकार ने इस टीका की सहायता से अपनी जीवकाण्ड टीका लिखी है।[1] इस अप्रकाशित ग्रन्थ की एक प्रति पं. परमानन्दजी शास्त्री के पास दिल्ली में है।

(आ) **मन्दप्रबोधिका टीका** गो. जी. की आद्य ३८२ गाथाओं पर ही है, अर्थात् यह टीका अपूर्ण है, भाषा संस्कृत है तथा इस टीका के **रचयिता अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** हैं। केशववर्णी ने इस टीका की सहायता से अपनी टीका (कर्णाटकी भाषा - कन्नड़ टीका) बनायी है।[2]

(इ) तृतीय टीका **केशववर्णी** रचित **जीवतत्त्वप्रदीपिका** है। इसकी भाषा संस्कृत मिश्रित कन्नड़ है तथा रचनाकाल ई. सन् १३५९ है।

(ई) **जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत**—यह चतुर्थ टीका है जो नेमिचन्द्र द्वारा संस्कृत भाषा में रची गई है। यह टीका केशववर्णी की संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीका का ही संस्कृत रूपान्तर मात्र है। ये नेमिचन्द्र ज्ञानभूषण के शिष्य थे। टीका ईसा की १६ वीं शती के प्रारम्भ की है।

यदि इन नेमिचन्द्र ने केशववर्णी की टीका को संस्कृतरूप नहीं दिया होता तो पं. टोडरमल जी सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका (भाषाटीका) नहीं बना पाते, यह सत्य है।

भाषा टीकाएँ—(१) साधिक सात दशक पूर्व गांधी हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला से भाषा टीका पहली बार प्रकाशित हुई।

इस शास्त्राकार ग्रन्थ के सम्पादक पं० गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ तथा पं० श्रीलाल जी काव्यतीर्थ थे। यह टीका १३३० पृष्ठों में है। इसमें मूल ग्रन्थ (प्राकृत गाथाएँ) के साथ दो संस्कृत टीकाएँ (**अभयचन्द्रीय मन्दप्रबोधिका** तथा **नेमिचन्द्रीय जीवतत्त्वप्रदीपिका**) तथा एक **ढूंढारी भाषा टीका** भी थी। यह ढूंढारी (हिन्दी से मिलती-जुलती) भाषा टीका पं० टोडरमल जी कृत है, टीका का नाम **सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका** है। टोडरमल जी ने राजमल साधर्मी की प्रेरणा से यह टीका लिखी थी जो वि. सं. १८१८ में पूरी हुई।

---

१. गो. जी. मन्दप्रबोधिका गा० ८३ की टीका।

२. अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ पृ. ११३।

(२) उक्त भाषा टीका के आधार से स्व० ब्र० **दौलतराम जी** ने **हिन्दी पद्यानुवाद रूप रचना** की। यह अप्रकाशित है।[१]

(३) गुरूणां गुरुवर्य गोपालदास जी बरैया की प्रेरणा से १९१६ ई० में पं० **खूबचन्दजी सिद्धान्त-शास्त्री** ने गो. जी. की संक्षिप्त, परीक्षोपयोगी, छात्रोपयोगी टीका लिखी जिसके अनेक संस्करण निकले हैं।

इस टीका सम्बन्धी अनेक संशोधन गुरुजी (मुख्तार सा.) ने पं० खूबचन्द जी को भेजे थे, जिन्हें उन्होंने सादर स्वीकार किया था और तदनुसार तृतीय संशोधित संस्करण रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित हुआ था।

(४) सन् १९२७ में जीवकाण्ड की **अंग्रेजी टीका** रायबहादुर **जे. एल. जैनी** एम. ए. (सम्पा.-जैनगजट) द्वारा सम्पादित व अनूदित होकर प्रकाशित हुई। जिसमें ब्र० शीतलप्रसाद जी ने भी सहायता की थी। इसकी पृष्ठ संख्या ३४७ है तथा यह अजिताश्रम, लखनऊ से प्रकाशित है।

(५) **पं० श्री कैलाशचन्द्र सि. शास्त्री** ने जीवकाण्ड तथा कर्मकाण्ड का भाषानुवाद नेमिचन्द्र की संस्कृत टीका के आधार से किया तथा संदृष्टियाँ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका से खोलीं। यह टीका सन् १९७७ (वि. सं. २०३४) में ज्ञानपीठ से ४ पुस्तकों में प्रकाशित हुई है। (गो. जी. दो पुस्तकों में तथा गो. क. भी दो पुस्तकों में।)[२]

उक्त सभी भाषाटीकाएँ टोडरमल्लीय सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका के आधार से बनी हैं और टोडर-मल्लीय टीका प्रांजल नहीं है। उन्हें धवल, जयधवल, महाधवल के दर्शन प्राप्त नहीं हुए, अन्यथा सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का परिष्कार वे स्वयं कर लेते। बस, इसी एक मुख्य कारण से मुख्तार सा. ने इस नवीन टीका की धवल, जयधवल व महाधवल के आधार से रचना की है, जिसमें प्रेरक तथा सम्बल-प्रदायक रहे हैं पूज्य आ. क. १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज एवं आ. वर्धमानसागर जी महाराज।

पं. टोडरमल जी को धवलादि के दर्शन नहीं हुए थे, इसके प्रमाणस्वरूप देखिए—

(अ) लब्धिसार की प्रथम गाथा की उत्थानिका में लब्धिसार की रचना को जयधवल के पन्द्रहवें अधिकार (चारित्रमोहक्षपणा) से बताया है। परन्तु यह गलत है, क्योंकि लब्धिसार अर्थात् लब्धिसार-क्षपणासार की रचना तो जयधवल के दर्शनमोह उपशामना, क्षपणा तथा चारित्रमोह उपशामना व क्षपणा नामक अधिकारों से हुई है, न कि मात्र पन्द्रहवें अधिकार से। वह उत्थानिका द्रष्टव्य है : ***श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिसम्यक्त्वचूडामणिप्रभृतिगुणनामांकितचामुण्डरायप्रश्नानु-रूपेण कषायप्राभृतस्य जयधवलाख्यद्वितीयसिद्धान्तस्य पंचदशानां महाधिकाराणां मध्ये "पश्चिम-***

---

१. गो. जी. प्रस्ता. पृ. ११ रायचंद्रशास्त्रमाला।

२. उस्मानाबाद के स्व० नेमिचन्द्र जी वकील ने कर्मकाण्ड के भाग पर मराठी में एक सुन्दर रचना की है, वह छप भी चुकी है। (गो. जी. प्रस्ता. पृ० ११ रायचन्द्र शास्त्रमाला चतुर्थ संस्करण)

स्कंधाख्यस्य पंचदशस्यार्थं संगृह्य लब्धिसारनामधेयं शास्त्रं प्रारभमाणो" भगवत्पंचपरमेष्ठिस्तव-प्रणामपूर्विकां कर्तव्यप्रतिज्ञां विधत्ते--

(ब) उन्होंने लब्धिसार (रायचन्द्र शास्त्रमाला प्रकाशन) पृष्ठ ६३४ पर प्रशस्ति में लिखा है—

मुनि भूतबली यतिवृषभ प्रमुख भए
तिनिहूँ ने तीन ग्रन्थ कीने सुखकार है।
प्रथम धवल अर दूजो जयधवल
तीजो महाधवल प्रसिद्ध नाम धार है।

इसमें लिखा है कि भूतबली तथा यतिवृषभ ने धवल, जयधवल, महाधवल की रचना की। जबकि धवल, जयधवल की रचना भगवद् वीरसेन स्वामी तथा जिनसेन स्वामी द्वारा हुई है तथा महाधवल भूतबली की रचना है।

भूतबली पुष्पदन्त विक्रम की प्रथमशती के आचार्य थे तथा यतिवृषभ छठी शती के। जबकि विक्रम की ९ वीं शती में वीरसेनस्वामी ने धवला टीका पूरी की थी। इसके बाद जयधवला रची गई। इस प्रकार भूतबली तथा यतिवृषभ के समय धवल, जयधवल का अस्तित्व भी नहीं था।

जीवकाण्ड टीका के अन्य भी कई बिन्दु अप्राञ्जल प्ररूपणरूप हैं। अतः गुरुजी ने धवलादि के आधार से इस विस्तृत टीका की रचना की है।

प्रस्तुत टीका का समय—दि. २२-१०-७९ ईस्वी, कार्तिक शुक्ला २ वि.सं. २०३६, वीर निर्वाण सं. २५०६ को शुभ मुहूर्त में गुरुजी ने टीका लिखनी प्रारम्भ की थी। दि. १६.१२.७९ ईस्वी पौष वदी १२ को इस टीका का प्रथम अधिकार पूरा हुआ था। इस तरह गति से कार्य करते-करते दि. २६.११.८० ईस्वी को ६९६ गाथा तक की टीका पूर्ण हो गई थी।

देह की पूर्णतः अक्षमतावश फिर गुरुजी (मुख्तार सा.) शेष टीका पूरी नहीं कर पाये थे। यह सब उन्हें ज्ञात हो गया था कि अब वे यह कार्य पूरा नहीं कर पायेंगे, इसलिए गुरुजी ने श्री विनोदकुमार जी शास्त्री के माध्यम से यह टीका मेरे पास भिजवा दी थी, ताकि मैं इसे पूर्ण कर सकूँ। पूज्य गुरुजी दि. २८.११.८० की रात्रि को ७—७½ बजे ससंयम दिवंगत हुए। हा! अब वह करणानुयोगप्रभाकर कहाँ?

प्रस्तुत टीका की शैली—मूलग्रन्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड प्राकृत गाथाओं में है। उसके नीचे गाथा का मात्र अर्थ दिया गया है। फिर विशेषार्थ द्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। पूरे ग्रन्थ में यही पद्धति अपनायी गयी है। टीका में सर्वत्र आगमानुसारी १०८४ शंका-समाधानों द्वारा विषय स्पष्ट किया गया है। ग्रन्थान्तरों के प्रमाण हिन्दी भाषा में देकर नीचे टिप्पण में ग्रन्थ-नाम, अधिकार पर्व या सर्ग तथा सूत्र या पृष्ठ संख्या अंकित कर दिये गये हैं (देखो पृ. ११०-११ आदि)। कहीं पर ग्रन्थान्तरों के वाक्य मूल प्राकृत या संस्कृत रूप में ही भाषा टीका में उद्धृत कर दिये हैं (देखो पृ. ११२-१३ आदि) तथा वहीं पर ग्रन्थनाम, गाथा व पृष्ठ भी दे दिये हैं, तो कहीं मूल ग्रन्थ,—वाक्य टीका में देकर फिर ग्रन्थनाम आदि नीचे टिप्पण में उद्धृत किये हैं (यथा—

पृ.१३० आदि), तो कहीं ग्रन्थान्तरों के उद्धरण हिन्दी में मूल टीका में देकर फिर उसका मूल वाक्य तथा ग्रन्थोल्लेख आदि टिप्पण में किया है। इस तरह इस विषय में गुरुजी अप्रतिबद्ध रहे हैं। किसी नियत पद्धति का निर्वाह सर्वत्र समरूपेण नहीं किया है। टीका में गणितीय प्रकरणों को यथासम्भव कोठों द्वारा समझाया गया है [यथा—पृ. ४१, ४४, ४५, ५०, ५१, ५२, ५६, ३६८ आदि] जिससे विषय स्पष्ट हो सके।

अपूर्वता—(१) जीवकाण्ड की यह पहली ऐसी टीका है जिसमें धवलादि के सैकड़ों प्रमाण दिये गये हैं तथा मुख्यतः उसी आधार से यह रची गई है।

(२) गा. ५१८ में ८ मध्यमांशों का खुलासा किया है जो पूर्व की किसी भी भाषा टीका में इतना स्पष्ट नहीं है।

(३) गा. ३५२-५४ में श्रुतज्ञान के भंगों को विस्तारपूर्वक समझाया है, जो पहले किसी भी टीका में नहीं समझाया गया है।

(४) विभिन्न ग्रन्थों के सहस्रों [कुल २७८५ टिप्पण हैं] उद्धरणों के दर्शन टीका में होंगे।

(५) किसी मुख्य सिद्धान्त-ग्रन्थ का कुछ भी अंश इस टीका में नहीं आया हो, ऐसा नहीं हो पाया।

(६) टोडरमलजी कृत भाषा टीका से भी प्रस्तुत टीका बड़ी है। टोडरमलजी की मात्र भाषा टीका (मूल ग्रन्थ की) लगभग उन्नीस हजार श्लोक प्रमाण है जबकि प्रस्तुत टीका इसमें पीठिका (अठारह सौ श्लोक प्रमाण) तथा अर्थ संदृष्टि अधिकार (लगभग ५ हजार श्लोक प्रमाण) भी सम्मिलित कर दिया जाए तो भी सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लगभग पौणे छब्बीस हजार श्लोक प्रमाण ही होती है जिससे कि प्रस्तुत टीका कम नहीं है।

विशेष इतना है कि गाथा ७२८ की टीका (सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में] ८८ पृष्ठ प्रमाण है परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में गुरुजी ने उतनी विस्तृत टीका नहीं करके मात्र…$\frac{1}{2}$ पृष्ठ प्रमाण ही लिखी है [देखो पृ. ७८०] क्योंकि वह सब विषय धवल पुस्तक में पूर्ण विस्तार से समस्त नक्शों सहित प्रकाशित हो गया है तथा इतना दुरूह भी नहीं है।

प्रस्तुत टीका में सहायक ग्रन्थ—मुख्तार सा. ने जीवकाण्ड की भाषा टीका करते समय निम्नलिखित शास्त्रों का उपयोग किया है—षट्खण्डागम, कषायपाहुडसुत्त, धवल, जयधवल, महाधवल, जयधवल (फलटण), प्राकृत पंचसंग्रह तथा उसकी विविध टीकाएँ, संस्कृत पंचसंग्रह, लब्धिसार-क्षपणासार, गो. जी., गो. क., इनकी टीकाएँ मन्दप्रबोधिका व सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, तिलोयपण्णत्ती [सभी प्रकाशन] त्रिलोकसार तथा टीका, लोक विभाग, सिद्धान्तसार-दीपक, सिद्धान्तसारसंग्रह, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, सुशीला उपन्यास, मूलाचार, उसकी आचारवृत्ति टीका, मूलाचार प्रदीप, आचारसार, वसुनन्दिश्रावकाचार, चारित्रसार, चारित्रपाहुड, द्वादशअनुप्रेक्षा, पुरुषार्थसिद्धि०, रत्नकरण्ड०, शास्त्रसारसमुच्चय, रत्नमाला, उपासकाध्ययन। अष्टसहस्री, परीक्षामुख, आलापपद्धति, प्रमेयरत्नमाला, सप्तभंगीतरंगिणी, स्याद्वाद मंजरी,

तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, सुखबोध टीका [मैसूर प्रकाशन] बृहद् द्रव्यसंग्रह, लघुद्रव्यसंग्रह। समयसार, प्रवचनसार, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय, समयव्याख्या तथा तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाएँ, नियमसार, आत्मानुशासन, भावप्राभृत, योगसारप्राभृत, जैनेन्द्र-सिद्धान्तकोश, श्वे. कर्मप्रकृति तथा श्वे. विशेषावश्यक भाष्य।

अवशिष्ट टीका-अन्तिम वय-श्रुतसेवा : स्व. गुरुवर रतनचन्द मुख्तार वृद्धावस्था में तो प्रविष्ट थे ही, देहदशा भी कृश थी तथापि अपनी आयु के अन्तिम दो-सवा दो वर्षों में भी वे ग्रन्थों की टीका करने में व्यस्त रहे थे। कर्मकाण्ड (टीकाकर्त्री आ. आदिमतीजी) का सम्पादन-कार्य आपने सन् १९७८ में आनन्दपुर कालू में संघ के साथ १०-१२ घण्टे नित्य बैठकर २८ दिन में पूरा किया था। मध्यावधि में दि. ९.९.७८ को मुझे पत्र लिखा—"रिस्क लेकर इतना परिश्रम कर रहा हूँ जिससे मेरे जाने से पूर्व कर्मकाण्ड का कार्य पूरा हो जाये। यदि आयु शेष रही तो फिर लब्धिसार तथा जीवकाण्ड का कार्य भी करूंगा।"

दि. १३.२.७९ को सहारनपुर से आपने लिखा—"मेरा स्वास्थ्य पूर्व की अपेक्षा सुधार पर है किन्तु माइण्ड एण्ड हार्ट अभी तक अपना कार्य पूर्णरूपेण नहीं कर पाते। एक घण्टे पश्चात् माइण्ड थक जाता है तथा सिरदर्द होने लगता है। देह में रक्तसंचार कम हो रहा है। डॉक्टर पूर्ण विश्राम के लिए कहते हैं किन्तु वह मुझसे नहीं होता। कर्मकाण्ड की प्रेसकापी जाँच रहा हूँ, बीच-बीच में धवल आदि के प्रमाण देता जाता हूँ। कार्य तो करना ही है, मेरी तो जिनवाणी स्वयं रक्षा करेगी। मुझे उसकी चिन्ता नहीं, जीवन की सफलता श्रुतसेवा में ही है।" यही सब ३१.३.७९ को आपने फिर लिखा था।

दि. २९.१०.७९ को मुझ पामर को उठाते हुए आपने लिखा—"अब तो आशा है कि आप करणानुयोग के ग्रन्थों का उद्धार करेंगे। मेरी यह पर्याय तो समाप्त होने वाली है। **ज्ञान का फल संयम है**, सो वह तो मुझे प्राप्त हुआ नहीं। मैंने धवलग्रन्थ के आधार पर **जीवकाण्ड की टीका** लिखनी प्रारम्भ कर दी है। यदि यह पूर्ण न हो सकी तो **आपको पूर्ण करनी होगी**। अब ५-६ घण्टे से अधिक कार्य करने की शक्ति नहीं रही। मेरे देह-विसर्जन के बाद मेरे वाला गोम्मटसार जीवकाण्ड व पंचसंग्रह श्री विनोदकुमार जी आपके पास भेज देंगे। अन्त समय में परिणाम ठीक रहें, यही वीर प्रभु से प्रार्थना है।"

दि. ३.११.८० को आपका पत्र आया—"जीवकाण्ड की ६५१ वीं गाथा की टीका लिखी जा रही है। ८६-८७ गाथाएँ शेष हैं। धर्मपत्नी के वायुरोग के कारण घुटनों, टाँगों तथा हाथों ने ठीक प्रकार से कार्य करना छोड़ दिया है, आटा गूंदने में भी कष्ट होता है। उसकी आँख भी एक ही काम कर रही है। अब वह दिन आने वाला है कि भोजन भी नहीं बना सकेगी। मैं यह चाहता हूँ कि आप जीवकाण्ड—आहार मार्गणा की टीका लिख कर भेजने का कष्ट करें किन्तु जो भी लिखा जावे, वह ग्रन्थों के आधार पर लिखा जावे। ग्रन्थान्तरों के नाम व पृष्ठ संख्या भी साथ में लिख दी जावे।"

[नोट:—यह मेरी परीक्षा थी। गुरुवर्यश्री परीक्षा के अनन्तर ही मुझे शेष टीका का कार्य सौंपना इष्ट समझते थे। सो ठीक ही है। मैंने आदेशानुसार टीका लिख भेजी तो] दि. १२.११.८०

को पूज्य गुरुवर्यश्री का पत्र आया—"आहारमार्गणा की टीका प्राप्त हुई। आपका श्रम प्रशंसनीय है, टीका बहुत सुन्दर है। उसी के आधार पर टीका लिखी जा रही है। मात्र लिखने का ढंग बदलना पड़ा। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं. यदि टीका अधूरी रही तो आप पूर्ण कर देंगे। अभी ७० गाथाओं की टीका शेष है। स्वास्थ्य शिथिल है, अतः गति मन्थर है। इसके पश्चात् १४.११.८० को आपने मुझे अन्तिम पत्र लिखा। दि. २६.११.८० तक आप टीका लिखते रहे थे। ता. २८.११.८० सायं ७ बजे आपने देह-विसर्जन किया।

शेष टीका मुझ पामर पुरुष को लिखने का आदेश था, अतः मैंने सोत्साह सविनय शेष कार्य पूरा किया है।

हा ! अब वह करणानुयोग - प्रभाकर कहाँ ?

स्व० गुरुवर्यश्री को सानुवाद धवल-जयधवल-महाधवल के (कुल ३९ पुस्तकों के) = १६३४१ पृष्ठ कण्ठाग्र थे। ऐसे पुरुष की 'समस्त जीवनी का ज्ञानसार' जीवनान्त में लिखी टीका में निक्षिप्त अवश्य हुआ है, अतः इस टीका की प्रमाणता में सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता। विशेष मूल्यांकन तो पाठकों की पीढ़ियाँ करेंगी।

पूर्णीकृत टीका की वाचना भीण्डर में हुई। उस समय पूज्य **अजितसागराचार्य** चातुर्मास-रत थे। संघ में **पू० वर्धमानसागर जी, पुण्यसागर जी, आ० जिनमती जी, विशुद्धमती जी, शुभमती जी,** तथा **प्रशान्तमती जी** भी थे। इन सात पुण्यात्माओं के चरणों में मैं भी बैठता था। इस तरह कुल ८ सरस्वती-आराधकों के मध्य जीवकाण्ड टीका की वाचना प्रारम्भ हुई थी। नित्य २-३ घण्टा वाचना होती थी। कुछ समय बाद आ० जिनमती जी व शुभमती जी वाचना में शामिल नहीं हो पाये, अतः हम ६ ही रहे थे। वाचना लगभग दो मास में पूरी हुई थी।

स्मरणीय है कि किसी ने भी गुरुवर्य श्री की टीका में अंश भर भी फेरफार नहीं किया है। मात्र जहाँ दूसरे ग्रन्थों के उद्धरणों का मूल से मिलान करते समय कुछ शब्द छूटे हुए पाये गये उन्हें पूरा किया है अथवा भाषात्मक परिष्कार किया गया है, अथवा नीचे टिप्पणों में हमने बहुत कुछ दिया है, अन्य कुछ भी नहीं किया गया।

आभार : 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' की प्रस्तुत वृहत्काय भाषाटीका की रचना एवं प्रकाशन-योजना को मूर्तरूप प्रदान करने में अनेक महानुभावों का प्रचुर प्रोत्साहन एवं सौहार्दपूर्ण सहयोग मिला है। मैं उन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के भाषाटीकाकार पूज्य गुरुजी **स्व. पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार** की प्रतिभा और क्षमता का सविनय सादर पुण्य-स्मरण करता हूँ और उस पुनीत आत्मा के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

मैं प्रस्तुत ग्रन्थ-रचना के प्रेरक परमपूज्य (स्व.) **आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज** के पावन चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

भीण्डर में सम्पन्न ग्रन्थ की वाचना के अवसर पर जिन सरस्वती-आराधक महान् आत्माओं का सान्निध्य प्राप्त हुआ और जिनकी सहकारिता से इस रचना का परिष्कार हुआ, उन सबके प्रति मैं अनन्त श्रद्धावनत हूँ। उनका जितना गुणगान किया जावे, वह कम है।

आभारी हूँ पूज्य १०८ **आचार्यश्री वर्धमानसागरजी महाराज** और पूज्य **आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी** का जिनके आशीर्वचनों से ग्रन्थ का गौरव बढ़ा है। आर्षमार्ग-पोषक इन निःस्पृह आत्माओं के पुनीत चरणों में अपना नमोस्तु निवेदन करते हुए इनके दीर्घ स्वस्थ एवं यशस्वी जीवन की कामना करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ को आपके सम्मुख उपस्थित करने का जटिल तथा श्रमसाध्य कार्य **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी**, जोधपुर ने सम्पन्न किया है। इनके श्रम का मूल्यांकन शब्दों में सम्भव नहीं। ग्रन्थ की सर्वतोमुखी प्रभावर्धन का इनका यह कार्य एक सम्पादक के श्रम से भी अधिक रहा है। आप स्व. पण्डित महेन्द्रकुमार जी पाटनी, काव्यतीर्थ, मदनगंज - किशनगढ़ के सुपुत्र हैं। आपके पिताश्री श्रीमहावीरजी में पूज्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज से मुनिदीक्षा लेकर मुनि समतासागर हुए थे। उन्हीं की धरोहर 'चेतन' भी पितृवत् ज्ञान व त्याग का समन्वय है। आपने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुवाद कार्य किया है। यह श्रुताराधक मनीषी सम्पूर्ण रत्नत्रय को त्वरित पाकर निर्वाण पावे, यही अभिलाषा है।

मेरे अनुरोध पर ग्रन्थ के मुद्रित पृष्ठों को देखकर विदुषी **आर्यिका प्रशान्तमती जी** ने अनेक संशोधन प्रेषित किये, जिन्हें मैंने शुद्धिपत्र में समाविष्ट किया है। एतदर्थ मैं उनका सविनय सभक्ति कृतज्ञ हूँ।

इसी प्रकार **पं. विनोदकुमार जी शास्त्री, सहारनपुर** ने भी अपने व्यापार के कार्यों से समय निकाल कर नियमित रूप से मुद्रित पृष्ठों का सूक्ष्म अवलोकन किया तथा अनेक संशोधन भिजवाये जिन्हें मैंने शुद्धिपत्र में संयुक्त किया है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ तथा उनके सर्वतोमुखी उत्कर्ष की कामना करता हूँ।

श्रुतसेवी परम श्रद्धालु तथा निःस्पृह सेवाभावी **श्री धूलचन्द हजारीलाल जैन बोरा, वावण्ड** सदा मेरे कार्यों में सहायक रहते हैं। श्रीयुत **श्रीपालजी भंवरलालजी धर्मावत, भीण्डर** की आत्मीयता तथा त्यागवृत्ति भी मेरे उत्साह के प्रबल हेतु बने हैं। मैं इन दोनों धर्मानुरागी महानुभावों का भी अत्यन्त आभारी हूँ। आभारी हूँ श्रुतानुरागी **लाला लखमीचन्दजी कागजी, सुमतप्रसादजी** (वर्धमान ड्रग्स, कूँचा सेठ) तथा **पं. सुरेन्द्रकुमारजी** (वेल्युएशन ऑफिसर, दरीबा कलां) **दिल्ली** का जिन्होंने इस अवधि में मेरा देह-उपचार कराया, जिससे मुझे 'जीवकाण्ड' का कार्य करने की विशिष्ट क्षमता प्राप्त हुई।

ग्रन्थ का मूल्य कम रखने हेतु हमें उदार दातारों सर्वश्री हरिप्रसादजी जेजानी (नागपुर), ब्र. सुशीलाबाई जी (आर्यिका दीक्षा के उपलक्ष्य में), जवाहरलालजी सर्राफ, इन्दरमलजी शाह, सोभागमलजी मिण्डा (प्रतापगढ़), मूलचन्दजी लुहाड़िया (किशनगढ़), श्रीमती अमरीबाई मोतीलालजी बाकलीवाल, श्रीमती फूलाबाई दौलतरामजी बाकलीवाल (मेड़ता सिटी) तथा श्री महावीरप्रसाद जी रांवका (अहमदाबाद) से अर्थसहयोग प्राप्त हुआ है। हम इन सबके अतीव आभारी हैं।

ग्रन्थ के स्वच्छ एवं शीघ्र मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान आर्ट प्रिन्टर्स, जोधपुर** के कर्मचारीगण मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की जो कुछ उपलब्धि है, वह सब इन्हीं श्रमशील धर्मनिष्ठ पुण्यात्माओं की है। सम्पादन-कार्य में रही भूलों के लिए स्वाध्यायी विद्वानों से सविनय क्षमा चाहता हूँ। भद्रं भूयात्। अलम् विशेष्।

—जवाहरलाल मोतीलाल जैन वकतावत, भीण्डर

✻ जीवकाण्ड के कतिपय कठिन प्रसंगों का खुलासा ✻

(१) **केवली - समुद्घात** (पृ० ६१-६२; ७२६) केवली समुद्घात ८ समयों में होता है। (भ. आ. २१०६) प्रथम समय में दण्ड समुद्घात होता है। दूसरे समय में कपाट समुद्घात होता है। तीसरे समय में प्रतर तथा चौथे में लोकपूरण समुद्घात होता है। पाँचवें समय में आत्मप्रदेश पुनः प्रतर रूप हो जाते हैं। छठे समय में कपाट रूप, सातवें समय में दण्डाकार तथा आठवें समय में मूलशरीर के आकार रूप हो जाते हैं। (भ. आ. २१०६, रा. वा. १/२०/१२/७७ तथा धवल ७/१८५) समुद्घात के ८ ही समय होते हैं, नौ नहीं।

यहाँ मूल ग्रन्थ में पृष्ठ ६१-६२ तथा ७२६ पर जो कहा है कि पाँचवें समय में सयोगकेवली विवरगत (लोक के सर्व प्रदेशों तक फैले हुए) आत्मप्रदेशों का संवरण (संकोच, सिकुड़ाव, छिपाव-या समेटना) करते हैं; इस वाक्य का अर्थ यह है कि चतुर्थ समय में लोकपूरण समुद्घात के अनन्तर पंचम समय में लोकपूरण को समेटकर आत्मप्रदेशों को प्रतररूप कर देते हैं। अर्थात् पंचम समय में दो काम होते हैं—लोकपूरण समुद्घात का समेटना अर्थात् संकोच करना या उपसंहार करना या नाश करना या समाप्त करना या रोकना तथा दूसरा काम है प्रतर समुद्घात रूप आत्मप्रदेश कर देना। वास्तव में तो ये दोनों दो काम नहीं होकर एक काम रूप ही हैं। क्योंकि **लोकपूरण पर्याय का विनाश** (यानी उपसंहार) **ही प्रतर पर्याय का उत्पाद है** अथवा लोकपूरण पर्याय का संकोच ही (समेटना ही) वहाँ प्रतररूप उत्पाद का कारण हो जाता है। जिस समय पूर्व पर्याय का नाश होता है उसी समय तो उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। नाश (उपसंहार या संकोच) तथा उत्पाद रूप पर्याय में समयभेद नहीं होता। (आप्तमीमांसा ५६, धवल ४/३३५, पंचाध्यायी पूर्वार्ध २३४ आदि) अतः पाँचवें समय में लोकपूरण पर्याय का उपसंहार (= नाश) अथवा संकोच (= सिमटाव, रोक) होना तथा प्रतर पर्याय का उत्पाद होना; ये दोनों काम होते हैं। जिसका सरल अर्थ यह होना है कि पंचम समय में लोकपूरण पर्याय का अभाव तथा प्रतर पर्याय का प्रादुर्भाव (उत्पाद) होता है। आगे भी इसी तरह कहना चाहिए। यथा—छठे समय में प्रतर समेटकर (प्रतर का उपसंहार कर) कपाट रूप आत्मप्रदेश करते हैं, सातवें समय में कपाट का उपसंहार (नाश, समाप्ति) करके दण्डरूप आत्मप्रदेश करते हैं। आठवें समय में दण्डरूप आत्मप्रदेशों का आकार नष्ट करके (उपसंहृत करके या उनको संकुचित करके) सर्वप्रदेश मूलशरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् मूल शरीराकार हो जाते हैं। (क्षपणासार ६२७, जयधवल १६/१५६-६०)

कोई आचार्य आठवाँ समय मूलशरीर में प्रवेश का नहीं गिनते हैं, क्योंकि उस अन्तिम (अष्टम) समय में तो स्वशरीर में अवस्थान है। उनकी दृष्टि में समुद्घात के सात ही समय होते हैं। इस

प्रकार मात्र विवक्षा-भेद है, सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं पड़ता। (जयधवल १६/१६० तथा जैनगजट १६-८-६२ ई०, र० च० मुख्तार सहारनपुर)

इन आठ समयों के समुद्घात में किस-किस समय कौन-कौनसा योग होता है, उसकी दर्शक तालिका इस प्रकार है—

❀ अष्टसमयिक समुद्घात की तालिका ❀

समय	समुद्घात	योग
• प्रथम	दण्ड	औदारिक काय योग
• द्वितीय	कपाट	औदारिक मिश्र काय योग
• तृतीय	प्रतर	कार्मण काय योग
• चतुर्थ	लोकपूरण	,, ,,
• पंचम	प्रतर=मंथान	,, ,,
• षष्ठ	कपाट	औदारिक मिश्र काययोग
• सप्तम	दण्ड	औदारिक काय योग
• अष्टम	स्वस्थान=स्व शरीर में प्रवेश	,, ,,

[प्रा. पंचसंग्रह १९९ जीवसमास अधिकार, धवल ४/२६३, जयधवल १६/१६०, गो. क.५८७, क्षपणासार पृ. ४९९ गा. ६२७ रायचन्द्र शास्त्रमाला] शेष सब सुगम है। ☐

(२) मत्स्य-रचना

प्रस्तुत चित्र (पृ०२१) तथा मूल ग्रन्थ के चित्र (पृ. १५४) का सम्बन्धात्मक परिचय—

सबसे पहले हम यह ध्यान में ले लें कि यहाँ कुल ६४ अवगाहना स्थान हैं जो प्रस्तुत ग्रन्थ में पृष्ठ १४३ से १४५ तक आये हैं। इनमें प्रथम स्थान सू० निगोद अप० की जघन्य अवगाहना का है। दूसरा स्थान सू० वायु० अपर्याप्त का है ....इत्यादि। इस तरह चलते-चलते ६४ वाँ अर्थात् अन्तिम स्थान पंचेन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना का है। अतः जहाँ यह कहा जाये कि बीसवाँ स्थान या पच्चीसवाँ स्थान या अमुकवाँ स्थान, वहाँ इन चौंसठ स्थानों में से उस संख्या का स्थान (पृ० १४३ से १४५ में) देख लेना।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि लब्ध्यपर्याप्तक यानी अपर्याप्तक किसी भी जीव की अवगाहना जघन्य से प्रारम्भ होकर अपने निर्वृत्यपर्याप्तक (अपर्याप्तक) की उत्कृष्ट अवगाहना पर

समाप्त हुई है तथा सर्वत्र एक-एक प्रदेश अधिक क्रम से बढ़ना होता है। स्मरण रहे कि इन अल्प-बहुत्वों में लब्ध्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना अप्रकृत रही है।

गो. जी. का यह सब विषय धवल पु. ११ पृष्ठ ५६ से ७४ (सूत्र ३१ से ६६) तक से ग्रहण किया हुआ है।

सूक्ष्म नि० अपर्याप्तक अपनी जघन्य अवगाहना से उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ता है। इसकी ३४ बिन्दी लिखी है। इसी तरह प्रथम से १६वीं पंक्ति तक के अपर्याप्त जीव अपनी-अपनी जघन्य से उत्कृष्ट अवगाहनाओं तक बढ़ते हैं। ये पंक्ति १ से पंक्ति१६ तक के जीव [देखो प्रस्तुत चित्र]सभी अपर्याप्तक हैं। इस मूल ग्रन्थ के पृष्ठ १५४ पर जो चित्र है उसके तीन भाग हैं:—प्रथम व द्वितीय भाग ऊपर की ओर हैं। नीचे की ओर तृतीय भाग है। प्रथम भाग में अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्तक) जीवों की जघन्य अवगाहनाएँ बतायी हैं। यह पृष्ठ १४३ से १४५ में प्रदर्शित ६४ अवगाहना स्थानों में से जो आदि के १६ स्थान हैं, उनका चित्र है। फिर मूल ग्रन्थ के पृ. १५४ के चित्र में उपरिम द्वितीय भाग का ग्राफ चित्र अपर्याप्तक [अर्थात् निर्वृत्यपर्याप्तक] जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना सम्बन्धी है। इसमें भी १६ अवगाहना स्थान आ गये हैं, जो ६४ स्थानों [देखें पृष्ठ १४३ से १४५] में से निम्न संख्या के स्थान हैं:—१८ वाँ, २१ वाँ, २४ वाँ, २७ वाँ, ३० वाँ, ३३ वाँ, ३६ वाँ, ३९ वाँ, ४२ वाँ, ४५ वाँ, ४८ वाँ तथा ५५ से ५९ वाँ। इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ के १५४ वें पृष्ठ के चित्र के उपरिम भाग में १६ अपर्याप्त के जघन्य स्थान हैं तथा १६ ही अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थान हैं। इन ३२ स्थानों से जो चित्र बनता है वह है सम्मुख मुद्रित चित्र की १६ वीं पंक्ति तक का चित्रण।

फिर पृष्ठ १५४ के चित्र में जो नीचे का भाग है अर्थात् तृतीय भाग है, वह मात्र पर्याप्त जीवों की जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहनाओं का है। इसमें ६४ स्थानों में से शेष ३२ स्थान आ गये हैं। ये स्थान ६४ स्थानों में निम्नलिखित संख्या के स्थान हैं:—१७, १९, २०, २२, २३, २५, २६, २८, २९, ३१, ३२, ३४, ३५, ३७, ३८, ४०, ४१, ४३, ४४, ४६, ४७, ४९, ५०, ५१ से ५४ तथा ६० से ६४। यह चित्र नीचे के भाग का है। अतः सम्मुख मुद्रित चित्र में १६ पंक्तियों से नीचे की

टिप्पण—अपनी तुच्छ बुद्धि से मुझे यह भासित होता है कि पृष्ठ १५४ पर मुद्रित चित्र (जो कि ध. ११/७१ से लिया है) मत्स्य-रचना का नहीं है, न ही वहाँ पर [ध. ११ में] कहीं 'मत्स्य रचना" लिखा भी है। परन्तु वह चित्र तो ६४ ही अवगाहनाओं को एक व्यवस्थित क्रम [पहले १६ अपर्याप्तों की जघन्य, फिर १६ अपर्याप्तों की उत्कृष्ट तथा नीचे सभी पर्याप्तों की जघन्य एवं उत्कृष्ट = ३२] से मात्र ग्राफांकित किया गया है। उससे सूचित मत्स्य-रचना तो हमने जैसी यहाँ बतायी है, वह होती है। ऐसी ही रचना गो. जी. की कानड़ी तथा संस्कृत वृत्ति में भी बतायी है। मैंने उसका पूरा आधार लिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ १५४ पर प्रदत्त चित्र के अनुसार यदि प्रथम १६ स्थानों के क्रमशः असंख्यातगुणत्व का आकार बनाया जाये तथा आगे की शेष ४८ अवगाहनाओं को यथाक्रम इस आकार के आगे रेखांकित किया जाये [आकार प्रदान किया जाये] तो बनने वाला आकार भी किसी मत्स्य रूप होवे, यह असम्भव नहीं है, क्योंकि सकल ब्रह्माण्ड में मत्स्यों (मछलियों) के आश्चर्यकारी तथा विचित्र विविध आकार उपलब्ध होते हैं।

सत्रहवीं आदि ५ पंक्तियों द्वारा इन सभी पर्याप्त जीवों की जघन्य-उत्कृष्ट कुल ३२ अवगाहनाओं का चित्रण किया गया है। जिससे पृष्ठ२१ वाला चित्र बन जाता है जो कि इस मूल ग्रन्थ के पृष्ठ १५४ पर प्रदत्त चित्र-रचना के भावों के अनुरूप ही है।

❋ मत्स्य-रचना के प्रस्तुत चित्र का खुलासा ❋

अब सब अवगाह-स्थानों के स्थापन का क्रम कहते हैं। प्रथम सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक के जघन्य अवगाहन स्थान से लेकर उसके उत्कृष्ट अवगाहनस्थानपर्यन्त सोलह स्थान तो गुणित क्रम हैं और एक स्थान साधिक है। एक-एक स्थान की सूचक संदृष्टि दो शून्य है। सो चौंतीस शून्य दो-दो बिन्दी में बराबर लिखते हुए सतरह जगह लिखना। यहाँ सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तका जघन्य स्थान पहला है और उत्कृष्ट अठारहवाँ है। किन्तु गुणकारपने की अधिकतारूप अन्तराल सतरह ही हैं। इसलिए सतरह का ही ग्रहण किया है। ऐसे ही आगे भी समझना। इसी तरह उक्त पंक्ति के नीचे दूसरी पंक्ति में सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तक वायुकायिक जीवके जघन्य अवगाहनस्थान से लेकर उसी के उत्कृष्ट अवगाहनस्थान पर्यन्त उन्नीस स्थान हैं। उनकी अड़तीस बिन्दी लिखना। यह दूसरा स्थान होने से ऊपर की पंक्ति में प्रथम स्थान की दो बिन्दी छोड़कर द्वितीय स्थान की दो बिन्दी से लेकर आगे बराबर अडतीस बिन्दी लिखना। तीसरी पंक्ति में सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक तेजस्कायिक के जघन्य अवगाहना से उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त इक्कीस स्थान हैं। उनकी बयालीस बिन्दी लिखना। सो यह तीसरा स्थान होने से इससे ऊपर की दूसरी पंक्ति के दूसरे स्थान की दो बिन्दी के नीचे के स्थान को छोड़कर तीसरे स्थान की दो बिन्दी से लेकर बयालीस बिन्दी दो-दो करके इक्कीस स्थानों में लिखना। इसी तीसरी पंक्ति के नीचे चौथी पंक्ति में सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्त अप्कायिकके जघन्य अवगाहन से लेकर उत्कृष्ट अवगाहन पर्यन्त तेईस स्थानों की छियालीस बिन्दी लिखना। यह चौथा स्थान होने से तीसरे स्थान की दो बिन्दी के नीचे को छोड़कर चौथे स्थानकी दो बिन्दी से लेकर छियालीस बिन्दी लिखना। इसी तरह इस चतुर्थ पंक्ति के नीचे पाँचवीं पंक्ति में सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्त पृथ्वीकायिक के जघन्य अवगाहन से लेकर उत्कृष्ट अवगाहनपर्यन्त पच्चीस स्थान हैं। उनकी पचास बिन्दी लिखना। सो यह पाँचवाँ स्थान होने से चौथे स्थान की भी दो बिन्दी के नीचे को छोड़कर पाँचवें स्थान की दो बिन्दी से लेकर पचास बिन्दी लिखना। इसी तरह उक्त पंक्ति के नीचे छठी, सातवीं, आठवीं, नवमी, दशमी, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं पंक्ति में बादरलब्ध्यपर्याप्तक वायुकाय, तेजकाय, अप्काय, पृथ्वीकाय, निगोद, प्रतिष्ठित प्रत्येक, अप्रतिष्ठित प्रत्येक, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन ग्यारह की अपने-अपने जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त क्रम से सत्ताईस, उनतीस, इकतीस, तैंतीस, पैंतीस, सैंतीस, छियालीस, चवालीस, इकतालीस, इकतालीस तेतालीस स्थान हैं। इनके चौवन, अठावन, बासठ, छियासठ सत्तर, चौहत्तर, बयासी, अठासी, बयासी, बयासी और छियासी बिन्दी लिखना। सो ये स्थान छठे सातवें आदि होने से ऊपर की पंक्ति के आदि स्थान की दो-दो बिन्दी के नीचे को छोड़कर छठे सातवें आदि स्थान की दो बिन्दी से लेकर पंक्ति में लिखना।

इसी प्रकार उस पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक की पंक्ति के नीचे सतरहवीं पंक्ति में सूक्ष्म निगोद पर्याप्त के जघन्य अवगाहन स्थान से लेकर उत्कृष्ट अवगाह पर्यन्त दो स्थान हैं।[1] उनकी चार

---

१. धवल ११ सूत्र ४७ से ४६ पृष्ठ ५६-६०।

बिन्दी लिखना। इसी प्रकार से आगे एक ही पंक्ति में सूक्ष्म पर्याप्तक वायुकायिक, तेजस्कायिक, अप्कायिक, पृथ्वीकायिक, पुनः बादर पर्याप्त वायुकायिक, तेजस्कायिक, अप्कायिक, पृथ्वीकायिक, निगोद, प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के अपने-अपने जघन्य अवगाह स्थान को लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट अवगाह स्थान पर्यन्त प्रत्येक के दो-दो स्थान हैं। उनकी चार-चार बिन्दी लिखना।[1] इसी प्रकार प्रतिष्ठित प्रत्येक के उत्कृष्ट अवगाहन स्थान से आगे उसी पंक्ति में ही अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्तक के जघन्य अवगाहन स्थान से लेकर उत्कृष्ट अवगाहनस्थान पर्यन्त तेरह स्थानों की छब्बीस बिन्दियाँ लिखना।[2] सो पर्याप्त सूक्ष्म निगोद का आदि स्थान सतरहवाँ है। इसलिए सोलहवें स्थान की दो विन्दु के नीचे को छोड़कर सतरहवें तथा अठारहवें स्थान की चार बिन्दी लिखना। सूक्ष्म वायु. पर्याप्तक का आदि स्थान बीसवाँ है इसलिए उसी पंक्ति में उन्नीसवें स्थान के दो बिन्दी के नीचे को छोड़कर बीसवाँ-इक्कीसवाँ दो स्थानों की चार बिन्दी लिखना। इसी तरह बीच-बीच में एक स्थान की दो-दो बिन्दी के नीचे को छोड़-छोड़कर सूक्ष्म पर्याप्त तेजस्काय आदि के दो-दो स्थानों की चार-चार बिन्दी लिखना। उसी पंक्ति में अप्रतिष्ठित प्रत्येक के पचासवें से लेकर स्थान हैं। इसलिए पचासवें स्थान की बिन्दी से लेकर तेरह स्थानों की छब्बीस बिन्दी लिखना। यह सब एक पंक्ति में कहा है। उस पंक्ति के नीचे-नीचे अठारहवीं, उन्नीसवीं, बीसवीं, इक्कीसवीं, पंक्ति में पर्याप्त दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों का अपने-अपने जघन्य अवगाहन स्थान से लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट अवगाहस्थान पर्यन्त ग्यारह, आठ, आठ, दस स्थानों की क्रम से बाईस, सोलह, सोलह और बीस बिन्दी लिखना। सो पर्याप्त दोइन्द्रिय के इक्यावन से लेकर स्थान हैं। इसलिए सतरहवीं पंक्ति में अप्रतिष्ठित प्रत्येक की जो छब्बीस बिन्दी लिखी थीं, उनके नीचे आदि की पचासवें स्थान की दो बिन्दी के नीचे को छोड़कर आगे बाईस बिन्दी लिखना। इसी तरह नीचे-नीचे आदि की दो बिन्दी के नीचे को छोड़कर बावनवें, तरेपनवें, चौवनवें स्थानों की बिन्दी से लगाकर क्रम से सोलह, सोलह बीस बिन्दी लिखना। इस प्रकार मत्स्य-रचना में सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक के जघन्य अवगाहस्थान से लगाकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट अवगाहन स्थान पर्यन्त सब अवगाहना स्थानों में-से प्रत्येक के दो-दो शून्यों की विवक्षा होने से उन स्थानों की गणना के आश्रय से हीन अधिक भाव को लिये हुए शून्य स्थापना का क्रम अनादिनिधन आगम में कहा है। इसके अनुसार रचना करने पर समस्त अवगाहन की रचना मत्स्याकार होती है।

सार:—मत्स्य-रचना के उक्त विवरण का संक्षिप्तसार इस प्रकार है—सूक्ष्म अपर्याप्तक निगोद की जघन्य अवगाहना से उसके उत्कृष्ट अवगाहपर्यन्त गुणकार सोलह हैं, पुनः एक अधिक है।[3] इस प्रकार सतरह स्थानों के प्रत्येक स्थान के दो शून्य के हिसाब से चौंतीस शून्य सबसे ऊपर की पंक्ति में लिखने चाहिए। उसके नीचे सूक्ष्म अपर्याप्तक वायुकायिक के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त उन्नीस स्थानों के अड़तीस शून्य लिखने चाहिए।[4] इसी तरह सूक्ष्म अपर्याप्त तेजस्कायिक से लेकर प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्यन्त प्रत्येक के दो स्थान अधिक होने से प्रत्येक पंक्ति में चार शून्य अधिक होते हैं। इस

---

१. धवल ११ सूत्र ५० से ७६ तक पृष्ठ ६० से ६६।

२ धवल ११ सूत्र ८० से ९३ तक पृष्ठ ६६ से ६८।

३. ,, ,, ,, ३२ से ४८ पृष्ठ ५६ से ५९।

४. ,, ,, ,, ३२ से ५१ पृष्ठ ५६ से ६०।

तरह बयालीस, छियालीस, पचास, चौवन, अठावन, बासठ, छियासठ, सत्तर और चौहत्तर शून्य होते हैं। आगे भी अपने जघन्य से अपने उत्कृष्ट पर्यन्त स्थान गणना के द्वारा शून्य गणना जाननी चाहिए। ऊपर की पंक्ति के जघन्य से नीचे की पंक्ति का जघन्य दो शून्य छोड़कर होता है। सतरहवीं पंक्ति में एक में ही बारह जीवों के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त अपने-अपने योग्य शून्य लिखकर, उसके नीचे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के अपने-अपने जघन्य से अपने-अपने उत्कृष्ट पर्यन्त चार पंक्तियों में अपनी-अपनी स्थान गणना से शून्यों की गणना जानना। इस प्रकार रचने पर सब अवगाहों की रचना मत्स्य के आकार होती है। □

(३) पृष्ठ ७८० गाथा ७२६ में **"दोण्णि आहारा"** पद से आहारक काययोग तथा आहारक मिश्र काययोग गृहीत होते हैं। (धवल २।८२४) तथापि यहाँ आहारक मिश्र काययोग से प्रारम्भ करके आहारक काययोग के अस्तित्व के अन्तिम क्षण तक आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग भी नियम से उदित रहते हैं (धवल ७।५४-५५) अतः आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग तो युगपत् उदित होते हैं, आहारक तथा आहारक मिश्र दोनों योगों में निरन्तर बने रहते हैं। अतः जिनके मनःपर्यय, परिहारविशुद्धि या प्रथमोपशम सम्यक्त्व है उनके आहारक शरीर या आहारक अंगोपांग का निषेध भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसी तरह यह भी जानना चाहिए कि मनःपर्ययज्ञानी, प्रथमोपशम सम्यक्त्वी या परिहारविशुद्धि ऋद्धिधारी के आहारक समुद्घात भी नहीं होता, क्योंकि आहारक समुद्घात का अर्थ होता है औदारिक शरीर से बाहर निकलता हुआ आहारक शरीर। अतः आहारक शरीर के अस्तित्व में जब शेष तीन नहीं होते तो आहारक-समुद्घात में वे शेष तीन (मनःपर्यय ज्ञान, उपशम सम्यक्त्व, परिहारविशुद्धि०) कैसे हो सकते हैं? (धवल ७।४३१,७।३५५,४५४)।

आहारकमिश्र काययोगी के मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम और उपशम सम्यक्त्व : ये तीनों नहीं होते। यह ध्रुवसत्य है। (धवल २।६६६) यही बात आहारक काययोगी के कहना चाहिए। इसी तरह आहारक शरीर तथा अंगोपांग के साथ भी ये शेष तीन मनःपर्यय, परिहारविशुद्धि तथा उपशम सम्यक्त्व नहीं होते। [धवल ७।६६८, धवल ८।३०५, धवल १४।२४६] ऐसे भी कहा जा सकता है कि आहारकद्विक, मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम ये ऋद्धियाँ तथा उपशम सम्यक्त्व ये चार साथ-साथ नहीं होते, एक-एक ही होते हैं। (धवल २।७३५, धवल१४।२४७) विशेष इतना है कि उपशम सम्यक्त्वी को आहारक-शरीर का बन्ध तो होता है [धवल ८।३८० तथा जैन गजट दि० ५।१२।६६] पर उदय नहीं हो सकता। इसी तरह मनःपर्ययज्ञानी (धवल ८।२९५-९६) तथा परिहार विशुद्धि संयमी भी आहारक शरीर का बन्ध कर सकते हैं, (धवल-८।३०७) मात्र उदय का निषेध है। शेष सब आगमानुसार जानकर कहना चाहिए। □

(४) गाथा ८२ (पृ. १२९) की टीका व अर्थ में लिखा है कि कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, दो प्रकार के चक्रवर्ती तथा बलभद्र उत्पन्न होते हैं। इस पर विशेष इतना जानना चाहिए कि जिस कूर्मोन्नत योनि से भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए थे उसी योनि से अन्य ९९ पुत्र (भरत के भाई) भी उत्पन्न हुए थे। जिस कैकसी से रावण प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुआ था, उसी से भानुकर्ण तथा विभीषण भी उत्पन्न हुए (प० पु० पर्व ७ श्लोक १६४ से २२८)। जिस योनि से देवकी के कृष्ण (वासुदेव) हुए, उसी योनि से नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न तथा जितशत्रु नामक

पुत्र भी उत्पन्न हुए थे (हरिवंशपुराण ३५/१ से २६)। इस प्रकार इस हुण्डावसर्पिणी में कूर्मोन्नत योनि में अन्य जन भी उत्पन्न हुए हैं। इतनी विशेषता जाननी चाहिए। □

(५) पृ. २६६ पर तृतीय **शंका-समाधान** में यह कहा गया है कि उस आहार से उत्पन्न हुई शक्ति का बाद में उत्पन्न हुए जीवों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही ग्रहण हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि एक निगोदशरीरस्थ सभी जीव साथ-साथ उत्पन्न नहीं होते, किन्तु क्रम से भी उत्पन्न होते हैं (धवल १४ पृ. २२७, २२६, ४८७ आदि) तथापि वे उपचार से एक साथ उत्पन्न हुए ही कहलाते हैं। तथा पूर्व में उत्पन्न जीवों की शक्ति को (उसी निगोद शरीर में) बाद में उत्पन्न होने वाले जीव अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय में ही ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए एक ही निगोद शरीर में पूर्वोत्पन्न तथा पश्चात् उत्पन्न जीव एक साथ ही पर्याप्त हो जाते हैं, इत्यादि। शेष सब सुगम है। □

(६) पृष्ठ ३२३ पर अन्तिम शंका का समाधान अपूर्ण है। अतः विस्तार सहित पूरा समाधान मूल ध. १४/३६८ से लिखा जाता है। यथा—

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्तरकुरु और देवकुरु के मनुष्य तीन पल्य की स्थिति वाले ही होते हैं, ऐसा कहने का फल वहाँ पर शेष आयुस्थिति के विकल्पों का निषेध करना है और इस सूत्र को छोड़कर अन्य सूत्र नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि उत्तरकुरु और देवकुरु के मनुष्य तीन पल्य की स्थिति वाले ही होते हैं, अत यह विशेषण सफल है। **अथवा** एक समय अधिक दो पल्य से लेकर एक समय कम तीन पल्य तक के स्थिति-विकल्पों का निषेध करने के लिए सूत्र में "तीन पल्य की स्थिति वाले", इस पद का ग्रहण किया है। सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु जिस प्रकार निर्विकल्प होती है, उस प्रकार वहाँ की आयु निर्विकल्प नहीं होती; क्योंकि इस प्रकार की आयु की प्ररूपणा करने वाला सूत्र और व्याख्यान उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार यहाँ यह बताया गया है कि "**तिपलिदोवमट्ठिदियस्स**" तीन पल्य की स्थिति वाले के, इस पद के दो अर्थ बनते हैं— (१) वहाँ तीन पल्य की ही स्थिति होती है, (२) वहाँ अन्य भी आयु विकल्प (एक समय अधिक दो पल्य आदि) बनते हैं।

विशेष - यहाँ यह स्मरणीय है कि सत्कर्म पंजिका पृ. ७८ में लिखा है कि—**भोगभूमीए कदलीघादमत्थि त्ति अभिप्पाएण। पुणो भोगभूमीए आउगस्स घादं णत्थि त्ति भणंताइयाणमभिप्पाएण**.... (धवल १५ परि० पृ. ७८)। **अर्थ**— उपर्युक्त प्ररूपण भोगभूमि में कदलीघात है, ऐसा कहने वाले आचार्यों के अभिप्राय से कहा है। पुनः भोगभूमि में कदलीघात मरण नहीं है ऐसा कहने वाले आचार्यों के मत से प्ररूपण ऐसा है कि...........।

इस प्रकार भोगभूमि में भी कदलीघात मानने वाले आचार्य हैं तथा उन आचार्यों के अभिप्राय से वहाँ अनेक आयुर्विकल्प बन जाते हैं। अथवा विभिन्न आयुओं को बाँधकर भी वहाँ उत्पन्न होने से अनेक आयुविकल्प बन जाते हैं। ज. ध. ६/पृष्ठ ६६-१०२, धवल १६ पृ. ४२४-२५ भी देखें।

तत्त्वार्थ सूत्र २/५३ आदि से उपर्युक्त मत भिन्न हैं। शेष सब सुगम है। □

(७) गाथा २६५ (पृ. ३६६) में आगत शब्द **"असंखभजिदकमा"** का विशेषार्थ में स्पष्टीकरण भूलवश नहीं हो पाया है। इसलिए इसका स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है—

शिला, पृथ्वी, धूलि तथा जल; शक्ति की अपेक्षा ये ४ स्थान पृथक्-पृथक् असंख्यात लोक-प्रमाण भेदों वाले हैं। तथापि ये भेद यथाक्रम असंख्यातगुणेहीन-असंख्यातगुणेहीन हैं। यथा:— समस्त कषाय उदयस्थान असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। तथापि उत्कृष्ट स्थान से प्रारम्भ कर जघन्य स्थान पर्यन्त क्रमशः असंख्यातगुणेहीन-असंख्यातगुणेहीन होते हैं। समस्त कषायोदय स्थानों को असंख्यात-लोक से भाजित करने पर बहुभाग मात्र शिलाभेद समान उत्कृष्ट शक्तियुक्त उदयस्थान होते हैं। पुनः शेष एक भाग को असंख्यात लोक से भाजित करके जो बहुभाग प्राप्त हो वे पृथ्वीभेद समान अनुत्कृष्ट शक्तियुक्त उदयस्थान होते हैं। पुनः शेष एक भाग को असंख्यात लोक से भाजित करने पर जो बहुभाग प्राप्त हो तत्प्रमाण धूलिरेखा समान अजघन्य शक्तियुक्त उदयस्थान होते हैं। पुनः अन्त में शेष बचे एक भाग मात्र उदयस्थान जलरेखा समान जघन्य शक्तियुक्त होते हैं। ये भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस प्रकार ये चारों स्थान क्रमशः असंख्यातगुणेहीन-हीन होते हैं। इस प्रकार चारों शक्तिस्थानों में उदयस्थानों का प्रमाण कहा गया (१०८ आचार्य अभयचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती)। ☐

(८) गाथा ६४८ के विशेषार्थ में पृ. ७०६ पर कहा है कि "अन्यथा तीसरी पृथ्वी से निकले हुए कृष्ण आदिकों के तीर्थंकरत्व नहीं बन सकता है", फिर लिखा है कि "तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता के कारण स्वयं इतनी विशुद्धता आ जाती है कि वह स्वयं दर्शनमोह की क्षपणा कर सकता है।" इसका स्पष्टीकरण—रहस्य की बात यह है कि यह जीव तीर्थंकर केवली, सामान्य केवली या श्रुत केवली के पादमूल में ही दर्शनमोह की क्षपणा करता है। (धवल ६/२४६) ऐसी स्थिति में जो जीव तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर दूसरे-तीसरे नरक में उत्पन्न होते हैं तथा फिर वहाँ से आकर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, उनको क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति ऐसे होती है कि ऐसे तीर्थंकर सत्त्व वाले, क्षायोपशम सम्यक्त्वी, चरम शरीरी मनुष्य स्वयं जिन अर्थात् श्रुतकेवली होकर फिर अन्य किसी की सन्निधि के बिना, स्वयं ही दर्शनमोह की क्षपणा करने में समर्थ होते हैं। (जयधवल १३ प्रस्ता. पृ. १, मूल पृ. ४, जैनगजट १६.४.७० ई. पृ. ७)।

श्रीकृष्ण ने श्री नेमिनाथ के समवसरण में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो कर लिया था, किन्तु उनको क्षायिक सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ था। सम्यक्त्व से पूर्व श्रीकृष्ण ने नरकायु का बन्ध कर लिया था, अतः वे मरकर तीसरे नरक में उत्पन्न हुए। वहाँ से क्षयोपशम सम्यक्त्व के साथ निकल कर तीर्थंकर होंगे। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि उनको क्षायिक सम्यक्त्व कैसे प्राप्त होगा? इसके समाधान के लिए धवल में लिखा है कि जो स्वयं जिन अर्थात् श्रुतकेवली होते हैं, वे स्वयं दर्शन-मोह की क्षपणा करते हैं, उनको अन्य केवली या श्रुतकेवली के पादमूल की आवश्यकता नहीं रहती। अतः कृष्ण नरक से आकर मुनि बनकर, श्रुतकेवली (जिन) बनकर फिर स्वयं दर्शनमोह की क्षपणा (बिना किसी के पादमूल में गये) कर लेंगे। शेष सब सुगम है।

विदुषाम् अनुचरः

दि. २५.१२.१९९२ जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२४	भक्ति एवं अणुव्रत महाव्रत आदि	भक्ति आदि
५	१६	तत्त्वों के	तत्त्वों को
५	२०	बनें। यह	बनें, यह निमित्त है।
५	२४	साक्षात् हेतु	साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु
७	१७	दर्शनमोहनीय कर्म	मोहनीय कर्म
७	१८	गुणस्थान सद्भाव	गुणस्थान योग के सद्भाव
११	२२	श्रद्धान	अश्रद्धान
१५	१५	प्रमत्तसंयत अर्थात्	प्रमत्तसंयत व अप्रमत्तसंयत अर्थात्
२२	२३	परमागम में मुख्य	सूत्र में विवक्षित नय
२८	१७	वेदक सम्यग्दृष्टि	वेदकसम्यक्त्व
३२	२५	महानवस्था	सहानवस्था
५२	१४ कोठा नं. १	४३६-६३०	४३६-६३७
५२	६ कोठा नं. ५	८००-८८५	८००-८५५
५२	१२ कोठा नं. ४	५८५-६३७	५८६-६३७
५२	२८ कोठा नं. ५	३५०-२६४	२५०-२६४
५३	५	(३६ से ५४)	(१ से ३६)
५३	७	इसी प्रथम	इसी प्रकार प्रथम
६१	७	समानता बन जाती है	एकता कही है
६१	६ से ११	दसवें गुणस्थान....आवश्यक है।[२]	ये तीनों पंक्तियाँ काटनी हैं।
६७	२२	में ही प्रथम	में ही क्रोध की प्रथम
७०	२०	जिस कृष्टि के का	जिस कृष्टि का
७०	२८	वेदक	वेदन
७१	१०	विभाग	त्रिभाग
७२	४	जीव या	जीव
७६	६	काययोग	योग
८३	१६	को करने वाला	का उपदेश करने वाला
८४	२१	प्रकृति	प्रवृत्ति
८६	११	क्योंकि, पहले	क्योंकि, पहले;
८७	५	भाग जीवों	भाव सभी जीवों
८८	२	क्यों	क्योंकि
८८	२०	अपेक्षा वृद्धि	अपेक्षा अथवा वृद्धि
९३	२६	जो असंज्ञी	जो असंज्ञी (?)
९४	१	साधारण	साधारण जीव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९८	२५	कृष्टियों को	कृष्टियों की
१०२	३०	को द्विचरम फाली हो	की द्विचरमफालि तक ले
१०७	२३	का उपाय	× × ×
११०	पंक्ति तीन के अन्त में जोड़िए—		असंख्यातगुणा है। उससे अनिवृत्ति० उपशामक का गुणश्रेणि-गुणकार असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्मसाम्पराय का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है।
११४	५	बाण के विनि:संग	बाण के समान विनि:संग
११८	१५	शेष छह प्रकृतियाँ	शेष कर्म प्रकृतियाँ
१२३	११	सूक्ष्म तेजकायिक बादर वनस्पति-कायिक	सूक्ष्म तेजकायिक बादर वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक बादरवनस्पतिकायिक
१३०	६	उपभुक्त के	उपभुक्त आहार के
१३३	१३	होती हैं, किन्तु मूलाचार	होती हैं। मूलाचार
१३३	१५	उपपाद जन्म में एकेन्द्रिय	उपपाद जन्म में तथा एकेन्द्रिय
१४०	३	स्थित सबसे	स्थित जीवों के सबसे
१४१	१८	वाली है। इस	वाली है यानी भ्रमर ३/४ यो०चौड़ा है। इस
१४५	३२	स्वस्थान सूक्ष्म	स्वस्थान में सूक्ष्म
१४७	१७	घन्यज	जघन्य
१५१	१४-१५	अवगाहना करके	अवगाहना को ग्रहण करके
१५१	२०	से आवली के	से इसको आवली के
१५२	६	सूक्ष्म पृथ्वीकायिक की	सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्तक की
१५३	२१	बादर वनस्पतिकायिक शरीर	बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर
१५५	२६	नीचगोत्र रूप	नीच गोत्र के
१६१	१०	में भेद किया	का अभाव किया
१६७	२१	पहले स्थितिकाण्डक	पहले; स्थितिकाण्डक
१६९	१६	भवति' 'संयत	भवति'; अर्थात् पर विधि बाधक होती है इस नियम के अनुसार 'संयत
१७९	११	परिणामों	प्राणों
१८१	१३; १४; १५; १७	इन्द्रियों	नोट—इन्द्रियों की जगह इन्द्रिय-प्राणों पढ़ें।
१८१	२०	उससे मनोबलरूप	उससे उत्पन्न हुए मनोबल रूप
१८१	२२-२३	भाषावर्गणा... शक्ति	"भाषावर्गणा... शक्ति"
१८७	५	मैथुन संज्ञा	परिग्रह संज्ञा
१९१	१६	ज्ञान पड़ता है।	ज्ञानरूप पड़ता है।
१९१	१७	वे इन्द्रियाँ	वे इन्द्रियाँ (उपयोग रूप भावेन्द्रियाँ)
१९६	२१	नारकियों के उत्पन्न	नारकियों में जीवों के उत्पन्न
१९६	पंक्ति १३ के अन्त में जोड़ें—		सूक्ष्म साम्पराय संयम का जघन्य अंतर एक समय है। क्योंकि सूक्ष्म साम्परायिक संयतों के बिना समय जगत् में देखा जाता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			है। उत्कृष्ट अन्तर छह मास है, क्योंकि क्षपकश्रेणि-आरोहण का उत्कृष्ट अन्तर छह मास ही है। छह मास बाद कोई-न-कोई सूक्ष्म साम्पराय० होता ही है।
१६६	२६	तीसरे चौथे नरक में नील व कृष्ण लेश्या	तीसरे में कापोत व नील, चौथे में नील, पाँचवें में नील व कृष्ण लेश्या
१६६	२८	५०० धनुष	७ योजन ३¾ कोस
२०१	५	नरकगति नारकी	नरकगति से नारकी
२२३	१५	६१९७०८४६६६८६४१६२....	६१९७०८४६६६८१६४१६२........
२२५	२५	प्रथमवर्गमूल ज. श्रे. को	प्रथमवर्गमूल से ज. श्रे. को
२२८	११	द्वितीय वर्गमूल × (तृतीय	द्वितीय वर्गमूल = (तृतीय
२३९	७	इन्द्रियों के उक्त	इन्द्रियों के द्वारा उक्त
२४०	१-२	पुद्गल द्रव्य का....परिणमन है।	विशिष्ट संस्थान, महत्त्व तथा प्रकृष्ट वाणी आदि पुद्गल द्रव्य का परिणमन है।
२४५	२७	व्यय सहित	व्ययरूप से अधिक
२४७	१३	आप के बिना	आय के बिना
२४८	१०	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक
२४८	३०	द्वीन्द्रिय... पंचेन्द्रिय	त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय
२५३	२४	युक्त बनता है ।।१८२।।	युक्त; पृथ्वी आदि में बनता है ।।१८२।।
२६२	१८-२०	शंका—प्रत्येक वनस्पति में........ ....अनैकान्तिक है।[२]	शंका—प्रत्येक वनस्पति में सूक्ष्मता विशिष्ट जीव की सत्ता सम्भव है अतः यह सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है।[२]
२६४	२-३	नहीं हुई है, जल	नहीं हुई है; ऐसे इनमें जल
२६४	४	मूलादिक, जो आगम में प्रतिष्ठित प्रत्येक	जो मूलादिक, आगम में प्रतिष्ठितप्रत्येकपने से
२७४	२४	हेतु (भावकलंक) यह	हेतु भावकलंक है, यह
२८०	२४	तीनों राशियाँ लोक	तीनों राशियाँ असंख्यातलोक
२८३	२५	जलकायिक जीव	जलकायिक पर्याप्त जीव
२८४	३०	पर्याप्त आवली	पर्याप्त जीवराशि आवली
२८५	२	संपूर्ण बादर पर्याप्त	सम्पूर्ण बादर
२९२	१७	क्योंकि सम्बन्ध	क्योंकि कर्म सम्बन्ध
३०४	६	प्रभाव	अभाव
३०५	१	गुण से वह	गुण हो वह
३०८	५	और भुज्यमान	और अन्त में भुज्यमान
३०८	६	जिन्होंने पूर्व	जिन्होंने कार्मण काययोगकाल में पूर्व

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१७	२७	वर्ग होता है।[४]	वर्गणा होती है।[४]
३२०	२७	अथवा परमाणु	अतः परमाणु
३२४	२६	केवल औदारिक शरीर की	औदारिक शरीर की केवल
३२६	७	पुद्गलों का उत्कर्ष	पुद्गलों का संक्लेश से उत्कर्ष
३२६	२५	एकेन्द्रियों में त्रसों	एकेन्द्रियों से त्रसों
३३३	११-१२	एक समय.......उदय समय	× × ×
३३६	६	है उस तीसरे.......	है उसे तीसरे
३५०	२६	तुल्य असंख्यातगुणे	तुल्य होकर असंख्यातगुणे
३५६	२३	सूत, प्रेय	सूत या स्वत, प्रेय
३५६	२६	जल के द्वारा	जल के सिंचनों द्वारा
३६६	१६	हैं ॥२६५॥	हैं। शिला, पृथ्वी, धूलि तथा जल ये चारों स्थान पृथक्-२ असंख्यात लोक प्रमाण होते हुए भी क्रमशः असंख्यात गुणहीन-२ हैं ॥२६५॥
३७०	३२	परिवर्तन मात्र विशेष	परिवर्तनमात्र क्रोध के परिवर्तनवार विशेष
३८०	१४	पदार्थों में की	पदार्थों की
३८६	२२	अप्राय	अवाय
३६२	१३-१४	अब इस प्रकार........दिये ही हैं।	इस प्रकार सभी (११) विकल्पों का स्पष्टीकरण किया गया।
३६६	२५	वस्तु का उपरिम	वस्तु का, उपरिम
४०३	१८	६११........६१२ वें	६०११...... ६०१२ वें
४०६	१८	अनन्त भाग जाकर	अनन्त भाग वृद्धियाँ जाकर
४०८	१६	प्रमाण वृद्धियों में से	प्रमाण अनंतभाग वृद्धियों में से
४११	२	अपरिवर्तित	अपवर्तित
४११	५	के नीचे संख्यात	के नीचे काण्डक प्रमाण संख्यात
४११	२६	[(४×४४)	[(१×४४)
४१२	२१	जघन्य स्थ	जघन्य स्थान में
४२१	७	प्राभृतप्राभृत जितने	प्राभृतप्राभृत के जितने
४२६	१०	बयासी	तिरासी
४२६	२०	श्रुतज्ञान एक	श्रुतज्ञान में एक
४२६	१३	एक अक्षर होता है	एक भंग होता है
४२६	१६	से एक करने	से एक कम करने
४३१	१२	यथा—प्रकार के	यथा—अकार के
४३२	२	(२०१६×६२/२)	(२०१६×६२/३)
४३८	२४	६०/२×६३=१६५३	६०/२×६१/१=१८३०
४३६	२६-२७	श्रुतज्ञान एककम	श्रुतज्ञान और तदावरण कर्म ये एक कम
४४३	२३	प्राप्त होने उनके प्रवृत्ति	प्राप्त होने पर उनके प्रति प्रवृत्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४५	२६	साधु की कथा........	साधु को कथा
४४६	२०	लाख पद हैं।	लाख और ५ पद हैं।
४४७	१६	पाँच भूतों के	चार भूतों के
४५६	७	भंगविधिविशेष, तत्त्व	भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधि-विशेष, तत्त्व
४६१	६	कारणभूत	करणभूत
४७२	२५	है—क्षेत्राननुगामी	है—वह तीन प्रकार का है—क्षेत्राननुगामी
४७६	२४	वर्गणाओं में	वर्गणाओं के संचय में
४७७	६	क्योंकि सूक्ष्म अवगाहना से ऊपर	क्योंकि वह सूक्ष्म अवगाहना का मान (प्रमाण) है। परन्तु इससे ऊपर
४७७	८	जाते हैं, उन	जाते हैं उनको वह जानता है। उन
४७८	१२	उतने	उतना
४७६	२३	इस पल्योपम	पल्योपम
४७६	२३-२४	असंख्यातवें भाग	असंख्यातवे भाग आता है, यानी
४८१	११	ही जघन्य	ही आचार्य जघन्य
४८४	२३-२४	ध्रुवहार वर्गणा गुणाकार व वर्ग	ध्रुवहार, वर्गणा गुणाकार व वर्गणा
४८५	२	सम्बन्धी एक रूप का	संबंधी विकल्पों को लाने हेतु एक रूप का
४८७	११	कुछ परमाणुप्रचय	परमाणुप्रचय
४६५	१४	कुछ एक दिवस है।[1]	कुछ कम एक दिवस की बात जानता है।[1]
४६६	१३	है, सामान्यवाची	है, कालसामान्यवाची
४६७	२६	संख्यातवें मात्र	संख्यातवें भाग मात्र
४६६	३०-३१	जघन्य द्रव्य में .. होता है ।।४१४।।	उतने परमावधि के भेद हैं। इनमें से उत्कृष्ट चरम भेद में द्रव्यहार (अर्थात् ध्रुवहार) प्रमाण होता है ।।४१४।।
५०१	१८	अन्यवहित	अव्यवहित
५०४	५; ६	काय	काल
५०४	१४	कम। इससे	कम इससे
५०५	४	इस प्रकार	इसी प्रकार
५०६	२४	काल बहुत	काल इससे बहुत
५०६	२७	से असख्यातवाँ भाग	से उसका संख्यातवाँ भाग
५०७	११	संबधी क्षेत्र	संबंधी उत्कृष्ट क्षेत्र
५०८	५	द्वारा पृथ्वी	द्वारा प्रथम पृथ्वी
५०८	११	सहित अवधि	रहित अवधि
५१६	१	युक्त समस्त	या समस्त
५२५	२७	आवली के भाग	आवली के असंख्यातवें भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२६	५	ज्ञाता	ज्ञात
५२६	५	पदार्थों	पर्यायों
५२८	७	तिर्यंच तथा मतिज्ञानियों	तिर्यंच मतिज्ञानियों
५२८	८	प्रमाण अवधिज्ञान	प्रमाण तथा अवधिज्ञान
५२६	३	इनसे अधिक	इनसे व अयोगी से अधिक
५२६	११	विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि	विभंगज्ञानी भी मिथ्यादृष्टि
५२६	११	ओघ मिथ्यादृष्टि	ओघ यानी सकल मिथ्यादृष्टि
५३५	१२	इसके उदय	अप्रत्याख्यानावरण के उदय
५३८	२६	छेदों	भेदों
५४०	२६	पूर्व संयम का	पूर्व में संयम का
५४६	१	कारण असत्य	कारण, ऐसे असत्य
५४६	३	छुरी, विष	छुरी, धेनू, विष
५४६	१६	नामक तीसरे गुणव्रत	नामक गुणव्रत
५५१	१४	अवधि, सामायिक	अवधि में सामायिक
५५५	२१	कषाय का काय	कषाय का, काय
५६३	३०	असंख्याता	असंख्यात
५७०	१६	चक्षुदर्शन	अचक्षुदर्शन
५७०	१६	परमार्थ	परमार्थ—
५७०	२१	अचक्षुदर्शन की उत्पत्ति	अचक्षुज्ञान की उत्पत्ति
५७४	३०	कषायों से केवल	कषायों से, केवल
५७७	१७	कसूम कुसुम	कुसुम
५७८	१५	घनवात व तनुवात	व तनुवात
५८६	१०	पर संख्यात	पर एक बार संख्यात
५६३	१६-२०	आनत, प्राणत) स्वर्गों	) स्वर्गों
५६८	१४	होती है ॥५३४-३५॥	होती है । भवनत्रिक अपर्याप्तों के अशुभत्रिक होती है ॥५३४-३५॥
६००	२३	असंख्यातवें भाग	असंख्यातवें भाग का भाग
६०१	२	अशुभ लेश्या वाली जीवराशि को सामूहिक	अब अशुभ लेश्या वाली सम्पूर्ण जीवराशि को तीनों के सामूहिक
६०३	२५	वर्ग ७ से	वर्ग से
६०४	२	को भागाहार के	के भागाहार के
६०५	२३	गुह्यक चरित (यक्षों के विचरण स्थान) ये समानार्थक हैं।	गुह्यकाचरित (यक्षों के विचरण स्थान);
६१०	१	स्पर्श करते हैं। सर्वत्र	स्पर्श करते हैं। इसलिए प्रतरांगुलगुणित जगच्छ्रेणि का संख्यातवां भाग प्रमाण गुणकार स्थापित करना चाहिए। सर्वत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६११	१३	कम नव बटा	कम ८/१४ तथा नव बटा
६११	१७	।।१६६।। स्वस्थान	।।१६६।। स्पष्टीकरण—स्वस्थान
६१२	१७	स्वस्थान की	स्वस्थान व समुद्घात की
६१३	१६	भाग अथवा	भाग असंख्यात बहुभाग अथवा
६१४	८	चौड़े भाग	चौथे भाग
६३२	१२ से १४	शंका—स्पर्श....हो जाता है।	× × × (तीनों पंक्तियां काटनी है।)
६३४	११	लेने पर जीव	लेने पर भी जीव
६४२	७	संयम	समय
६४३	१-२	को जानना चाहिए। सख्यात असंख्यात व अनन्त आवलियों का	संख्यात असंख्यात व अनन्त भेद वाला
६४५	१७	वह एक समय	एक समय
६४७	१८	आवलियों	× × ×
६४८	१	सिद्ध को	सिद्धों को
६४८	१	६ मास ८ समय १ / ६०८	६ मास ८ समय / ६०८
६४८	११	छह आवली प्रमाण	संख्यात आवली प्रमाण
६५३	२२	वह बड़े	वह छोटे-बड़े
६५७	१७	वज्र पटल के	वज्रा पृथ्वी के
६६६	२५	चाहिए।[५] यह	चाहिए।[५] जघन्य प्रत्येक शरीर वर्गणा से उत्कृष्ट प्र. श. वर्गणा असंख्यात गुणी है। गुणकार पल्य का असंख्यातवां भाग है। यह
६६७	१८-१९	होती हैं। इस प्रकार	होती हैं। अपनी जघन्य से उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा असंख्यात गुणी है। जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग गुणकार है इस प्रकार
६७७	१५	आदि में न्यून	आदि में उत्तरोत्तर न्यून
६८०	१	नक्शे के ऊपर इस तरह हेडिंग लगाना: —	त० सू०, स० सि०, राजवार्तिक की परम्परा:—
६९२	११	होते हैं। आठ	होते हैं। इस प्रकार आठ
६९५	६	गुणस्थान १४ वें	गुणस्थान से १४ वें
६९६	१३	यह क्रम	× × ×
६९७	१	की ओघ	को ओघ
६९७	२	काल मिला	काल में मिला
७०४	२२	डेढ़ गुणहानि	डेढ़ गुणहानि ×
७०५	१३	कर्म है	कर्म प्रमाण है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०७	१६	होने के पश्चात्	करता हुआ
७०९	१३	समय	समयों
७१०	४	रूप से दारु	रूप से, दारु
७१६	२०	भजनीय है। दर्शन-	भजनीय है, ऐसा आगम में कहा है। दर्शन—
७२०	१	सम्यग्दृष्टियों की इच्छा राशि है।	सम्यग्दृष्टि हैं।
७२०	१२	को पल्य	से पल्य
७२३	१६	करता है वह	करता है, अतः वह
७२५	३	अतएव	अथवा
७३२	१४	करते हैं। जहाँ	करते हैं। इसी तरह मारणांतिक समुद्घात में जहाँ
७३२	१६	समुद्घात श्रेणी	समुद्घात में श्रेणि
७३३	१२	एक जीव की अपेक्षा	नाना जीवों की अपेक्षा अनाहारक सर्वकाल होते हैं। एक जीव की अपेक्षा
७३५	१०	अनात्मभूत हेतु अन्तरंग निमित्त है।	अनात्मभूत हेतु है तथा द्रव्ययोगनिमित्तक भावयोग तथा वीर्यान्तराय ज्ञानावरण दर्शनावरण के क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मशक्ति आत्मभूत अन्तरंग निमित्त है।
७३७	२	असंख्यात........	संख्यात
७३८	२९	अनुभय विकलेन्द्रियों	अनुभय वचन विकलेन्द्रियों
७३९	३	सम्यक्त्व	सम्यक्त्वी
७३९	१८	—पंचेन्द्रिय जीवों	पंचेन्द्रिय तक के जीवों
७४४	२२-२३	मानने में उनसे अनेकान्त दोष आता है।[3]	हो ऐसा एकान्त नहीं है; अर्थात् अनेकान्त है।[3]
७४९	२२	जाता[3]	जाता; क्योंकि सामायिक व छेदोपस्थापना में विवक्षा-भेद से ही भेद है, वास्तव में नहीं।[3]

●

गोम्मटसार : जीवकाण्ड

* विषय-सूची *

।। श्रीवीतरागाय नमः ।।

शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः !

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ।।
अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम् ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

•

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः । सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **श्रीगोम्मटसार-जीवकाण्डनामधेयं,** अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर-ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य-**श्रीनेमिचन्द्राचार्येण** विरचितं इदं शास्त्रं । श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।

•

मङ्गलं भगवान् **वीरो**, मङ्गलं **गौतमो** गणी ।
मङ्गलं **कुन्दकुन्दाद्यो**, **जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम् ।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।

॥ श्रीमन्नेमिचन्द्राय नमः ॥

#卐 गोम्मटसारः 卐

✻ जीवकाण्डम् ✻

मङ्गलाचरण और वस्तु-निरूपण की प्रतिज्ञा—

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंदवरणेमिचंदमकलंकं ।
गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥१॥

गाथार्थ—जो सिद्ध हैं, शुद्ध हैं, अकलङ्क हैं और जिनके गुणरूपी रत्नों के भूषणों का उदय रहता है, ऐसे जिनेन्द्रवर (श्रेष्ठ) नेमिचन्द्र (नेमिनाथ) भगवान को नमस्कार करके मैं (नेमिचन्द्राचार्य) जोव की प्ररूपणा कहता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ—इस प्रथम गाथा में **ग्रन्थकर्त्ता श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य** ने इष्टदेव को नमस्कार करके जीवप्ररूपणा के कथन की प्रतिज्ञा की है।

जो कृतकृत्य हैं, अतः सिद्ध हैं; द्रव्य-भावरूप घातिया-कर्मों से रहित हैं, अतः शुद्ध हैं। क्षुधादि अठारह दोषों से रहित हैं, अतः अकलङ्क हैं तथा अनन्त-ज्ञानादि गुणरूप रत्नों की प्रकटता होने से गुणरत्नभूषणोदय हैं, उन नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करके, **अथवा**

घातिया कर्म के नाश से प्रकट अनन्तज्ञानादि नव केवललब्धिरूप अनुपम ऐश्वर्य से सहित होने से जो जिनेन्द्र हैं अर्थात् जिनकी ज्ञानप्रभा से तीनों लोक और तीनों काल व्याप्त हैं, तीर्थरूपी रथ का प्रवर्तन करने में जो नेमि (धुरा) के समान हैं, तीनों लोकों के नेत्रकमलों को विकसित करने में जो चन्द्र के समान हैं, ऐसे जिनेन्द्र श्रेष्ठ चतुर्विंशति तीर्थंकर समुदाय को, **अथवा** कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले जिन हैं उनमें इन्द्र-प्रधान इन्द्रभूति गौतम गणधर के वर (गुरु) श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके जो कि नेमिचन्द्र भी हैं, क्योंकि शिष्यों को अविनाशी पद पर ले जाने से वे "नेमि" हैं तथा चन्द्रवत् विश्वतत्त्वप्रकाशक होने से चन्द्र भी हैं। इस तरह वर्धमान स्वामी ही नेमिचन्द्र हैं; उन्हें नमस्कार करके **अथवा** साध्य को सिद्ध कर लेने से जो सिद्ध हैं; ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के द्रव्य-भावरूप कर्मों से रहित हैं अतः शुद्ध हैं; परवादियों द्वारा कल्पित दोषों का अभाव होने से जो अकलङ्क

हैं; सम्यक्त्वादि आठ गुणों के प्रकट हो जाने से जो गुणरत्नभूषण हैं तथा वे सिद्ध जिनेन्द्रवर नेमिचन्द्र भी हैं (कर्मजेता=जिन; परम ऐश्वर्य शोभित=इन्द्र; वर=उत्कृष्ट; नेमि=ज्ञान; चन्द्र=परम-सुख भोक्ता; वर नेमि=उत्कृष्ट ज्ञानी : सभी विशेषण सिद्धों के हैं।); ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके मैं (नेमिचन्द्राचार्य) जीवप्ररूपणा का कथन करूंगा।

इस गाथा के तीन चरण मङ्गलरूप हैं, क्योंकि इसमें जिनेन्द्रदेव के गुणों का कीर्तन किया गया है। [1]जिनेन्द्रदेव के कीर्तन से विघ्न नाश को प्राप्त होते हैं, कभी भय उत्पन्न नहीं होता, दुष्ट-देवता आक्रमण नहीं कर सकते और निरन्तर इच्छित अर्थ की सिद्धि होती है, अतः प्रारम्भ किये गए किसी भी कार्य के [2]आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करना चाहिए, क्योंकि निर्विघ्न कार्य-सिद्धि के लिए जिनेन्द्र-गुणकीर्तनरूप मङ्गल आवश्यक है।

मङ्गल दो प्रकार का है—निबद्धमङ्गल, अनिबद्धमङ्गल। **निबद्धमङ्गल**—ग्रन्थ की आदि में ग्रन्थकर्त्ता द्वारा मङ्गलस्वरूप गाथा की रचना स्वयं करके जो इष्टदेवता को नमस्कार किया जाता है, वह निबद्धमङ्गल है तथा जो मङ्गलस्वरूप गाथा ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं नहीं रची जाती है, वह **अनिबद्धमङ्गल** है।

इस गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ के आदि में जो यह मङ्गलरूप गाथा है, वह निबद्धमङ्गल है, क्योंकि इष्टदेव को नमस्काररूप यह गाथा स्वयं ग्रन्थकर्त्ता द्वारा रची गई है।

शङ्का—ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है या अमङ्गलरूप? यदि ग्रन्थ स्वयं मङ्गलरूप नहीं है तो वह ग्रन्थ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मङ्गल के अभाव में पाप का कारण होने से उसका ग्रन्थपने से विरोध है। यदि ग्रन्थ स्वयं मङ्गलरूप है तो फिर उसमें अलग से मङ्गल करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि मंगलरूप ग्रन्थ से ही कार्य की निष्पत्ति हो जाती है?

समाधान—ग्रन्थ के आदि में मङ्गल किया गया है, तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता, क्योंकि ग्रन्थ और मङ्गल इन दोनों से पृथक्-पृथक् रूप में पापों का विनाश होता है। निबद्ध और अनिबद्ध मङ्गल पठन में आने वाले विघ्नों को दूर करता है और ग्रन्थ प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणिरूप से पापों का नाश करके उसके बाद सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का कारण होता है।

शङ्का—देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्था में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाला होता है, इसलिए मङ्गल और ग्रन्थ दोनों एक ही कार्य को करने वाले हैं। फिर दोनों का कार्य भिन्न क्यों बतलाया गया?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकथित विषय के परिज्ञान के बिना केवल देवता-नमस्कार में कर्मक्षय का सामर्थ्य नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति शुक्लध्यान से होती है, किन्तु देवता-नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है[3]।

---

१. विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न दुष्टदेवाः परिलङ्घयन्ति।
अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते, जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥

२. आदौ मध्यावसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ [ध. पु. १ पृ. ४२]

३. ध. पु १ पृ. ४३।

यद्यपि इस गाथा में देवता-नमस्काररूप मंगल किया गया है तथापि 'तालप्रलम्ब' सूत्र के देशामर्शक होने से मंगलादि छहों अधिकारों का प्ररूपण करता है। कहा भी है—

मंगल-निमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिया ॥

मङ्गल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता इन छह अधिकारों का व्याख्यान करके आचार्य शास्त्र का व्याख्यान करें।[1]

'मगि' धातु से मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है।[2] मंगल का निरुक्ति अर्थ—जो मल का गालन करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे वह मंगल है। द्रव्य और भावमल के भेद से मल दो प्रकार का है। द्रव्यमल भी दो प्रकार का है—बाह्य द्रव्यमल और अभ्यन्तर द्रव्यमल। पसीना, धूलि आदि बाह्यद्रव्य मल है। कठिनरूप से जीवप्रदेशों से बँधे हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप भेदों में विभक्त ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं। अज्ञान और अदर्शन आदि परिणाम भावमल हैं। इस प्रकार के मल का जो गालन करे, विनाश करे, ध्वंस करे वह मंगल है। अथवा 'मंग' शब्द सुखवाची है, उसे जो लावे, प्राप्त करे, वह मंगल है।[3]

मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगल के पर्यायवाची नाम हैं। प्राचीन आचार्यों ने अनेक शास्त्रों में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा मंगलरूप अर्थ कहा है। अथवा यदि एक शब्द से प्रकृत विषय समझ में न आवे तो दूसरे शब्दों द्वारा समझ सकें इसलिए यहाँ मंगलरूप अर्थ के पर्यायवाची अनेक नाम कहे गये हैं।[4]

जीव मंगल है, किन्तु सभी जीव मंगलरूप नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा मंगलपर्याय से परिणत जीव को और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से केवलज्ञानादि पर्यायों को मंगल माना है।[5]

शङ्का—किस कारण से मंगल उत्पन्न होता है?

समाधान—जीव के औदयिक एवं औपशमिक आदि भावों से मंगल उत्पन्न होता है।

शङ्का—औदयिकभाव मंगल का कारण कैसे हो सकता है?

समाधान—पूजा, भक्ति एवं अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्त-रागरूप औदयिक भाव और तीर्थङ्कर प्रकृति के उदय से उत्पन्न औदयिक भाव मंगल के कारण हैं।

शङ्का—जीव में मंगल कब तक रहता है?

समाधान—नाना जीवों की अपेक्षा मंगल सर्वदा रहता है और एक जीव की अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त तथा सादि-सान्त रहता है।

शङ्का—एक जीव के अनादिकाल से अनन्तकाल तक मंगल कैसे सम्भव है?

---

१. ध. पु. १ पृ. ८। २. ध. पु. १०। ३. ध. पु. १ पृ. ३३-३४। ४. ध. पु. १ पृ. ३२-३३। ५. ध. पु. १ पृ. ३६।

समाधान—द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से जीव अनादिकाल से अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभाव अवस्थित है अतएव मंगल में भी अनादि-अनन्तपना बन जाता है।

शङ्का—इस प्रकार जीव को मिथ्यादृष्टि अवस्था में भी मंगलपने की प्राप्ति हो जावेगी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यह इष्ट है। कारण कि जीवत्व का अभाव होने से मिथ्यात्व, अविरति एवं प्रमाद आदि को मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता। मंगलस्वरूप तो जीव ही है और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्तधर्मात्मक है।

शङ्का—केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धन की (संसार) दशा में मंगलीभूत केवलज्ञानादि का सद्भाव कैसे सम्भव है ?

समाधान—कर्मों के द्वारा आवृत होने वाले केवलज्ञानादि का सद्भाव न माना जावेगा तो आवरण करने वाले केवलज्ञानावरणादि का भी सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा।

शङ्का—छद्मस्थ जीव के ज्ञान-दर्शन अल्प होते हैं अतः वे मंगलस्वरूप नहीं हो सकते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि छद्मस्थों में पाये जाने वाले एकदेश ज्ञान-दर्शन में यदि मंगलपने का अभाव माना जावेगा तो सम्पूर्ण अवयवभूत ज्ञान-दर्शन को भी अमंगलपना प्राप्त हो जावेगा।[1]

शङ्का—आवरण से युक्त जीवों के ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शन के अवयव ही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन से भिन्न ज्ञान और दर्शन का सद्भाव नहीं पाया जाता है ?

शङ्का—केवलज्ञान और केवलदर्शन से अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शनादि दर्शन तो पाये जाते हैं ? इनका अभाव कैसे किया जाता है ?

समाधान—उस ज्ञान और दर्शनसम्बन्धी अवस्थाओं की मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शन आदि नाना संज्ञाएँ हैं। अर्थात् ज्ञानगुण की अवस्था विशेष का नाम मत्यादि और दर्शनगुण की अवस्था विशेष का नाम चक्षुदर्शनादि है। यथार्थ में इन सर्व अवस्थाओं में रहने वाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं।

शङ्का—केवलज्ञान और केवलदर्शन के अंकुररूप छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन को मङ्गलपना प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञा को प्राप्त होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव में भी वे अंकुर विद्यमान हैं ?

समाधान—यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीव को ज्ञान और दर्शनरूप से मंगलपना प्राप्त हो, किन्तु इतने से ही मिथ्यात्व, अविरति आदि को मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

---

१. ध. पु. १ पृ. ३६-३८।

शङ्का—मिथ्यादृष्टि जीव सुगति को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान में समीचीनता नहीं पाई जाती तथा समीचीनता के बिना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती। फिर मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और दर्शन को मंगलपना कैसे है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आप्त के स्वरूप को जानने वाले, छद्मस्थों के ज्ञान-दर्शन को केवलज्ञान और केवलदर्शन के अवयवरूप से निश्चय करने वाले और आवरणरहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्ति से युक्त आत्मा का स्मरण करने वाले सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान और दर्शन में जिस प्रकार पाप का क्षयकारीपन पाया जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और दर्शन में भी पाप का क्षयकारीपन पाया जाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और दर्शन को भी मंगलपना होने में विरोध नहीं है।[1]

जो आत्मा वर्तमान में मंगलपर्याय से युक्त तो नहीं है, किन्तु भविष्य में मंगलपर्याय से युक्त होगी, उसके शक्ति की (नो आगमभाविद्रव्यमंगल की) अपेक्षा मंगल अनादि-अनन्त है। रत्नत्रय को धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होने वाले रत्नत्रय के द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्ध के स्वरूप की अपेक्षा नैगमनय से मंगल सादि-अनन्त है। अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति से सादिपना और रत्नत्रय-प्राप्ति के अनन्तर सिद्धस्वरूप की जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आने वाला नहीं है। इस प्रकार दोनों धर्मों को विषय करने वाले नैगमनय की अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है।

सम्यग्दर्शन की अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिए। उसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्टकाल कुछ कम छ्यासठसागर प्रमाण है।[2]

इस गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ के प्रारम्भ होने में निमित्त श्री चामुण्डराय हैं। अथवा बद्ध, बन्ध, बन्ध के कारण; मुक्त, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन छह तत्त्वों के निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारों से भलीभाँति समझकर भव्यजन उसके ज्ञाता बनें। यह ग्रन्थ अर्थप्ररूपणा की अपेक्षा तीर्थंकर से और ग्रन्थरचना की अपेक्षा गणधर से अवतीर्ण होकर[3] गुरु-परम्परा से श्री **धरसेन** भट्टारक को तथा उनसे **पुष्पदन्त-भूतबली** आचार्य को प्राप्त हुआ। इन्हीं आचार्यद्वय के **षट्खण्डागम** एवं **वीरसेनाचार्य** की **धवला** टीका से **श्रीमन्नेमिचन्द्र** सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य को प्राप्त हुआ।

इस सिद्धान्तग्रन्थ के अध्ययन का साक्षात् हेतु अज्ञान का विनाश और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति, देव, मनुष्यादि के द्वारा निरन्तर पूजा का होना तथा प्रतिसमय असंख्यातगुणितरूप से कर्मों की निर्जरा का होना है। शिष्य-प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर पूजा जाना परम्परा-प्रत्यक्षहेतु है। अभ्युदय सुख और निःश्रेयससुख की प्राप्ति परोक्ष हेतु है।[4]

अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा श्रुत का परिमाण संख्यात है और अर्थ की अपेक्षा परिणाम अनन्त है।[5] इस ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार जीवकाण्ड है। इस ग्रन्थ के मूलकर्ता (अर्थकर्ता) श्री वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्त्ता गौतम गणधर हैं और उपग्रन्थकर्त्ता राग-द्वेष-मोह से रहित श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य हैं।[6] शास्त्र की प्रमाणता को दिखाने के लिए ग्रन्थ के कर्त्ता का कथन किया गया है।

---

१. ध. पु. १ पृ. ३८-३९। २. ध. पु. १ पृ. ३९-४०। ३. ध. पु. १ पृ. ५६। ४. ध. पु. १ पृ. ५७।
५. ध. पु. १ पृ. ६१। ६. ध पु. १ पृ. ७३।

जीव सम्बन्धी बीस प्ररूपणाएँ—

**[1]गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।
उवओगो वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिदा ।।२।।**

गाथार्थ—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा (१४) और उपयोग ये बीस प्ररूपणा कही हैं ।।२।।

विशेषार्थ—गुणस्थान १४, जीवसमास १४, पर्याप्ति ६, प्राण १०, संज्ञा ४, मार्गणा १४ और उपयोग १२ हैं। इनमें से १४ मार्गणाओं के अवान्तर भेद—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग १५, वेद ३, कषाय १६, ज्ञान ८, संयम ७, दर्शन ४, लेश्या ६, भव्यत्व २, सम्यक्त्व ६, संज्ञित्व २ और आहार २ हैं। गुणस्थान, जीवसमासादि का लक्षण एवं विशेष कथन यथास्थान ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना अथवा निर्देश, प्ररूपण, विवरण और व्याख्यान ये सभी एकार्थक हैं।[2]

शङ्का—प्ररूपणा किसे कहते हैं ?

समाधान—[3]गुणस्थानों में, जीवसमासों में, पर्याप्तियों में, प्राणों में, संज्ञाओं में, गतियों में, इन्द्रियों में, कायों में, योगों में, वेदों में, कषायों में, ज्ञानों में, संयमों में, दर्शनों में, लेश्याओं में, भव्यों में, अभव्यों में; सम्यक्त्वों में, संज्ञी-असंज्ञियों में, आहारी-अनाहारियों में और उपयोगों में पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जो जीवों की परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं।

दो प्रकार से प्ररूपणा का कथन—

**संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।
वित्थारादेसो त्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ।।३।।**

गाथार्थ—संक्षेप या ओघ गुणस्थान की संज्ञा है। गुणस्थान की उत्पत्ति मोह और योग के कारण होती है। विस्तार या आदेश यह मार्गणा की संज्ञा है। मार्गणा की उत्पत्ति में कर्म कारण हैं ।।३।।

विशेषार्थ—ओघ या संक्षेप, सामान्य या अभेद से कथन करना ओघ प्ररूपणा है। आदेश या विस्तार, भेद या विशेषरूप से निरूपण करना दूसरी आदेश प्ररूपणा है। इन दो प्रकार की प्ररूपणाओं को छोड़कर वस्तु-विवेचन का अन्य कोई तीसरा प्रकार सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तु में सामान्य और विशेष धर्म को छोड़कर अन्य तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है।

शङ्का—विशेष को छोड़कर सामान्य स्वतंत्र नहीं पाया जाता इसलिए आदेश-प्ररूपणा के कथन से ही सामान्य प्ररूपणा का ज्ञान हो जावेगा। अतएव दो प्रकार का व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है।

---

१. प्रा. पं. सं. गा. २, अ. १। २. ध. पु. १ पृ. १६०-६१। ३. ध. पु. २ पृ. ४१३।

समाधान—यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि जो संक्षेपरुचि वाले होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य प्ररूपणा से ही तत्त्व को जानना चाहते हैं और जो विस्ताररुचि वाले होते हैं, वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेष प्ररूपणा के द्वारा तत्त्व को समझना चाहते हैं। इसलिए इन दोनों प्रकार के प्राणियों के अनुग्रह के लिए यहाँ दोनों प्रकार की प्ररूपणाओं का कथन किया गया है।

'गुण' कहने से गुणस्थान का ग्रहण होता है।

शङ्का—नाम के एकदेश के कथन करने से सम्पूर्ण नाम के द्वारा कहे जाने वाले अर्थ का बोध कैसे सम्भव है?

समाधान - नहीं, क्योंकि वलदेव शब्द के वाच्यभूत अर्थ का उसके एकदेश रूप 'देव' शब्द से भी बोध होना पाया जाता है। इस प्रकार प्रतीति-सिद्ध बात में 'यह नहीं कहा जा सकता' ऐसा कहना निष्फल है, अन्यथा सर्वत्र अव्यवस्था हो जावेगी।

अथवा औदयिक, औपशमिक, क्षायिक,क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पाँच गुण हैं। कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाला गुण **औदयिक** है। कर्मों के उपशम से उत्पन्न होने वाला गुण **औपशमिक** है। कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला गुण **क्षायिक** है। कर्मों के क्षय और उपशम से उत्पन्न होने वाला गुण **क्षायोपशमिक** है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होने वाला गुण **पारिणामिक है**। इन गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुण संज्ञा को प्राप्त होता है। जिनमें गुण संज्ञा वाले जीव रहते हैं उन स्थानों की गुणस्थान संज्ञा है। वे गुणस्थान १४ हैं। उनमें से प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक तो दर्शनमोहनोयकर्म के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम की अपेक्षा होते हैं। अन्त के दो गुणस्थान सद्भाव व अभाव की अपेक्षा होते हैं। **'मोहजोगभवा'** अर्थात् गुणस्थान संज्ञा मोह और योग से उत्पन्न होती है।

मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषणा ये तीनों एकार्थवाची हैं। सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारों से युक्त चौदह गुणस्थान जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, वह **मार्गणा** है। मार्गणाएँ कर्मों के निमित्त से होती हैं।

गुणस्थान और मार्गणा में शेष प्ररूपणाओं का अन्तर्भाव—

आदेसे संलीणा जीवा पज्जत्तिपाणसण्णाओ।
उवओगो वि य भेदे वीसं तु परूवणा भणिदा ॥४॥

गाथार्थ—आदेश अर्थात् मार्गणाओं में जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग का अन्तर्भाव हो जाता है। भेद विवक्षा में बीस प्ररूपणा कही हैं ॥४॥

प्ररूपणाओं का मार्गणाओं में अन्तर्भाव—

इंदियकाये लीणा जीवा पज्जत्ति आणभासमणो।
जोगे काओ णाणे अक्खा गदिमग्गणे आऊ ॥५॥

मायालोहे रदिपुव्वाहारं कोहमाणगम्मि भयं।
वेदे मेहुणसण्णा लोहम्मि परिग्गहे सण्णा ॥६॥

सागारो उवश्रोगो णाणे मग्गम्मि दंसणे मग्गे ।
श्रणगारो उवश्रोगो लीणोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।।७।।

गाथार्थ—इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा में जीवसमास, पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासप्राण, वचनबलप्राण एवं मनोबलप्राण का अन्तर्भाव हो जाता है। योगमार्गणा में कायबलप्राण का, ज्ञान-मार्गणा में पाँच इन्द्रियप्राणों का और गतिमार्गणा में आयुप्राण का अन्तर्भाव हो जाता है। माया और लोभकषायमार्गणा में रतिपूर्वक आहारसंज्ञा का, क्रोध और मानकषायमार्गणा में भय संज्ञा का, वेदमार्गणा में मैथुनसंज्ञा का, लोभकषायमार्गणा में परिग्रहसंज्ञा का अन्तर्भाव हो जाता है। साकारोपयोग का ज्ञानमार्गणा में और अनाकारोपयोग का दर्शनमार्गणा में अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।५-७।।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और काय स्वरूप है, जीवसमास स्वरूप वाला है, इसलिए स्वरूप में स्वरूपवान् का अन्तर्भाव होने से कायमार्गणा में जीवसमास अन्तर्भूत है। इन्द्रिय और काय धर्मी हैं, पर्याप्ति धर्म है अतः धर्म-धर्मी सम्बन्ध के कारण धर्मरूप पर्याप्तियों का धर्मी अर्थात् इन्द्रिय और कायमार्गणा में अन्तर्भाव होता है। उच्छ्वास-निःश्वास, वचनबल और मनोबल प्राण कार्य हैं तथा उच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति उनका कारण है, अतः कार्यरूप उच्छ्वास-निःश्वास, वचनबल और मनोबल प्राणों का कारणरूप पर्याप्ति में अन्तर्भाव है और पर्याप्ति धर्म-धर्मी सम्बन्ध के कारण इन्द्रिय और कायमार्गणा में अन्तर्भूत है, अतः उच्छ्वास-निःश्वास, वचनबल और मनोबलप्राण का अन्तर्भाव भी इन्द्रिय और कायमार्गणा में हो जाता है। जीवप्रदेशों के परिस्पन्दन लक्षणवाले काय-योगरूप कार्य में कायबलप्राण कारण है, इसलिए कार्य-कारणभाव की अपेक्षा योगमार्गणा में काय-बलप्राण अन्तर्भूत है। अथवा योग सामान्य है और कायबल विशेष है, अतः सामान्य-विशेषापेक्षा भी योगमार्गणा में कायबल प्राण अन्तर्भूत हो जाता है। ज्ञानमार्गणा में इन्द्रियों का अन्तर्भाव कार्य-कारण सम्बन्ध की अपेक्षा है, क्योंकि इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम कारण है और ज्ञान कार्य है। गतिमार्गणा और आयुप्राण सहचरधर्मी हैं, क्योंकि गतिनामकर्म और आयुकर्म का उदय साथ-साथ ही पाया जाता है, अतः गतिमार्गणा में आयुप्राण का अन्तर्भाव होता है।

आहार की इच्छा रतिकर्मोदयपूर्वक होती है और रतिकर्म, मायाकषाय तथा लोभकषाय रागरूप कषायें हैं अतः माया और लोभकषायमार्गणा में आहारसंज्ञा अन्तर्भूत है। भयसंज्ञा में द्वेष-रूप, क्रोधकषाय, मानकषाय कारण हैं, अतः कार्यकारणभाव की अपेक्षा भयसंज्ञा का क्रोध-मानकषाय मार्गणा में अन्तर्भाव है। वेदकर्म का उदय कारण है और मैथुनसंज्ञा उसका कार्य है इसलिए वेदमार्गणा में मैथुनसंज्ञा अन्तर्भूत है। लोभकषाय के उदय से परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है, अतः लोभकषाय-मार्गणा में परिग्रहसंज्ञा का अन्तर्भाव है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान कारण है एवं साकारोपयोग कार्य है, इसलिए ज्ञानमार्गणा में साकारोपयोग का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न दर्शन कारण है और अनाकारोपयोग कार्य है, अतः अनाकारोपयोग का दर्शनमार्गणा में अन्तर्भाव हो जाता है।

गुणस्थान का निरुक्ति अर्थ

[1]जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ।।८।।

गाथार्थ—कर्मों की उदयादि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन परिणामों से जोव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस संज्ञा से निर्दिष्ट किया है ।।८।।

विशेषार्थ—गाथा ३ में 'मोहजोगभवा' इन शब्दों के द्वारा गुणस्थानों की उत्पत्ति का कारण बतला दिया है । यहाँ भी 'उदयादिसु' शब्द द्वारा गुणस्थान सम्बन्धी परिणामों की उत्पत्ति का कारण बतलाया गया है । अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय से मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं । दशनमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से मिश्र गुणस्थान होता है । (विशेष के लिए देखें गा. ११-१२ का विशेषार्थ) दर्शनमोहनीयकर्म एवं चारित्रमोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उपशम या क्षयोपशम अथवा क्षय से चतुर्थगुणस्थान होता है । अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदयाभाव से पंचम गुणस्थान होता है । प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदयाभाव से ६ से १० तक पाँच गुणस्थान होते हैं । चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से ११वाँ तथा क्षय से १२वाँ गुणस्थान होता है । चार घातिया कर्मों के क्षय से १३-१४वाँ गुणस्थान होता है, किन्तु १३वें गुणस्थान में शरीर-नामकर्मोदय के कारण योग है और शरीरनामकर्मोदय का अभाव हो जाने से १४वें गुणस्थान में योग भी नहीं होता । इस प्रकार इन १४ गुणस्थानों में १ से १२ तक दर्शनमोह और चारित्रमोह कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से उत्पन्न होने वाले भावों के निमित्त से होते हैं । १३-१४वाँ गुणस्थान योग के सद्भाव और अभाव से होता है ।

चार घातिया और चार अघातियारूप-आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के बन्ध-उदय-सत्त्व का सम्पूर्णरूप से क्षय हो जाने पर मुक्तावस्था उत्पन्न होती है । यह अवस्था गुणस्थानातीत है, क्योंकि यहाँ कर्मों का सत्त्व ही नहीं रहा है ।

गुणस्थानों का निर्देश

[2]मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त [3]इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ।।९।।
[4]उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगि य ।
[5]चोद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ।।१०।।

गाथार्थ--मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसाम्परायसंयत, उपशान्तमोह, क्षीणमोह सयोगकेवली, अयोगकेवली ये क्रम से चौदह गुणस्थान होते हैं तथा सिद्धों को गुणस्थानातीत जानना चाहिए ।।९-१०।।

---

१. ध. पु. १; प्रा. पं. सं. पृ. २ व ५७० । २. प्रा. पं. सं. अ. १ गा. ४ पृ. २ व ५७० । ३. प्राकृतपंचसंग्रहे 'इयरो' पाठः । ४. प्रा. पं. सं. गा. ५ पृ. २ व ५७० । ५. 'चोद्दसगुणट्ठाणाणि य' इति पाठो प्राकृतपंचसंग्रहे ।

मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों की एवं सिद्धों में औपशमिकादि भावों की प्ररूपणा—

मिच्छे खलु ओदइओ विदिए पुण पारिणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव ।।११।।

एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरद अंतेसु ठाणेसु ।।१२।।

गाथार्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में नियम से औदयिकभाव होता है, पुनः द्वितीय सासादन गुणस्थान में पारिणामिकभाव, मिश्रगुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव सम्भव हैं ।।११।। ये भाव दर्शनमोहनीयकर्म की अपेक्षा कहे गए हैं क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक चारित्र नहीं होता है ।।१२।।

विशेषार्थ—यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थान में क्षायोपशमिक ज्ञान, दर्शन, लाभ, वीर्य आदि होते हैं, जीवत्व-भव्यत्व-अभव्यत्वरूप पारिणामिक भाव भी होते हैं तथापि दर्शनमोहनीयकर्म की अपेक्षा मात्र एक औदयिक भाव होता है।

गाथा में 'मिच्छे' शब्द मिथ्यात्व का द्योतक है। औपशमिक आदि पाँच भावों में से यह औदयिक भाव है। कर्मोदय से जो भाव हो वह औदयिक भाव है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला मिथ्यात्वभाव कर्मोदयजनित है अतएव औदयिक है। दर्शनमोहनीयकर्म की एक मिथ्यात्व प्रकृति का उदय ही मिथ्यात्वभाव का कारण है अतः यह भाव औदयिक है।

सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव है।

शङ्का—सासादन सम्यग्दृष्टिपना भी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों के विरोधी अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय के बिना नहीं होता इसलिए सासादन सम्यग्दृष्टि को औदयिक क्यों नहीं मानते ?

समाधान—यह कहना सत्य है; किन्तु उस प्रकार की यहाँ विवक्षा नहीं, क्योंकि आदि के चार गुणस्थानसम्बन्धी भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीयकर्म के अतिरिक्त शेष कर्मों की विवक्षा का अभाव है। इसलिए विवक्षित दर्शनमोहनीयकर्म के उदय से, उपशम से, क्षय से अथवा क्षयोपशम से नहीं होता अतः यह सासादनसम्यक्त्व निष्कारण है और इसलिए इसके पारिणामिकपना भी है।

शङ्का—इस न्याय के अनुसार तो सभी भावों को पारिणामिकपने का प्रसंग प्राप्त होता है।

समाधान—यदि उक्त न्याय के अनुसार सभी भावों के पारिणामिकपने का प्रसंग आता है तो आने दो, कोई दोष नहीं है, क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो फिर अन्य भावों में पारिणामिकपने का व्यवहार क्यों नहीं किया जाता ?

समाधान--नहीं, क्योंकि सासादन सम्यक्त्व को छोड़कर विवक्षितकर्म से नहीं उत्पन्न होने वाला अन्य कोई भाव नहीं पाया जाता।[1]

सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक भाव है, क्योंकि प्रतिबन्धी कर्म के उदय होने पर भी जीव के गुण का जो अवयव (अंश) पाया जाता है वह गुणांश क्षायोपशमिक कहलाता है।

शङ्का—कैसे ?

समाधान-गुणों को सम्पूर्ण रूप से घातने की शक्ति का अभाव क्षय कहलाता है। क्षयरूप ही जो उपशम होता है वह क्षयोपशम कहलाता है। उस क्षयोपशम में उत्पन्न होने वाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है।

शङ्का—सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के उदय रहते हुए सम्यक्त्व की कणिका भी अवशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघातिपना नहीं बन सकता इसलिए सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक है, यह कहना घटित नहीं होता ?

समाधान--सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक करंचित् अर्थात् शवलित या मिश्रित जीवपरिणाम उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानांश है, वह सम्यक्त्व का अवयव है, उसे सम्यग्मिथ्यात्वकर्म का उदय नष्ट नहीं करता इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है।

शङ्का—अश्रद्धानभाग के बिना केवल श्रद्धानभाग के ही 'सम्यग्मिथ्यात्व' यह संज्ञा नहीं है अत: सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक नहीं है ?

समाधान—उक्त प्रकार की विवक्षा होने पर सम्यग्मिथ्यात्व भले ही क्षायोपशमिक न होवे, किन्तु अवयवी के निराकरण और अवयव के अनिराकरण की अपेक्षा वह क्षायोपशमिक है अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वकर्म का उदय रहते हुए अवयवीरूप सम्यक्त्वगुण का तो निराकरण रहता है, किन्तु सम्यक्त्वगुण का अवयवरूप अंश प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी सम्यग्मिथ्यात्व-द्रव्यकर्म सर्वघाती होवे, क्योंकि जात्यन्तरभूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्वता का अभाव है, किन्तु श्रद्धानभाग अश्रद्धानभाग नहीं हो जाता, क्योंकि श्रद्धान और अद्धान में परस्पर एकता का विरोध है। श्रद्धानभाग कर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि इसमें विपरीतता का अभाव है। उसमें सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा का अभाव भी नहीं है, क्योंकि समुदायों में प्रवृत्त हुए शब्दों की उनके एक-देश में भी प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिकभाव है।[2]

सम्यग्मिथ्यात्वलब्धि क्षायोपशमिक है, क्योंकि वह सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न होती है।

शङ्का—सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के स्पर्धक सर्वघाती ही होते हैं इसलिए इनके उदय से उत्पन्न हुआ सम्यग्मिथ्यात्व उभय प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के स्पर्द्धकों का उदय सर्वघाती नहीं होता।

---

१. ध. पु. ५ पृ. १९६-१९७। २. ध. पु ५ पृ. १९८-१९९।

शङ्का—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यक्त्वरूप अंश की उत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती, इससे ज्ञात होता है कि सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के स्पर्धकों का उदय सर्वघाती नहीं होता।

सम्यग्मिथ्यात्व के देशघाती स्पर्धकों के उदय से और उसी के सर्वघाती स्पर्धकों के उपशम संज्ञावाले उदयाभाव से सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभय प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कहा गया है।[1] तृतीय गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है।

शङ्का—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीव के क्षायोपशमिक भाव कैसे सम्भव है ?

समाधान—वह इस प्रकार सम्भव है—वर्तमान समय में मिथ्यात्वकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से, सत्ता में रहने वाले उसी मिथ्यात्वकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावरूप उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, अतः वह क्षायोपशमिक सम्भव है।

शङ्का—तृतीय गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय होने से वहाँ औदयिकभाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान—औदयिकभाव नहीं कहा, क्योंकि मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं होता, इसलिए तृतीय गुणस्थान में औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

शङ्का—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबन्ध करती है, इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति को सर्वघाती कहा है।

शङ्का—जिस प्रकार मिथ्यात्व के क्षयोपशम से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति बतलाई है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान अनन्तानुबन्धी कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम से होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं कहा, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चारित्र का प्रतिबन्ध करती है अर्थात् चारित्रमोहनीय की प्रकृति है इसलिए यहाँ उसके क्षयोपशम से तृतीयगुणस्थान की उत्पत्ति नहीं कही गई है। [प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शनमोह की विवक्षा है, चारित्रमोह कर्म की विवक्षा नहीं है।]

जो आचार्य अनन्तानुबन्धी कर्म के क्षयोपशम से तृतीयगुणस्थान की उत्पत्ति मानते हैं उनके मतानुसार सासादन गुणस्थान को औदयिक मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि द्वितीय गुणस्थान को औदयिक नहीं माना गया है। **अथवा**

---

१. ध. पु. १४ पृ. २१।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से तथा सदवस्थारूप उपशम से, सम्यक्त्वप्रकृति के देशघाती स्पर्धकों का उदयक्षय होने से, सत्ता में स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकों का उदयाभावलक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक है। यहाँ इस प्रकार जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्त के पाठ का प्रारम्भ करने वालों को परिज्ञान कराने के लिए ही कहा है। वास्तव में तो सम्यग्मिथ्यात्वकर्म निरन्वयरूप से आप्त-आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धा का नाश करने के लिए असमर्थ है, किन्तु उसके उदय से सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थों का युगपत् विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है। यदि इस गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति के उदय से सत् और असत् पदार्थ को विषय करने वाली मिश्ररुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में क्षयोपशमता नहीं बन सकती है, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व से तृतीयगुणस्थान में आये हुए जीव के ऐसी अवस्था में सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनों का उदयाभावीक्षय नहीं पाया जाता।

शङ्का—उपशमसम्यक्त्व से आये हुए जीव के तृतीयगुणस्थान में सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनों का उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस प्रकार तृतीयगुणस्थान में औपशमिकभाव मानना पड़ेगा।

शङ्का—तृतीय गुणस्थान में औपशमिकभाव भी मान लिया जावे?

समाधान—नहीं, क्योंकि तृतीयगुणस्थान में औपशमिकभाव का प्रतिपादन करने वाला कोई आर्षवाक्य नहीं है। अर्थात् आगम में तृतीयगुणस्थान में औपशमिकभाव नहीं बताया है।

यदि तृतीयगुणस्थान में मिथ्यात्वादि कर्मों के क्षयोपशम से क्षयोपशमभाव की उत्पत्ति मान ली जावे तो मिथ्यात्वगुणस्थान को भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्वगुणस्थान में भी सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के उदयावस्था को प्राप्त हुए स्पर्धकों का क्षय होने से, सत्ता में स्थित उन्हीं का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से तथा मिथ्यात्व-कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से मिथ्यात्वगुणस्थान की उत्पत्ति पाई जाती है। इतने कथन से तात्पर्य यह समझना चाहिए कि तृतीयगुणस्थान में मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी कर्म के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्रप्रकृति के उदय से मिश्रभाव होता है।[1]

असंयतसम्यग्दृष्टि यह कौन सा भाव है? औपशमिकभाव भी है, क्षायिकभाव भी है और क्षायोपशमिकभाव भी है। मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों के तथा सम्यक्त्वप्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदयाभावरूप लक्षणवाले उपशम से उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है, इसलिए 'असंयतसम्यग्दृष्टि' यह भाव औपशमिक है। इन्हीं तीनों प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न

---

१. ध. पु. १ पृ. १६८ से १७०; सूत्र ११ की टीका।

होने वाले भाव को क्षायिक कहते हैं। सम्यक्त्वप्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय के साथ रहने वाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक कहलाता है। मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाव क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से तथा उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से अथवा अनुदयरूप उपशमन से एवं सम्यक्त्वप्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिकभाव कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु यह कथन घटित नहीं होता, क्योंकि वैसा मानने पर अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग आता है।

शङ्का—तो फिर क्षायोपशमिकभाव कैसे घटित होता है।

समाधान—यथास्थित अर्थ के श्रद्धान को घात करने वाली शक्ति सम्यक्त्वप्रकृति के स्पर्धकों में क्षीण है, अतः उनकी क्षायिकसंज्ञा है। क्षीणस्पर्धकों के उपशम को क्षयोपशम कहते हैं, उसमें उत्पन्न होने से वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है, यह कथन घटित हो जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व में तीन भाव होते हैं, अन्यभाव नहीं होते।

शङ्का—असंयतसम्यग्दृष्टि में गति, लिङ्ग आदि भाव पाये जाते हैं, फिर उनका ग्रहण क्यों नहीं किया?

समाधान—असंयतसम्यग्दृष्टि में भले ही गति, लिङ्ग आदि भावों का अस्तित्व रहा आवे, किन्तु उनसे सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता, इसलिए सम्यग्दृष्टि औदयिक आदि भावों के व्यपदेश को नहीं प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।[1]

सम्यक्त्वलब्धि क्षायोपशमिक है, क्योंकि वह सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से उत्पन्न होती है।

शङ्का—सम्यक्त्वप्रकृति के स्पर्धक देशघाती ही होते हैं। उसके उदय से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व उभयप्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कैसे हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व के देशघाती स्पर्धकों के उदय से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, इसलिए तो वह औदयिक है और वह औपशमिक भी है, क्योंकि वहाँ सर्वघाती स्पर्धकों के उदय का अभाव है।

सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोहनीय का एक भेद है। उसके (दर्शनमोहनीय के) सर्वघातीरूप से उपशम को प्राप्त हुए और देशघातीरूप से उदय को प्राप्त हुए स्पर्धकों का वेदकसम्यक्त्व (क्षयोपशम-सम्यक्त्व) कार्य है, इसलिए वह तदुभय प्रत्ययिक कहा गया है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[2]

उपशमसम्यक्त्व से वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त हुए जीव के ऐसी अवस्था में मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों के स्पर्धक अन्तरायाम से बाह्य स्थित हैं, मात्र सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा होकर उदय हुआ है। अथवा क्षायिक सम्यक्त्व के अभिमुख जिसने मिथ्यात्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति का क्षय कर दिया है उसके इन दोनों प्रकृतियों का सत्त्व ही नहीं रहा, उस जीव के भी मात्र

---

१. ध. पु. ५ पृ. २००। २. ध. पु. १४ पृ. २१-२२।

सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से वेदकसम्यक्त्व (क्षयोपशम-सम्यक्त्व) होता है। इस प्रकार वेदक-सम्यक्त्व क्षायोपशमिकभाव है, अतः सम्यक्त्वप्रकृति के उदयमात्र से वेदकसम्यक्त्व (क्षयोपशम सम्यक्त्व) होता है। वेदक सम्यक्त्वप्रकृति के स्पर्धकों की क्षय संज्ञा है, क्योंकि उनमें सम्यग्दर्शन के प्रतिबन्धन की शक्ति का अभाव है। मिथ्यात्व और मिश्र इन दोनों प्रकृतियों के उदयाभाव को उपशम कहते हैं। उपर्युक्त क्षय और उपशम इन दोनों के द्वारा उत्पन्न होने से क्षायोपशमिक है।[1]

गाथा के उत्तरार्ध द्वारा यह कहा गया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थगुणस्थान तक चारित्र नहीं होता, क्योंकि संयम का घात करने वाले कर्मों के तीव्र उदय से इन चार गुणस्थानों में असंयत होता है अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणकषाय चतुष्क के उदय से असंयतभाव होता है, अतः असंयतभाव औदयिक है।[2]

देशसंयतादि उपरिम गुणस्थानों में भावों का कथन

देसविरदे पमत्ते इदरे य खश्रोवसमिय भावो दु।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं ।।१३।।
तत्तो उवरिं उवसमभावो उवसामगेसु खवगेसु।
खइओ भावो णियमा अजोगिचरिमोत्ति सिद्धे य ।।१४।।

गाथार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म की अपेक्षा देशविरत, प्रमत्तसंयत अर्थात् पाँचवें, छठे, सातवें इन तीन गुणस्थानों में क्षायोपशमिकभाव होता है।।१३।। सप्तम गुणस्थान से ऊपर चारित्रमोह-नीय कर्म का उपशम करने वाले के अर्थात् उपशमश्रेणी के आठवें, नवमें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक भाव होता है तथा चारित्रमोहनीय का क्षय करने वाले अयोगकेवली पर्यन्त अर्थात् क्षपकश्रेणी के आठवें, नवमें, दसवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में और सिद्धों में भी क्षायिक भाव नियम से होता है।।१४।।

विशेषार्थ–संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत यह कौनसा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है,[3] क्योंकि क्षयोपशमनामक चारित्रमोहनीय कर्म (देशघाती स्पर्धकों) के उदय होने पर संयतासंयत (देशविरत), प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतपना उत्पन्न होता है, अतः ये तीनों ही क्षायोपशमिकभाव हैं। प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, सञ्ज्वलन कषायचतुष्क और नव नोकषायों के उदय के सर्वप्रकार से चारित्रविनाश करने की शक्ति का अभाव है, इसलिए उनके उदय की क्षय संज्ञा है। उन्हीं प्रकृतियों के उदय में उत्पन्न हुए चारित्र का आवरण नहीं करने के कारण उपशम संज्ञा है।[4]

अथवा सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकों का अनन्तगुणहीनत्व ही क्षय है एवं उनका देशघाती-स्पर्धकोंरूप से अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम है। उसी क्षयोपशम से उत्पन्न प्रमत्तसंयत व अप्रमत्तसंयत भी क्षायोपशमिक है।[5]

---

१. ध. पु. ५ पृ. २११। २. ध. पु. ५ पृ. २०१; सूत्र ६ की टीका। ३. ध. पु. ५ पृ. २०१; सूत्र ७। ४. ध. पु. ५ पृ. २०२। ५. ध. पु. ७ पृ. ९२।

शङ्का—प्रत्याख्यानावरण कषायों की उदीरणा होने पर भी देशसंयम (संयमासंयम) की प्राप्ति होती है, अतः उनके सर्वघातीपना नहीं बनता अर्थात् सर्वघातीपना नष्ट होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सकलसंयम का अवलम्बन लेकर उनके (प्रत्याख्यानावरण कषाय के) सर्वघातीपने का समर्थन किया है।[1]

[2]देशसंयम (संयमासंयम) की प्राप्ति मानने पर भी प्रत्याख्यानावरण कषाय का सर्वघातीपना नष्ट नहीं होता, क्योंकि प्रत्याख्यानावरणकषाय अपने प्रतिपक्षी सर्वप्रत्याख्यानरूप संयमगुण को घातता है, इसलिए वह सर्वघाती है, किन्तु सर्व-अप्रत्याख्यान को नहीं घातता है, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण का इस विषय में व्यापार नहीं है, अतः इस प्रकार से परिणत प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती संज्ञा सिद्ध है। जिस प्रकृति के उदय होने पर जो गुण उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, उसकी अपेक्षा वह प्रकृति सर्वघाती संज्ञा को प्राप्त नहीं होती। यदि ऐसा न माना जावे तो अतिप्रसङ्ग दोष आ जावेगा।

अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के सर्वघातीस्पर्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से, चारों सञ्ज्वलन और नव नोकषायों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से, देशघाती स्पर्धकों के उदय से एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से देशसंयम उत्पन्न होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय तथा उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से एवं देशघाती स्पर्धकों के उदय से प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थान सम्बन्धी संयम उत्पन्न होता है, इसलिए उक्त तीनों ही भाव क्षायोपशमिक हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु उनका यह कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि 'उदय के अभाव को उपशम कहते हैं' ऐसा अर्थ करके उदय से विरहित सर्वप्रकृतियों को तथा उन्हीं के स्थिति और अनुभाग सम्बन्धी स्पर्धकों को उपशम संज्ञा प्राप्त हो जाती है। अभी वर्तमान में क्षय नहीं है, क्योंकि जिस प्रकृति का उदय विद्यमान है, उसके क्षयसंज्ञा होने का विरोध है, इसलिए ये तीनों ही भाव उदयोपशमिकपने को प्राप्त होते हैं, किन्तु ऐसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि उक्त तीनों गुणस्थानों के उदयौपशमिकपना प्रतिपादन करने वाले सूत्र का अभाव है। फल देकर निर्जरा को प्राप्त कर्मस्कन्धों की क्षयसंज्ञा करके उक्तगुणस्थानों को क्षायोपशमिक कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर मिथ्यादृष्टि आदि सभी भावों के क्षायोपशमिकता का प्रसंग आ जावेगा, अतः पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही निर्दोष है। यहाँ दर्शनमोहनीय की विवक्षा नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहनीयकर्म के उपशमादिक से संयमसंयमादि भावों की उत्पत्ति नहीं होती है।[3]

उपशमश्रेणी सम्बन्धी अपूर्वकरणादि चारों गुणस्थानवर्ती जीवों के औपशमिकभाव है, क्योंकि वे चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों का उपशमन करते हैं।

शङ्का—समस्त कषाय और नोकषायों के उपशम से उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ जीव के औपशमिकभाव भले ही हो, किन्तु अपूर्वकरणादि शेष गुणस्थानवर्ती जीवों के औपशमिकभाव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उन गुणस्थानों में समस्त मोहनीयकर्म के उपशम का अभाव है ?

---

१. ज. ध. पु ११ पृ. ३७। २. ध. पु. ५ पृ. २०२। ३. ध. पु. ५ पृ. २०२-२०३।

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कुछ कषायों के उपशमन किये जाने से उत्पन्न हुआ है उपशम परिणाम जिसके ऐसे अनिवृत्तिकरण बादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय संयत के उपशमभाव का अस्तित्व मानने में कोई विरोध नहीं है।

शङ्का—अपूर्वकरणगुणस्थान में किसी भी कषाय का उपशम नहीं होता अतः उसके औपशमिकभाव कैसे सम्भव है?

समाधान—क्योंकि अपूर्वकरण गुणस्थान में अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणीरूप से कर्मस्कन्धों की निर्जरा करने वाले तथा स्थिति व अनुभागकाण्डकघात द्वारा क्रम से कषायों की स्थिति और अनुभाग को असंख्यात और अनन्तगुणित हीन करने वाले तथा उपशमन क्रिया प्रारम्भ करने वाले ऐसे अपूर्वकरणसंयत के उपशमभाव के मानने में कोई विरोध नहीं है।

शङ्का—कर्मों के उपशमन से उत्पन्न होने वाला भाव औपशमिक होता है, किन्तु अपूर्वकरण संयत के कर्मों के उपशम का अभाव है, इसलिए उसके औपशमिकभाव नहीं माना जा सकता?

समाधान—क्योंकि उपशमन शक्ति से समन्वित अपूर्वकरणसंयत के औपशमिकभाव के अस्तित्व को मानने में कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार कर्मों का उपशम होने पर उत्पन्न होने वाला और उपशमन होने योग्य कर्मों के उपशमनार्थ उत्पन्न हुआ भी भाव औपशमिक कहलाता है, यह बात सिद्ध हुई। अथवा भविष्य में होने वाले उपशमभावों में भूतकाल का उपचार करने से अपूर्वकरण औपशमिक भाव बन जाता है। जैसे सर्वप्रकार के असंयम में प्रवृत्तमान चक्रवर्ती तीर्थंकर के 'तीर्थङ्कर' यह व्यपदेश बन जाता है?[1]

क्षपकश्रेणी के चारों क्षपकों, सयोगकेवली और अयोगकेवली के क्षायिकभाव हैं।

शङ्का—घातिया कर्मों का क्षय करने वाले सयोगकेवली और अयोगकेवली के क्षायिकभाव भले ही हों; क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ के भी क्षायिकभाव हो सकता है, क्योंकि उसके भी मोहनीयकर्म का क्षय हो गया है, किन्तु सूक्ष्मसाम्पराय आदि शेष क्षपकों के क्षायिकभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उनमें किसी भी कर्म का क्षय नहीं होता?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि मोहनीयकर्म का एकदेश क्षपण करने वाले बादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकों के भी कर्मक्षयजनित भाव पाया जाता है।

शङ्का—किसी भी कर्म को नष्ट नहीं करने वाले अपूर्वकरणसंयत के क्षायिकभाव कैसे हो सकता है?

समाधान—अपूर्वकरणसंयत के भी कर्मक्षय के निमित्तभूत परिणाम पाये जाते हैं, अतः उसके भी क्षायिकभाव बन जाता है।

यहाँ भी कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक है तथा कर्मों के क्षय के लिए

---

१. ध. पु. ५ पृ. २०४-२०५।

उत्पन्न हुआ भाव भी क्षायिक है, ऐसी दो प्रकार की शब्द-व्युत्पत्ति ग्रहण करनी चाहिए। अथवा उपचार से अपूर्वकरणसंयत के क्षायिकभाव मानना चाहिए।

शङ्का—इसप्रकार सर्वत्र उपचार का आश्रय करने पर अतिप्रसंग दोष क्यों नहीं प्राप्त होगा?

समाधान—अतिप्रसंग दोष नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थ के प्रसंग से अतिप्रसंग दोष का प्रतिषेध हो जाता है।[1]

गुणस्थानातीत सिद्धों में चारित्रमोहनीय कर्म की अपेक्षा क्षायिकभाव होता है, क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय से उत्पन्न हुए क्षायिकचारित्र का सद्भाव होने से सिद्धों में भी क्षायिकभाव कहा गया है।

इस प्रकार चतुर्दशगुणस्थानों तथा सिद्धों में भावप्ररूपणा का कथन पूर्ण हुआ।

●

गुणस्थान-प्ररूपणाधिकार

मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण और उसके भेद

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसइदमण्णाणं ॥१५॥

एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ।
इंदो विय संसइयो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥१६॥

[2]**मिच्छंत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।**
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥१७॥

[3]**मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।**
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१८॥

गाथार्थ—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाला तत्त्वार्थ का अश्रद्धान मिथ्यात्व है। उसके एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान ये पाँच भेद हैं ॥१५॥ बौद्ध एकान्त-मिथ्यादृष्टि हैं, ब्रह्ममत वाले विपरीत-मिथ्यादृष्टि हैं, तापस विनय-मिथ्यादृष्टि हैं, इन्द्रमत वाले संशय-मिथ्यादृष्टि हैं और मस्करी अज्ञान-मिथ्यादृष्टि हैं ॥१६॥ मिथ्यात्व का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला होता है। जैसे पित्तज्वर से युक्त जीव को मधुररस भी रुचिकर नहीं होता वैसे ही मिथ्यादृष्टि

---

१. ध. पु. ५ पृ. २०५-२०६। २. ध. पु. १ पृ. १६२, प्रा. पं. सं. १।६, ल. सा. गाथा १०८।
३. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२२, प्रा. पं. सं. १।८, ल. सा. गाथा १०६।

जीव को यथार्थ धर्म रुचिकर नहीं होता ।।१७।। मिथ्यादृष्टिजीव नियम से उपदिष्ट यथार्थ प्रवचन का तो श्रद्धान नहीं करता, किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव (असत् पदार्थों) का श्रद्धान करता है ।।१८।।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकर्म की मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिथ्यात्वभाव होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय के बिना मिथ्यात्वभाव उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्यात्व विभावभाव है, अशुद्धभाव है। दूसरे द्रव्य के बिना विभाव या अशुद्धता नहीं आ सकती। **कुन्दकुन्दाचार्य** ने **समयसार** में भी कहा है—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।।२७६।।

—जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है, वह ललाई आदि रंग स्वरूप स्वयं तो नहीं परिणमती किन्तु दूसरे लाल आदि द्रव्यों से ललाई आदि रंगस्वरूप परिणमती है, इसी प्रकार ज्ञानी (आत्मा) आप शुद्ध है, वह रागादि भावों से स्वयं तो नहीं परिणमता, परन्तु रागादि दोषयुक्त अन्य द्रव्यों से (मोहनीय कर्मोदय से) रागादिरूप किया जाता है। **अमृतचन्द्र आचार्यदेव** ने भी **समयसारकलश** में कहा है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंगएव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।१७५।।

—अपने रागादिभाव का निमित्त आत्मा स्वयं नहीं होता, उस आत्मा में रागादिक होने में निमित्त परद्रव्य का सम्बन्ध ही है। यहाँ सूर्यकान्तमणि का दृष्टान्त है—जैसे सूर्यकान्तमणि स्वयं तो अग्निरूप नहीं परिणमती, उसमें सूर्य का बिम्ब अग्निरूप होने में निमित्त है। वस्तु का यह स्वभाव उदय को प्राप्त है।

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ।।१६१।। [स.सा.]

टीका—"सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वं।" (अमृतचन्द्राचार्य)

गाथार्थ—सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्वकर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (मैंने—कुन्दकुन्द आचार्य ने अपनी ओर से नहीं कहा है)। उस मिथ्यात्वकर्मोदय से जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।।१६१।।

टीकार्थ—मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व स्वभाव को रोकने वाला निश्चय से मिथ्यात्व है और वह मिथ्यात्व द्रव्यकर्मरूप ही है। उसके उदय से ज्ञान (जीव) के मिथ्यात्व होता है।

जीव का वह **मिथ्यात्वभाव** एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञानरूप पाँच प्रकार का है।

१. एकान्त—प्रतिपक्षी की अपेक्षा रहित वस्तु (द्रव्य) को सर्वथा एकरूप कहना व मानना एकान्तमिथ्यात्व है। जैसे—जीव सर्वथा अस्तिरूप ही है या सर्वथा नास्तिरूप ही है, सर्वथा नित्य ही है या सर्वथा क्षणिक ही है। सर्वथा नियतिरूप मानना अथवा अनियतिरूप ही मानना, इत्यादि। **'परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा'** अर्थात् परमतों का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से मिथ्या है। (श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका प्रवचनसार)

२. विपरीत—जैसा वस्तुस्वरूप है उससे विपरीत मानना। जैसे—केवलज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि, केवली के कवलाहार, द्रव्यस्त्री-मुक्ति, इत्यादि मान्यताएँ विपरीत-मिथ्यात्व हैं।

३. वैनयिक—मात्र विनय से ही मुक्ति मानना। जैसे—मन-वचन-काय से सुर-नृपति-यति-ज्ञानी-वृद्ध-बाल-माता-पिता इनकी विनय करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी।

४. संशय—'ऐसा है या नहीं' इनमें से किसी एक का निश्चय न करना, दोनों में ही डोलायमान रहना। जैसे—स्वर्ग-नरक आदि हैं या नहीं हैं, यह सीप है या चांदी है, मनुष्य आदि जीवद्रव्य हैं या पुद्गल आदि अजीवद्रव्य हैं, इत्यादि संशयमिथ्यात्व है।

५. अज्ञान—'यथार्थ कोई नहीं जानता। जैसे—'जीव है' ऐसा कौन जानता है? अर्थात् कोई नहीं जानता, इत्यादि अज्ञानमिथ्यात्व है।

अथवा मिथ्यात्व के ३६३ भेद भी हैं—

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च तह चुलसीदी।
सतसट्ठी अण्णाणी वेणइयाणं च बत्तीसा ॥८७६॥ [गो. सा. कर्मकाण्ड]

—क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों के ३२ इसप्रकार सर्व मिलकर (१८० + ८४ + ६७ + ३२) ३६३ भेद मिथ्यावादियों के होते हैं।

मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। 'दृष्टि' शब्द का अर्थ 'दर्शन' या 'श्रद्धान' है। मिथ्यात्वकर्मोदय से जिन जीवों की विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यादृष्टि होती है, वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं।

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णय वादा।
जावदिया णय वादा तावदिया चेव परसमया ॥[1]

—जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद अर्थात् नय के भेद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (मिथ्यामत) होते हैं। (ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय करावें तो मिथ्यादृष्टि हैं।)

'मिथ्यात्व के पाँच ही भेद हैं' ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु 'मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है'

---

१. प्रवचनसार टीका, धवल १/१८१, गो. क. ८९४, स. त. ३/४७।

यह उपलक्षण मात्र है। अथवा मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ और दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इसलिए जिन जीवों की रुचि वितथ होती है, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

[1]तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहिदं ति तं तिविहं॥

—जो तत्त्वार्थ के विषय में अश्रद्धान उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्व है। उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत ये तीन भेद भी हैं।

'सद्दहइ असब्भावं' अपरमार्थ स्वरूप असद्भूत अर्थ का ही मिथ्यात्व के उदयवश यह मिथ्यादृष्टि श्रद्धान करता है। **'उवइट्ठं व अणुवइट्ठं'** अर्थात् उपदिष्ट या अनुपदिष्ट दुर्मार्ग का ही दर्शन मोह के उदय से मिथ्यादृष्टि श्रद्धान करता है। इस गाथासूत्र वचन द्वारा व्युद्ग्राहित और इतर के भेद से मिथ्यादृष्टि के दो भेदों का प्रतिपादन किया गया है।[2] शेष सब सुगम है।

सासादन गुणस्थान का स्वरूप

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो॥१९॥
[3]सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो [4]मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥२०॥

अर्थ—आदि सम्यक्त्व (प्रथमोपशम सम्यक्त्व) के काल में एक समय से लेकर छह-आवलि तक काल शेष रहने पर अन्यतर अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय हो जाने से सम्यक्त्व का नाश हो जाता है, वह सासादन नामक गुणस्थान है॥१९॥ सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरिके शिखर से गिरकर मिथ्यात्वरूपी भूमि के अभिमुख है, अतएव सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है, उसको सासादन नामक गुणस्थान जानना चाहिए॥२०॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व की विराधना करना यह सासादन का अर्थ है।

शङ्का—सासादन किस निमित्त से होता है?

समाधान—सासादन परिणामों के निमित्त से होता है, परन्तु वह परिणाम निष्कारण नहीं होता, क्योंकि वह अनन्तानुबन्धी के तीव्र उदय से होता है।

सम्यग्दर्शन से विमुख होकर जो अनन्तानुबन्धी के तीव्र उदय से उत्पन्न हुआ तीव्रतर संक्लेशरूप दूषित मिथ्यात्व के अनुकूल परिणाम होता है, वह सासादन है। (ज.ध.पु. ७ पृ. ३१३)

शङ्का—सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्वकर्मोदय के अभाव में मिथ्यादृष्टि नहीं है.

---

१. ध. पु. १. पृ. १६२ (प्रथम संस्करण)। ज. ध. पु. १२ पृ. ३२३। २. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२३। ३. प्रा. पं. सं. अ. १ गाथा ९, ध. पु. १ पृ. १६६ गा. १०८। ४. 'मिच्छभाव' यह भी पाठ है।

समीचीन रुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है तथा इन दोनों को विषय करने वाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि समीचीन और असमीचीन तथा उभयरूप दृष्टि के आलम्बनभूत वस्तु के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती इसलिए सासादनगुणस्थान असत्स्वरूप ही है?

समाधान—सासादनगुणस्थान का अभाव नहीं है, क्योंकि सासादनगुणस्थान में विपरीताभिनिवेश (विपरीत अभिप्राय) रहता है, इसलिए वह असद्दृष्टि है।

शङ्का—यदि असद्दृष्टि है तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसको सासादन नहीं कहना चाहिए।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और चारित्र का प्रतिबन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश सासादन गुणस्थान में पाया जाता है अतः द्वितीयगुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है, किन्तु मिथ्यात्व कर्मोदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता इसलिए वह मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया परन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

शङ्का—मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई?

समाधान—मिथ्यादृष्टि संज्ञा नहीं दी गई क्योंकि सासादन को स्वतंत्र कहने से अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से सासादनरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होता, इसलिए सासादन को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया। जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीयगुणस्थान में जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय का भेद न होकर चारित्र का आवरण होने से चारित्रमोहनीय का भेद है, इसलिए द्वितीयगुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा गया है।

शङ्का—अनन्तानुबन्धी यदि सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों की प्रतिबन्धक है तो उसे उभयरूप (दर्शन-चारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

समाधान—यह आरोप ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो इष्ट ही है, फिर भी परमागम में मुख्य की अपेक्षा इस प्रकार का उपदेश नहीं दिया गया, किन्तु उसे चारित्रमोहनीय कहा गया है।[1]

ये चारों ही अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यक्त्व और चारित्र के विरोधक हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों को घातने वाली दो प्रकार की शक्ति से संयुक्त होते हैं।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—गुरु के उपदेश से और युक्ति से जाना जाता है कि अनन्तानुबन्धीकषायों की शक्ति दो प्रकार की होती है।

---

१. ध. पु. १ पृ. १६३-१६५।

शङ्का—अनन्तानुबन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की है, इस विषय में क्या युक्ति है ?

समाधान—सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का घात करने वाले ये अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक न तो दर्शनमोहनीय स्वरूप माने जा सकते हैं, क्योंकि सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के द्वारा ही आवरण किये जाने वाले सम्यग्दर्शन के आवरण करने में इनके फल का अभाव है; और न अनन्तानुबन्धी को चारित्रमोहनीय स्वरूप भी माना जा सकता है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के द्वारा आवरण किये गए चारित्र के आवरण करने में इनके फल का अभाव है। यद्यपि उपर्युक्त प्रकार से इन अनन्तानुबन्धी कषायों का अभाव सिद्ध होता है, तथापि इनका अभाव नहीं है, क्योंकि सूत्र में इनका अस्तित्व पाया जाता है। इन अनन्तानुबन्धी कषायोदय से सासादन की उत्पत्ति होती है अन्यथा उत्पत्ति हो नहीं सकती। इससे अनन्तानुबन्धी के दर्शनमोहनीयता और चारित्रमोहनीयता सिद्ध होती है तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क का चारित्रविषयक व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि वह चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियों के उदय-प्रवाह को अनन्तरूप कर देता है।[1]

एक जीव की अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टि का जघन्यकाल एक समय है और उत्कृष्टकाल छह-आवलि प्रमाण है और एक समय से लेकर एक-एक समय अधिक करते हुए एक समय कम छह-आवलि तक मध्यमकाल है। कहा भी है—

उवसमसम्मत्तद्धा जत्तियमेत्ता हु होई अवसिट्ठा।
पडिवज्जंता साणं तत्तियमेत्ता य तस्सद्धा ॥३१॥ (ध०पु० ४ पृ० ३४१)
उवसमसम्मत्तद्धा जइ छावलिया हवेज्ज अवसिट्ठा।
तो सासणं पवज्जइ णो हेट्ठुक्कट्ठकालेसु ॥३२॥ (ध०पु० ४ पृ० ३४२)

—जितने प्रमाण उपशम सम्यक्त्व का काल अवशिष्ट रहता है, उस समय सासादनगुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीवों का भी उतने प्रमाण ही सासादन गुणस्थान का काल होता है। यदि उपशम-सम्यक्त्व का काल छह आवलिप्रमाण अवशिष्ट हो तो जीव सासादनगुणस्थान को प्राप्त हो सकता है। यदि छह आवलि से अधिक काल अवशिष्ट रहे, तो सासादनगुणस्थान को नहीं प्राप्त होता ॥३१-३२॥

यद्यपि श्री यतिवृषभाचार्य के मतानुसार जिसने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करके द्वितीयोपशम को प्राप्त कर लिया है वह भी द्वितीयोपशमसम्यक्त्व से गिरकर सासादन को प्राप्त हो सकता है,[2] तथापि उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है, क्योंकि गाथा १९ में **'आदिमसम्मत्त'** पद द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्व को ही ग्रहण किया है। श्री भूतबली आचार्य का भी यही मत है कि प्रथमोपशम-सम्यक्त्व से च्युत होकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त होता है, द्वितीयोपशम से गिरकर सासादन को प्राप्त नहीं होता है[3]। धवल ग्रन्थानुसार ही गो.जी. ग्रन्थ की गाथाएँ रची गई हैं।

सासादन को प्राप्त होने पर आवलि के प्रथम असंख्यातवें भाग में मरण होने पर नियम से देवगति में उत्पन्न होता है। उसके ऊपर मनुष्यगति के योग्य आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण

---

१. ध. पु. ६ पृ. ४२-४३। २. ज.ध.पु. ४ पृ. २४। ३. ध.पु. ५ पृ. ११।

काल है। इसी प्रकार आगे-आगे संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने योग्य काल होता है[1]।

तृतीय गुणस्थान का स्वरूप

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
णय सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो[2] ॥२२॥

गाथार्थ—सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्रपरिणाम जात्यन्तर सर्वघातिया सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय का कार्य है। यह मिश्रपरिणाम न सम्यक्त्वरूप है और न मिथ्यात्वरूप है ॥२१॥ जिस प्रकार दही और गुड़ का परस्पर मिश्रण होने से जात्यन्तर पृथक्भाव (स्वाद) उत्पन्न हो जाता है जिसे पृथक् करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्रभाव जानना चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—तृतीयगुणस्थान का नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय (प्रतीति) ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीव के समीचीन और मिथ्या दोनो प्रकार की मिश्रित दृष्टि होती है, वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है।

शङ्का—एक जीव में एक साथ सम्यक् और मिथ्यारूप दृष्टि सम्भव नहीं है, क्योंकि इन दोनों दृष्टियों का एक जीव में एक साथ रहने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि ये दोनों दृष्टियाँ क्रम से एक जीव में रहती हैं, तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम के स्वतन्त्र गुणस्थानों में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए। अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तीसरा गुणस्थान नहीं बनता है।

समाधान—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, ऐसा मानते हैं। ऐसा मानने में विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि आत्मा अनेक धर्मात्मक है इसलिए उसमें अनेक धर्मों का सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है। यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है, यह बात ही असिद्ध है, सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अनेकान्त के बिना अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता है।[3]

अथवा, विरोध दो प्रकार का है, परस्पर परिहारलक्षण विरोध और सहानवस्थालक्षण विरोध। इनमें से एक द्रव्यके अनन्तगुणों में परस्पर परिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है, यदि गुणों का एक दूसरे का परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूप की हानि का प्रसङ्ग आता है, किन्तु इतने मात्र से गुणों में सहानवस्था लक्षण विरोध सम्भव नहीं है। यदि नानागुणों का एक साथ रहना ही विरोध स्वरूप मान लिया जावे तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकता, क्योंकि वस्तु का सद्भाव अनेकान्त-निमित्तक ही होता है। जो अर्थक्रिया करने में समर्थ है, वह वस्तु है; परन्तु वह अर्थक्रिया एकान्त पक्ष में नहीं बन सकती है, क्योंकि अर्थक्रिया को यदि एकरूप माना जावे तो पुनः

---

१. ध.पु. ५ पृ. ३५। २. ध. पु. १ पृ. १७०, प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १०। ३. ध. पु. १ पृ. १६७।

पुनः उसी अर्थक्रिया की प्राप्ति होने से और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आने से एकान्तपक्ष में अर्थक्रिया के होने में विरोध आता है। इस कथन से चैतन्य और अचैतन्य के साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता है, क्योंकि चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं। जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते हैं, परन्तु ये दोनों सदैव सहभावी नहीं हैं, क्योंकि बन्ध अवस्था के नहीं रहने पर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों एकसाथ नहीं पाये जाते। दूसरी बात यह है कि दो विरुद्ध धर्मों की उत्पत्ति का कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है[1]। यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि पूर्वस्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरिहंत भी देव हैं, ऐसी सम्यग्मिथ्यारूप श्रद्धावाला जीव पाया जाता है।[2]

यहाँ पर दही और गुड़ का दृष्टान्त दिया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि दही का स्वाद खट्टा और गुड़ का स्वाद मीठा होता है तथा दही-गुड़ दोनों को मिलाने से खट्टा-मीठा मिश्रित स्वाद पृथक् जाति (जात्यन्तर) का स्वाद हो जाता है। दही-गुड़ के मिश्रित द्रव्य में से अब खटास या मिठास को पृथक् करना जिसप्रकार शक्य नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व भी जात्यन्तर है जो न सम्यक्त्वरूप है और न मिथ्यात्वरूप है, किन्तु दोनों का मिश्रितरूप है जिसमें से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व को पृथक् करना शक्य नहीं है।

इस गुणस्थान में होने वाली विशेषताएँ

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥२३॥
सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि ॥२४॥

गाथार्थ—वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयम या देशसंयम को ग्रहण नहीं करता है और न आयु का बन्ध करता है। सम्यक्त्व या मिथ्यात्व-परिणामों में से जिस परिणाम में पहले आयु का बन्ध किया है, नियम से उस सम्यक्त्व या मिथ्यात्व-परिणाम को प्राप्त होकर मरण करता है, क्योंकि मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) में मरण नहीं है तथा मारणान्तिक-समुद्घात भी मिश्रगुणस्थान में नहीं है।२३-२४।

विशेषार्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के परिणामों में इतनी विशुद्धता नहीं होती कि वह संयम अर्थात् महाव्रत या देशसंयम अर्थात् अणुव्रत को ग्रहण कर सके। कहा भी है—

ण य मरइ णेव संजममुवेइ तह देससंजमं वा वि।
सम्मामिच्छादिट्ठी ण उ मरणंतं समुग्घाओ ॥ [धवल पु. ४ पृ. ३४९]

—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न तो मरता है, न संयम को प्राप्त होता है, देशसंयम को भी प्राप्त नहीं होता है तथा उसके मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है।

---

१. ध.पु. १ पृ. १७४। २. ध. पु. १ पृ. १६७ तथा उपासकाध्ययन ४/१४३-४४।

शङ्का—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अपना काल पूरा कर पश्चात् संयम को अथवा संयमासंयम को क्यों नहीं प्राप्त कराया गया है ?

समाधान—नहीं प्राप्त कराया गया, क्योंकि उस सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव का मिथ्यात्व सहित मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को अथवा सम्यक्त्व सहित असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को छोड़कर दूसरे गुणस्थानों में गमन का अभाव है। (गो. क. गा. ५५६-५५९)

शङ्का—अन्य गुणस्थानों में नहीं जाने का क्या कारण है ?

समाधान—ऐसा स्वभाव ही है और स्वभाव दूसरों के प्रश्न के योग्य नहीं हुआ करता है, क्योंकि उसमें विरोध आता है। (धवल पु. ४. पृ. ३४३)

जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आयु का बन्ध करके सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, वह सम्यक्त्व के साथ ही उस गति से निकलता है। **अथवा** जो मिथ्यादृष्टि होकर और आयु बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, वह मिथ्यात्व के साथ ही उस गति से निकलता है (ध. पु.५ पृ.३१) अर्थात् यदि सम्यग्दृष्टि आयु-बन्ध करके सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तो वह सम्यग्मिथ्यात्व से असंयतसम्यग्दृष्टि होकर मरण को प्राप्त होता है। यदि मिथ्यात्व के साथ आयु-बन्ध करके सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तो वह सम्यग्मिथ्यात्व से मिथ्यादृष्टि होकर मरण को प्राप्त होता है, ऐसा नियम है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥२५॥

गाथार्थ—देशघाती सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से वेदकसम्यक्त्व होता है। वेदकसम्यक्त्व चल, मलिन, अगाढ़रूप होता है तथा नित्य होता है अर्थात् इसकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर की होती है और यह दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय का हेतु है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति। सम्यक्त्वप्रकृति में लतास्थान के सर्व देशघाती स्पर्द्धक तथा दारुस्थान के अनन्तवें भागरूप स्पर्धक देशघाती हैं। अर्थात् प्रथम देशघाती लतारूप स्पर्धक से अन्तिम देशघाती (दारु के अनन्तवें भाग के चरम) स्पर्धक पर्यन्त ये स्पर्धक सम्यक्त्वप्रकृति के होते हैं [1]। सम्यक्त्वप्रकृति में सर्वघाती स्पर्धकों का अभाव है इसलिए सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्दर्शन का पूर्णरूपेण घात करने में असमर्थ है किन्तु उस सम्यक्त्व का एकदेश अर्थात् सम्यग्दर्शन की स्थिरता और निष्कांक्षता का घात करती है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने से सम्यग्दर्शन का मूल से विनाश तो नहीं होता, किन्तु स्थिरता व निष्कांक्षता का घात होने से सम्यग्दर्शन में चल, मलिन आदि दोष लग जाते हैं [2]। जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह सम्यक्त्व प्रकृति है (धवल पुस्तक ६ पृष्ठ ३९) अथवा उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारणभूत कर्म सम्यक्त्वप्रकृति है [3]।

---

१. ज.ध.पु. ५ पृ. १२९। २. ज.ध.पु. ५ पृ. १३०। ३. ध.पु. १३ पृ. ३५८।

शङ्का—आप्त, आगम और पदार्थों में सन्देह किस कर्म के उदय से उत्पन्न होता है ?

समाधान—सम्यग्दर्शन का घात नहीं करने वाला सन्देह, सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से उत्पन्न होता है। किन्तु सर्वसन्देह अर्थात् सम्यक्त्व का सम्पूर्ण रूप से घात करने वाला सन्देह और मूढ़त्व मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होता है।

शङ्का—उस प्रकृति का 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कैसे हुआ ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के सहचरित उदय होने के कारण उपचार से 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कहा जाता है। आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता और श्रद्धा की हानि होना सम्यक्त्वप्रकृति का कार्य है[1]।

सम्यक्त्वप्रकृति के उदय का वेदन होने से इस सम्यग्दर्शन का नाम वेदक-सम्यक्त्व है[2]। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव शिथिलश्रद्धानी होता है। वृद्धपुरुष जिस प्रकार अपने हाथ में लकड़ी को शिथिलता पूर्वक पकड़ता है, उसी प्रकार वेदक-सम्यग्दृष्टि भी तत्त्वार्थ के विषय में शिथिलग्राही होता है। अतः कुहेतु और कुदृष्टान्त से वेदकसम्यग्दृष्टि को सम्यक्त्व की विराधना करने में देर नहीं लगती[3]।

नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतं।
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितं ॥
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥

—नानाप्रकार की आत्मा के विशेषों में (गुणपर्यायों में) जो श्रद्धान, उसमें चलायमान होना **चलदोष** है। अपने द्वारा स्थापित कराई हुई अर्हन्तमूर्ति में 'यह देव मेरा है' और अन्य के द्वारा स्थापित कराई गई मूर्ति में 'यह अन्य का देव है' इस प्रकार देव का भेद करना चल दोष है। जिस प्रकार जल एक होते हुए भी नाना तरङ्गों में भ्रमण करता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान भी भ्रमणरूप चेष्टा करता है[4]।

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः।
मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥

—सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से वेदक-सम्यक्त्व को सम्यग्दर्शन का माहात्म्य प्राप्त नहीं होता जैसे शुद्ध स्वर्ण मल से मलिन हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से शङ्कादि दोषों द्वारा मलिन हो जाता है[5]।

स्थान एव स्थितं कम्पमगाढमिति कीर्त्यते।
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना—करतले स्थिता ॥
समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥

---

१. ध.पु ६ पृ. ३९-४०। २. ध. पु. १ पृ. ३९८। ३. ध.पु. १ पृ. १७१-७२। ४. गो. जी. गाथा २५ की संस्कृत टीका। ५. वही।

—जिस प्रकार वृद्धपुरुष के हाथ की लकड़ी काँपती रहती है, किन्तु हाथ से गिरती नहीं है उसी प्रकार वेदकसम्यग्दृष्टि का श्रद्धान चंचल तो होता है, किन्तु यथार्थ श्रद्धान (स्थान) में स्थित रहता है, वहाँ से च्युत नहीं होता। सर्व अर्हन्त भगवान में अनन्तशक्ति समान होते हुए भी "श्री शान्तिनाथ भगवान शान्ति के कर्त्ता हैं और श्री पार्श्वनाथ भगवान विघ्नों का नाश करने वाले हैं।" इस प्रकार वेदकसम्यग्दृष्टि का श्रद्धान शिथिल होने के कारण अगाढ़-दोष युक्त है[1]।

वेदकसम्यग्दृष्टि नित्य है अर्थात् तीनों सम्यग्दर्शनों में संसारावस्था का सबसे अधिक काल वेदकसम्यग्दर्शन का है। यह काल ६६ सागर प्रमाण है, जो इस प्रकार है—एक जीव उपशमसम्यक्त्व से वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयु से कम बीस सागरोपम आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। फिर वहाँ से मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः मनुष्यायु से कम बावीस (२२) सागरोपम आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पुनः मनुष्यों में उत्पन्न होकर, भुज्यमान मनुष्यायु से तथा दर्शनमोह के क्षपण पर्यन्त आगे भोगी जाने वाली मनुष्यायु से कम चौबीस (२४) सागरोपम आयु-वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पुनः मनुष्यगति में आकर वहाँ वेदकसम्यक्त्व काल के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ कर कृतकरणीय हो गया। ऐसे कृतकरणीय के अन्तिम समय में स्थित जीव के वेदकसम्यक्त्व का ६६ सागरोपमकाल पाया जाता है।[2]

वेदकसम्यक्त्व 'कर्मक्षपण हेतु' है अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय का कारण है, क्योंकि वेदकसम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई भी जीव (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि या उपशमसम्यग्दृष्टि) दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा नहीं कर सकता। वेदकसम्यग्दृष्टि, दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियों और अनन्तानुबन्धी चतुष्क, इन सप्त प्रकृतियों के अतिरिक्त अन्य कर्म-प्रकृतियों के क्षपण का हेतु नहीं है, क्योंकि वेदक सम्यग्दृष्टि असयंतसम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थान से अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थान तक ही हो सकते हैं।

शङ्का—ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है?

समाधान—आठवें आदि गुणस्थानों में वेदकसम्यक्त्व नहीं होता, क्योंकि अगाढ़ आदि मल-सहित श्रद्धान के साथ क्षपक और उपशमश्रेणी का चढ़ना नहीं बनता।[3]

औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य।
बिदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥२६॥

अर्थ—सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व और सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। तथा दूसरी-अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से यह सम्यक्त्व असंयत होता है (अत एव इस गुणस्थानवर्तीजीव को असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं) ॥२६॥

---

१. गो. जी. गाथा २५ की संस्कृत टीका। २. ध. पु. ७ पृ. १८०-१८१। ३. ध. पु. १ पृ. ३५७।

विशेषार्थ—दर्शन और चारित्रगुण का घात करने वाली अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म की ये तीन प्रकृतियाँ इसप्रकार सप्त प्रकृतियों के निरवशेष (सम्पूर्ण) क्षय से क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यग्दृष्टि होता है।[1] क्षायिक और उपशम इन दोनों में सम्यक्त्व को मलिन करने वाली सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय नहीं होने से ये दोनों सम्यक्त्व निर्मल हैं।

कषाय चार प्रकार की है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इन चारों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय की संज्ञा 'द्वितीय कषाय' है क्योंकि क्रम में यह द्वितीय है। प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। 'अ' निषेधार्थक न होकर 'ईषत्' अर्थवाची है। 'ईषत् त्याग' का आवरण करने वाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। इस अप्रत्याख्यानावरण संज्ञक द्वितीय कषायोदय के कारण किंचित् भी संयम धारण नहीं कर सकता अतः वह जीव असंयत होता है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय के उदय के कारण उपर्युक्त सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी संयम धारण नहीं होता। अतः इस गुणस्थानवर्ती जीव को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी विशेषताएँ

[2]सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥

गाथार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है तथा स्वयं न जानता हुआ, गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है ॥२७॥

विशेषार्थ—जो सम्यग्दृष्टिजीव है, वह निश्चय से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है। **'पवयण'** का अर्थ है प्रकर्ष युक्त वचन, प्रवचन अर्थात् सर्वज्ञ का उपदेश, परमागम और सिद्धान्त ये एकार्थवाची शब्द हैं, क्योंकि उससे अन्यतर प्रकर्षयुक्त वचन उपलब्ध नहीं होता। अतः इसप्रकार के उपदिष्ट प्रवचन का सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे श्रद्धान करता है, इसप्रकार सूत्रार्थ का समुच्चय है। **'सद्दहदि असब्भावं'** ऐसा कहने से सम्यग्दृष्टिजीव गुरुवचन को ही प्रमाण करके, स्वयं नहीं जानते हुए असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इस गाथासूत्र में **आज्ञा सम्यक्त्व** का लक्षण कहा गया है।

शङ्का—अज्ञानवश असद्भूत अर्थको स्वीकार करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

समाधान—यह परमागम का ही उपदेश है, ऐसा निश्चय होने से उसप्रकार स्वीकार करने वाले उस जीव को परमार्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी उसकी सम्यग्दृष्टिपने से च्युति नहीं होती।[3]

---

१. ध. पु. १ पृ. १७१। २. ध. पु. १ सूत्र १२ की टीका पृ. १७३, ज. ध. पु. १२ पृ. ३२१, प्राकृत पं. सं. [ज्ञानपीठ] अ. १ गा. १२ एवं लब्धिसार गाथा १०५। ३. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२१।

[1]सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ।।२८।।

गाथार्थ—सूत्र से समीचीनरूप से दिखलाये गये उस अर्थ का जब यह जीव श्रद्धान नहीं करता है, उस समय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।।२८।।

विशेषार्थ—गाथा २७ में कथित असद्भूत पदार्थ के श्रद्धान करने वाले सम्यग्दृष्टि को यदि पुन: कोई परमागम का ज्ञाता विसंवादरहित दूसरे सूत्र द्वारा उस असद्भूत अर्थ को यथार्थरूप से बतलावे, फिर भी वह जीव असत् आग्रहवश असद्भूत को ही स्वीकार करे, यथार्थ को स्वीकार नहीं करे तो उसी समय से वह जीव मिथ्यादृष्टित्व को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह प्रवचनविरुद्ध बुद्धिवाला है, ऐसा परमागम में कहा गया है । इसलिए यह ठीक कहा है कि प्रवचन में उपदिष्ट हुए अर्थ का आज्ञा और अधिगम से विपरीतता के बिना श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है ।[2]

चतुर्थगुणस्थानवर्तीजीव का और भी विशेष स्वरूप

[3]णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।।२९।।

गाथार्थ—जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त नहीं है तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरति रहित है, किन्तु जिसकी जिनेन्द्र के उपदेश पर श्रद्धा है, वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है ।।२९।।

विशेषार्थ—पाँचों इन्द्रियों को और मन को वश में न करना तथा पाँच स्थावरकाय और त्रस इन छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग न करना, यह बारह प्रकार की अविरति है । आगे गाथा ४७८ में असंयम का लक्षण इसप्रकार कहा गया है—

जीवा चोद्दसभेया इंदियविसया तहट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेदव्वा ।।४७८।। [गो. जी.]

–जीवसमास चौदह प्रकार के होते हैं, इन्द्रिय तथा मन के विषय अट्ठाईस प्रकार के होते हैं। जो जीव इनसे विरत नहीं हैं, वे असंयत या अविरत हैं ।

शङ्का—जीव के चौदह भेद किस प्रकार हैं ?

समाधान—जीव के चौदह भेद इस प्रकार हैं—

बादरसुहुमेगिंदिय-बि-ति-चउरिंदिय-असण्णि-सण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ।।१/३४।। [प्रा.पं.सं.]

---

१. ध. पु. १ पृ. २६२ सूत्र ३६ की टीका, लब्धिसार गा. १०६ । २. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२१-२२ ।
३. ध. पु. १ सूत्र १२ की टीका पृ. १७३ गा. १११, किन्तु वहाँ 'वापि' के स्थान पर 'चावि' पाठ है ।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्मएकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय, संज्ञिपंचेन्द्रिय ये सातों ही पर्याप्त और अपर्याप्तक होते हैं। इस प्रकार जीवों के १४ भेद होते हैं।

शङ्का–इन्द्रियों के २८ विषय किस प्रकार हैं ?

समाधान–इन्द्रियों के २८ विषय इस प्रकार से जानने चाहिए—

पंचरस पंचवण्णा दोगंधा अट्ठफासत्तसरा।
मणसहिदट्ठावीसा इंदियविसया मुणेदव्वा ।। ४७९।। गो.जी.

—मीठा, खट्टा, कषायला, कडुआ और चरपरा ये **पाँच रस**, सफेद, पीला, हरा, लाल और काला ये **पाँच वर्ण**; सुगन्ध और दुर्गन्ध ये **दो गन्ध**; कोमल-कठोर, हलका-भारी, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष ये **आठ स्पर्श**; षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद ये **सप्त स्वर** तथा **एक मन** का विषय ऐसे सर्व मिलाकर ये (५+५+२+८+७+१) २८ पंचेन्द्रियों और मन सम्बन्धी विषय हैं।

शङ्का—किस कर्म के उदय से जीव असंयत होता है ?

समाधान—संयमघाती कर्मों के उदय से जीव असंयत होता है।

शङ्का—एक अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय ही असंयम का हेतु है, क्योंकि यही संयमासंयम के प्रतिषेध से प्रारम्भ कर समस्त संयम का घाती होता है। फिर 'संयमघाती कर्मों के उदय से असंयत होता है' ऐसा कहना कैसे घटित होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दूसरे भी चारित्रावरण कर्मों के उदय के बिना केवल अप्रत्याख्यानावरण में देशसंयम को घात करने का सामर्थ्य नहीं है।[1]

गाथा २७ में **'सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि'** इन पदों के द्वारा कहा गया है कि सम्यग्दृष्टिजीव नियम से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है। उसी बात को **'जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी'** इस वाक्यांश द्वारा कहा गया है, क्योंकि जो **'जिणुत्त'** अर्थात् जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है वही **'उवइट्ठं पवयणं'** उपदिष्ट प्रवचन है। 'प्रवचन में उपदिष्ट अर्थ का श्रद्धान करना' सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

गाथा में सम्यग्दृष्टि के लिए जो 'असंयत' विशेषण दिया गया है, वह अन्त्यदीपक है, अतः यह अपने से नीचे के समस्त गुणस्थानों के असंयतपनेका निरूपण करता है। इस गाथा में जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गङ्गा नदी के प्रवाह के समान ऊपर के समस्त गुणस्थानों में अनुवृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पाँचवें आदि समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है।[2]

पञ्चम गुणस्थान का स्वरूप

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ।।३०।।

---

१. ध. पु. ७ पृ. ९५। २. ध. पु. १ पृ. १७३।

[१]जो तसवहाउविरदो अविरदओ तह य थावरवहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ।।३१।।

गाथार्थ—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सकलसंयम नहीं होता, किन्तु स्तोकव्रत (अणुव्रत) होते हैं। इसलिए देशव्रत अर्थात् अणुव्रत या देशसंयमरूप पंचम गुणस्थान होता है ।।३०।। जो जीव जिनेन्द्रदेव में अद्वितीय श्रद्धा रखता हुआ एक ही समय में त्रस जीवों की हिंसा से विरत है और स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत है, वह विरताविरत होता है ।।३१।।

विशेषार्थ—कषाय चार प्रकार की है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इनमें से तीसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय सकलसंयम का घात करती है, देशसंयम का घात नहीं करती। कहा भी है—

पढमो दंसणघाई विदिओ तह घाइ देस विरइ त्ति ।
तइवो संजमघाई चउथो जहखायघाईया ।।११५।। [प्रा.पं.सं.अ. १]

—प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन का घात करती है। द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशसंयम का घात करती है अर्थात् एकदेशविरति की घातक है। तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलसंयम की घातक है और चौथी संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र की घातक है।

अतः तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में सकलसंयम तो हो नहीं सकता, किन्तु स्तोक व्रत अर्थात् देशव्रत के होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि देशव्रत को घातक द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय का पंचम गुणस्थान में अभाव है।

जो संयत होते हुए भी असंयत होता है, उसे **संयतासंयत** अथवा **विरताविरत** कहते हैं।

शङ्का—जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है और जो असंयत होता है वह संयत नहीं हो सकता, क्योंकि संयमभाव और असंयमभाव (विरतभाव और अविरतभाव) का परस्पर विरोध है अतः विरताविरतरूप यह पंचम गुणस्थान नहीं बनता है।

समाधान—विरोध दो प्रकार का है-परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्थालक्षण विरोध। इनमें से एक द्रव्य के अनन्त गुणों में परस्परपरिहारलक्षण विरोध इष्ट है। यदि गुणों का अस्तित्व एक-दूसरे का परिहार करके न माना जाय तो उनके स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है, परन्तु इतने मात्रसे गुणों में महानवस्थालक्षण विरोध सम्भव नहीं है। यदि नानागुणों का एक साथ रहना ही विरोध स्वरूप मान लिया जावे तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि वस्तुका सद्भाव अनेकान्तनिमित्तक है। जो अर्थक्रिया करने में समर्थ है, वह वस्तु है, परन्तु वह अर्थक्रिया एकान्तपक्ष में नहीं बन सकती, क्योंकि अर्थक्रिया को यदि एकरूप माना जावे तो पुनःपुनः उसी अर्थ-क्रिया की प्राप्ति होने से और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आने से एकान्तपक्ष में अर्थक्रिया के होने में विरोध आता है।

---

१. यह गाथा ध. पु. १ सूत्र १३ की टीका के अन्त में पृ. १७५ पर है किन्तु वहाँ पाठ इस प्रकार है—
"जो तस-वहाउ विरओ अविरओ, तह य थावर-वहाओ। एक्क-समयम्हि जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई।।११२।।"

यदि विरुद्ध दो धर्मों की उत्पत्ति का कारण समान अर्थात् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, किन्तु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनों को एक आत्मा में स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति का कारण भिन्न-भिन्न है। संयमभाव की उत्पत्ति का कारण त्रस हिंसा से विरति भाव है और असंयमभाव की उत्पत्ति का कारण स्थावरहिंसा से अविरति भाव है। इसलिए संयमासंयम अर्थात् विरताविरत नामक पंचम गुणस्थान बन जाता है।

शङ्का—औदयिकादि पाँच भावों में से किस भाव के आश्रय से संयमासंयम भाव होता है?

समाधान—संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमानकालिक सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल में उदय आने योग्य उन्हीं स्पर्द्धकों के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से संयमासंयम-अप्रत्याख्यान चारित्र (एकदेशचारित्र) उत्पन्न होता है।

शङ्का—संयमासंयम देशचारित्र की धारा से सम्बन्ध रखने वाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं?

समाधान—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीनों में से कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्प से होता है, क्योंकि उनमें से किसी एक के बिना अप्रत्याख्यान-चारित्र का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता।

शङ्का—सम्यग्दर्शन के विना भी देशसंयमी होते हैं?

समाधान—नहीं होते, क्योंकि जो जीव मोक्ष की आकांक्षा से रहित है और जिनकी विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसंयम (देशचारित्र) की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[1]

चार संज्वलन और नव नोकषायों के क्षयोपशम संज्ञावाले देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से संयमासंयम की उत्पत्ति होती है।

शङ्का—चार संज्वलन और नव नोकषाय इन तेरह प्रकृतियों के देशघाती स्पर्धकों का उदय तो संयम की प्राप्ति में निमित्त होता है, वह संयमासंयम का निमित्त कैसे स्वीकार किया गया?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से जिन चार संज्वलनादिक के देशघाती स्पर्धकों का उदय प्रतिहत हो गया है, उस उदय के (में) संयमासंयम को छोड़ संयम उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता।[2]

प्रत्याख्यानावरण कषाय अपने प्रतिपक्षी सर्वप्रत्याख्यान (सकलसंयम) को घातता है इसलिए वह सर्वघाती है, किन्तु समस्त अप्रत्याख्यान को नहीं घातता, क्योंकि उसका इस विषय में व्यापार नहीं है। इस प्रकार से परिणत प्रत्याख्यान कषाय के सर्वघाती संज्ञा सिद्ध है, किन्तु जिस प्रकृति के उदय होने पर जो गुण उत्पन्न होता है उसकी अपेक्षा वह प्रकृति सर्वघाती संज्ञा को प्राप्त नहीं होती। यदि ऐसा न माना जाय तो अतिप्रसंग दोष आ जायेगा।

---

१. ध. पु. १ पृ. १७३ से १७५ तक। २. ध. पु. ७ पृ. ९४।

शङ्का—दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का आश्रय करके संयतासंयत के औपशमिकादि तीन भावों का कथन भी होना चाहिये था सो क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमादिक से संयमासंयम की उत्पत्ति नहीं होती ।[1]

छठे प्रमत्तगुणस्थान का लक्षण

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ।।३२।।
[2]वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होइ ।
सयल–गुण–सील–कलिओ महव्वई चित्तलायरणो ।।३३।।

पन्द्रह प्रमाद

[3]विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो य ।
चदु-चदु-पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ।।३४।।

गाथार्थ—संज्वलन और नोकषाय के उदय से संयम होता है, इस संयम के साथ मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी है, अतः वह प्रमत्तविरत है ।।३२।। जो सकल गुण-शील से युक्त है, अतएव महाव्रती है, व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में वास करता है अतएव चित्रल आचरणी है, वह प्रमत्तसंयत है ।।३३।। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह) ये पन्द्रह प्रमाद हैं ।।३४।।

विशेषार्थ—प्रकर्ष से मत्त जीव प्रमत्त है। भले प्रकार विरत या संयम को प्राप्त जीव संयत है। जो प्रमाद सहित होते हुए भी संयत है वह प्रमत्तसंयत है।[4]

शङ्का—यदि प्रमत्त है तो संयत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमत्त जीव को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता। जो संयत है, वह प्रमत्त नहीं हो सकता, क्योंकि संयमभाव प्रमाद के परिहार-स्वरूप होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों से विरतिभाव संयम है जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित है। वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रमाद से संयम में केवल मल की ही उत्पत्ति होती है।

शङ्का—यहाँ पर संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद ही विवक्षित है, संयम का नाश करने वाला प्रमाद नहीं है यह कैसे निश्चय किया जाय ?

---

१. ध. पु. ५ पृ. २०३। २. ध. पु. १ पृ. १७८, प्रा. पं. सं. अ. १ गाथा १४। ३. ध. पु. १ पृ. १७८; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५। ४. ध. पु. १ पृ. १७५।

समाधान—प्रमाद के रहते हुए संयम का सद्भाव अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिए निश्चय होता है कि यहाँ पर संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरे, स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयम का नाश भी नहीं कर सकता, क्योंकि सकलसंयम का उत्कृष्ट रूप से प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता है।

यहाँ प्रमत्त शब्द अन्त्यदीपक है इसलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थान से पूर्व के सर्व गुणस्थानों में प्रमाद के अस्तित्व को सूचित करता है।

वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से और आगामी काल में उदय में आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आने रूप उपशम से (सदवस्थारूप उपशम से) एवं संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान (सकलसंयम) उत्पन्न होता है।[1]

शङ्का—यदि संज्वलन कषायोदय से संयम होता है तो उसे औदयिक भाव कहना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि संज्वलन कषायोदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शङ्का—संज्वलन का व्यापार कहाँ होता है?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से उत्पन्न हुए संयम में मल को उत्पन्न करने में संज्वलनकषाय का व्यापार होता है।

शङ्का—क्या सम्यग्दर्शन के बिना भी संयम की उपलब्धि होती है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—यहाँ द्रव्यसंयम का ग्रहण नहीं है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—नहीं है क्योंकि भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यम सहित है वह संयत है। इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्यसंयम का ग्रहण नहीं किया गया है।[2]

शङ्का—व्यक्त और अव्यक्त से क्या अभिप्राय है?

समाधान—जो स्व और पर या दोनों में से किसी एक के ज्ञान का विषय हो वह व्यक्त है। जो स्व और पर दोनों में से किसी के ज्ञान का विषय न हो, मात्र प्रत्यक्षज्ञान का विषय हो, वह अव्यक्त है।

शङ्का—प्रमाद किसे कहते हैं?

समाधान—चार संज्वलनकषाय और नव नोकषाय इन तेरह प्रकृतियों के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।[3]

---

१. ध. पु. १ पृ. १७६। २. ध. पु. १ पृ. १७७। ३. ध. पु. ७ पृ. ११।

शङ्का—'चित्तलायरणो' का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—जो आचरण प्रमादमिश्रित है, वह चित्रल आचरण है, अथवा चित्तल (चीतल) सारङ्ग को कहते हैं इसलिए जो आचरण सारङ्ग के समान शबलित अर्थात् अनेक प्रकार का है, अथवा जो आचरण प्रमाद को उत्पन्न करने वाला है, वह चित्रलाचरण है ।

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा ये चार विकथाएँ हैं । क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । दर्शनावरण कर्मोदय से जो शयन करना वह निद्रा है । प्रणय स्नेह को कहते हैं ।

प्रमाद के पाँच प्रकार—

[1]संखा तह पत्थारो परियट्टण णट्ठ तह समुद्दिट्ठं ।
एदे पंच पयारा पमदसमुक्कित्तणे णेया ।।३५।।

गाथार्थ—संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, समुद्दिष्ट ये पाँच प्रकार प्रमादसमुत्कीर्तन में जानने चाहिए ।।३५।।

विशेषार्थ—संख्या अर्थात् भेद या भङ्गगणना । प्रस्तार अर्थात् न्यास । परिवर्तन अर्थात् अक्षसंचार । नष्ट अर्थात् संख्या रखकर अक्ष का आनयन । उद्दिष्ट अर्थात् अक्ष रखकर संख्या का आनयन । इन पाँच प्रकार से प्रमाद की समुत्कीर्तना करनी चाहिए ।

संख्या की उत्पत्ति का क्रम

[2]सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलंति त्ति य कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ।।३६।।

गाथार्थ—सर्व ही पूर्व भंग अपने-अपने से ऊपर के प्रत्येक भंग में मिलते हैं अतः इनको परस्पर क्रम से गुणा करने से भंग-संख्या की उत्पत्ति होती है ।।३६।।

विशेषार्थ—पूर्वभंग विकथा है सो चार प्रकार है। इससे ऊपर चार कषाय हैं । उनमें से प्रत्येक कषाय में चारों विकथाएँ सम्भव हैं । इस प्रकार चार विकथाएँ और चार कषाये इनको परस्पर गुणा करने से सोलह संख्या उत्पन्न होती है । ये सोलह अधस्तन भंग हैं । इनके ऊपर पाँच इन्द्रियाँ है । प्रत्येक इन्द्रिय में उक्त १६-१६ भङ्ग सम्भव हैं । अतः इन पाँच इन्द्रियों से १६ को गुणा करने पर भङ्गों की संख्या ८० उत्पन्न होती है । इनसे ऊपर निद्रा का भी एक भेद है अतः अस्सी (८०) को एक से गुणा करने पर अस्सी ही प्राप्त होते हैं । उसके ऊपर प्रणय (स्नेह) है, वह भी एक प्रकार का है, सो ८० को पुनः एक से गुणा करने पर भी ८० ही भंग होते हैं ।

प्रस्तार—क्रम

[3]पढमं पमदपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होदि पत्थारो ।।३७।।

---

१. ध. पु. ७ पृ. ४५ । २. वही । ३. वही ।

गाथार्थ—प्रमाद के प्रथम भेद की संख्या (प्रमाण) विरलन करके प्रत्येक एक-एक के ऊपर उपरिम प्रमादभेद के पिंडप्रमाण को निक्षेपण करने से प्रस्तार होता है ।।३७।।

विशेषार्थ—प्रमाद के प्रथम भेद विकथा का प्रमाण चार है। इस चार का विरलन करके चार स्थानों पर एक-एक लिखना चाहिए (१ १ १ १) । इनमें से प्रत्येक के ऊपर उपरिम प्रमाद-भेद कषाय के पिंडप्रमाण चार का निक्षेपण करना चाहिए। (४/१ ४/१ ४/१ ४/१) । इस प्रकार निक्षेपण करने से प्रमाद के १६ भंग हो जाते हैं । पुन: इन सोलह का विरलन करके एक-एक के ऊपर उपरितन प्रमादभेद इन्द्रिय के पिण्डप्रमाण ५ संख्या का निक्षेपण करना चाहिए (५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१-५/१ ५/१ ५/१ ५/१ ५/१) । इस प्रकार निक्षेपण करने से प्रमाद के अस्सी (८०) भङ्ग हो जाते हैं, यह प्रस्तार का एक भेद है । इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व के समस्त प्रमाद, आगे के प्रमाद के प्रत्येक भेद के साथ पाये जाते हैं ।

प्रस्तार का दूसरा क्रम

[1]णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं ।
पिंडं पडि णिक्खेओ एवं सव्वत्थ कायव्वो ।।३८।।

गाथार्थ—प्रमाद के दूसरे भेद कषाय की संख्याप्रमाण एक-एक स्थान पर प्रमाद के प्रथम भेद विकथा की पिंडसंख्या का स्थापन करके (४ ४ ४ ४) उसके ऊपर प्रमाद के दूसरे भेद को विरलन करके प्रत्येक पिंड पर एक-एक अङ्क का निक्षेपण करना चाहिए (१/४ १/४ १/४ १/४) । इस प्रकार निक्षेपण करने पर प्रमाद के १६ भङ्ग हो जाते हैं। ऊपर भी सर्वत्र इसी प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। जैसे—उपरिम इन्द्रिय संख्या प्रमाण जितने रूप (अङ्क) हैं, उतने स्थानों पर सोलह पिंड को स्थापित करना चाहिए (१६ १६ १६ १६ १६) । प्रमाद के उपरिम भेद की संख्या को विरलन करके प्रत्येक पिंड के ऊपर एक-एक का निक्षेपण करना चाहिए (१/१६ १/१६ १/१६ १/१६ १/१६) । इसप्रकार निक्षेपण करने पर प्रमाद के सर्व भङ्ग अस्सी (८०) हो जाते हैं। यह प्रस्तार का दूसरा क्रम है ।।३८।।

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा अक्षपरिवर्तन[2]

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो ।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो ।।३९।।

गाथार्थ—जब तृतीय अक्ष-इन्द्रियभेद आदि से लेकर परिवर्तित होता हुआ अन्त को प्राप्त होकर पुन: आदि को प्राप्त होता है तब द्वितीय अक्ष-कषायभेद में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार यह द्वितीय अक्ष भी परिवर्तित होता हुआ अन्त को प्राप्त हो जाता है और उसके साथ-साथ प्रथम अक्ष भी अन्त को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जब दोनों अक्ष अपने अन्त को प्राप्त होते हैं तब प्रथम अक्ष में परिवर्तन होता है ।।३९।।

विशेषार्थ—प्रमाद के पाँच भेद हैं—१. विकथा २. कषाय ३. इन्द्रिय ४. निद्रा ५. स्नेह । इनमें

. ध. पु. ७ पृ. ४५ गा. १०; परन्तु वहाँ 'णिक्खेओ' के स्थान पर 'णिक्खित्ते' पाठ है। २. एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने को परिवर्तन कहते हैं।

से विकथा के ४ भेद हैं–स्त्रीकथा, भक्त (भोजन) कथा, राष्ट्रकथा, राजकथा। कषाय के भी चार भेद हैं–क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्द्रिय के पाँच भेद हैं–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। निद्रा व स्नेह का कोई भेद नहीं है अतः इनमें अक्षसंचार-परिवर्तन नहीं होता। मात्र विकथा, कषाय और इन्द्रिय इनमें ही अक्षसंचार परिवर्तन सम्भव है, क्योंकि इनके उत्तर भेद हैं।

तृतीय अक्ष—इन्द्रिय के प्रथम भेद स्पर्श के साथ द्वितीय अक्ष-कषाय के आदिभेद 'क्रोध' कषाय को रखकर प्रथम अक्ष-विकथा के आदिभेद स्त्रीकथा को कहना चाहिए, यह प्रथम आलाप है। द्वितीय आलाप में तृतीय अक्ष के दूसरे भेद रसना इन्द्रिय के साथ वही द्वितीय और प्रथम अक्ष के आदिभेद क्रोधकषाय व स्त्रीकथा का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार मात्र तृतीय अक्ष में परिवर्तन करते हुए अन्तिम भेद श्रोत्र इन्द्रिय तक उच्चारण करना चाहिए। पुनः लौटकर तृतीय अक्ष के आदिभेद स्पर्शन इन्द्रिय को ग्रहणकर उसके साथ द्वितीय अक्ष में परिवर्तन करके द्वितीय भेद 'मानकषाय' और प्रथम अक्ष के आदिभेद स्त्रीकथा का उच्चारण करना चाहिए। यह क्रम तृतीय अक्ष के अन्तिम भेद तक ले जाना चाहिए। पुनः लौटकर तृतीय अक्ष के आदिभेद को ग्रहण करने पर द्वितीय अक्ष में परिवर्तन करके तृतीय भेद 'माया' कषाय और प्रथम अक्ष के आदिभेद स्त्रीकथा का उच्चारण करना चाहिए। यह क्रम तृतीय अक्ष के अन्तिम भेद तक ले जाना चाहिए। पुनः लौटकर तृतीय अक्ष के आदि-भेद 'स्पर्शन इन्द्रिय' को प्राप्त करके द्वितीय अक्ष-कषाय में परिवर्तन करके उसके अन्तिम भेद 'लोभ' कषाय को ग्रहण कर इनके साथ प्रथम अक्ष के आदिभेद स्त्रीकथा का उच्चारण करना चाहिए। यह क्रम तृतीय अक्ष के अन्तिम भेद श्रोत्रेन्द्रिय तक ले जाना चाहिए। इस आलाप में तृतीय अक्ष के अन्तिम भेद श्रोत्र इन्द्रिय और द्वितीय अक्ष के अन्तिम भेद लोभकषाय का ग्रहण होने से तृतीय और द्वितीय दोनों अक्ष अपने अन्त को प्राप्त हो जाते हैं। पुनः लौटकर तृतीय अक्ष का और द्वितीय अक्ष का आदि-भेद ग्रहण होने पर प्रथम अक्ष में परिवर्तन होकर द्वितीय भेद 'भक्तकथा' के साथ आलाप होता है। जिस प्रकार स्त्रीकथा के साथ तृतीय अक्ष में पुनःपुनः परिवर्तन कर के और द्वितीय अक्ष में एक बार क्रमशः आदि से अन्त तक परिवर्तन करके २० आलाप कहे, उसी प्रकार भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अन्तिम राजकथा के साथ भी २०-२० आलाप कहने चाहिए। इस प्रकार अन्तिम आलाप में तीनों अक्ष अपने-अपने अन्त को प्राप्त हो जाते हैं।

द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा अक्ष-संचार का अनुक्रम

[1]पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥४०॥

गाथार्थ—प्रथम अक्ष जब अन्त तक पहुँचकर पुनः आदिस्थान पर आता है तब दूसरा अक्ष भी संक्रमण कर जाता है और जब ये दोनों अन्त तक पहुँचकर आदि को प्राप्त होते हैं तब तृतीय अक्ष का भी संक्रमण हो जाता है ॥४०॥

विशेषार्थ—प्रमाद के प्रथम अक्ष (भेद) विकथा के स्त्री, भक्त, राष्ट्र और राजकथा इन चारों को क्रम से पलटकर कहना चाहिए तथा इनमें से प्रत्येक के साथ कषाय व इन्द्रिय का प्रथम

---

१. धवल पु. ७ पृ. ४५ गाथा ११।

भेद ग्रहण करना चाहिए। पुनः विकथा के चारों भेदों को क्रम से पलट-पलट कर कहना चाहिए, किन्तु इस बार कषाय के दूसरे भेद मान को ग्रहण करके इन्द्रिय का प्रथम भेद स्पर्शन ही ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार मान को छोड़कर कषाय के तीसरे भेद 'माया' को ग्रहण कर विकथा के आदिभेद से अन्तभेद के साथ चार आलाप कहने चाहिए, किन्तु इन चारों में भी इन्द्रिय का आदिभेद स्पर्शन कहा जाता है। इसी प्रकार कषाय के तृतीय भेद माया को पलटकर अन्तिम भेद लोभ को ग्रहण कर चार आलाप विकथा परिवर्तन की अपेक्षा इन्द्रिय के आदिभेद स्पर्शन के साथ कहना चाहिए। इन १६ भंगों में प्रथम अक्ष 'विकथा' के चार भेद आदि से अन्त तक चार बार पलट-पलट कर पुनः ग्रहण किये गये हैं, किन्तु द्वितीय अक्ष 'कषाय' के चार भेद एक ही बार आदि से अन्त तक प्राप्त हुए हैं और इन १६ ही भंगों में तृतीय अक्ष-इन्द्रिय के प्रथम भेद 'स्पर्शन' का ही ग्रहण हुआ है। पुनः प्रथम अक्ष विकथा को, आदि से अन्त तक चार बार पलटकर और द्वितीय अक्ष-कषाय को आदि से अन्त तक एक बार पलटकर इन १६ आलापों को इन्द्रिय के द्वितीय भेद 'रसना' के साथ कहना चाहिए। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय को पलटकर 'घ्राण' इन्द्रिय के साथ १६ भेद कहने चाहिए। तृतीय अक्ष इन्द्रिय का यह परिवर्तन उसके अन्तिम भेद श्रोत्र इन्द्रिय तक करते हुए पूर्वोक्त १६-१६ आलाप कहने चाहिए। इस प्रकार तीनों ही (विकथा-कषाय-इन्द्रिय) अक्ष अपने-अपने अन्तिम भेद को प्राप्त कराने चाहिए। यह द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा अक्षसंचार में परिवर्तन का कथन जानना।

नष्ट प्राप्त करने का विधान

[1]सगमाणेहिं विहत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं।
लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूव-पक्खेओ ।।४१।।

गाथार्थ—(प्रमादभंग को) अपने अक्ष पिण्डप्रमाण से भाग देने पर जो शेष प्राप्त हो, उस शेष को लक्षित करके अक्षस्थान जानना। लब्ध में एक अङ्क जोड़ना। यदि भाग देने पर राशि शुद्ध हो अर्थात् पूर्णरूप से विभाजित हो जावे, शेष शून्य हो तो अक्ष का अन्तिम भेद ग्रहण करना चाहिए और लब्ध में एक अङ्क नहीं जोड़ना चाहिए ।।४१।।

विशेषार्थ—इस गाथार्थ को प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है। प्रमाद का पन्द्रहवाँ भंग प्राप्त करने के लिए १५ को तृतीय अक्ष 'इन्द्रिय' के पिण्ड प्रमाण पाँच का भाग देने पर (१५÷५) लब्ध तीन और शेष शून्य प्राप्त हुआ। अतः इन्द्रिय अक्ष के अन्तिम भेद 'श्रोत्र-इन्द्रिय' का ग्रहण होता है। लब्ध तीन को पुनः द्वितीय अक्ष 'कषाय' के पिण्ड प्रमाण चार से भाग देने पर (३÷४) लब्ध शून्य और शेष तीन रहे। अतः शेष तीन को लक्षित करके कषाय के तृतीय पद 'मायाकषाय' का ग्रहण होता है। लब्ध शून्य में एक जोड़ने से (० + १) एक प्राप्त हुआ। इस एक को प्रथम अक्ष-विकथा के पिण्ड प्रमाण चार से भाग देने पर (१÷४) लब्ध शून्य और शेष एक प्राप्त हुआ। अतः विकथा के पहले भेद 'स्त्रीकथा' का ग्रहण होता है। इसलिए स्नेहवान् निद्रालु श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत मायावी स्त्रीकथालापी ऐसा प्रमादका १५वाँ भंग है। यह कथन प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा जानना चाहिए।

---

१. धवल पु. ७ पृ. ४६ गाथा १२।

द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा प्रमाद का १५वाँ भंग निकालने के लिए १५ को प्रथम अक्ष-विकथा के पिण्डप्रमाण चार से भाग देने पर (१५÷४) लब्ध ३ और शेष भी तीन ही प्राप्त होते हैं। शेष तीन को लक्षित करके विकथा के तृतीय भेद 'राष्ट्रकथा' का ग्रहण होता है। लब्ध तीन में एक अङ्क जोड़ने पर (३+१) चार प्राप्त होते हैं। इस चार को द्वितीय अक्ष-कषाय के पिण्ड प्रमाण चार से भाग देने पर (४÷४) लब्ध एक और शेष शून्य प्राप्त होता है, क्योंकि यह राशि शुद्ध है। अतः कषाय के अन्तिम भेद लोभ का ग्रहण होता है। लब्ध एक में एक अङ्क नहीं मिलाने से एक ही रहा। इस एक को तृतीय अक्ष-इन्द्रिय के पिण्ड प्रमाण पाँच का भाग देने पर (१÷५) लब्ध शून्य और शेष एक प्राप्त होता है। अतः इन्द्रिय के प्रथम भेद 'स्पर्शन' का ग्रहण होता है। इस प्रकार द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा प्रमाद का पन्द्रहवाँ भंग-राष्ट्रकथालापी लोभी स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु स्नेहवान् है। प्रमाद के अन्य भंगों को इसीप्रकार सिद्ध करके जानना चाहिए।

आलाप की संख्या प्राप्त करने का विधान

[1]संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा एमेव सव्वत्थ ॥४२॥

गाथार्थ—एक अङ्क को स्थापन करके अपने पिण्डप्रमाण से गुणा करे, जो गुणनफल प्राप्त हो उसमें से अनङ्कित को घटाना चाहिए। ऐसा सर्वत्र करना चाहिए अर्थात् अन्तिम तृतीय अक्ष से प्रथम अक्ष तक यह क्रम ले जाना चाहिए ॥४२॥

विशेषार्थ-शङ्का—अनङ्कित किसे कहते हैं?

समाधान—अक्ष के विवक्षित भेद से आगे के भेदों की संख्या को 'अनंकित' कहते हैं। जैसे—विकथा अक्ष का प्रथमभेद स्त्रीकथा विवक्षित है। स्त्रीकथा से आगे भक्तकथा, राष्ट्रकथा, राजकथा, ये तीन कथाएँ हैं अतः 'तीन' संख्या अनङ्कित है।

उदाहरण द्वारा इस गाथा का अर्थ स्पष्ट किया जाता है। जैसे—स्नेहवान्, निद्रालु श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत मायावी स्त्रीकथालापी इस आलाप की संख्या ज्ञात करनी है कि यह कौनसा भंग है? एक का अङ्क स्थापित करके प्रथम अक्ष-विकथा के पिण्डप्रमाण चार से उसे गुणा करने पर (१×४) गुणनफल चार प्राप्त होता है। विकथा के भेदों में से स्त्रीकथा प्रथम भेद है, इसके आगे अन्य तीन विकथाएँ और होने से अनङ्कित का प्रमाण तीन प्राप्त हुआ। उक्त गुणनफल चार में से विकथा सम्बन्धी अनङ्कित ३ घटाने से (४—३) १ शेष रहता है। इस एक को द्वितीय अक्ष-कषाय के पिण्ड प्रमाण चार से गुणा करने पर गुणनफल (१×४) चार प्राप्त होता है। कषाय के चार भेदों में से 'माया' तृतीय भेद है और आगे एक लोभकषाय शेष रहने से अनङ्कित के प्रमाण एक को उक्त गुणनफल ४ में से घटाने पर शेष (४—१) तीन रहते हैं। इस तीन को तृतीय अक्ष इन्द्रिय के पिण्ड प्रमाण ५ से गुणा करने पर (३×५) गुणनफल १५ प्राप्त होते हैं। चूंकि इन्द्रिय के पाँच भेदों

---

१. ध. पु. ७ पृ. ४६ गाथा १३; किन्तु वहाँ पाठ भेद है—'अवणिज्ज अणंकिदयं' के स्थान पर 'अवणेज्जोणं कदियं' यह पाठ है तथा 'एमेव सव्वत्थ' के स्थान पर 'पढमंतियं जावं' यह पाठभेद है।

में श्रोत्रेन्द्रिय अन्तिम भेद है अतः अनङ्कित का अभाव है। इसीलिए गुणनफल १५ में से घटाने योग्य संख्या का भी अभाव होने से यहाँ घटाया नहीं है। इस प्रकार 'स्नेहवान्, निद्रालु श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत मायावी स्त्रीकथालापी' इस आलाप की संख्या १५ प्राप्त हुई अर्थात् उक्त भङ्ग १५वाँ है। उक्त विधान से अन्य भी आलापों की संख्या प्राप्त करनी चाहिए।

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा नष्ट व उद्दिष्ट सम्बन्धी यंत्र का कथन

इगि-बि-ति-च-पण ख-पण दस-पण्णरसं ख-बीस-ताल-सट्ठी य ।
संठविय पमदठाणे णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ।।४३।।

गाथार्थ—प्रथम पंक्ति में एक, दो, तीन, चार व पाँच स्थापन करने (लिखने) चाहिए। उसके नीचे द्वितीय पंक्ति में शून्य, पाँच, दस व १५ स्थापन करने चाहिए। उसके नीचे तृतीय पंक्ति में शून्य बीस, चालीस और साठ स्थापन करने चाहिए। इन स्थानों के द्वारा प्रमाद सम्बन्धी नष्ट व उद्दिष्ट प्राप्त कर लेना चाहिए ।।४३।।

विशेषार्थ—

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा प्रमाद सम्बन्धी नष्ट-उद्दिष्ट निकालने का यंत्र

इन्द्रिय प्रमाद	स्पर्शन १	रसना २	घ्राण ३	चक्षु ४	श्रोत्र ५
कषाय प्रमाद	क्रोध ०	मान ५	माया १०	लोभ १५	
विकथा प्रमाद	स्त्री ०	भोजन २०	राष्ट्र ४०	राज ६०	

जिन अङ्कों या शून्य को परस्पर जोड़ने से विवक्षित संख्या प्राप्त हो, उन अङ्कों को ज्ञात कर उन अङ्कों पर या शून्य पर प्रमाद का जो-जो भेद हो वही प्रमाद का आलाप है। इतनी विशेषता है कि उसके आगे निद्रालु व स्नेहवान् भी लगा लेना चाहिए। उपर्युक्त यंत्र को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—**प्रथम उदाहरण**—मान लो छत्तीसवाँ आलाप ज्ञात करना है–बीस, पन्द्रह और एक को परस्पर जोड़ने से (२० + १५ + १ =) ३६ प्राप्त होता है। बीस पर भोजनकथा, पन्द्रह पर लोभकषाय और एक पर स्पर्शनेन्द्रिय अतः छत्तीसवाँ भङ्ग (आलाप) भोजनकथालापी लोभी स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु, स्नेहवान्।

द्वितीय उदाहरण—इकतालीसवाँ आलाप ज्ञात करना है–चालीस, शून्य और एक को परस्पर जोड़ने से (४० + ० + १ =) ४१ संख्या प्राप्त होती है। चालीस पर राष्ट्रकथा, शून्य पर क्रोधकषाय और एक पर स्पर्शन इन्द्रिय। अतः इकतालीसवाँ आलाप राष्ट्रकथालापी क्रोधी स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु स्नेहवान्। ये दोनों उदाहरण नष्ट को ज्ञात करने के लिए हैं। **उद्दिष्ट निकालने हेतु प्रथम उदाहरण**—

घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत, मानी, राजकथालापी, निद्रालु और स्नेहवान् आलाप की संख्या ज्ञात करनी है। घ्राणेन्द्रिय पर संख्या तीन, मानकषाय पर संख्या पाँच, राजकथा पर संख्या साठ; इन

तीनों संख्याओं को जोड़ने से (३ + ५ + ६० =) ६८ प्राप्त होते हैं। अतः 'घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत मानी राजकथालापी निद्रालु और स्नेहवान्' यह ६८ वाँ आलाप है। **द्वितीय उदाहरण** इस प्रकार है--

'चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत लोभी स्त्रीकथालापी निद्रालु स्नेहवान्' इस आलाप की संख्या ज्ञात करनी है। चक्षु इन्द्रिय पर संख्या चार, लोभकषाय पर संख्या पन्द्रह और स्त्रीकथा पर शून्य है। इन तीनों को जोड़ने से (४+१५+०) १९ प्राप्त होते हैं। अतः 'चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत लोभी स्त्रीकथालापी निद्रालु स्नेहवान्' यह १९ वाँ आलाप है। इसी प्रकार अन्य भी नष्ट-उद्दिष्ट ज्ञात कर लेने चाहिए।

द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा नष्ट व उद्दिष्ट ज्ञात करने का यंत्र

इगि-बि-ति-च-ख-च-ड-बारं, ख-सोल-राग-ट्ठदाल-चउसट्ठि।
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥४४॥

गाथार्थ—प्रथम पंक्ति में एक, दो, तीन व चार; द्वितीय पंक्ति में शून्य, चार, आठ, बारह और तृतीय पंक्ति में शून्य, सोलह, बत्तीस, अड़तालीस व चौंसठ स्थापित करने (लिखने) चाहिए। इन तीन स्थानों के द्वारा प्रमाद सम्बन्धी नष्ट व उद्दिष्ट जानने चाहिए ॥४४॥

विशेषार्थ—

द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा प्रमाद सम्बन्धी नष्ट व उद्दिष्ट ज्ञात करने का यंत्र—

विकथा प्रमाद	स्त्री १	भोजन २	राष्ट्र ३	राज ४	
कषाय प्रमाद	क्रोध ०	मान ४	माया ८	लोभ १२	
इन्द्रिय प्रमाद	स्पर्शन ०	रसना १६	घ्राण ३२	चक्षु ४८	श्रोत्र ६४

जिन अङ्कों को या शून्य को परस्पर जोड़ने से विवक्षित संख्या प्राप्त हो, उन अङ्कों को ज्ञात कर उन अङ्कों पर या शून्य पर प्रमाद का जो-जो भेद हो, वही प्रमाद का आलाप है। इतनी विशेषता है कि उसके आगे निद्रालु व स्नेहवान् भी लगा लेना चाहिए।

इस यंत्र को स्पष्ट करते हुए **नष्ट ज्ञात करने के लिए प्रथम उदाहरण** देते हैं—अड़तीसवाँ आलाप ज्ञात करना है। बत्तीस, चार व दो को परस्पर (३२ + ४ + २ =) जोड़ने से ३८ प्राप्त होते हैं। दो के अङ्क पर भोजनकथा, चार के अङ्क पर मानकषाय और बत्तीस पर घ्राणेन्द्रिय है। अतः अड़तीसवाँ आलाप—'भोजनकथालापी मानी घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु व स्नेहवान्' होगा।

नष्ट ज्ञात करने के लिए **दूसरा उदाहरण** इस प्रकार है—सोलहवाँ आलाप ज्ञात करना है। चार, बारह और शून्य, इन तीनों को जोड़ने से (४ + १२ + ० =) १६ होते हैं। चार के अङ्क पर राजकथा, बारह के अङ्क पर लोभकषाय और शून्य पर स्पर्शनेन्द्रिय है। अतः १६वाँ आलाप—'राजकथालापी लोभी स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु व स्नेहवान्' है।

नष्ट सम्बन्धी दो उदाहरण कहने के पश्चात् अब **उद्दिष्ट ज्ञात करने के लिए उदाहरण** देते हैं—'भोजनकथालापी मायावी चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु स्नेहवान्' इस आलाप की संख्या ज्ञात करनी है। भोजनकथा पर अङ्क दो, माया कषाय पर अङ्क आठ, चक्षु इन्द्रिय पर अङ्क अड़तालीस हैं, इन तीनों को जोड़ने से (२+८+४८=) ५८ प्राप्त होते हैं। अतः उक्त 'भोजनकथालापी मायावी चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत निद्रालु स्नेहवान्' आलाप की संख्या ५८ है, इसी प्रकार अन्य नष्टों के आलाप और अन्य आलापों के उद्दिष्ट ज्ञात कर लेने चाहिए।

शङ्का—गाथा ४३ व ४४ में निद्राप्रमाद व स्नेहप्रमाद के कोष्ठक क्यों नहीं बनाये गये ?

समाधान—निद्राप्रमाद व स्नेहप्रमाद के दो व तीन आदि उत्तरभेद नहीं हैं अतः उनके कोष्ठक नहीं बनाये गये हैं। यदि कोष्ठक बनते भी तो निद्राप्रमाद के स्थान पर शून्य और स्नेहप्रमाद के स्थान पर शून्य रखा जाने से तथा इन दोनों शून्यों को जोड़ने से संख्या में कोई अन्तर न पड़ने के कारण निद्राप्रमाद व स्नेहप्रमाद के कोष्ठक नहीं बनाये गये।

अथवा प्रमाद के ३७५०० भङ्ग भी हैं जो इस प्रकार हैं—स्नेह के दो भेद, निद्रा पाँच प्रकार की, इन्द्रिय पाँच व मन ये छह, कषाय व नोकषाय मिलकर पच्चीस और विकथा २५। इनको परस्पर गुणा करने से (२×५×६×२५×२५) ३७५०० भङ्ग होते हैं।

नष्ट व उद्दिष्ट ज्ञात करने के लिए यंत्र इस प्रकार बनाये जाते हैं—जितने मूल भेद हों उतनी पंक्तियाँ यंत्र में होती हैं। जिस मूलभेद के जितने उत्तरभेद हों, उस मूलभेद की पंक्ति में उतने कोठे होते हैं। मूलभेद और उत्तरभेद यथाक्रम लिखे जाते हैं। प्रथम पंक्ति के कोठों में यथाक्रम एक दो तीन आदि संख्या लिखी जाती है। उसके नीचे की पंक्ति अर्थात् दूसरी पंक्ति के प्रथम कोठे (अनन्तानुबन्धी) में शून्य लिखा जाता है। द्वितीय कोठे में वह संख्या लिखी जाती है, जो संख्या (२५) प्रथम पंक्ति के अन्तिम (संगीतवाद्यकथा) कोठे में लिखी गई थी, क्योंकि इस प्रथम पंक्ति से पूर्व कोई पंक्ति नहीं है। द्वितीय पंक्ति के तृतीयादि (अनन्तानुबन्धी मायादि) कोठों में क्रम से द्वितीय (अनन्तानुबंधीमान) कोठे की संख्या की दुगुनी २५×२ (५०), तिगुनी २५×३ (७५), चौगुणी २५×४ (१००), आदि २५×२४ (६००) पर्यन्त संख्या लिखी जाती है। द्वितीय पंक्ति के नीचे तृतोय (इन्द्रिय) पंक्ति के प्रथम (स्पर्शनेन्द्रिय) कोठे में शून्य लिखा जाता है। प्रथम पंक्ति के अन्तिम कोठे की संख्या (२५) और द्वितीय पंक्ति के अन्तिम कोठे की संख्या (६००) इन दोनों संख्याओं को जोड़ने से जो प्रमाण (६२५) आवे उतनी (६२५) संख्या तृतीय (इन्द्रिय) पंक्ति के द्वितीय (रसना) कोठे में लिखी जाती है। इसके पश्चात् तृतीय आदि कोठों में द्वितीय कोठे की संख्या की दुगुणी (६२५×२), तीनगुणी (६२५×३), चारगुणी (६२५×४) आदि संख्या यथाक्रम लिखी जाती है। इसी प्रकार चतुर्थ, पंचमादि पंक्तियों के कोठों में से प्रथम कोठे (स्त्यानगृद्धि) में शून्य और द्वितीय कोठे (निद्रानिद्रा) में पूर्व पंक्तियों के अन्तिम कोठों की संख्याओं का जोड़ (२५+६००+३१२५=३७५०) और तृतोय आदि कोठों में द्वितीय कोठे को दुगुणी (३७५०×२), तीनगुणी (३७५०×३) आदि संख्या लिखी जाती है। प्रत्येक पंक्ति के अन्तिम कोठों की संख्याओं को परस्पर जोड़ने से कुल भंगों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। इस विधान के अनुसार प्रमाद के ३७५०० भंगों के दो प्रस्तारों को अपेक्षा दो यंत्र बनाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा प्रमाद के साढ़े सैंतीस हजार (३७५००) भङ्गों में नष्ट-उद्दिष्ट ज्ञात करने का यंत्र

पंक्ति ५	पंक्ति ४	पंक्ति ३	पंक्ति २	पंक्ति १
विकथा २५	कषाय २५	इन्द्रिय ६	निद्रा ५	स्नेह २
१ स्त्री ०	१ अन. क्रोध ०	१ स्पर्शन ०	१ स्त्यानगृद्धि ०	१ स्नेह १
२ अर्थ २+८+५०+१४४०=१५००	२ अन. मान २+८+५०=६०	२ रसना ८+२=१०	२ निद्रानिद्रा २	२ मोह २
३ भोजन १५००×२=३०००	३ अन. माया ६०×२=१२०	३ घ्राण १०×२=२०	३ प्रचलाप्रचला २×२=४	
४ राज १५००×३=४५००	४ अन. लोभ ६०×३=१८०	४ चक्षु १०×३=३०	४ निद्रा २×३=६	
५ चोर १५००×४=६०००	५ अप्रत्या. क्रोध ६०×४=२४०	५ श्रोत्र १०×४=४०	५ प्रचला २×४=८	
६ वैर १५००×५=७५००	६ अप्रत्या. मान ६०×५=३००	६ मन १०×५=५०		
७ परपाखण्ड १५००×६=९०००	७ अप्रत्या. माया ६०×६=३६०			
८ देश १५००×७=१०५००	८ अप्रत्या. लोभ ६०×७=४२०			
९ भाषा १५००×८=१२०००	९ प्रत्या. क्रोध ६०×८=४८०			
१० गुणबन्ध १५००×९=१३५००	१० प्रत्या. मान ६०×९=५४०			
११ देवी १५००×१०=१५०००	११ प्रत्या. माया ६०×१०=६००			
१२ निष्ठुर १५००×११=१६५००	१२ प्रत्या. लोभ ६०×११=६६०			
१३ परपैशुन्य १५००×१२=१८०००	१३ संज्व. क्रोध ६०×१२=७२०			
१४ कन्दर्प १५००×१३=१९५००	१४ संज्व. मान ६०×१३=७८०			
१५ देशकालानुचित १५००×१४=२१०००	१५ संज्व. माया ६०×१४=८४०			
१६ भण्ड १५००×१५=२२५००	१६ संज्व. लोभ ६०×१५=९००			
१७ मूर्ख १५००×१६=२४०००	१७ हास्य ६०×१६=९६०			
१८ आत्मप्रशंसा १५००×१७=२५५००	१८ रति ६०×१७=१०२०			
१९ परपरिवाद १५००×१८=२७०००	१९ अरति ६०×१८=१०८०			
२० परजुगुप्सा १५००×१९=२८५००	२० शोक ६०×१९=११४०			
२१ परपीड़ा १५००×२०=३००००	२१ भय ६०×२०=१२००			
२२ कलह १५००×२१=३१५००	२२ जुगुप्सा ६०×२१=१२६०			
२३ परिग्रह १५००×२२=३३०००	२३ स्त्रीवेद ६०×२२=१३२०			
२४ कृष्याद्यारम्भ १५००×२३=३४५००	२४ पुरुषवेद ६०×२३=१३८०			
२५ संगीतवाद्य १५००×२४=३६०००	२५ नपुंसकवेद ६०×२४=१४४०			

द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा प्रमाद के साढ़े सैंतीस हजार (३७५००) भङ्गों में नष्ट-उद्दिष्ट ज्ञात करने का यंत्र

पंक्ति ५	पंक्ति ४	पंक्ति ३	पंक्ति २	पंक्ति १
स्नेह २	निद्रा ५	इन्द्रिय ६	कषाय २५	विकथा
स्नेह ०	स्त्यानगृद्धि ०	स्पर्शन ०	अन. क्रोध ०	स्त्रीकथा १
मोह १८७५० (१५००० +३१२५ +६०० +२५)	निद्रानिद्रा ३७५०	रसना ६२५	अन. मान २५	अर्थकथा २
	प्रचलाप्रचला ३७५०×२= ७५००	घ्राण ६२५×२ =१२५०	अन. माया २५×२=५०	भोजनकथा ३
	निद्रा ३७५०×३= ११२५०	चक्षु ६२५×३ =१८७५	अन लोभ २५×३=७५	राजकथा ४
	प्रचला ३७५०×४ =१५०००	श्रोत्र ६२५×४ =२५००	अप्रत्या. क्रोध २५×४=१००	चोरकथा ५
		मन ६२५×५ =३१२५	अप्रत्या. मान २५×५=१२५	वैरकथा ६
			अप्रत्या. माया २५×६=१५०	परपाखण्डकथा ७
			अप्रत्या. लोभ २५×७=१७५	देशकथा ८
			प्रत्या. क्रोध २५×८=२००	भाषाकथा ९
			प्रत्या. मान २५×९=२२५	गुणबन्धकथा १०
			प्रत्या. माया २५×१०=२५०	देवीकथा ११
			प्रत्या. लोभ २५×११=२७५	निष्ठुरकथा १२
			संज्व. क्रोध २५×१२=३००	परपैशुन्यकथा १३
			सज्व. मान २५×१३=३२५	कन्दर्पकथा १४
			संज्व. माया २५×१४=३५०	देशकालानुचितकथा १५
			संज्व. लोभ २५×१५=३७५	भण्डकथा १६
			हास्य २५×१६=४००	मूर्खकथा १७
			रति २५×१७=४२५	आत्मप्रशंसाकथा १८
			अरति २५×१८=४५०	परपरिवादकथा १९
			शोक २५×१९=४७५	परजुगुप्साकथा २०
			भय २५×२०=५००	परपीड़ाकथा २१
			जुगुप्सा २५×२१=५२५	कलहकथा २२
			स्त्रीवेद २५×२२=५५०	परिग्रहकथा २३
			पुरुषवेद २५×२३=५७५	कृष्याद्यारम्भकथा २४
			नपुंसकवेद २५×२४=६००	संगीतवाद्यकथा २५

नोट : द्वितीय प्रस्तार में प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा मुख्यत: यही भेद है कि यंत्र में विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा व स्नेह की पंक्तियों के क्रमांक क्रमश: १, २, ३, ४, ५ होते हैं, जो प्रथमप्रस्तार से ठीक उलटे हैं, यंत्र बनाने की शेषविधि वही है जैसी कि विशेषार्थ में कही है।

सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ।।४५।।

गाथार्थ—संज्वलन कषाय और नोकषाय का जब मन्द उदय होता है, तब अप्रमत्तगुणस्थान होता है और उसी से अप्रमत्तसंयत होता है ।।४५।।

विशेषार्थ—संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ और हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद ये नव नोकषाय, इन १३ प्रकृतियों के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।[1] इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय के मन्द उदय का नाम अप्रमाद है। श्रेणीआरोहण से पूर्व सकलसंयमी के इन तेरह प्रकृतियों का कभी तीव्रोदय होता है और कभी मन्दोदय। तीव्रोदय होने पर प्रमत्तसंयत नामक छठा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है और मन्दोदय होने पर अप्रमत्तसंयत नामक ७वाँ गुणस्थान रहता है, किन्तु अप्रमत्तसंयत के काल से प्रमत्तसंयत का काल दुगुना है।[2] इस प्रकार प्रमत्त व अप्रमत्तगुणस्थान में जो झूला करता है, वह स्वस्थान अप्रमत्तसंयत है।

जिनका संयम प्रमादसहित नहीं होता, वे **अप्रमत्तसंयत** हैं। संयत होते हुए जिन जीवों के *पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नहीं पाया जाता, वे* ***अप्रमत्तसंयत*** *हैं।*

शङ्का—शेष सम्पूर्ण संयतों का इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिए शेष संयत गुणस्थानों का अभाव हो जाएगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जो आगे कहे जाने वाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से युक्त नहीं हैं और जिनका प्रमाद अस्त हो गया है, ऐसे संयतों का ही अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ग्रहण होता है; इसलिए आगे के समस्त संयतगुणस्थानों का अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अन्तर्भाव नहीं होता।

शङ्का—यह कैसे जाना जाये कि यहाँ पर आगे कहे जाने वाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से युक्त संयतों का ग्रहण नहीं होता ?

समाधान—आगे के संयत जीवों का यहाँ ग्रहण नहीं होता, यदि ऐसा नहीं माना जाये तो आगे के संयतों का निरूपण बन नहीं सकता, इससे ज्ञात होता है कि यहाँ अपूर्वकरणादि विशेषणों से रहित अप्रमत्तसंयतों का ही ग्रहण किया गया है।

वर्तमान समय में प्रत्याख्यानावरणीय कर्मों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से और आगे उदय में आने वाले उन्हीं के उदयाभाव लक्षण उपशम से तथा संज्वलन कषायों के मन्द उदय होने से प्रत्याख्यान की उत्पत्ति होती है, इसलिए यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है। संयम के कारणभूत

---

१. "को पमादो णाम? चदुसंजलण-णवणोकसायाणं तिव्वोदओ।" धवल पु. ७ पृ. ११। २. "अपमत्तद्धादो पमत्तद्धाए दुगुणत्तादो"–धवल पु. ३ पृ. ९०। ३. प्राकृत पंचसंग्रह अ. १ गा. १६, व धवल पु. १ पृ. १७९; सूत्र १५ की टीका में भी यह गाथा है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा, सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कर्मों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से यह गुणस्थान उत्पन्न होता है। इसलिए क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भी (यह गुणस्थान) है।

स्वस्थान अप्रमत्तसंयत एवं सातिशय अप्रमत्तसंयत का स्वरूप

[1]णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥४६॥

इगवीसमोहखवणुवसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढमं अधापवत्तं करणं तु करेदि अपमत्तो ॥४७॥[युग्मम्]

गाथार्थ—जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है और शरीर-आत्मा के भेदज्ञान में तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक उसको **स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त** कहते हैं ॥४६॥ अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन सम्बन्धी क्रोधमानमायालोभ तथा हास्यादिक नव नोकषाय मिलकर मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के उपशम या क्षय करने को आत्मा के ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकार के विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। उनमें से सातिशय अप्रमत्त अर्थात् जो श्रेणी चढ़ने के सम्मुख है, वह प्रथम अधःप्रवृत्तकरण को ही करता है ॥४७॥

विशेषार्थ—चतुर्थगुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त किसी भी गुणस्थान में जिस वेदक सम्यग्दृष्टि ने अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों द्वारा अनन्तानुबन्धी-कषाय की विसंयोजना करके, पुनः तीन करणों के द्वारा दर्शनमोहनीय की (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, मिथ्यात्व) तीन प्रकृतियों का उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है। अथवा इन तीन प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया है वह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय कर्म की अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियों का उपशम करने के योग्य होता है, किन्तु चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के क्षपण के योग्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होता है, क्योंकि द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी पर आरोहण नहीं कर सकता। ऐसा सम्यग्दृष्टि प्रमत्त से अप्रमत्त में और अप्रमत्त से प्रमत्त में संख्यातबार भ्रमण करके अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होता हुआ सातिशय अप्रमत्त हो जाता है।

जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है, वास्तव में वही ज्ञानी है, क्योंकि उसके बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष का अभाव हो गया है। जो राग-द्वेष को हेय जानता हुआ भी बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष करता है वह वास्तविक ज्ञानी नहीं है।

४६वीं गाथा का विशेषार्थः—स्वस्थान-अप्रमत्त गुणस्थान में गमनागमन आदि क्रिया होती है अन्यथा अप्रमत्तगुणस्थान में परिहारविशुद्धिसंगम के अभाव का प्रसंग आ जाएगा, क्योंकि जो

---

१. प्राकृत पंचसंग्रह अ. १ गा. १६ व ध.पु. १ पृ. १७६ सूत्र १५ की टीका।

निरन्तर ध्यान में रत हैं उनके क्रिया का अभाव होने से परिहारविशुद्धिसंयम सम्भव नहीं है। कहा भी है "जिसकी आत्मा ध्यानरूपी अमृत के सागर में निमग्न है, जो वचन-यम (मौन) का पालन करता है और जिसने गमनागमन आदि शरीर-सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यापार संकुचित कर लिया है, ऐसे जीव के शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार बन ही नहीं सकता, क्योंकि गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करने वाला नहीं। इसलिए ऊपर के ध्यानावस्था को प्राप्त गुणस्थानों में परिहारविशुद्धिसंयम नहीं बन सकता"[1]।

४७वीं गाथा का शेष विशेषार्थ:—सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात न होने के कारण अनुपशामक और अक्षपक विशेषण दिया गया है। द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्क का विसंयोजन हो जाने से और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का उपशम हो जाने से अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि के इन सात प्रकृतियों का क्षय हो जाने से चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका उपशम या क्षय करने के लिए अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण ये तीन करण होते हैं। इन तीन करणों में से अपूर्वकरण तो आठवें गुणस्थान में होता है और अनिवृत्तिकरण नौवें गुणस्थान में होता है। अधःकरण नामक कोई गुणस्थान नहीं है अतः प्रथम अधःकरण सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान में होता है। इस सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान में अधःकरण द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती है, अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन द्विस्थानिक होता है और प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग-बन्ध अनन्तगुणा-अनन्तगुणा वृद्धिगत होता हुआ चतुःस्थानिक होता है। प्रत्येक बन्धापसरण द्वारा स्थितिबन्ध घटता हुआ होता है। ये चार आवश्यक कार्य अधःकरण से प्रारम्भ हो जाते हैं।

- प्रथमकरण की अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा का कारण
- उसके काल एवं उसमें होने वाले परिणामों का प्रमाण

जह्मा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ॥४८॥

अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा।
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ॥४९॥

गाथार्थ—अधःप्रवृत्तकरण के काल में ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम के सदृश अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं, इसलिए प्रथमकरण को अधःप्रवृत्तकरण कहा गया है ॥४८॥ इस अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इसके परिणामों की संख्या असंख्यातलोक प्रमाण है। ये परिणाम ऊपर-ऊपर समान वृद्धि को प्राप्त होते गये हैं ॥४९॥

विशेषार्थ—जिस परिणाम विशेष के द्वारा उपशमादिरूप विवक्षित भाव उत्पन्न किया जाता है, वह परिणाम 'करण' कहलाता है। जिस करण में विद्यमान जीव के करणरूप परिणाम अर्थात्

---

१. ध. पु. १ पृ. ३७५।

उपरितन (आगे के) समय के परिणाम नीचे के (पूर्व के) समय के परिणाम सदृश प्रवृत्त होते हैं, वह अधःप्रवृत्तकरण है। इस करण में उपरिम समय के परिणाम नीचे के समय में भी पाये जाते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है[1]।

अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है, तथापि अनिवृत्तिकरण का काल सबसे कम है, उससे संख्यातगुणा अपूर्वकरण का काल है और उससे संख्यातगुणा अधःप्रवृत्तकरण का काल है।

अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक पृथक्-पृथक् प्रत्येक समय में असंख्यात लोक प्रमाण परिणामस्थान होते हैं जो कि छह वृद्धियों के क्रम से अवस्थित और स्थिति-बन्धापसरण आदि के कारणभूत हैं। अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में असंख्यातलोक प्रमाण परिणामस्थान होते हैं। पुनः द्वितीय समय में वे ही परिणामस्थान अन्य अपूर्वपरिणामस्थानों के साथ विशेष (चय) अधिक होते हैं।

शङ्का—विशेष (चय) का प्रमाण कितना है ?

समाधान—प्रथम समय के परिणामस्थानों में अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो एक भाग प्रमाण (असंख्यातलोकप्रमाण) परिणाम प्राप्त होते हैं, उतना है।

इस प्रकार इस प्रतिभाग के अनुसार प्रत्येक समय में विशेषाधिक परिणामस्थान करके अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय तक ऐसे ही जानना चाहिए।

अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जो परिणामस्थान होते हैं, उनके अन्तर्मुहूर्त काल के जितने समय हैं, उतने खण्ड करने चाहिए।

शङ्का—इस अन्तर्मुहूर्त का क्या प्रमाण है ?

समाधान—अधःप्रवृत्तकरणकाल का संख्यातवाँ भाग इस अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण है।

प्रथम समय के परिणामस्थानों के जितने खण्ड होते हैं, उतने समयों का निर्वर्गणाकाण्डक होता है, क्योंकि वहीं तक प्रथम समय के परिणामों की सदृशता सम्भव है। उससे आगे प्रथम समय के परिणामों की सदृशता का विच्छेद हो जाता है। प्रथम समय के परिणामों के या अन्य समय के परिणामों के जो खण्ड होते हैं, वे परस्पर सदृश नहीं होते, विसदृश होते हैं, क्योंकि वे खण्ड एक-दूसरे की अपेक्षा विशेष अधिक क्रम से अवस्थित हैं। अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो वह विशेष का प्रमाण है। पुनः प्रथम खण्ड को छोड़कर इन्हीं परिणामस्थानों को दूसरे समय में परिपाटी को उल्लंघन कर स्थापित करना चाहिए।[2] इतनी विशेषता है कि इस द्वितीय समय में असंख्यात लोक प्रमाण अन्य अपूर्व परिणामस्थान होते हैं। वे प्रथम समय के अन्तिमखण्ड के परिणामों में अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतने अन्तिमखण्ड परिणामों से विशेष अधिक होते हैं। इन परिणामों को द्वितीय समय के अन्तिम खण्डरूप से स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार

---

१. ज.ध.पु. १२ पृ. २३३। २. ज.ध.पु. १२ पृ. २३६-३७।

स्थापित करने पर दूसरे समय में भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण परिणामखण्ड प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार तृतीय आदि समयों में भी परिणामस्थानों की रचना अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक क्रम से करनी चाहिए।

[1]अथवा, अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय के परिणामस्थानों की खण्ड-विधि को इस प्रकार जानना चाहिए। यथा—दूसरे समय के जघन्य परिणाम के साथ प्रथम समय का जो परिणामस्थान समान होता है, उनसे भिन्न पूर्व के समस्त परिणामस्थानों को ग्रहणकर प्रथम समय में प्रथमखण्ड होता है।

पुनः तृतीय समय के जघन्य परिणामों के साथ प्रथम समय का जो परिणामस्थान समान होता है उससे पूर्व के (नीचे के) पहले ग्रहण किये गये समस्त परिणामों से शेष बचे हुए परिणामस्थानों को ग्रहण कर वहीं दूसरे खण्ड का प्रमाण होता है। इसप्रकार इस क्रम से जाकर पुनः प्रथम निर्वर्गणा काण्डक के अन्तिम समय के जघन्य परिणाम के साथ प्रथम समय के परिणामस्थानों में जो परिणामस्थान सदृश होता है उससे पूर्व के (नीचे के) पहले ग्रहण किये गये समस्त परिणामों से शेष बचे हुए परिणामस्थानों को ग्रहणकर प्रथम समय में द्विचरम खण्ड का प्रमाण उत्पन्न होता है तथा उससे आगे के शेष समस्त विशुद्धिस्थानों के द्वारा अन्तिमखण्ड का प्रमाण उत्पन्न होता है और ऐसा करने पर अधःप्रवृत्तकरण काल के संख्यात भाग करके उनमें से एक भाग के जितने समय होते हैं, उतने ही खण्ड हो जाते हैं। इसी प्रकार अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक द्वितीयादि समयों में भी पृथक्-पृथक् पूर्वोक्त कही गई विधि से अन्तर्मुहूर्तप्रमाण खण्ड जानने चाहिए। इस प्रकार कहे गये समस्त परिणामस्थानों की संदृष्टि है—

८	१०००००००००००	१००००००००००००	१०००००००००००००	१००००००००००००००
७	१००००००००००	१०००००००००००	१००००००००००००	१०००००००००००००
६	१०००००००००	१००००००००००	१०००००००००००	१००००००००००००
५	१००००००००	१०००००००००	१००००००००००	१०००००००००००
४	१०००००००	१००००००००	१०००००००००	१००००००००००
३	१००००००	१०००००००	१००००००००	१०००००००००
२	१०००००	१००००००	१०००००००	१००००००००
१	१००००	१०००००	१००००००	१०००००००

इस संदृष्टि में अधःप्रवृत्तकरण का काल आठ समय प्रमाण मानकर प्रत्येक समय के परिणामों को खण्डरूप से चार-चार भागों में विभाजित किया गया है।[2] इस सम्बन्ध में कल्पित अंकसंदृष्टि इस प्रकार है—

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २३८। २. ज. ध. पु. १२ पृ. २३४-२३८

अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों की अनुकृष्टि-रचना की कल्पित अङ्क-संदृष्टि[1]

	समय की क्रम संख्या	परिणामों का प्रमाण	प्रथमखण्ड	द्वितीयखण्ड	तृतीयखण्ड	चतुर्थखण्ड
अन्तिम निर्वर्गणा काण्डक	१६	२२२	५४	५५	५६	५७
	१५	२१८	५३	५४	५५	५६
	१४	२१४	५२	५३	५४	४५
	१३	२१०	५१	५२	५३	५४
द्विचरम निर्वर्गणा काण्डक	१२	२०६	५०	५१	५२	५३
	११	२०२	४६	५०	५१	५२
	१०	१६८	४८	४६	५०	५१
	६	१६४	४७	४८	४६	५०
द्वितीय निर्वर्गणा काण्डक	८	१६०	४६	४७	४८	४६
	७	१८६	४५	४६	४७	४८
	६	१८२	४४	४५	४६	४७
	५	१७८	४३	४४	४५	४६
प्रथम निर्वर्गणा काण्डक	४	१७४	४२	४३	४४	४५
	३	१७०	४१	४२	४३	४४
	२	१६६	४०	४१	४२	४३
	१	१६२	३६	४०	४१	४२

१. सुशीला उपन्यास (स्व. पं. गोपालदासजी बरैया) पर्व १६ पृ. २१०-११ पर इसी संदृष्टि को निम्न प्रकार से विशिष्ट स्पष्टीकरण के साथ प्रस्तुत किया गया है— [पृष्ठ ५२ पर देखें]

परिणामों की संख्या और नम्बर	अनुकृष्टि रचना			
२२२	५४	५५	५६	५७
नं० ६९१—९१२	६९१—७४४	७४५—७९९	८००—८५५	८५६—९१२
२१८	५३	५४	५५	५६
नं० ६३८—८५५	६३८—६९०	६९१—७४४	७४५—७९९	८००—८८५
२१४	५२	५३	५४	५५
५८६—७९९	५८६—६३७	६३८—६९०	६९१—७४४	७४५—७९९
२१०	५१	५२	५३	५४
५३५—७४४	५३५—५८५	५८६—६३७	६३८—६९०	६९१—७४४
२०६	५०	५१	५२	५३
४८५—६९०	४८५—५३४	५३५—५८५	५८५—६३७	६३८—६९०
२०२	४९	५०	५१	५२
४३६—६३०	४३६—४८४	४८५—५३४	५३५—५८५	५८६—६३७
१९८	४८	४९	५०	५१
३८८—५८५	३८८—४३५	४३६—४८४	४८५—५३४	५३५—५८५
१९४	४७	४८	४९	५०
३४१—५३४	३४१—३८७	३८८—४३५	४३६—४८४	४८५—५३४
१९०	४६	४७	४८	४९
२९५—४८४	२९५—३४०	३४१—३८७	३८८—४३५	४३६—४८४
१८६	४५	४६	४७	४८
२५०—४३५	२५०—२९४	२९५—३४०	३४१—३८७	३८८—४३५
१८२	४४	४५	४६	४७
२०६—३८७	२०६—२४९	२५०—२९४	२९५—३४०	३४१—३८७
१७८	४३	४४	४५	४६
१६३—३४०	१६३—२०५	२०६—२४९	२५०—२९४	२९५—३४०
१७४	४२	४३	४४	४५
१२१—२९४	१२१—१६२	१६३—२०५	२०६—२४९	३५०—२९४
१७०	४१	४२	४३	४४
८०—२४९	८०—१२०	१२१—१६२	१६३—२०५	२०६—२४९
१६६	४०	४१	४२	४३
नं० ४०—२०५	४०—७९	८०—१२०	१२१—१६२	१६३—२०५
१६२	३९	४०	४१	४२
नं० १—१६२	१—३९	४०—७९	८०—१२०	१२१—१६२

भावार्थ—जैसे प्रथम समय सम्बन्धी परिणामपुंज १६२ के ३९, ४०, ४१ और ४२ ये चार खण्ड इस क्रम से किये गये हैं कि नम्बर १ से ३९ तक ३९ ऐसे परिणाम हैं जो ऊपर किसी भी समय में नहीं पाये जाते, इतने ही परिणामपुंज का नाम प्रथम खण्ड है। दूसरे खण्ड में नम्बर ४०—७९ तक ४० परिणाम ऐसे है जो प्रथम और द्वितीय दोनों समयों में पाये जाते है। तीसरे खण्ड में नम्बर ८०-१२० तक ४१ परिणाम ऐसे है जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय इन तीनों समयों में पाये जाते हैं और चतुर्थ खण्ड में नम्बर १२१—१६२ तक ४२ परिणाम ऐसे है, जो प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन चारों समयों में पाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्य समयों में भी जानना। अधःकरण के ये समस्त परिणाम ऊपर पूर्व-पूर्व परिणाम से उत्तर-उत्तर परिणाम अनन्त-अनन्त गुणी विशुद्धता लिये हुए हैं।

इस अङ्कसंदृष्टि में अधःप्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त काल के १६ समय कल्पित किये गये हैं और असंख्यातलोकप्रमाण कुल परिणामों की संख्या ३०७२ कल्पित करके अनुकृष्टि-रचना की गई है जिससे वास्तविक कथन सरलता से समझ में आ जावे।

संदृष्टि का आलम्बन लेकर अनुकृष्टिरचना का प्ररूपण किया जाता है—अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्ड के परिणाम (३९ से ५४) उपरिम समय सम्बन्धी परिणामों में से किन्हीं भी परिणामों के सदृश नहीं होते हैं। वहीं पर दूसरे खण्ड के परिणाम (४०) दूसरे समय के प्रथमखण्ड के परिणामों के समान होते हैं। इसी प्रथम समय के तीसरे आदि खण्डों के परिणामों का भी तृतीय आदि समयों के प्रथम खण्ड के परिणामों के साथ क्रम से पुनरुक्तपना तब तक जानना चाहिए जब तक कि प्रथम समय सम्बन्धी अन्तिम खण्ड के परिणाम प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय के प्रथमखण्ड सम्बन्धी परिणामों के साथ पुनरुक्त होकर समाप्त होते हैं। इसी प्रकार अधःप्रवृत्तकरण के द्वितीयादि समयों के परिणामखण्डों को भी पृथक्-पृथक् विवक्षित कर वहाँ के द्वितीयादि खण्डगत परिणामों का विवक्षित समय से अनन्तर उपरिम समय से लेकर ऊपर एक समय कम निर्वर्गणा काण्डक प्रमाण समयपंक्तियों के प्रथमखण्ड के परिणामों के साथ पुनरुक्तपनेका कथन करना चाहिए। जसे द्वितीय समय का द्वितीयखण्ड (४१) तृतीय समय के प्रथमखण्ड (४१) के समान है। इतनी विशेषता है कि सर्वत्र प्रथम खण्ड के परिणाम अपुनरुक्त होते हैं। अर्थात् प्रत्येक समय के प्रथम खण्ड के परिणाम अगले समय के किसी भी खण्ड के परिणामसदृश नहीं होते। इसी प्रकार द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के परिणामखण्डों का तृतीय निर्वर्गणाकाण्डक के परिणामखण्डों के साथ पुनरुक्तपना होता है, किन्तु यहाँ पर भी प्रथम खण्ड के परिणाम अपुनरुक्त होते हैं। तृतीय, चतुर्थ, पंचम आदि निर्वर्गणाकाण्डकों के खण्डों के परिणाम अनन्तर उपरिम निर्वर्गणाकाण्डकों के खण्ड-परिणामों के साथ पुनरुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह क्रम द्विचरम निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथमादि समयों के प्रथमखण्ड को छोड़कर शेष सभी परिणामखण्ड अन्तिम निर्वर्गणाकाण्डक के परिणामों के साथ पुनरुक्त होकर समाप्त होता है। अन्तिम निर्वर्गणा-काण्डक के परिणामों के स्वस्थान में पुनरुक्त-अपुनरुक्तपने का अनुसन्धान परमागम के अविरोध पूर्वक करना चाहिए, जो इस प्रकार है—

अन्तिम निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय का प्रथमखण्ड ऊपर के समय के किसी खण्ड के सदृश नहीं है। प्रथम समय का द्वितीय खण्ड और दूसरे समय का प्रथम खण्ड परस्पर सदृश हैं। प्रथम समय का तृतीय खण्ड और द्वितीय समय का द्वितीयखण्ड ये दोनों सदृश हैं। [1]इसी प्रकार जाकर पुनः प्रथम समय का अन्तिमखण्ड और द्वितीय समय का द्विचरम खण्ड ये दोनों सदृश हैं। इसी प्रकार अन्तिम निर्वर्गणाकाण्डक के द्वितीय समय के परिणामखण्डों का और तृतीय समय के परिणामखण्डों का सन्निकर्ष करना चाहिए। इसी प्रकार ऊपर भी पिछले का तदनन्तर के साथ सन्निकर्ष करना चाहिए[2]। इस प्रकार अधःप्रवृत्तकरण में अनुकृष्टि प्ररूपणा समाप्त हुई।

अधःकरण के खण्डों के परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा अल्पबहुत्व का कथन किया जाता है। स्वस्थान और परस्थान के भेद से अल्पबहुत्व दो प्रकार का है।

---

१. ज.ध.पु. १२ पृ. २४१ अन्तिम अनुच्छेद। २. ज.ध.पु. १२ पृ. २४०-२४२।

स्वस्थान अल्पबहुत्व—अध:प्रवृत्तकरण के प्रथम समय में प्रथम खण्ड के जघन्य परिणाम की विशुद्धि सबसे स्तोक है। प्रथम समय के द्वितीय खण्ड के जघन्य परिणाम की विशुद्धि अनन्तगुणी है। तृतीय खण्ड के जघन्य परिणाम की विशुद्धि अनन्तगुणी है। प्रथम समय के अन्तिमखण्ड के जघन्य परिणाम की विशुद्धि अनन्तगुणी है, इस स्थान के प्राप्त होने तक इसी प्रकार जानना चाहिए। प्रथम समय में प्रथम खण्ड का उत्कृष्ट परिणाम स्तोक है, उससे वहीं पर द्वितीयखण्ड का उत्कृष्ट परिणाम अनन्तगुणा है, उससे वहीं पर तीसरे खण्ड का उत्कृष्ट परिणाम अनन्तगुणा है। इसी प्रकार अन्तिमखण्ड के उत्कृष्ट परिणाम तक अनन्तगुणा क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार प्रथम समय के खण्डों का कथन किया गया है, उसी प्रकार दूसरे समय से लेकर अध:प्रवृत्तकरण के अन्तिम समय तक प्रत्येक खण्ड के प्रति प्राप्त जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों का स्वस्थान अल्पबहुत्व का कथन करना चाहिए। स्वस्थान अल्पबहुत्व का कथन समाप्त हुआ[1]।

परस्थान अल्पबहुत्व—अध:प्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जघन्यविशुद्धि सबसे स्तोक है। उससे दूसरे समय में जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि प्रथम समय के जघन्य-विशुद्धि स्थान से षट्स्थान क्रम से असंख्यातलोकमात्र विशुद्धिस्थानों को उल्लंघन कर स्थित हुए दूसरे खण्ड के जघन्यविशुद्धि स्थान का दूसरे समय में जघन्यपना देखा जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर स्थित हुए प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक इसी क्रम से जघन्य-विशुद्धि प्रतिसमय अनन्तगुणित क्रम से जाती है[2]।

प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक की चरमसमय की जघन्यविशुद्धि से उसी निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि उक्त जघन्यविशुद्धि प्रथम समय के अन्तिमखण्ड की जघन्यविशुद्धि के सदृश है और यह उत्कृष्टविशुद्धि, उक्त अन्तिमखण्ड की उत्कृष्ट विशुद्धि है जो असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान पतित वृद्धिरूप परिणामस्थानों को उल्लंघन कर अवस्थित है।

प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की जघन्यविशुद्धि से दूसरे निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है अथवा प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय की उत्कृष्टविशुद्धि अर्थात् अन्तिमखण्ड (४२) की उत्कृष्टविशुद्धि से द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय की जघन्य-विशुद्धि (४३ की) अनन्तगुणी है, क्योंकि उत्कृष्टविशुद्धि उर्वंकपने से अवस्थित है और यह जघन्य-विशुद्धि अष्टाङ्क स्वरूप है जो उक्त उर्वंक से आगे है।

उससे प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के द्वितीय समय की उत्कृष्टविशुद्धि (४३ की उत्कृष्टविशुद्धि) अनन्तगुणी है, क्योंकि उक्त जघन्यविशुद्धि द्वितीय समय के अन्तिमखण्ड (४३) के जघन्य परिणाम. स्वरूप है और यह उसी अन्तिमखण्ड (४३) की उत्कृष्टविशुद्धि है जो जघन्य से असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित-वृद्धिस्थानों का उल्लंघन कर अवस्थित है।

इस प्रकार इस पद्धति (रीति) से अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण एक (प्रत्येक) निर्वर्गणाकाण्डक को अवस्थित कर उपरिम और अधस्तन जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए। यह सब अल्पबहुत्व सभी निर्वर्गणाकाण्डकों का क्रम से उल्लंघन कर पुन: द्विचरम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की उत्कृष्टविशुद्धि (५३ की उत्कृष्टविशुद्धि) से अध:प्रवृत्तकरण के अन्तिमसमय की

---

१. ज.ध.पु. १२ पृ. २४४। २. ज.ध.पु. १२ पृ. २४५।

जघन्यविशुद्धि (५४ की जघन्यविशुद्धि) अनन्तगुणी होकर जघन्यविशुद्धि का अन्त प्राप्त होने तक करना चाहिए।

प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के दूसरे समय की उत्कृष्टविशुद्धि से (४३ की विशुद्धि से) ऊपर द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के दूसरे समय की जघन्यविशुद्धि (४४ की जघन्यविशुद्धि) अनन्तगुणी है। इससे ऊपर प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के तीसरे समय की (४४ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है। इससे ऊपर द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के तृतीय समय की जघन्यविशुद्धि (४५ की जघन्यविशुद्धि) अनन्तगुणी है। इससे ऊपर प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक चतुर्थसमय की उत्कृष्टविशुद्धि (४५ की उत्कृष्टविशुद्धि) अनन्तगुणी है। इस प्रकार जानकर द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, इसके प्राप्त होने तक अल्पबहुत्व करते जाना चाहिए। इस प्रकार अनन्तर उपरिम निर्वर्गणाकाण्डक के जघन्य परिणामों का अन्तर अधस्तन निर्वर्गणाकाण्डक के उत्कृष्टपरिणामों के साथ क्रम से अनुसन्धान करते हुए अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय की जघन्यविशुद्धि द्विचरम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की उत्कृष्टविशुद्धि से अनन्तगुणी होकर जघन्य-विशुद्धियों के अन्त को प्राप्त होती है। इस स्थान के प्राप्त होने तक ले जाना चाहिए[1]।

द्विचरम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की उत्कृष्टविशुद्धि से ऊपर अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय की जघन्यविशुद्धि (५४ की जघन्यविशुद्धि) अनन्तगुणी है। इससे अन्तिम निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय की उत्कृष्टविशुद्धि (५४ की उत्कृष्टविशुद्धि) अनन्तगुणी है। इस प्रकार समनन्तर पूर्व समयों को देखते हुए उत्कृष्टविशुद्धि ही अनन्तगुणी ले जानी चाहिए। उत्कृष्टविशुद्धि का यह क्रम अधःप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए[2]। यह विषय इस चित्र से स्पष्ट हो जाता है—

विशेष—इस चित्र में १ से १६ तक की संख्या अधःप्रवृत्तकरण के समयों की सूचक है। कोष्ठक के भीतर की संख्या निर्वर्गणाकाण्डक में चार-चार समय होते हैं। 'ज' जघन्य का और 'उ' उत्कृष्ट का सूचक है। १, ४० आदि संख्या जघन्य परिणाम का प्रमाण प्रगट करती है। १६२, २०५ आदि संख्या उत्कृष्ट परिणाम के प्रमाण की सूचक है।

जघन्य से अन्य जघन्य, जघन्य से उत्कृष्ट, उत्कृष्ट से जघन्य, उत्कृष्ट से अन्य उत्कृष्ट इन सब स्थानों में विशुद्धि अनन्तगुणी बढ़ती है।

---
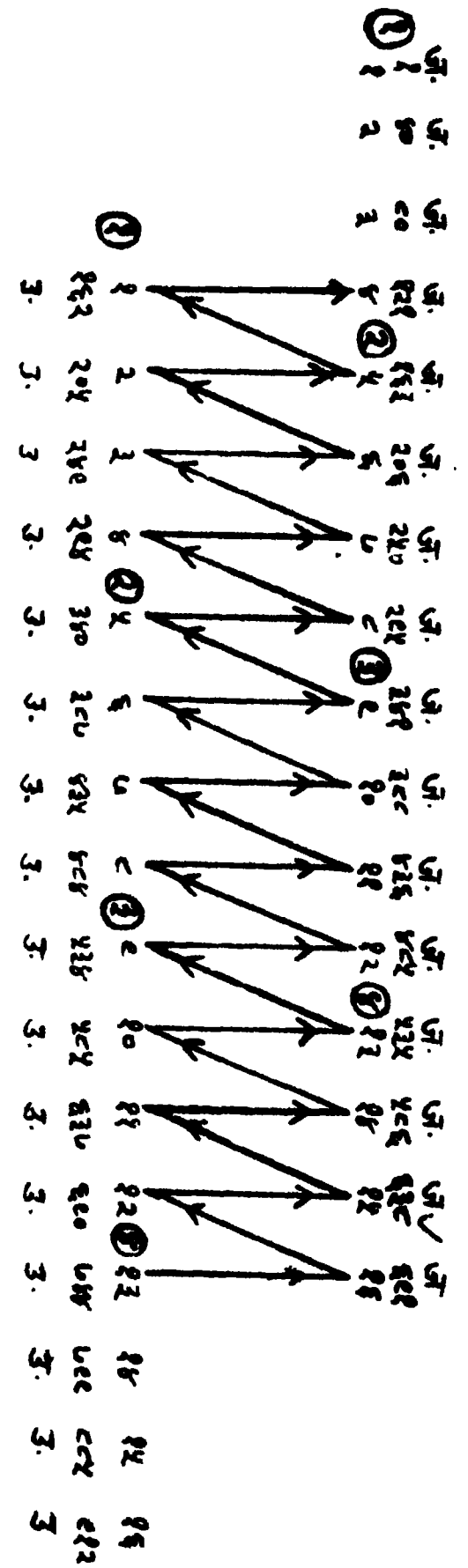
१. ज.ध.पु. १२ पृ. २४६ से २४९ तक। २. ज.ध.पु. १२ पृ. २५०।

पुनरुक्त प्रथमस्थान और
अन्तिम समय के अन्य दो स्थान

५४ ५५ ५६
५३
५२
५१
५०
४९
४८
४७
४६
४५
४४
४३
४२
४१
४०

पुनरुक्त अन्तिम स्थान और
प्रथम समय के अन्य दो स्थान

५६
५५
५४
५३
५२
५१
५०
४९
४८
४७
४६
४५
४४
४३
४० ४१ ४२

अधःप्रवृत्तकरण में प्रथम समय का प्रथम-खण्ड और अन्तिम समय का अन्तिमखण्ड अपुनरुक्त है तथा शेष सभी खण्ड पुनरुक्त हैं।

इस प्रकार अधःप्रवृत्तकरण का कथन पूर्ण हुआ। अब अपूर्वकरण का कथन करते हैं—

अपूर्वकरण गुणस्थान

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥५०॥

गाथार्थ—अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा अधःप्रवृत्तकरण को व्यतीतकर प्रतिसमय विशुद्ध होता हुआ अपूर्वकरण का आश्रय करता है ॥५०॥

विशेषार्थ—सातिशय-अप्रमत्त अपने योग्य अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा बढ़ता हुआ उन विशुद्ध परिणामों से सातादि प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानीय अनुभाग का

प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणा बन्ध करता हुआ, असाता आदि अप्रशस्त प्रकृतियों के द्विस्थानिक अनुभाग को प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन बाँधता हुआ संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण करके इन चार आवश्यकों के द्वारा अधःप्रवृत्तकरण को व्यतीत कर दोनों श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी के अपूर्वकरण में प्रवेश करता है जहाँ प्रथम समय से ही अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं, वही अपूर्वकरण गुणस्थान है।

अपूर्वकरण का निरुक्त्यर्थ

[1]एदह्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्मा होंति अपुव्वा हु परिणामा ।।५१।।

[2]भिण्णसमयट्ठियेहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ।।५२।।

गाथार्थ—इस गुणस्थान के उत्तरोत्तर समयों में स्थित जीवों के परिणाम विसदृश होते हैं अर्थात् समानरूप नहीं होते। उपरिम समय में जो विशुद्धपरिणाम होते हैं वे परिणाम अधस्तन पूर्व-समय में प्राप्त नहीं होते इसलिए प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं ।।५१।। अपूर्वकरण के सर्वकाल में भिन्न समयों में स्थित जीवों के परिणाम सदृश नहीं होते, किन्तु एक ही समय में स्थित जीवों के परिणाम सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ।।५२।।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धि संयतों में सामान्य से उपशामक व क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं। करण शब्द का अर्थ परिणाम है और जो पूर्व समयों में नहीं हुए वे अपूर्व परिणाम हैं। नाना जीवों की अपेक्षा अपूर्वकरण की आदि से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात-लोकप्रमाण परिणाम वाला यह गुणस्थान है। इस गुणस्थान में विवक्षित समयवर्ती जीवों के परिणाम अन्य समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्य होने से अपूर्व हैं। विवक्षित समयवर्ती जीवों के परिणामों से भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय में होने वाले अपूर्व परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण में अपूर्व विशेषण द्वारा अधःकरण का निषेध किया गया है, क्योंकि जहाँ पर उपरितन समयवर्ती जीवों के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणामों के साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं, ऐसे अधःप्रवृत्त में होने वाले परिणामों में अपूर्वता नहीं पायी जाती है।

शङ्का—अपूर्वशब्द 'पहले कभी नहीं प्राप्त हुए' अर्थ का वाचक है, असमान अर्थ का वाचक नहीं है, इसलिए यहाँ पर अपूर्व शब्द का अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिए अपूर्व और असमान इन दोनों का अर्थ भी एक ही समझना चाहिए।

शङ्का—अपूर्वकरणरूप परिणामों में प्रवेश करने वाले कौन जीव होते हैं?

समाधान—अपूर्वकरण परिणामों में प्रवेश करने वाले सातिशय-अप्रमत्तसंयतजीव होते

---

१. ध.पु. १ पृ. १८३ गा. ११७; प्रा.पं.सं.अ. १ गा. १८। २. ध.पु. १ पृ. १८३ गा. ११६; प्रा.पं.सं.अ. १ गा. १७।

हैं[1]। अपूर्वकरण को प्राप्त होने वाले उन सब क्षपक और उपशामकजीवों के परिणामों में अपूर्वपने की अपेक्षा समानता पाई जाती है, इसलिए वे सब मिलकर एक अपूर्वकरणगुणस्थान होता है[2]।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।
कमउड्ढापुव्वगुणे अणुकट्टी णत्थि णियमेण ।।५३।।

[3]**तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।**
मोहस्सपुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया ।।५४।।

गाथार्थ—अपूर्वकरण गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है और इसमें परिणाम क्रमशः प्रतिसमय बढ़ते हुए असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समानवृद्धि को लिये हुए हैं। इस अपूर्वकरण गुणस्थान में नियम से अनुकृष्टि-रचना नहीं होती ।।५३।। अपूर्व परिणामों को धारण करने वाले जीव मोहनीय कर्म की (शेष प्रकृतियों का) क्षपण अथवा उपशमन करने में उद्यत होते हैं। अज्ञानरूपी अन्धकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है ।।५४।।

विशेषार्थ—(१) अपूर्वकरणगुणस्थान का काल यद्यपि सामान्य से अन्तर्मुहूर्त कहा गया है तथापि अधःप्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त काल से संख्यातगुणा हीन है। (२) अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों की अपेक्षा अपूर्वकरण के परिणाम असंख्यातलोक गुणे हैं। (३) अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक वे परिणाम प्रतिसमय क्रम से बढ़ते गये हैं अर्थात् संख्या व विशुद्धता दोनों ही प्रतिसमय बढ़ती गई हैं। अपूर्वकरण के प्रतिसमय परिणामों की खण्ड-रचना नहीं होती, क्योंकि इस गुणस्थान में उपरितन समयवर्ती जीवों के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणामों के सदृश नहीं होते हैं। अधःप्रवृत्तकरण में उपरितन समय के परिणाम अधस्तन समयों के परिणामों के सदृश होते हैं इसलिए अधःप्रवृत्तकरण में परिणामों की अनुकृष्टि-रचना होती है।

अपूर्वपरिणामों को धारण करने वाले जीव अर्थात् आठवें गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीयकर्म की शेष २१ प्रकृतियों का क्षय करने में अथवा उपशम करने में उद्यमशील होते हैं।

शङ्का—आठवें गुणस्थान में न तो कर्मों का क्षय ही होता है और न उपशम ही होता है फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवों को क्षपण व उपशमन में उद्यमशील कैसे कहा गया है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावी अर्थ में भूतकालीन अर्थ के समान उपचार कर लेने पर आठवें गुणस्थान में यह संज्ञा बन जाती है।

शङ्का—इस प्रकार मानने से तो अतिप्रसङ्ग दोष प्राप्त होगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धक मरण के अभाव में अर्थात् आयु के शेष रहने पर नियम से चारित्रमोह का उपशम करने वाले तथा चारित्रमोह का क्षय करने वाले, अतएव उपशमन और क्षपण के सन्मुख हुए जीव के 'क्षपण व उपशमन में उद्यमशील' यह संज्ञा बन जाती है।

---

१. ध.पु. १ पृ. १८०। २. ध.पु. १ पृ. १८१। ३. ध.पु. १ पृ. १८३ सूत्र १६ की टीका।

शङ्का—क्षपक श्रेणी में होने वाले परिणामों में कर्मों का क्षपण कारण है और उपशम श्रेणी में होने वाले परिणामों में कर्म का उपशमन कारण है, इसलिए इन भिन्न-भिन्न परिणामों में एकता कैसे बन सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि क्षपक और उपशामक जीवों के होने वाले उन परिणामों में अपूर्वता की अपेक्षा समानता पायी जाती है, इससे उनके एकता बन जाती है ।[1]

अपूर्वकरण के परिणामों में प्रतिसमय क्रम से वृद्धि को स्पष्ट करने के लिए अंकसंदृष्टि इस प्रकार है—

अपूर्वकरण के परिणामों की संख्या अङ्कसंदृष्टि में ४०९६ है । काल=समय है । प्रथम समय के परिणाम ४५६, द्वितीयादि समयों के परिणाम क्रमश: ४७२–४८८–५०४–५२०–५३६–५५२–५६८ हैं । इस प्रकार प्रतिसमय परिणामों में वृद्धि होती जाती है ।

णिद्दापयले णट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया ।
खवयं ढुक्के खवया णियमेण खवंति मोहं तु ।।५५।।

गाथार्थ--जिनके निद्रा और प्रचला का बन्ध नष्ट हो चुका है और आयु (अवशेष) है वे उपशामक जीव मोह का उपशमन करते हैं तथा क्षपकश्रेणी आरोहण करने वाले क्षपक नियम से मोह का क्षय करते हैं ।।५५।।

विशेषार्थ--अपूर्वकरणगुणस्थान के सात भाग होते हैं । उन सात भागों में से प्रथम भाग में दर्शनावरण कर्म की निद्रा और प्रचला प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, क्योंकि स्त्यानगृद्धित्रिक की तो बन्धव्युच्छित्ति सासादन नामक द्वितीय गुणस्थान में हो जाती है । अपूर्वकरण के छठे भाग में परभविक (परभव में उदय में आने वाली) नामकर्म की तीस प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है । अन्तिम-सातवें भाग में हास्य-रति, भय-जुगुप्सा इन चार नोकषाय की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह नोकषायों का उदय-विच्छेद भी होता हैं ।[2] उपशमश्रेणी आरोहक के अपूर्वकरण के प्रथम भाग तक मरण नहीं होता है, किन्तु प्रथम भाग के पश्चात् मरण भजनीय है । यदि मरण नहीं होता तो चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों का नियम से उपशम करता है और यदि मरण हो जाता है तो नियम से वैमानिक देवों में असंयत सम्यग्दृष्टि होता है । क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों का मरण नहीं होता, वे तो नियम से २१ प्रकृतियों का क्षय करते हैं ।

इस अपूर्वकरणगुणस्थान में चार नवीन आवश्यक प्रारम्भ हो जाते हैं- १. स्थितिकाण्डकघात २. अशुभकर्मों का अनन्त बहुभागप्रमाण अनुभागकाण्डकघात, ३. प्रतिसमय गुणश्रेणीनिर्जरा और ४. गुणसंक्रमण । एक स्थितिकाण्डकघात के काल में संख्यात हजार अनुभागकाण्डकघात होते हैं ।

अनिवृत्तिकरणगुणस्थान का स्वरूप

[3]एक्कम्हि कालसमए संठाणादीहि जह णियट्टंति ।
ण णियट्टंति तह चिय परिणामेहि मिहो जे हु ।।५६।।

---

१. ध. पु. १ पृ. १८१-१८२ सूत्र १६ की टीका । २. ज. ध. पु. १३ पृ. २२७-२२८ । ३. ध. पु. १ पृ. १८६ सूत्र १७ की टीका; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. २० ।

[1]होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा ।
विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहिं णिद्दड्ढ-कम्म-वणा ।।५७।। (जुम्मम्)

गाथार्थ—एक ही काल (समय) में अवस्थित जीवों के जिस प्रकार संस्थान आदि की अपेक्षा भेद है, उसी प्रकार वे जीव परिणामों की अपेक्षा परस्पर निवृत्ति (भेद) को प्राप्त नहीं होते, अतएव वे अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं । उनके प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ता हुआ एकसा ही परिणाम होता है । वे परिणाम अति विमल ध्यानरूपी अग्नि की शिखाओं से कर्मरूप वन को जला डालते हैं ।।५६-५७।।

विशेषार्थ—समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को अनिवृत्ति कहते हैं । अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है, अतएव जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती, उन्हें अनिवृत्ति कहते हैं ।[2]

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाले जितने भी जीव हैं वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्यकाल सम्बन्धी किसी एक समय में विद्यमान होते हुए भी समान परिणाम वाले ही होते हैं और इसीलिए उन जीवों की गुणश्रेणी निर्जरा भी समान रूप से होती है । यदि एक समय स्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालों को विसदृश परिणाम वाला कहा जाता है तो जिस प्रकार एक समय स्थित अपूर्वकरण गुणस्थान वालों के परिणाम विसदृश होते हैं, अतएव उनको अनिवृत्ति यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार इन परिणामों को भी अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ।[3]

शङ्का—अपूर्वकरणगुणस्थान में भी कितने ही परिणाम इस प्रकार के होते हैं अतएव उन परिणामों को भी अनिवृत्ति संज्ञा प्राप्त होनी चाहिए ।

समाधान—नहीं, क्योंकि उनके निवृत्तिरहित होने का कोई नियम नहीं है ।

शङ्का—इस गुणस्थान में जीवों के परिणामों की जो भेदरहित वृत्ति बतलाई है वह समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की ही विवक्षित है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—'अपूर्वकरण' पद की अनुवृत्ति से ही यह सिद्ध होता है कि इस गुणस्थान में प्रथमादि समयवर्ती जीवों का द्वितीयादि समयवर्ती जीवों के साथ परिणामों की अपेक्षा भेद है । इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि 'अनिवृत्ति' पद का सम्बन्ध एकसमयवर्ती परिणामों के साथ ही है ।

शङ्का—जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जितने परिणाम होते हैं, यदि उतने ही गुणस्थान माने जावें तो व्यवहार ही नहीं चल सकता, इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियत संख्या वाले ही गुणस्थान कहे गये हैं ।

---

१. ध. पु. १ पृ. १८६ सूत्र १७ की टीका; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. २१ । २. ध. पु. १ पृ. १८३-१८४ ।
३. ध. पु. १ पृ. २१८ सूत्र २७ की टीका ।

इस गुणस्थान में जीव मोह की कितनी ही प्रकृतियों का उपशम करता है और कितनी ही प्रकृतियों का आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षा यह गुणस्थान औपशमिक है। कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है तथा कितनी ही प्रकृतियों का आगे क्षय करेगा, इस दृष्टि से यह क्षायिक भी है।

शङ्का—क्षपक का स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशामक का स्वतन्त्र गुणस्थान, इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस गुणस्थान के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों की समानता दिखलाने के लिए उन दोनों (क्षपक व उपशामक) में समानता बन जाती है अर्थात् उपशामक और क्षपक इन दोनों के अनिवृत्तिपने की समानता है[1]।

दसवें गुणस्थान तक सभी जीव कषायसहित होने के कारण, कषाय की अपेक्षा संयतों की असंयतों के साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिए दसवें गुणस्थान तक मंदबुद्धिजनों को संशय उत्पन्न होने की सम्भावना है, अतः संशय-निवारण के लिए संयत विशेषण देना आवश्यक है[2]।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में सभी कर्मों के अप्रशस्तउपशामनाकरण, निधत्तीकरण और निकाचनाकरण युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उनमें से जो कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के योग्य होकर पुनः उदीरणा के विरुद्ध स्वभावरूप से परिणत होने के कारण उदयस्थिति में अपकर्षित होने के अयोग्य है, वह अप्रशस्त उपशामना की अपेक्षा उपशान्त कहलाता है और उसी का नाम अप्रशस्तोपशामनाकरण है। इसी प्रकार जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षण की अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुनः उदय और परप्रकृति संक्रमणरूप न हो सके, वह निधत्तीकरण है। जो कर्म उदयादि (उदय, परप्रकृतिसंक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण) चारों के अयोग्य होकर अवस्थान में प्रतिबद्ध है, वह अवस्थान विशेष निकाचनकरण है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से पूर्व ये तीनों करण प्रवृत्तमान थे, किन्तु अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय में उनकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इन तीनों करणों के व्युच्छिन्न होने पर सभी कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण, उदीरणा और परप्रकृतिसंक्रमण के योग्य हो जाते हैं।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में स्थितिबन्ध क्रम से घटते हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हो जाता है। तत्पश्चात् संख्यात हजार स्थितिकाण्डकों के व्यतीत होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मों की प्रकृतियों का अनुभागबन्ध क्रमशः देशघाती होने लगता है। देशघाती करने के बाद संख्यात हजार स्थितिबन्धों के व्यतीत होने पर अन्तरकरण होता है। इतनी विशेषता है कि क्षपकश्रेणी में जब अनिवृत्तिकरणगुणस्थान का संख्यात बहुभाग काल व्यतीत हो जाता है और संख्यातवाँ भाग शेष रह जाता है तब अन्तरकरण से पूर्व क्षपक दर्शनावरण की स्त्यानगृद्धित्रिक का और नामकर्म की नरकगति आदि १३, इन सर्व (१३+३) १६ प्रकृतियों का क्षय करता है, उसके पश्चात् प्रत्याख्यानावरण व अप्रत्याख्यानावरण रूप क्रोध, मान, माया, लोभ इन ८ कषायों का क्षय करता है, किन्तु कषायप्राभृत का उपदेश तो यह है कि पहले आठ कषायों का क्षय करता है, तत्पश्चात् १६ प्रकृतियों का क्षय करता है। इन दोनों प्रकार के वचनों का संग्रह करने

---

१. ध. पु. १ पृ. १८४, १८५, १८६ सूत्र १७ की टीका। २. ध. पु. १ पृ. १८५।

वाले के पापभीरुता नष्ट नहीं होती है । इन दोनों वचनों में से कौनसा सत्य है, यह केवली या श्रुत-केवली ही जान सकते हैं, इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता ।

अन्तरकरण करने के पश्चात् क्षपक क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, संज्वलनमाया, संज्वलन बादरलोभ का अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में क्षय करता है, किन्तु उपशामक इन प्रकृतियों का उपशम करता है, इतनी विशेषता है कि संज्वलन के साथ साथ प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का भी उपशम करता है ।[1]

अनिवृत्तिकरणगुणस्थान के अन्तिम-भाग में होने वाले कार्य

पुव्वापुव्वप्फड्डयबादरसुहुमगयकिट्टिअणुभागा ।
हीणकमाणंतगुणेणवराद्रु वरं च हेट्ठस्स ।।५८।।

गाथार्थ—पूर्वस्पर्धक से अपूर्व स्पर्धकों का अनुभाग, अपूर्वस्पर्धकों से बादरकृष्टि का अनुभाग और बादरकृष्टि से सूक्ष्मकृष्टि का अनुभाग क्रमशः अनन्तगुणा हीन होता है । पूर्व-पूर्व के जघन्य से उत्तर-उत्तर का उत्कृष्ट अनुभाग और अपने उत्कृष्ट से अपना जघन्य अनुभाग भी अनन्तगुणे हीनक्रम से होता है ।।५८।।

विशेषार्थ—अवेदी होने के प्रथम समय में चार संज्वलन कषायों का अनुभाग सत्त्व इसप्रकार है—मानसंज्वलन में अनुभाग सबसे कम है, उससे क्रोध-संज्वलन में विशेष अधिक है, उससे माया-संज्वलन में विशेष अधिक है और उससे लोभ-संज्वलन में विशेष अधिक है । यहाँ पर विशेष अधिक का प्रमाण अनन्तस्पर्धक है । उस प्रथम समय में अश्वकर्णकरण करने के लिए जो अनुभागकाण्डक होता है उस अनुभागकाण्डक में क्रोध के स्पर्धक स्तोक हैं, इससे मान के स्पर्धक विशेष अधिक हैं, इससे माया के स्पर्धक विशेष अधिक हैं, इससे लोभ के स्पर्धक विशेष अधिक हैं। घात करने के लिए ग्रहण किये गये स्पर्धकों से अवशिष्ट अनुभागस्पर्धक लोभ संज्वलन में अल्प हैं, माया में उससे अनन्तगुणित हैं, मान में उससे अनन्तगुणित हैं और क्रोध में उससे अनन्तगुणित हैं । यह अश्वकर्णकरण के प्रथम समय की प्ररूपणा क. पा. चूर्णिसूत्र ४७६ से ४८९ (पृ. ७८८) तक है। अश्वकर्णकरण, आदोलकरण अपवर्तनोद्वर्तनाकरण ये तीनों एकार्थक नाम हैं ।

अश्वकर्ण अर्थात् जो परिणाम घोड़े के कान के समान क्रम से हीयमान होते हुए चले जाते हैं, उन परिणामों की अश्वकर्णकरण संज्ञा है । आदोल नाम हिंडोले का है । जिस प्रकार हिंडोले के स्तम्भ और रस्सी के अन्तराल में त्रिकोण आकार घोड़े के कर्ण (कान) के समान दिखता है, इसी प्रकार यहाँ पर भी क्रोधादि संज्वलन कषाय के अनुभाग का सन्निवेश भी क्रम से घटता हुआ दिखता है, इसलिए इसे आदोलकरण भी कहते हैं। क्रोधादि संज्वलन कषायों का अनुभाग हानिवृद्धिरूप से दिखाई देने के कारण इसको अपवर्तनोद्वर्तनाकरण भी कहते हैं। (क. पा. सु. पृ. ७८७)

अश्वकर्णकरण करने के उसी प्रथम समय में चारों संज्वलन कषायों के अपूर्वस्पर्धक करता है। [क. पा. चूर्णिसूत्र ४९०] जिन स्पर्धकों को पहले कभी प्राप्त नहीं किया, किन्तु जो क्षपकश्रेणी में

---

१. ध. पु. १ सूत्र २७ की टीका।

ही अश्वकर्णकरण काल में प्राप्त होते हैं और जो संसारावस्था में प्राप्त होने वाले पूर्वस्पर्धकों से अनन्तगुणित हानि के द्वारा क्रमशः हीयमान स्वभाव वाले हैं, वे अपूर्वस्पर्धक हैं ।

उन अपूर्वस्पर्धकों की प्ररूपणा करते हैं--सर्व अक्षपक जीवों के सभी कर्मों के देशघाती स्पर्धकों की आदिवर्गणा तुल्य है । सर्वघातियों में भी केवल मिथ्यात्व को छोड़कर शेष सर्वघाती कर्मों की आदिवर्गणा तुल्य है, इन्हीं का नाम पूर्वस्पर्धक है । तत्पश्चात् वही प्रथमसमयवर्ती अवेदी जीव उन पूर्वस्पर्धकों से चारों संज्वलन कषायों के अपूर्वस्पर्धकों को करता है । [क. पा. चूर्णिसूत्र ४६३–६४] यद्यपि यह प्रथम समयवर्ती अवेदी क्षपक चारों ही कषायों के अपूर्वस्पर्धकों को एक साथ ही निर्वृत्त करता है तथापि प्रथम लोभ के अपूर्वस्पर्धक करने का विधान कहते हैं-संज्वलनलोभ के पूर्वस्पर्धकों से प्रदेशाग्र के असंख्यातवें भाग को ग्रहण कर प्रथम देशघाती स्पर्धक के नीचे अनन्तवें भाग में अन्य अपूर्वस्पर्धक निर्वृत्त किये जाते हैं । वे यद्यपि गणना की अपेक्षा अनन्त हैं, तथापि प्रदेश गुणहानि-स्थानान्तर के स्पर्धकों के असंख्यातवें भाग का जितना प्रमाण है, उतने प्रमाण वे अपूर्वस्पर्धक होते हैं ।[1] अर्थात् पूर्वस्पर्धकों के प्रथम (जघन्य अनुभाग वाले) देशघाती स्पर्धकों की आदिवर्गणा में जितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं उन अविभागप्रतिच्छेदों के अनन्तवें भाग मात्र ही अविभागप्रतिच्छेद सबसे अन्तिम अपूर्वस्पर्धक की अन्तिमवर्गणा में होते हैं । इस प्रकार से निर्वृत्त किये गये अपूर्वस्पर्धकों का प्रमाण प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर के भीतर जितने स्पर्धक होते हैं, उनके असंख्यातवें भाग मात्र बतलाया गया है । पूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा एक-एक वर्गणा विशेष से हीन होती हुई जिस स्थान पर दुगुण हीन होती है, वह एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर है ।[2]

प्रथम समय में जो अपूर्वस्पर्धक निर्वृत्त किये गये हैं उनमें प्रथमस्पर्धक की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेदाग्र अल्प हैं । द्वितीय स्पर्धक की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेदाग्र अनन्त बहुभाग से अधिक हैं । द्वितीय स्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों से तृतीय स्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद कुछ कम द्वितीय भाग से अधिक हैं । तृतीय स्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों से चतुर्थस्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद कुछ कम तृतीय भाग से अधिक हैं । इस प्रकार से जब तक जघन्य परीतासंख्यातप्रमाण स्पर्धकों में अन्तिम स्पर्धक की आदिवर्गणा अपने अनन्तर नीचे की आदिवर्गणा से उत्कृष्ट संख्यातवें भाग से अधिक होकर संख्यातवें भाग वृद्धि के अन्त को न प्राप्त हो जावें तब तक इसी प्रकार चतुर्थ पंचम आदि भाग अधिक क्रम से ले जाना चाहिए । इससे आगे (आदि से लेकर) जब तक जघन्य परीतानन्तप्रमाण स्पर्धकों में अन्तिम स्पर्धक की आदि वर्गणा अपने अनन्तर नीचे के स्पर्धक की प्रथमवर्गणा से उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातवें भाग से अधिक होकर असंख्यातवें भाग वृद्धि के अन्त को न प्राप्त हो जावे तब तक असंख्यातवें–भागवृद्धि का क्रम चालू रहता है । इसके आगे अन्तिम स्पर्धक तक अनन्तभाग वृद्धि का क्रम जानना चाहिए ।[3]

प्रथम समय में जो अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तित किये गये, उनमें प्रथम स्पर्धक की आदिवर्गणा अल्प है । इससे अन्तिम अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा अनन्तगुणी है । इससे पूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा अनन्तगुणी है । अश्वकर्णकरण के प्रथम समय में जिस प्रकार संज्वलन लोभ के अपूर्वस्पर्धकों की

---

१. कषायपाहुड़ चूर्णिसूत्र ४९६-९७ । २. क. पा. सुत्त पृ. ७९० ; ज. ध. पु. १४ पृ. ३३४ । ३. क. पा. चूर्णिसूत्र ४९८-५०० ।

प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार संज्वलन माया, मान और क्रोध के अपूर्वस्पर्धकों की भी प्ररूपणा करनी चाहिए।[1]

प्रथम समय में जो अपूर्वस्पर्धक निर्वृत्त किये गये हैं, उनमें क्रोध के अपूर्वस्पर्धक सबसे कम हैं, इससे मान के अपूर्वस्पर्धक विशेष अधिक हैं, इससे माया के अपूर्वस्पर्धक विशेष अधिक हैं और लोभ के अपूर्वस्पर्धक विशेष अधिक हैं। यहाँ सर्वत्र विशेष का प्रमाण अनन्तवाँ भाग है।[2]

प्रथम समय में निर्वर्तित उन्हीं अपूर्वस्पर्धकों के लोभ की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेदाग्र अल्प हैं, इससे माया की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद विशेष अधिक हैं। इससे मान की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद विशेष अधिक हैं और इससे क्रोध की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद विशेष अधिक हैं। इस प्रकार चारों कषायों के जो अपूर्वस्पर्धक हैं उनमें अन्तिम अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद चारों ही कषायों के परस्परतुल्य और अनन्तगुणित हैं।[3]

क. पा. चूर्णिसूत्र ५०५ से ५१४ तक के कथन को स्पष्ट करने के लिए अङ्क-संदृष्टि इस प्रकार है—क्रोधादि चारों कषायों के अपूर्वस्पर्धकों की संख्या क्रमशः १६-२०-२४-२८ है और आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद क्रमशः १०५, ८४, ७०, ६० हैं। आदिवर्गणा को अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धकशलाकाओं से गुणा करने पर प्रत्येक कषाय के अन्तिम स्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण आ जाता है, जो परस्पर तुल्य होते हुए भी अपनी आदिवर्गणा की अपेक्षा अनन्तगुणित होता है।[4] यथा—

	क्रोध	मान	माया	लोभ
आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद	१०५	८४	७०	६०
अपूर्वस्पर्धक शलाका	×१६	×२०	×२४	×२८
अन्तिम स्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद	१६८०	१६८०	१६८०	१६८०

अश्वकर्णकरण के प्रथम समय में लता समान अनन्तवाँ भाग प्रतिबद्ध पूर्वस्पर्धकों में से और अधस्तन अपूर्वस्पर्धकों में से प्रदेशाग्र के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करके उदीरणा करने पर अनुभाग का अनन्तवाँ भाग उदयरूप से पाया जाता है और अनुदीर्ण भी रहता है, किन्तु उपरिम अनन्तबहुभाग अनुदीर्ण ही रहता है। बन्ध की अपेक्षा प्रथम अपूर्वस्पर्धक को आदि करके लता समान स्पर्धकों के अनन्तवें भाग तक अपूर्वस्पर्धक निर्वृत्त होते हैं। इतनी विशेषता है कि उदयस्पर्धकों की अपेक्षा ये बन्धस्पर्धक अनन्तगुणित हीन अनुभाग शक्तिवाले होते हैं।[5]

अब अश्वकर्णकरण के द्वितीय समय की प्ररूपणा की जाती है। यथा—अश्वकर्णकरण के द्वितीय समय में वही स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक और वही स्थितिबन्ध होता है, किन्तु अनुभागबन्ध अनन्तगुणा हीन होता है तथा गुणश्रेणी असंख्यातगुणी होती है। जिन अपूर्वस्पर्धकों को प्रथम समय में निर्वृत्त किया था, द्वितीय समय में उन्हें भी निर्वृत्त करता है और उनसे असंख्यातगुणित हीन

---

१. क. पा. चूर्णिसूत्र ४९१ से ५०४। २. क. पा. चूर्णिसूत्र ५०५ से ५०९। ३. क. पा. चूर्णिसूत्र ५१०-५१४।
४. क. पा. सुत्त पृ. ७९२। ५. क. पा. चूर्णिसूत्र ५२२ से ५२६।

अन्य भी अपूर्वस्पर्धकों को निर्वृत्त करता है।[1] तृतीय समय में भी यही क्रम है। विशेषता केवल यह है कि उन्हीं अपूर्वस्पर्धकों को तथा अन्य भी अपूर्वस्पर्धकों को निर्वृत्त करता है।[2] जिस प्रकार तृतीय समय में निरूपण किया गया है, उसी प्रकार प्रथम अनुभागकाण्डक का अन्तिम समय जब तक उत्कीर्ण न हो जावे तब तक यही क्रम जानना चाहिए।[3]

इसके अनन्तर काल में अनुभागसत्त्व में विशेषता इस प्रकार है-संज्वलनलोभ में अनुभागसत्त्व सबसे कम है, इससे संज्वलनमाया में अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है। इससे संज्वलनमान में अनुभाग-सत्त्व अनन्तगुणा है, इससे संज्वलनक्रोध में अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है। इससे आगे सम्पूर्ण अश्व-कर्णकरण के काल में भी यही क्रम है। अश्वकर्णकरण के प्रथम समय में निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धक बहुत हैं, द्वितीय समय में निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धक असंख्यातगुणित हीन हैं। तृतीय समय में निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धक द्वितीय समय से भी असंख्यातगुणित हीन हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर समयों में जो अपूर्व-अपूर्व स्पर्धक निर्वृत्त किये हैं वे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित हीन हैं। यहाँ पर गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है[4]।

अश्वकर्णकरण के अन्तिम समय में लोभ के प्रथम अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा में अविभाग-प्रतिच्छेद अल्प हैं, द्वितीय अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद दुगुने हैं। तृतीय अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा में अविभागप्रतिच्छेद तिगुने हैं। इसी प्रकार चतुर्थ-पंचमादि अपूर्व-स्पर्धकों की आदिवर्गणाओं में चौगुने, पाँचगुने आदि अविभागप्रतिच्छेद जानने चाहिए। इसी प्रकार माया, मान और क्रोध के अपूर्वस्पर्धकों में अविभागप्रतिच्छेद जानने चाहिए।[5]

अश्वकर्णकरण के अन्तिम समय में चारों संज्वलनों का स्थितिबन्ध आठ वर्ष और शेष कर्मों का स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्ष है। नाम, गोत्र और वेदनीय का स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष है और चारों घातिया कर्मों का स्थितिसत्त्व संख्यातहजार वर्ष है। इस प्रकार अश्वकर्णकरण का काल समाप्त होता है।[6]

यहाँ से आगे अनन्तर समय से लेकर बादरकृष्टिकरण काल है। हास्यादि छह कर्मों के संक्रमण को प्राप्त होने पर जो क्रोधवेदककाल है, उस क्रोधवेदककाल के तीन भाग हैं। उसमें से प्रथम त्रिभाग अश्वकर्णकरणकाल है, द्वितीयत्रिभाग कृष्टिकरण काल और तृतीयत्रिभाग कृष्टिवेदक काल है। अश्वकर्णकरण के समाप्त होने पर तदनन्तर काल में चारों संज्वलन कषायों का स्थिति-बन्ध अन्तर्मुहूर्त कम आठवर्ष और शेष कर्मों का स्थितिबन्ध पूर्व के स्थितिबन्ध से संख्यातगुणा हीन है। प्रथम समयवर्ती कृष्टिकारक क्रोध के पूर्व स्पर्धकों से और अपूर्वस्पर्धकों से प्रदेशाग्र का अपकर्षण कर क्रोध-कृष्टियों को करता है। इसी प्रकार मान के स्पर्धकों से प्रदेशाग्र का अपकर्षण कर मान-कृष्टियों को करता है, मायास्पर्धकों से प्रदेशाग्र का अपकर्षण कर मायाकृष्टियों को करता है और लोभस्पर्धकों से प्रदेशाग्र का अपकर्षण कर लोभकृष्टियों को करता है। ये सब चारों कषायों की कृष्टियाँ गणना की अपेक्षा एक स्पर्धक की वर्गणाओं के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं[7]।

---

१. क.पा. चूर्णिसूत्र ५२७ से ५३० तक। २. क.पा. चूर्णिसूत्र ५३७। ३. क.पा. चूर्णिसूत्र ५४१। ४. क.पा. चूर्णिसूत्र ५४२-५५३। ५. क.पा. चूर्णिसूत्र ५५४ से ५५७। ६. क.पा. चूर्णिसूत्र ५७९ से ५८२। ७. क. पा. चूर्णिसूत्र ५८३ से ५९०।

प्रथम समय में निर्वृत्त हुई प्रत्येक कषाय की तीन-तीन संग्रहकृष्टियों में से लोभ की जघन्य-कृष्टि सबसे मन्द अनुभागवाली है, द्वितीयकृष्टि अनन्तगुणी है। इस प्रकार अनन्तगुणितश्रेणी से प्रथम संग्रहकृष्टि की अन्तिम कृष्टि तक जानना चाहिए। प्रथम संग्रहकृष्टि की अन्तिमकृष्टि से द्वितीय संग्रहकृष्टि की जघन्यकृष्टि अनन्तगुणी है। यह गुणाकार बारहों ही संग्रहकृष्टियों के स्वस्थान गुणाकारों से अनन्तगुणा है। प्रथम संग्रहकृष्टि में जो क्रम है वही क्रम द्वितीयसंग्रहकृष्टि में भी है। प्रथमसंग्रहकृष्टि से द्वितीयसंग्रहकृष्टि की जघन्यकृष्टि के अनुभाग में जिस अनन्तगुणे का अनुपात था वही अनुपात द्वितीयसंग्रहकृष्टि से तृतीयसंग्रहकृष्टि की जघन्यकृष्टि में जानना चाहिए। इस प्रकार से लोभ की तीन संग्रहकृष्टियाँ हैं। लोभ की तृतीयकृष्टि की अन्तिमकृष्टि से माया का जघन्यकृष्टिगत अनुभाग अनन्तगुणा है। माया की भी उसी क्रम से तीन संग्रह कृष्टियाँ होती हैं। माया की तृतीय संग्रहकृष्टि की अन्तिम कृष्टि से मान की जघन्यकृष्टि का अनुभाग अनन्तगुणा है। मान की भी उसी क्रम से तीन संग्रहकृष्टियाँ होती हैं। मान की तृतीय संग्रहकृष्टि की अन्तिमकृष्टि से क्रोध की जघन्यकृष्टि का अनुभाग अनन्तगुणा है। क्रोध की भी तीन संग्रहकृष्टि उसी क्रम से होती हैं। क्रोध की तृतीयसंग्रहकृष्टि की अन्तिमकृष्टि से लोभ के अपूर्वस्पर्धकों की जघन्य (आदि) वर्गणा अनन्तगुणी है।[1]

कृष्टि सम्बन्धी गुणाकारों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है–एक-एक संग्रहकृष्टि में अनन्तकृष्टियाँ होती हैं और उनके अन्तर भी अनन्त होते हैं। उन अन्तरों की कृष्टिअन्तर यह संज्ञा है। संग्रह-कृष्टियों के और संग्रहकृष्टियों के अधस्तन उपरिम अन्तर ग्यारह होते हैं। उनकी संज्ञा '**संग्रहकृष्टि-अन्तर**' है। लोभ की प्रथम संग्रहकृष्टि में जघन्यकृष्टिअन्तर अर्थात् जिस गुणाकार से गुणित जघन्य-कृष्टि अपनी द्वितीयकृष्टि का प्रमाण प्राप्त करती है, वह गुणाकार सबसे कम है, इससे द्वितीयकृष्टि का अन्तर अनन्तगुणा है। इसी प्रकार अनन्तर-अनन्तररूप से जाकर अन्तिमकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। लोभ की ही द्वितीय संग्रहकृष्टि में प्रथमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर रूप से अन्तिमकृष्टि-अन्तर पर्यन्त अनन्तगुणा गुणाकार जानना चाहिए। पुनः लोभ की ही तृतीयसंग्रहकृष्टि में प्रथमकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर रूप से जाकर अन्तिमकृष्टि-अन्तर (गुणाकार) अनन्तगुणा है।[2]

यहाँ से आगे माया की प्रथम संग्रहकृष्टि में प्रथमकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तररूप से माया की भी तीनों संग्रहकृष्टियों के कृष्टि-अन्तर यथाक्रम से अनन्तगुणित-श्रेणी के द्वारा ले जाने चाहिए। यहाँ से आगे मान की प्रथम संग्रहकृष्टि में प्रथमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। इस प्रकार मान की भी तीनों संग्रहकृष्टियों के कृष्टि-अन्तर यथाक्रम से अनन्त-गुणितश्रेणी के द्वारा ले जाने चाहिए। यहाँ से आगे क्रोध की प्रथमसंग्रहकृष्टि में प्रथम कृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। इस प्रकार क्रोध की भी तीनों संग्रहकृष्टियों के कृष्टि-अन्तर यथाक्रम से अन्तिम अन्तर तक अनन्तगुणित श्रेणी के द्वारा ले जाने चाहिए।[3] इन स्वस्थान गुणाकारों के अन्तिम गुणाकार से लोभ की प्रथम संग्रहकृष्टि का अन्तर अनन्तगुणा है। इससे द्वितीय संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है और इससे तृतीय संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। लोभ और माया का अन्तर अनन्तगुणा है। माया का प्रथम संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इससे द्वितीय संग्रहकृष्टि

---

१. क.पा. चूर्णिसूत्र ५६१ से ६०७। २. क.पा. चूर्णिसूत्र ६०८ से ६२०। ३. क.पा. चूर्णिसूत्र ६२१-६२६।

अन्तर अनन्तगुणा है। इससे तृतीय संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। माया और मान का अन्तर अनन्तगुणा है। मान का प्रथमसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इससे द्वितीय संग्रहकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। इससे तृतीय संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। मान का और क्रोध का अन्तर अनन्तगुणा है। क्रोध का प्रथम संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इससे द्वितीय संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इससे तृतीय संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। क्रोध की अन्तिमकृष्टि से लोभ के अपूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा का अन्तर अनन्तगुणा है।[1]

बादरकृष्टिकरणकाल के अन्तिम समय में चारों संज्वलनों का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त से अधिक चार मास होता है, शेष कर्मों का स्थितिबन्ध संख्यात सहस्रवर्ष है। मोहनीयकर्म का स्थिति-सत्त्व संख्यात-सहस्र वर्षों से घटकर अन्तर्मुहूर्त से अधिक आठ वर्ष प्रमाण हो जाता है, शेष तीन घातिया कर्मों का स्थितिसत्त्व संख्यात हजार वर्ष है तथा नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म का स्थितिसत्त्व असंख्यात सहस्रवर्ष है।[2]

बादरकृष्टियों को करने वाला पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों का वेदन करता है, किन्तु कृष्टियों का वेदन नहीं करता है। संज्वलनक्रोध की प्रथम स्थिति में आवली मात्र शेष रहने पर कृष्टिकरण काल समाप्त हो जाता है। कृष्टिकरणकाल के समाप्त होने पर अनन्तर समय में कृष्टियों को द्वितीय स्थिति से अपकर्षण कर उदयावली के भीतर प्रवेश कराता है। उस समय में चारों संज्वलनों का स्थितिबन्ध चार माह है और स्थितिसत्त्व आठ वर्ष है, शेष तीन घातियाकर्मों का स्थितिबन्ध एवं स्थितिसत्त्व संख्यात सहस्रवर्ष है। वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म का स्थितिबन्ध संख्यात सहस्रवर्ष तथा स्थितिसत्त्व असंख्यात सहस्र वर्ष है।[3]

संज्वलनक्रोध का जो अनुभागसत्त्व एक समय कम आवली के भीतर उच्छिष्टावलिरूप से अवशिष्ट है वह सर्वघाती है, जो दो समय कम दो आवलिप्रमाण नवकसमय प्रबद्ध हैं, वे देशघाती हैं और उनका वह अनुभागसत्त्व स्पर्धकस्वरूप है; शेष सर्व अनुभागसत्त्व कृष्टिस्वरूप है।[4]

बादरकृष्टिवेदककाल के प्रथम समय में ही प्रथम संग्रहकृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति को करता है। उस समय में क्रोध की प्रथम संग्रहकृष्टि के असंख्यात बहुभाग उदीर्ण अर्थात् उदय को प्राप्त होते हैं तथा क्रोध की इसी प्रथम संग्रहकृष्टि के असंख्यात बहुभाग बन्ध को प्राप्त होते हैं, किन्तु शेष दो संग्रहकृष्टियाँ न बँधती हैं और न उदय को प्राप्त होती हैं।[5].

क्रोध की प्रथमकृष्टि का वेदन करने वाले की जो प्रथम स्थिति है, उस प्रथमस्थिति में एक समय अधिक आवली के शेष रहने पर क्रोध की प्रथमकृष्टि का चरमसमय वेदक होता है।[6] तदनन्तर समय में क्रोध की द्वितीय कृष्टिप्रदेशाग्र को अपकर्षित कर क्रोध की प्रथम स्थिति को करता है। उस समय क्रोध की प्रथम संग्रहकृष्टि के जो दो समय कम दो आवली प्रमाण नवक समयप्रबद्ध हैं वे और उदयावलि में प्रविष्ट जो प्रदेशाग्र हैं वे, प्रथमकृष्टि में शेष रहते हैं। उस

---

१. क.पा. चूर्णिसूत्र ६२७ से ६४२। २. क.पा. चूर्णिसूत्र ६७३ से ६७७। ३. क. पा. चूर्णिसूत्र ६७८ से ६८५। ४. क. पा. चूर्णिसूत्र ६८६ से ६८८। ५. क. पा. चूर्णिसूत्र ६९१-९२। ६. क. पा. चूर्णिसूत्र ११२९ व ११३२।

समय क्रोध की द्वितीयकृष्टि का प्रथम समय वेदक होता है।[१]

शङ्का—जिस प्रकार क्रोध की प्रथम कृष्टि का वेदन करने वाला चारों 'कषायों' की प्रथम कृष्टियों को बाँधता है, उसी प्रकार क्रोध की द्वितीयकृष्टि का वेदन करने वाला क्या चारों ही कषायों की द्वितीयकृष्टियों को बाँधता है अथवा नहीं बाँधता है?[२]

समाधान—जिस कषाय की जिस कृष्टि का वेदन करता है उस कषाय की उस कृष्टि को बाँधता है तथा शेष कषायों की प्रथम कृष्टियों को बाँधता है।[३]

क्रोध की द्वितीय कृष्टि का वेदन करने वाले क्षपक के जो प्रथमस्थिति है, उस प्रथम स्थिति में आवली और प्रत्यावली काल के शेष रह जाने पर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उसी प्रथम स्थिति में एक समय अधिक आवली के शेष रहने पर उस समय क्रोध की द्वितीयकृष्टि का चरमसमयवर्ती वेदक होता है। उस समय में चारों संज्वलन कषायों का स्थितिबन्ध दो मास और कुछ कम बीस दिवस प्रमाण है, शेष घातिया कर्मों का स्थितिबन्ध वर्षपृथक्त्वप्रमाण है, शेष कर्मों का स्थितिबन्ध संख्यात सहस्र वर्ष प्रमाण है। उस समय चारों संज्वलनों का स्थितिसत्त्व पाँच वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम चार-मास प्रमाण है; शेष तीन घातिया कर्मों का स्थितिसत्त्व संख्यात सहस्रवर्ष प्रमाण है। नाम-गोत्र-वेदनीयकर्म का स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष प्रमाण है।[४]

तदनन्तर समय में क्रोध की तृतीय कृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण कर प्रथमस्थिति को करता है। उस समय में क्रोध की तृतीय संग्रहकृष्टि की अन्तर कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग उदीर्ण होते हैं और उन्हीं के असंख्यात बहुभाग बँधते हैं। इतनी विशेषता है कि उदीर्ण होने वाली अन्तरकृष्टियों से बँधने वाली अन्तरकृष्टियों का परिमाण विशेष हीन होता है।[५]

क्रोध की तृतीयकृष्टि को वेदन करने वाले की प्रथम स्थिति में एक समय अधिक आवली के शेष रहने पर चरम समयवर्ती क्रोध वेदक होता है और उसी समय में क्रोधसंज्वलन की जघन्य स्थिति का उदीरक होता है। उस समय चारों संज्वलन कषायों का स्थितिबन्ध दो मास है और स्थिति-सत्त्व पूर्ण चार वर्ष प्रमाण है।[६]

तदनन्तर समय में मान की प्रथमकृष्टि का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति को करता है। यहाँ पर जो संज्वलनमान का सर्ववेदक काल है, उस वेदक काल के त्रिभाग मात्र प्रथमस्थिति है। तब मान की प्रथम संग्रहकृष्टि को वेदन करने वाला उस प्रथम संग्रहकृष्टि की अन्तरकृष्टियों के असंख्यात बहुभाग वेदन करता है और तब ही उन उदीर्ण हुई कृष्टियों से विशेष हीन कृष्टियों को बाँधता है तथा शेष कषायों की प्रथम संग्रहकृष्टियों को ही बाँधता है।[७] मान की प्रथम संग्रह कृष्टि को वेदन करने वाले की जो प्रथम स्थिति है, उसमें जब एक समय अधिक आवलीकाल शेष रहता है तब तीनों संज्वलन कषायों का स्थितिबन्ध एक मास और अन्तमुर्हूर्त कम बीस दिवस है तथा स्थितिसत्त्व तीन वर्ष और अन्तर्मुहूर्तकम चार मास है।[८]

---

१. क. पा. चूर्णिसूत्र ११३६ से ११४१। २. क. पा. चूर्णिसूत्र ११५७। ३. क. पा. चूर्णिसूत्र ११६०। ४. क.पा. चूर्णिसूत्र ११७५ से ११८२। ५. क.पा. चूर्णिसूत्र ११८३ से ११८५। ६. क.पा. चूर्णिसूत्र ११८७ से ११९०। ७. क.पा. चूर्णिसूत्र ११९१ से ११९५। ८. क.पा. चूर्णिसूत्र ११९८ से ११९९।

तदनन्तर काल में मान की द्वितीय संग्रहकृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति को करता है।[1] मान की द्वितीयकृष्टि को वेदन करने वाले के प्रथमस्थिति में जब एक समय अधिक आवली शेष रह जाता है, उस समय तीनों संज्वलन का स्थितिबन्ध एकमास और कुछ कम दस दिवस होता है तथा स्थितिसत्त्व दो वर्ष और कुछ कम आठ मास रह जाता है।[2]

तदनन्तर समय में मान की तृतीयकृष्टि से प्रदेशाग्र को अपकर्षित करके प्रथमस्थिति को करता है और उसी विधि से मान की तृतीयकृष्टि को वेदन करने वाले को प्रथमस्थिति में एक समय अधिक आवलीकाल शेष रह जाता है, उस समय वह मान का चरमसमय वेदक होता है। तब तीनों संज्वलनों का स्थितिबन्ध एक मास और स्थितिसत्त्व दो वर्ष होता है।[3]

तदनन्तर समय में माया की प्रथमकृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण कर प्रथमस्थिति को करता है और उसी विधि से माया की प्रथमकृष्टि को वेदन करने वाले की प्रथमस्थिति में एक समय अधिक आवलीकाल शेष रह जाता है, उस समय उन दोनों संज्वलनों का स्थितिबन्ध कुछ कम २५ दिवस और स्थितिसत्त्व एक वर्ष और कुछ कम आठ मास होता है।[4]

तदनन्तर काल में माया की द्वितीयकृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति को करता है। प्रथमस्थिति में एक समय अधिक आवली काल शेष रहने के समय दोनों संज्वलनों का स्थितिबन्ध कुछ कम बीस दिवस प्रमाण और स्थितिसत्त्व कुछ कम सोलह मास है।[5] तदनन्तर काल में माया की तृतीय कृष्टि से प्रदेशाग्र को अपकर्षित करके प्रथमस्थिति को करता है। उस प्रथमस्थिति में एक समय अधिक आवली काल शेष रहने पर माया का चरमसमयवर्ती वेदक होता है। उस समय दोनों संज्वलनों का स्थितिबन्ध अर्धमास और स्थितिसत्त्व एक वर्ष है, शेष तीन घातिया कर्मों का स्थितिबन्ध मासपृथक्त्व तथा स्थितिसत्त्व संख्यातसहस्रवर्ष है; तथा आयु बिना शेष तीन अघातिया कर्मों का स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष और स्थितिसत्त्व असंख्यात वर्ष है।[6]

तदनन्तर काल में लोभ की प्रथम संग्रहकृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति को करता है। लोभ की प्रथम स्थिति को वेदन करने वाले के जब एक समय अधिक आवली काल शेष रह जाता है तब लोभ का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है और स्थितिसत्त्व भी अन्तर्मुहूर्त है, तीन घातिया कर्मों का स्थितिबन्ध दिवसपृथक्त्व होता है, शेष कर्मों का स्थितिबन्ध वर्षपृथक्त्व होता है। घातिया कर्मों का स्थितिसत्त्व संख्यात सहस्रवर्ष और तीन अघातिया का स्थितिसत्त्व असंख्यात वर्ष है।[7]

तत्पश्चात् अनन्तर काल में लोभ की द्वितीयकृष्टि से प्रदेशाग्र का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति को करता है। उसी समय में लोभ की द्वितीय और तृतीयकृष्टि के प्रदेशाग्र को सूक्ष्म-साम्परायिक कृष्टिरूप करता है जिनका अवस्थान लोभ की तृतीयकृष्टि के नीचे है।[8]

संज्वलन लोभ कषाय के अनुभाग को बादर-साम्परायिक-कृष्टियों से भी अनन्तगुणित

---

१. क. पा. चूर्णिसूत्र १२००। २. क. पा. चूर्णिसूत्र १२०२। ३. क. पा. चूर्णिसूत्र १२०४ से १२०८। ४. क.पा. चूर्णिसूत्र १२०६ से १२१२ पृ. ८६०। ५. क.पा. चूर्णिसूत्र १२१३ से १२१६। ६. क.पा. चूर्णिसूत्र १२१७ से १२२४। ७. क.पा. चूर्णिसूत्र १२२५ से १२३२। ८. क.पा. चूर्णिसूत्र १२३३ से १२३६।

हानि के रूप से परिणमित कर अत्यन्त सूक्ष्म या मन्द अनुभागरूप से अवस्थित करने को **सूक्ष्म-साम्परायिक-कृष्टिकरण** कहते हैं। सर्व जघन्य बादरकृष्टि से सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टि का भी अनुभाग अनन्तगुणित हीन होता है। इसीलिए सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियों का स्थान लोभ की तृतीय कृष्टि के नीचे है। लोभ की द्वितीय कृष्टि का वेदन करने वाला प्रथम समय में ही सूक्ष्म-साम्परायिक कृष्टियों की रचना करना प्रारम्भ करता है। यदि संज्वलन लोभ के द्वितीय त्रिभाग में सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियों की रचना न करे तो तृतीय त्रिभाग में सूक्ष्मकृष्टि का वेदकरूप से परिणमन नहीं हो सकता।[1]

लोभ की द्वितीय कृष्टि के वेदन करनेवाले के जो प्रथमस्थिति है उस प्रथम स्थिति में जब एक समय अधिक आवली काल शेष रह जाता है उस समय वह चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायिक होता है। उसी समय में अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के अन्तिम समय में लोभ की संक्रम्यमाण चरम बादर साम्परायिक कृष्टि सामस्त्यरूप से सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियों में संक्रान्त हो जाती है। लोभ की द्वितीय बादरकृष्टि के एक समय कम दो आवली प्रमाण नवकसमयप्रबद्धों को छोड़कर तथा उदयावली-प्रविष्टद्रव्य को छोड़कर शेष सर्व कृष्टियाँ संक्रमण को प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् सूक्ष्मकृष्टि रूप परिणम जाती हैं।[2]

संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट कृष्टि भी प्रथम अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा अर्थात् अपूर्वस्पर्धकों की जघन्यवर्गणा के अनुभाग के अनन्तवें भाग है। इस प्रकार कृष्टियों में अनुभाग उत्तरोत्तर अल्प है। यतः जिसके द्वारा संज्वलन कषायरूप कर्म कृश किया जाता है उसकी कृष्टि यह संज्ञा सार्थक है। यह कृष्टिका लक्षण है।[3]

सभी संग्रहकृष्टियाँ और उनकी अवयव कृष्टियाँ समस्त द्वितीय स्थिति में होती हैं, किन्तु जिस कृष्टिके का वेदन होता है, उसका अंश प्रथमस्थिति में होता है।[4]

किसके कितनी संग्रहकृष्टियाँ बनती हैं, इसका स्पष्टीकरण—यदि क्रोध कषाय के उदय के साथ क्षपकश्रेणी चढ़ता है तो उसके बारह संग्रहकृष्टियाँ होती हैं। मानकषाय के उदय के साथ चढ़ने वाले के नौ संग्रहकृष्टियाँ होती हैं। माया के उदय के साथ क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले जीव के छह संग्रह-कृष्टियाँ होती हैं। लोभकषाय के उदय के साथ क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले के तीन संग्रहकृष्टियाँ होती हैं। एक-एक संग्रहकृष्टि की अवयव या अन्तरकृष्टियाँ अनन्त होती हैं। प्रत्येक कषाय में तीन-तीन संग्रहकृष्टियाँ होती हैं।[5]

कृष्टियों के वेदककालों का अल्पबहुत्व—अन्तिम बारहवीं कृष्टि को (सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमाकर) अन्तर्मुहूर्त तक वेदक करता है, तथापि उसका वेदक काल सबसे कम है। ग्यारहवीं कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। दसवीं कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। नवमी कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। आठवीं कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। सातवीं कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। छठी कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। पाँचवीं कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। चतुर्थकृष्टि का वेदक काल विशेष

---

१. जयधवल के आधार से। २. क. पा. चूर्णिसूत्र १२९५-९७। ३. क. पा. चूर्णिसूत्र ७३१ से ७३६। ४. क. पा. गाथा १६८। ५. क. पा. चूर्णिसूत्र ७०६ से ७१४।

अधिक है। तृतीयकृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। दूसरी कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। प्रथम कृष्टि का वेदककाल विशेष अधिक है। यहाँ सर्वत्र विशेष का प्रमाण स्व-कृष्टि-वेदककाल के संख्यातवें भाग है।[1]

उपशम व क्षपक श्रेणी सम्बन्धी क्रियाभेद—अश्वकर्णकरण, अपूर्वस्पर्धक व बादरकृष्टि इन क्रियाओं सम्बन्धी उपर्युक्त कथन क्षपकश्रेणी की अपेक्षा किया गया है। इतनी विशेषता है कि उपशमश्रेणी में अश्वकर्णकरण, अपूर्वस्पर्धककरण और बादरकृष्टिकरण नहीं होते, किन्तु लोभ वेदककाल के द्वितीय त्रिभाग में पूर्वस्पर्धकों से प्रदेशपुंज का अपकर्षण करके सबसे जघन्य लता समान अनुभाग वाले स्पर्धक की आदिवर्गणा के अविभाग-प्रतिच्छेदों से अनन्तगुणी हीन सूक्ष्म-कृष्टियों को करता है।[2]

इस द्वितीय विभाग का नाम कृष्टिकरणकाल है, क्योंकि यहाँ पर स्पर्धकगत अनुभाग का अपवर्तन कर कृष्टियों को करता है। अतः इस लोभवेदक काल के द्वितीय त्रिभाग की कृष्टिकरण-काल यह सार्थक संज्ञा है। जिस प्रकार क्षपक श्रेणी में (बादर) कृष्टियों को करता हुआ सभी पूर्व और अपूर्वस्पर्धकों का पूर्णरूप से अपवर्तन कर (बादर) कृष्टियों को ही स्थापित करता है, उस प्रकार यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी पूर्वस्पर्धकों के अपने-अपने स्वरूप को न छोड़कर उस प्रकार अवस्थित रहते हुए सब स्पर्धकों में से असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य का अपकर्षण कर एक स्पर्धक की वर्गणाओं के अनन्तवें भाग प्रमाण अनुभाग से सूक्ष्मकृष्टियों की रचना उपशम श्रेणी में करता है।[3]

तीव्रमन्द अनुभाग सम्बन्धी अल्पबहुत्व—तीव्र-मन्द अनुभाग की अपेक्षा जघन्यकृष्टि स्तोक है उससे दूसरी कृष्टि अनन्तगुणी है, उससे तीसरी कृष्टि अनन्तगुणी है। इस प्रकार अन्तिमकृष्टि पर्यन्त अनन्तगुणित श्रेणी रूप से क्रम चालू रहता है।[4]

कृष्टिकरणकाल के अवसान की प्ररूपणा—कृष्टिकरणकाल में आवली और प्रत्यावली के शेष रहने पर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। प्रत्यावली में एक समय शेष रहने पर लोभ संज्वलन की जघन्यस्थितिउदीरणा होती है। उसी समय स्पर्धकगत लोभ सम्बन्धी सर्व प्रदेश-पुंज उपशान्त हो जाता है, किन्तु कृष्टिगत प्रदेशपुंज अभी भी अनुपशान्त रहता है, क्योंकि सूक्ष्म-साम्पराय के काल में कृष्टियों की उपशामना देखी जाती है, यही अन्तिम समयवर्ती बादरसाम्परायिक संयत है, क्योंकि यहाँ पर अनिवृत्तिकरणकाल का अन्त देखा जाता है।[5]

इस प्रकार क्षपकश्रेणी सम्बन्धी पूर्व-अपूर्वस्पर्धक व बादर-सूक्ष्मकृष्टि और उपशमश्रेणी सम्बन्धी पूर्वस्पर्धक व सूक्ष्मकृष्टि का कथन पूर्ण हुआ।

दसवें गुणस्थान—सूक्ष्मसाम्पराय का स्वरूप

धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ सुहमसरागोत्ति णादव्वो॥ ५६॥

---

१. क. पा. चूर्णिसूत्र ८३७ से ८४६। २. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०७। ३. ज. ध. पु. १३ पृ ३१५। ४. क. पा. चूर्णिसूत्र २५८। ५. ज.ध. पु. १३ पृ. ३१८-३१६।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसंपराओ जहखादेणूणओ किंचि ।। ६० ।।

गाथार्थ—धुले हुए कसूम्भी वस्त्र में जिस प्रकार सूक्ष्म लालिमा रह जाती है उसी प्रकार (बादरकषाय का अभाव हो जाने पर भी) सूक्ष्म कषाय युक्त जीव या सूक्ष्मसराग है, ऐसा जानना चाहिए ।।५९।। जो उपशमक या क्षपक सूक्ष्म लोभ का वेदन कर रहा है वह सूक्ष्मसाम्परायिक चारित्र वाला है और वह यथाख्यात चारित्र से किंचित् न्यून है ।।६०।।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा यद्यपि राग-द्वेष रूप कषाय को धो दिया है अर्थात् उसका अभाव कर दिया है तथापि धुले हुए कसूम्भी वस्त्र के समान सूक्ष्म लोभरूप राग या कषाय शेष रह जाती है । उस सूक्ष्म लोभोदय के कारण उपशामक अथवा क्षपक का सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र यथाख्यातचारित्र से कुछ न्यून रह जाता है ।

सूक्ष्मकषाय को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं । उसमें जिन संयतों का प्रवेश हो गया है वे सूक्ष्मसाम्परायसंयत दसवें गुणस्थानवर्ती हैं । उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं । सूक्ष्मसाम्पराय की अपेक्षा उनमें भेद नहीं होने से उपशमक और क्षपक इन दोनों का एक ही गुणस्थान होता है । इस गुणस्थान में अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणों की अनुवृत्ति होती है । इसलिए ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्मसाम्पराय के साथ जोड़ लेने चाहिए अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानों से इस गुणस्थान की कोई भी विशेषता नहीं बन सकती ।[1]

इस गुणस्थान में जीव कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है, आगे क्षय करेगा और पूर्व में क्षय कर चुका है इसलिए इसमें क्षायिकभाव है तथा कितनी ही प्रकृतियों का उपशम करता है, आगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका है, इसलिए इसमें औपशमिकभाव है ।[2]

प्रथम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक के सूक्ष्मकृष्टियों के असंख्यात बहुभाग उदीर्ण होते हैं । संख्यातसहस्र स्थितिकाण्डकों के व्यतीत हो जाने पर मोहनीय कर्म का अन्तिम स्थितिकाण्डक उत्कीर्ण होता है । उस स्थितिकाण्डक के उत्कीर्ण हो जाने पर आगे मोहनीयकर्म का स्थितिघात नहीं होता, क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का जितना काल शेष है उतना ही मोहनीय कर्म का सत्त्व है और उस स्थितिसत्त्व को अधःस्थिति के द्वारा निर्जीर्ण करता है ।[3]

चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक के नाम और गोत्रकर्म का स्थितिबन्ध आठमुहूर्त प्रमाण होता है, वेदनीयकर्म का स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है, शेष तीन घातिया कर्मों का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है ।[4]

क्रोध के उदय से चढ़े हुए प्रथम समयवर्ती लोभवेदक बादरसाम्परायिक संयत के समस्त लोभ-वेदककाल के साधिक दो बटे तीन भाग प्रमाण ($\frac{२}{३}$) प्रथमस्थिति होती है । उस स्थिति का कुछ कम आधा सूक्ष्मसाम्परायिक संयतका काल है ।[5]

---

१. ध. पु. १ पृ. १८७ २. ध. पु १ पृ. १८८ । ३. क.पा. चूर्णिसूत्र १३३९ से १३४६ । ४. क. पा. चूर्णिसूत्र १३६८ से १३७० । ५. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२० ।

जो कृष्टियाँ प्रथम समय में की गई हैं उनके उपरिम असंख्यातवें भाग को छोड़कर और जो कृष्टियाँ अन्तिम समय में की गई हैं उनकी जघन्यकृष्टि से लेकर असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष कृष्टियाँ उदीर्ण हो जाती हैं।[1] इतनी विशेषता है कि प्रथम समय में की गई कृष्टियों में से नहीं वेदे जाने वाले उपरिम असंख्यातवें भाग के भीतर की कृष्टियाँ अपकर्षण द्वारा (अनुभाग की अपेक्षा) अनन्तगुणी हीन होकर मध्यमकृष्टिरूप से वेदी जाती हैं तथा अन्तिम समय में रची गई कृष्टियों में से जघन्यकृष्टि से लेकर नहीं वेदे जाने वाली अधस्तन असंख्यातवें भाग के भीतर की कृष्टियाँ अनन्तगुणी होकर मध्यमकृष्टि रूप से वेदी जाती हैं, क्योंकि अपने रूप से ही उनके उदय-अभाव का कथन किया गया है किन्तु मध्यम आकाररूप होकर उनके उदय की सिद्धि का प्रतिषेध नहीं है।[2]

प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक सभी कृष्टियों के प्रदेशपुंज को गुणश्रेणीरूप से उपशमाता है अर्थात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीरूप से कृष्टियों के प्रदेशपुञ्ज को उपशमाता है। प्रथम समय में सर्वकृष्टियों में पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो एक भाग प्राप्त हो उतने प्रदेशपुञ्ज को उपशमाता है। पुनः दूसरे समय में सर्व कृष्टियों में पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो एक भाग लब्ध आवे उतने प्रदेशपुञ्ज को उपशमाता है, किन्तु प्रथम समय में उपशमाये गये प्रदेशपुंज से असंख्यातगुणे प्रदेशपुंज को उपशमाता है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—परिणामों के माहात्म्य से जाना जाता है।

इस प्रकार सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान के अन्तिम समय को प्राप्त होने तक सर्वत्र गुणश्रेणी के क्रम से उपशमाता है।[3] दो समय कम दो आवली प्रमाण नवकसमयप्रबद्धों को भी उपशमाता है।[4] बादरसाम्परायिकसंयत ने पहले जो स्पर्धकगत उच्छिष्टावली छोड़ दी थी, वह कृष्टिरूप से परिणम कर स्तिबुकसंक्रम के द्वारा प्राप्त होती है। प्रथम समय में उदीर्ण हुई कृष्टियों के अग्राग्र से अर्थात् सबसे उपरिम कृष्टि से लेकर नीचे असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष कृष्टियाँ द्वितीय समय में उदीर्ण होती हैं।

शंका—ऐसा किस कारण से है?

समाधान—यदि ऐसा न हो तो प्रथम समय के उदय से दूसरे समय का उदय अनन्तगुणा हीन नहीं बन सकता।

प्रथम समय में उदीर्णकृष्टियों से द्वितीयसमय में उदीर्ण हुई कृष्टियाँ असंख्यातवें भाग प्रमाण विशेष हीन हैं, क्योंकि अधस्तन अपूर्वलाभ से उपरिम परित्यक्त भाग बहुत होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मसाम्परायिक संयत के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक तृतीयादि समयों में भी कथन करना चाहिए।[5]

अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय

---

१. क. पा. चूर्णिसूत्र २७६-२७७। २. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२२। ३. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२३। ४. क. पा. चूर्णिसूत्र २७९। ५. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२४-२५।

कर्मों का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। नाम और गोत्र कर्मों का स्थितिबन्ध सोलह मुहूर्त-प्रमाण होता है। वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध चौबीस मुहूर्तप्रमाण होता है। तदनन्तर समय में सम्पूर्ण मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है।[1]

[2]**पुव्वापुव्वय–फद्दय–अणुभागादो अणंतगुणहीणे।**
लोहाणुम्हि ट्ठियओ हंद सुहुम–संपराओ सो ।।१२१।।

—पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक के अनुभाग से अनन्तगुणे हीन अनुभाग वाले सूक्ष्मलोभ में जो स्थित है, उसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती समझना चाहिए ।।१२१।।

उपशान्तकषाय गुणस्थान का स्वरूप

[3]**कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।**
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि ।।६१।।

गाथार्थ—कतकफल से युक्त निर्मल जल के समान अथवा शरद् ऋतु में होने वाले सरोवर के निर्मल जल के समान सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों की उपशान्तकषाय संज्ञा है ।।६१।।

विशेषार्थ—जिनकी कषायें उपशान्त हो गई हैं, वे उपशान्तकषाय जीव हैं, क्योंकि मोहनीय कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा, अपकर्षण और उत्कर्षण आदि सभी करणों का उपशान्तरूप से अवस्थान देखा जाता है। अब यहाँ से लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल तक उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ होकर स्थित रहता है। समस्त कषायों के उपशान्त हो जाने से उपशान्तकषाय, समस्त राग परिणामों का उदय नष्ट हो जाने से वीतराग, छद्म अर्थात् ज्ञानावरण–दर्शनावरण में स्थित होने से छद्मस्थ इस प्रकार उपशान्तकषाय–वीतराग–छद्मस्थ होकर अन्तर्मुहूर्त काल तक अत्यन्त स्वच्छ परिणामों के साथ अवस्थित रहता है।

शङ्का—अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक उपशान्तकषाय भाव के साथ अवस्थित क्यों नहीं रहता?

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक उपशम पर्याय का अवस्थान असम्भव है। समस्त उपशान्त काल में वह अवस्थित परिणाम वाला होता है, क्योंकि वहाँ परिणामों की हानि और वृद्धि के कारणभूत कषायोदय का अभाव है। अतः अवस्थित यथाख्यात विहारशुद्धिसंयम से युक्त सुविशुद्ध वीतराग परिणाम के साथ प्रतिसमय अभिन्नरूप से उपशान्तकषाय वीतराग के काल का पालन करता है। अवस्थित परिणाम वाले जीव के अनवस्थित आयामरूप से तथा अनवस्थित प्रदेश-पुंज के अपकर्षण रूप से गुणश्रेणी विन्यास सम्भव नहीं है, क्योंकि इसका निषेध है। इसलिए पूरे ही उपशान्त काल के भीतर किये जाने वाले गुणश्रेणी निक्षेप के आयाम की अपेक्षा और अपकर्षित

---

१. क. पा. चूर्णिसूत्र २८२ से २८५। २. धवल पु. १ पृ. १८८।

३. सकयगहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलए।
सयलोवसंत-मोहो उवसंत–कसायओ होई ।।१२२।। धवल पु. १ पृ. १८९।

किये जाने वाले प्रदेशपुंज की अपेक्षा वह गुणश्रेणी अवस्थित होती है।[1]

अवस्थित परिणाम होने से समग्र उपशान्तकाल के भीतर केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण के अनुभाग-उदय की अपेक्षा अवस्थित वेदक होता है। निद्रा और प्रचला अध्रुव उदयवाली प्रकृतियाँ हैं, इसलिए इनका कदाचित् वेदक और कदाचित् अवेदक होता है। यदि वेदक होता है तो जब तक वेदक रहता है तब तक अवस्थित वेदक ही होता है, क्योंकि अवस्थित परिणामवाला है। अन्तराय कर्म की भी पाँचों प्रकृतियों का अवस्थित वेदक ही होता है, क्योंकि अवस्थित एक भेदरूप परिणाम के होने पर इनके उदय का दूसरा प्रकार सम्भव नहीं है।[2] शेष लब्धिकर्मांशों का अर्थात् अन्तरायकर्म की पाँच प्रकृतियों के अतिरिक्त चार ज्ञानावरण और तीन दर्शनावरण प्रकृतियों का अनुभाग-उदय वृद्धि, हानि या अवस्थानरूप होता है।

शङ्का—लब्धिकर्मांश किसे कहते हैं?

समाधान—जिनका क्षयोपशमरूप परिणाम होता है वे लब्धिकर्मांश हैं, क्योंकि क्षयोपशमलब्धि होकर कर्मांशों की लब्धिकर्मांश संज्ञा की सिद्धि होने में विरोध का अभाव है। इन समस्त लब्धिकर्मांशों का अनुभाग-उदय अवस्थित ही होता है, यह नियम नहीं है।

शङ्का—ऐसा किस कारण से होता है?

समाधान—क्योंकि परिणाम प्रत्यय होने पर भी यहाँ पर उनकी छह प्रकार की वृद्धि, छह प्रकार की हानि और अवस्थित रूप परिणाम सम्भव है। यथा–सर्वप्रथम अवधिज्ञानावरण को कहते हैं—उपशान्त कषाय में यदि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो अवस्थित उदय होता है, क्योंकि अनवस्थितपने का कारण नहीं पाया जाता। यदि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम है तो वहाँ छहवृद्धि, छहहानि और अवस्थित रूप अनुभाग का उदय होता है, क्योंकि देशावधि और परमावधि ज्ञानी जीवों में असंख्यातलोक प्रमाण भेद रूप अवधिज्ञानावरण सम्बन्धी क्षयोपशम के अवस्थितपरिणाम के होने पर भी वृद्धि, हानि और अवस्थान के बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों की अपेक्षा से तद्रूप परिणाम होने में विरोध नहीं है। सर्वावधिज्ञानी जीव उत्कृष्ट क्षयोपशम से परिणत होता है और उसके अवधिज्ञानावरण का उदय अवस्थित होता है, उससे अन्यत्र उसका उदय छहवृद्धि छहहानि और अवस्थितरूप से अनवस्थित होता है। इसी प्रकार मन:पर्ययज्ञानावरण की अपेक्षा भी कथन करना चाहिए। इसी प्रकार शेष ज्ञानावरण और दर्शनावरण की अपेक्षा भी आगमानुसार जानकर कथन करना चाहिए।[3]

जो नामकर्म और गोत्रकर्म परिणाम-प्रत्यय होते हैं, उनके अनुभागोदय की अपेक्षा अवस्थित-वेदक होता है।

शङ्का—वे कौन प्रकृतियाँ हैं?

समाधान—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, तीन उत्तम संहननों में से कोई एक संहनन

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२६ से ३२८। २. ज. ध. पु. १३ पृ. ३३१। ३. ज. ध. पु. १२ पृ. ३३२-३३३।

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगति में से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर और दुःस्वर में से कोई एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण ये प्रकृतियाँ हैं। इनमें से तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्ण, गन्ध, रस, शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण ये प्रकृतियाँ परिणाम प्रत्यय हैं। उच्चगोत्र परिणाम प्रत्यय है। इस प्रकार परिणाम प्रत्यय वाले इन नाम और गोत्र कर्मों का अनुभागोदय की अपेक्षा अवस्थित वेदक है, क्योंकि परिणाम प्रत्यय वाले उनके अवस्थित परिणाम विषयक होने पर दूसरा प्रकार सम्भव नहीं है। परन्तु यहाँ पर वेदी जाने वाली भवप्रत्यय शेष सातावेदनीय आदि अघातिया प्रकृतियों के छहवृद्धि और छहहानि के क्रम से अनुभाग को यह वेदता है।[1]

उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के यद्यपि कषाय सत्ता में विद्यमान है तथापि उपशान्त है अर्थात् अनुदयस्वरूप है। अतः रागोदय के अभाव में उसका चित्त निर्मल है। उस निर्मलता को स्पष्ट करने के लिए गाथा में दो दृष्टान्त दिये हैं—१. जैसे गंदले जल में कतक फल अथवा निर्मली डाल देने से कीचड़ नीचे बैठ जाती है और जल निर्मल हो जाता है। २. वर्षा ऋतु में सरोवर का जल गंदला रहता है, किन्तु शरद् ऋतु आने पर मिट्टी आदि जो जल में मिश्रित थी, सरोवर में नीचे चली जाती है और सरोवर का जल स्वच्छ हो जाता है। इन दोनों दृष्टान्तों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कीचड़ या मिट्टी आदि सत्ता में बैठी है, किन्तु जल को मलिन नहीं कर रही है। इस प्रकार मोहनीय कर्म सत्ता में विद्यमान है किन्तु उदय में आकर चित्त को मलिन नहीं कर रहा है। कीचड़ आदि का अस्तित्व होने के कारण पुनः जल को मलिन कर सकती है, उसी प्रकार भवक्षय या काल-क्षय के कारण सत्ता में बैठा हुआ मोहनीय कर्म चित्त को पुनः मलिन कर देता है।

क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान का स्वरूप

[2]णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ।। ६२ ।।

गाथार्थ—जिसने मोह का निःशेष रूप से क्षय कर दिया है, स्फटिकमणि के निर्मल भाजन में रखे हुए स्वच्छ जल के समान जिसका चित्त निर्मल है, वीतरागदेव ने ऐसे निर्ग्रन्थ को क्षीणकषाय-गुणस्थानवर्ती कहा है।

विशेषार्थ—मोह दो प्रकार का है—द्रव्यमोह और भावमोह। प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश के भेद से द्रव्यमोह चार प्रकार का है। राग और द्वेष के भेद से भावमोह दो प्रकार का है। जिसने द्रव्यमोह और भावमोह को उनके भेदों व प्रभेदों सहित पूर्णरूप से नष्ट कर दिया है अतः उनका कोई भी अंश किसी प्रकार से शेष नहीं रहा है, इसलिए गाथा में **'णिस्सेस-खीण-मोहो'** पद दिया गया है। मोहनीय कर्मोदय के कारण अथवा राग-द्वेष के कारण चित्त में नानाप्रकार की तरंगें उठती थीं, जिससे समचित्त (तरंगों रहित चित्त, निर्मलचित्त-शान्तचित्त) का अभाव था, किन्तु मोह नष्ट हो जाने पर तरंगों का उठना समाप्त हो गया है अतः चित्त 'समचित्त' हो गया। इस 'सम-

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ३३२-३३४। २. ध. पु. १ पृ. १९०; जयधवल मूल पृ. २२६४। प्रा. पं. सं. १/२५।

चित्त' को स्पष्ट करने के लिए गाथा में **"फलिहामलभायणुदय"** पद के द्वारा स्फटिकमणि के निर्मल भाजन में रखे जल का दृष्टान्त दिया है। इस दृष्टान्त के द्वारा यह बतलाया गया है कि कीचड़ या मिट्टी आदि की सत्ता भी अभाव को प्राप्त हो जाने से जल पुनः मलिन नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोह के सत्त्व का भी नाश हो जाने से चित्त पुनः मलिन नहीं हो सकता, अतः सर्वदा के लिए चित्त 'समचित्त' हो गया। यद्यपि यह भाव **"णिस्सेसखीण-मोहो"** से भी ग्रहण हो सकता था तथापि **"फलिहामल-भायणुदय"** दृष्टान्त द्वारा इस भाव को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। गाथा में आया हुआ 'णिग्गंथो' अर्थात् निर्ग्रन्थ शब्द विशेष महत्त्व रखता है। साधु पाँच प्रकार के होते हैं—१. पुलाक, २. वकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ और ५. स्नातक[1]। बाह्य परिग्रहत्याग की अपेक्षा ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ हैं[2] तथापि पुलाक, वकुश और कुशील के मोहनीय कर्मोदय के कारण अन्तरंग परिग्रह विद्यमान है। क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती के अन्तरंग परिग्रह का कारण मोहनीय-कर्म का क्षय हो जाने से उसकी निर्ग्रन्थ संज्ञा वास्तविक है तथा अन्तर्मुहूर्त पश्चात् केवलज्ञान व केवलदर्शन उत्पन्न होने वाला है इसलिए भी उसकी निर्ग्रन्थ संज्ञा है।[3] यद्यपि उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती के भी अन्तरंग परिग्रह का अभाव होने से निर्ग्रन्थपना है तथापि अन्तरंग परिग्रह के कारणभूत मोहनीयकर्म का सत्त्व होने से गाथा ६१ में उसको निर्ग्रन्थ संज्ञा नहीं दी गई है। श्री पूज्यपादस्वामी व श्री अकलंकदेव आदि आचार्यों ने भी 'अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जिसको केवलज्ञान व केवलदर्शन उत्पन्न होने वाला है' इस विशेषण के द्वारा मात्र क्षीणमोह को ही निर्ग्रन्थ संज्ञा दी है।

जो कर्मबन्ध कराते हैं, वे ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह हैं (**ग्रन्थाः परिग्रहाः**)। अन्तरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है—१. मिथ्यात्व, २. हास्य, ३. रति, ४. अरति, ५. शोक, ६. भय, ७. जुगुप्सा, ८. स्त्रीवेद, ९. पुरुषवेद, १०. नपुंसकवेद ११. क्रोध, १२. मान १३. माया, १४. लोभ। बाह्य परिग्रह १० प्रकार का है—१. क्षेत्र, २. वास्तु, ३. सुवर्ण, ४. चांदी, ५. धन, ६. धान्य, ७. दासी, ८. दास, ९. वस्त्र, १०. भाण्ड। इन २४ प्रकार के परिग्रहों से जो सर्वात्मना निवृत्त है, वह निर्ग्रन्थ है।[4]

इस गुणस्थान में नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेपरूप क्षीणकषाय का ग्रहण नहीं है, किन्तु भावनिक्षेपरूप क्षीणकषाय का ही ग्रहण है।[5]

क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती प्रथम समय मे ही सर्व कर्मों के प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश का अबन्धक हो जाता है। मात्र योग के निमित्त से एक समय की स्थितिवाले सातावेदनीय का ईर्यापथ बन्ध होता है। एक समय अधिक आवली मात्र छद्मस्थकाल के शेष रहने तक तीनों घातिया कर्मों की उदीरणा करता रहता है। क्षीणकषाय के द्विचरम समय में द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा निद्रा और प्रचला इन दोनों कर्मप्रकृतियों के उदय और सत्त्व का एक साथ व्युच्छेद हो जाता है।

---

१. 'पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः [त. सू. अ. ९/४६]। २. सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः। [त.रा.वा.अ. ९/४६/९]। ३. ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमान केवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः [त.रा.वा. ९/४६/४]। ४. ग्रन्थन्ति रचयन्ति संसारकारणं कर्मबन्धमिति ग्रन्थाः परिग्रहाः मिथ्यात्ववेदादयः अन्तरङ्गाश्चतुर्दश बहिरंगाश्च क्षेत्रादयो दश तेभ्यो निष्क्रान्तः सर्वात्मना निवृत्तो निर्ग्रन्थ इति। (गो. जी. मं. प्र. टीका)। ५ ध.पु. १ पृ. १९०।

शङ्का—ध्यान परिणाम के विरुद्ध स्वभाव वाली निद्रा व प्रचला का उदय कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं क्योंकि ध्यान-उपयुक्त के भी निद्रा-प्रचला का अवक्तव्य उदय सम्भव है।

तदनन्तर चरम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिया कर्मों के उदय तथा सत्त्व का एक साथ व्युच्छेद हो जाता है।[1]

[2]जाव ण छदुमत्थादो तिण्हं घादीण वेदगो होइ।
अधऽणंतरेण खइया सव्वण्हु सव्वदरसी य।।

जब तक क्षीणकषाय वीतरागसंयत छद्मस्थ अवस्था से नहीं निकलता है तब तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिया कर्मों का वेदक रहता है। इसके पश्चात् अनन्तर समय में तीनों घातिया कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है।

शङ्का—क्षीणकषाय के चरम समय में घातिया कर्मों के साथ अघातिया कर्म भी निर्मूल क्षय को क्यों नहीं प्राप्त हो जाते ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि घातिया कर्मों के समान अघातिया कर्मों का विशेष स्थितिघात नहीं होता। क्षीणकषाय के अन्तिम समय में भी तीन अघातिया कर्मों का स्थितिसत्त्व पल्य के असंख्यातवें भाग रह जाता है। अघातिया कर्मों के विशेष घात का अभाव असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि घातिया कर्मों की अपेक्षा अघातिया कर्मों में उतने अप्रशस्तभाव का अभाव है। घाती कर्म की अपेक्षा समानता होने पर भी जैसे घातिया कर्मों में मोहनीय कर्म अधिक अप्रशस्त है, अतः उसका विशेष घात होकर अन्तर्मुहूर्त पूर्व विनाश हो जाता है। इसी प्रकार कर्मपने की अपेक्षा समानता होने पर भी अघातिया की अपेक्षा घातिया विशेष अप्रशस्त होने से दूसरे शुक्लध्यान के द्वारा क्षीणकषाय के अन्तिम समय में निर्मूल क्षय को प्राप्त हो जाते हैं; यह कथन उत्पादानुच्छेद नय के द्वारा किया गया है।[3]

शान्तक्षीणकषायस्य पूर्वज्ञस्य त्रियोगिनः।
शुक्लाद्यं शुक्ललेश्यस्य मुख्यं संहननस्य तत् ।।१।।
द्वितीयस्याद्यवत्सर्वं विशेषस्त्वेकयोगिनः।
विघ्नावरणरोधाय क्षीणमोहस्य तत्स्मृतम् ।।२।।

—प्रथम शुक्लध्यान उपशान्तकषाय व क्षीणकषाय वालों के होता है, किन्तु वे पूर्व के ज्ञाता होने चाहिए। यह ध्यान उत्कृष्ट संहनन वाले, शुक्ललेश्या में विद्यमान और तीनों योगों से युक्त जीवों के होता है। द्वितीय शुक्लध्यान का कथन भी प्रथम शुक्ल ध्यान के समान है। विशेषता इतनी है कि द्वितीय शुक्लध्यान क्षीणमोहगुणस्थान में एक योगवाले के, ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षय करने के लिए होता है।[4]

---

१. ज.ध. मूल पृ. २२६५; चूर्णिसूत्र १५६३ से १५६६; ज.ध. १६/१२०-१२५। २. क.पा. सुत्त पृ. ८९९। ३. ज.ध. मूल पृ. २२६६-६७ तथा ज.ध. १६ पृ. १२५-२६। ४. ज.ध. मूल पृ. २२६६ तथा ज.ध. १६ पृ. १२३।

तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान का स्वरूप

[1]केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणिय-परमप्प-ववएसो ॥६३॥

[2]असहाय-णाण-दंसण-सहिओ इदि केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥६४॥

गाथार्थ--जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्य की अविभागप्रतिच्छेदरूप किरणों के समूह से (उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण) अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवललब्धियों के प्रकट होने से 'परमात्मा' यह व्यपदेश प्राप्त हो गया है; वह इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञानदर्शन से युक्त होने के कारण केवली और काययोग से युक्त रहने के कारण सयोगी तथा घातिकर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है । ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगम में कहा है ॥६३-६४॥

विशेषार्थ--जिस प्रकार प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर उसकी किरणों के कलाप (समूह) से रात्रिकालीन अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के क्षय होने के काल में केवलज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर उसके सर्वोत्कृष्ट-अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों के द्वारा सर्वज्ञेयविषयक अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है अर्थात् समस्त ज्ञेय उस केवलज्ञान में प्रतिभासमान हो जाते हैं, कोई भी पदार्थ अप्रतिभासित नहीं रहता । कहा भी है--

[3]ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि ।
दाह्योऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धरि ॥१३॥

--ज्ञानावरणरूप प्रतिबन्धक के नहीं रहने पर ज्ञाता अर्थात् केवलज्ञानी ज्ञेयों के विषय में अज्ञ कैसे रह सकता है जैसे प्रतिबन्धक (मणि, मंत्रादि) के नहीं रहने पर दाह स्वभाव होने से अग्नि दाह्यपदार्थ को कैसे नहीं जलायेगी अर्थात् अवश्य जलायेगी ।

केवलज्ञान मात्र ज्ञेयों को जानता है, क्योंकि केवलज्ञान ज्ञेयप्रमाण है जैसा कि **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने जिनेन्द्रदेव की साक्षी से **प्रवचनसार गाथा २३** में **'णाणं णेयपमाणमुद्दिट्ठं'** इन शब्दों द्वारा कहा है । यदि केवली अज्ञेयों को भी जानने लगे तो 'ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है' इस सिद्धान्त से विरोध आ जायेगा । इसीलिए श्री स्वामी कार्तिकेयाचार्य ने **'णेयेण विणा कहं णाणं'** ज्ञेयों के बिना केवलज्ञान कैसे हो सकता है ? ऐसा कहा है, अर्थात् जो ज्ञेय नहीं हैं उनको केवली नहीं जानता । यदि कहा जावे कि कोई भी अज्ञेय नहीं है तो अज्ञेय के अभाव में ज्ञेय का भी सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा बन नहीं सकती ।[4] **श्रीवीरसेनाचार्य** ने **पञ्चास्तिकाय गाथा ८** के आधार पर यह सिद्धान्त सिद्ध किया है कि सर्व पदार्थ सप्रतिपक्ष हैं, क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य ने **'सव्व पयत्था सप्पडिवक्खा'** इन शब्दों द्वारा इस सिद्धान्त का उपदेश दिया है ।

---

१. ध. पु. १ पृ. १९१; ज. ध. मूल पृ. २२७० । २. ध. पु. १ पृ. १९२ तथा ज. ध. मूल पृ. २२७० ।
३. ज. ध. पु. १ पृ. ६६ । ४. ध. पु. १४ पृ. २३४ ।

चार घातिया कर्मों के क्षय होने से नव केवललब्धियाँ उत्पन्न होती हैं । ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर 'क्षायिकज्ञान', दर्शनावरण कर्म के क्षय होने पर 'क्षायिकदर्शन', मोहनीयकर्म का क्षय होने पर 'क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र' और अन्तरायकर्म के क्षय होने पर 'क्षायिकदान, क्षायिक-लाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिकवीर्य' इस प्रकार क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिकवीर्य ये नौ क्षायिक भाव हैं जिनको नव केवललब्धि कहा गया है । उपर्युक्त ज्ञानावरणादि कर्म देवत्व अर्थात् परमात्मपद के घातक हैं ।[1] इन कर्मों का क्षय हो जाने पर नव केवललब्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और उनके साथ-साथ परमात्मपद भी प्राप्त हो जाता है ।

असहायज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित है ।[2] **सर्वार्थसिद्धि** आदि में भी कहा है **'केवलस्यासहायत्वात्'** (१/३०) तथा **श्रीवीरसेनाचार्य** ने भी कहा है **'केवलमसहायम्'** । घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से ज्ञान व दर्शन असहाय हो गया इसलिए उनकी केवली संज्ञा है ।

तेरहवें गुणस्थान में पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म का उदय है तथा द्रव्यमन, वचन व काय से युक्त हैं इसलिए तेरहवें गुणस्थान में कर्मों को ग्रहण करने की शक्तिरूप योग विद्यमान है ।[4] योग का कार्य सातावेदनीय कर्म का आस्रव भी तेरहवें गुणस्थान में पाया जाता है। अतः वे सयोग-केवली हैं । अथवा मन-वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं । जो केवली योग के साथ रहते हैं वे सयोगकेवली हैं ।[5] अथवा वचन और काय के परिस्पन्द लक्षण वाले योग का सद्भाव है जो ईर्यापथ बन्ध का हेतु है ।[6] ऐसे योग के साथ विराजमान केवली सयोग ही हैं ।

यहाँ **केवलज्ञानादि के स्वरूप का कथन** करते हैं । यथा—केवलज्ञान में केवल शब्द का अर्थ है जो ज्ञान असहाय है अर्थात् इन्द्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा के बिना होता है । इस प्रकार केवल जो ज्ञान वह केवलज्ञान है । जो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अर्थों में अप्रतिहतप्रसारवाला है, जो करण, क्रम और व्यवधान से रहित है तथा जिसकी वृत्ति ज्ञानावरण कर्म के पूरा क्षय होने से प्रगट हुई है ऐसा निरतिशय और अनुत्तर ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान है; यह उक्त कथन का तात्पर्य है । फिर भी उसको जो आनन्त्य विशेषण दिया है वह उसके अविनश्वरपने की प्रसिद्धि के लिए दिया है, क्योंकि जैसे घट का प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त होता है उसी प्रकार क्षायिक भाव के सादि-अनन्तस्वरूप से अवस्थान का नियम उपलब्ध होता है । अथवा केवलज्ञान का 'अनन्त' यह विशेषण समस्त द्रव्य और उनकी अनन्त पर्यायों को विषय करने वाले उस केवलज्ञान के परमोत्कृष्ट अनन्त परिणामपने की प्रसिद्धि के लिये जानना चाहिए। कारण कि प्रमेय अनन्त हैं, अतः उनकी परिच्छेदक ज्ञानशक्तियों को भी अनन्त सिद्ध होने में प्रतिषेधका अभाव है । यह सब कथन केवल उपचार मात्र ही नहीं है किन्तु परमार्थ से ही सकल प्रमेयराशि के अनन्त गुणरूप और आगमप्रमाण से जानने में आने-वाली ऐसी केवलज्ञानसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदसामर्थ्य उपलब्ध होती है । इस प्रकार यथोक्त अविभागप्रति-च्छेदों का अस्तित्व केवल कल्पनारूप नहीं है, वस्तुतः वह द्रव्य है । इसलिये इसकी अनन्तता

---

१. ज. ध. पु. १ पृ. ६७ । २. ज. ध. पु. १ पृ. २१, ध. पु. १ पृ. १६१; ज. ध. मूल पृ. २२६६, ज. ध. पु. १६ पृ. १३१ । ३. ज. ध. पु. १ पृ. २३ । ४. गो. जी. गा. २१६ । ५. ध. पु. १ पृ. १९१ । ६. ज. ध. मूल पृ. २२६६, ज. ध. पु. १६ पृ. २३० ।

अनुपचरित ही है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। कहा भी है—

जो क्षायिक है, एक है, अनन्तस्वरूप है, तीनों कालों के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाला है, निरतिशय है, क्षायोपशमिकज्ञानों के अन्त में प्राप्त होनेवाला है, कभी च्युत होने वाला नहीं है और सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के व्यवधान से रहित है, वह केवलज्ञान है।[1]

इसी प्रकार केवलदर्शन का भी व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान के समान ही अपना आवरण करने वाले दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने से वृत्ति को प्राप्त होने वाले और समस्त पदार्थों के अवलोकन स्वभाव वाले दर्शनोपयोग के भी अनन्त विशेषण से युक्त केवल संज्ञा के प्राप्त होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं पाया जाता।

यहाँ ऐसा नहीं मानना चाहिए कि "ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों के विषय में भेद नहीं उपलब्ध होता तथा दोनों समस्त पदार्थों के साक्षात्करण स्वभाव वाले हैं, इसलिए उन दोनों में एक से ही कार्य चल जाने के कारण दूसरे उपयोग को मानना व्यर्थ है;" क्योंकि असंकीर्णस्वरूप से उन दोनों का विषयविभाग अनेक बार दिखला आये हैं। इसलिये सकल और विमल केवलज्ञान के समान अकलंक केवलदर्शन भी केवलरूप अवस्था में है ही, यह सिद्ध हुआ। अन्यथा आगमविरोध आदि दोषों का होना अपरिहार्य है।

वीर्यान्तराय कर्म के निर्मूल क्षय से उद्भूतवृत्तिरूप श्रम और खेद आदि अवस्था का विरोधी अन्तराय से रहित, अप्रतिहत सामर्थ्यवाला वीर्य अनन्त वीर्य कहा जाता है। परन्तु वह इस भगवान् के अशेष पदार्थविषयक ध्रुवरूप (स्थायी) उपयोग परिणाम के होने पर भी अखेद भाव रूप उपकार में प्रवृत्त होता हुआ उपयोगसहित ही है, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि उसके बलाधान के बिना निरन्तर उपयोगरूप वृत्ति नहीं बन सकती। अन्यथा हम लोगों के उपयोग के समान अरिहन्त केवली के उपयोग के भी सामर्थ्य के बिना अनवस्थान का प्रसंग प्राप्त होता है। कहा भी है—

हे भगवन्! आपके वीर्यान्तराय कर्म का विलय हो जाने से अनन्त वीर्य शक्ति प्रगट हुई है। अतः ऐसी अवस्था में समस्त भुवन के जानने आदि अपनी शक्तियों के द्वारा आप अवस्थित हो ॥ १ ॥[2]

इस कथन से आत्यन्तिक अनन्त सुखपरिणाम भी इस भगवान् के व्याख्यान किया गया जानना चाहिए, क्योंकि जिसकी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य से सामर्थ्य वृद्धि को प्राप्त हुई है, जो मोह रहित है, जो ज्ञान और वैराग्य की अतिशय परमकाष्ठा पर अधिरूढ़ है, जिसका परम निर्वाणरूपी वस्त्र है ऐसे सुख की आत्यन्तिकरूप से उत्पत्ति उपलब्ध होती है। किन्तु ज्ञान और वैराग्य के अतिशय से उत्पन्न हुए सुख से अन्य सुख नाम की कोई वस्तु नहीं ही है, क्योंकि जो सरागसुख है वह न्यायपूर्वक निष्ठुरता से विचार किया गया एकान्त से दुःखरूप ही है। उसी प्रकार कहा भी है—

जो इन्द्रियों के निमित्त से प्राप्त होने वाला सुख है, वह पराश्रित है, बाधा सहित है, बीच-बीच

---

१. धवल पु. १ पृ. १८८। २. जयधवल मूल पृ. २२६६।

में छूट जाने वाला है, बन्ध का कारण है और विषम है। वास्तव में, वह सदाकाल दुःखस्वरूप ही है ।।२।।

जो सुख विरागभाव को निमित्त कर नहीं उत्पन्न हुआ है वह कुछ भी नहीं है, ऐसा हम निश्चय करके स्थित हैं। यदि वह निमित्त है तो आपके सिवाय वह स्पष्टरूप से अन्य नहीं ही है जिससे कि आप में ही केवल निमित्तरूप से अस्तित्व है ।।३।।

इसलिये जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तविरति की प्रधानता है जो अनुपरत वृत्तिवाला है; निरतिशय है, स्वभावभूत आत्मा को उपादान करके जो सिद्ध होता है, अतीन्द्रिय है और जो द्वन्द्वभाव से रहित है, वह अनन्तसुख है। इससे असातावेदनीय के उदय का सद्भाव होने से सयोगकेवली भगवान् में अनन्तसुखाभाव और उसके साथ होने वाली कवलाहार-वृत्ति का निश्चय करनेवाला वादी निराकृत हो गया है, क्योंकि उसमें उस (असातावेदनीय) का उदय सहकारी कारणों की विकलता के कारण परघात के उदय के समान अकिंचित्कर है। इसलिये उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तविरति और अनन्तसुखपरिणामपना होने से सयोगकेवली भगवान् सिद्धपरमेष्ठी के समान भोजन नहीं करते हैं, यह सिद्ध होता है।

अनन्तवीर्य को उपलक्षण करके पूरे अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्त-भोग और अनन्त-उपभोगरूप लब्धियाँ उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि अनन्तवीर्य के समान उन लब्धियों की उत्पत्ति के प्रति कोई विशेषता नहीं है। परन्तु वे लब्धियाँ समस्त प्राणीविषयक अभयदान की सामर्थ्य के कारण, तीनों लोकों के अधिपतित्व का सम्पादन करने से तथा प्रयोजन के रहते हुए स्वाधीन अशेष भोगोपभोग सम्बन्धी वस्तुओं का सम्पादन होने से उपयोगसहित ही हैं, ऐसा जानना चाहिए[1]। इसलिये पहले ही दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म के क्षयसे जिसने आत्यन्तिक सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की शुद्धि को प्राप्त किया है, ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप मूल और उत्तर प्रकृतियों के क्षय के अनन्तर ही जिसकी क्षायिक अनन्तकेवलज्ञान और क्षायिक अनन्तकेवलदर्शन पर्याय प्रकटित हुई है, तथा अन्तराय कर्म के क्षय से जो अनन्तवीर्य, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग और अनन्त-उपभोगरूप नौ केवल-लब्धियोंरूप से परिणत हुआ है, वह कृतार्थता की परमकाष्ठा को प्राप्त होता हुआ अर्हत्पर-मेष्ठी, स्वयम्भू, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सयोगकेवली इस रूप से कहा जाता है। यहाँ जिनादिरूप शब्दों की पदार्थ-व्याख्या सुगम है, इसलिये उनका विस्तार नहीं करते हैं।

"वे भगवान् अर्हत्परमेष्ठीदेव असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से प्रदेशपुंज की निर्जरा करते हुए विहार करते हैं।" इस सूत्र का अर्थ यह है कि प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से कर्मप्रदेशों को ये भगवान् धुनते हुए धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिये यथायोग्य धर्मक्षेत्र में देवों और असुरों से अनुगत होते हुए बड़ी भारी विभूति के साथ प्रशस्त विहायोगति के निमित्त से या विहार करनेरूप स्वभाव वाले होने से विहार करते हैं।

शङ्का—कदाचित् यह मत हो कि इन अर्हत्परमेष्ठी भगवान् का व्यापारातिशय और उपदेश रूप अतिशय अभिप्रायपूर्वक ही हो सकता है, अन्यथा यत्किंचित् करने रूप दोष का अनुषंग प्राप्त

---

१. जयधवल मूल पृ. २२७०।

होता है और ऐसा मानने पर इच्छा सहित होने से ये भगवान् असर्वज्ञ ही प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा स्वीकार करना अनिष्ट ही है?

समाधान—किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि अभिप्राय से रहित होने पर भी कल्पवृक्ष के समान इन भगवान् के पदार्थ के सम्पादन की सामर्थ्य बन जाती है। अथवा प्रदीप के समान इन भगवान् की वह सामर्थ्य बन जाती है क्योंकि दीपक नियम से कृपालुपने से अपने और पर के अन्धकार का निवारण नहीं करता, किन्तु उस स्वभाव वाला होने के कारण ही वह अपने और पर के अन्धकार का निवारण करता है। जैसा कहा है—

हे जगद्गुरो! आपने जगत् के लिये जो हित का उपदेश दिया है वह कहने की इच्छा के बिना ही दिया है, क्योंकि ऐसा नियम है कि कल्पवृक्ष बिना इच्छा के ही प्रेमीजनों को इच्छित फल देता है।

हे मुने! आपकी शरीर, वचन और मन की प्रवृत्तियाँ बिना इच्छा के ही होती हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि आपकी मन, वचन और कायसम्बन्धी प्रवृत्तियाँ बिना समीक्षा किये होती हैं। हे धीर! आपकी चेष्टायें अचिन्त्य हैं।

कहने की इच्छा का सन्निधान होने पर ही वचन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि यह हम स्पष्ट देखते हैं कि मन्दबुद्धि जन इच्छा रखते हुए भी शास्त्रों के वक्ता नहीं हो पाते।[1] इत्यादि।

इसलिये परम-उपेक्षालक्षणरूप संयम की विशुद्धि को धारण करने वाले इन भगवान के बोलने और चलनेरूप व्यापार आदि अतिशयविशेष स्वाभाविक होने से पुण्यबंध के हेतु नहीं हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। जैसा कि आर्ष में कहा है—

तीर्थंकर परमेष्ठी का विहार लोक को सुख देने वाला है, परन्तु उनका यह कार्य पुण्य फल वाला नहीं है और उनका वचन दान-पूजारूप आरम्भ को करने वाला तो है फिर भी उनको कर्मों से लिप्त नहीं करता।

पुन: इस महात्मा का वह विहारातिशय भूमि को स्पर्श न करते हुए ही आकाश में भक्तिवश प्रेरित हुए देवसमूह के द्वारा रचे गये स्वर्णकमलों पर प्रयत्न विशेष के बिना ही अपने माहात्म्य विशेषवश प्रवृत्त होता है, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि योगियों की शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं।

ऐसे वे केवली उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्वकोटि काल तक विहार करके तत्पश्चात् आयुकर्म के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर अघातिकर्मों की स्थिति को समान करने के लिए पहले आवर्जित-करण नाम की दूसरी क्रिया को आरम्भ करता है।

शङ्का—आवर्जितकरण क्या है?

समाधान—केवलीसमुद्घात के अभिमुख होना आवर्जितकरण कहा जाता है।

उसे यह अन्तर्मुहूर्त काल तक पालन करता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त काल तक आवर्जितकरण

---

१. जयधवल मूल पृ. २२७१।

हुए बिना केवलीसमुद्घात क्रिया का अभिमुखीभाव नहीं बन सकता। उसी काल में ही नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म के प्रदेशपिण्ड का अपकर्षण करके उदय में थोड़े प्रदेशपुंज को देता है। अनन्तर समय में असंख्यातगुणे प्रदेशपुंज को देता है। इस प्रकार असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से निक्षेप करता हुआ शेष रहे सयोगी के काल से और अयोगी के काल से विशेषरूप से अवस्थित गुणश्रेणिशीर्ष के प्राप्त होने तक जाता है। परन्तु यह गुणश्रेणिशीर्ष उसके अनन्तर अधस्तन समय में वर्तमान रहते हुए स्वस्थान सयोगिकेवली द्वारा निक्षिप्त किये गये गुणश्रेणिआयाम से संख्यातगुणहीन स्थान जाकर अवस्थित है, ऐसा जानना चाहिए। परन्तु प्रदेशपुंज की अपेक्षा उससे यह असंख्यातगुणे प्रदेश-विन्यास से उपलक्षित होता है ऐसा कहना चाहिए।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—यह ग्यारह गुणश्रेणियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले गाथा सूत्र से जाना जाता है।

उस गुणश्रेणिशीर्ष से उपरिम अनन्तर स्थिति में भी असंख्यातगुणे प्रदेशपुंज को ही सींचता है। उसके बाद ऊपर सर्वत्र विशेषहीन प्रदेशपुंज को ही निक्षिप्त करता है। इस प्रकार आवर्जित-करणकाल के भीतर सर्वत्र गुणश्रेणिनिक्षेप जानना चाहिए। यहाँ पर दृश्यमान प्ररूपणा जानकर ले जाना चाहिए।

शङ्का—आवर्जित क्रिया के अभिमुख हुए सयोगी केवली के यह गुणश्रेणिनिक्षेप स्वस्थान सयोगी केवली के समान अवस्थित आयाम वाला होता है या गलितशेष आयाम वाला होता है?

समाधान—निक्षेपरूप करने की क्रिया में यह अवस्थित आयामवाला होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इससे आगे सयोगी केवली के द्विचरम स्थितिकाण्ड की अन्तिम फालि के प्राप्त होने तक इस विषय में अवस्थित रूप से इस गुणश्रेणिनिक्षेप सम्बन्धी आयाम की प्रकृति का नियम देखा जाता है। और यह असिद्ध नहीं है, क्योंकि यह सूत्र से अविरुद्ध परम गुरुओं के सम्प्रदाय के बल से सुनिश्चित होता है।

शङ्का—स्वस्थानकेवली के या आवर्जित क्रिया के अभिमुख हुए केवली के अवस्थित एक रूप परिणाम के रहते हुए इस स्थान में गुणश्रेणिनिक्षेप का इस प्रकार विसदृशपना कैसे हो गया है, इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ पर ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वीतराग परिणामों में भेद का अभाव होने पर भी वे अन्तरंग परिणामविशेष अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु की अपेक्षा सहित होते हैं और आवर्जितकरण रूप भिन्न क्रिया के साधनभाव से प्रवृत्त होते हैं, इसलिये यहाँ पर गुणश्रेणिनिक्षेप के विसदृश होने में प्रतिबन्ध का अभाव है।[1]

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल तक आवर्जितकरणविषयक व्यापार विशेष का

---

१. जयधवल मूल पृ. २२७८।

अनुपालन कर उसके समाप्त होने पर इसके बाद अनन्तर समय में केवलिसमुद्घात करता है, यह इस सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध है।

शङ्का—केवलिसमुद्घात किसका नाम है?

समाधान—कहते हैं, उद्गमन का अर्थ उद्घात है। इसका अर्थ है—जीव के प्रदेशों का फैलना। समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं। केवलियों के समुद्घात का नाम केवलिसमुद्घात है। अघातिकर्मों की स्थिति को समान करने के लिये केवलीजीव के प्रदेशों का समय के अविरोधपूर्वक ऊपर, नीचे और तिरछे फैलना केवलिसमुद्घात है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

यहाँ केवलिसमुद्घात पद में 'केवलि' विशेषण शेष समस्त समुद्घात विशेषों के निराकरण करने के लिए जानना चाहिए, क्योंकि उन समुद्घातों का प्रकृत में अधिकार नहीं है। वह यह केवलि-समुद्घात दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से चार अवस्थारूप जानना चहिए।[1]

शङ्का—केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सभी केवलियों को समुद्घात करने के अनन्तर ही मोक्ष का प्रसंग आएगा। यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्घात पूर्वक ही मोक्ष जाते हैं, ऐसा मान लिया जाए तो क्या हानि है? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की वर्षपृथक्त्व में २० संख्या ही होती है यह नियम नहीं बन सकता है। केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि, केवलिसमुद्घात का कोई हेतु नहीं पाया जाता है। यदि यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति से आयुकर्म की स्थिति की असमानता ही समुद्घात का कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान की चरम अवस्था में संपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं, इसलिए सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसंग आजाएगा।[2]

समाधान—यतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में संपूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं परंतु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियों की बीस संख्या का नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने नहीं करते हैं।

शङ्का—कौन से केवली समुद्घात नहीं करते हैं?

समाधान—जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्घात करते हैं।

शङ्का—अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर संसारव्यक्ति-स्थिति और शेष तीन कर्मों की स्थिति में विषमता क्यों रहती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, व्यक्तिस्थिति के घात के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों के

---

१. जयधवल मूल पृ. २२७८; धवल पु. १ पृ. ३०० सूत्र ६० की टीका। २. धवल पु. १ पृ. ३०१-३०२।

समान रहने पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मों की स्थिति के समान मान लेने में विरोध आता है।

शङ्का—संसार के विच्छेद का क्या कारण है ?

समाधान—द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसार के विच्छेद के कारण हैं। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवों में संभव नहीं हैं, क्योंकि दश पूर्व और नौ पूर्व के धारी जीवों का भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता है। अतः वहाँ पर संसार-व्यक्ति के समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में नियम से निपतन स्वभाववाले ऐसे पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवलीप्रमाण स्थितिकाण्डकों का निपतन करते हुए कितने ही जीव समुद्घात के बिना ही आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं। तथा कितने ही जीव समुद्घात के द्वारा शेष कर्मों को आयुकर्म के समान करते हैं। परन्तु यह संसार का घात केवली में पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डक के घात के समान सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

शङ्का—जबकि परिणामों में कोई अतिशय नहीं पाया जाता है अर्थात् सभी केवलियों के परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसार का घात मत होओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामों के समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्म की अपेक्षा से आत्मा के उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामों से संसार का घात बन जाता है।

शङ्का—अन्य आचार्यों के द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थ का इस प्रकार व्याख्यान करने वाले आचार्य सूत्र के विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्व के अन्तराल का प्रतिपादन करने वाले सूत्र के वशवर्ती आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

शङ्का—छह माह प्रमाण आयुकर्म के शेष रहने पर जिस जीव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घात करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं। यथा—

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए[1] ॥१६७॥

इस गाथा का उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस प्रकार विकल्प के मानने में कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथा का उपदेश नहीं ग्रहण किया है।

जिन जीवों के नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म की स्थिति आयुकर्म के समान होती है, वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं ॥१६८॥[2]

---

१. धवल पु. १ पृ. ३०३। २. धवल पु. १ पृ. ३०४।

इस प्रकार पूर्वोक्त गाथा में कहे गये अभिप्राय को तो किन्हीं जीवों के समुद्घात होने में और किन्हीं जीवों के समुद्घात के नहीं होने में कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवों में समान अनिवृत्तिरूप परिणामों के द्वारा कर्मस्थितियों का घात पाया जाता है, अतः उनका आयु के समान होने में विरोध आता है। दूसरे, क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में तीन अघातिया कर्मों का जघन्य स्थितिसत्त्व पल्योपम के असंख्यातवें भाग जीवों के पाया जाता है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है।

शङ्का—आगम तो तर्क का विषय नहीं है, इसलिए इस प्रकार तर्क के बल से पूर्वोक्त गाथाओं के अभिप्राय का खण्डन करना उचित नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओं का आगमरूप से निर्णय नहीं हुआ है। अथवा, यदि इन दोनों गाथाओं का आगमरूप से निर्णय हो जाने पर इनका ही ग्रहण रहा आवे।

सयोगकेवली भगवान सर्वप्रथम प्रथम समय में दण्डसमुद्घात करते हैं।

शङ्का—वह दण्डसमुद्घात क्या लक्षणवाला है?

समाधान—कहते हैं, अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्म के शेष रहने पर केवली जिन समुद्घात करते हुए पूर्वाभिमुख होकर या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग से करते हैं या पल्यंकासन से करते हैं। वहाँ कायोत्सर्ग से दण्डसमुद्घात को करने वाले केवली के मूल शरीर की परिधिप्रमाण कुछ कम चौदह राजु लम्बे दण्डाकाररूप से जीवप्रदेशों का फैलना दण्डसमुद्घात है। यहाँ कुछ कम का प्रमाण लोक के नीचे और ऊपर लोकपर्यन्त वातवलय से रोका गया क्षेत्र होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए, क्योंकि स्वभाव से ही उस अवस्था में वातवलय के भीतर केवली जिन के जीवप्रदेशों का प्रवेश नहीं होता। इसी प्रकार पल्यंकासन से समुद्घात करने वाले केवली जिन के दण्डसमुद्घात कहना चाहिए। इतनी विशेषता है कि मूल शरीर की परिधि से उस अवस्था में दण्ड समुद्घात की परिधि तिगुणी हो जाती है। यहाँ कारण का कथन सुगम है। इस प्रकार की अवस्थाविशेष का नाम दण्डसमुद्घात कहा जाता है, क्योंकि सार्थक संज्ञा के ज्ञानवश यथोक्तविधि से दण्डाकाररूप से जीव के प्रदेशों का फैलना दण्ड-समुद्घात है परन्तु इस दण्ड-समुद्घात में विद्यमान केवली जिन के औदारिककाय-योग ही होता है, क्योंकि उस अवस्था में शेष योगों का अभाव है।[1] अब इस दण्डसमुद्घात में विद्यमान केवली जिन के द्वारा किये जाने वाले कार्यों के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

केवली जिन दण्डसमुद्घात में (आयु कर्म को छोड़कर) शेष अघातिकर्मों के असंख्यात बहुभाग का हनन करते हैं।[2]

उस दण्डसमुद्घात में विद्यमान केवली जिन आयुकर्म को छोड़कर तीन अघातिकर्मों की पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण तत्काल उपलभ्यमान स्थितिसत्कर्म के असंख्यात बहुभाग का घात करके असंख्यातवें भागप्रमाण स्थिति को स्थापित करते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

---

१. जयधवल मूल पृ. २२७८-७९।

२. यह कषायपाहुड सूत्र का एक सूत्र है जिसकी आगे जयधवला टीका भी लिखी गई है। इसी तरह गाथा ६४ की शेष सम्पूर्ण टीका कषायपाहुड और उसकी जयधवला टीका ज्यों की त्यों अनूदित करते हुए ही लिखी गई है।

शङ्का—इस प्रकार एक समय द्वारा ही इस प्रकार का स्थितिघात कैसे हो गया ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्यों केवलिसमुद्घात की प्रधानता से उसकी उपपत्ति होने में कोई बाधा उपलब्ध नहीं होती ।

अब यहीं पर अनुभागघात का माहात्म्य दिखलाने के लिए इस सूत्र को कहते हैं—

तथा शेष अनुभागसम्बन्धी अप्रशस्त अनुभागों के अनन्त बहुभागों का घात करते हैं ।

उक्त क्षपक क्षीणकषाय गुणस्थान के द्विचरम समय में घात करके जो अनुभाग शेष रहा उसके अनन्त बहुभाग का घात कर अनन्तवें भाग में अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग सत्कर्म को स्थापित करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। प्रशस्त प्रकृतियों का यहाँ पर स्थितिघात ही होता है, अनुभागघात नहीं होता ऐसा ग्रहण करना चाहिए। गुणश्रेणिनिर्जरा का जिस प्रकार आवर्जित-करण में प्ररूपण किया है उसी प्रकार यहाँ पर भी प्ररूपण करना चाहिए, क्योंकि उससे इसमें कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार केवली जिन दण्डसमुद्घात करके उसके बाद अनन्तर समय में कपाट-समुद्घात से परिणमन करने वाले के स्वरूपविशेष का निर्धारण करने के लिए उत्तर सूत्र का अवतार होता है—

उसके बाद दूसरे समय में केवली जिन कपाटसमुद्घात करते हैं ।

जो कपाट के समान हो वह कपाट है ।

शङ्का—उपमार्थ क्या है ?

समाधान—जैसे कपाट मोटाई की अपेक्षा अल्प ही होकर चौड़ाई और लम्बाई की अपेक्षा बढ़ता है उसी प्रकार यह भी मूल शरीर के बाहल्य की अपेक्षा अथवा उसके तिगुणे बाहल्य की अपेक्षा जीवप्रदेशों के अवस्थाविशेषरूप होकर कुछ कम चौदह राजुप्रमाण आयाम की अपेक्षा तथा सात राजुप्रमाण विस्तार की अपेक्षा वृद्धि-हानिगत विस्तार की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त होकर स्थित रहता है वह कपाटसमुद्घात कहा जाता है, क्योंकि इस समुद्घात में स्पष्टरूप से ही कपाट का संस्थान उपलब्ध होता है ।

इस समुद्घात में पूर्वाभिमुख और उत्तराभिमुख केवलियों के कपाट क्षेत्र के विष्कम्भ के भेद का अवधारण कर पूर्वाभिमुख और उत्तराभिमुखकेवलियों का अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है। परन्तु इस अवस्थाविशेष में विद्यमान केवली के औदारिकमिश्रकाययोग होता है, क्योंकि उनके कार्मण और औदारिक इन दो शरीरों के अवलम्बन से जीवप्रदेशों के परिस्पन्दरूप पर्याय की उपलब्धि होती है। अब इस अवस्थाविशेष में विद्यमान जीव के द्वारा किये जाने वाले कार्यभेद को दिखलाने के लिए आगे के सूत्र का आरम्भ करते हैं—

कपाटसमुद्घात के काल में शेष रही स्थिति के असंख्यात बहुभाग का हनन करता है ।
अप्रशस्त प्रकृतियों के शेष रहे अनुभाग के अनन्तबहुभाग का हनन करता है ।[1]

---

१. जयधवल मूल पृ. २२७६ ।

सुगम होने से यहाँ पर उक्त दोनों सूत्रों में कुछ व्याख्यान करने योग्य नहीं है। यहाँ पर भी गुणश्रेणि-प्ररूपणा आवर्जितकरण के समान है। इस प्रकार केवलिसमुद्घात की तीसरी अवस्था-विशेष में विद्यमान केवली के स्वरूप का प्ररूपण करने के लिये आगे के सूत्रप्रबन्ध को कहते हैं—

तत्पश्चात् तीसरे समय में मन्थ नाम के समुद्घात को करता है ।

जिसके द्वारा कर्म मथा जाता है उसे मन्थ कहते हैं। अघातिकर्मों के स्थिति और अनुभाग के निर्मथन के लिये केवलियों के जीवप्रदेशों की जो अवस्था विशेष होती है, प्रतर संज्ञावाला वह मन्थ समुद्घात है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस अवस्था विशेष में विद्यमान केवली के जीवप्रदेश चारों ही पार्श्वभागों से प्रतराकाररूप से फैलकर सर्वत्र वातवलय के अतिरिक्त पूरे लोकाकाश के प्रदेशों को भरकर अवस्थित रहते हैं, ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि उस अवस्था में केवली के जीवप्रदेशों का स्वभाव से ही वातवलय के भीतर संचार नहीं होता। इसी की प्रतरसंज्ञा और रुचक संज्ञा आगम में रूढ़ि के बल से जाननी चाहिये। परन्तु इस अवस्था में केवली जिन कार्मणकाययोगी और अनाहारक हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में मूल शरीर के आलम्बन से उत्पन्न हुए जीवप्रदेशों का परिस्पन्द सम्भव नहीं है तथा उस अवस्था में शरीर के योग्य नोकर्म पुद्गलपिण्ड का ग्रहण नहीं होता। तब इसी अवस्था में स्थिति और अनुभाग का पहले के समान घात करता है, इस बात का कथन करने के लिये उत्तरसूत्र अवतीर्ण हुआ है—

स्थिति और अनुभाग की उसी प्रकार निर्जरा करता है ।[1]

स्थिति के असंख्यातबहुभाग का और अप्रशस्त प्रकृतियों के अनन्त बहुभाग का पहले के समान घात करता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यहाँ पर प्रदेशपुंज की भी उसी प्रकार निर्जरा करता है, यह वाक्यशेष करना चाहिए, क्योंकि आवर्जितकरण से लेकर स्वस्थान केवली की गुणश्रेणिनिर्जरा से असंख्यातगुणी गुणश्रेणिनिर्जरा की अवस्थित निक्षेपरूप आयाम के साथ प्रवृत्ति की सिद्धि में बाधा नहीं उपलब्ध होती। इस प्रकार यह केवलिसमुद्घात के भेद का कथन किया। अब चौथे समय में लोकपूरणसंज्ञक समुद्घात को अपने सम्पूर्ण प्रदेशों द्वारा समस्त लोक को पूरा करके प्रवृत्त करता है, इसका ज्ञान कराने के लिये आगे के सूत्र का आरम्भ करते हैं—

तत्पश्चात् चौथे समय में लोक को पूरा करता है ।

वातवलय से रुके हुए लोकाकाश के प्रदेशों में भी जीव के प्रदेशों के चारों ओर से निरन्तर प्रविष्ट होने पर लोकपूरण संज्ञक चौथे केवलिसमुद्घात को यह केवली जिन उस अवस्था में प्राप्त होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यहाँ पर भी कार्मणकाययोग के साथ यह अनाहारक ही होता है, क्योंकि उस अवस्था में शरीर की रचना के लिये औदारिक शरीर नोकर्मप्रदेशों के आगमन का निरोध देखा जाता है। इस प्रकार लोक को पूरा करके चौथी अवस्था में कार्मणकाययोग के साथ विद्यमान केवली जिन के उस अवस्था में समस्त जीव प्रदेशों के समान योग का प्रतिपादन करने के लिये आगे के सूत्र का आरम्भ करते है—

लोकपूरण समुद्घात में योग की एक वर्गणा होती है, इसलिए वहाँ समयोग ऐसा जानना

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८० ।

लोकपूरण समुद्घात में विद्यमान इस केवली जिन के लोकप्रमाण समस्त जीवप्रदेशों में योगसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद वृद्धि-हानि के बिना सदृश ही होकर परिणमते हैं, इसलिए सभी जीवप्रदेश परस्पर सदृश धनरूप से परिणत होकर एक वर्गणारूप हो जाते हैं । इसलिए यह केवली उस अवस्था में समयोग जानना चाहिए, क्योंकि समस्त जीवप्रदेशों में योगशक्ति के सदृशपने को छोड़ कर विसदृशपना नहीं उपलब्ध होता, यह उक्त कथन का तात्पर्य है । और यह समयोगरूप परिणाम सूक्ष्म निगोदजीव की (योगसम्बन्धी) जघन्य वर्गणा से असंख्यात गुणा तत्प्रायोग्य मध्यम वर्गणा रूप से होता है ऐसा निश्चय करना चाहिए । अपूर्व स्पर्धककी विधि से पहले की अवस्था में सर्वत्र अनुभागों के असंख्यात और अनन्तबहुभागों का घात करता है, क्योंकि उसके घात के लिए ही समुद्घात क्रिया का व्यापार होता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है । इस प्रकार इस लोकपूरण समुद्घात में विद्यमान केवली जिन द्वारा स्थिति के असंख्यात भागों के घातित होने पर घात होने से शेष रहा स्थितिसत्कर्म बहुत अल्परूप से स्थित होकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयाम वाला होकर स्थित रहता है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे के सूत्र का अवतार करते हैं—

लोकपूरण समुद्घात में कर्मों की स्थिति को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थापित करता है ।

यह सूत्र सुगम है । अब क्या यह अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति आयुकर्म की स्थिति के समान है या संख्यातगुणी है या अन्य प्रकार की है; इस आशंका के होने पर निःशंक करने के लिये इस सूत्र को कहते हैं—

शेष अघातिकर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति से संख्यातगुणी है ।

इस समय भी आयुकर्म की स्थिति के समान इन अघातिकर्मों का स्थितिसत्कर्म नहीं होता है, किन्तु उससे संख्यातगुणा ही होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए । यहाँ इस विषय में दो उपदेश पाये जाते हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं ।

शङ्का—वह कैसे ?

समाधान—महावाचक आर्यमंक्षु श्रमण के उपदेश के अनुसार लोकपूरण समुद्घात के होने पर आयुकर्म की स्थिति के समान नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म का स्थितिसत्कर्म स्थापित करता है । महावाचक नागहस्ति श्रमण के उपदेश के अनुसार लोकपूरण समुद्घात होने पर नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म का स्थितिसत्कर्म अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है । इतना होता हुआ भी आयुकर्म की स्थिति से संख्यातगुणा स्थापित करता है । परन्तु यह व्याख्यान-सम्प्रदायचूर्णि के विरुद्ध है, क्योंकि चूर्णिसूत्र में स्पष्टरूप से ही आयुकर्म की स्थिति से शेष अघातिकर्मों की स्थिति संख्यातगुणी निर्दिष्ट की है । इसलिए प्रवाह्यमान उपदेश यही प्रधान रूप से अवलम्बन करने योग्य है, अन्यथा सूत्र के प्रतिनियत होने में आपत्ति आती है । इस प्रकार इन दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों के स्वरूपविशेष का और वहाँ किये जाने वाले कार्यभेदों का निरूपण करके अब इसी अर्थ को उपसंहार रूप से स्पष्ट करते हुए आगे के दो सूत्र कहते हैं—

केवलिसमुद्घात के इन चार समयों में अप्रशस्त कर्मप्रदेशों के अनुभाग की अनुसमय अपवर्तना होती है ।

क्योंकि इन चार समुद्घात के समयों में अप्रशस्त कर्मों का प्रतिसमय अपवर्तनाघात अनन्तर कहे गए अनुभागघात के वश से स्पष्टरूप से उपलब्ध होता है।

तथा एक समय वाला स्थितिकाण्डकघात होता है।

चारों ही समयों में प्रवृत्तमान स्थितिघात एक समय के द्वारा ही सम्पन्न हो जाता है, यह अनन्तर ही कह आये हैं। इसलिए आवर्जितकरण के अनन्तर इस प्रकार के केवलिसमुद्घात को करके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की अन्तर्मुहूर्त आयामरूप से स्थिति को शेष रखता है। इस प्रकार यह अतिक्रान्त समस्त सूत्रप्रबन्ध का समुदाय रूप अर्थ है। अब लोकपूरण क्रिया के समाप्त होने पर समुद्घातपर्याय का उपसंहार करने वाला केवली जिन क्या अक्रम से उपसंहार करके स्वस्थान में निपतित होता है या उतरने वाले का कोई क्रमनियम है; ऐसी आशंका के निराकरण के लिए उतरने वाले का सूत्र से सूचित होने वाला किंचित् प्ररूपण करेंगे—[1]

यथा–लोकपूरण-समुद्घात का उपसंहार करता हुआ फिर भी मन्थ-समुद्घात को करता है, क्योंकि मन्थरूप परिणाम के बिना केवलिसमुद्घात का उपसंहार नहीं बन सकता। तथा लोकपूरण-समुद्घात का उपसंहार करने के अनन्तर ही समयोग परिणाम को नाश करके सभी पूर्वस्पर्धक समय के अविरोधपूर्वक उद्घाटित हो जाते हैं ऐसा जानना चाहिए। पुनः मन्थसमुद्घात का उपसंहार करता हुआ कपाट-समुद्घात को प्राप्त होता है, क्योंकि कपाट परिणाम के बिना उसका उपसंहार करना नहीं बन सकता। तत्पश्चात् अनन्तर समय में दण्डसमुद्घातरूप से परिणमकर कपाटसमुद्घात का उपसंहार करता है, क्योंकि दण्डसमुद्घात का उसके अनन्तर ही होने का नियम देखा जाता है। उसके बाद तदनन्तर समय में स्वस्थानरूप केवलीपने से दण्डसमुद्घात का उपसंहार करता है। उस समय न्यूनता और अतिरिक्तता से रहित मूल शरीर के प्रमाण से केवली भगवान् के जीवप्रदेशों के अवस्थान का नियम देखा जाता है। इस प्रकार केवलिसमुद्घात से उतरने वाले केवली जिन के ये तीन समय होते हैं, क्योंकि चौथे समय में स्वस्थान में अन्तर्भाव देखा जाता है। अथवा चौथे समय के साथ केवलिसमुद्घात से उतरने वाले केवली के चार समय लगते हैं, ऐसा किन्हीं आचार्यों के व्याख्यान का क्रम है। उनका अभिप्राय है कि जिस समय में स्वस्थान केवलिपने में (यानी मूल शरीर में) ठहरकर दण्डसमुद्घात का उपसंहार करता है वह भी समुद्घात में अन्तर्भूत ही करना चाहिए। समुद्घात में उतरने वाले प्रतरगत केवली जिन के पहले के समान कार्मणकाययोग होता है। कपाट समुद्घातको प्राप्त केवली के औदारिक-मिश्रकाययोग होता है, तथा दण्डसमुद्घात को प्राप्त केवली के औदारिक काययोग होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर उपयुक्त पड़ने वाली आर्या गाथाएँ हैं—

केवली जिन के प्रथम समय में दण्डसमुद्घात होता है, उत्तर अर्थात् दूसरे समय में कपाट-समुद्घात होता है, तृतीय समय में मन्थान समुद्घात होता है और चौथे समय में लोकव्यापी-समुद्घात होता है ।।१।।

पाँचवें समय में लोकपूरण-समुद्घात का उपसंहार करता है, पुनः छठे समय में मन्थान-समुद्घात का उपसंहार करता है, सातवें समय में कपाट समुद्घात का उपसंहार करता है और आठवें

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८१-८२।

समय में दण्डसमुद्घात का उपसंहार करता है ।।२।।[१]

इसके बाद केवलिसमुद्घात प्ररूपणा समाप्त होती है।

अब उतरने वाले केवली जिन के प्रथम समय से लेकर स्थितिघात और अनुभागघात की प्रवृत्ति कैसी होती है ? ऐसी आशंका होने पर निःशंक करने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं—

केवलिसमुद्घात से उतरने वाले के प्रथम समय से लेकर शेष रही स्थिति के संख्यात बहुभाग का हनन करता है।

एत्तो अर्थात् उतरने वाले के प्रथम समय से लेकर शेष रही अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति के संख्यात बहुभाग को काण्डक रूप से ग्रहण कर स्थितिघात करता है, क्योंकि वहाँ अन्य प्रकार सम्भव नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

तथा वहाँ शेष रहे अनुभाग के अनन्त बहुभाग का हनन करता है।

पहले घात करने से शेष बचे अनुभाग सत्कर्म के अनन्त बहुभाग का काण्डक रूप से ग्रहण कर अनुभागघात यह जीव करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इसके आगे स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक का उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है।

लोकपूरणसमुद्घात के सम्पन्न होने के अनन्तर समय से लेकर प्रत्येक समय में स्थितिघात और अनुभागघात नहीं होता। किन्तु स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात का काल अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह यहाँ सूत्र का समुच्चयरूप अर्थ है।[२] इस प्रकार इतनी विधि से केवलिसमुद्घात का उपसंहार करके स्वस्थान में विद्यमान केवली जिन के संख्यात हजार स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक के समय के अविरोधपूर्वक हो जाने पर तदनन्तर योगनिरोध करता हुआ इन दूसरी क्रियाओं को रचता है, इसका ज्ञान कराने के लिये आगे के सूत्र प्रबन्ध को आरम्भ करते हैं—

आगे अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर-काययोग के द्वारा बादर-मनोयोग का निरोध करता है।

मन, वचन और काय की चेष्टा प्रवृत्त करने के लिये कर्म के ग्रहण के निमित्त शक्तिरूप जो जीव का प्रदेशपरिस्पन्द होता है वह योग कहा जाता है। परन्तु वह तीन प्रकार का है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनका अर्थ सुगम है, उनमें से एक-एक अर्थात् प्रत्येक दो प्रकार का है—बादर और सूक्ष्म। योगनिरोध क्रिया के सम्पन्न होने से पहले सर्वत्र बादरयोग होता है। इससे आगे सूक्ष्मयोग से परिणमन कर योगनिरोध करता है, क्योंकि बादरयोग से ही प्रवृत्त हुए केवली जिन के योग का निरोध करना नहीं बन सकता है। उसमें सर्वप्रथम यह केवली जिन योगनिरोध के लिये चेष्टा करता हुआ बादरकाययोग के अवलम्बन के बल से बादर मनोयोग का निरोध करता है,

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८२। २. जयधवल मूल पृ. २२८२-८३।

क्योंकि बादर काययोगरूप से व्यापार (प्रवृत्ति) करता हुआ ही यह केवली जिन बादर मनोयोग की शक्ति का निरोध करके सूक्ष्म रूप से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त के सबसे जघन्य मनोयोग से घटते हुए असंख्यात गुणहीन रूप से उसे स्थापित करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल तक बादर काययोग के रूप से विद्यमान केवली जिन बादर मनोयोग की शक्ति का निरोध करके तदनन्तर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल के द्वारा उसी बादर काययोग का अवलम्बन करके बादर वचनयोग की शक्ति का भी निरोध करता है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए आगे के सूत्र को कहते हैं—

उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल से बादरकाययोग द्वारा बादरवचनयोग का निरोध करता है।

यहाँ पर बादर वचनयोग ऐसा कहने पर द्वीन्द्रिय पर्याप्त के सब से जघन्य वचनयोग आदि उपरिम योगशक्ति का ग्रहण करना चाहिए। उसका निरोध करके उसे द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य वचनयोग से नीचे असंख्यात गुणहीन सूक्ष्मरूप से स्थापित करता है, इस प्रकार यह इस सूत्र का भावार्थ है।

उसके बाद अन्तर्मुहूर्तकाल से बादर काययोग द्वारा बादर उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करता है।

यहाँ पर भी बादर उच्छ्वास-निःश्वास ऐसा कहने पर सूक्ष्म निगोद निर्वृत्तिपर्याप्त जीव के आनापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए सब से जघन्य उच्छ्वास-निःश्वासशक्ति से असंख्यातगुणी संज्ञीपञ्चेन्द्रिय के योग्य उच्छ्वास-निःश्वास रूप परिस्पन्द का ग्रहण करना चाहिए। उसका निरोधकर उसे सबसे जघन्य सूक्ष्मनिगोद की उच्छ्वास-निःश्वास शक्ति से नीचे असंख्यातगुणी हीन सूक्ष्मभाव से स्थापित करता है, इस प्रकार यह यहाँ सूत्र का समुच्चयरूप अर्थ है।[1]

शङ्का—सूत्र में निर्दिष्ट नहीं किया गया इस प्रकार का विशेष कैसे जाना जाता है?

समाधान—इस प्रकार की आशंका यहाँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि व्याख्यान से उस प्रकार के विशेष का ज्ञान होता है।

उसके बाद अन्तर्मुहूर्तकाल से बादर काययोग के द्वारा उसी बादर काययोग का निरोध करता है।

यहाँ पर भी बादर काययोग से व्यापार करता हुआ ही अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा उसी बादर-काययोग को सूक्ष्म भेद में स्थापित कर निरोध करता है; यह सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि सूक्ष्म निगोद के जघन्य योग से भी असंख्यातगुणी हीन शक्ति रूप से परिणमकर सूक्ष्म रूप से उसकी इस स्थान में प्रवृत्ति का नियम देखा जाता है। यहाँ पर उपयोगी दो श्लोक हैं—

जो असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव जघन्य योग से युक्त होता है उससे भी असंख्यातगुणे हीन मनोयोग का केवली जिन निरोध करता है ॥१॥

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८३।

द्वीन्द्रिय जीव और साधारण क्रम से वचनयोग और उच्छ्वास को जिस प्रकार धारण करते हैं उनके समान उनसे भी कम दोनों योगों को केवली भगवान् जीतते हैं ? जघन्य पर्याप्तक जिस प्रकार काययोग को धारण करते हैं उससे भी कम काययोग को केवली भगवान् जीतते हैं ।।२।।

इस प्रकार यथाक्रम बादर मनोयोग, बादर वचनयोग, बादर उच्छ्वास-निःश्वास और बादर काययोग की शक्तियों का निरोध करके इन योगों की सूक्ष्मपरिस्पन्दरूप शक्तियों को अव्यक्तरूप से शेष करके पुनः सूक्ष्म काययोग के व्यापार द्वारा सूक्ष्म शक्तियों को भी उनकी इस परिपाटी के अनुसार निरोध करते हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे के सूत्रप्रबन्ध को कहते हैं—

उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है।

यहाँ पर सूक्ष्मयोग ऐसा कहने पर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त के सबसे जघन्य मनोयोग परिणाम से असंख्यातगुणाहीन अवक्तव्यस्वरूप द्रव्य मननिमित्तक जीवप्रदेश परिस्पन्द का ग्रहण करना चाहिए। उसका निरोध करता है—नाश करता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल से सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है।

यहाँ पर भी सूक्ष्म वचनयोग ऐसा कहने पर द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के सबसे जघन्य वचन योगशक्ति से नीचे असंख्यातगुणी हीनरूप वचनशक्ति ग्रहण करनी चाहिए। अन्य शेष कथन सुगम है।

उसके बाद अन्तर्मुहूर्तकाल से सूक्ष्मकाययोग के द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास का निरोध करता है।[1]

यहाँ भी उच्छ्वास शक्ति का सूक्ष्मपना सूक्ष्म निगोद पर्याप्तक जीव के सब से जघन्य होता है। उसरूप परिणाम से नीचे इस सयोगिकेवली की उच्छ्वासशक्ति असंख्यातगुणी हीन रूप से जाननी चाहिए। इस प्रकार यह योगनिरोध करने वाला केवली जिन सूक्ष्म काययोग के द्वारा परिस्पन्दात्मक क्रिया करते हुए मन, वचन और उच्छ्वास-निःश्वास की सूक्ष्म शक्तियों का भी यथोक्तक्रम से निरोध करके पुनः सूक्ष्मकाययोग का भी निरोध करते हुए योगनिरोधनिमित्तक इन करणों को करता है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये अगला सूत्रप्रबन्ध आया है—

उसके बाद अन्तर्मुहूर्तकाल जाकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ इन करणों को करता है।

उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल जाकर सूक्ष्म काययोग के बल से उसी सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ वहाँ सर्व प्रथम अनन्तर कहे जाने वाले इन करणों को अबुद्धिपूर्वक ही प्रवृत्त करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। परन्तु वे करण कौन हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

प्रथम समय में पूर्व स्पर्धकों को नीचे करके अपूर्व स्पर्धकों को करता है।

पूर्व स्पर्धकों से नीचे इससे पूर्व अवस्था में सूक्ष्म काययोग की परिस्पन्दरूप शक्ति को सूक्ष्म निगोद के जघन्य योग से असंख्यातगुणी हानि रूप से परिणमाकर पूर्व स्पर्धकस्वरूप ही होकर प्रवृत्त

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८४।

होती हुई इस समय उससे भी अच्छी तरह अपवर्तना करके अपूर्व स्पर्धकरूप से परिणमाता है। इस क्रिया की अपूर्व-स्पर्धककरण संज्ञा है। अब इस करण की प्ररूपणा करने के लिये यहाँ पर सर्व-प्रथम पूर्व स्पर्धकों की जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण रचना करनी चाहिए। ऐसा करने पर सूक्ष्म निगोद जीव के जघन्य स्थान से सम्बन्ध रखने वाले स्पर्धकों से ये स्पर्धक असंख्यातगुणे हीन होकर अवस्थित हैं, अन्यथा उससे (सूक्ष्मनिगोदजीव के जघन्य स्थान सम्बन्धी स्पर्धकों से) इसका (सयोगिकेवली के पूर्व-स्पर्धकों का) सूक्ष्मपना नहीं बन सकता। इस प्रकार स्थापित इन पूर्वस्पर्धकों के नीचे असंख्यातगुणहानिरूप अपकर्षित कर अपूर्व स्पर्धकों की रचना करते हुए योग निरोध करने वाले इस सयोगिकेवली जिन के प्ररूपणाप्रबन्ध को अगले सूत्र के अनुसार बतलावेंगे—

[योगनिरोध करने वाला यह सयोगिकेवली जीव] पूर्व स्पर्धकों की आदि-वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है।

पूर्वस्पर्धकों से जीव-प्रदेशों का अपकर्षण करके अपूर्व स्पर्धकों की रचना करता हुआ पूर्व स्पर्धकों की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों का असंख्यातवें भाग रूप से अपकर्षण करता है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध है। पूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों से असंख्यातगुणे हीन अविभागप्रतिच्छेदरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण करके अपूर्व स्पर्धकों की रचना करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है, क्योंकि अपूर्वस्पर्धकों की अन्तिम वर्गणा के अविभाग-प्रतिच्छेदों में पूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा से असंख्यात गुणहानि का नियम देखा जाता है। यहाँ पर असंख्यात गुणहानि का भागहार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है—

और वह जीव जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है।

पूर्वस्पर्धक की सब वर्गणाओं से, जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण भागहाररूप प्रतिभाग से, अपकर्षण करके पूर्वोक्त अविभागप्रतिच्छेदशक्तिरूप से परिणमा कर उन अपूर्व स्पर्धकों की रचना करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। और इस प्रकार अपकर्षित किये गये जीवप्रदेशों का अपूर्वस्पर्धकों में निषेक-विन्यास का क्रम कहते हैं। यथा—प्रथम समय में जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करके अपूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा में जीवप्रदेशों के बहुभाग का सिंचन करता है, क्योंकि सबसे जघन्य शक्ति में परिणमन करने वाले जीवप्रदेशों के बहुत सम्भव होने में विरोध का अभाव है। दूसरी वर्गणा में विशेषहीन जीवप्रदेशों को जगश्रेणी के असंख्यातवें भागरूप प्रतिभाग के अनुसार सिंचित करता है। इस प्रकार सिंचित करता हुआ अपूर्वस्पर्धकों की अन्तिम वर्गणा के प्राप्त होने तक जाता है। पुनः अपूर्वस्पर्धक की अन्तिम वर्गणा से पूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा में असंख्यातगुणहीन जीवप्रदेशों को सिंचित करता है। यहाँ पर हानि का गुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण होता हुआ भी साधिक अपकर्षण-उत्कर्षण भागहारप्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिये। इसके कारण की गवेषणा सुगम है। उससे आगे समय के अविरोधपूर्वक विशेष हानिरूप जीवप्रदेशों के विन्यासक्रम को जानना चाहिए। इस प्रकार यह प्ररूपणा अपूर्वस्पर्धकों को करने वाले के प्रथम समय में होती है। इसी प्रकार द्वितीय आदि समयों में भी अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्वस्पर्धकों को समय के अविरोधपूर्वक रचना करता है। इस प्रकार इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए आगे के सूत्र को कहते हैं—

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्व स्पर्धकों को करता है।[1]

यह सूत्र सुगम है। परन्तु उन स्पर्धकों को प्रत्येक समय में असंख्यातगुणहीनक्रम से रचता है। इस बात का ज्ञान कराने के लिये इस सूत्र को कहते हैं—

उन अपूर्व स्पर्धकों की असंख्यातगुणहीनश्रेणी रूप से और जीवप्रदेशों की असंख्यातगुणी-श्रेणी रूप से रचना करता है।

इस सूत्र का भावार्थ—प्रथम समय में रचे गये अपूर्व स्पर्धकों से असंख्यातगुणहीन अपूर्व-स्पर्धक दूसरे समय में उनसे नीचे रचता है। पुनः दूसरे समय में रचे गये अपूर्व स्पर्धकों से असंख्यात-गुणे हीन अन्य अपूर्व स्पर्धकों को उनसे नीचे तीसरे समय में रचता है। इस प्रकार असंख्यात गुणहीन श्रेणी रूप से अन्तर्मुहूर्तकाल के अन्तिम समय तक जानना चाहिए। परन्तु जीवप्रदेशों की असंख्यात-गुणी श्रेणिरूप से अपकर्षणा प्रवृत्त होती है, क्योंकि प्रथम समय में अपकर्षित किये गये प्रदेशों से दूसरे समय में अपकर्षित किये जाने वाले प्रदेशों की असंख्यातगुण प्रमाण से प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार तीसरे आदि समयों में भी असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से जीवप्रदेशों की अपकर्षणा जाननी चाहिए।

अब द्वितीयादि समयों में भी अपकर्षित किये गये जीवप्रदेशों की निषेकसम्बन्धी श्रेणि-प्ररूपणा इस प्रकार जाननी चाहिए। यथा—प्रथम समय में अपकर्षित किये गये जीवप्रदेशों से असंख्यातगुणे जीवप्रदेशों को इस समय अपकर्षित करके दूसरे समय में रचे जाने वाले अपूर्व स्पर्धकों की आदि वर्गणा में बहुत जीवप्रदेशों को रचता है। उसके आगे अपूर्व स्पर्धकों की अन्तिम वर्गणा के प्राप्त होने तक विशेषहीन-विशेषहीन रचता है। पुनः प्रथम समय में रचे गये अपूर्व स्पर्धकों में जो जघन्य स्पर्धक है उसकी आदिवर्गणा में असंख्यातगुणहीन जीवप्रदेशों को निक्षिप्त करता है। उससे आगे सर्वत्र विशेषहीन जीवप्रदेश निक्षिप्त करता है। इसी प्रकार तृतीयादि समयों में भी अपकर्षित किये जाने वाले जीवप्रदेशों की यही निषेकप्ररूपणा इसी रूप से जाननी चाहिए। अब इस सब काल के द्वारा रचे गये अपूर्व स्पर्धकों का प्रमाण इतना होता है, इस बात का कथन करते हुए आगे के सूत्र को कहते हैं—

ये सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

यह सूत्र सुगम है।

वे सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणी के वर्गमूल के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

शङ्का—इसका क्या कारण है?

समाधान—क्योंकि इनसे असंख्यातगुणे पूर्वस्पर्धकों के भी जगश्रेणी के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भागप्रमाणपने का निर्णय होता है। अब ये अपूर्व स्पर्धक पूर्व स्पर्धकों के भी असंख्यातवें भागप्रमाण हैं इस बात का ज्ञान कराने वाले आगे के सूत्र को कहते हैं—

---

1. जयधवल मूल पृ. २२८५।

ये सम्पूर्ण अपूर्वस्पर्धक पूर्वस्पर्धकों के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

यह सूत्र गतार्थ है। इतनी विशेषता है कि पूर्वस्पर्धकों में पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणहानियाँ सम्भव हैं। उनमें एक गुणहानिस्थान में जितने स्पर्धक हैं उनसे भी ये अपूर्वस्पर्धक असंख्यातगुणहीन प्रमाण जानने चाहिये।[1]

शङ्का—सूत्र में ऐसा कथन तो नहीं किया गया है। इसके बिना यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सूत्र के अविरुद्ध परम गुरु के सम्प्रदाय के बल से उस प्रकार से अर्थ की सिद्धि में विरोध का अभाव है और व्याख्यान से विशेष का ज्ञान होता है. ऐसा न्याय है।

इस प्रकार इस प्ररूपणा के अनुसार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल तक अपूर्व स्पर्धकों को करने के काल का पालन करने वाले जीव के उस काल के अन्तिम समय में अपूर्व स्पर्धकक्रिया समाप्त होती है। इतनी विशेषता है कि अपूर्व स्पर्धकों की क्रिया के समाप्त होने पर भी पूर्वस्पर्धक सबके सब उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं, क्योंकि उनका अभी भी विनाश नहीं हुआ है। यहाँ सर्वत्र स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकों का तथा गुणश्रेणीनिर्जरा का कथन पहले कहे गये क्रम से ही जानना चाहिए, क्योंकि सयोगिकेवली के अन्तिम समय तक उन तीनों की प्रवृत्ति होने में प्रतिबन्ध का अभाव है। इसके बाद अपूर्व स्पर्धककरणविधि समाप्त हुई। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्व स्पर्धककरण के काल का पालन कर उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकों का अपकर्षण करके योगसम्बन्धी कृष्टियों की रचना करने वाले सयोगिकेवली जिन के आगे के प्ररूपणाप्रबन्ध के अनुसार बतलावेंगे—

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है।

पूर्व और अपूर्वस्पर्धकरूप से ईंटों की पंक्ति के आकार से स्थित योग का उपसंहार करके सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्डों की रचना करता है, उन्हें कृष्टियाँ कहते हैं। अविभागप्रतिच्छेदों के आगे क्रमवृद्धि और हानियों का अभाव होने के कारण स्पर्धक के लक्षण से कृष्टि के लक्षण की यहाँ विलक्षणता जाननी चाहिए, क्योंकि असंख्यातगुणी वृद्धि और हानि के द्वारा ही कृष्टिगत जीवप्रदेशों में योगशक्ति का अवस्थान देखा जाता है। इस प्रकार की लक्षण वाली कृष्टियों को यह योग का निरोध करने वाला केवली अन्तर्मुहूर्त काल तक करता है। इस प्रकार यहाँ पर यह सूत्र का समुच्चयरूप अर्थ है। अब कृष्टियों के इसी लक्षण को स्पष्ट करने के लिए आगे के सूत्र का अवतार हुआ है—

अपूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है।

पूर्वोक्त अपूर्व स्पर्धकों की सबसे मन्द शक्ति से युक्त जो आदिवर्गणा है उसके असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। उससे असंख्यात गुणहीन अविभागप्रतिच्छेदरूप से योगशक्ति का अपकर्षण करके उसके असंख्यातवें भाग में स्थापित करता है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यहाँ

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८७।

पर कृष्टियों और स्पर्धकों के सन्धि सम्बन्धी गुणकार अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इस प्रकार अविभागप्रतिच्छेदों का असंख्यात गुणहानि के द्वारा अपवर्तन करके कृष्टियों को करता हुआ प्रथम समय में कितने जीवप्रदेशों को कृष्टिरूप से अपकर्षित करता है ऐसी आशंका होने पर निःशंक करने के लिये आगे के सूत्र का आरम्भ करते हैं--

जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है।

पूर्व और अपूर्व स्पर्धकों में अवस्थित लोकप्रमाण जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भागप्रमाण जीवप्रदेशों को कृष्टि करने के लिए अपकर्षित करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यहाँ प्रतिभाग अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार रूप है।

शङ्का—इस प्रकार अपकर्षित किये गये जीवप्रदेशों का कृष्टियों में किस रचनाविशेषरूप से निक्षिप्त करता है ?

समाधान—कहते हैं—प्रथम समय में कृष्टियों को करने वाला योगनिरोध करने वाला जीव पूर्वस्पर्धकों में से और अपूर्वस्पर्धकों में से पल्योपम के असंख्यातवें भागरूप प्रतिभाग से जीवप्रदेशों को अपकर्षित कर प्रथम कृष्टि में बहुत जीवप्रदेशों को निक्षिप्त करता है। दूसरी कृष्टि में विशेषहीन जीवप्रदेशों को निक्षिप्त करता है।

शङ्का—यहाँ पर प्रतिभाग का प्रमाण क्या है ?

समाधान—यहाँ पर जगश्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण निषेक भागहार प्रतिभाग का प्रमाण है।

इस प्रकार निक्षेप करता हुआ अन्तिम कृष्टि के प्राप्त होने तक निक्षेप करता जाता है। पुनः अन्तिम कृष्टि से अपूर्व स्पर्धकों की आदिवर्गणा में असंख्यात गुणहीन जीवप्रदेशों को सिंचित कर उससे आगे विशेष हानिरूप से सिंचित करता है, ऐसा जानना चाहिए। पुनः दूसरे समय में प्रथम समय में अपकर्षित किये गये जीवप्रदेशों से असंख्यातगुणे जीवप्रदेशों को अपकर्षित करके उस काल में रची जाने वाली प्रथम अपूर्व कृष्टि में बहुत जीवप्रदेशों को सिंचित करता है। दूसरी कृष्टि में असंख्यातवें भागप्रमाण विशेषहीन जीवप्रदेशों को निक्षिप्त करता है।[1] इस प्रकार निक्षेप करता हुआ दूसरे समय में की जाने वाली अपूर्व कृष्टियों की अन्तिम कृष्टि तक निक्षिप्त करता जाता है। पुनः दूसरे समय की अन्तिम अपूर्व कृष्टि से प्रथम समय में रची जाने वाली अपूर्व कृष्टियों को जो जघन्य कृष्टि है उसके ऊपर असंख्यातवें भागहीन जीवप्रदेशों को सिंचित करता है, क्योंकि उसमें पूर्व में निक्षिप्त किये जीवप्रदेशमात्र और एक कृष्टि विशेषमात्र हीन है। इससे आगे सर्वत्र अन्तिम कृष्टि के प्राप्त होने तक विशेषहीन ही जीवप्रदेशों को निक्षिप्त करता है। कृष्टि और स्पर्धक की सन्धि में पूर्वोक्त क्रम ही कहना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल तक असंख्यातगुणीहीन श्रेणिरूप से अपूर्वकृष्टियों को रचता है। परन्तु कृष्टिकरण काल के अन्तिम समय तक कृष्टियों में असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से जीवप्रदेशों को सिंचित करता है। अब इसी अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये आगे का सूत्रप्रबन्ध आया है--[2]

---

१. जयधवल मूल पृ. २२८७। २. जयधवल मूल पृ० २२८८।

यहाँ पर असंख्यातगुणी हीन श्रेणिरूप से कृष्टियों को अन्तर्मुहूर्तकाल तक करता है।

यह सूत्र सुगम है।

असंख्यातगुणीश्रेणिरूप से जीवप्रदेशों को करता है।

यह सूत्र भी सुगम है। अब यहाँ पर रची जाने वाली कृष्टियों में अधस्तन-अधस्तन कृष्टियों से उपरिम-उपरिम कृष्टियों का कितना गुणकार होता है, ऐसी आशंका का निराकरण करने के लिये आगे के सूत्र द्वारा कृष्टियों के गुणकार के प्रमाण का निर्देश करते हैं—

कृष्टिगुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

उक्त कथन का यह तात्पर्य है—जघन्य कृष्टि के सदृश धनवाली कृष्टियाँ असंख्यात जगप्रतरप्रमाण हैं। वहाँ एक जघन्य कृष्टि के योगसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदों को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर एक जीवप्रदेश के आश्रय से जघन्य कृष्टि के अनन्तर उपरिम एक कृष्टि में योग-सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इसी प्रकार दूसरी आदि कृष्टियों में भी अन्तिम कृष्टि के प्राप्त होने तक गुणकार प्ररूपणा जाननी चाहिए। पुनः एक अन्तिम कृष्टि के योग सम्बन्धी अविभाग-प्रतिच्छेदों को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर अपूर्वस्पर्धकों की आदिवर्गणा में एक जीवप्रदेश के अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इसके आगे जीवप्रदेश आगमानुसार अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार एक जीवप्रदेश का आश्रयकर कहा है। अथवा जघन्य कृष्टि को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर दूसरी कृष्टि होती है। इस प्रकार अन्तिम कृष्टि के प्राप्त होने तक यह गुणकार जानना चाहिए। यह गुणकार जब तक सदृश धनवाली कृष्टियाँ हैं उनको देखकर कहा है। पुनः अन्तिम कृष्टि के सदृश धनवाले पूरे अविभाग-प्रतिच्छेद समुदाय से अपूर्व स्पर्धकों की आदिवर्गणा में सदृश धनवाले सब अविभागप्रतिच्छेदों का समूह असंख्यात गुणहीन होता है ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि उपरिम अविभागप्रतिच्छेद गुणकार से अधस्तन जीवप्रदेशगुणकार असंख्यातगुणा देखा जाता है।[1]

शङ्का—यहाँ पर गुणकार का प्रमाण क्या है?

समाधान—यहाँ पर गुणकार का प्रमाण जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग है।

शेष कथन जानकर कहना चाहिए। इस प्रकार कृष्टिगुणकार के प्रतिपादन द्वारा कृष्टियों के लक्षण का प्ररूपण करके अब अन्तर्मुहूर्तप्रमाणकाल के द्वारा रची जाने वाली इन योग सम्बन्धी कृष्टियों के प्रमाण विशेष का अवधारण करने के लिये आगे के सूत्र का आरम्भ करते हैं—

योग सम्बन्धी कृष्टियाँ जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

क्योंकि, जगश्रेणी के प्रथम वर्गमूल के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण इनके जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण की सिद्धि निर्बाधरूप से उपलब्ध होती है। अब इनका अपूर्व स्पर्धकों से भी

---

१. अर्थात् चरमकृष्टि में "जीवप्रदेश संख्या × अवि. प्रति." रूप गुणनफल से अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणा में 'एक वर्गणा के जीवप्रदेश × अवि. प्रति. प्रत्येक जीवप्रदेश' यह गुणनफल कम है।

असंख्यात गुणहीनपना अविरुद्ध है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

वे योग सम्बन्धी कृष्टियाँ अपूर्व स्पर्धकों के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

एक गुणहानि स्थानान्तर की स्पर्धकशलाकाओं के असंख्यातवें भागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक होते हैं। पुनः इनके भी असंख्यातवें भाग प्रमाण ये योग कृष्टियाँ एक स्पर्धक सम्बन्धी वर्गणाओं के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रकार यह इस सूत्र का भावार्थ है। इस प्रकार कृष्टियों को करने के लिये अन्तर्मुहूर्त काल का पालन करने वाले इस जीव के कृष्टिकरणकाल के यथाक्रम समाप्त होने पर उसके बाद अनन्तर काल में जो प्ररूपणा विशेष है उसका निर्णय करने के लिए आगे का सूत्र-प्रबन्ध आया है —

कृष्टिकरणकाल के समाप्त होने पर अनन्तर समय में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों का नाश करता है।

जब तक कृष्टिकरण के काल का अन्तिम समय है तब तक पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक अविनष्ट रूप से दिखाई देते हैं, क्योंकि उनके असंख्यातवें भागप्रमाण ही सदृश धनवाले जीवप्रदेशों का प्रत्येक समय में कृष्टिकरण रूप से परिणमन उपलब्ध होता है। पुनः तदनन्तर समय में सभी पूर्व और अपूर्वस्पर्धक अपने स्वरूप का त्याग करके कृष्टिरूप से परिणमन करते हैं, क्योंकि जघन्य कृष्टि से लेकर उत्कृष्ट कृष्टि के प्राप्त होने तक उन कृष्टियों में सदृश धनरूप से उनका उस काल में परिणमन का नियम देखा जाता है। इस प्रकार कृष्टिकरणकाल समाप्त हुआ। अब इसके बाद अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टिगत योगवाला होकर सयोगिकाल में जो अवशेष काल रहा उसका पालन करता है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे के सूत्र का अवतार हुआ है।[1]

अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टिगत योगवाला होता है।

यह सूत्र सुगम है। अब कृष्टिगत योग का वेदन करने वाला यह सयोगीकेवली क्या अन्तर्मुहूर्त काल तक अवस्थित भाव से वेदन करता है या अन्य प्रकार से वेदन करता है? इस तरह इस प्रकार की आशंका का निराकरण करेंगे। यथा— प्रथम समय में कृष्टिवेदक कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का वेदन करता है। पुनः दूसरे समय में प्रथम समय में वेदी गई कृष्टियों के अधस्तन और उपरिम असंख्यात भागविषयक कृष्टियाँ अपने स्वरूप को छोड़कर मध्यम कृष्टिरूप से वेदी जाती हैं। इस प्रकार प्रथम समयसम्बन्धी योग से दूसरे समयसम्बन्धी योग असंख्यात गुणहीन होता है। इस प्रकार तृतीय आदि समयों में भी जानना चाहिए। इसलिए प्रथम समय में बहुत कृष्टियों का वेदन करता है, दूसरे समय में विशेषहीन कृष्टियों का वेदन करता है। इस प्रकार अन्तिम समय तक विशेषहीन क्रम के कृष्टियों का वेदन करता है, ऐसा कहना चाहिए।

अथवा प्रथम समय में स्तोक कृष्टियों का [परमुख] वेदन करता है, क्योंकि प्रथम समय में अधस्तन और उपरिम असंख्यातवें भागविषयक कृष्टियाँ ही विनाश होती हुईं प्रधानरूप से विवक्षित हैं। दूसरे समय में असंख्यातगुणी कृष्टियों का वेदन करता है, क्योंकि प्रथम समय में विनाश को

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२८६।

प्राप्त हुई कृष्टियों से दूसरे समय में अधस्तन और उपरिम असंख्यातवें भाग से सम्बन्ध रखने वाली असंख्यातगुणी कृष्टियों का विनाश करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से यह जीव कृष्टिगत योग का वेदन करता है, क्योंकि प्रत्येक समय में मध्यम कृष्टिरूप से परिणमन करने वाली कृष्टियों की असंख्यातगुणरूप से प्रवृत्ति देखी जाती है।

शङ्का—प्रथमादि समयों में क्रम से वेदी गई कृष्टियों के जीवप्रदेश द्वितीयादि समयों में अपरिस्पन्दस्वरूप से अयोगी होकर स्थित रहते हैं, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि एक जीव में अक्रम से सयोगरूप और अयोगरूप पर्यायों की प्रवृत्ति होने में विरोध आता है।

इस तरह प्रतिसमय अधस्तन और उपरिम असंख्यातवें भागप्रमाण कृष्टियों को असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से मध्यम कृष्टियों के आकार से परिणमाकर विनाश करता है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार का अर्थ सूत्र में नहीं है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'अन्तिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का नाश करता है' इस प्रकार आगे कहे जाने वाले सूत्र में स्पष्ट रूप से इस अर्थ-विशेष का सम्बन्ध देखा जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योग का अनुभव करने वाले अतिसूक्ष्म काययोग में विद्यमान सयोगिकेवली के उस अवस्था में ध्यान-परिणाम कैसा होता है ? ऐसी आशंका होने पर निःशंक करने के लिये आगे के सूत्र का आरम्भ करते हैं—

तथा सूक्ष्म क्रियारूप अप्रतिपाती ध्यान को ध्याता है।

जिसमें सूक्ष्म क्रियारूप योग हो वह सूक्ष्म क्रियारूप तथा नीचे प्रतिपात नहीं होने से अप्रतिपाति; ऐसे तीसरे शुक्लध्यान को उस अवस्था में ध्याता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका—इस ध्यान का क्या फल है ?

समाधान—योग के आस्रव का अत्यन्त निरोध करना इसका फल है, क्योंकि सूक्ष्मतर कायपरिस्पन्द का भी यहाँ पर अन्वय के बिना निरोध देखा जाता है। कहा भी है—

काययोगी और अद्भुत स्थिति वाले सर्वज्ञ के योगक्रिया का निरोध करने के लिए तीसरा शुक्लध्यान कहा गया है ॥१॥[1]

शंका—समस्त पदार्थों को विषय करने वाले ध्रुव उपयोग से परिणत केवली जिनमें एकाग्र चिन्तानिरोध का होना असम्भव है, ऐसा अभीष्ट है, अतः ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—यह कहना सत्य है, क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थों का साक्षात्कार किया है और जो क्रमरहित उपयोग से परिणत हैं ऐसे सर्वज्ञदेव के एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षण ध्यान नहीं बन सकता, क्योंकि यह अभीष्ट है। किन्तु योग के निरोध मात्र से होने वाले कर्मास्रव के निरोध-लक्षण ध्यानफल की प्रवृत्ति को देखकर उस प्रकार के उपचार की कल्पना की है, इसलिये कुछ

---

१. जयधवल मूल पृ० २२६० ।

भी हानि नहीं है। अथवा चिन्ता का हेतु होने से भूतपूर्वपने की अपेक्षा चिन्ता का नाम योग है, उसके एकाग्रपने से निरोध करना एकाग्रचिन्तानिरोध है। इस प्रकार के व्याख्यान का आश्रय करने से यहाँ ध्यान स्वीकार किया है, इसलिये कोई दोष नहीं है। उस प्रकार कहा भी है—

छद्मस्थों का एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चिन्ता का अवस्थान होना ध्यान है, परन्तु केवलीजिनों का योग का निरोध करना ही ध्यान है।

इसलिए ठीक कहा है कि योग का निरोध करने वाले केवली भगवान् कर्म के ग्रहण की सामर्थ्य का निरन्वय निरोध करने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती संज्ञक परम शुक्लध्यान ऐसे लक्षण ध्यान को ध्याते हैं। इस प्रकार ध्यान करने वाले, परम शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा प्रति-समय असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से कर्मनिर्जरा का पालन करने वाले तथा स्थितिकाण्डक का और अनुभागकाण्डक का क्रम से पतन करने वाले इस परम ऋषि के योगशक्ति क्रम से हीन होती हुई सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में पूरी तरह से नष्ट होती है। इस प्रकार इस बात के प्रतिपादन करने की इच्छा से आगे के सूत्र को कहते हैं—

कृष्टिवेदक सयोगिकेवली जीव कृष्टियों के अन्तिम समय में असंख्यात बहुभाग का नाश करता है।

कृष्टिवेदक के प्रथम समय से लेकर समय-समय में कृष्टियों के असंख्यातवें भाग का असंख्यात गुणी श्रेणिरूप से क्षय करके नाश करता हुआ सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का नाश करता है, क्योंकि उसके बाद योगप्रवृत्ति का अत्यन्त उच्छेद देखा जाता है, इस प्रकार यह यहाँ सूत्र का समुच्चयरूप अर्थ है।

अब नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मों के अन्तिम स्थितिकाण्डक को ग्रहण करता हुआ जितना सयोगिकाल शेष है और सब अयोगिकाल है। तत्प्रमाण स्थितियों को छोड़कर गुणश्रेणिशीर्षक के साथ उपरिम सब स्थितियों को ग्रहण करता है। उसी समय प्रदेशपुंज का अपकर्षण करके उदय में अल्प प्रदेशपुंज को देता है, अनन्तर समय में असंख्यातगुणे प्रदेशपुंज को देता है। इस प्रकार असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से निक्षेप करता हुआ स्थितिकाण्डक की जघन्य स्थिति से अधस्तन अनन्तर स्थिति के प्राप्त होने तक जाता है।

अब यही गुणश्रेणिशीर्ष हो गया। इस गुणश्रेणिशीर्ष से स्थितिकाण्डक की जो जघन्य स्थिति है उसमें असंख्यातगुणा देता है। उससे उपरिम अनन्तर स्थिति से लेकर विशेष हीन प्रदेशपुंज का निक्षेप करता हुआ पुरानी गुणश्रेणिशीर्ष तक निक्षेप करता जाता है। पुनः पुराने गुणशीर्ष से लेकर उपरिम अनन्तर स्थिति में असंख्यात गुणहीन प्रदेशपुंज देता है। उससे आगे सर्वत्र विशेषहीन प्रदेशपुंज निक्षेप करता है। यहाँ से लेकर गलितशेष गुणश्रेणि हो जाती है। इस प्रकार अन्तिम स्थितिकाण्डक को द्विचरमफालि हो जाना चाहिए।[1]

पुनः अन्तिम स्थितिकाण्डककी अन्तिम फालि के द्रव्य को ग्रहण करके उदय में स्तोक प्रदेश-पुंज को देता है। तदनन्तर समय में असंख्यातगुणे प्रदेशपुंज को देता है। इस प्रकार असंख्यातगुणी

---

१. जयधवल मूल पृ. २२६१।

श्रेणिरूप से निक्षेप करता हुआ अयोगिकेवली के अन्तिम समय तक जाता है। अब इसी समय में योगनिरोधक्रिया और सयोगिकेवली के काल की समाप्ति होती है। इससे आगे गुणश्रेणि और स्थिति-घात तथा अनुभागघात नहीं है। केवल अधःस्थिति के द्वारा असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से कर्मनिर्जरा का पालन करता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यहीं पर सातावेदनीय के प्रकृतिबन्ध की व्युच्छित्ति होती है तथा उनतालीस प्रकृतियों की उदीरणाव्युच्छित्ति जाननी चाहिए। उसी समय आयु के समान नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म स्थितिसत्कर्म रूप हो जाते हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे के सूत्र का आरम्भ करते हैं—

योग का निरोध होने पर [स्थिति की अपेक्षा] आयु के समान कर्म होते हैं।

केवलिसमुद्घात क्रिया द्वारा तथा योगनिरोध रूप काल के भीतर स्थितिघात और अनुभाग-घात के द्वारा घात करने से शेष रहे नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म इस समय आयुकर्म के समान होकर अयोगिकेवली के काल के बराबर उनका स्थितिसत्कर्म हो जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार इतने प्ररूपणाप्रबन्ध द्वारा सयोगिकेवली गुणस्थान का पालन करके उस काल के समाप्त होने पर यथावसर प्राप्त अयोगिकेवली गुणस्थान को प्राप्त होता है, इस बात का प्रतिपादन करते हुए आगे गाथा कहते हैं—

अयोगकेवली गुणस्थान का कथन

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥[1]

गाथार्थ—जिसने शील के स्वामित्व को प्राप्त कर लिया है, सम्पूर्ण आस्रवों का जिसने निरोध किया है और जो नूतन बध्यमान कर्मरज से भी रहित है, वह गतयोगकेवली यानी अयोगकेवली कहलाता है।

विशेषार्थ—

पहला विशेषण है—**सीलेसिं संपत्तो** अर्थात् जिन्होंने समस्त गुण और शील का अविकल (पूर्ण) स्वरूप से आधिपत्य प्राप्त कर लिया है, वे शीलों के ईश 'शीलेश' कहलाते हैं। शीलेश का भाव **शैलेश्य है।**

शङ्का— यदि शैलेश्य का यह अर्थ है, तो इस विशेषण का चौदहवें गुणस्थान में प्रारम्भ नहीं होना चाहिए था, क्योंकि अरिहन्त परमेष्ठी भगवान ने सयोगकेवली अवस्था में भी सकल गुण-शील के आधिपत्य को अविकल स्वरूप से प्राप्त कर लिया है, अन्यथा सयोगकेवली को अपरिपूर्ण गुण-शील होने से, परमेष्ठीपना प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे हमारे गुण व शील पूर्ण न होने से हमें परमेष्ठीपद प्राप्त नहीं है।

समाधान—आपका कहना सत्य है, सयोगकेवली ने भी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है। वे अशेषगुणों के खजाने हैं, निष्कलंक हैं और परम-उपेक्षा लक्षण वाले यथाख्यात विहारशुद्धि संयम

---

१. धवल १/१९९ पर भी यह गाथा है।

की पराकाष्ठा में अधिष्ठित हैं। इस प्रकार सयोगकेवली के सकलगुण और शील प्रगट हो गये हैं, यह स्वीकार है, किन्तु उनके योग के निमित्त से होने वाले आस्रव मात्र के सत्त्व की अपेक्षा सम्पूर्ण कर्म-निर्जरा रूप फल वाला सकल संवर नहीं उत्पन्न हुआ है, जबकि अयोगकेवली ने समस्त आस्रवों के द्वार रोक दिये हैं और प्रतिपक्ष रहित आत्मलाभ प्राप्त कर लिया है, इस अभिप्राय से 'शैलेश्य' विशेषण अयोगकेवली के साथ लगाया गया है, इसमें कोई दोष भी नहीं है।[1]

शील के १८००० भेदों का स्वामित्व-आधिपत्य अयोगकेवली प्राप्त करते हैं। शील के १८००० भेदों को **मूलाचार** में इस प्रकार बताया है—

जोए करणे सण्णा, इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अब्भत्था, अट्ठारससील सहस्साइं॥

तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दस पृथिवीकायिक आदि जीवभेद, उत्तम-क्षमादि दशधर्म इनको परस्पर गुणा करने से (३×३×४×५×१०×१०) शील के १८००० भेद होते हैं। **आचारसार** अधिकार १२ में भी कहा है—

धर्मैर्गुप्तिभिः करणसंज्ञाऽक्ष-प्राणसंयमैः।
अष्टादशसहस्राणि शीलान्यन्योन्यसंगुणैः॥२॥

१० धर्म, ३ गुप्ति, ३ करण, ४ संज्ञा, ५ इन्द्रिय और १० प्राणसंयम (१०×३×३×४×५×१०) इनको परस्पर गुणा करने पर शील के १८००० भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी शील के १८००० भेद जिनागम में बताये गये हैं।

दूसरा विशेषण है—'**णिरुद्धणिस्सेस आसवो**' अर्थात् समस्त आस्रव का निरोध कर देने से नवीन कर्मों का परम संवर हो गया है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय से जिन कर्मों का आस्रव होता था, उन कर्मों के आस्रव का निरोध अधस्तन गुणस्थानों में हो गया। योग से आस्रव होता था उसका भी अयोगकेवली के अभाव हो गया, इसलिए अयोगकेवली के अशेष आस्रव का निरोध हो जाने से यह विशेषण सिद्ध हो जाता है।

तीसरा विशेषण है—"**कम्मरयविप्पमुक्को**" बन्ध के हेतुभूत आस्रव का निरवशेषरूप से निरोध हो जाने से तथा सत्त्वरूप कर्मों का प्रतिसमय अधःस्थिति गलन के कारण निर्जीर्ण होने से अयोगकेवली कर्मरज से विमुक्त हैं। अथवा नवीन कर्मरज से लिप्त न होने के कारण कर्मरज से विमुक्त हैं।

शङ्का—पुरातनकर्म अपना फल देकर अकर्मभाव को प्राप्त होते हैं, उनके फलस्वरूप जो आत्मपरिणाम होते हैं, उन परिणामों के कारण अयोगकेवली कर्मरज से लिप्त होने चाहिए थे।

समाधान—नहीं, मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से शेष चार अघातिया कर्म निःशक्त हो जाते हैं, अतः वे अपना कार्य करने में असमर्थ हैं।

---

१. ज.ध. मूल पृ. २२६२ एवं ज.ध. १६/१८३।

शङ्का—मोहनीयकर्म के अभाव में भी अघातियाकर्म अपना कार्य करते हैं, अन्यथा जीव का शरीर में रुके रहना, आत्मा के अमूर्तिक स्वभाव का घात एवं ऊर्ध्वगमन स्वभाव का घात हो नहीं सकता था।

समाधान—यद्यपि अघातिया कर्मोदय से ये कार्य होते हैं तथापि इन कार्यों के कारण जीव कर्मरज से लिप्त नहीं होता, क्योंकि कर्मरज से लिप्त करने का कार्य लेश्या[1] का है। अयोगकेवली के लेश्या का अभाव है।[2] कारण के अभाव में उससे होने वाला कार्य भी असम्भव है।[3] दूसरे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग कर्मबन्ध के हेतु हैं। अयोगकेवली के इन सब हेतुओं का अविकलरूप से नाश हो जाने के कारण भी कर्मबन्ध का अभाव है। यदि अहेतुक बन्ध माना जावे तो मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जाएगा।

अयोगकेवली 'समुच्छिन्न क्रियानिवर्ती अथवा व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान को ध्याते हैं। योग को क्रिया कहते हैं। मन, वचन और काय का सर्व व्यापार समुच्छिन्न अथवा व्युपरत (नष्ट) हो जाने से यह अन्तिम शुक्ल ध्यान समुच्छिन्नक्रिया है। इस ध्यान से अयोगकेवली गिरते नहीं अथवा 'न निवर्तते' लौटते नहीं, ऐसा इस शुक्लध्यान का स्वभाव होने से यह समुच्छिन्न-क्रियानिवर्ती शुक्लध्यान है। अलेश्या के सम्बल सहित इस ध्यान का फल कायत्रय (औदारिक, तैजस, कार्मणकाय) के बन्धन से मुक्ति को देखकर 'भगवान ध्यान करते हैं' ऐसा कहा जाता है। पूर्ववत् यहाँ भी उपचार से ध्यान है। केवली के ध्रुव-उपयोगरूप परिणति के कारण ध्यान के लक्षणस्वरूप एकाग्रचिन्ता निरोध का अभाव है, अतः केवली के परमार्थ से ध्यान नहीं है। समस्त आस्रवद्वार का निरोध करने वाले केवली के अपनी आत्मा में ही अवस्थान होने का फल सर्व कर्मों की निर्जरा होने से ध्यान की प्रतीति करनी चाहिए। कहा भी है—

[4]चतुर्थं स्यादयोगस्य शेषकर्मच्छिदुत्तमम्।
फलमस्याद्भुतं धाम, परतीर्थ्या दुरासदम्॥१५६॥

—शेषकर्मों को छेदने हेतु अयोगकेवली के चतुर्थशुक्लध्यान होता है, यह कठिनाई से प्राप्त होने वाला है, इसका फल अद्भुत मोक्षधाम की प्राप्ति है। यह ध्यान मिथ्यातीर्थ वालों को दुष्प्राप्य है।

अयोगकेवली गुणस्थान के काल का नाम **'शैलेश्यद्धा' है**। उस काल का प्रमाण पाँच ह्रस्वाक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) उच्चारण मात्र है। अयोगकेवली गुणस्थान के द्विचरमसमय में अनुदय रूप वेदनीय कर्मप्रकृति व देवगति आदि अनुदयरूप ७२ प्रकृतियों का क्षय होता है एवं चरमसमय में उदयरूप वेदनीयकर्मप्रकृति, मनुष्यायु, मनुष्यगति आदि उदयस्वरूप १३ प्रकृतियों का क्षय होता है।[5]

यद्यपि उदय और अनुदयरूप इन दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों की स्थिति समान है तथापि अनुदयरूप कर्मप्रकृतियाँ एकसमय पूर्व स्वजाति-उदयप्रकृतिरूप स्तिबुकसंक्रमण द्वारा संक्रमण कर परमुखरूप से उदय में आती हैं। अयोगकेवली के चरमसमय तक स्थितिवाली अनुदय प्रकृतियाँ द्विचरमसमय में स्तिबुकसंक्रमण द्वारा उदय प्रकृतिरूप संक्रमण कर जाने के कारण चरमसमय में

---

१. 'लिम्पतीति लेश्या' ध.पु. १ पृ. १४९। २. "अन्तमुंहूर्तमलेश्याभावेन भगवत्ययोगिकेवलिनि" (ज.ध. मूल पृ. २२९२)। ३. "कारणविनाशे तत्कार्यासम्भवः"। ४. ज. ध. मूल पृ. २२९३ ज. ध. १६/१८५। ५. ज. ध. मूल पृ. २२९३, ज. ध. पु. १६ पृ. १८५-८६।

अनुदय प्रकृतियों का सत्त्व न रहने से द्विचरमसमय में उनका क्षय कहा गया है। यह कथन उत्पादानुच्छेद की अपेक्षा किया गया है। द्विचरमसमय में सत्त्व से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियाँ देवगति, पाँच शरीर, पाँच शरीरबन्धन, पाँच शरीरसंघात, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, प्रत्येकशरीर, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र और दोनों वेदनीयों में से अनुदय प्राप्त एक वेदनीय; ये ७२ प्रकृतियाँ अयोगकेवली के द्विचरमसमय पर्यन्त होती हैं, किन्तु इन ७२ प्रकृतियों के अतिरिक्त मनुष्यगत्यानुपूर्वी भी अनुदय प्रकृति है। अतः श्री वीरसेनस्वामी ने इस प्रकृति की भी सत्त्वव्युच्छित्ति द्विचरमसमय में बतलायी है। (धवल पुस्तक ६।४१७)

उदयरूप एक वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र ये बारह प्रकृतियाँ अयोगकेवली के अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होती हैं, किन्तु श्री जिनसेनाचार्य ने मनुष्यगत्यानुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति बतलाई है। मनुष्यगति के साथ-साथ ही मनुष्यगत्यानुपूर्वी का भी बन्ध होता है। अतः मनुष्यगति के साथ ही मनुष्यगत्यानुपूर्वी की सत्त्वव्युच्छित्ति कही गई है।

जिनके योग विद्यमान नहीं है, अतिक्रान्त कर गया है वे अयोगी हैं, जिनके केवलज्ञान पाया जाता हैं वे केवली हैं जो योगरहित होते हुए केवली होते हैं वे अयोगकेवली हैं।

शंका—सयोगकेवली के तो मन है, अतः उनके तो केवलज्ञान सम्भव है, किन्तु अयोगकेवली के मन के अभाव में केवलज्ञान कैसे सम्भव है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षय से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी मन से उत्पत्ति मानना विरुद्ध है।

शंका—जिस प्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होने से अपनी उत्पत्ति में कारक की अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसको भी अपनी उत्पत्ति में कारक की अपेक्षा रखनी चाहिए।

समाधान—नहीं, क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान में साधर्म्य नहीं पाया जाता।

शङ्का—अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समय में परिवर्तनशील पदार्थों को कैसे जानता है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थों को जानने के लिए तदनुकूल परिवर्तन करने वाले केवलज्ञान के ऐसे परिवर्तन के मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—ज्ञेय की परतन्त्रता से परिवर्तन करने वाले केवलज्ञान की फिर से उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि केवल उपयोग सामान्य की अपेक्षा केवलज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेष की अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह विशेष केवलज्ञान इन्द्रिय, मन और आलोक

से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि जिसके केवलज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे केवलज्ञान में इन्द्रियादिक की सहायता मानने में विरोध आता है।

शङ्का—यदि केवलज्ञान असहाय है, तो वह प्रमेय को भी न जाने ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पदार्थों का जानना उसका स्वभाव है और वस्तु के स्वभाव दूसरों के प्रश्नों के योग्य नहीं हुआ करते हैं। यदि स्वभाव में भी प्रश्न होने लगे तो फिर वस्तुओं की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। (धवल पु. १ पृ. १९८-१९९)

चौदह गुणस्थानों में होने वाली आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा

सम्मत्तुप्पत्तीये सावय-विरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसाय-उवसामगे य उवसंते ॥६६॥

खवगे य खीणमोहे, जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥६७॥[1]

गाथार्थ—सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक अर्थात् देशव्रती, विरत अर्थात् महाव्रती, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, चारित्र-मोह का उपशम करने वाला, उपशान्तकषाय, चारित्रमोह का क्षपण करने वाला, क्षीणमोह, स्व-स्थानजिन और योगनिरोध करने वाले जिन, इन स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, परन्तु निर्जरा का काल (गुणश्रेणी आयाम) उससे विपरीत है अर्थात् आगे से पीछे की ओर बढ़ता हुआ है जो संख्यातगुणितहीन श्रेणिरूप है ॥६६-६७॥

विशेषार्थ—ये दोनों गाथाएँ निर्जीर्ण होने वाले प्रदेश और काल से विशेषित ग्यारह गुण-श्रेणियों का कथन करती हैं।[2]

'विशुद्धियों के द्वारा अनुभागक्षय होता है और उससे प्रदेशनिर्जरा होती है।' इस बात का ज्ञान कराने से जीव और कर्म के सम्बन्ध का कारण अनुभाग ही है, इस बात को बतलाने के लिए उक्त कथन किया गया है। गुणश्रेणीनिर्जरा का कारण भाव है। **'सम्मत्तुप्पत्ती'** अर्थात् दर्शनमोह का उपशम करके प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का उपाय। **'सावय'** अर्थात् देशविरति। **'विरदे'** अर्थात् संयत। **'अणंतकम्मंसे'** अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करने वाला। **'दंसणमोहक्खवगे'** अर्थात् दर्शनमोह की क्षपणा करनेवाला। **'कसायउवसामगे'** अर्थात् चारित्रमोहनीय का उपशम करने वाले। **'उवसंते'** अर्थात् उपशान्तकषाय। **'खवगे'** चारित्रमोह की क्षपणा करने वाला। **'खीणमोहे'** क्षीण-कषाय। **'जिणेसु'** अर्थात् स्वस्थानजिन और योगनिरोध में प्रवर्तमानजिन। इस प्रकार इन गाथाओं

---

१. ये दोनों गाथाएँ ध. पु१२ पृ. ७८ प्रथम चूलिकारूप से दी गई हैं। वहाँ पाठ इस प्रकार है—
"सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावयविरदे अणंतकम्मंसे। दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते ॥ ७ ॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा। तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए य सेडीए ॥ ८ ॥"
२. ध. पु. १२ पृ. ७८।

के द्वारा ग्यारह प्रकार की प्रदेशगुणश्रेणी निर्जरा की प्ररूपणा की गई है।[1]

'तव्विवरीदोकालो' परन्तु इनका गुणश्रेणिनिक्षेप अध्वान उससे विपरीत है, अर्थात् आगे से पीछे की ओर वृद्धिगत होकर जाता है। पूर्व के समान असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से प्राप्त वृद्धि का प्रतिषेध करने के लिए **'संखेज्जगुणवकमा'** अर्थात् संख्यातगुणितक्रम है, ऐसा कहा है। इसका विशेष कथन इस प्रकार है--

'दर्शनमोह का उपशम करने वाले का गुणश्रेणिगुणकार सबसे स्तोक है ।।१७५।।

'गुण' शब्द का अर्थ गुणकार है तथा उसकी श्रेणी, आवली या पंक्ति का नाम गुणश्रेणी है। दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले के प्रथम समय में निर्जरा को प्राप्त होने वाला द्रव्य स्तोक है। द्वितीयसमय में निर्जरा को प्राप्त होने वाला द्रव्य उससे असंख्यातगुणा है। उससे तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त होने वाला द्रव्य असंख्यातगुणा है। इस प्रकार दर्शनमोह के उपशमक के अन्तिम समय पर्यन्त ले जाना चाहिए। यह गुणकार पंक्ति गुणश्रेणी है। गुणश्रेणी का गुण गुणश्रेणिगुणकार कहलाता है। इसका भावार्थ यह है कि "सम्यक्त्व की उत्पत्ति में जो गुणश्रेणिगुणकार सर्वोत्कृष्ट है वह भी आगे कहे जाने वाले गुणकार की अपेक्षा स्तोक है।"[2]

'उससे संयतासंयत का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।।१७६।।'

संयतासंयत की गुणश्रेणी निर्जरा का जो जघन्य गुणकार है वह पूर्व के उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा है।[3]

'उससे अधःप्रवृत्तसंयत का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।।१७७।।'

संयतासंयत के उत्कृष्ट गुणश्रेणिगुणकार की अपेक्षा स्वस्थानसंयत का जघन्यगुणकार असंख्यातगुणा है।

शङ्का—यतः संयमासंयमरूप परिणाम की अपेक्षा संयमरूप परिणाम अनन्तगुणा है। अतः संयमासंयम परिणाम की अपेक्षा संयमपरिणाम द्वारा होने वाली प्रदेशनिर्जरा भी अनन्तगुणी होनी चाहिए, क्योंकि इससे दूसरी जगह सर्वत्र कारण के अनुरूप ही कार्य की उपलब्धि होती है।

समाधान—नहीं, क्योकि प्रदेशनिर्जरा का गुणकार योगगुणकार का अनुसरण करने वाला है, अतएव उसके अनन्तगुणे होने में विरोध आता है। दूसरे, प्रदेशनिर्जरा में अनन्तगुणत्व स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर गुणश्रेणिनिर्जरा के दूसरे समय में ही मुक्ति का प्रसङ्ग आएगा। तीसरे कार्य, कारण का अनुसरण करता ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि अन्तरङ्ग कारण की अपेक्षा प्रवृत्त होने वाले कार्य के बहिरंग कारण के अनुसरण करने का नियम नहीं बन सकता।

शंका—सम्यक्त्व सहित संयम और संयमासंयम से होने वाली गुणश्रेणिनिर्जरा सम्यक्त्व के बिना संयम और संयमासंयम से होती है, यह कैसे कहा जा सकता है?

---

१. ध. पु. १२ पृ. ७६। २. ध. पु. १२ पृ. ८०। ३. ध. पु. १२ पृ. ८०।

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ सम्यक्त्वपरिणाम को प्रधानता नहीं दी गई है। अथवा संयम वही है जो सम्यक्त्व का अविनाभावी है अन्य नहीं, क्योंकि अन्य में गुणश्रेणिनिर्जरारूप कार्य नहीं उपलब्ध होता। इसलिए संयम के ग्रहण करने से ही सम्यक्त्वसहित संयम की सिद्धि हो जाती है।[1]

'उससे अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥ १७८ ॥'

स्वस्थानसंयत के उत्कृष्ट गुणश्रेणिगुणकार की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत जीवों में अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले का जघन्य गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है। यहाँ सब जगह 'गुणश्रेणिगुणकार' ऐसा कहने पर गलमान (निर्जीर्ण होने वाले) प्रदेशों का गुणश्रेणिगुणकार और निसिंचमान (निक्षिप्त किये जाने वाले) प्रदेशों का गुणश्रेणिगुणकार ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—यह 'गुणश्रेणिगुणकार' ऐसा सामान्य निर्देश करने से जाना जाता है।

शङ्का—संयमरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले असंयत-सम्यग्दृष्टि का परिणाम (विशुद्धि की अपेक्षा) अनन्तगुणाहीन होता है, ऐसी अवस्था में उससे असंख्यातगुणी प्रदेशनिर्जरा कैसे हो सकती है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संयमरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारणभूत सम्यक्त्वरूप परिणाम अनन्तगुणे (विशुद्ध) उपलब्ध होते हैं।

शङ्का—यदि सम्यक्त्वरूप परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना होती है तो सभी सम्यग्दृष्टियों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग आता है?

समाधान—सर्व सम्यग्दृष्टियों में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि विशिष्ट सम्यक्त्वरूप परिणामों के द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना स्वीकार की गई है।[2]

'उससे दर्शनमोह का क्षय करने वाले जीव का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥ १७९॥'

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले जीव के दोनों गुणश्रेणिसम्बन्धी उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा दर्शनमोह का क्षय करने वाले जीव के दोनों प्रकार (गलमान और निसिंचमान प्रदेशों) की गुणश्रेणियों का जघन्य गुणकार असंख्यातगुणा है। अतीत, अनागत और वर्तमान प्रदेश-गुणश्रेणिगुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण जानना चाहिए।

' से कषायोपशामक का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥१८०॥'

---

१. ध. पु. १२ पृ. ८१। २. ध. पु. १२ पृ. ८२।

दर्शनमोहनीय का क्षय करने वालो की दोनों प्रकार की गुणश्रेणियों के उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा कषायों का उपशम करने वाले का जघन्य गुणकार असंख्यातगुणा है। दर्शनमोहनीय क्षपक के गुणश्रेणिगुणकार से अपूर्वकरण उपशामक का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है।

शंका—इस प्रकार चारित्रमोहक्षपकों के भी पृथक्-पृथक् गुणकार के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करने पर गुणश्रेणिनिर्जरा ग्यारह प्रकार की न रहकर पन्द्रह प्रकार की हो जाती है?

समाधान—गुणश्रेणिनिर्जरा पन्द्रह प्रकार की नहीं होती, क्योंकि नैगमनय का अवलम्बन करने पर तीन उपशामकों और तीन क्षपकों के एकत्व की विवक्षा होने पर ग्यारह प्रकार की गुणश्रेणि-निर्जरा बन जाती है।[1]

'उससे उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥१८१॥'

यहाँ मोहनीयकर्म को छोड़कर शेषकर्मों की दोनों गुणश्रेणियों के गुणकार सम्बन्धी अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ उपशम भाव को प्राप्त मोहनीयकर्म की निर्जरा सम्भव नहीं है।

'उससे कषायक्षपक का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥ १८२ ॥'

उपशान्तकषाय की दोनों गुणश्रेणियों सम्बन्धी उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा द्रव्यार्थिकनय से अभेद को प्राप्त हुए तीनों क्षपकों का जघन्य भी गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है।

'उससे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥१८३॥'

मोहनीयकर्म के बन्ध, उदय व सत्त्व का अभाव हो जाने से कर्मनिर्जरा की शक्ति अनन्तगुणी वृद्धिंगत हो जाती है।

'उससे अधःप्रवृत्त [स्वस्थान] केवली संयत का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥१८४॥'

घातियाकर्मों के क्षीण हो जाने से कर्मनिर्जरा का परिणाम अनन्तगुणीवृद्धि को प्राप्त हो जाता है।[2]

'उससे योगनिरोधकेवली संयत का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ॥१८५॥'

क्योंकि ऐसा स्वभाव है।

अब ***'तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति'*** गाथासूत्र के इस पद का विशेष कथन किया जाता है—

'योगनिरोधकेवली संयत का गुणश्रेणिकाल सबसे स्तोक है ॥१८६॥'

योगनिरोध करने वाले सयोगकेवली आयु को छोड़कर शेष कर्मों के प्रदेशों का अपकर्षण कर

---

१. ध. पु. १२ पृ. ८३। २. ध. पु. १२ पृ. ८४।

उदय में स्तोक देता है। उससे द्वितीय समय में असंख्यातगुणा देता है। उससे तृतीयस्थिति में असंख्यातगुणा निक्षिप्त करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल तक निक्षिप्त करता है। उससे आगे के समय में असंख्यातगुणेहीन प्रदेश निक्षिप्त करता है। आगे अपनी-अपनी अतिस्थापनावली को प्राप्त नहीं होने तक विशेष (चय) हीन निक्षिप्त करता है। यहाँ गुणश्रेणी कर्मप्रदेशनिक्षेप का अध्वान स्तोक है, क्योंकि वह सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

'उससे अधःप्रवृत्तकेवली संयत का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१८७।।'

यहाँ भी उदयादि गुणश्रेणी का क्रम पहले के समान ही कहना चाहिए। विशेष इतना है कि पूर्व के गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप के अध्वान से अधःप्रवृत्तकेवली के गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप का अध्वान संख्यातगुणा है। गुणकार संख्यातसमय है।

'उससे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिकाल संख्यात गुणा है ।।१८८।।'

गुणकार संख्यात समय है।[1]

'उससे कषायक्षपक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१८९।।'

गुणकार संख्यात समय है।

'उससे उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९०।।'

'उससे कषायउपशामक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९१।।'

'उससे दर्शनमोहक्षपक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९२।।'

'उससे अनन्तानुबन्धी विसंयोजक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९३।।'

'उससे अधःप्रवृत्तसंयत का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९४।।'

अधःप्रवृत्तसंयत और एकान्तानुवृद्धि आदि क्रियाओं से रहित संयत इन दोनों का अर्थ एक है।

'उससे संयतासंयत का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९५।।'

'उससे दर्शनमोहोपशामक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९६।।'

सर्वत्र गुणकार संख्यातसमय है।[2] इस प्रकार गुणश्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थानों का कथन पूर्ण हुआ।

गुणस्थानातीत सिद्धों का स्वरूप

अट्ठविह-कम्म-वियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।।६८।।[3]

---

१. ध. पु. १२ पृ. ८५। २. धवल पु. १२ पृ. ८६-८७। ३. ध. पु. १ पृ. २००; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. ३१।

दर्शनमोहनीय का क्षय करने वालो की दोनों प्रकार की गुणश्रेणियों के उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा कषायों का उपशम करने वाले का जघन्य गुणकार असंख्यातगुणा है। दर्शनमोहनीय क्षपक के गुणश्रेणिगुणकार से अपूर्वकरण उपशामक का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है।

शंका—इस प्रकार चारित्रमोहक्षपकों के भी पृथक्-पृथक् गुणकार के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करने पर गुणश्रेणिनिर्जरा ग्यारह प्रकार की न रहकर पन्द्रह प्रकार की हो जाती है ?

समाधान—गुणश्रेणिनिर्जरा पन्द्रह प्रकार की नहीं होती, क्योंकि नैगमनय का अवलम्बन करने पर तीन उपशामकों और तीन क्षपकों के एकत्व की विवक्षा होने पर ग्यारह प्रकार की गुणश्रेणि-निर्जरा बन जाती है।[1]

'उससे उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।।१८१।।'

यहाँ मोहनीयकर्म को छोड़कर शेषकर्मों की दोनों गुणश्रेणियों के गुणकार सम्बन्धी अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ उपशम भाव को प्राप्त मोहनीयकर्म की निर्जरा सम्भव नहीं है।

'उससे कषायक्षपक का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।। १८२ ।।'

उपशान्तकषाय की दोनों गुणश्रेणियों सम्बन्धी उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा द्रव्यार्थिकनय से अभेद को प्राप्त हुए तीनों क्षपकों का जघन्य भी गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है।

'उससे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।।१८३।।'

मोहनीयकर्म के बन्ध, उदय व सत्त्व का अभाव हो जाने से कर्मनिर्जरा की शक्ति अनन्तगुणी वृद्धिंगत हो जाती है।

'उससे अधःप्रवृत्त [स्वस्थान] केवली संयत का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।।१८४।।'

घातियाकर्मों के क्षीण हो जाने से कर्मनिर्जरा का परिणाम अनन्तगुणीवृद्धि को प्राप्त हो जाता है।[2]

'उससे योगनिरोधकेवली संयत का गुणश्रेणिगुणकार असंख्यातगुणा है ।।१८५।।'

क्योंकि ऐसा स्वभाव है।

अब **'तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति'** गाथासूत्र के इस पद का विशेष कथन किया जाता है—

'योगनिरोधकेवली संयत का गुणश्रेणिकाल सबसे स्तोक है ।।१८६।।'

योगनिरोध करने वाले सयोगकेवली आयु को छोड़कर शेष कर्मों के प्रदेशों का अपकर्षण कर

---

१. ध. पु. १२ पृ. ८३। २. ध. पु. १२ पृ. ८४।

उदय में स्तोक देता है। उससे द्वितीय समय में असंख्यातगुणा देता है। उससे तृतीयस्थिति में असंख्यातगुणा निक्षिप्त करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल तक निक्षिप्त करता है। उससे आगे के समय में असंख्यातगुणेहीन प्रदेश निक्षिप्त करता है। आगे अपनी-अपनी अतिस्थापनावली को प्राप्त नहीं होने तक विशेष (चय) हीन निक्षिप्त करता है। यहाँ गुणश्रेणी कर्मप्रदेशनिक्षेप का अध्वान स्तोक है, क्योंकि वह सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

'उससे अधःप्रवृत्तकेवली संयत का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१८७।।'

यहाँ भी उदयादि गुणश्रेणी का क्रम पहले के समान ही कहना चाहिए। विशेष इतना है कि पूर्व के गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप के अध्वान से अधःप्रवृत्तकेवली के गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप का अध्वान संख्यातगुणा है। गुणकार संख्यातसमय है।

'उससे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिकाल संख्यात गुणा है ।।१८८।।'

गुणकार संख्यात समय है।[1]

'उससे कषायक्षपक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१८९।।'

गुणकार संख्यात समय है।

'उससे उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९०।।'

'उससे कषायउपशामक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९१।।'

'उससे दर्शनमोहक्षपक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९२।।'

'उससे अनन्तानुबन्धी विसंयोजक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९३।।'

'उससे अधःप्रवृत्तसंयत का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९४।।'

अधःप्रवृत्तसंयत और एकान्तानुवृद्धि आदि क्रियाओं से रहित संयत इन दोनों का अर्थ एक है।

'उससे संयतासंयत का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९५।।'

'उससे दर्शनमोहोपशामक का गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ।।१९६।।'

सर्वत्र गुणकार संख्यातसमय है।[2] इस प्रकार गुणश्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थानों का कथन पूर्ण हुआ।

गुणस्थानातीत सिद्धों का स्वरूप

अट्ठविह-कम्म-वियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।।६८।।[3]

---

१. ध. पु. १२ पृ. ८५। २. धवल पु. १२ पृ. ८६-८७। ३. ध. पु. १ पृ. २००; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. ३१।

गाथार्थ—जो आठप्रकार के कर्मों से रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरञ्जन हैं, नित्य हैं, आठगुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग पर निवास करते हैं, वे सिद्ध भगवान हैं ।।६८।।

विशेषार्थ—सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्ध-साध्य ये एकार्थवाची नाम हैं ।[1] मुक्तजीव सिद्ध होते हैं। वे सिद्ध भगवान, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-नाम-गोत्र और अन्तराय इन मूलप्रकृतिरूप आठकर्मों का क्षय कर देने से अष्टविध कर्मरहित हैं। इन आठकर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात हैं, अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनन्त हैं। इन सब प्रकृतियों-सम्बन्धी स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के बन्ध-उदय-सत्त्व आदिका सम्पूर्ण रूप से क्षय कर देने से इन कर्मों से **'वियला'** विगत अथवा प्रच्युत हैं। अथवा सिद्धभगवान द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म ऐसे तीन प्रकार के कर्ममल से रहित हैं।

दूसरा विशेषण है **"सीदीभूदा"** पूर्व संसारावस्था में जन्म-मरणादि भवदुःखों से तथा राग-द्वेष-मोहरूप दुःखों के ताप से तप्तायमान अशान्त थे। मोक्षावस्था में भवभ्रमण दुःखताप का, राग-द्वेषताप का अभाव हो जाने से और आत्मोत्पन्न अनन्त सुखामृत का पान करने से 'सीदीभूदा' अर्थात् अत्यन्त शान्त हो गये हैं। तृतीय विशेषण है **'णिरंजणा'** अंजन अर्थात् कज्जल, कालिमा। यह जिस प्रकार पदार्थ के स्वरूप को मलिन कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म विशुद्ध आत्मस्वभाव-अनन्तज्ञानादि की मलिनता के कारण होने से कर्म अञ्जन हैं। इन कर्मों को निष्क्रान्त कर देने से सिद्धभगवान निरंजन हैं। बन्ध के हेतु मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय का नाश हो जाने से और नवीनकर्म के आस्रव के हेतु योग का निरोध हो जाने से भी सिद्धभगवान निरंजन हैं। चतुर्थ विशेषण **'णिच्चा'** अर्थात् नित्य हैं। यद्यपि सिद्धों में प्रतिसमय काल के निमित्त से अगुरुलघुगुण के द्वारा स्वाभाविक अर्थपर्यायरूप उत्पाद-व्यय होता रहता है, तथापि अनन्तज्ञानादि विशुद्ध चैतन्य की अपेक्षा और सामान्य द्रव्य-आकार की अपेक्षा सिद्ध भगवान नित्य हैं अर्थात् अपने शुद्धस्वभाव व द्रव्याकार से कभी विचलित नहीं होते।

पंचम विशेषण **'अट्ठगुणा'** है। अष्टकर्मों के क्षय होने से सिद्धों में क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकवीर्य, सूक्ष्मत्व (अमूर्तिकत्व), अवगाहनत्व, स्वाभाविक अगुरुलघु, अव्याबाध ये आठगुण उत्पन्न हो जाते हैं। कहा भी है—

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं ।
हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेदि विग्घं तु ।
सुहुमं च णामकम्मं हणेदि आऊ हणेदि अवगहणं ।
अगुरुलहुगं गोदं अव्वाबाहं हणेइ वेयणियं ।।

[गो.जी. कन्नड़ी टीका ६८]

मोहनीयकर्म के क्षय से (१)क्षायिकसम्यक्त्व, ज्ञानावरण-दर्शनावरण इन दो आवरणकर्मों के नाश से क्रमशः (२)केवलज्ञान और (३)केवलदर्शन, अन्तरायकर्म के विनाश से (४)अनन्त-वीर्य, नामकर्म के नाश से (५)सूक्ष्मत्व(अमूर्तत्व), आयुकर्म के नाश से (६)अवगाहनत्व, गोत्रकर्म के नाश से (७)अगुरुलघुत्व और वेदनीयकर्म के नाश से (८)अव्याबाधत्व ये आठगुण सिद्धों में

---

१. ध. पु. १ पृ. २००।

प्रकट होते हैं। यहाँ अष्ट कर्मों के क्षय से आठगुण कहे गये हैं, तथापि सिद्धों में अनन्तगुण हैं। जैसे चारित्रमोह के क्षय से क्षायिकचारित्र, अकषाय, अवेद, वीतराग आदि गुण भी सिद्धों में हैं किन्तु उन गुणों का इन आठगुणों में अन्तर्भाव हो जाता है।

छठा विशेषण '**किदकिच्चा**' है। अयोगकेवली के जब तक चरमनिषेक का अन्तिमशुक्लध्यान के द्वारा क्षय नहीं हुआ तब तक वे कृतकृत्य नहीं हुए, क्योंकि उनको उदयस्वरूप कर्मों का क्षय करना था। समस्त कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जाने पर मोक्ष अर्थात् सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने से सिद्ध-भगवान को अब कुछ करना शेष नहीं रहा। केवलज्ञान-दर्शनादिरूप परिणाम स्वाभाविक हैं, कृत्य नहीं हैं। सातवाँ विशेषण '**लोयग्गणिवासिणो**' है। यद्यपि अनन्तानन्तप्रदेशी आकाशद्रव्य एक है तथापि धर्मास्तिकाय के कारण उसका लोकाकाश और अलोकाकाशरूप विभाजन हो गया, क्योंकि गमन में सहकारी कारण धर्म द्रव्य के अभाव में जीव व पुद्गल द्रव्य धर्मद्रव्य से आगे नहीं जा सकते। कहा भी है--

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेदूहिं।
जइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारो ॥१३४॥ [नयचक्र]
जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावादो य गमण-ठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥ [पंचास्तिकाय]

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका-"धर्माधर्मौ विद्येते लोकालोक-विभागान्यथानुपपत्तेः।" यदि धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य न हो तो लोकाकाश व अलोकाकाश का विभाग नहीं हो सकता था। धर्मास्तिकाय से विभाजित आकाशद्रव्य के लोकाकाश क्षेत्र के अग्र अर्थात् उपरितन तनुवातवलय के अन्तिमभाग में सिद्धभगवान स्थित हैं। यद्यपि आत्मा का ऊर्ध्वगमनस्वभाव है और अनन्तवीर्य है तथापि वह सहकारीकारण धर्मास्तिकाय की अपेक्षा रखता है। सहकारीकारण के सन्निधान में ही आत्मा का गतिपरिणाम सम्भव है। गति में कारणभूत धर्मास्तिकाय के अभाव में तनुवातवलय से आगे सिद्धभगवान का गमन नहीं होता, अतः वे लोक के ऊपर तनुवातवलय में स्थित हो जाते हैं। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय** में कहा है—

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥९२॥
जह्मा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तह्मा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थित्ति ॥९३॥

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका--"सर्वोत्कृष्टस्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणता भगवन्तः सिद्धा-बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनसामग्र्यां सत्यामपि कुतस्तत्राकाशे तिष्ठन्ति इति। यतो गत्वा भगवन्तः सिद्धाः लोकोपर्यवतिष्ठन्ते ततो गतिस्थितिहेतुत्वमाकाशे नास्तीति निश्चेतव्यम्। लोकालोकावच्छेदकौ धर्माधर्मावेव गतिस्थितिहेतू मंतव्याविति।"

इन गाथाओं से व टीका से यह स्पष्ट है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों कारणों के मिलने पर गति होती है। श्री सिद्धभगवान सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत हैं, किन्तु बहिरङ्ग-कारण धर्मद्रव्य के अभाव में लोक के ऊपर अग्रभाग में ठहर जाते हैं, क्योंकि उससे आगे गमन नहीं

कर सकते ।[१] सिद्धों के ये सातों विशेषण परमतों की मान्यताओं के निषेध के लिए दिये गये हैं।

जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहित, अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुख को प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल-स्वरूप को प्राप्त हैं, सम्पूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्वगुणों के निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्मा का आकार चरमशरीर से कुछ न्यून है, जो कोश से निकले हुए बाण के विनि:संग हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं, वे सिद्ध हैं।[२]

सर्वार्थसिद्धिइन्द्रक विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है।[३] आठवीं पृथिवी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है।[४] चार हजार धनुष का घनोदधिवातवलय, दो हजार धनुष का घनवातवलय, १५७५ धनुष में से ५२५ धनुष प्रमाण सिद्धों की अवगाहना घटाने पर (१५७५—५२५)=१०५० धनुष तनुवातवलय, इस प्रकार (४०००+२०००+१०५०)=७०५० धनुष ऊपर जाकर सिद्धभगवान का निवास है। सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच के वर्ग से युक्त ५०० अर्थात् ५२५ धनुष और जघन्य अवगाहना साढ़ेतीन हाथप्रमाण है।[५] सर्व सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरमशरीर के प्रमाण है।[६] एक सिद्धजीव से अवगाहित क्षेत्र के भीतर जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम अवगाहना से सहित अनन्तसिद्ध जीव होते हैं। मनुष्यलोक (ढाईद्वीप) प्रमाण स्थित तनुवातवलय के उपरिमभाग में सर्व सिद्धों के मस्तक सदृश होते हैं।[७]

गाथा के अन्त में 'सिद्ध' पद है। वे सिद्ध अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, दिग्विजय-सिद्ध, खड्गसिद्ध आदि लौकिकसिद्धों से विलक्षण तथा सम्यक्त्वादि अष्टगुणों के अन्तर्भूत निर्नाम, निर्गोत्र, अमूर्तत्वादि अनन्तगुण लक्षणवाले होते हैं।[८]

गाथा में सिद्धों के जो सात विशेषण दिये हैं वे अन्य मतों का निराकरण करने की दृष्टि से दिये गये हैं। अत: अब उसी को स्पष्ट करने के लिए आगे एक गाथा द्वारा कथन करते हैं—

सिद्धों के उक्त सात विशेषणों का प्रयोजन

सदासिव संखो मक्कडि बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी।
ईसरमंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं ॥६९॥[९]

गाथार्थ—सदाशिव, सांख्य, मस्करी (संन्यासी), बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, ईश्वर, मंडलि इन दर्शनों अर्थात् मतों को दूषण देने के लिए (गाथा ६८ में) सिद्धों के विशेषण कहे गये हैं ॥६९॥

विशेषार्थ—**सदाशिव मत** वाले जीव को सदा मुक्त और कर्ममल से अस्पृष्ट शाश्वत मानते हैं। उसका निराकरण करने के लिए 'सिद्धभगवान आठकर्मों से रहित हैं' ऐसा कहा गया है। पूर्व में

---

१. सकलकर्मविप्रमुक्तः परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वाल्लोकाग्रपर्यन्तमूर्ध्वं गत्वा तत्रैव तिष्ठति ततो बहिर्गमनसहकारि-धर्मास्तिकायाभावात् न गच्छति। (सिद्धान्तचक्रवर्ती-श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका) २. ध. पु. १. पृ. २००। ३. ति. प. ८/६५२। ४. ति. प. ९/३। ५. ति. प. ९/६। ६. ति. प. ९/९। ७. ति. प. ९/१४-१५। ८. पं. का. गा. ९३, जयसेनाचार्यकृत टीका। ९. यह गाथा श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव विरचित है।

जो बँधा हुआ होता है उसी के लिए 'मुक्त' पद का व्यवहार होता है। जैसे साँकल से बँधे हुए चोर के लिए 'मुक्त' शब्द का व्यवहार होता है। अबद्ध होने से आकाशादि के लिए 'मुक्त' शब्द का व्यवहार नहीं होता। इससे सिद्ध हो जाता है कि बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है। आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बँधी हुई है, उन कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष होता है। यह आगम में प्रसिद्ध है। मिथ्यादर्शनादि से बन्ध होता है, सम्यग्दर्शनादि अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से मोक्ष होता है, इसका तर्कशास्त्र से समर्थन होता है।

सांख्य मत मानता है कि प्रकृति को ही बन्ध-मोक्ष व सुख-दुःख होता है. आत्मा को बन्ध-मोक्ष व सुख-दुःख नहीं होता। उसको दूषण देने के लिए **'सीदीभूदा'** अर्थात् 'शान्तिमय हो गये' सिद्धों का यह विशेषण दिया गया है। आत्मा ही मिथ्यादर्शनादि भावरूप परिणत होती है और उसके कारण कर्मबन्ध होता है जिसका फल दुःखरूप भवाताप है। सम्यग्दर्शनादि परिणत आत्मा को मोक्ष होता है और उसका फल सुखरूप शान्तिभाव है। इससे सिद्ध है कि आत्मा को ही बन्ध-मोक्ष व सुख-दुःख होता है। प्रकृति (प्रधान) अचेतन है, उसको सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता।

मस्करी का सिद्धान्त है कि मुक्तजीव के भी पुनः कर्मरूप अञ्जन का संश्लेष-सम्बन्ध होने से वे भी पुनः संसारी हो जाते हैं, क्योंकि सब जीवों के मुक्त हो जाने पर संसार के अभाव का प्रसंग आ जायेगा इसलिए मस्करी ने यह सिद्धान्त बनाया कि मुक्तजीव भी पुनः कर्मों से बँधकर संसारी हो जाते हैं जिससे संसारीजीव हमेशा पाये जाते हैं। अतः मस्करीमत का निराकरण करने के लिए सिद्धों का **'णिरञ्जण'** विशेषण दिया गया है। समस्त भावकर्म-द्रव्यकर्म से पूर्णरूप से मुक्त हो जाने के कारण विशुद्धस्वभाववाले के बन्ध के कारण मिथ्यादर्शनादि भावकर्म का अभाव है इसलिये भावकर्म का कार्यभूत बन्ध असम्भव है, अन्यथा मोक्ष निर्हेतुक हो जायेगा और संसार के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। संसार में अनन्तानन्तजीव हैं, अनन्तकाल तक मुक्त होते रहने पर भी संसारी जीवों का अभाव नहीं होगा। आयरहित और व्ययसहित होने पर भी जिस राशि का अन्त न हो वह अनन्त है।

बौद्धमतवाले मानते हैं कि 'ज्ञान-संतान का अभाव मोक्ष है' इसका निराकरण करने के लिए **'णिच्चा'** अर्थात् नित्य विशेषण दिया है। मोक्ष तो उपादेय है और उसके लिए तप व योग आदि प्रयत्न किया जाता है। यदि ज्ञानसंतानक्षयरूप मोक्ष हो तो ऐसे मोक्ष के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि अनिष्ट फल के लिए प्रयत्न करना अशक्य है। लोक में प्रसिद्ध है कि बुद्धिमान पुरुष कभी अपने अहित के लिए प्रवृत्ति नहीं करता। सभी पुरुष अपूर्वलाभ के लिए प्रयत्न करते हैं न कि मूल-विनाश के लिए। जीवादि सब द्रव्य अनादिनिधन हैं, इसका समर्थन तर्कशास्त्र से भी होता है। NOTHING IS CREATED NOTHING IS DESTROYED अतः द्रव्यार्थिकनय से जीव द्रव्य नित्य है। बौद्धों का द्रव्यों को क्षणिक मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है।

नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिकों का मत है कि "बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, आत्मा के इन नौ विशेषगुणों की अत्यन्त व्युच्छित्ति (नाश) मुक्ति है।" उनका निराकरण करने के लिए **'अट्ठगुणा'** विशेषण दिया गया है। परमात्मा के स्वाभाविक केवलज्ञानादि गुण हैं। गुणों का नाश होने पर उन गुणों से अभिन्न स्वरूप द्रव्य के नाश का प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा। मुक्ति में ज्ञानादि गुणों का अभाव मानने पर परमात्मा के अचेतनत्व का प्रसङ्ग आ जाएगा, जैसे-ज्ञानगुण के अभाव से आकाशादिक अचेतन हैं। चेतना का स्व और पर संवेदन (जानना) स्वभाव है।

जिस मोक्ष में स्वगुण का नाश होता हो, ऐसे अनिष्ट फलवाले मोक्ष के लिए तत्त्ववेत्ता का तप और योगादिरूप प्रयत्न अयुक्त है। अर्थात् तत्त्ववेत्ता ऐसे अनिष्ट फलवाले मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं करते। मोक्ष में स्वाभाविक गुणों का नाश नहीं होता, अपितु स्वाभाविक गुण विद्यमान हो जाते हैं।

ईश्वरवादी परमात्मा को सदा मुक्त मानते हुए भी उसको सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं। उनका निराकरण करने के लिए **'किदकिच्चा'** विशेषण दिया है अर्थात् परमात्मा कृतकृत्य हैं, ऐसा कहा गया है। त्रिकालगोचर अर्थात् अनादिनिधन अनन्तद्रव्य और उनके गुण व पर्यायरूप लोकालोक सब को जानते व देखते हुए भी तथा अनन्तसुखामृत का अनुभवन करते हुए भी तथा अनन्तवीर्य होते हुए भी समस्त कलमषता का नाश कर देने से विशुद्ध स्वभाववाले सिद्धपरमेष्ठी परमात्मा लोकशिखर पर प्रकाशमान हो रहे हैं, जैसे निर्मल रत्न का दर्पण प्रकाशमान होता है। प्रयोजन के अभाव के कारण तथा कर्मनिर्जरा और तत्सम्बन्धी अनुष्ठान कर चुकने के कारण परमात्मा बाह्य कार्य कुछ भी नहीं करते। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप जगत्परिणाम तो बाह्य-निमित्तकारण कालद्रव्य के आश्रय से स्वतः हो रहा है। विचारशील चतुर पुरुषों को, 'परमात्मा सृष्टिकर्त्ता है' यह कथन अयुक्त ही प्रतिभासित होता है। तर्कशास्त्रों में भी ईश्वरसृष्टिकर्तृत्व का अर्थात् जगत्सृष्टिवाद का बहुधा निराकरण किया गया है; उन तर्कशास्त्रों से भी समर्थन होता है। अतः ईश्वर जगत्सृष्टि का कर्त्ता नहीं है।

मंडलि-दार्शनिकों का मत है कि 'परमात्मा का ऊर्ध्वगमनस्वभाव है और उसमें कुछ भी रुकावट न होने से परमात्मा ऊपर चले जा रहे हैं।' उसका निराकरण करने के लिए 'लोयग्गणिवासिणो' अर्थात् 'लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले' ऐसा विशेषण दिया है। जीव और पुद्गलों के गमन में सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। वह धर्मास्तिकाय जितने क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है उतने ही क्षेत्र में जीव और पुद्गलों का गमन होता है, उससे बाह्यक्षेत्र में गमन का अभाव है। लोक भी उतना ही है। गमन की निवृत्तिरूप स्थिति का हेतु अधर्मास्तिकाय भी उतने ही क्षेत्र में ठहरा हुआ है। इसलिए सकलकर्म से रहित सिद्धपरमेष्ठी परमात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग पर्यन्त ऊपर जाकर वहीं पर ठहर जाते हैं, क्योंकि गमन में बहिरंग सहकारीकारण धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाग्र से आगे नहीं जाते। अन्यथा सहकारीकारण धर्मास्तिकाय के अभाव में भी और सर्वगत सर्व आकाश के सहकारीकारण होने पर सर्वजीव-पुद्गलों का सर्वआकाश को व्याप्त करके गमनागमन का प्रसंग आ जाने से लोक और अलोक के विभाग का अभाव दुर्निवार हो जाएगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि लोक और अलोक का विभाग सर्वसम्मत है। इस प्रकार परमात्मा के लोकाग्रनिवास सिद्ध हो जाता है।[1]

शंका—सिद्धों और अरिहन्तों में क्या भेद है?

समाधान—आठकर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं और चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले अरिहन्त होते हैं। यही उन दोनों में भेद है।

शंका—चार घातियाकर्मों के नष्ट हो जाने पर अरिहन्तों की आत्मा के समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं इसलिए सिद्ध और अरिहन्त परमेष्ठी में गुणकृत भेद नहीं हो सकता है?

---

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र सूरि की टीका के आधार से यह विशेषार्थ लिखा है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अरिहन्तों के अघातिया कर्मों का उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं, अतएव इन दोनों परमेष्ठियों में गुणकृत भेद भी है।

शङ्का—वे अघातियाकर्म शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा अर्ध-जले हो जाने के कारण उदय और सत्त्वरूप से विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हैं?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शरीर के पतन का अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, अतः अरिहन्तों के आयु आदि शेष कर्मों के उदय और सत्त्व की सिद्धि हो जाती हैं।

शङ्का—कर्मों का कार्य तो चौरासीलाख योनिरूप जन्म, जरा और मरण से युक्त संसार है। वह अघातिया कर्मों के रहने पर भी अरिहन्त परमेष्ठी के नहीं पाया जाता है तथा अघातिया कर्म आत्मा के गुणों का घात करने में असमर्थ भी हैं। इसलिए अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी में गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव के प्रतिबन्धक आयुकर्म का उदय और सुख गुण के प्रतिबन्धक वेदनीयकर्म का उदय अरिहन्तों के पाया जाता है, इसलिए अरिहन्तों और सिद्धों में गुणकृत भेद है।

शङ्का—ऊर्ध्वगमन आत्मा का गुण नहीं है, क्योंकि उसको आत्मा का गुण मान लेने पर इसके अभाव में आत्मा का भी अभाव मानना पड़ेगा। इसी कारण सुख भी आत्मा का गुण नहीं है। दूसरे, वेदनीय कर्मोदय केवलियों में दुःख उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा केवलीपना नहीं रहेगा।

समाधान—यदि ऐसा है तो रहो, क्योंकि वह न्यायसंगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा और देशभेद की अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियों में भेद सिद्ध है।[1]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **गुणस्थान प्ररूपणा** नामक प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ।

●

२. जीवसमास-प्ररूपणा

जीवसमास का निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण

[2]जेहि अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥७०॥

गाथार्थ—जिन धर्मविशेषों के द्वारा नाना जीव और उनकी नानाप्रकार की जातियाँ जानी जाती हैं, जातियों का संग्रह करने वाले ऐसे उन धर्मों को जीवसमास कहते हैं ॥७०॥

---

१. धवल पु. १ पृ. ४७-४८।　２. प्रा.पं.सं.गा. १/३२।

विशेषार्थ---यद्यपि जीव बहुत हैं और बहुत प्रकार के हैं (जैसे पृथ्वी, रेत, पत्थर आदि तथा जल, ओस, बर्फ आदि; तेज हवा, आंधी, मन्द हवा आदि; दावानल, बड़वानल, ज्वाला आदि अग्नि; वृक्ष, घास, पौधा आदि वनस्पति) तथापि इन सबके एक स्पर्शन-इन्द्रिय है। इस सदृशधर्म की अपेक्षा ये सब अनन्तानन्त जीव एकेन्द्रिय जाति में गर्भित हो जाते हैं। विवक्षित सामान्यधर्म के द्वारा जो लक्षित किये जायें या जाने जायें वे सब जीव एकजाति में अन्तर्भूत होते हैं। जीवसमास में उन जातियों का संग्रह किया जाता है। उस जाति का जिसमें संग्रह किया जाय, वह जीवसमास है।

उत्पत्ति के कारण की अपेक्षा जीवसमास का लक्षण

तसचदुजुगाणमज्झे, अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा ।।७१।।

गाथार्थ– त्रस आदि चार युगलों के मध्य अविरुद्धकर्मप्रकृतियों से युक्त जातिनामकर्मोदय होने पर जो तद्भवसादृश्यसामान्य है, वह जीवसमास है ।।७१।।

विशेषार्थ—नामकर्म की त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त व प्रत्येक-साधारण इन आठ प्रकृतियों के मध्य त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक अथवा त्रस-बादर-अपर्याप्त-प्रत्येक; ये परस्पर अविरुद्धप्रकृतियाँ हैं। त्रस के साथ स्थावर-सूक्ष्म-साधारण इन तीन का विरोध है। स्थावर के साथ त्रस का विरोध है, शेष छह प्रकृतियाँ अविरुद्ध हैं, किन्तु सूक्ष्म व बादर परस्पर में विरुद्ध हैं। इसी प्रकार शेष दो युगलों की प्रकृतियाँ भी परस्पर विरुद्ध हैं। एकेन्द्रियादि जातिनामकर्म की पाँच प्रकृतियों में से किसी एक जाति-नामकर्मोदय के साथ यथासम्भव इन आठप्रकृतियों में से चार अविरुद्ध मिल जाने पर जो तद्भव (तेषु भवं विद्यमानं तद्भवं) अर्थात् उनमें विद्यमान जो सादृश्यसामान्य है, वह जीवसमास है। जैसे एकेन्द्रिय जाति-नामकर्मोदय के साथ पृथिवी स्थावरकाय-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर मिलाने से इसमें और एकेन्द्रियजाति-नामकर्मोदय के साथ जलस्थावरकाय बादर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर मिला देने पर इसमें अर्थात् इन दोनों में एकेन्द्रियजाति, स्थावर, बादर, पर्याप्त व प्रत्येक सादृश्यसामान्य है अतः इन दोनों का बादर-एकेन्द्रियपर्याप्त यह एक जीवसमास है। सादृश्यसामान्य को तिर्यक्सामान्य भी कहते हैं। जैसे एक काली गाय, दूसरी गौरी गाय; इन दोनों में गो-पना सादृश्यसामान्य है। अर्थान्तरों में अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो सदृशपरिणाम होता है वह सादृश्य-सामान्य अथवा तिर्यक्सामान्य है।[1] कहा भी है –

"सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।।४।।" [परोक्षामुख : चतुर्थ समुद्देश]

—सदृश अर्थात् सामान्य परिणाम तिर्यक्सामान्य है। जैसे खण्डी-मुण्डी आदि गायों में गोपना समानरूप से रहता है ।।४।।

इस गाथा में सूचित किया गया है कि बादर व सूक्ष्म तथा पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मोदय के कारण जीवसमास में भेद हो जाते हैं।

---

१. मन्दप्रबोधिनी टीका के आधार से।

जीवसमास के १४ भेद

[1]बादरसुहुमेइंदिय-बितिचउरिंदिय-असण्णिसण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ।।७२।।

गाथार्थ—बादरएकेन्द्रिय, सूक्ष्मएकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से (७×२=) १४ जीवसमास होते हैं ।।७२।।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं, बादर अर्थात् स्थूल और दूसरे सूक्ष्म । एकेन्द्रिय जीवों में पाँचों स्थावर गर्भित हो जाते हैं । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये तीनों विकलत्रय जीव त्रस होते हैं । पंचेन्द्रिय जीव भी संज्ञी व असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं । ये पंचेन्द्रिय जीव भी त्रस ही होते हैं । त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते, इस कारण बादर व सूक्ष्म की अपेक्षा द्वीन्द्रियादि के सूक्ष्म व बादर ये दो भेद नहीं होते । इस प्रकार बादर व सूक्ष्म की अपेक्षा एकेन्द्रियों के दो, संज्ञी-असंज्ञी की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के दो तथा विकलत्रय के तीन ये सब (२+२+३) सात भेद पर्याप्त-अपर्याप्त होते हैं, अतः सात को दो से गुणा करने पर चौदह जीवसमास होते हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय अनन्तजीव, २. अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय अनन्तजीव, ३. पर्याप्त-सूक्ष्मएकेन्द्रिय-अनन्तजीव, ४. अपर्याप्त सूक्ष्मएकेन्द्रिय अनन्तजीव, ५. बादर पर्याप्त द्वीन्द्रिय असंख्यात-जीव, ६. बादर अपर्याप्त द्वीन्द्रिय असंख्यातजीव ७. बादर पर्याप्त त्रीन्द्रिय असंख्यातजीव, ८. बादर अपर्याप्तत्रीन्द्रिय असंख्यातजीव, ९. बादरपर्याप्तचतुरिन्द्रिय असंख्यातजीव, १०. बादर अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय असंख्यातजीव, ११. संज्ञीपर्याप्तपंचेन्द्रिय असंख्यातजीव, १२. संज्ञी अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातजीव, १३. असंज्ञीपर्याप्तपंचेन्द्रिय असंख्यातजीव, और १४. असंज्ञी अपर्याप्त पंचेन्द्रिय-असंख्यातजीव । इस प्रकार संक्षेप से ये चौदह जीवसमास होते हैं ।

उन्नीस तथा ५७ जीवसमास

भू-आउ-तेउ-वाऊ-णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा ।
पत्तेयपदिट्ठिदरा तसपण पुण्णा अपुण्णदुगा ।।७३।।

गाथार्थ—पृथ्वीकायिक, अप् (जल) कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, साधारणवनस्पति-कायिक के दो भेद नित्यनिगोद व चतुर्गतिनिगोद इन छह भेदों में प्रत्येक के स्थूल (बादर) व इतर (सूक्ष्म) दो-दो भेद इस प्रकार बारह; प्रत्येक वनस्पति के दो भेद-सप्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित ये दो मिलकर स्थावर के चौदह भेद, इनमें त्रस के पाँच भेद मिलाने से (१४+५) १९ भेद हो जाते हैं। प्रत्येक के पर्याप्त व दो प्रकार के अपर्याप्त (२+१) ये तीन भेद करने से (१९×३) ५७ जीवसमास हो जाते हैं ।।७३।।

विशेषार्थ—भू-कायिक अर्थात् पृथ्वीकायिक, आउकायिक अर्थात् जलकायिक, तेउकायिक अर्थात

---

१. प्रा. पं. सं. १/३४ ।

तेजकायिक अथवा अग्निकायिक, वाउकायिक अर्थात् वायुकायिक ये चार स्थावरकाय तो प्रत्येक शरीर-वाले ही होते हैं। जो साधारणशरीरवाले वनस्पतिकायिक जीव हैं, वे निगोदिया होते हैं। निगोद दो प्रकार का है—नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद इन छह में प्रत्येक के बादर और सूक्ष्मभेद होने से (६×२) बारह भेद हो जाते हैं। प्रत्येकशरीरवाली वनस्पतिकायिक भी सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार की है। प्रत्येकवनस्पति बादर ही होती है (सूक्ष्म नहीं होती) अतः इसमें सूक्ष्म-बादर ऐसे दो भेद नहीं होने से दो भेद ही हैं। इन्हें बारह भेदों में मिलाने से (१२+२) १४ भेद स्थावरकाय-सम्बन्धी होते हैं। त्रस के पाँच भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय। त्रसजीव भी सब बादर ही होते हैं। स्थावरकायसम्बन्धी उपर्युक्त १४ भेदों में त्रसकायसम्बन्धी ये पाँच भेद जोड़ देने से जीवसमास के १९ भेद हो जाते हैं। इन १९ जीवसमासों में प्रत्येक के पर्याप्त और दो प्रकार के अपर्याप्तरूप (निर्वृत्ति-अपर्याप्त, लब्धि अपर्याप्तरूप) तीन-तीन भेद होने से (१९×३) ५७ भेद जीवसमास के हो जाते हैं।[1]

जाति—जीवों के सदृशपरिणाम को जाति कहते हैं। यदि जाति नामकर्म न हो तो खटमल खटमलों के साथ, बिच्छू बिच्छुओं के साथ, चींटियाँ चींटियों के साथ, धान्य-धान्य के साथ और शालि शालि के साथ समान नहीं होंगे, किन्तु इनमें परस्पर सदृशता दिखाई देती है।[2] अथवा जो कर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भाव का बनाने वाला है, वह जाति नामकर्म है।

शङ्का—जाति तो सदृशप्रत्यय ग्राह्य है, परन्तु तृण (घास) और वृक्ष में समानता है नहीं, क्योंकि दोनों में सदृशभाव उपलब्ध नहीं होता (यद्यपि दोनों के एकेन्द्रियजाति नामकर्म का उदय है)।

समाधान—नहीं, क्योंकि जल व आहार ग्रहण करने की अपेक्षा दोनों में समानता पाई जाती है।[3]

त्रस—जिस कर्म के उदय से गमनागमन भाव होता है, वह त्रस नामकर्म है।[4] जिस कर्म के उदय से जीव के त्रसपना होता है, वह त्रसनामकर्म है।[5] जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक में जन्म होता है वह त्रस नामकर्म है।[6]

स्थावर—जिस कर्म के उदय से जीवों के स्थावरपना होता है वह स्थावर नामकर्म है।[7] यदि स्थावर नामकर्म न हो तो स्थावर जीवों का अभाव हो जावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि स्थावर जीवों का सद्भाव पाया जाता है।[8] जिसके निमित्त से एकेन्द्रियों में उत्पत्ति होती है वह स्थावर नामकर्म है।[9] वे स्थावरजीव पांच प्रकार के हैं, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति।

शङ्का—जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का संचरण होता है, अतः वे त्रस हैं?

समाधान—जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों में जो गमन होता है वह गमनरूप परिणाम पारिणामिक है, अतः वे त्रस नहीं हैं।

---

१. मं. प्र. टीका के आधार से। २. ध. पु. ६ पृ. ५१। ३. ध. पु. १३ पृ. ३६३। ४. ध. पु. १३ पृ. ३६५। ५. ध. पु. ६ पृ. ६१। ६. सर्वार्थसिद्धि। ७. ध. पु. १३ पृ. ३६३। ८. ध. पु. ६ पृ. ६१। ९. सर्वार्थसिद्धि ८/११।

बादर—ग्रन्य बाधाकर शरीर का निर्वर्तक कर्म बादर नामकर्म है।[1] यदि बादर नामकर्म न हो तो बादरजीवों का ग्रभाव हो जावेगा, किन्तु ऐसा है, नहीं क्योंकि प्रतिघाती शरीरवाले जीवों की भी उपलब्धि होती है।[2]

सूक्ष्म—सूक्ष्मशरीर का निर्वर्तक कर्म सूक्ष्मनामकर्म है।[3] यदि सूक्ष्मनामकर्म न हो तो सूक्ष्म जीवों का ग्रभाव हो जावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ग्रपने प्रतिपक्षी के ग्रभाव में बादरकायिक जीवों के भी ग्रभाव का प्रसंग ग्राता है।[4] जिनके शरीर की गति का जल-स्थल ग्रादि के द्वारा प्रतिघात नहीं होता, वे सूक्ष्मजीव हैं।[5]

पर्याप्त—जिसके उदय से ग्राहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है, वह पर्याप्ति नामकर्म है। वह छहप्रकार का है। ग्राहारपर्याप्ति नामकर्म, शरीरपर्याप्तिनामकर्म, इन्द्रियपर्याप्तिनामकर्म, प्राणापानपर्याप्तिनामकर्म, भाषापर्याप्ति नामकर्म ग्रौर मनःपर्याप्तिनामकर्म।[6] यदि पर्याप्ति नामकर्म न हो तो सभी जीव ग्रपर्याप्त हो जावेंगे, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि पर्याप्तजीवों का सद्भाव पाया जाता है।[7]

ग्रपर्याप्त—जिसकर्म के उदय से जीव पर्याप्तियों को समाप्त करने के लिए समर्थ नहीं होता वह ग्रपर्याप्तनामकर्म है। यदि ग्रपर्याप्त नामकर्म न हो तो सभी पर्याप्तक ही होंगे, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी के ग्रभाव में विवक्षित के भी ग्रभाव का प्रसंग ग्राता है।[8]

प्रत्येकशरीर—शरीरनामकर्म से रचा गया शरीर जिसके निमित्त से एक ग्रात्मा के उपभोग का कारण होता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।[9] जिस कर्म के उदय से एकशरीर में एक ही जीव जीवित रहता है वह प्रत्येकशरीर नामकर्म है।[10] यदि प्रत्येकशरीर नामकर्म न हो तो एक शरीर में एक जीव का ही उपलम्भ न होगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उनका सद्भाव पाया जाता है।[11]

साधारणशरीर—बहुत ग्रात्माग्रों के उपभोग का हेतुरूप साधारण शरीर जिसके निमित्त से होता है, वह साधारण शरीर नामकर्म है।[12] यदि साधारण नामकर्म न हो तो सभी जीव प्रत्येकशरीर हो जावेंगे, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि प्रतिपक्षी के ग्रभाव में विवक्षित जीव के भी ग्रभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।[13]

जीवसमास का विशेष कथन करने वाले चार ग्रधिकारों का नामनिर्देशः—

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि देहोग्गाहणकुलाणभेदेहिं।
जीवसमासा सव्वे परूविदव्वा जहाकमसो ॥७४॥

गाथार्थ—सर्व जीवसमासों की प्ररूपणा यथाक्रम स्थान, योनि, शरीर की ग्रवगाहना ग्रौर कुल के भेदों के द्वारा करनी चाहिए ॥७४॥

---

१. स. सि. ८/११। २. ध. पु. ६ पृ. ६१। ३. स. सि. ८/११। ४. ध. पु. ६ पृ. ६२। ५. स्वा. का. ग्रनु. गा. १२३। ६. स.सि. ८/११। ७. ध.पु. ६ पृ. ६५। ८. ध.पु. ६ पृ. ६२। ९. स.सि. ८/११। १०. ध. पु. १३ पृ. ३६५। ११. ध.पु. ६ पृ. ६२। १२. ध.पु. १३ पृ. ३६५। १३. ध.पु. ६ पृ. ६३।

विशेषार्थ—एक जीवसमास, दो जीवसमास, तीन जीवसमास इत्यादि जीवसमास के भेद करके कथन करना जीवसमास की **स्थान** के द्वारा प्ररूपणा है। उत्पत्ति के आधार को **योनि** कहते हैं। सचित्त आदि योनि के भेदों के द्वारा जीवसमासों का कथन करना, जीवसमास की योनि द्वारा प्ररूपणा है। सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना से लेकर पाँच सौ धनुष के महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना तक अवगाहन विकल्पों के द्वारा जीवसमासों का कथन करना, **शरीरअवगाहना** के द्वारा जीवसमास प्ररूपणा है। नानाशरीरों की उत्पत्ति में कारणभूत नोकर्म-वर्गणा अनेक प्रकार की है। उन नोकर्मवर्गणाओं के भेद से कुलों में भेद हो जाते हैं। **कुलभेद** की अपेक्षा जीवसमास का कथन करना कुल के द्वारा जीवसमास प्ररूपणा है। सर्व उत्तरोत्तर विशेष-भेदों सहित जीवसमासों का कथन करना चाहिए। विशेषणों के द्वारा जो परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं।[1]

प्रथम स्थान-अधिकार द्वारा जीवसमास की प्ररूपणा

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयल चरिमदुगे।
इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुरपणगभेदजुदे ॥७५॥
पणजुगले तससहिये तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे।
छद्दुगपत्तेयह्मि य तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे ॥७६॥
सगजुगलह्मि तसस्स य पणभंगजुदेसु होंति उणवीसा।
एयादुणवीसोत्ति य इगिबितिगुणिदे हवे ठाणा ॥७७॥
सामण्णेण तिपंती पढमा विदिया अपुण्णगे इदरे।
पज्जत्ते लद्धिअपज्जत्तेऽपढमा हवे पंती ॥७८॥

गाथार्थ—सामान्यजीव, त्रस व स्थावर, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-सकलेन्द्रिय, अन्तिम (सकलेन्द्रिय) के दो भेद करने से, इन्द्रिय, काय, फिर अन्तिम (त्रसकाय) के दो भेद करके, तीनभेद करके, चारभेद करके और पाँचभेद करके पंचस्थावरों में मिलाने पर ७-८-९-१० स्थान हो जाते हैं ॥७५॥ पाँच स्थावरयुगलों में त्रस मिलाने से तथा त्रस के दो, तीन, चार और पाँच भेद करके मिलाने से ११-१२-१३-१४-१५ स्थान होते हैं। छह युगलों और प्रत्येकवनस्पति में त्रस के तीन-चार-पाँच भेद करके १६-१७-१८ स्थान होते हैं ॥७६॥ स्थावर के सातयुगलों में त्रस के पाँच भेद मिलाने से १९ वाँ स्थान होता है। इन एक से १९ तक सर्वस्थानों को एक-दो व तीन से गुणा करने पर स्थान उत्पन्न हो जाते हैं ॥७७॥ इन १९ स्थानों की तीन पंक्ति करनी। प्रथमपंक्ति सामान्य की अपेक्षा, द्वितीय पंक्ति पर्याप्त व अपर्याप्त की अपेक्षा, तृतीयपंक्ति पर्याप्त-निर्वृत्त्यपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा करनी चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ—(१) सामान्यजीव, (२) त्रस व स्थावर (३) एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय, (४) एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय, (५) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय,

१. ध.पु. २ पृ. १।

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, (६) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक, (७) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय, (८) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, विकलेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय, (६) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, (१०) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इन पाँच स्थावरकाय में त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय इन पाँच भेदों को मिलाने से दसस्थान हो जाते हैं। जीवसमास में जो प्रथमस्थान है वह संग्रहात्मक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा है और शेष स्थान भेद रूप होने से व्यवहारनय की प्रधानता से हैं ।।७५।। (११) पाँच स्थावरकाय के बादर व सूक्ष्म की अपेक्षा पाँचयुगल अर्थात् बादरपृथ्वीकायिक-सूक्ष्मपृथ्वीकायिक, बादरअप्कायिक-सूक्ष्मअप्कायिक, बादरतेजकायिक-सूक्ष्मतेजकायिक, बादरवनस्पतिकायिक-सूक्ष्मवनस्पतिकायिक, इस प्रकार स्थावर के १० भेदों में त्रसकायिक मिलाने से जीवसमास के ग्यारहस्थान, (१२) इन्हीं पाँच युगलों अर्थात् बादर व सूक्ष्मपृथ्वी-अप्-तेज-वायु-वनस्पतिकायिकों में त्रस के विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय ये दो भेद मिलाने से बारह स्थान (१३) उन्हीं पाँच स्थावरयुगलों में अर्थात् स्थावर के उक्त दस भेदों में त्रस के विकलेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय व असंज्ञीपंचेन्द्रिय ये तीन भेद मिलाने से तेरह स्थान, (१४) उन्हीं पाँच स्थावर युगलों में त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलाने से चौदहस्थान, (१५) उन्हीं पाँच स्थावर युगलों में त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा संज्ञी व असंज्ञीपंचेन्द्रिय इन पाँच भेदों को मिलाने से पन्द्रहस्थान, (१६) स्थावर के छह युगल व प्रत्येकवनस्पतिकायिक अर्थात् बादरपृथ्वीकायिक-सूक्ष्मपृथ्वीकायिक, बादरअप्कायिक, सूक्ष्मअप्कायिक, बादर तेजकायिक-सूक्ष्म तेजकायिक, बादर वायुकायिक-सूक्ष्मवायुकायिक, बादर नित्यनिगोद (साधारणवनस्पतिकायिक)[1] सूक्ष्मनित्यनिगोद, बादरचतुर्गतिनिगोद-सूक्ष्मचतुर्गतिनिगोद इन छह युगलों के बारह और प्रत्येकवनस्पति इस प्रकार स्थावरकायिक के १३ भेदों में विकलेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय व असंज्ञीपंचेन्द्रिय त्रस के इन तीन भेदों को मिलाने से १६ स्थान, (१७) स्थावर के उक्त १३ भेदों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस के ये चार भेद मिलाने से १७ स्थान, (१८) स्थावर के उक्त तेरह स्थानों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय संज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय त्रस के पाँच भेद मिलाने से १८ स्थान होते हैं ।।७६।।, (१६) स्थावर के सात युगल अर्थात् बादर पृथ्वीकायिक-सूक्ष्मपृथ्वीकायिक बादरअप्कायिक-सूक्ष्मअप्कायिक, बादरतेजकायिक-सूक्ष्मतेजकायिक, बादरवायुकायिक-सूक्ष्मवायुकायिक, बादरनित्यनिगोद-सूक्ष्मनित्यनिगोद, बादरचतुर्गतिनिगोद-सूक्ष्मचतुर्गतिनिगोद, सप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक-अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिक में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय त्रस के इन पाँच भेदों को मिलाने से जीवसमास के १६ स्थान होते हैं। एक से उन्नीस पर्यन्त सर्वस्थानों को एक से, दो से और तीन से यथाक्रम गुणा करने से अन्तिम उन्नीसस्थान, ३८ स्थान और ५७ स्थान जीवसमास के हो जाते हैं ।।७७।। जीवसमास के एक से उन्नीस पर्यन्त इन सर्व स्थानों की तीन पंक्तियाँ करनी चाहिए अर्थात् एक, दो, तीन, चार आदि इस प्रकार एक-एक बढ़ते हुए १६ तक जीवसमास के १६ स्थान होते हैं। इन उन्नीस स्थानों की तीन पंक्तियाँ करनी चाहिए। उनमें से प्रथमपंक्ति सामान्य की अपेक्षा से है, क्योंकि इसमें पर्याप्त व अपर्याप्त का विकल्प नहीं है।

---

१. ये तु साधारणवनस्पतिकायिकास्ते नित्यचतुर्गतिनिगोदजीवाः बादराः सूक्ष्माश्च भवन्ति। (स्वा. का. अनु. गा. १२४ की टीका)।

इस प्रथमपंक्ति में उन १६ स्थानों में से प्रत्येक को एक से गुणा करने पर वही अङ्क प्राप्त होगा अर्थात् एक से १६ पर्यन्त १६ स्थान प्राप्त होंगे। द्वितीयपंक्ति में अपूर्ण अर्थात् अपर्याप्त और इतर अर्थात् पर्याप्त की विवक्षा होने से दो गुणा करने से प्रत्येक स्थान के अङ्क दुगुणे हो जाते हैं अर्थात् दो, चार, छह, आठ आदि इस प्रकार दो-दो बढ़ते हुए ३८ पर्यन्त स्थान प्राप्त होते हैं। पुनः अप्रथमा अर्थात् तृतीयपंक्ति में पर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त की विवक्षा होने से प्रत्येक अङ्क को तीन से गुणा करने पर तीन-छह-नौ-बारह आदि तीन-तीन की वृद्धि होते हुए सत्तावन (५७) तक जीवसमास के स्थानों की संख्या प्राप्त होती है। यद्यपि दूसरी व तीसरी पंक्तियाँ अप्रथमा हैं, किन्तु गाथा में द्वितीय पंक्ति का पृथक् उल्लेख होने से अप्रथमा के द्वारा तृतीय पंक्ति का ग्रहण होता है ।।७८।।[1]

ध. पु. २ पृ. ५६१ पर जीवसमासों के स्थानों का कथन इसप्रकार है—दो अथवा तीन, चार अथवा छह, छह अथवा नौ, आठ अथवा बारह, दस अथवा पन्द्रह, बारह अथवा अठारह, चौदह अथवा इक्कीस, सोलह अथवा चौबीस, अठारह अथवा सत्ताईस, बीस अथवा तीस, बावीस अथवा तेतीस, चौबीस अथवा छत्तीस, छब्बीस अथवा उनचालीस, अट्ठाबीस अथवा बयालीस, तीस अथवा पैंतालीस, बत्तीस अथवा अड़तालीस, चौंतीस अथवा इक्कावन, छत्तीस अथवा चौपन, अड़तीस अथवा सत्तावन, जीवसमास होते हैं। इनका विशेष स्पष्टीकरण ध. पु. २ के पृ. ५६१ से ५६६ तक है, वहाँ से जान लेना चाहिए ।

धवलाकार आचार्य श्री वीरसेनस्वामी ने निर्वृत्तिपर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त की अपेक्षा से संख्या का कथन किया है अथवा निवृत्तिपर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा कथन किया है, सामान्य की अपेक्षा संख्या का कथन नहीं किया है, किन्तु गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ७८ में सामान्य की अपेक्षा से भी संख्या का कथन प्रथमपंक्ति में किया गया है। यद्यपि धवला टीका और गोम्मटसार जीवकाण्ड में जीवसमासस्थान संख्या में मात्र सामान्य की अपेक्षा संख्या का कथन करने और न करने का ही अन्तर है, अन्य कोई अन्तर नहीं है तथापि भेदों के विशेषविवरण में बहुत अन्तर है। जैसे गोम्मटसार में त्रस और स्थावर ऐसे दो जीवसमासों का कथन किया गया है, किन्तु धवला टीका में पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो जीवसमास कहे गये हैं। विशेष जानने के लिए ध. पु. २ पृ. ५६१ से ५६६ तक देखना चाहिए। जीवसमास की स्थान संख्या का विवरण इस प्रकार है—

सामान्य की अपेक्षा— १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १६
पर्याप्त-अपर्याप्त की अपेक्षा—२, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २०, २२, २४, २६, २८, ३०, ३२, ३४, ३६, ३८
पर्याप्त—निर्वृत्त्यपर्याप्त-अपर्याप्त की अपेक्षा— ३, ६, ६, १२, १५, १८, २१, २४, २७, ३०, ३३, ३६, ३६, ४२, ४५, ४८, ५१, ५४, ५७

६८ जीवसमासों का कथन

इगिवण्णं इगिविगले असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं ।
गब्भभवे सम्मुच्छे दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो ।।७६।।

---

१. मन्दप्रबोधिनी टीका के आधार से ।

अज्जवमलेच्छमणुए, तिदुभोगभूमिजे दो दो ।
सुरणिरये दो दो इदि, जीवसमासा हु अडणउदी ।।८०।।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के इक्कावन (५१), (पंचेन्द्रियतिर्यंचों में) जलचर, स्थलचर और नभचर के संज्ञी व असंज्ञियों में गर्भज के दो और सम्मूर्च्छन के तीन भेद तथा भोगभूमिज थलचर और नभचर के दो-दो भेद होते हैं ।।७९।। आर्यखण्ड के मनुष्यों के तीनभेद, म्लेच्छखंड के मनुष्यों के दो भेद, भोगभूमिज मनुष्यों के दो और कुभोगभूमिज मनुष्यों के दो भेद, देवों के और नारकियों के दो-दो भेद; इस प्रकार कुल ९८ जीवसमास होते हैं ।।८०।।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय स्थावर के पूर्वोक्त सातयुगलों के १४ तथा विकलेन्द्रिय के ३, इसप्रकार इन (१४ + ३) १७ भेदों को पर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त इन तीन से गुणा करने पर एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियसम्बन्धी (१७ × ३) ५१ विशेष जीवसमास होते हैं, क्योंकि इन १७ में सभी का सम्मूर्च्छन जन्म पाया जाने से पर्याप्तादि तीनों भेद होते हैं । कर्मभूमिज संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यंचों के जलचर, थलचर, नभचर में गर्भजों के पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त ऐसे दो-दो भेद होते हैं, क्योंकि गर्भजों में लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते । इस प्रकार गर्भज संज्ञी व असंज्ञी कर्मभूमिज तिर्यंचों में बारह जीवसमास होते है, किन्तु इन्हीं के सम्मूर्च्छनों में लब्ध्यपर्याप्तक भी होते हैं अतः सम्मूर्च्छनों में (संज्ञी-असंज्ञी २, जलचर-थलचर-नभचर ३, पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ३ = २ × ३ × ३) १८ जीवसमास होते हैं । इसप्रकार कर्मभूमिज पंचेन्द्रियतिर्यंचों के (१२ + १८) ३० जीवसमास होते हैं । इनमें भोगभूमिजों के चार जीवसमास मिलाने पर पंचेन्द्रियतिर्यंचों के समस्त जीवसमास (३० + ४) ३४ होते हैं । इन्हीं ३४ जीवसमासों में एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियसम्बन्धी ५१ भेद मिलाने पर तिर्यंचों के (३४ + ५१) ८५ जीवसमास हो जाते हैं ।

कर्मभूमिज आर्यखण्ड के मनुष्यों में पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ये तीन जीवसमास हैं, किन्तु म्लेच्छखण्ड में लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य नहीं होते, अतः पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त रूप दो ही भेद होते हैं । इसी प्रकार भोगभूमि और कुभोगभूमि में भी लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य नहीं होते अतः उनमें भी मनुष्यों के दो-दो जीवसमास पाये जाने से मनुष्यसम्बन्धी सर्व (३ + २ + २ + २) ९ जीवसमास होते हैं । देवगति के दो तथैव नरकगति के भी दो जीवसमास हैं, क्योंकि देवों और नारकियों में पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ये दो ही भेद पाये जाते हैं; लब्ध्यपर्याप्तक भेद देवों और नारकियों में नहीं होता । इसप्रकार पंचेन्द्रियतिर्यंच सम्बन्धी उक्त ३४ भेदों में मनुष्य, देव, नरकगति सम्बन्धी (९ + ४) १३ भेद मिलाने से चारों गतियों के पंचेन्द्रियजीव सम्बन्धी (३४ + १३) ४७ जीवसमास होते हैं । एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय सम्बन्धी ५१ भेद मिलकर (४७ + ५१) ९८ जीवसमास हो जाते हैं । (मन्दप्रबोधिनी टीका के आधार से)

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १३१-१३२-१३३ की टीका में श्री शुभचन्द्राचार्य ने जीवसमास के जो ९८ स्थान बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—सम्मूर्च्छनतिर्यंचों के ६९ और गर्भज तिर्यंचों के १६ भेद होते हैं ।

शङ्का—सम्मूर्च्छन किसे कहते हैं ?

समाधान—शरीर के आकार रूप परिणमन करने की योग्यता रखने वाले पुद्गलस्कन्धों का

चारों ओर से एकत्र होकर जन्म लेने वाले जीव के शरीररूप होने का नाम सम्मूर्च्छन है और सम्मूर्च्छन से जन्म लेने वाले जीव सम्मूर्च्छन जीव हैं।[1]

शङ्का—गर्भज किसे कहते हैं ?

समाधान—जन्म लेने वाले जीव के द्वारा रज और वीर्यरूप पिण्ड को अपने शरीररूप से परिणमाने का नाम गर्भ है। उस गर्भ से उत्पन्न होने वाले गर्भज कहलाते हैं। अर्थात् माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव गर्भजन्मवाले हैं।[2]

सम्मूर्च्छन तिर्यंचों के २३ भेदों के ६९ जीवसमास होते हैं। वे २३ भेद इस प्रकार हैं—सूक्ष्म व बादर पृथ्वीकायिक के दो, सूक्ष्म व बादर जलकायिक २, सूक्ष्म व बादर अग्निकायिक २, सूक्ष्म व बादर वायुकायिक २, सूक्ष्म व बादर नित्यनिगोद-साधारणवनस्पतिकायिक २, सूक्ष्म व बादर चतुर्गतिनिगोद साधारण वनस्पतिकायिक २, प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक बादर ही है १, अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति बादर ही है १, इस प्रकार एकेन्द्रिय स्थावरों के १४ भेद होते हैं। शंख-सीप आदि द्वीन्द्रिय, कुन्थु-चींटी आदि त्रीन्द्रिय, डाँस मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय ये ३ विकलेन्द्रिय तिर्यंच। कर्मभूमिज जलचर संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच २, कर्मभूमिज नभचर संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच २, कर्मभूमिज स्थलचर संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच २ इस प्रकार कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के ६ भेद। एकेन्द्रिय के १४, विकलत्रय के ३ और पंचेन्द्रिय के ६ ये सब मिलकर (१४+३+६=) २३ भेद सम्मूर्च्छन तिर्यंचों के होते हैं। इनमें से प्रत्येक पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ऐसे तीन प्रकार के हैं। इसलिए २३ को इन तीन से गुणा करने पर (२३×३) सम्मूर्च्छनतिर्यंचों के ६९ जीवसमास होते हैं। इनमें गर्भजतिर्यंचों के १६ भेद मिला देने पर तिर्यंचसम्बन्धी कुल ८५ जीवसमास होते हैं। गर्भजतिर्यंच सम्बन्धी १६ भेद इस प्रकार हैं—मछली आदि कर्मभूमिज गर्भज जलचर संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच २, हिरण आदि-कर्मभूमिज-गर्भज-स्थलचर-संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच २, पक्षी आदि कर्मभूमिज गर्भज नभचर संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यंच २, भोगभूमिज स्थलचर गर्भज संज्ञी ही होता है अतः उसका १ भेद, भोगभूमिज नभचर तिर्यंच भी संज्ञी ही होता है इसलिए उसका भी एक (१) ही भेद। ये सभी तिर्यंच पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं, अतः गर्भज तिर्यंचों के (८×२) १६ भेद हो जाते हैं।

शङ्का—निगोद किसे कहते हैं ?

समाधान—जो शरीर अनन्तानन्त जीवों को स्थान देता है वह निगोदशरीर है।[3] अभिप्राय यह है कि जिस एक शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं वह निगोद शरीर है।

---

१. सं समन्तात् मूर्च्छनं जायमानजीवानुग्राहकाणां जीवोपकाराणां शरीराकार-परिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धानां समुच्छ्रयणं तद्विद्यते येषां ते सम्मूर्च्छनशरीराः। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा) गा. १३० टीका। २. जायमानजीवेन शुक्रशोणितरूपपिण्डस्य गरणं शरीरतयोपादानं गर्भः ततो जाता ये गर्भजाः तेषां गर्भजानां जन्मउत्पत्तिर्येषां ते गर्भजन्मानः मातुर्गर्भसमुत्पन्ना इत्यर्थः। (स्वा. का. अनु. गा. १३०) ३. "नियतां गां भूमिं क्षेत्रमनन्तानन्तजीवानां ददाति इति निगोदं। निगोदं शरीरं येषां ते निगोदशरीरा इति निरुक्तेः" (स्वा. का. अनु. गा. १३१ टीका)।

शङ्का—सप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति और अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—जिन प्रत्येकवनस्पतियों के आश्रय साधारणशरीर अर्थात् निगोद रहता है वे प्रतिष्ठित-प्रत्येक-शरीर-वनस्पति हैं। जो साधारण अर्थात् निगोदरहित हैं वे अप्रतिष्ठित-प्रत्येक-वनस्पति हैं।[1]

गर्भजमनुष्य कर्मभूमिज आर्य व म्लेच्छ तथा भोगभूमिज व कुभोगभूमिज इस प्रकार मनुष्यों के चार भेद हैं। इनमें से प्रत्येक पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त होते हैं। अतः गर्भजमनुष्यों के आठ भेद और एक लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्च्छन मनुष्य; ये कुल (८+१) ९ जीवसमास मनुष्यसम्बन्धी जानने चाहिए। देव पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त के भेद से २ प्रकार के तथैव नारकी भी पर्याप्त व निर्वृत्त्य-पर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। इसप्रकार देव-नारकीसम्बन्धी ४ जीवसमास होते हैं। सर्व मिलकर समस्त जीवसमास स्थान तिर्यंचों के ८५, मनुष्यों के ९, देवों के २, नारकियों के २ (८५+९+२+२) कुल ९८ होते हैं।

जीवसमाससम्बन्धी तीन प्रक्षेपक गाथाएँ

सुद्धखरकुजलतेवा णिच्चचदुग्गदि-णिगोद-थूलिदरा।
पदिठिदरपंचपत्तिय वियलतिपुण्णा अपुण्णदुगा ॥१॥
इगिविगले इगिसीदी असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।
गब्भभवे सम्मुच्छे दुतिगतिभोगथलखेचरे दो दो ॥२॥
अज्जवसम्मुच्छिगिगब्भे मलेच्छभोगतिय कुणरछपणतीस सये।
सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा हु छहियचारिसयं ॥३॥

गाथार्थ—शुद्ध पृथ्वीकायिक, खरपृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद इनके बादर और सूक्ष्म। पाँच प्रकार की सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्टित प्रत्येक वनस्पति तथा विकलत्रय ये सर्व पर्याप्त और दो प्रकार के अपर्याप्त (निर्वृत्त्यपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त) होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय के ८१ जीवसमास, संज्ञी और असंज्ञी जलचर-थलचर-नभचर, इनमें भी गर्भजों के दो और सम्मूर्च्छन के तीन भेद, तीन प्रकार की भोगभूमियों में थलचर-खेचर के दो-दो। आर्यखण्ड में मनुष्य सम्मूर्च्छन होते हैं। आर्यखण्ड के, म्लेच्छखंड के, तीन भोगभूमि के, एक कुभोगभूमि के, इस प्रकार गर्भज मनुष्यों के छह भेदों में पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त ये दो ही प्रकार होते हैं। १३५ प्रकार के देव-नारकियों में भी (पर्याप्त-निर्वृत्त्यपर्याप्त) ये दो-दो होते हैं। इस प्रकार सब मिलकर ४०६ जीवसमास होते हैं ॥१-३॥

विशेषार्थ—मिट्टी आदि शुद्ध पृथ्वीकायिक है और पाषाण आदि खरपृथ्वीकायिक हैं। इस प्रकार पृथ्वी-कायिक के दो भेद, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोदसाधारणवनस्पति और चतुर्गतिनिगोद-साधारणवनस्पति इन सातों के बादर व सूक्ष्म के भेद से (७×२) चौदह भेद; पाँच (तृण, बेल, कन्दमूल, नींबू-संतरे आदि के छोटे वृक्ष, आम आदि के बड़े वृक्ष, ये) प्रकार की प्रत्येक वनस्पतिकायिक सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित

---

१. प्रतिष्ठितं साधारणशरीरैराश्रितं प्रत्येकशरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः। तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः स्युः। (स्वा. का. अनु. गा. १२८ टीका)।

के भेद से दस प्रकार (१०) की; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन (३) विकलत्रय, सर्व मिलकर (१४+१०+३) २७ भेद एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियसम्बन्धी हैं। इनमें से प्रत्येक पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त के भेद से तीन प्रकार का होता है। अतः २७ में ३ का गुणा करने पर एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय के (२७×३) ८१ भेद हो जाते हैं। कर्मभूमिज पंचेन्द्रियतिर्यंच जलचर, थलचर, नभचर में संज्ञी व असंज्ञी के भेद से छह प्रकार के हैं, इनके गर्भजों में पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त की अपेक्षा १२ भेद तथा सम्मूर्च्छनों में पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा १८ भेद हैं; उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य भोगभूमि के थलचर व नभचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त की अपेक्षा १२ भेद; इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंचसम्बन्धी (१२+१८+१२) कुल ४२ भेद होते हैं।

आर्यखण्ड में लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्च्छन मनुष्य होते हैं अतः सम्मूर्च्छन मनुष्यों का एक भेद; आर्यखण्ड-म्लेच्छखण्ड-उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भोगभूमिज तथा कुभोगभूमिज मनुष्य ये छह प्रकार के गर्भज मनुष्य तथा दस प्रकार के भवनवासी देव, आठ प्रकार के वानव्यंतरदेव, पाँच प्रकार के ज्योतिषीदेव और ६३ पटलों के वैमानिकदेव ये सब मिलकर (१०+८+५+६३) ८६ प्रकार के देव और ४९ पाथड़ों के ४९ प्रकार के नारकी। इस प्रकार मनुष्य, देव और नारकी सम्बन्धी (६+८६+४९) १४१ भेद, पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त के भेद से (१४१×२) २८२ होते हैं। एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय के ८१, पंचेन्द्रियतिर्यंच के ४२, सम्मूर्च्छन मनुष्य का १, गर्भजमनुष्य देव व नारकी के २८२, ये सब मिलकर (८१+४२+१+२८२) ४०६ जीवसमास होते हैं।

इस प्रकार जीवसमास प्ररूपणा में स्थान का कथन पूर्ण हुआ।

योनि अधिकार में आकृतियोनि के भेदों का कथन एवं शंखावर्तयोनि में गर्भनिषेध-प्ररूपणा—

[1]संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जदे गब्भो ॥८१॥

गाथार्थ—शंखावर्तयोनि, कूर्मोन्नतयोनि, वंशपत्रयोनि के भेद से आकृतियोनि तीन प्रकार की है। इनमें शंखावर्तयोनि नियम से गर्भरहित होती है ॥८१॥

विशेषार्थ—जिस योनि का आवर्त शंख के समान हो, वह शंखावर्त योनि है। जो योनि कूर्म (कछुए) की पीठ के समान उन्नत हो वह कूर्मोन्नतयोनि है। बाँस के पत्ते के आकारवाली योनि वंशपत्रयोनि है। इनमें से शंखावर्तयोनि में गर्भ का नियम से निषेध है। शंखावर्तयोनिवाली स्त्रियाँ वंध्या (बाँझ) होती हैं। जैसे देवाङ्गना और चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में से स्त्रीरत्न, ये नियम से वंध्या होती हैं।

शङ्का—गर्भ किसे कहते हैं?

समाधान—'गर्भः शुक्रशोणितगरणं' शुक्र और शोणित के गरण को गर्भ कहते हैं। शंखावर्त-योनि भोगभूमियों में नहीं होती।[2]

---

१. मूलाचार पर्याप्ति अधिकार गा. ६१। २. श्री वसुनन्दि आचार्यकृत मूलाचार टीका एवं भ. प्र. टीका के आधार से।

कूर्मोन्नत और वंशपत्र योनि में उत्पन्न होने वाले जीवों का निर्देश

[1]कुम्मुण्णयजोणीए, तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य ।
रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणो य ।।८२।।

गाथार्थ—कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थंकर, दो प्रकार के चक्रवर्ती व बलभद्र उत्पन्न होते हैं । शेष तृतीययोनि में शेष (अन्य) मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।।८२।।

विशेषार्थ—कूर्मोन्नतयोनि विशिष्ट सर्वशुचि प्रदेशवाली व शुद्धपुद्गलों के प्रचय (समूह) वाली होती है । उसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव और प्रतिवासुदेव तथा बलदेव उत्पन्न होते हैं । शेषजन अर्थात् भोगभूमिज आदि वंशपत्रयोनि में उत्पन्न होते हैं । गाथा में 'दुविह चक्कवट्टी' दो प्रकार के चक्रवर्ती कहे गये हैं, सो सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती के भेद से चक्रवर्ती दो प्रकार के होते हैं । वासुदेव और प्रतिवासुदेव अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण ये दोनों अर्धचक्रवर्ती होते हैं । 'रामा' से अभिप्राय नारायण के भाई बलदेव का है ।[2]

जन्म के भेद और तत्सम्बन्धी गुणयोनियाँ

जम्मं खलु सम्मुच्छणगब्भुववादा दु होदि तज्जोणी ।
सच्चित्त—सीदसउंडसेदर मिस्सा य पत्तेयं ।।८३।।

गाथार्थ—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद निश्चय से इन तीन प्रकार का जन्म होता है । जन्म की योनियाँ सचित्त, शीत, संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षी अचित्त, उष्ण, विवृत एवं प्रत्येक की मिश्र होती हैं । इनमें से यथासम्भव प्रत्येक योनि को सम्मूर्च्छन आदि जन्म के साथ कहना चाहिए ।।८३।।

विशेषार्थ—संसारीजीवों का जन्म या उत्पत्ति पूर्वभव के शरीर को छोड़कर उत्तरभव के शरीर का ग्रहण करना है । यद्यपि परमार्थ से विग्रहगति के प्रथम समय में उत्तरभवसम्बन्धी प्रथम पर्याय के प्रादुर्भाव को जन्म कहते हैं, क्योंकि पूर्वपर्याय का विनाश (व्यय) और उत्तरपर्याय का प्रादुर्भाव (उत्पाद) एकसमय में होते हैं; जैसे अंगुलि के ऋजुपने का विनाश जिस समय में होता है उसी समय में वक्रपने का उत्पाद होता है, दोनों में समयभेद नहीं है, तथापि सम्मूर्च्छनादिरूप से पुद्गलपिण्ड के ग्रहण करने को उपचार से जन्म कहते हैं, क्योंकि पूर्वपर्याय के अभाव और उसी समय उत्तरपर्याय के प्रादुर्भावरूप जो जन्म होता है उसके समीपवर्ती समय में शरीरग्रहण का प्रथमसमय होने से पर्याय का उत्पाद उपचार से जन्म कहलाता है । जैसे-गंगातट को उपचार से गंगा कहा जाता है, क्योंकि समीपता का सद्भाव उपचार में निमित्त है । अथवा ऋजुगति से उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा जो उत्तरभव का प्रथम समय है वही शरीरग्रहण का प्रथम समय है और वही पूर्वभव के विनाश का समय है, क्योंकि उत्पाद और व्यय युगपत् होते हैं, अतः ऋजुगति से उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा शरीरग्रहण का प्रथमसमय जन्म का मुख्यलक्षण है । संसारी जीवों का जन्म तीनप्रकार से होता है—सम्मूर्च्छनजन्म, गर्भजन्म और उपपादजन्म । **तत्त्वार्थसूत्र** में भी कहा है—"**सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा**

१. मूलाचार पर्याप्ति अधिकार गा. ६२ । २. मूलाचार टीका व मं.प्र. टीका के आधार से ।

जन्म" (२/११)[1]

सम्मूर्च्छन—'सं'-समन्तात् अर्थात् ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक्रूप तीनों लोकों में ऊपर-नीचे-तिरछे सभी दिशाओं से शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं का इकट्ठा होकर शरीर बनना सम्मूर्च्छन है। गर्भ और उपपादजन्म से विलक्षण सम्मूर्च्छनजन्म है।

गर्भ—स्त्री के उदर अर्थात् गर्भाशय में शरीरपरिणति के कारणभूत शुक्र और शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ कहते हैं। अथवा माता के उदर द्वारा उपभुक्त के आत्मसात् करने को अर्थात् गरण करने को गर्भ कहते हैं। 'गर्भ' यह रूढ़ि शब्द है तथा जरायुज, अण्डज और पोत-जादि जन्म का वाचक है।

उपपाद—प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद जन्म कहते हैं। देवों में सम्पुट शय्या (सीप के आकार की शय्या) को और नरकों में उष्ट्रादि मुखाकार बिल-स्थान को उपेत्य-प्राप्त करके या आश्रय करके शरीररूप परिणमने योग्य पुद्गलस्कन्धों की प्राप्ति उपपाद है। 'उपपाद' यह रूढ़ि शब्द देव-नारकियों के जन्म का वाचक है।

सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद जन्म के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। योनि के यद्यपि ८४ लाख भेद हैं, तथापि सचित्त आदि गुणविशेष की अपेक्षा उनके नौ भेद हो जाते हैं। सम्मूर्च्छन, गर्भ, उपपादरूप जन्मविशेषों में से प्रत्येक की यथासम्भव सचित्तादि गुणयोनियाँ होती हैं। वे गुणयोनियाँ इस प्रकार हैं—**"सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः"**[2] सचित्त, शीत, संवृत तथा इतर अर्थात् इनके प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा प्रत्येक के मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये जन्म की योनियाँ है। आत्मा के चैतन्य विशेषरूप परिणाम को चित्त कहते हैं। जो पुद्गलपिण्ड उस चित्त के साथ वर्तन करते हैं अर्थात् रहते हैं वे सचित्त हैं। शीत, यह स्पर्शगुण का एक भेद है। शुक्लादि के समान यह द्रव्य और गुण दोनों का वाची है। अतः शीतस्पर्श गुणवाला द्रव्य भी शीत कहलाता है अर्थात् बहुलशीतस्पर्शवाला पुद्गलद्रव्य शीत कहा गया है। जो भलेप्रकार ढका हो वह संवृत है। यहाँ अन्तर्निगूढ़ अवयव को अर्थात् जो देखने में न आवे ऐसे अवयवरूप स्थान को संवृत कहते हैं। ये तीनों ही इतर-प्रतिपक्षी सहित हैं। इतर का अर्थ अन्य भी है। इनके साथ रहने वाले इतर-सेतर कहलाते हैं। वे इतर अचित्त, उष्ण और विवृत हैं। चेतन-रहित पुद्गलपिंड अचित्त है। बहुलस्पर्शगुणवाला पुद्गल द्रव्य उष्ण है। भले प्रकार प्रकट अवयव विवृत है। उभयात्मक अर्थात् उभयरूप को मिश्र कहते हैं। यहाँ उभयगुण से मिश्रित को मिश्र कहा गया है। सचित्ताचित्त मिश्रित, शीतोष्णमिश्रित, संवृतविवृतमिश्रित।[3]

गाथा में **'पत्तेयं'** शब्द का ग्रहण मिश्र में क्रम का ज्ञान कराने के लिए किया गया है जिससे यह ज्ञान हो कि सचित्त का मिश्रण अचित्त के साथ है, शीतादि के साथ नहीं। इसी प्रकार शीत-उष्ण और संवृत-विवृत मिश्रित हैं।

शङ्का—इस तरह तो योनि और जन्म में कोई भेद नहीं है।

---

१. मं.प्र. टीका के आधार से। २. त. सूत्र अ. २ सूत्र ३२। ३. स.सि., राजवार्तिक और मन्दप्रबोधिनी टीका के आधार से।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आधार और आधेय के भेद से योनि और जन्म में भेद है। सचित्तादिक योनियाँ आधार हैं और जन्म के भेद आधेय हैं क्योंकि सचित्तादि योनिरूप आधार में सम्मूर्च्छनादि जन्म के द्वारा आत्मा शरीर, आहार और इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।[1]

गर्भ आदि जन्मों के स्वामी

पोतजरायुजअंडजजीवाणं गब्भदेवणिरयाणं ।
उववादं सेसाणं सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठं ।।८४।।

गाथार्थ—पोत, जरायुज और अंडज-जीवों का गर्भजन्म होता है। देव और नारकियों का उपपाद जन्म होता है। शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है, ऐसा परमागम में कहा गया है ।।८४।।

विशेषार्थ-पोत—जरायु, अण्ड आदि सर्व आवरण के बिना जिसके सब अवयव पूरे हुए हैं और जो योनि से निकलते ही हलन-चलनादि सामर्थ्य से युक्त है, वह पोत-गर्भजन्म है।

जरायुज—जो जाल के समान प्राणियों का आवरण है और जो मांस व शोणित से बना है, वह जरायु है। उसमें उत्पन्न होने वाला जरायुज कहलाता है।

अण्डज—जो नख की त्वचा के समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र व शोणित से बना है उसे अण्ड कहते हैं, उसमें जिसका जन्म होता है, वह अण्डज है।[2]

शङ्का—चींटियों के भी अण्डे देखे जाते हैं?

समाधान—अण्डों की उत्पत्ति गर्भ में ही होती हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।[3] उपर्युक्त लक्षणवाले अण्डों की उत्पत्ति तो गर्भ में ही होती है, अन्यप्रकार के अण्डों के लिए गर्भ में उत्पत्ति होने का नियम नहीं है।

जरायुजों में ही भाषाध्ययन आदि क्रियाएँ देखी जाती हैं तथा चक्रधर, वासुदेवादि महाप्रभावशाली उसी में उत्पन्न होते हैं एवं सम्यग्दर्शनादि (रत्नत्रय) मार्ग के फलस्वरूप मोक्षसुख का सम्बन्ध भी जरायुज से है, अन्य से नहीं। पोत से अभ्यर्हित अण्डज हैं, क्योंकि अण्डजों में अक्षरों के उच्चारण करने में कुशल तोता, मैना आदि होते हैं।[4] पोत, जरायुज और अण्डज ही गर्भजन्म वाले होते हैं अथवा गर्भजन्म वाले ही पोत, जरायुज व अण्डज होते हैं।[5] देव और नारकियों के ही उपपाद जन्म होता है अथवा उपपाद जन्म ही देव-नारकियों के होता है।[6] गर्भजन्म और उपपादजन्म वालों के सिवाय जो शेष रहे मनुष्य और तिर्यंच हैं, उनके सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।[7] एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव तथा लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय मनुष्य-तिर्यंच नियम से सम्मूर्च्छन ही होते हैं। संज्ञी व असंज्ञी पर्याप्तक तिर्यंचों में भी किन्हीं के सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि। २. सर्वार्थसिद्धि २/३३। ३. ध. पु. १ पृ. ३४६। ४. राजवार्तिक २/३३। ५. 'जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः' (त. सू. अ. २ सू. ३३)। ६. 'देवनारकाणामुपपादः' (त. सू. अ. २ सू. ३४)। ७. 'शेषाणां सम्मूर्च्छनं' (त. सू. अ. २ सू. ३५)।

जन्मों और योनियों के परस्पर सम्बन्ध का कथन

उववादे अच्चित्तं गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे ।
सच्चित्तं अच्चित्तं मिस्सं च य होदि जोणी हु ।।८५।।

गाथार्थ—उपपाद जन्म में अचित्तयोनि होती है, गर्भजन्म में मिश्रयोनि होती है और सम्मूर्च्छन जन्म में सचित्त, अचित्त एवं मिश्र तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं ।।८५।।

विशेषार्थ—सम्मूर्च्छन-गर्भ-उपपाद जन्मों में सचित्तादि योनियों का विभाजन इसप्रकार है—

उपपादजन्मवाले देव-नारकियों में सम्पुट शय्या व ऊँट मुखाकार आदि उत्पत्ति-बिल-स्थान विवक्षित जीवोत्पत्ति से पूर्व अचित्त ही हैं, क्योंकि वे योनियाँ अन्य जीवों से अनाश्रित हैं, अथवा इनके उपपादप्रदेशों के पुद्‌गल अचेतन हैं । उपपादजन्म में सचित्त व मिश्रयोनि नहीं होती । गर्भजन्म में मिश्रयोनि ही होती है, क्योंकि पुरुषशरीर से गलित अचित्त शुक्र का स्त्री के सचित्त शोणित के साथ मिश्रण होने से मिश्रयोनि होती है । केवल अचित्त शुक्र के या केवल सचित्त स्त्रीशोणित के योनिपना सम्भव नहीं है । अथवा माता के उदर में अचेतन वीर्य व रज से चेतन आत्मा का मिश्रण होने से मिश्रयोनि है । सम्मूर्च्छन जन्म में सचित्त, अचित्त और मिश्र तीनों ही प्रकार की योनियाँ होती हैं । एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सम्मूर्च्छन जन्मवालों में किन्हीं की योनियाँ सचित्त होती हैं, किन्हीं की योनियाँ अचित्त होती हैं और किन्हीं की सचित्त-अचित्त-मिश्र होती हैं । साधारण शरीर वाले निगोदिया सम्मूर्च्छन जीवों के सचित्तयोनि होती है । शेष सम्मूर्च्छनों में किसी के अचित्तयोनि और किसी के मिश्रयोनि होती है ।[1] अन्यत्र (मूलाचार में) भी उपर्युक्त कथन का विषय एक गाथा के द्वारा प्रतिपादित किया गया है ।[2]

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि ।
उववादेयक्खेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु ।।८६।।
गब्भजजीवाणं पुण मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु ।
सम्मुच्छण पंचक्खे वियलं वा विउलजोणी हु ।।८७।।

गाथार्थ—उपपादजन्म में शीत और उष्ण दो प्रकार की योनियाँ होती हैं । शेष जन्मों में शीत, उष्ण और मिश्र ये तीन ही योनियाँ होती हैं । उपपादजन्म वालों की तथा एकेन्द्रियजीवों की योनि संवृत ही होती है, विकलेन्द्रिय जीवों की विवृतयोनि होती है ।।८६।। गर्भजन्म वालों की संवृत-विवृत से मिश्रित मिश्रयोनि होती है । पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवों की विकलेन्द्रियों की तरह विवृत-योनि होती है ।।८७।।

विशेषार्थ—श्री अकलंकदेव ने (राजवार्तिक २/३३; २४-२६ में) कहा है कि देव, नारकी

---

१. मं. प्र. टीका एवं राजवार्तिक के आधार से । २. अच्चित्ता खलु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं । मिस्सा य गब्भजम्मा तिविहा जोणी दु सेसाणं ।।१२/५९।। (पर्याप्ति अधिकार) ।

और एकेन्द्रियों के संवृतयोनियाँ होती हैं, विकलेन्द्रिय जीवों के विवृतयोनियाँ होती हैं। गर्भजों के मिश्र (संवृत-विवृत मिली हुई) योनियाँ होती हैं। **मूलाचार** में भी कहा है—

एइंदिय णेरइया संपुडजोणी हवंति देवा य।
वियलिंदिया य वियडा संपुडवियडा य गब्भेसु ॥१२/५८॥ (पर्या. अधि.)

एकेन्द्रिय, नारकी तथा देवों के संवृतयोनियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विवृतयोनियाँ होती हैं। गर्भजों में संवृत-विवृत अर्थात् मिश्रयोनियाँ होती हैं। राजवार्तिक व मूलाचार इन दोनों ग्रन्थों में सम्मूर्च्छन जन्मवाले पंचेन्द्रियजीवों की योनि के विषय में कथन नहीं किया, किन्तु गो. सा. जीवकाण्ड की उक्त गाथा ८७ के उत्तरार्ध में सम्मूर्च्छनपंचेन्द्रिय-जीवों की विवृतयोनि बतलाई गई है।

उपपादजन्म में कहीं शीतयोनि है और कहीं उष्णयोनि है। जैसे रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वी से लेकर धूमप्रभा नामक पाँचवीं पृथ्वी के तीन चौथाई तक नरकबिलों में उष्णयोनि है। पाँचवें नरक के शेष चौथाई बिलों में, छठे व सातवें नरकों के समस्त बिलों में शीतयोनि है। शेष गर्भज व सम्मूर्च्छन जीवों में शीत, उष्ण व मिश्र तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं, किन्तु **मूलाचार** अ. १२ गा. ६० में तेजकायिक जीवों के उष्णयोनि कही है तथा संस्कृतटीका में सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य ने अप्कायिक के मात्र शीतयोनि बतलाई है। उपपादजन्म में एकेन्द्रियरूप सम्मूर्च्छन जन्म में संवृतयोनि होती है जैसे सम्पुट शय्या व उष्ट्रमुखाकार उपपादस्थान, इनमें विवक्षितजीव की उत्पत्ति के अनन्तर और दूसरे जीव के उत्पन्न होने से पूर्व नियम से संवृत रहती है, पुनः विकलेन्द्रियरूप सम्मूर्च्छन जन्म में विवृतयोनि होती है। गर्भजन्म में संवृत-विवृत मिश्रित होती है, क्योंकि पुरुषशरीर से गलितशुक्र विवृत है और स्त्री का शोणित संवृत है, इन दोनों का मिश्रण गर्भ है अतः गर्भजन्म में संवृत-विवृत मिश्रयोनि होती है। अन्य दो अर्थात् संवृत या विवृतयोनि नहीं होती। पंचेन्द्रियों के सम्मूर्च्छन जन्म में विकलेन्द्रिय के समान विवृतयोनि ही होती है।[1] कहा भी है—

[2]**एइंदिय णेरइया संपुडजोणी हवंति देवा य।**
वियलिंदिया य वियडा संपुडवियडा य गब्भेसु ॥
सीदुण्हा खलु जोणी णेरइयाणं तहेव देवाणं।
तेऊण उसिण जोणी तिविहा जोणी दु सेसाणं ॥

योनियों की संख्या

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥८८॥

गाथार्थ—सामान्य से योनियाँ नौ प्रकार की हैं। विस्तार से योनियों के नियम से चौरासी लाख भेद हैं ॥८८॥

---

१. म. प्र. टीका के आधार से। २. मूलाचार १२/५८ व ६० (पर्याप्ति अधिकार)।

विशेषार्थ—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्तमिश्र, शीतोष्णमिश्र, संवृतविवृतमिश्र, योनियों के ये नौ प्रकार हैं।[1] प्रत्यक्षज्ञानियों ने दिव्यचक्षु के द्वारा इन नव प्रकार की योनियों को देखा है और शेष छद्मस्थों ने आगम के कथन से जाना है।[2] सामान्य से अर्थात् संक्षेप कथन की अपेक्षा योनियाँ नौ प्रकार की होती हैं, किन्तु विशेष अर्थात् विस्तार की अपेक्षा योनियों के ८४ लाख भेद हैं।—

योनियों के ८४ लाख भेद

णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा ॥८९॥[3]

गाथार्थ—नित्यनिगोद, इतर (चतुर्गति) निगोद, धातु अर्थात् पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक इस प्रकार इनमें सात-सात शतसहस्र (७ लाख) योनियाँ हैं। तरु अर्थात् वनस्पतिकायिक में दसलाख, विकलेन्द्रियों में ६ लाख, देव-नारकी व तिर्यंचों में चार-चार लाख, मनुष्यों में १४ लाख योनियाँ होती हैं ॥८९॥

विशेषार्थ नित्यनिगोद की सात लाख, इतर (चतुर्गति) निगोद की सात लाख। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक ये चारों धातु कहलाती हैं। इन चारों में प्रत्येक की सात-सात लाख योनियाँ होती हैं। इस प्रकार इन छहकायिक जीवों में कुल ४२ लाख योनियाँ होती हैं। तरु अर्थात् प्रत्येकवनस्पति की दस लाख योनियां। विकलेन्द्रियों की ६ लाख योनियों में द्वीन्द्रिय की २ लाख, त्रीन्द्रिय की २ लाख और चतुरिन्द्रिय की २ लाख योनियाँ हैं। देवों की चार लाख, नारकियों की चार लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की ४ लाख योनियाँ हैं तथा मनुष्यों की १४ लाख योनियाँ हैं। ये सर्व मिलकर (४२+१०+६+४+४+४+१४=)८४ लाख योनियाँ होती हैं।[4] इस प्रकार चतुर्गतिज जीवों की कुल ८४ लाख योनियाँ होती हैं।

शङ्का—नित्यनिगोदिया कौन जीव हैं और अनित्य निगोदिया कौन जीव हैं?

समाधान—जो निगोदिया जीव तीनों काल में त्रसपर्याय पाने योग्य नहीं होंगे वे नित्यनिगोद हैं। जो निगोदिया जीव त्रसपर्याय प्राप्त कर चुके या भविष्य में प्राप्त करेंगे वे निगोदपर्यायस्थ जीव अनित्यनिगोद हैं। कहा भी है—

"के पुनर्नित्यनिगोताः के चाऽनित्यनिगोताः? त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः। त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोताः।"[5]

इस प्रकार जीवसमास प्ररूपणा में योनिप्ररूपणा पूर्ण हुई।

गतियों और जन्मों का सम्बन्ध; लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की सम्भावना और असम्भावना

उववादा सुरणिरया गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया ।
सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा ॥९०॥

---

१. मूलाचार १२/५८। २. रा. वा. २/३२/२७। ३. बारस अणुवेक्खा गाथा ३५, मूलाचार १२/६३।
४. मं. प्र. टीका व राज. वा. अ. २ सू. ३२ वा. २७ के आधार से। ५. रा. वा. २/३२/२७।

पंचक्खतिरिक्खाओ गब्भजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं।
भोगभुमा गब्भभवा, णरपुण्णा गब्भजा चेव ।।९१।।

उववादगब्भजेसु य, लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण।
णरसम्मुच्छिमजीवा, लद्धिअपज्जत्तगा चेव ।।९२।।

गाथार्थ—देव और नारकियों का उपपादजन्म होता है। मनुष्य और तिर्यंचों के गर्भ व सम्मूर्च्छन जन्म होता है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और अपर्याप्त मनुष्यों का सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है ।।९०।। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का जन्म गर्भज भी होता है और सम्मूर्च्छन भी होता है। भोगभूमिया तिर्यंचों का जन्म गर्भज ही होता है। पर्याप्त मनुष्यों का जन्म गर्भज ही है ।।९१।। उपपाद जन्म में और गर्भजन्म में नियम से लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते। सम्मूर्च्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं ।।९२।।

विशेषार्थ—देव और नारकी औपपादिक ही होते हैं। नरक बिलों में रहने वाले जीव नारकी ही होते हैं। कहा भी है—"**देवनारकाणामुपपादः**"[1] अर्थात् देव और नारकियों का उपपाद जन्म ही होता है, अन्य जन्म नहीं होता। मनुष्य व तिर्यंच गर्भज भी होते हैं और सम्मूर्च्छन भी होते हैं। अपर्याप्त-[लब्ध्यपर्याप्त] मनुष्य सम्मूर्च्छन ही होते हैं। एकेन्द्रिय जीव व विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) नियम से सम्मूर्च्छन होते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यंच गर्भज भी होते हैं, सम्मूर्च्छन भी होते हैं, किन्तु तिर्यंचों में भोगभूमिया गर्भज ही होते हैं। "णरपुण्णा" अर्थात् पर्याप्त मनुष्य भी गर्भज ही होते हैं। उपपाद जन्म वालों में अर्थात् देव-नारकियों में तथा गर्भज मनुष्य-तिर्यंचों में, विशिष्ट तिर्यंचमनुष्यों में नियम से लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते। सम्मूर्च्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं।[2]

नरकादि गतियों में वेद सम्बन्धी नियम

णेरइया खलु संढा णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा।
संढा सुरभोगभुमा पुरिसित्थीवेदगा चेव ।।९३।।

गाथार्थ—नारकी नियम से नपुंसक होते हैं। मनुष्यों और तिर्यंचों में तीनों वेद होते हैं। सम्मूर्च्छन जन्म वाले नपुंसक होते हैं। देवों में तथा भोगभूमिया जीवों में पुरुष व स्त्रीवेद ये दो ही वेद होते हैं ।।९३।।

विशेषार्थ—नारकी नियम से द्रव्य और भाव से नपुंसक वेद वाले होते हैं। मनुष्यों और तिर्यंचों में द्रव्य से और भाव से स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीनों वेद होते हैं। सम्मूर्च्छन तिर्यंच व मनुष्य द्रव्य से और भाव से नपुंसकवेदी ही होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य स्त्री की योनि कांख, स्तन के मूलभाग में तथा चक्रवर्ती की पट्टरानी को छोड़कर अन्य स्त्रियों के मल-मूत्रादि अशुचि स्थान में

---

१. त.सू. २/३४। २. म.प्र. टीका के आधार से।

उत्पन्न होते हैं।[1] देव तथा भोगभूमिया द्रव्य से व भाव से स्त्री व पुरुषवेदी ही होते हैं।[2] इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के निम्नलिखित सूत्र भी द्रष्टव्य हैं—

"नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥ न देवाः ॥५१॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥"

नोकषायचारित्रमोहनीयकर्म के भेद नपुंसकवेदोदय से भावनपुंसकवेद होता है और अशुभ-नामकर्मोदय से द्रव्य नपुंसकवेद होता है। नारकी व सम्मूर्च्छन; इन जीवों के नपुंसकवेद चारित्र-मोहनीयकर्म का भी उदय होता है और अशुभ नाम कर्म का भी उदय होता है अतः नारकी व सम्मूर्च्छन जीव भाव से व द्रव्य से नपुंसकवेदी ही होते हैं, स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी नहीं होते। देव और भोगभूमिया शुभगति वाले जीव हैं। वे स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सातिशय सुख का अनुभव करते हैं, अतः उनमें नपुंसकवेद नहीं होता। शेष मनुष्य-तिर्यंचों अर्थात् कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों में स्त्री-पुरुष-नपुंसक ये तीनों वेद होते हैं। वेद का अर्थ लिंग भी है। द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग के भेद से वह दो प्रकार है। नामकर्मोदय से होने वाले योनि, मेहनादि को द्रव्यलिंग कहते हैं। चारित्रमोहनीय-कर्मरूप वेदोदय से भावलिंग होता है।[3] अन्यत्र भी कहा है—

एइंदिय विर्यालिंदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे।
वेदे णउंसगा ते णादव्वा होंति णियमा दु ॥८७॥
देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुयतिरिया।
ते होंति दोसु वेदेसुणत्थि तेसिं तदियवेदो ॥८८॥
पंचिंदिय दु सेसा सण्णि असण्णी य तिरिय मणुसा य।
ते होंति इत्थिपुरिसा णवुंसगा चावि वेदेहिं ॥८९॥[4]

—एकेन्द्रिय–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक; विकलेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय; नारक अर्थात् सातों पृथ्वियों के नारकी; सर्व सम्मूर्च्छन-सम्मूर्च्छन संज्ञी व सम्मूर्च्छन असंज्ञी पंचेन्द्रियों के नियम से नपुंसकवेद ही होता है। अर्थात् सर्व एकेन्द्रिय, सर्वविकलेन्द्रिय, सर्वनारकी और सर्व सम्मूर्च्छनसंज्ञी–असंज्ञी पंचेन्द्रियों के वेद की अपेक्षा नियम से नपुंसकवेद ही होता है। देव-भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी; भोगभूमिज तिर्यंच व मनुष्य, असंख्यातवर्ष की आयु-वाले भरत-ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी सुषमा-सुषमादि तीन भोगभूमिकालों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्यंच तथा सर्वम्लेच्छखण्डों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य-तिर्यंच स्त्री व पुरुष इन दो वेदवाले ही होते हैं, उनमें तृतीय अर्थात् नपुंसकवेद नहीं होता। शेष पंचेन्द्रियों में अर्थात् देव-नारकी तथा भोग-भूमिज, असंख्यातवर्षायुष्क [भोगभूमि के प्रतिभाग में उत्पन्न होने वाले] और म्लेच्छखंडों में उत्पन्न जीवों के सिवाय शेष बचे पंचेन्द्रिय संज्ञी व असंज्ञी जीवों में (मनुष्य-तिर्यंचों में) स्त्री-पुरुष-नपुंसक ये तीनों ही द्रव्यवेद एवं भाववेद पाये जाते हैं।[5]

---

१. कर्मभूमि में चक्रवर्ती, द्र वगैरह बड़े राजाओं के सैन्यों में मलमूत्रों का जहाँ क्षेपण करते हैं, ऐसे स्थानों पर वीर्य, नाक का मल, कफ, कान और दांतों का मल और अत्यन्त अपवित्र प्रदेश इनमें तो तत्काल उत्पन्न होते हैं। जिनका शरीर अंगुल के असंख्यात भाग मात्र रहता है और जो जन्म लेने के बाद शीघ्र नष्ट होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं, उनको सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं। जै. सि. कोश भाग ४ पृ. १२८। २. म.प्र. टीका के आधार से। ३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक के आधार से। ४. मूलाचार पर्याप्ति अधिकार। ५. श्री वसुनन्दि-आचार्यकृत मूलाचार टीका।

सर्वजघन्य और सर्वोत्कृष्ट अवगाहना के स्वामी

[1]सुहुमणिगोद-अपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि ।
अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ।।६४।।

गाथार्थ—उत्पन्न होने के तीसरे समय में सूक्ष्मनिगोदिया-लब्ध्यपर्याप्तक की अङ्गुल के असंख्यातव भाग प्रमाण जघन्य शरीर अवगाहना होती है और उत्कृष्ट शरीर अवगाहना मत्स्य की होती है ।।६४।।

विशेषार्थ—अन्यतर सूक्ष्मनिगोद जीव लब्ध्यपर्याप्तक जो कि त्रिसमयवर्ती आहारक है, तद्भवस्थ होने के तृतीयसमय में वर्तमान है, जघन्य योगवाला है और शरीर की सर्वजघन्य अवगाहना में वर्तमान है[2] उसके शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। पर्याप्त का निराकरण करने के लिए 'अपर्याप्त के' ऐसा निर्देश किया गया है।

शङ्का—पर्याप्त का निराकरण किसलिए किया गया है?

समाधान—अपर्याप्त की जघन्य अवगाहना से पर्याप्त को जघन्य अवगाहना बहुत पाई जाती है, अतः उसका निषेध किया गया है। विग्रहगति में जघन्य अवगाहना भी पूर्व (उक्त) अवगाहना के सदृश है अतः उसका निषेध करने के लिए 'त्रिसमयवर्ती आहारक' ऐसा कहा गया है। ऋजुगति से उत्पन्न हुआ, इस बात के ज्ञापनार्थ 'तृतीयसमयवर्ती तद्भवस्थ' ऐसा कहा गया है।

शङ्का—एक, दो या तीन विग्रह करके उत्पन्न कराकर छठे समयवर्ती तद्भवस्थ निगोदजीव के जघन्य स्वामीपना क्यों नहीं ग्रहण किया गया।

समाधान—नहीं ग्रहण किया गया, क्योंकि पाँच समयों में असंख्यातगुणितश्रेणी से वृद्धि को प्राप्त हुए एकान्तानुवृद्धियोग से बढ़ने वाले उक्त जीव के बहुत अवगाहना का प्रसंग आता है।

शङ्का—प्रथमसमयवर्ती आहारक और प्रथमसमयवर्ती तद्भवस्थ हुए निगोदजीव के जघन्य अवगाहना का स्वामीपना क्यों नहीं कहा गया?

समाधान—नहीं, क्योंकि उस समय आयतचतुरस्रक्षेत्र के आकार से स्थित उक्त जीव में अवगाहना का स्तोकपना बन नहीं सकता।

शङ्का—ऋजुगति से उत्पन्न होने के प्रथमसमय में आयतचतुरस्र स्वरूप से जीवप्रदेश स्थित रहते हैं, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—यह आचार्य परम्परागत उपदेश से जाना जाता है।

शङ्का—द्वितीय समयवर्ती आहारक और तद्भवस्थ होने के द्वितीयसमय में वर्तमान जीव के जघन्य स्वामीपना क्यों नहीं कहा गया है?

---

१. मूलाचार पर्याप्ति अ. १२ गा. ४७ का भी पूर्वार्ध इसी प्रकार है। २. ध.पु. ११ पृ. ३३ सूत्र २०।

समाधान—नहीं, क्योंकि द्वितीयसमय में भी जीवप्रदेश समचतुरस्र स्वरूप से अवस्थित रहते हैं।

शङ्का—द्वितीयसमय में जीवप्रदेशो का विष्कम्भ के समान आयाम हो जाता है, यह कहां से जाना जाता है ?

समाधान—यह परमगुरु के उपदेशों से जाना जाता है।

शङ्का—तृतीयसमयवर्ती आहारक और तृतीयसमयवर्ती ही तद्भवस्थ निगोदजीव के जघन्य स्वामीपना किसलिए दिया गया है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उस समय में चतुरस्रक्षेत्र के चारों ही कोनों को संकुचित करके जीवप्रदेशों का वर्तुल अर्थात् गोल आकार से अवस्थान देखा जाता है।

शङ्का—उस समय जीवप्रदेश वर्तुलाकार अवस्थित होते हैं, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—वह इसी सूत्र से जाना जाता है।

उत्पन्न होने के प्रथमसमय से लेकर जघन्य उपपादयोग और जघन्य एकान्तानुवृद्धियोग से तीनों समयों में प्रवृत्त होता है, इस बात को बतलाने के लिए 'जघन्य योगवाले के' ऐसा सूत्र में निर्देश किया गया है। तृतीय समय में अजघन्य भी अवगाहना होती है, अतः उनका प्रतिषेध करने के लिए 'शरीर की सर्वजघन्य अवगाहना में वर्तमान' यह कहा गया है। इन विशेषणों से विशेषता को प्राप्त हुए सूक्ष्मनिगोद जीव के जघन्य अवगाहना होती है।[1]

जो मत्स्य एक हजार योजन की अवगाहनावाला है,[2] उसकी उत्कृष्ट अवगाहना होती है। इस सूत्रांश से जो मत्स्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को आदि लेकर उत्कर्ष से एक प्रदेश कम हजार योजन प्रमाणतक आयाम से स्थित हैं, उनका प्रतिषेध किया गया है।

शङ्का—उत्सेध और विष्कम्भ की अपेक्षा महामत्स्य सदृश पाये जाने वाले मत्स्यों का ग्रहण करने पर भी कोई दोष नहीं है, अतः उनका ग्रहण क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जब तक महामत्स्य के आयाम, विष्कम्भ और उत्सेध का परिज्ञान नहीं हो जावे तब तक प्राप्त मत्स्यों के आयाम, विष्कम्भ और उत्सेध का परिज्ञान होना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। महामत्स्य का आयाम किसी अन्य सूत्र से नहीं जाना जाता है, क्योंकि इस सूत्र से ज्येष्ठ प्राचीन सूत्रभूत कोई अन्य वाक्य सम्भव नहीं है।

महामत्स्य का आयाम एक हजार योजन, विष्कम्भ पाँच सौ योजन और उत्सेध दो सौ पचास योजन प्रमाण है।

शङ्का—यह सूत्र के बिना कैसे जाना जाता है ?

---

१. ध. पु. ११ पृ. ३४-३५। २. ध. पु. ११ सू. ८ पृ. १५।

समाधान—यह आचार्य-परम्परा के प्रवाह-स्वरूप से आये हुए उपदेश से जाना जाता है और महामत्स्य के विष्कम्भ व उत्सेध का ज्ञापक सूत्र है ही नहीं, ऐसा नियम भी नहीं है क्योंकि **'जोयणसहस्सो त्ति'** अर्थात् एक हजार योजनवाला इस देशामर्शक सूत्रवचन से उनको सूचना की गई है।

ये विष्कम्भ और उत्सेध महामत्स्य के सब जगह समान हैं। मुख और पूंछ में विष्कम्भ एवं उत्सेध का प्रमाण इतने मात्र ही है, क्योंकि इनमें भिन्न विष्कम्भ और उत्सेध की प्ररूपणा करने वाला सूत्र व व्याख्यान नहीं पाया जाता है। तथा इसके बिना हजार योजन का निर्देश बनता भी नहीं है।

यहाँ के मत्स्य को देखकर 'महामत्स्य का मुख और पूँछ अतिशय सूक्ष्म हैं' ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु यह घटित नहीं होता तथा कहीं-कहीं मत्स्य के अङ्गों में व्यभिचार देखा जाता है अथवा ये विष्कम्भ और उत्सेध समकरण सिद्ध हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। दूसरी बात यह है कि अतिशय सूक्ष्ममुख से युक्त महामत्स्य एक सौ योजन की अवगाहना वाले अन्य तिमिंगलादि मत्स्यों को निगलने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें विरोध आता है। अतएव व्याख्यान में महामत्स्य के उपर्युक्त विष्कम्भ और उत्सेध को ही ग्रहण करना चाहिए।[1]

एक हजार योजन आयाम, पाँच सौ योजन उत्सेध और उसके आधे अर्थात् ढाईसौ योजन विस्तारवाले महामत्स्य का क्षेत्र भी घनफलरूप करने पर संख्यात प्रमाण घनांगुल होता है।[2]

[3]तिलोयपण्णत्ती भाग २ अ. ५ पृ. ६४० पर कहा है कि स्वयंप्रभाचल के बाह्यभाग में स्थित क्षेत्र में उत्पन्न किसी सम्मूर्च्छन महामत्स्य के सर्वोत्कृष्ट अवगाहना दिखती है जिसकी एक हजार योजन लम्बाई, पाँच सौ योजन विस्तार और इससे आधी अर्थात् ढाई सौ योजन ऊँचाई अवगाहना है। उसके प्रमाणांगुल करने पर चार हजार पाँच सौ उनतीस करोड़ चौरासी लाख तेरासी हजार दो सौ करोड़ रूपों से गुणित प्रमाणघनांगुल होते हैं। अर्थात् १००० × ५०० × २५० = १२५०००००० योजन घनफल × ३६२३८७८६५६ = ४,५२,६८,४८,३२,००,००,००,००० प्रमाण घनांगुल।

जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक एक-एक प्रदेश की वृद्धि के क्रम से मध्यम अवगाहना के असंख्यात भेद होते हैं। इस प्रकार अवगाहना के सम्पूर्ण विकल्प असंख्यात होते हैं, क्योंकि एक घनांगुल में असंख्यातप्रदेश होते हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना

साहिय सहस्समेकं बारं कोसूणमेकमेक्कं च।
जोयणसहस्सदीहं पम्मे वियले महामच्छे ॥६५॥

गाथार्थ—पद्म (कमल) एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और महामत्स्य पंचेन्द्रिय; इनकी उत्कृष्ट दीर्घता (अवगाहना) क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, एककोश कम एक योजन, एक योजन और एक हजार योजन है ॥६५॥

---

१. ध. पु. ११ पृ. १५-१६। २. ध. पु. ४ पृ. ३५-३६। ३. जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर मे प्रकाशित।

विशेषार्थ—स्वयंप्रभनगेन्द्रपर्वत के परभाग में स्थित त्रसकायिक जीवराशि प्रधानहै, क्योंकि यह राशि इतर कर्मभूमिज जीवों की अपेक्षा दीर्घायु और बड़ी अवगाहनावाली है। स्वयंप्रभपर्वत के परभाग में स्थित सबसे बड़ी अवगाहना होती है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए यह गाथासूत्र है—

> **"संखो पुण बारह जोयणाणि गोम्ही भव तिकोसं तु ।**
> **भमरो जोयणमेगं मच्छो पुण जोयण सहस्सो ॥१२॥**

—शंख नामक द्वीन्द्रिय जीव बारह योजन की लम्बी अवगाहनावाला होता है। गोम्ही नामक त्रीन्द्रियजीव तीन कोस लम्बी अवगाहनावाला, भ्रमर नामक चतुरिन्द्रियजीव एक योजन लम्बी अवगाहनावाला और महामत्स्य नामक पंचेन्द्रियजीव एक हजारयोजन लम्बी अवगाहनावाला होता है।[1]

पद्म अर्थात् **एकेन्द्रिय** आदि जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना का घनफल इस प्रकार है—स्वयंप्रभाचल के बाह्य भाग स्थित क्षेत्र में उत्कृष्ट अवगाहना वाला पद्म (कमल) होता है जो एक कोश अधिक एक हजार योजन ऊँचा और एक योजन मोटा समवृत्त होता है जिसका घनफल प्राप्त करने के लिए **त्रिलोकसार** में निम्नलिखित गाथा कही गई है—

> **"वासो तिगुणो परिहो वासचउत्थाहदो दु खेत्तफलं ।**
> **खेत्तफलं वेहगुणं खातफलं होइ सव्वत्थ ॥१७॥"**

उत्कृष्ट अवगाहना वाले एकेन्द्रियजीव-कमल का व्यास एकयोजन, परिधि तिगुणी अर्थात् १ × ३ = ३ योजन। व्यास की चौथाई $\frac{1}{4}$ योजन, व्यास की चौथाई से परिधि को गुणा करने पर ३ × $\frac{1}{4}$ = $\frac{3}{4}$ वर्गयोजन क्षेत्रफल होता है। इस क्षेत्रफल को ऊँचाई से गुणा करने पर $\frac{3}{4}$ × १०००$\frac{1}{4}$ = ७५०$\frac{3}{16}$ घनयोजन खातफल होता है। इसके प्रमाणांगुल का प्रमाण ७५०$\frac{3}{16}$ × ३६२३८७८६५६ = २७१८५८८४६९२४८ प्रमाणघनांगुल होता है।[2]

स्वयंप्रभाचल के बाह्य भाग में स्थित उत्कृष्ट अवगाहनावाले **द्वीन्द्रिय शंख** का मुख चार योजन और और लम्बाई १२ योजन है। उसका घनफल प्राप्त करने के लिए ति. प. में निम्नलिखित गाथासूत्र कहा है—

> **व्यासं तावत् कृत्वा, वदनदलोनं मुखार्धवर्गयुतम् ।**
> **द्विगुणं चतुर्विभक्तं सनाभिकेऽस्मिन् गणितमाहुः ॥५/३१९॥**[3]

एदेण सुत्तेण खेत्तफलमाणिदे तेहत्तरि-उस्सेह-जोयणाणि हवंति ।७३।

> **[4]आयामे मुह-सोहिय पुणरवि आयाम सहिद मुहभजियं ।**
> **बाहल्लं णायव्वं संखायारट्ठिए खेत्ते ॥३२०॥**

एदेण सुत्तेण बाहल्ले आणिदे पंचजोयणपमाणं होदि ।५। पुव्वमाणीद-तेहत्तरिभूद-खेत्तफल पंचजोयणबाहल्लेण गुणिदे घणजोयणाणि तिण्णिसयपण्णट्ठी होंति ॥३६५॥[5]

---

१. ध. पु. ४ पृ. ३३। २. ति. प. पृ. ६३६ भाग २ (सोलापुर)। ३. आयामकदो मुहदलहीणा मुहवासअद्ध-वग्गजुदा। विगुणा वेहेण हदा संखावत्तस्स खेत्तफलं ॥३२७॥ (त्रिलोकसार)। ४. ति. प. अ. ५। ५. ति. प. भाग २ पृ. ६३८, सोलापुर।

बारह योजन विस्तार को उतनी बार करके अर्थात् १२ योजन विस्तार का वर्ग करने पर जो राशि (१२×१२=)१४४ योजन है, उसमें से मुख (४ यो.) के आधे २ यो. को कम करने पर (१४४−२=)१४२ यो. में मुख के आधे २ योजन के वर्ग $(२)^{२}$=४ योजन को जोड़ देने पर (१४२+४=)१४६ यो. को दुगुणा करके (१४६×२=)२९२ यो., इसमें चार का भाग देने पर (२९२÷४=)७३ वर्गयोजन शंख का क्षेत्रफल प्राप्त होता है ।३१९।

आयाम १२ यो. में से मुख ४ यो. को कम करके (१२-४=)शेष बचे ८ में १२ यो. आयाम को मिलाकर (८+१२=)२० यो. में मुख ४ यो. का भाग देने पर (२०÷४=) ५ यो. शंख का बाहल्य होता है ।।३२०।। शंख के क्षेत्रफल ७३ यो. को बाहल्य ५ से गुणा करने पर (७३×५=) ३६५ यो. घनफल प्राप्त होता है । ३६५×३६२३८७८६५६=१३२२७१५७०९४४० प्रमाण-घनांगुल शंख का घनफल प्राप्त होता है ।[1]

स्वयंप्रभाचल के बाह्य भाग में स्थित उत्कृष्ट अवगाहनावाली **त्रीन्द्रियजीव गोम्ही** का घनफल इस प्रकार है—गोम्ही का आयाम $\frac{३}{४}$ योजन, इसके आठवें भागप्रमाण विस्तार $(\frac{३}{४}\times\frac{१}{८})\frac{३}{३२}$ योजन और विस्तार का आधा बाहल्य $\frac{३}{३२}\times\frac{१}{२}=\frac{३}{६४}$ योजन । इन तीनों को परस्पर गुणा करने से $\frac{३}{४}\times\frac{३}{३२}\times\frac{३}{६४}=\frac{२७}{८१९२}$ घन योजन खातफल प्राप्त होता हैं । जिसका घनप्रमाणांगुल $\frac{२७}{८१९२}$×३६२३८७८६५६=११९४३९३६ घनप्रमाणांगुल होते हैं ।[2]

स्वयंप्रभाचल के बाह्य भाग में स्थित **चतुरिन्द्रियजीव भ्रमर** की उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन आयाम, आधा योजन ऊँचाई और आधे योजन की परिधि प्रमाण विस्तार अर्थात् विष्कम्भ होता है । आधे $(\frac{१}{२})$ योजन की परिधि $(\frac{१}{२}\times३)=\frac{३}{२}$ योजन विष्कम्भवाली है । इस विष्कम्भ $\frac{३}{२}$ योजन के आधे $(\frac{३}{२}\times\frac{१}{२})=\frac{३}{४}$ यो., ऊँचाई $\frac{१}{२}$ योजन से गुणा करके $(\frac{३}{४}\times\frac{१}{२})=\frac{३}{८}$ योजन को आयाम १ योजन से गुणा करने पर $(\frac{३}{८}\times१)=\frac{३}{८}$ घन योजन भ्रमर का खातफल अर्थात् घनफल है । इसके प्रमाणघनांगुल $(\frac{३}{८}\times३६२३८७८६५६)$=१३५८९५४४९६ होते हैं ।[3]

उत्कृष्ट अवगाहना वाले **पंचेन्द्रियजीव महामत्स्य** का घनफल गा. ९४ की टीका में बताया गया है ।

पर्याप्तक द्वीन्द्रियादि जीवों की जघन्य अवगाहना का प्रमाण तथा उसके स्वामी

बितिचपपुण्णजहण्णं अणुंधरीकुंथुकाणमच्छीसु ।
सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखे संखगुणिदकमा ।।९६।।

गाथार्थ—सर्व जघन्य अवगाहना द्वीन्द्रिय जीव में अनुन्धरी को, त्रीन्द्रियजीव में कुंथु की, चतुरिन्द्रिय जीव में काणमक्षिका की और पंचेन्द्रियजीव में सिक्थमत्स्य की होती है, जो घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण है, किन्तु संख्यातगुणे क्रम से है ।।९६।।

विशेषार्थ—गाथा में 'वि' द्वीन्द्रिय जीव का, 'ति' तीन इन्द्रिय जीव का, 'च' चतुरिन्द्रिय जीव का

---

१. ति. प. भाग २ पृ. ६३८, सोलापुर । २. ति.प. भाग २ पृ. ६३६-६३७, सोलापुर । ३. ति प. भाग २ पृ. ६३७ ।

और 'प' पंचेन्द्रिय जीव का बोधक है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना अनुन्धरी के होती है। त्रीन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना कुंथु के होती है। चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना काणमक्षिका के होती है। पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना सिक्थ (तंदुल) मत्स्य के होती है।[1]

द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना से त्रीन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना संख्यातगुणी, इससे चतुरिन्द्रिय जीव को जघन्य अवगाहना संख्यातगुणी, इससे पंचेन्द्रिय पर्याप्तक-जीव की जघन्य अवगाहना संख्यातगुणी होती है। इस प्रकार ये जघन्य अवगाहना संख्यातगुणित क्रम से है। सर्वत्र गुणकार संख्यातसमय है। ये सर्व जघन्य अवगाहनाएँ घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं, क्योंकि संख्यात के बहुत भेद हैं। जैसे—दस से बीस संख्यातगुणा है, बीस से चालीस संख्यातगुणा है, चालीस से ८० संख्यातगुणा है। यद्यपि ये चारों संख्याएँ संख्यातगुणितक्रम से हैं तथापि दो अङ्क प्रमाणता का उल्लंघन नहीं करतीं अर्थात् ये चारों ही दो अङ्क प्रमाण हैं। इसी प्रकार चारों जघन्य अवगाहनाएँ भी संख्यातगुणित क्रम से स्थित हैं, तथापि घनांगुल के संख्यातवें भाग का उल्लंघन नहीं करतीं, परस्पर संख्यातगुणित होते हुए भी अंगुल के संख्यातवें भाग ही रहती हैं।

सर्व जघन्य से सर्वोत्कृष्ट पर्यन्त अवगाहना के स्वामी तथा उन अवगाहनाओं की हीनाधिकता एवं गुणकार का प्रमाण

सुहुमणिवातेआभूवातेआ पुणि पदिट्ठिदं इदरं।
बितिचपमादिल्लाणं एयाराणं तिसेढीय ।।९७।।

अपदिट्ठिदपत्तेयं, बितिचपतिचबिअपदिट्ठिदं सयलं।
तिचबिअपविट्ठिदं च य सयलं बादालगुणिदकमा ।।९८।।

अवरमपुण्णं पढमं सोलं पुण पढमबिदियतदियोली।
पुण्णिदर पुण्णयाणं जहण्णमुक्कस्समुक्कस्स ।।९९।।

पुण्णजहण्णं तत्तो वरं अपुण्णस्स पुण्णउक्कस्सं।
बीपुण्णजहण्णोत्ति असंखं संखं गुणं तत्तो ।।१००।।

गाथार्थ—सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्तक, सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तक, सूक्ष्म तेजकायिक-अपर्याप्तक, सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्तक, सूक्ष्मपृथ्वीकायिक अपर्याप्तक, बादरवायुकायिक अपर्याप्तक, बादरतेजकायिक अपर्याप्तक, बादरअप्कायिक अपर्याप्तक, बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्तक, बादरनिगोद अपर्याप्तक, बादरनिगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक अपर्याप्तक, बादर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक अपर्याप्तक, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक, पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक, इन १६ में से आदि के ११ की तीन श्रेणियाँ करनी चाहिए।।९७।। तीन श्रेणियों के

---
१. ध.पु. ११ पृ. ७३।

पश्चात् पर्याप्त अप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक, पर्याप्त द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय की जघन्य अवगाहना, तत्पश्चात् अपर्याप्त त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-अप्रतिष्ठितप्रत्येक-सकल अर्थात् पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना तत्पश्चात् पर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-अप्रतिष्ठित प्रत्येक-पंचेन्द्रिय की उत्कृष्टअवगाहना ये सब स्थान क्रम से लिखने चाहिए। इनमें से ४२ स्थान गुणाकार क्रम से हैं ।।९८।। आदि के सोलहस्थान अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के हैं। प्रथमश्रेणी में पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना, द्वितीयश्रेणी में अपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना, तृतीयश्रेणी में पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहनावाले जीव हैं ।।९९।। तृतीय श्रेणी के पश्चात् पाँचस्थान पर्याप्त की जघन्य अवगाहना के, पुनः पाँचस्थान अपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना के हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यात गुणाकार हैं, उसके पश्चात् संख्यात गुणाकार हैं ।।१००।।

विशेषार्थ—इन गाथाओं में प्रतिपादित विषय ध.पु. ११ के 'जीवसमासों में अवगाहना दण्डक' से लिया गया है अतः उसी अवगाहना दण्डक के अनुसार यहाँ विशेष स्पष्टीकरण किया गया है।

१. सूक्ष्म निगोद-अपर्याप्तकजीव की जघन्य अवगाहना सबसे स्तोक है, वह अवगाहना एक उत्सेधघनांगुल में पल्योपम के असंख्यातवेंभाग का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतनी है। २. सूक्ष्मवायुकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है। यहाँ गुणाकार आवली का असंख्यातवाँभाग है। 'अपर्याप्त' कहने पर लब्ध्यपर्याप्तक ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि निर्वृत्त्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना आगे कही जाने वाली है। ३. उससे सूक्ष्मतेजकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। यहाँ लब्ध्यपर्याप्तक ही ग्रहण करना चाहिए। ४. उससे सूक्ष्मजलकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। यहाँ भी लब्ध्यपर्याप्तक ही ग्रहण करना चाहिए। ५. सूक्ष्मपृथ्वीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है। गुणाकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। ६. उससे बादर वायुकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। यहाँ गुणकार पल्य का असंख्यातवाँ भाग है। ७. उससे बादरतेज-कायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ८. उससे बादर जलकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ९. उससे बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। १०. उससे बादरनिगोदजीव अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ११. उससे निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। १२. उससे बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। १३. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। १४. त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। १५. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। १६. उससे पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यात-गुणी है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ये पूर्व प्ररूपित सर्व जघन्य अवगाहनाएँ लब्ध्यपर्याप्तक की हैं। आगे निर्वृत्तिपर्याप्तक और निर्वृत्त्यपर्याप्तक की कही जायेंगी। १७. उससे

निर्वृ त्तिपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदजीव की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। १८. उसके ही अपर्याप्तक के (सूक्ष्मनिगोद निर्वृ त्यपर्याप्तक के ही) उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। यहाँ अपर्याप्तक से निर्वृ त्यपर्याप्तक का ग्रहण किया गया है, क्योंकि किसी अन्य के साथ प्रत्यासत्ति नहीं है। विशेष का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। आवला का असंख्यातवाँ भाग उसका प्रतिभाग है, किन्तु किन्हीं आचार्यों के अभिप्राय से वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। १९. उसके ही पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है । विशेष का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है। २०. उससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है, गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। २१. उसके निर्वृ त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। २२. उसके पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। २३. उससे सूक्ष्मतेजकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। २४. उसके ही अपर्याप्तक (निर्वृ त्यपर्याप्तक) की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है, विशेष का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। २५. उसके ही निर्वृ त्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। २६. उससे सूक्ष्म जलकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है, गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। २७. उसके ही निर्वृ त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। २८. उसके निर्वृ त्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। २९. उससे सूक्ष्मपृथ्वीकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। ३०. उसके ही निर्वृ त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। ३१. उसके ही निर्वृ त्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। ३२. उससे बादरवायुकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ३३. उसके ही निर्वृ त्यपर्याप्तक को उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग है। ३४. उसके ही निर्वृ त्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल असंख्यातवाँ भाग है। ३५. उससे बादरतेजकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ३६. उसके ही निर्वृ त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। ३७. उसके ही निर्वृ त्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है । विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। ३८. उससे बादर जलकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ३९. उसके ही निर्वृ त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। ४०. उसके ही निर्वृ त्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ-भाग है। ४१ उससे बादर पृथ्वीकायिक निर्वृ त्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यागुणी है। गुणकार का प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। ४२. उसके ही निर्वृ त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण

अंगुल का असंख्यातवाँभाग है। ४३. उसके ही निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँभाग है। ४४. उससे बादरनिगोद निर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। ४५. उससे उसके ही निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँभाग है। ४६. उससे उसके ही निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँभाग है। ४७. उससे निगोद प्रतिष्ठितपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। ४८. उससे उसके ही निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग है। ४९. उससे उसके ही निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है। विशेष अधिक का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवेंभाग प्रमाण है। ५०. उससे बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर निर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार का प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। ५१. उससे द्वीन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। गुणकार का प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। ५२. उससे त्रीन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है। ५३. उससे चतुरिन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार का प्रमाण संख्यात समय है। ५४. उससे पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है। ५५. उससे त्रीन्द्रिय निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यातसमय है। ५६. उससे चतुरिन्द्रिय निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार का प्रमाण संख्यातसमय है। ५७. उससे द्वीन्द्रिय निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है। ५८. उससे बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है। ५९. उससे पंचेन्द्रिय निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है। ६०. उससे त्रीन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यातसमय है। ६१. उससे चतुरिन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यातसमय है। ६२. उससे द्वीन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है। ६३. उससे बादरवनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यातसमय है। ६४. उससे पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। गुणकार संख्यात समय है।[1]

गुणकाररूप असंख्यात का और श्रेणिगत २२ स्थानों में अधिक का प्रमाण

सुहमेदरगुणगारो आवलिपल्ला असंखभागो दु।
सट्ठाणे सेढिगया अहिया तत्थेक पडिभागो ॥१०१॥

गाथार्थ—स्वस्थान सूक्ष्म और बादरों का गुणकार क्रम से आवली का असंख्यातवाँभाग और पल्य का असंख्यातवाँभाग है, किन्तु श्रेणीगत स्थान एक प्रतिभाग प्रमाण विशेष अधिक है ॥१०१॥

विशेषार्थ—इस गाथा में प्रतिपादित विषय ध.पु. ११ सूत्र ९५ से ९९ में प्रतिपादित

---

१. ध.पु. ११ पृ. ५६-६६ सूत्र ३१-६४।

विषय के अनुसार ही है अतः यहाँ विशेषार्थ में उन्हीं सूत्रों का आधार लिया गया है। एक सूक्ष्मजीव से दूसरे सूक्ष्मजीव की अवगाहना का गुणकार आवली का असंख्यातवाँभाग है। तात्पर्य यह है कि 'एक सूक्ष्मजीव से दूसरे सूक्ष्मजीव की अवगाहना असंख्यातगुणी है' ऐसा जहाँ भी कथन किया गया है वहाँ आवली का असंख्यातवाँभाग गुणकार होता है। सूक्ष्म से बादरजीव की अवगाहना का गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय की अवगाहना से जहाँ बादरजीव की अवगाहना असंख्यातगुणी कही है वहाँ पल्योपम का असंख्यातवाँभाग गुणकार होता है। बादर से सूक्ष्म का अवगाहनागुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। बादर की अवगाहना से जहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय की अवगाहना असंख्यातगुणी कही है वहाँ आवली का असंख्यातवाँभाग गुणकार होता है। बादर से बादर का अवगाहना-गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। बादर नामकर्म से युक्त जीवों का ग्रहण होने से द्वीन्द्रियादि जीवों का भी ग्रहण होता है। एक बादरजीव से दूसरे बादरजीव की अवगाहना जहाँ असंख्यातगुणी होती है वहाँ पल्योपम का असंख्यातवाँभाग गुणकार होता है। कहीं पर एक बादरजीव से दूसरे बादरजीव की अवगाहना का गुणकार संख्यातसमय है। द्वीन्द्रियादिक निर्वृत्त्यपर्याप्तकों और उनके पर्याप्तकों में अवगाहना का गुणकार संख्यात समय होता है।[1]

सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्यअवगाहना से सूक्ष्म वायुकायिक की जघन्यअवगाहना की गुणकार आवली के असंख्यातवें भाग की उत्पत्ति का क्रम तथा दोनों के मध्य की अवगाहनाओं के भेदों का कथन

अवरुवरि इगिपदेसे जुदे असंखेज्जभागवड्ढीए।
आदी णिरंतरमदो एगेगपदेसपरिवड्ढी ॥१०२॥
अवरोग्गाहणमाणे जहण्णपरिमिदअसंखरासिहिदे।
अवरस्सुवरिं उड्ढे जेट्ठमसंखेज्जभागस्स ॥१०३॥

गाथार्थ—जघन्य अवगाहना के प्रमाण में एक प्रदेश मिलाने से असंख्यातभागवृद्धि का आदि-स्थान होता है। इसके ऊपर निरन्तर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होती जाती है। जघन्य अवगाहना के प्रदेशों में जघन्य परीतासंख्यात का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने प्रदेशों की वृद्धि हो जाने पर असंख्यातभागवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है ॥१०२-१०३॥

विशेषार्थ—इन दोनों गाथाओं में जो विषय प्रतिपादित है वह ध. पु. ११ सू. २१ की टीका में है, अतः यहाँ विशेषार्थ में उसी को आधार बनाया है। पल्योपम के असंख्यातवें भाग का विरलन करके घनांगुल को समखण्ड करके देने पर एक-एक रूप के प्रति सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना प्राप्त होती है। पश्चात् इसके आगे एक प्रदेश अधिक अवगाहना से निगोद पर्याय में ही स्थित जीव की अजघन्य अवगाहना होती है। यह द्वितीय अवगाहनाविकल्प असंख्यात-भागवृद्धि के द्वारा वृद्धिगत हुआ है। वह इस प्रकार है—जघन्य अवगाहना का नीचे विरलन करके उपरिम एक अंक के प्रति प्राप्त राशि को (जघन्य अवगाहना को) समखण्ड करके देने पर एक-प्रदेश प्राप्त होता है। जघन्य अवगाहना के ऊपर दो प्रदेशों को बढ़ाकर स्थित जीव की द्वितीय अजघन्य अवगाहना होती है। यहाँ भी असंख्यातभागवृद्धि ही है। तीन प्रदेश अधिक जघन्य-

---

१. ध. पु. ११ पृ. ६९-७०।

अवगाहना में रहने वाले जीव की तृतीय अजघन्य अवगाहना है। इस प्रकार एक-एक आकाश-प्रदेश को बढ़ाकर जघन्य परीतासंख्यात प्रमाण आकाशप्रदेशों की वृद्धि होने तक ले जाना चाहिए। जघन्य अवगाहना को जघन्य परीतासंख्यात से खण्डित करके उनमें से एकखण्ड प्रमाण वृद्धि हो जाने पर असंख्यातभागवृद्धि ही रहती है।[1]

तस्सुवरि इगिपदेसे, जुदे अवत्तव्वभागपारम्भो।
वरसंखमवहिदवरे, रूऊणे अवरउवरिजुदे ॥१०४॥
तव्वड्ढीए चरिमो तस्सुवरिं रूव संजुदे पढमा।
संखेज्जभागउड्ढी उवरिमदो रूवपरिवड्ढी ॥१०५॥

गाथार्थ—असंख्यातभागवृद्धि के उपर्युक्त अन्तिमस्थान अथवा असंख्यातभागवृद्धि के उत्कृष्ट स्थान के आगे एकप्रदेश की वृद्धि होने पर अवक्तव्य भागहार का प्रारम्भ होता है। जघन्य अवगाहना को उत्कृष्ट संख्यात से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उससे एक कम संख्या तक जघन्य में प्रदेशवृद्धि होने पर अवक्तव्यवृद्धि का उत्कृष्टस्थान होता है। इससे एक प्रदेश की वृद्धि होने पर संख्यात भागवृद्धि का प्रथमस्थान होता है। उसके ऊपर एक प्रदेश की वृद्धि होने पर भी संख्यातभागवृद्धि ही होती है ॥१०४-१०५॥

विशेषार्थ—आगम में वृद्धि छह प्रकार की कही गई है—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि।[2] इसीलिए श्री वीरसेन स्वामी ने घन्यज अवगाहना को जघन्यपरीतासंख्यात से खण्डित करके उसमें एकखण्ड के मिलाने पर भी असंख्यात-भागवृद्धि का उत्कृष्टस्थान अर्थात् अन्तिमस्थान स्वीकार नहीं किया, किन्तु उससे उपर भी एक-एक प्रदेश की वृद्धि को असंख्यातभागवृद्धि ही कही है, क्योंकि जघन्य अवगाहना को उत्कृष्ट संख्यात से खण्डित करने पर जो एकखण्ड प्राप्त हो, उतने प्रदेशों की वृद्धि का अभाव है। इस प्रकार एक-एक प्रदेश की वृद्धि करते हुए जाकर जघन्य अवगाहना को उत्कृष्टसंख्यात से खण्डित करके उसमें से एक खण्डमात्र जघन्य अवगाहना के ऊपर वृद्धि हो चुकने पर संख्यातभागवृद्धि की आदि और असंख्यातभागवृद्धि की परिसमाप्ति हो जाती है।[3]

जघन्यपरीतासंख्यात में से एक कम कर देने पर उत्कृष्टसंख्यात होता है। जघन्य परीता-संख्यात से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी वृद्धि हो जाने पर यद्यपि असंख्यातभागवृद्धि की समाप्ति हो जाती है और उत्कृष्ट संख्यात से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी वृद्धि होने पर संख्यातभागवृद्धि का प्रारम्भ होता है। जैसे १०० में ५ का भाग देने पर २० प्राप्त हुए। १२० हो जाने पर पाँचवें भाग की वृद्धि समाप्त हो जाती है। १०० में ४ का भाग देने पर लब्ध २५ प्राप्त होता है। १२५ पर चौथाई भाग की वृद्धि होती है। प्रश्न यह है कि १०० पर २१-२२-२३-२४ की वृद्धि न तो पाँचवें भाग की वृद्धि कही जा सकती है और न चौथाई

---

१. ध. पु. ११ पृ. ३६ से ३८। २. आ. प. सूत्र १७ पृ. ५ (शांतिवीरनगर प्रकाशन)। गो. सा. जीवकाण्ड गा. ३२२। ३. ध. पु. ११ पृ ३८।

भाग वृद्धि। इसी प्रकार जघन्य असंख्यातवें भाग की वृद्धि समाप्त हो जाने पर और उत्कृष्ट संख्यातवेंभाग की वृद्धि प्रारम्भ होने से पूर्व की वृद्धियाँ न तो असंख्यातवें भाग वृद्धि हैं, और न संख्यातवें भाग वृद्धियाँ हैं, इसलिए गोम्मटसारकार ने उनकी अवक्तव्यवृद्धि संज्ञा दी है, किन्तु धवलाकार ने उनको असंख्यातवेंभागवृद्धि कहा है, क्योंकि वे उत्कृष्ट संख्यातवें भागवृद्धि से हीन हैं। इसप्रकार दोनों ग्रन्थों में मात्र संज्ञाभेद है, भाव में कोई अन्तर नहीं है और न संख्यातवें भाग की वृद्धि आदि में कोई अन्तर है।

अवरद्धे अवरुवरिं उड्ढे तव्वड्ढिपरिसमत्ती हु।
रूवे तदुवरि उड्ढे होदि अवत्तव्वपढमपदं ॥१०६॥
रूऊणवरे अवरुस्सुवरिं संवड्ढिदे तदुक्कस्सं।
तम्हि पदेसे उड्ढे पढमा संखेज्जगुणवड्ढी ॥१०७॥

गाथार्थ—जघन्य अवगाहना के प्रमाण के आधे की वृद्धि हो जाने पर संख्यातवें भाग वृद्धि की परिसमाप्ति हो जाती है। उसके ऊपर एक प्रदेश की वृद्धि होने पर अवक्तव्यवृद्धि का प्रथम स्थान होता है। जघन्य अवगाहना के ऊपर एक प्रदेश कम जघन्य अवगाहना प्रमाण वृद्धि होने पर अवक्तव्यवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। उसमें एकप्रदेश की वृद्धि हो जाने पर संख्यातगुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है ॥१०६-१०७॥

विशेषार्थ—उत्कृष्टसंख्यात का विरलन करके जघन्य अवगाहना को समखण्ड करके देने पर विरलनरूप के प्रति (संख्यातभागवृद्धि के आदिस्थान में) वृद्धिगत प्रदेशों का प्रमाण प्राप्त होता है। यहाँ से लेकर ऊपर संख्यातभागवृद्धि होकर जाती है, जब तक उपरिम विरलन (पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण) अर्धभाग स्थित रहता है। वहाँ संख्यातगुणवृद्धि की आदि और संख्यातभागवृद्धि की समाप्ति हो जाती है।[1]

जघन्य संख्या दो है, क्योंकि संख्या दो से प्रारम्भ होती है और गणना एक से प्रारम्भ होती है। किसी राशि को एक से भाग या गुणा करने पर हानि या वृद्धि नहीं होती अतः एक को संख्यासंज्ञा नहीं दी है।[2] जघन्य अवगाहना को जघन्यसंख्यात दो से भाजित करने पर जघन्यअवगाहना का अर्धभाग प्राप्त होता है। जघन्य अवगाहना के ऊपर ज. अ. के अर्धभाग प्रमाण प्रदेशवृद्धि हो जाने पर संख्यातवेंभागवृद्धि का अन्तिम स्थान प्राप्त हो जाता है और जघन्य अवगाहना के ऊपर जघन्य अवगाहना प्रमाण प्रदेशों की वृद्धि हो जाने पर संख्यातगुणवृद्धि प्रारम्भ होती है, क्योंकि जघन्य अवगाहना का प्रमाण दुगुणा हो जाता है, किन्तु इन दोनों के मध्य के स्थान न तो संख्यातभागवृद्धिरूप हैं और न संख्यातगुणवृद्धिरूप हैं। इन स्थानों को गोम्मटसारकार ने अवक्तव्यस्थान की संज्ञा दी है, किन्तु ये स्थान जघन्यसंख्यातगुणवृद्धि स्थान से हीन हैं। अतः इन स्थानों को संख्यातभागवृद्धि में गर्भित किया है, क्योंकि संख्यातगुणवृद्धि के आदिस्थान से पूर्व के स्थान संख्यातभागवृद्धिरूप होंगे।

संख्यातगुणवृद्धि के आदिस्थान से लेकर फिर भी एकप्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक क्रम से

---

१. ध. पु. ११ पृ. ३६। २. त्रिलोकसार।

अवगाहना की वृद्धि होकर जघन्य अवगाहनाप्रमाण प्रदेशों के बढ़ जाने पर तिगुणीवृद्धि होती है। उस अवगाहना का भागहार जघन्य-अवगाहनासम्बन्धी भागहार के तृतीय भाग प्रमाण ($\frac{1}{3}$) होता है। पश्चात् एक प्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से जघन्य अवगाहना मात्र प्रदेशों की वृद्धि होने पर चतुर्गुणी वृद्धि होती है। वहाँ भागहार जघन्य अवगाहनासम्बन्धी भागहार (पल्योपम के असंख्यातवें भाग) के चतुर्थभाग प्रमाण होता है। इस प्रकार जघन्य अवगाहनासम्बन्धी गुणकार के उत्कृष्टसंख्यात मात्र तक ले जाना चाहिए।[1]

अवरे वरसंखगुणे तच्चरिमो तम्हि रूव संजुत्ते।
उग्गाहणम्हि पढमा होदि अवत्तव्वगुणवड्ढी ॥१०८॥
अवरपरित्तासंखेणवरं संगुणिय रूवपरिहीणे।
तच्चरिमो रूवजुदे तम्हि असंखेज्जगुणपढमं ॥१०९॥

गाथार्थ—जघन्य अवगाहना को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करने पर संख्यातगुणवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। उस अवगाहना में एकप्रदेश मिलने पर प्रथम अवक्तव्य गुणवृद्धि होती है। जघन्यपरीतासंख्यात से जघन्यअवगाहना को गुणा करके एक कम करने पर अवक्तव्य गुणवृद्धि का अन्त होता है। अवक्तव्यगुणवृद्धि के उस अन्तिम स्थान में एक मिलाने पर असंख्यातगुणवृद्धि का प्रथमस्थान होता है ॥१०८-१०९॥

विशेषार्थ—जघन्य अवगाहनासम्बन्धी गुणकार के उत्कृष्ट संख्यात हो जाने पर अवगाहना उत्कृष्टसंख्यातगुणी हो जाती है। उस अवगाहना का भागहार, जघन्य अवगाहना सम्बन्धी अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवेंभाग प्रमाण भागहार को उत्कृष्टसंख्यात से खंडित करने पर उसमें से एक खण्ड के बराबर होता है। उसके ऊपर एक प्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से एक जघन्य अवगाहनामात्र प्रदेशों की वृद्धि हो जाने पर असंख्यातगुणवृद्धि का प्रारम्भ और संख्यातगुणवृद्धि का अन्त होता है। इस अवगाहना का भागहार जघन्य अवगाहनासम्बन्धी भागहार (पल्योपम का असंख्यातवाँभाग) को जघन्य परीतासंख्यात से खण्डित करने पर उसमें एकखण्ड के बराबर होता है।[2]

गोम्मटसार में उत्कृष्टसंख्यातगुणवृद्धि के पश्चात् और जघन्य असंख्यातगुणवृद्धि के पूर्वस्थानों को अवक्तव्यगुणवृद्धिरूप कहा गया है। धवलाकार ने उन स्थानों को संख्यातगुणवृद्धिरूप कहा है। मात्र संज्ञा-भेद है, अन्य कुछ भेद नहीं है।

रूवुत्तरेण तत्तो, आवलियासंखभागगुणगारे।
तप्पाउग्गे जादे, वाउस्सोग्गाहणं कमसो ॥११०॥
एवं उवरि वि णेओ, पदेसवढ्ढिक्कमो जहाजोग्गं।
सव्वत्थेक्केक्कम्हि य, जीवसमासाण विच्चाले ॥१११॥

गाथार्थ—असंख्यातगुणवृद्धि के उक्त प्रथम स्थान के ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि तब तक

१. ध. पु. ११ पृ. ३९। २. ध. पु. ११ पृ. ३९-४०।

होती है जब तक सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायिक की जघन्य अवगाहना की उत्पत्ति के योग्य आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणकार हो जावे ॥११०॥ इसीप्रकार आगे सर्वत्र प्रत्येक जीवसमास के अन्तराल में यथायोग्य प्रदेशवृद्धि क्रम से अवगाहना-स्थानों को जानना चाहिए ॥१११॥

विशेषार्थ—पश्चात् यहाँ से (जघन्य परीतासंख्यातगुणवृद्धि से) आगे एक प्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातगुणवृद्धि के चालू रहने पर सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव की जघन्य अवगाहना में आवली के असंख्यातवें भागमात्र गुणकार के प्रविष्ट हो जाने पर सूक्ष्मवायुकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव को अजघन्य-अनुत्कृष्ट अवगाहना होती है।[1] अब सूक्ष्मनिगोद जीव की अवगाहना को छोड़कर और सूक्ष्म वायुकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों (असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि) द्वारा सूक्ष्मवायुकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की अजघन्य-अनुत्कृष्ट अवगाहना को सूक्ष्म-तेजकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के समान हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् वायुकायिक को छोड़कर सूक्ष्मतेजकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके प्रदेश अधिक क्रम से चारवृद्धियों द्वारा सूक्ष्मजलकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। पुनः तेजकायिक को छोड़कर और सूक्ष्मजलकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चार वृद्धियों द्वारा सूक्ष्मपृथ्वी-कायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्यअवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। पुनः जलकायिक को छोड़कर और सूक्ष्मपृथ्वीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चार वृद्धियों द्वारा बादर-वायुकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य-अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है, क्योंकि वह परस्थान गुणकार है। पुनः सूक्ष्म पृथ्वीकायिक को छोड़कर और बादरवायुकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा बादरतेजकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, क्योंकि बादर से बादरजीव की अवगाहना का गुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण है। बादरवायुकायिक को छोड़कर और बादर तेजकायिक-लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगा-हना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रमसे चारवृद्धियों द्वारा बादर जलकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। पश्चात् बादरतेजकायिक को छोड़कर और बादरजलकायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रमसे चारवृद्धियों द्वारा बादरपृथ्वी-कायिक लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। पुनः बादर जलकायिक को छोड़कर और बादरपृथ्वीकायिकलब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा बादरनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् बादरपृथ्वीकायिक को छोड़कर और बादरनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके प्रदेशअधिक क्रम से चारवृद्धियों द्वारा निगोद-

---

१. ध. पु. ११ पृ. ४०।

प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्यअवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। बादरनिगोद को छोड़कर और निगोदप्रतिष्ठित लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्य के असंख्यातवें-भाग प्रमाण है। निगोदप्रतिष्ठित लब्ध्यपर्याप्तक की अवगाहना को छोड़कर बादरवनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहणकर एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्य के असंख्यातवेंभागप्रमाण है। अब प्रत्येकशरीर लब्ध्यपर्याप्तक को छोड़कर द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहणकर चारवृद्धियों द्वारा त्रीन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। अब द्वीन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तक को छोड़कर त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा चतुरिन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। पश्चात् त्रीन्द्रिय को छोड़कर चतुरिन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना करके एकप्रदेश अधिक इत्यादिक क्रमसे चारवृद्धियों द्वारा पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश हो जाने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ भी गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। तत्पश्चात् पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रमसे चारवृद्धियों द्वारा सूक्ष्मनिगोद निर्वृत्तिपर्याप्त की जघन्य-अवगाहना के सदृश होने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार आवली का असंख्यातवाँभाग है। अब सूक्ष्मनिगोदनिर्वृत्तिपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना को ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादिक्रम से आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर उसमें से एक खण्डप्रमाण बढ़ाना चाहिए। इसप्रकार बढ़कर यह अवगाहना सूक्ष्मनिगोदनिर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना के सदृश होती है। पश्चात् इसको ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से इसी अवगाहना को आवली के असंख्यातवेंभाग से खण्डित कर उसमें एकखण्डप्रमाण जबतक अधिक न हो जावे तबतक बढ़ाना चाहिए। इसप्रकार बढ़कर यह अवगाहना सूक्ष्मनिगोद पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना के समान होती है। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा सूक्ष्म-वायुकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के प्राप्त होने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। यह गुणकार सूक्ष्मजीवों में सर्वत्र कहना चाहिए। पश्चात् इसको ग्रहण करके एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से इस अवगाहना के ऊपर इसी अवगाहना को आवली के असंख्यातवेंभाग से खण्डित कर एकखण्डप्रमाण बढ़ाना चाहिए। इसप्रकार बढ़ाने पर सूक्ष्मवायुकायिक निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना होती है। पश्चात् उसके ऊपर एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से उक्त अवगाहना को ही आवली के असंख्यातवेंभाग से खण्डितकर एकखण्डप्रमाणवृद्धि हो जाने पर सूक्ष्मवायुकायिकपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना प्राप्त होती है। पश्चात् इसको एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा सूक्ष्मतेज-कायिक पर्याप्तक की जघन्यअवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर एक खण्डप्रमाण बढ़ाना चाहिए जब तक सूक्ष्म तेजकायिक निर्वृत्त्यपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना न प्राप्त हो जावे। पश्चात् इसको एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बढ़ाना चाहिए जब तक सूक्ष्म-तेजकायिक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना के समान न हो जावे। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश

अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा सूक्ष्मजलकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के सदृश होने तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बढ़ाना चाहिए जब तक सूक्ष्मजलकायिक निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना के सदृश न हो जावे। फिर इस अवगाहना के ऊपर एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से बढ़ाना चाहिए जबतक सूक्ष्मजलकायिक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना के सदृश न हो जावे। पश्चात् इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा सूक्ष्मपृथ्वीकायिक की जघन्यअवगाहना के सदृश होने तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा सूक्ष्मपृथ्वीकायिक निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा सूक्ष्मपृथ्वीकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारवृद्धियों द्वारा बादरवायुकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना के प्राप्त होने तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादिक्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादरवायुकायिक निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए।[1] तत्पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातवें भाग वृद्धि के द्वारा बादरवायुकायिक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चार वृद्धियों द्वारा बादरतेजकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादरतेजकायिक निर्वृत्यपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादरतेजकायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारों वृद्धियों द्वारा बादरजलकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादरजलकायिक निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादरजलकायिक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारों वृद्धियों द्वारा बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। फिर एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि के द्वारा बादरपृथ्वीकायिक निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादरपृथ्वीकायिक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना की एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारों वृद्धियों द्वारा बादरनिगोदपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्य का असंख्यातवाँभाग है। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि के द्वारा बादरनिगोदनिर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा बादर निगोदपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम

१. धवल पु. ११ पृ. ४६।

से चार वृद्धियों द्वारा निगोद प्रतिष्ठित पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्य का असंख्यातवाँभाग है। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा निगोद प्रतिष्ठित निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहनातक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से असंख्यातभागवृद्धि द्वारा निगोदप्रतिष्ठित पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारों वृद्धियों द्वारा बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से चारों वृद्धियों द्वारा द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार पल्य का असंख्यातवाँभाग है।[1]

अब उत्सेधघनांगुल का भागहार संख्यातरूपप्रमाण हो जाता है। इसके आगे इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीनवृद्धियों (असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुण-वृद्धि) द्वारा त्रीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। यहाँ गुणकार संख्यात समय है। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि तीनवृद्धियों द्वारा चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा त्रीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीनवृद्धियों द्वारा चतुरिन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीनवृद्धियों द्वारा बादरवनस्पतिकायिक शरीर निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एकप्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीनवृद्धियों द्वारा पंचेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर भी इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा त्रीन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। पश्चात् इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। फिर इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीनवृद्धियों द्वारा द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए, फिर इस अवगाहना को एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् एक प्रदेश अधिक इत्यादि क्रम से तीन वृद्धियों द्वारा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना तक बढ़ाना चाहिए।[2]

मत्स्यरचना की अपेक्षा पूर्वोक्त स्थानों में अवगाहना भेदों का अन्तर्भाव

हेट्ठा जेसिं जहण्णं उवरिं उक्कस्सयं हवे जत्थ।
तत्थंतरगा सव्वे तेसिं उग्गाहण वि अप्पा ॥११२॥

---

१. धवल पु. ११ पृ. ४९। २. ध. पु ११ पृ. ४० से ५१।
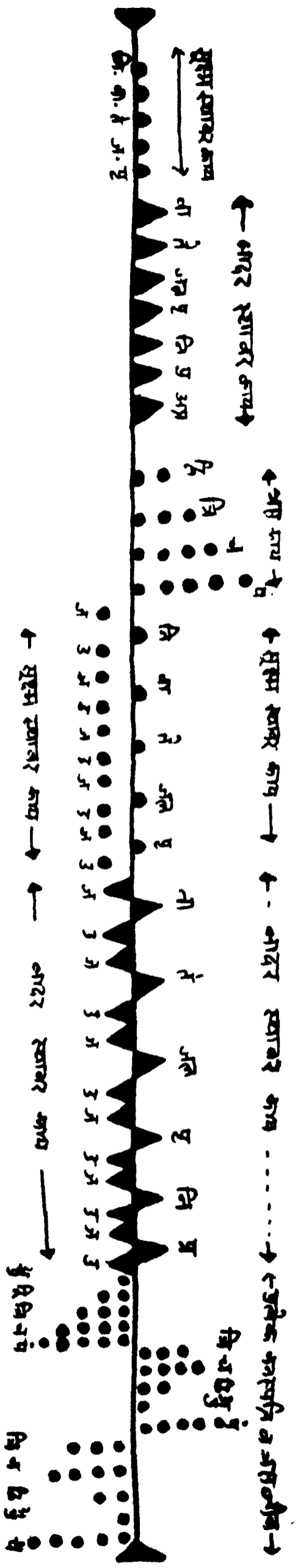
गाथार्थ—जिन जीवों की जघन्य अवगाहना का पहले कथन किया गया है और अनन्तर उत्कृष्ट अवगाहना का जहाँ-जहाँ कथन किया गया है उनके मध्य में जितने भी भेद हैं उन सबका मध्य के स्थानों में अन्तर्भाव हो जाता है ।।११२।।

विशेषार्थ—विवक्षित जीव की जघन्य अवगाहना कहाँ है और उत्कृष्ट अवगाहना कहाँ है ? तथा जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना के मध्य में अन्य कितने स्थान हैं ? इसको एक दृष्टि में सरलता पूर्वक ध. पु. ११ पृ. ७१ पर मत्स्य रचना द्वारा बताया गया है। उसके अनुसार यहाँ वह संदृष्टि संलग्न की जा रही है। इस मत्स्य रचना में प्रथम १६ अवगाहना स्थान त्रिसमयवर्ती आहारक और त्रिसमयवर्ती तद्भवस्थ लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की जघन्य अवगाहना के हैं। लब्ध्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना से निर्वृत्त्यपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिकता के बिना असंख्यातगुणी पायी जाती है इसलिए लब्ध्यपर्याप्तकों की उत्कृष्ट अवगाहना को ग्रहण नहीं किया। जो जीव अनन्तरसमय में पर्याप्त होने वाला है उस निर्वृत्त्यपर्याप्तक के उत्कृष्ट अवगाहना होती है। जो पर्याप्त होने के प्रथम समय में वर्तमान है तथा जघन्य उपपादयोग और जघन्य एकान्तानुवृद्धियोग से आकर जघन्य परिणामयोग व जघन्य अवगाहना में रहने वाला है उस पर्याप्त के जघन्य अवगाहना होती है। उत्कृष्ट अवगाहना में वर्तमान व परम्परा पर्याप्ति से पर्याप्त उत्कृष्टयोग वाले पर्याप्त जीव के उत्कृष्ट अवगाहना होती है।[1]

---

१. ध. पु. ११ पृ. ७१-७३।

कुलों के द्वारा जीवसमासों का कथन

[1]बावीस सत्त तिण्णि य, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।
णेया पुढविदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा ।।११३।।
कोडिसयसहस्साइं, सत्तट्ठ णव य अट्ठवीसाइं ।
बेइंदिय तेइंदिय, चउरिंदिय हरिदकायाणं ।।११४।।
अद्धत्तेरस बारस, दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचर--पक्खि--चउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ।।११५।।
छप्पंचाधियवीसं, बारसकुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं, जहाकमं होंति णेयाणि ।।११६।।
एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी य सदसहस्साइं ।
पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य ।।११७।।

गाथार्थ—पृथ्वीकायिक की २२ लाख, जलकायिक की ७ लाख, अग्निकायिक की ३ लाख और वायुकायिक की ७ लाख कुलकोटि है ।।११३।। द्वीन्द्रियों की ७ लाख, त्रीन्द्रियों की आठ लाख, चतुरिन्द्रियों की ६ लाख वनस्पतिकायिकों की २८ लाख कुलकोटि है ।।११४।। जलचरों की साढ़े बारह लाख कुलकोटि, पक्षियों की बारह लाख कुलकोटि, चतुष्पद पशुओं की १० लाख कुलकोटि, परिसर्पों (छाती के सहारे चलने वालों) की ६ लाख कुलकोटि है ।।११५।। देवों की २६ लाख, नारकियों की २५ लाख और मनुष्यों की १२ लाख कुलकोटि ज्ञातव्य है ।।११६।। सर्व जीवों के कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी सत्तानवे लाख पचास हजार कोटि है ।।११७।।

विशेषार्थ—उक्त पाँच गाथाएँ मूलाचार के पंचाचार अधिकार तथा पर्याप्ति अधिकार में भी आई हैं । उनमें मनुष्यों की १४ लाख कुलकोटि कहीं है और सर्वजीवों की एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख कुलकोटि है । किन्तु गोम्मटसार व आचारसार में मनुष्यों की १२ लाख कुलकोटि कही है और सब जीवों की १९७½ लाख कुलकोटि कही है । इस समय श्रुतकेवली का अभाव है, अतः यह निर्णय नहीं हो सकता कि इन दोनों में से किस संख्या को ग्रहण करना चाहिए ।

शङ्का—कुल किसे कहते हैं ?

समाधान—सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री अभयचन्द्र सूरि ने मन्दप्रबोधिनी टीका में—"उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रयोः उत्तरोत्तरप्रकृतिविशेषोदयैः संजाताः वंशाः कुलानि" अर्थात् ऊँच और नीचगोत्र रूप

---

१. गा. ११३ से ११७ ये पाँच गाथाएं माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से एवं फलटन से प्रकाशित मूलाचार के क्रमशः पृ. २८५ (द्वितीय भाग), गा. १६६-१६९ और पृ. १३१-१३२ गा. २९ से ३३ तक सदृशता लिये हुए हैं किन्तु मनुष्यों की कुलकोटि उक्त ग्रन्थों में १४ लाख बतायी है । आचारसार अ. ११९ श्लोक ४२-४५ में भी यही कथन पाया जाता है ।

उत्तरोत्तर प्रकृतिविशेषों के उदय से जो वंशों की उत्पत्ति होती है, वे ही कुल हैं। मूलाचार की टीकानुसार "शरीर के भेद के कारणभूत नोकर्म वर्गणा के भेद को कुल कहते हैं।"

शंका—कुल और योनि में क्या अन्तर है?

समाधान—जाति के भेदों को कुल कहते हैं और जीवों की उत्पत्ति के कारण (जिसमें से जीवों की उत्पत्ति होती है) आधार स्थान को योनि कहते हैं। जैसे—बड़, पीपल, कृमि, सीप, चींटी भ्रमर, मक्खी, गौ, घोड़ा इत्यादि, तथा क्षत्रियादि कुल हैं। कंद, मूल, अण्डा, गर्भ, रस, स्वेदादि योनि हैं।[1]

शङ्का—कुल, योनि, मार्गणादि के ज्ञान से क्या लाभ है?

समाधान—कुल, योनि, मार्गणा के आश्रय से सर्वजीवों का स्वरूप जानकर अपनी श्रद्धा को निःशंक अर्थात् संशयरहित करना चाहिए। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी मूलाचार में कहा है—

"कुल जोणिमग्गणा वि य णादव्वा चेव सव्वजीवाणं।
णाऊण सव्व जीवे णिस्संका होदि कादव्वा ॥३७॥"

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **जीवसमासप्ररूपणा** नामक द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

●

३. पर्याप्ति-प्ररूपणाधिकार

पर्याप्ति व अपर्याप्ति का लक्षण तथा जीव के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद

[2]जह पुण्णापुण्णाइं, गिहघडवत्थादियाइं दव्वाइं।
तह पुण्णिदरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥११८॥

गाथार्थ—जिस प्रकार गृह, घट और वस्त्र आदि अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं। पूर्णजीव पर्याप्तक और अपूर्ण-जीव अपर्याप्तक कहलाते हैं ॥११८॥

विशेषार्थ—सम्पूर्णता के हेतु को पर्याप्ति कहते हैं।[3] आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा

---

१. मूलाचार टीका के आधार से। २. यह गाथा ध. पु. २ पृ. ४१७ पर है। प्रा. पं. सं. पृ. १ अ. १ गा. ४३ भी है, किन्तु वहाँ 'पुण्णिदरा जीवा पज्जत्तिदरा' के स्थान पर 'पुण्णापुण्णाओ पज्जत्तियरा' पाठ है। ३. 'पज्जत्ती'—पर्याप्तयः सम्पूर्णताहेतवः (मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२. गा. ४. की टीका)।

और मनरूप शक्तियों की पूर्णता को **पर्याप्ति** कहते हैं।[1] इन शक्तियों की अपूर्णता को **अपर्याप्ति** कहते हैं।[2] इस पर्याप्ति और अपर्याप्ति के भेद से जीव भी दो प्रकार के हो जाते हैं। पर्याप्तजीव और अपर्याप्तजीव। पर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों की अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने रूप अवस्था विशेष प्रगट हो गई है, उन्हें **पर्याप्तजीव** कहते हैं।[3] अपर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों की शरीरपर्याप्ति पूर्ण न करके मरनेरूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें **अपर्याप्तजीव** कहते हैं।[4] सभी जीव शरीर पर्याप्ति के निष्पन्न होने पर पर्याप्त कहे जाते हैं।[5] जिन जीवों की पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु पर्याप्त नामकर्म का उदय है वे जीव भी पर्याप्त कहलाते हैं, क्योंकि भविष्य में उनकी पर्याप्ति नियम से पूर्ण होगी। होने वाले कार्य में यह कार्य हो गया इस प्रकार उपचार कर लेने से इनकी 'पर्याप्त' संज्ञा करने में कोई विरोध नहीं आता। अथवा पर्याप्त नामकर्मोदय से पर्याप्त संज्ञा दी गई है।[6]

पर्याप्तियों के भेद तथा उनके स्वामी

[7]आहारसरीरिंदिय-पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य, एइंदिय-वियलसण्णीणं ॥११६॥

गाथार्थ— आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। एकेन्द्रियजीवों के इनमें से पहली चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलचतुष्क के पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी जीवों के छह पर्याप्तियाँ होती हैं ॥११६॥

विशेषार्थ—सामान्य की अपेक्षा पर्याप्तियाँ छह हैं। आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति, मनः पर्याप्ति।[8] पर्याप्तियाँ छह ही होती हैं इससे अधिक नहीं।

आहारपर्याप्ति—शरीर नामकर्म के उदय से जो परस्पर अनन्त परमाणुओं के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं और जो आत्मा से व्याप्त आकाशक्षेत्र में स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्गणा सम्बन्धी पुद्गलस्कन्ध कर्मस्कन्ध के सम्बन्ध से कथंचित् मूर्तपने को प्राप्त हुए आत्मा के साथ समवाय-रूप से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। उन पुद्गलस्कन्धों को खलभाग और रसभाग के भेद से परिणमाने रूप आत्मशक्ति की पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते हैं।[9]

---

१. आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनः शक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः। (ध. पु. १ पृ. २५६ व ध. पु. ३ परिशिष्ट पृ. २३) २. शक्तिनामर्द्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः। (ध. पु. १ पृ. २५७)। ३-४. 'पर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः। अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः। (ध. पु. १ पृ. २६७)। ५. शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते। (ध. पु. १ पृ. ३१५-१६)। ६. ध. पु. १ पृ. २५४। ७. यह गाथा प्रा. पं. सं. पृ. १० पर गा. ४४ है, किन्तु पृ. ५७३ गा. २६ में 'वियलसण्णीणं' के स्थान पर 'विकलऽसण्णिसण्णीणं' पाठ है। ध. पु. २ पृ. ४१७ पर भी यह गाथा है, किन्तु 'छप्पि' के स्थान पर 'छव्वि' तथा 'वियल' के स्थान पर 'विगल' पाठ है। मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा. ४ व ५ में भी इस गाथा का विषय प्रतिपादित है। ८-६. ध. पु. १ पृ. २५४ व पु. ३ परिशिष्ट पृ. ३०।

शरीर पर्याप्ति—तिल की खली के समान उस खलभाग को हड्डी आदि कठिन अवयवरूप से और तिल के तेल के समान रसभाग को रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूप से परिणमन करने वाले औदारिक आदि शरीररूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।[1]

इन्द्रियपर्याप्ति— योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों को ग्रहण करने रूप शक्ति की पूर्णता को इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं, किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरणरूप द्रव्येन्द्रियाँ नहीं पायी जाती हैं।[2]

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति—उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।[3]

भाषापर्याप्ति—भाषावर्गणा के स्कन्धों के निमित्त से चार प्रकार की भाषारूप से परिणमन कराने की शक्ति की पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं।[4]

मनःपर्याप्ति—मनोवर्गणाओं से निष्पन्न द्रव्यमन के अवलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरणरूप शक्ति की उत्पत्ति को मनःपर्याप्ति कहते हैं।[5]

मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं। मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन। पुद्गलविपाकी अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्यमन है। तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह भावमन है।

शङ्का—जीव के नवीन भव को धारण करने के समय ही भावेन्द्रियों की तरह भावमन का भी सत्त्व पाया जाता है इसलिए जिस प्रकार अपर्याप्तकाल में भावेन्द्रियों का सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहाँ पर भावमन का सद्भाव क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बाह्येन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य द्रव्यमन का अपर्याप्त अवस्था में अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमन के असत्त्व का प्रसंग आ जाएगा।

शङ्का—पर्याप्ति के निरूपण से ही द्रव्यमन का अस्तित्व सिद्ध हो जाएगा।

समाधान—नहीं, क्योंकि बाह्य अर्थ की स्मरणशक्ति की पूर्णता में ही पर्याप्ति इस प्रकार का व्यवहार मान लेने से द्रव्यमन के अभाव में भी मनःपर्याप्ति का निरूपण बन जाता है। 'बाह्य पदार्थों की स्मरणरूप शक्ति से पूर्व द्रव्यमन का सद्भाव बन जाएगा' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यमन के योग्य द्रव्य की उत्पत्ति के पहले उसका सत्त्व मान लेने में विरोध आता है। अतः अपर्याप्तावस्था में भावमन के अस्तित्व को नहीं कहना द्रव्यमन के अस्तित्व का ज्ञापक है, ऐसा समझना चाहिए।[6]

---

१ से ५ तक ध.पु. १ पृ. २५५ व पु. ३ परिशिष्ट पृ. ३०-३१। ६. ध.पु. १ पृ. २५९-६०।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्यकृत मूलाचार टीका के अनुसार भी पर्याप्तियों का स्वरूप द्रष्टव्य है, अतः उसे भी यहाँ दिया जा रहा है—

आहारपर्याप्ति— औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर के योग्य आहार-वर्गणाओं को ग्रहणकर उनका खलभाग व रसभागरूप परिणमन करने में जिस कारण के द्वारा जीव समर्थ होता है, ऐसे कारण की सम्पूर्णता प्राप्त होना आहारपर्याप्ति है।

शरीरपर्याप्ति— शरीर बनने योग्य पुद्गल द्रव्य को ग्रहणकर जिस कारण से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीररूप परिणमाने में जीव समर्थ होता है, ऐसे कारण की सम्पूर्णता प्राप्त होना शरीरपर्याप्ति है।

इन्द्रियपर्याप्ति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के योग्य पुद्गलद्रव्यों को ग्रहणकर जिस कारण से यह आत्मा स्वकीय-स्वकीय स्पर्शादि इन्द्रियविषयों को जानने में समर्थ होता है, ऐसे कारण की पूर्णता प्राप्त होना इन्द्रियपर्याप्ति है।

आनपानपर्याप्ति—श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलद्रव्यों का अवलम्बन लेकर जिस कारण से श्वासोच्छ्वास की रचना को यह आत्मा करता है, उस कारण की पूर्णता को आनपानपर्याप्ति कहते हैं।

भाषापर्याप्ति— चार प्रकार की भाषा के प्रायोग्य पुद्गलद्रव्य को आश्रय करके जिस कारण चार भाषारूप परिणमाने में यह आत्मा समर्थ होता है, उस कारण की सम्पूर्णता भाषापर्याप्ति है।

मनःपर्याप्ति—चार प्रकार के मन के योग्य पुद्गलद्रव्य का आश्रय करके जिस कारण से चार-प्रकार की मनःपर्याप्तिरूप रचना करने में आत्मा समर्थ होता है, उस कारण की सम्पूर्णता मनःपर्याप्ति है।[1]

उपर्युक्त छहों पर्याप्तियाँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती हैं।

शङ्का—क्या सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान वाले के भी छह पर्याप्तियाँ होती हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस गुणस्थान में अपर्याप्तकाल नहीं पाया जाता है।

शङ्का—देशविरतादि ऊपर के गुणस्थानवालों के छहपर्याप्तियाँ क्यों नहीं होतीं?

समाधान—नहीं, क्योंकि छह पर्याप्तियों की समाप्ति [=पूर्णता] का नाम ही पर्याप्ति है और यह समाप्ति चतुर्थ गुणस्थान तक ही होने से पंचमादि ऊपर के गुणस्थानों में नहीं पायी जाती, क्योंकि अपर्याप्ति की अन्तिम अवस्थावर्ती एकसमय में पूर्ण हो जाने वाली पर्याप्ति का आगे के गुणस्थानों में सत्त्व मानने से विरोध आता है।[2]

पाँच पर्याप्तियाँ और पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं।

---

१. मूलाचार भाग दो, पृ. १७६ पर्याप्ति अधिकार १२ गाथा ४ की टीका। २. ध.पु. १ पृ. ३१२।

शङ्का—पांच पर्याप्तियाँ छह पर्याप्तियों के अन्तर्गत ही हैं इसलिए पृथक्‌रूप से पांच पर्याप्तियों का कथन करना निष्फल है।

समाधान—नहीं, किन्हीं जीवविशेषों में छहों पर्याप्तियाँ पायी जाती हैं और किन्हीं जीवों में पाँच ही पर्याप्तियाँ पायी जाती हैं। इस बात को बतलाने के लिए गाथा में 'पंच' शब्द दिया गया है।

शङ्का—वे पांच पर्याप्तियाँ कौनसी हैं ?

समाधान—मनःपर्याप्ति के विना शेष पांच पर्याप्तियाँ यहाँ ग्रहण की गई हैं।

वे पाँच पर्याप्तियाँ विकल अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होती हैं, क्योंकि गाथा में 'वियल' शब्द के द्वारा विकलचतुष्क का ग्रहण होता है।

शङ्का—विकलेन्द्रियजीवों में भी मन है, क्योंकि मन का कार्य विज्ञान जो मनुष्यों में है, वह विकलेन्द्रिय जीवों में भी पाया जाता है ?

समाधान—यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि विकलेन्द्रियों में रहने वाला विज्ञान मन का कार्य है, यह बात असिद्ध है।

शङ्का—मनुष्यों में जो विशेष ज्ञान होता है, वह मन का कार्य है, यह बात तो देखी जाती है।

समाधान—मनुष्यों का विशेष विज्ञान यदि मन का कार्य है तो रहो, क्योंकि वह मनुष्यों में देखा जाता है।[1]

शङ्का—मनुष्यों में मन के कार्यरूप से स्वीकार किये गये विज्ञान के साथ विकलेन्द्रियों में होने वाले विज्ञान की ज्ञानसामान्य की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियों का विज्ञान भी मन से होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्न जाति में स्थित विज्ञान के साथ भिन्न जाति में स्थित विज्ञान की समानता नहीं बन सकती है। 'विकलेन्द्रियों के मन नहीं होता' यह आगम-वाक्य प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

शङ्का—विकलेन्द्रियों के मन का अभाव है, यह बात किस प्रमाण से जानी जाती है ?

समाधान—आगमप्रमाण से जानी जाती है कि विकलेन्द्रियों के मन नहीं होता।

शङ्का—आर्ष को प्रमाण कैसे माना जावे ?

समाधान—जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है, उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है।[2]

---

१. ध. पु. १ पृ. ३१३। २. ध. पु. १ पृ. ३१४।

चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं। वे चार पर्याप्तियाँ आहारपर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और आनपान पर्याप्ति हैं। किन्हीं जीवों में चार पर्याप्तियाँ अथवा किन्हीं में चार अपर्याप्तियाँ होती हैं। ये चारों पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवों के ही होती हैं, दूसरों के नहीं।

शङ्का—एकेन्द्रिय जीवों के उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रियजीवों के श्वासोच्छ्वास होता है, यह बात आगमप्रमाण से जानी जाती है।

शङ्का—प्रत्यक्ष से यह आगम बाधित है?

समाधान—जिसने सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है, ऐसे प्रत्यक्षप्रमाण से यदि बाधा सम्भव हो तो वह प्रत्यक्षबाधा कही जा सकती है, किन्तु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो सम्पूर्ण पदार्थों को विषय नहीं करता है, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्ष की विषयता को नहीं प्राप्त होने वाले पदार्थों में भेद किया जा सके।[1]

शङ्का—छह पर्याप्ति, पाँच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियों से पूर्णता को प्राप्त हुए पर्याप्तक कहलाते हैं। तो क्या उनमें से किसी एक पर्याप्ति से पूर्णता को प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है या सम्पूर्ण पर्याप्तियों से पूर्णता को प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है?

समाधान—सभी जीव शरीरपर्याप्ति के निष्पन्न होने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं।[2]

प्रत्येक व समस्त पर्याप्तियों के प्रारम्भ व पूर्ण होने का काल

पज्जत्ती पट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं।
अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥१२०॥

गाथार्थ—पर्याप्तियों का प्रस्थापन युगपत् होता है, किन्तु निष्ठापन क्रम से होता है। इन पर्याप्तियों का काल अधिक-अधिक क्रमवाला होने पर भी अन्तर्मुहूर्तवाला है ॥१२०॥

विशेषार्थ—इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि जन्मसमय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है, किन्तु पूर्णता क्रम से होती है।[3] प्रथम अन्तर्मुहूर्त के द्वारा **आहार पर्याप्ति** की निष्पत्ति होती है। उसके संख्यातवेंभाग अधिक काल के द्वारा **शरीर पर्याप्ति** की निष्पत्ति होती है। अर्थात् जन्मसमय से जितना काल आहारपर्याप्ति निष्पन्न होने में लगता है उसका संख्यातवाँभाग अधिक काल शरीरपर्याप्ति निष्पन्न होने में लगता है। जितना काल शरीर पर्याप्ति की निष्पत्ति में लगता है उसका संख्यातवाँभाग अधिक काल **इन्द्रियपर्याप्ति** की निष्पत्ति में लगता है और उसका संख्यातवाँभाग अधिक काल **आनपान पर्याप्ति** की निष्पत्ति में लगता है। उसका भी संख्यातवाँभाग अधिककाल **भाषापर्याप्ति** की निष्पत्ति में लगता है। उससे भी उसका संख्यातवाँभाग अधिककाल **मनःपर्याप्ति** की निष्पत्ति में लगता है।[4]

---

१. ध. पु. १ पृ. ३१४-३१५। २. ध. पु. १ पृ. ३१५-३१६। ३. एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात्। निष्पत्ति तु पुनः क्रमेण। ध. पु. १ पृ. २५५-२५६। ४. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमद् अभयचन्द्रसूरि कृत टीका के आधार पर।

उपर्युक्त कथन को अंकसंदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है—किसी जीव का जन्म ८ बजे हुआ, ८ बजकर २ मिनट पर आहारपर्याप्ति पूर्ण हुई, ८ बजकर २ मिनट १२ सेकिण्ड पर शरीरपर्याप्ति पूर्ण हुई। ८ बजकर २ मिनट २५ सेकण्ड पर इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हुई। ८ बजकर २ मिनट ४० सेकण्ड पर आनपान पर्याप्ति पूर्ण हुई। ८ बजकर २ मिनट ५६ सेकण्ड पर भाषापर्याप्ति पूर्ण हुई और ८ बजकर ३ मिनट १४ सेकण्ड पर मनःपर्याप्ति पूर्ण हुई। एक-दो समयों में पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती यह बतलाने के लिए अन्तर्मुहूर्त का ग्रहण किया है। पर्याप्तियों को पूर्ण करने का जघन्य भी और उत्कृष्ट भी काल समान है।[1]

पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त का काल

पज्जत्तस्स य उदये, णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥१२१॥

गाथार्थ—पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर अर्थात् जिस जीव के पर्याप्त नामकर्म का उदय होता है, वह अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को निष्पन्न करने वाला होता है। जब तक अर्थात् जितने काल तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक यह जीव निर्वृत्त्यपर्याप्तक रहता है ॥१२१॥

विशेषार्थ—जिस जीव की सर्वपर्याप्तियाँ नियम से पूर्ण होंगी उस जीव के पर्याप्त नामकर्म का उदय होता है। पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उतने काल तक अर्थात् आहार व शरीर दोनों पर्याप्तिकाल तक अथवा अन्तर्मुहूर्त काल तक यह जीव निर्वृत्त्यपर्याप्तक रहता है।

योग तीन प्रकार का है—उपपादयोग, एकान्तानुवृद्धियोग, परिणाम योग। उत्पन्न होने के प्रथम समय में उपपादयोग होता है। उत्पन्न होने के द्वितीय समय से लेकर शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्त रहने के अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धियोग होता है। पर्याप्त होने के प्रथम समय से लेकर आगे सर्वत्र परिणामयोग होता है। निर्वृत्त्यपर्याप्तकों के परिणामयोग नहीं होता।[2] किन्तु एक मत यह भी है कि सर्वपर्याप्तियों के पूर्ण होने पर जीव पर्याप्त होता है। एक भी पर्याप्ति के अपूर्ण रहने पर अपर्याप्तकों में परिणामयोग नहीं होता।[3]

जो जीव नरकों के दुःखों से अत्यन्त पीड़ित होकर नरक से आकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है, उसके औदारिक मिश्रकाययोग का काल अल्प होता है, क्योंकि उस समय उसके योग की बहुलता देखी

---

१. "एग-दो समएहि पज्जत्तीओ ण समाणेदि त्ति जाणावणट्ठं अंतोमुहुत्तगहणं कदं। पज्जत्तिसमाणकालो जहण्णओ उक्कस्सओ वि अत्थि।" ध. पु. १० पृ. २३९। २. उप्पण्णबिदियसमयप्पहुडि जाव सरीरपज्जत्तीए अपज्जत्तयदचरिमसमओ ताव एगंताणुवड्ढि जोगो होदि। पज्जत्तपढमसमयप्पहुडि उवरि सव्वत्थ परिणाम जोगो चेव। णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं णत्थि परिणामजोगो। (ध. पु. १० पृ. ४२०-२१) ३. सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो। एक्काए वि पज्जत्तीए असमत्ताए पज्जत्तएसु परिणामजोगो ण होदि। (ध. पु. १० पृ. ५५)।

जाती है।[1] सुख से लालित-पालित हुए तथा दुःखों से रहित विमानवासी देव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले के औदारिकमिश्रकाययोग का काल दीर्घ होता है, क्योंकि मन्दयोग से अल्पपुद्गलों को ग्रहण करने वाला है। अथवा योग महान् ही रहा आवे और योग के वश से पुद्गल भी बहुत से आते रहें तो भी उक्तप्रकार के जीव के अपर्याप्तकाल बड़ा ही होता है, क्योंकि विलास से दूषित जीव के शीघ्रतापूर्वक पर्याप्तियों को सम्पूर्ण करने में असमर्थता है।[2]

विमानवासी देवों में उत्पन्न होने वालों के अपर्याप्तकाल लघु होता है और नरकों में अपर्याप्तकाल बड़ा होता है। एक द्रव्यलिंगी साधु उपरिम ग्रैवेयकों में उत्पन्न हुआ और सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त के द्वारा पर्याप्तपने को प्राप्त हुआ। एक सम्यग्दृष्टि भावलिङ्गी संयत सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवों में उत्पन्न हुआ और सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तकाल से पर्याप्तियों की पूर्णता को प्राप्त हुआ।[3] कोई एक तिर्यञ्च अथवा मनुष्य मिथ्यादृष्टि जीव सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ और सबसे बड़े अन्तर्मुहूर्त काल से पर्याप्तियों की पूर्णता को प्राप्त हुआ। कोई एक बद्ध-नरकायुष्क मनुष्य सम्यक्त्व को प्राप्त होकर दर्शनमोहनीय का क्षपण करके और प्रथमपृथिवी के नारकियों में उत्पन्न होकर सबसे बड़े अन्तर्मुहूर्तकाल से पर्याप्तियों की पूर्णता को प्राप्त हुआ। दोनों के जघन्य कालों से दोनों ही उत्कृष्टकाल संख्यातगुणे हैं।[4]

लब्ध्यपर्याप्तक का स्वरूप, अन्तर्मुहूर्त में लब्ध्यपर्याप्तक के उत्कृष्टभवों की व एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय सम्बन्धी भवों की संख्या तथा एकेन्द्रिय सम्बन्धी भवों का स्पष्टीकरण

उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तयं ण णिट्ठवदि ।
अंतोमुहुत्तमरणं लद्धिअपज्जत्तगो सो दु ।।१२२।।

[5]**तिण्णिसया छत्तीसा, छावट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि ।**
अंतोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा ।।१२३।।

सीदी सट्ठी तालं, वियले चउवीस होंति पंचक्खे ।
छावट्ठि च सहस्सा, सयं च बत्तीसमेयक्खे ।।१२४।।

---

१. एक्को सम्मादिट्ठी बावीससागरोवमाणि दुक्खेक्करसो होदूण जीविदो। छट्ठीदो उव्वट्टिय मणुसेसु उप्पण्णो.......परमाणुपोग्गलबहुला आगच्छंति, तस्स जोगबहुत्तदसणादो। एदस्स जहण्णिया ओरालिय-मिस्सकायजोगस्स अद्धा होदि। (ध. पु. ४ पृ. ४२२)। २. सव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवस्स तेत्तीससाग-रोवमाणि सुहलालियस्स पमुट्ठदुक्खस्स माणुसगब्भे उप्पण्णस्स, तत्थ मंदो जोगो होदि त्ति आइरियपरं-परागदुवदेसा। मंदजोगेण थोवे पोग्गले गेण्हंतस्स ओरालियमिस्सद्धा दीहा होदि त्ति उत्तं होदि। अथवा जोगो एत्थ महल्लो चेव होदु जोगवसेण बहुआ पोग्गला आगच्छंतु, तो वि एदस्स दीहा अपज्जत्तद्धा होदि, विलिसाए दूसियस्स लहुं पज्जत्तिसमाणणे असामत्थियादो। [ध.पु. ४ पृ. ४२३]। ३. एक्को दव्वलिंगी उवरिमगेवेज्जेसु उववण्णो, सव्वलहुमंतोमुहुत्तेण पज्जत्तिं गदो। सम्मादिट्ठी एक्को संजदो सव्वट्ठदेवेसु उववण्णो, सव्वलहुमंतो मुहुत्तेण पज्जत्तिं गदो। (ध.पु. ४ पृ. ४२८)। ४. "एक्को तिरिक्खो मणुस्सो वा मिच्छादिट्ठी सत्तमपुढविणेरइएसु उववण्णो सव्वचिरेण अंतोमुहुत्तेण पज्जत्तिं गदो। एक्को बद्धणिरयाउओ सम्मत्तं पडिवज्जिय दंसणमोहणीयं खविय पढमपुढविणेरइएसु उववज्जिय सव्वचिरेण अंतोमुहुत्तेण पज्जत्तिं गदो। दोण्हं जहण्णकालेहिंतो उक्कस्स-काला दो वि संखेज्जगुणा। (ध.पु. ४ पृ. ४२६)। ५. ध.पु. ४ पृ. ३६०।

पुढविदगागरिणमारुद—साहाररणथूल — सुहमपत्तेया ।
एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के बार खं छक्कं ।।१२५।।

गाथार्थ—अपर्याप्त नामकर्म-उदय के कारण अपनी-अपनी पर्याप्तियों को निष्ठापित (पूर्ण) न करके अन्तर्मुहूर्त काल में मरण को प्राप्त हो जाते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं ।।१२२।। अन्तर्मुहूर्त-काल में लब्ध्यपर्याप्तक जीव ६६३३६ बार मरण को प्राप्त होता है, इतने ही क्षुद्रभव होते हैं ।।१२३।। विकलेन्द्रियों के ८०-६० व ४० भव और पंचेन्द्रियों के २४ भव तथा एकेन्द्रियों के ६६१३२ भव होते हैं ।।१२४।। बादर व सूक्ष्मपृथ्वी-जल-अग्नि-वायु और साधारण वनस्पति ये दस तथा एक प्रत्येक वनस्पति इन ११ लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक के ६०१२ भव होते हैं ।।१२५।।

विशेषार्थ—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १३७ में लब्ध्यपर्याप्तक का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि ।
एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु ।।

अर्थात् जो जीव श्वास (नाड़ी) के अठारहवें भाग में मर जाता है और एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं करता है वह लब्धिअपर्याप्तक जीव है । गो.जी.गा. १२२ में 'अन्तर्मुहूर्त' से अभिप्राय नाड़ी के अठारहवें भाग से है, क्योंकि 'अन्तर्मुहूर्त' के बहुत भेद हैं । एक मिनट में लगभग ८० नाड़ी होती है और ६० सेकण्ड होते हैं अतः एक नाड़ी का $\frac{६०}{८०}$ सेकण्ड अर्थात् $\frac{३}{४}$ सेकण्ड होता है । $\frac{३}{४}$ सेकण्ड का अठारहवाँभाग अर्थात् $\frac{३}{४} \times \frac{१}{१८}$ एक सेकण्ड के २४वें भाग प्रमाण लब्ध्यपर्याप्तक की आयु होती है । लब्ध्यपर्याप्तक के एक भव को क्षुद्रभव भी कहते हैं । एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव चारों पर्याप्तियों में से एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं करता । द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्य-पर्याप्तक जीव पाँचों पर्याप्तियों में से एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं करते तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्य-पर्याप्तक के छहों पर्याप्तियों में से एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती । अपनी पर्याप्ति निष्ठापन की योग्यता जिसकी अनिष्पन्न हो यह लब्ध्यपर्याप्तक का निरुक्ति अर्थ है ।[1]

नीरोग, स्वस्थ सुखिया मनुष्य के एक मुहूर्त में ३७७३ श्वास (नाड़ी) होते हैं । कहा भी है—

आढ्यानलसानुपहतमनुजोच्छ्वासैस्त्रिसप्तसप्तत्रिमितैः ।
आहुर्मुहूर्तमंतर्मुहूर्तमष्टाष्टवर्जितैस्त्रिभागयुतैः ।।[2]

अर्थात् धनवान, आलसरहित नीरोग मनुष्य के एक मुहूर्त (४८ मिनट) में ३७७३ उच्छ्वास होते हैं । इन ३७७३ उच्छ्वासों में से ८८ उच्छ्वास कम करके उच्छ्वास का त्रिभाग मिला देने से अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण (३७७३ — ८८ =) ३६८५ उच्छ्वास; + $\frac{१}{३}$ उच्छ्वास = ३६८५$\frac{१}{३}$ उच्छ्वास कहा गया है ।

---

१. लब्ध्या स्वस्य पर्याप्तिनिष्ठापनयोग्यतया अपर्याप्ता अनिष्पन्नाः लब्ध्यपर्याप्ता इति निरुक्तेः । [स्वा. का. अ. गा. १३७ की टीका] २. गो. जी. का. गा. १२५ की टीका से उद्धृत ।

पर्याप्त मनुष्य व तिर्यंच की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है, किन्तु लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य व तिर्यंच की जघन्य आयु उच्छ्वास के अठारहवेंभाग प्रमाण है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

[1]आयुरन्तर्मुहूर्तः स्यादेषोस्याष्टादशांशकः।
उच्छ्वासस्य जघन्यं च नृतिरश्चां लब्ध्यपूर्णके ॥

उच्छ्वास के अठारहवें भाग से ३६८५$\frac{१}{३}$ उच्छ्वास प्रमाण अन्तर्मुहूर्त को भाग देने पर [$\frac{११०५६}{३} \div \frac{१}{१८} =$] ६६३३६ लब्ध्यपर्याप्तकों के क्षुद्रभव होते हैं। अर्थात् एक जीव निरन्तर लब्ध्यपर्याप्तकों में उत्पन्न होता रहे तो वह अधिक से अधिक ६६३३६ बार उत्पन्न हो सकता है। इन ६६३३६ क्षुद्रभवों में से ६६१३२ क्षुद्रभव एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक सम्बन्धी हैं। द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों के क्रमशः ८०-६०-४०-२४ क्षुद्रभव होते हैं। ये सब मिलकर (६६१३२ + ८० + ६० + ४० + २४ =) ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं। इस सम्बन्ध में श्री **कुन्दकुन्दाचार्य** ने भी **भावपाहुड़** में कहा है—

छत्तीसं–तिण्णि–सया–छावट्ठिसहस्सवार मरणाणि।
अंतो मुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्हि ॥२८॥
वियलिंदए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स ॥२९॥

उपर्युक्त एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक सम्बन्धी ६६१३२ भवों का खुलासा इस प्रकार है—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक के ६०१२, बादरपृथ्वीकायिक के ६०१२, सूक्ष्म अप्कायिक के ६०१२, बादरअप्कायिक के ६०१२, सूक्ष्मतेजकायिक के ६०१२, बादरतेजकायिक के ६०१२, सूक्ष्मवायुकायिक के ६०१२, बादरवायुकायिक के ६०१२, सूक्ष्मसाधारण वनस्पतिकायिक के ६०१२, बादर साधारण वनस्पतिकायिक के ६०१२, प्रत्येक वनस्पतिकायिक के ६०१२। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के २४ भव इस प्रकार हैं—मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक के ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच के ८, संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच के ८ क्षुद्रभव हैं।[2]

समुद्घात अवस्था में केवलियों की अपर्याप्तता का कारण

पज्जत्तसरीरस्स य, पज्जत्तुदयस्स कायजोगस्स।
जोगिस्स अपुण्णत्तं अपुण्णजोगोत्ति णिद्दिट्ठं ॥१२६॥

गाथार्थ—पर्याप्त शरीरवाले तथा पर्याप्त नामकर्मोदयवाले काययोगी के अपर्याप्तता अर्थात् अपूर्ण योग कहा गया है ॥१२६॥

---

१. गो. सा. जी. गा १२५ की टीका से उद्धृत। २. पचेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्त के चतुर्विंशतिः (२४), तत्र तु मनुष्यलब्ध्यपर्याप्तकेऽष्टौ (८), असंज्ञिपंचेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकेऽष्टौ (८), संज्ञिपंचेन्द्रिये लब्ध्यपर्याप्तकेऽष्टौ (८) मिलित्वा पंचेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तके चतुर्विंशतिर्भवन्ति (२४); स्वा. का. अ. गा. १२७ की टीका।

विशेषार्थ—तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली के यद्यपि औदारिकशरीर पूर्ण है और पर्याप्ति नामकर्म का उदय भी है तथापि समुद्घात के काल में औदारिकमिश्र व कार्मणकाययोग होते हैं। ये दोनों योग अपर्याप्त अवस्था में होते हैं,[1] पर्याप्तावस्था में नहीं होते अतः इन दो योगों की संज्ञा अपूर्णयोग दी गई है। इन अपूर्णयोगों के कारण ही सयोगकेवली को कपाट, प्रतर व लोकपूरण अवस्था में अपर्याप्त कहा गया है।

शङ्का—समुद्घात किसे कहते हैं?

समाधान—घातनेरूप धर्म को घात कहते हैं। जिसका प्रकृत में अर्थ कर्मों की स्थिति और अनुभाग का विनाश होता है। उत्तरोत्तर होने वाले घात उद्घात हैं और समीचीन उद्घात समुद्घात है।[2]

शङ्का—'समुद्घात' शब्द में न तो स्थिति-अनुभागघात कहा गया है और न उसका अधिकार है। यहाँ समुद्घात में कर्मों की स्थिति व अनुभाग का घात विवक्षित है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—प्रकरणवश यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्घात में कर्मों की स्थिति और अनुभाग घात विवक्षित है।

शङ्का—इस घात में समीचीनता है, यह कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहुत काल में सम्पन्न होने वाले घातों से एक समय में होने वाले इस घात में समीचीनता का अविरोध है।[3]

शङ्का—केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है, यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी केवलियों को समुद्घात करने के अनन्तर ही मोक्षप्राप्ति का प्रसङ्ग प्राप्त हो जाएगा। यदि कहा जाए कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्ष जाते हैं, ऐसा मान लिया जाए तो इसमें क्या हानि है? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की वर्षपृथक्त्व के अनन्तर बीस संख्या होती है, यह नियम नहीं बन सकता है। केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है, यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि केवलिसमुद्घात का कोई हेतु नहीं है। यदि कहा जाय कि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति से आयुकर्म की स्थिति की असमानता ही समुद्घात का कारण है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान की चरम अवस्था में सम्पूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं, इसलिए सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसंग आ जाएगा।

---

१. ओरालिमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं (ध.पु. १ पृ. ३१५) अपर्याप्तेष्वेव कार्मणकाययोग इति निश्चीयते। (ध.पु. १ पृ. ३१६) २. "घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत्। उपरिघात उद्घातः, समीचीनः उद्घातः समुद्घातः।" (ध.पु. १ पृ. ३००) ३. "कथमनुक्तमनधिकृतं चावगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः। कथमस्य घातस्य समीचीनत्वमिति चेन्न, भूयःकालनिष्पाद्यमानघातेभ्योऽस्यैकसमयिकस्य समीचीनत्वाविरोधात्।" (ध.पु. १ पृ. ३००-३०१)।

समाधान—श्री यतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार क्षीणकषायगुणस्थान के चरमसमय में सम्पूर्ण अघातियाकर्मों की स्थिति समान नहीं होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं, परन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की बीस संख्या का नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।

शङ्का—कौन से केवली समुद्घात नहीं करते हैं?

समाधान—जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वे समुद्घात नहीं करते, शेष केवली समुद्घात करते हैं।[1]

शङ्का—अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर संसारव्यक्ति-स्थिति और शेष तीन कर्मों की स्थिति में विषमता क्यों रहती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि संसार की व्यक्ति और कर्मस्थिति के घात के कारणभूत अनिवृत्ति-रूप परिणामों के समान रहने पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मों की स्थिति के समान मान लेने में विरोध आता है।

शङ्का—संसार के विच्छेद का क्या कारण है?

समाधान—द्वादशाङ्ग का ज्ञान, उनमें तीव्रभक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसार के विच्छेद के कारण हैं। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवों में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि दसपूर्व और नौपूर्वधारी जीवों का भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता है। अतः वहाँ पर संसारव्यक्ति के समान कर्मस्थिति नहीं पायी जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में नियम से नाश को प्राप्त होने वाले पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवलीप्रमाण स्थितिकाण्डकों का विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्घात के बिना ही आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं तथा कितने ही जीव समुद्घात के द्वारा शेषकर्मों को आयु के समान करते हैं। परन्तु यह संसार का घात केवली में पहले सम्भव नहीं है, क्योंकि पहले स्थितिकाण्डक के घात के सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

शङ्का—जबकि परिणामों में कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियों के परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसार का घात मत होओ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वीतरागरूप परिणामों के समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्म की अपेक्षा आत्मा के उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामों से संसार का घात बन जाता है।

शङ्का—अन्य आचार्यों के द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थ का इस प्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्र के विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय?

---

१. ध.पु. १ पृ. ३०१-३०२।

समाधान—नहीं, क्योंकि वर्षपृथक्त्व के अन्तराल का प्रतिपादन करने वाले सूत्र के वशवर्ती आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

शङ्का—छह मासप्रमाण आयुकर्म के शेष रहने पर जिस जीव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह समुद्घात करके ही मुक्त होता है, शेष जीव करते भी हैं और नहीं भी करते हैं। कहा भी है—

[1]छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥१६७॥

इस गाथा का अर्थ क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि इसप्रकार का विकल्प मानने में कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथा का अर्थ ग्रहण नहीं किया है।

शङ्का—**जेसिं आउ-समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च।**
ते अकय समुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए ॥१६८॥

अर्थात् जिन जीवों के नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म की स्थिति आयुकर्म के समान होती है, वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं, दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं।

समाधान—इसप्रकार पूर्वोक्त गाथा (१६८) में कहे गये अभिप्राय को तो किन्हीं केवलियों के समुद्घात होने में और किन्हीं के समुद्घात नहीं होने में कारण कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण केवलियों में समान अनिवृत्तिरूप परिणामों के द्वारा कर्मस्थितियों का घात पाया जाता है। अतः उनका (वेदनीय-नाम-गोत्रकर्म स्थिति का) आयु के समान होने में विरोध आता है। दूसरे क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में तीन अघातियाकर्मों की जघन्यस्थिति पल्योपम के असंख्यातवें-भाग सभी जीवों के पायी जाती है। इसलिए पूर्वोक्त कथन ठीक प्रतीत नहीं होता।

शङ्का—आगम तो तर्क का विषय नहीं है, इसलिए इस प्रकार तर्क के बल से पूर्वोक्त गाथाओं के अभिप्राय का खण्डन करना उचित नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि इन दोनों गाथाओं का आगमरूप से निर्णय नहीं हुआ है। अथवा यदि इन दोनों गाथाओं का आगमरूप से निर्णय हो जाए तो इनका ही ग्रहण रहा आवे।[2]

शङ्का—कपाट, प्रतर और लोकपूरणसमुद्घात को प्राप्त केवली पर्याप्त हैं या अपर्याप्त ?

समाधान—उन्हें पर्याप्त तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि "औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है।"[3] इस सूत्र से उनके अपर्याप्तपना सिद्ध है।

शङ्का—सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में जीव नियम से पर्याप्तक होते

---

१. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ५३०। २. ध.पु. १ पृ. ३०१ से ३०४। ३. "ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं" ध. पु. १ पृ. ३१५ सूत्र ७६ व गो. जी. का. गा. ६८०।

हैं।[1] इस प्रकार सूत्र में निर्देश होने के कारण यही सिद्ध होता है कि सयोगकेवली के अतिरिक्त अन्य औदारिकमिश्रकाययोगवाले जीव अपर्याप्तक हैं।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि 'आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है'[2] इस सूत्र से संयत भी कथंचित् अपर्याप्तक सिद्ध होते हैं।

शङ्का—'आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है' यह सूत्र अनवकाश है, अर्थात् इस सूत्र की प्रवृत्ति के लिए कोई दूसरा स्थल नहीं है अतः इस सूत्र से 'संयत नियम से पर्याप्तक होते हैं' यह सूत्र बाधा जाता है, किन्तु औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के ही होता है, इस सूत्र से 'संयत पर्याप्तक ही होते हैं' यह सूत्र नहीं बाधा जाता, क्योंकि 'औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है' यह सूत्र सावकाश होने के कारण (इस सूत्र को प्रवृत्ति के लिए सयोगियों के अतिरिक्त अन्य स्थल भी होने के कारण) निर्बल है। अतः आहारक समुद्घात जीवों के जिस प्रकार अपर्याप्तपना सिद्ध किया जा सकता है, उस प्रकार समुद्घात केवलियों के अपर्याप्तपना सिद्ध नहीं किया जा सकता?

समाधान—नहीं, क्योंकि 'संयत नियम से पर्याप्तक होते हैं' यह सूत्र भी सावकाश देखा जाता है (सयोगी के अतिरिक्त अन्य स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति देखी जाती है।) अतः निर्बल है और इसलिए 'औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के ही होता है' इस सूत्र की प्रवृत्ति को नहीं रोक सकता।

शङ्का—पूर्वोक्त दोनों सूत्र सावकाश होते हुए भी सयोगीगुणस्थान में युगपत् प्राप्त होते हैं। फिर भी 'परो विधिर्बाधको भवति' 'संयतजीव नियम से पर्याप्तक होते हैं' इस सूत्र के द्वारा 'औदारिक-मिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के ही होता है' यह सूत्र बाधा जाता है, क्योंकि यह सूत्र पर है।

समाधान—नहीं, क्योंकि 'पर' शब्द 'इष्ट' अर्थ का वाचक है। ऐसा मान लेने पर 'संयत-जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं' इस सूत्र के द्वारा 'औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है' यह सूत्र बाधा जाता है, उसी प्रकार पूर्व अर्थात् 'औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है, इस सूत्र से 'संयतजीव नियम से पर्याप्तक होते हैं' यह सूत्र भी बाधा जाता है अतः शंकाकार के पूर्वोक्त कथन में अनेकान्तदोष आ जाता है।

शङ्का—'संयतजीव नियम से पर्याप्तक होते हैं' इस सूत्र में 'नियम' शब्द सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन?

समाधान—इन दोनों पक्षों में दूसरा पक्ष तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि श्री पुष्पदन्त आचार्य के वचन द्वारा कहे गये तत्त्वों में निरर्थकता होना विरुद्ध है और सूत्र की नित्यता का प्रकाशन करना भी 'नियम' शब्द का फल नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर जिनसूत्रों में 'नियम' शब्द नहीं पाया जाता है, उन्हें अनित्यता का प्रसङ्ग आ जाएगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'औदारिककाययोग पर्याप्तकों के होता है' इस सूत्र में 'नियम' शब्द का अभाव होने से अपर्याप्तकों में भी औदारिककाययोग के अस्तित्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः

---

१. 'सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' ॥६०॥ (ध. पु. १ पृ. ३२९)। २. 'आहार-मिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।' (ध. पु. १ सूत्र ७८)।

सूत्र में आया हुआ 'नियम' शब्द ज्ञापक है नियामक नहीं है। यदि ऐसा न माना जाए तो उसको अनर्थकपने का प्रसंग आ जाएगा।

शङ्का—इस 'नियम' शब्द के द्वारा क्या ज्ञापित होता है?

समाधान—इससे यह ज्ञापित होता है कि 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं' यह सूत्र अनित्य है। इससे उत्तर शरीर को उत्पन्न करनेवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयतों के तथा कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात प्राप्त केवलियों के अपर्याप्तपना सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—जिसका आरम्भ किया हुआ शरीर अर्ध अपूर्ण है उसे अपर्याप्त कहते हैं, परन्तु सयोगी अवस्था में शरीर का आरम्भ तो होता नहीं अतः सयोगकेवली के अपर्याप्तपना नहीं बन सकता?

समाधान—नहीं, क्योंकि कपाट आदि समुद्घात अवस्था में सयोगकेवली छह पर्याप्तिरूप शक्ति से रहित होते हैं अतएव वे अपर्याप्त कहे गये हैं।[1]

केवलीसमुद्घात अवस्था में वचनबल (वचनयोग) व श्वासोच्छ्वास का अभाव हो जाने से मात्र काययोग रह जाता है इसीलिए गाथा में समुद्घातगत के स्थान पर काययोगी कहा गया है।

लब्ध्यपर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त व पर्याप्तावस्था में सम्भावित गुणस्थान

लद्धिअपुण्णं मिच्छे, तत्थवि विदिये चउत्थ छट्ठे य।
णिव्वत्तिअपज्जत्ती, तत्थवि सेसेसु पज्जत्ती ॥१२७॥

गाथार्थ—लब्ध्यपर्याप्तकजीव मिथ्यादृष्टि होते हैं। निर्वृत्त्यपर्याप्तक जीव मिथ्यात्व, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि व प्रमत्तविरत गुणस्थानों में होते हैं। पर्याप्तजीव उक्त गुणस्थानों में और शेष गुणस्थानों में होते हैं।

विशेषार्थ—लब्ध्यपर्याप्तकजीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं, अन्य गुणस्थानों में लब्ध्यपर्याप्तक जीव नहीं होते हैं।[2] सासादनगुणस्थान में लब्ध्यपर्याप्तक जीव उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्मिथ्यादृष्टियों, असंयतसम्यग्दृष्टियों, देशसंयतों और सकलसंयतों में लब्ध्यपर्याप्तकजीव नहीं होते। निर्वृत्त्यपर्याप्तकजीव मिथ्यात्व (प्रथम), सासादन (द्वितीय), असंयतसम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) और प्रमत्तसंयत (छठे) गुणस्थान में होते हैं। इससे आगे के गुणस्थानों में नहीं होते। सम्यग्मिथ्यात्व (तृतीय) गुणस्थान में और देशसंयत (पाँचवें) गुणस्थान में भी निर्वृत्त्यपर्याप्तकजीव नहीं होते।

शङ्का—प्रमत्तसंयतगुणस्थान में निर्वृत्त्यपर्याप्त कैसे सम्भव हैं? क्योंकि अपर्याप्तावस्था में संयम असंभव है।

समाधान—शंकाकार आगम के अभिप्राय को नहीं समझा। आगम का अभिप्राय

---

१. ध. पु. २ पृ. ४४१-४४४। २. लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणासम्भवात्। (ध. पु. १ पृ. २०८)।

तो इस प्रकार है कि--आहारकशरीर को उत्पन्न करने वाला प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती साधु औदारिकशरीरगत छह पर्याप्तियों की अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीर सम्बन्धी पर्याप्ति के पूर्ण नहीं होने की अपेक्षा वह साधु अपर्याप्तक है।

शङ्का—पर्याप्त और अपर्याप्तपना एक जीव में एक साथ सम्भव नहीं है, क्योंकि एक साथ एक जीव में इन दोनों के रहने में विरोध आता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि एकसाथ एक जीव में पर्याप्त और अपर्याप्त सम्बन्धी योग सम्भव नहीं हैं, यह बात इष्ट ही है।

शङ्का—तो फिर पूर्व शंका का कथन क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि समाधान के कथन में विरोध आता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भूतपूर्व नय की अपेक्षा विरोध असिद्ध है। अर्थात् औदारिकशरीर सम्बन्धी पर्याप्तपने की अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्था में भी पर्याप्तपने का व्यवहार किया जा सकता है।[1] अथवा द्रव्यार्थिकनय के अवलम्बन की अपेक्षा आहारकशरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियों के पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है।

शङ्का—उस द्रव्यार्थिकनय का दूसरी जगह अवलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर द्रव्यार्थिकनय के अवलम्बन के निमित्त नहीं पाये जाते।

शङ्का—तो फिर यहाँ द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन किसलिए लिया जाता है?

समाधान—आहारकशरीर सम्बन्धी अपर्याप्तावस्था को प्राप्त हुए प्रमत्तसंयत की पर्याप्त के साथ समानता दिखाना ही यहाँ पर द्रव्यार्थिकनय के अवलम्बन का कारण है।[2]

शङ्का—जिसके औदारिकशरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं और आहारकशरीर सम्बन्धी पर्याप्तियाँ अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक प्रमत्तसंयत के संयम कैसे हो सकता है?[3] और दूसरे पर्याप्तकों के साथ किस कारण से समानता हो सकती है?[4]

समाधान—नहीं, क्योंकि जिसका लक्षण आस्रव का विरोध करना है, ऐसे संयम का मन्दयोग अर्थात् आहारकमिश्र योग के साथ होने में कोई विरोध नहीं आता है। यदि इस मंदयोग के साथ संयम के होने में विरोध आता है तो समुद्घात को प्राप्त हुए केवली के भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भी अपर्याप्तसम्बन्धी योग का सद्भाव पाया जाता है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। दुःखाभाव की अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकों के साथ समानता है। जिसप्रकार उपपादजन्म, गर्भजन्म या सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न हुए शरीरों को धारण करने वालों को दुःख होता है, उस प्रकार आहारकशरीर को धारण करने वालों के दुःख नहीं होता है, इसलिए उस अवस्था में प्रमत्तसंयत पर्याप्त है, इसप्रकार का उपचार किया जाता है, या दुःख के बिना ही पूर्व औदारिकशरीर का

१. ध. पु. १ पृ. ३१८। २. ध. पु. १ पृ. ३३०। ३. ध. पु. १ पृ. ३१८। ४. ध. पु. १ सूत्र ७८ की टीका।

परित्याग होता है। अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्तावस्था में भी पर्याप्त है; इसप्रकार का उपचार किया जाता है। निश्चयनय का आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है।[1]

निर्वृत्त्यपर्याप्तावस्था में सम्यक्त्व और लब्ध्यपर्याप्तावस्था में सासादन के अभाव का नियम

[2]हेट्ठिम छप्पुढवीणं, जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे णहि सम्मो, ण सासणो णारयापुण्णे ।।१२८।।

गाथार्थ—नीचे की छह पृथ्वियों के, ज्योतिषी-वाणव्यन्तर-भवनवासी देवों के और सर्वस्त्रियों के निर्वृत्त्यपर्याप्तक अवस्था में सम्यग्दर्शन नहीं होता। नारकियों के अपर्याप्तावस्था में सासादन गुणस्थान भी नहीं होता है ।।१२८।।

विशेषार्थ—यह गाथासूत्र देशामर्षक है। नारकियों के अपर्याप्तावस्था में सासादनगुणस्थान नहीं होता। इसके द्वारा चारों गतियों की अपर्याप्तावस्था में कौनसे गुणस्थान होते हैं और कौन-कौन से नहीं होते हैं, इसका कथन करने की सूचना दी गई है अतः उसी का यहाँ कथन करते हैं। तद्यथा—

शङ्का—मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में नारकियों का सत्त्व रहा आवे, क्योंकि नारकियों में उत्पत्ति का निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है, किन्तु अन्य गुणस्थानों में नारकियों का सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिए, क्योंकि अन्य गुणस्थानों में नारकियों में उत्पत्ति का कारणभूत मिथ्यात्व नहीं पाया जाता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि नरकायु के बन्ध बिना मिथ्यादर्शन-अविरति और कषायों में नरकोत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं है। पहले बँधी हुई आयु का पीछे से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन से निरन्वयविनाश भी नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर आर्ष से विरोध आता है। जिन्होंने नरकायु का बन्ध कर लिया है, ऐसे जीव जिस प्रकार संयम को प्राप्त नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर सूत्र से विरोध आता है। जिन जीवों ने पहले नरकायु का बन्ध किया और पीछे से सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे बद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिकसम्यग्दृष्टि की नरक में उत्पत्ति होती है। ऐसे सम्यग्दृष्टि नरक में अपर्याप्तावस्था में पाये जाते हैं, किन्तु सासादनगुणस्थान वाले मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टियों की नरक में उत्पत्ति नहीं होती है।[3]

शङ्का—जिसप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियों की मरकर नरक में उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

समाधान—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथमपृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, इसका आगम में निषेध नहीं है।

---

१. ध. पु. १ पृ ३३०-३१। २. यह गाथा कुछ पाठान्तर के साथ ध. पु. १ पृ. २०९ पर इस प्रकार है—"छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु, जोइसवणभवणसव्वइत्थीसु। णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ।।१३३।।" अथवा प्रा. पं. सं. गा. १९३ इसप्रकार है—"छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइसवणभवण सव्वइत्थीसु। बारस मिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो ।।" (पृ. ४१)। ३. ध. पु. १ पृ. २०५।

शङ्का—जिसप्रकार सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार द्वितीयादि पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न क्यों नहीं होते ?[1]

समाधान—असंयत सम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथ्वियों में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के शेष छह पृथ्वियों में उत्पन्न होने के निमित्त नहीं पाये जाते।

अशुभलेश्या के सत्त्व को नरक में उत्पत्ति का कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मरण के समय असंयतसम्यग्दृष्टिजीव के नीचे की छह पृथ्वियों में उत्पत्ति की कारणरूप अशुभलेश्या नहीं पायी जाती है। नरकायु का सत्त्व भी सम्यग्दृष्टि के नीचे की छह पृथ्वियों में उत्पत्ति का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी खड्ग से नीचे की छह पृथ्वी सम्बन्धी आयु काट दी जाती है। नीचे की छह पृथ्वी सम्बन्धी आयु का कटना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि आगम से इसकी पुष्टि होती है इसलिए यह सिद्ध हुआ कि नीचे की छह पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है।[2]

शङ्का—सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से नरकायु का छेद क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—नरकायु का छेद अवश्य होता है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं होता।

शङ्का—समूल नाश क्यों नहीं होता ?

समाधान—आगामी भव की बाँधी हुई आयु का समूलनाश नहीं होता, इस प्रकार का स्वभाव है।[3] जो आयुकर्म का बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया है ऐसे जीवों की नरकादि गति में उत्पत्ति रोकने की सामर्थ्य सम्यग्दर्शन में नहीं है।[4]

नरकगति के कथन के पश्चात् अब तिर्यंचगति सम्बन्धी गुणस्थानों का कथन करते हैं—

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी।[5]

शङ्का—जिसने तीर्थङ्कर की सेवा की है और जिसने मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है, ऐसा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव दुःखबहुल तिर्यंचों में कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तिर्यंचों के नारकियों की अपेक्षा अधिक दुःख नहीं पाये जाते हैं।[6]

तियंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतगुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होते हैं।[7] तिर्यंचों में उत्पन्न हुए भी क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतों को नहीं ग्रहण करते हैं,[8] क्योंकि क्षायिकसम्यग्दृष्टि यदि तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमि तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रतों का ग्रहण करना बन नहीं सकता।

---

१. ध. पु. १ पृ. २०७। २. ध.पु. १ पृ. ३२४। ३. ध.पु. १ पृ. ३२६। ४. ध.पु. १ पृ. ३३६। ५. तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥८४॥ (ध पु. १ पृ. ३२५)। ६. ध.पु. १ पृ. ३२५। ७. "सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥८५॥" ध.पु. १ पृ. ३२६। ८. तिरिक्खा संजदासंजदट्ठाणे खइय सम्माइट्ठी णत्थि" ध.पु. १ पृ. ४०२।

शङ्का—जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमि में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भोगभूमि में उत्पत्ति का कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहाँ उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं आता है तथा पात्रदान की अनुमोदना से रहित जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते, क्योंकि उनमें पात्रदान का अभाव नहीं बन सकता है।[1]

क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मनुष्य पर्याय में ही होती है। अतः जिस मनुष्य ने पहले तिर्यंचायु का बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है, ऐसे जीव के उत्तम भोगभूमि में उत्पत्ति का मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिए, पात्रदान नहीं। फिर भी वह पात्रदान की अनुमोदना से रहित नहीं होता है।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चिनी मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयतगुणस्थानों में नियम से पर्याप्त होते हैं।[2]

शङ्का—जिस प्रकार बद्धायुष्क क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव नारकसम्बन्धी नपुंसकवेद में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तिर्यंच स्त्रीवेद में क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि नरक में एक नपुंसकवेद का ही सद्भाव है। जिस किसी गति में उत्पन्न होने वाला सम्यग्दृष्टिजीव उस गति सम्बन्धी विशिष्ट वेदादिक में ही उत्पन्न होता है इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तिर्यंचिनी में उत्पन्न नहीं होता।

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।[3] सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयतगुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होते हैं।[4] इसी प्रकार यानी मनुष्य सामान्य के कथन के समान मनुष्यपर्याप्त होते हैं।[5]

शङ्का—जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसको पर्याप्त कैसे कहा जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है। भात पक रहा है, यहाँ पर जिस प्रकार चावलों को भात कहा जाता है, उसी प्रकार जिसके सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण होने वाली हैं ऐसे जीव के अपर्याप्तावस्था में भी पर्याप्तपने का व्यवहार विरोध को प्राप्त नहीं होता है अथवा पर्याप्तनामकर्म के उदय की अपेक्षा उसके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिए।[6]

मनुष्यिनियों में मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतगुणस्थानों में

---

१. ध. पु. १ पृ. ३२७। २. पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥८७॥ सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा-पज्जत्तियाओ ॥८८॥" ध.पु. १ पृ. ३२८। ३. "मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥८९॥" (ध.पु. १ पृ. ३२९) ४ सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९०॥" (ध.पु. १ पृ. ३२९)। ५. एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥९१॥ ध.पु १/३३१। ६. ध.पु. १ पृ. ३३१।

नियम से पर्याप्तक होते हैं।[1]

शंका—हुण्डावसर्पिणी कालसम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों उत्पन्न नहीं होते ?

समाधान—उनमें सम्यग्दृष्टिजीव नहीं उत्पन्न होते ।

शङ्का—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—इसी आर्षसूत्र से जाना जाता है।

शङ्का—तो इस आगम से द्रव्यस्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जाएगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होने से द्रव्यस्त्रियों के संयतासंयतगुणस्थान होता है अत-एव द्रव्यस्त्रियों के संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[2]

शङ्का—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम के होने में कोई विरोध नहीं आता।

समाधान—द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम भी नहीं है, क्योंकि भावसंयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

शङ्का—तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं, यह कथन कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावस्त्री में अर्थात् स्त्रीवेद युक्त द्रव्यपुरुष में चौदहगुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—बादरकषायगुणस्थान के ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता इसलिए भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नहीं हो सकता है।

समाधान—नहीं, यहाँ पर वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गतिप्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शङ्का—यद्यपि मनुष्यगति में चौदहगुणस्थान सम्भव हैं फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें चौदहगुणस्थान सम्भव नहीं हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।[3] यहाँ वेदों की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति की प्रधानता है। गति पहले नष्ट नहीं होती, अर्थात् मनुष्यगति तो १४ वें गुणस्थान तक रहती है और उसी की प्रधानता से चौदहगुणस्थान कहे गए हैं।

---

१. मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठी-सासणसम्माइट्ठि ट्ठाणे सिया पज्जित्तायाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।।९२।। सम्मा-मिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजद संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ।।९३।। (ध. पु. १ पृ. ३३२)।
२. ध. पु १ पृ. ३३२-३३। ३. ध. पु. १ पृ. ३३२-३३३।

"भाववेद" तो मनुष्यगति का विशेषण है। नवम गुणस्थान तक तो भाववेद सहित मनुष्यगति का सद्भाव रहता है फिर नवम गुणस्थान के ऊपर दसवें आदि गुणस्थानों में भाववेद रूप विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी मनुष्यगति तो बनी रहती है। इसीलिए उस मनुष्यगति की प्रधानता से, भाववेद (स्त्री आदि) के नष्ट हो जाने पर भी उस साथ रहने वाली विशेष्यरूप मनुष्यगति के सद्भाव में उपचार से भाववेद (स्त्री आदि) की अपेक्षा भी १४ गुणस्थान कहे गए हैं।

इसका खुलासा लेश्या के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिए। शास्त्रकारों ने १३ वें गुणस्थान तक लेश्या बताई। परन्तु लेश्या तो कषायों के उदय सहित योगप्रवृत्ति में होती है। [कषायानुरंजित-योगप्रवृत्तिः लेश्या इति] परन्तु लेश्या में योग (विशेष्य) की प्रधानता होने से, तेरहवें गुणस्थान में कषाय (विशेषण) के नष्ट हो जाने पर भी साथी योग (विशेष्य) की विद्यमानता मात्र देखकर वहाँ लेश्या कह दी है। वैसे ही यहाँ भी वेद (विशेषण) के नष्ट हो जाने पर भी विशेष्यरूप मनुष्यगति के सद्भाव को देखकर १४ वें गुणस्थान तक वेद कहा है।

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।[1] सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में नियम से पर्याप्त होते हैं।[2]

शङ्का—विग्रहगति में कार्मणशरीरवाले के पर्याप्ति नहीं पाई जाती, क्योंकि विग्रहगति काल में छह पर्याप्तियों की निष्पत्ति नहीं होती। उसीप्रकार विग्रहगति में वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि पर्याप्तियों के आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्य की अवस्था में 'अपर्याप्त' यह संज्ञा दी गई है, किन्तु जिन्होंने पर्याप्तियों का आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगति सम्बन्धी एक, दो या तीन समयवर्ती जीवों के अपर्याप्त संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसलिए विग्रहगति में पर्याप्त और अपर्याप्त से भिन्न कोई तीसरी अवस्था कहनी चाहिए।[3]

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि विग्रहगति को प्राप्त जीवों का अपर्याप्तों में ही अन्तर्भाव किया गया है और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता, क्योंकि कार्मणशरीर में स्थित जीवों की अपर्याप्तकों के साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तवृद्धियोगस्थान और गति तथा आयुसम्बन्धी प्रथम, द्वितीय, तृतीयसमय में होने वाली अवस्था के द्वारा जितनी समीपता पायी जाती है उतनी शेष प्राणियों की नहीं पाई जाती। इसलिए कार्मण काययोग में स्थितजीवों का अपर्याप्तकों में ही अन्तर्भाव किया जाता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियों की दो ही अवस्थाएँ होती हैं, इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती।[4]

शङ्का—सम्यग्मिथ्यादृष्टिजीव पर्याप्तक ही होते हैं, यह क्यों?

समाधान—क्योंकि तीसरे गुणस्थान के साथ मरण नहीं होता तथा अपर्याप्तकाल में भी सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान की उत्पत्ति नहीं होती।

---

१. 'देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥९४॥" (ध.पु. १ पृ. ३३४)। २. "सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९५॥" (ध.पु. १ पृ. ३३५)। ३. ध.पु. १ पृ. ३३४। ४. ध.पु. १ पृ. ३३४।

शङ्का—"तीसरे गुणस्थान में पर्याप्त ही होते हैं" ऐसा नियम स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भित एकान्तवाद के सद्भाव मानने में कोई विरोध नहीं आता है।[1]

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियाँ तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासिनी देवियाँ ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी।[2] किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में नियम से पर्याप्त होते हैं।[3]

शङ्का—सम्यग्मिथ्यादृष्टिजीव भले ही भवनवासी आदि देवों में और देवियों में उत्पन्न नहीं होते, यह तो ठीक है, परन्तु यह बात नहीं बनती कि असंयतसम्यग्दृष्टि उक्त देव-देवियों में उत्पन्न नहीं होते।

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि की जघन्य देवों में उत्पत्ति नहीं होती है।

शङ्का—जघन्य अवस्था को प्राप्त नारकियों और तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टिजीव उनसे उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त भवनवासी आदि देव व देवियों में तथा कल्पवासी देवियों में क्यों नहीं उत्पन्न होते?[4]

समाधान—नहीं, क्योंकि जो आयुकर्म का बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया है ऐसे जीवों की नरकादि गति में उत्पत्ति के रोकने की सामर्थ्य सम्यग्दर्शन में नहीं है।

शङ्का—सम्यग्दृष्टि जीवों की जिस प्रकार नरकगति आदि में उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवों में उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—यह कहना ठीक ही है, क्योंकि यह बात इष्ट ही है।[5]

शङ्का—यदि ऐसा है तो भवनवासी आदि में भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति प्राप्त हो जाएगी?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिन्होंने पहले आयुकर्म का बन्ध कर लिया है ऐसे जीवों के सम्यग्दर्शन का उस गतिसम्बन्धी आयुसामान्य के साथ विरोध न होते हुए भी उस-उस गतिसम्बन्धी विशेष में उत्पत्ति के साथ विरोध पाया जाता है। ऐसी अवस्था में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी,

---

१. ध.पु. १ पृ. ३३५। २. "भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवादेवीओ सोधम्मीसाण कप्पवासिय देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्ति-याओ ॥९६॥" (ध.पु. १ पृ. ३३५)। ३. सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजद-सम्माइटिठ-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ॥९७॥"(ध.पु. १ पृ. ३३६) ४. ध.पु. १ पृ. ३३६। ५. ध. पु. १ पृ. ३३६।

प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवों में, नीचे के छह नरकों में, सर्वप्रकार की स्त्रियों में, नपुंसकवेद में, एकेन्द्रियों में, विकलत्रयों में, लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में और कर्मभूमिज तिर्यंचों में असंयतसम्यग्दृष्टि का उत्पत्ति के साथ विरोध सिद्ध हो जाता है। इसलिए इतने स्थानों में सम्यग्दृष्टि-जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।[1]

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग से लेकर उपरिम ग्रैवेयक के उपरिमभाग पर्यन्त देवों में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।[2]

शङ्का—सानत्कुमार स्वर्ग से लेकर ऊपर स्त्रियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में देवांगनाओं के उत्पन्न होने का जिस प्रकार कथन किया गया है, उस प्रकार आगे के स्वर्गों में उनकी उत्पत्ति का कथन नहीं किया गया है इसलिए वहाँ स्त्रियों का अभाव रहने पर जिनका स्त्री-सम्बन्धी संताप शान्त नहीं हुआ है, ऐसे देवों के देवाङ्गनाओं के बिना सुख कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सानत्कुमार आदि कल्पसम्बन्धी स्त्रियों की उत्पत्ति सौधर्म व ऐशान स्वर्गों में होती है।

शङ्का—तो सानत्कुमार आदि कल्पों में स्त्रियों के अस्तित्व का कथन करना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो दूसरो जगह उत्पन्न हुई हैं तथा जिनकी लेश्या, आयु और बल सानत्कुमारादि कल्पों में उत्पन्न देवों से भिन्न प्रकार के हैं; ऐसी स्त्रियों का सानत्कुमार आदि कल्पों में उत्पत्ति की अपेक्षा अस्तित्व मानने में विरोध आता है।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव तथा सौधर्म-ऐशान कल्पवासी देव मनुष्यों के समान शरीर से प्रवीचार करते हैं। मैथुन-सेवन को प्रवीचार कहते हैं। जिनका काय में प्रवीचार होता है, उन्हें काय से प्रवीचार करने वाले कहते हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में देव स्पर्श से प्रवीचार करते हैं अर्थात् ये देव देवाङ्गनाओं के स्पर्शमात्र से ही अत्यन्त प्रीति को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार वहाँ की देवियाँ भी देवों के स्पर्शमात्र से अत्यन्त प्रीति को प्राप्त होती हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ कल्पों में रहनेवाले देव अपनी देवाङ्गनाओं के शृंगार, आकार, विलास, प्रशस्त तथा मनोज्ञ वेष व रूप के अवलोकन मात्र से ही परमसुख को प्राप्त होते हैं इसलिए वे रूप से प्रवीचार करने वाले हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में रहने वाले देव देवाङ्गनाओं के मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणों के शब्द सुनने मात्र से ही परमप्रीति को प्राप्त होते हैं, इसलिए वे शब्द से प्रवीचार करने वाले हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों के देव अपनी देवाङ्गनाओं का मन में संकल्प करने मात्र से ही परमसुख को प्राप्त होते हैं इसलिए वे मन से प्रवीचार करने वाले

---

१. ध. पु. १ पृ. ३३७। २. सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्जे ति विमाणवासिय-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासण सम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥९८॥ (ध. पु. १ पृ. ३३७)।

हैं। वेदना के प्रतिकार को प्रवीचार कहते हैं। उस वेदना का अभाव होने से नवग्रैवेयक से लेकर ऊपर के सभी देव प्रवीचार रहित हैं, अतः निरन्तर सुखी हैं।[1]

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में देव नियम से पर्याप्तक होते हैं।[2] नव अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँचों अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।[3]

इसप्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **पर्याप्ति प्ररूपणा** नामक तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

०

४. प्राणप्ररूपणाधिकार

प्राण का निरुक्तिपूर्वक लक्षण

[4]बाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं।
पाणंति जेहिं जीवा, पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ॥१२९॥

गाथार्थ—जिस प्रकार बहिरंग परिणामों के द्वारा जीव जीता है उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर प्राणों के द्वारा जीव जीता है वे प्राण हैं; ऐसा कहा गया है ॥१२९॥

विशेषार्थ—इस गाथा में प्राण का लक्षण कहा गया है। जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है वे प्राण हैं।[5] जिनके द्वारा जीव जीता है वे प्राण हैं।[6] जिनके संयोग से जीव जन्म लेता है और वियोग से मरण को प्राप्त होता है, वे प्राण हैं।[7] जिनके द्वारा जीव जीते हैं अथवा जीवित के व्यवहार योग्य होते हैं, वे प्राण हैं।[8]

वे प्राण दो प्रकार के हैं—बाह्यप्राण अर्थात् द्रव्यप्राण और अभ्यन्तरप्राण अर्थात् भावप्राण।

---

१. ध. पु. १ पृ. ३३८-३३९। २. सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९९॥" (ध. पु. १ पृ. ३३९)। ३. "अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजित-सव्वट्ठसिद्धि विमाणवासिय-देवा असंजद-सम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥१००॥" (ध. पु. १ पृ. ३३९)। ४. यह गाथा ध. पु. १ पृ. २५६ पर गा. १४१ और प्रा. पं. सं. पृ. १० गा. ४५ है, किन्तु 'पाणंति' के स्थान पर 'जीवंति' और 'णिदिट्ठा' के स्थान पर 'बोहव्वा' पाठ है। ५. प्राणिति एभिरात्मेति प्राणाः। (ध. पु. १ पृ. २५६)। ६. प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणाः। (ध.पु. २ पृ. ४१२)। ७. "जेसिं जोए जम्मदि मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा ॥१३९॥" येषां जोए संयोगे जम्मदि जीवो जायते उत्पद्यते, येषां वियोगे सति जीवो म्रियते जीवितव्य रहितो भवति, तेऽपि दशप्राणाः कथ्यन्ते" (स्वा.का.अनु.पृ.७७)। ८. जीवंति जीववद् व्यवहार-योग्या भवति ते प्राणाः। (श्री अभयचन्द्रसूरि कृत टीका)।

द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्यप्राण हैं तथा क्षायोपशमिक भावेन्द्रियादि भावप्राण हैं।[1] अभ्यन्तर प्राण-इन्द्रियावरण (मतिज्ञानावरण) कर्म का क्षयोपशम आदि। बाह्यप्राण—अभ्यन्तरप्राणों का कार्य जैसे आँखों का खोलना, बन्द करना आदि इन्द्रिय व्यापार, कायचेष्टा, वचनव्यापार, उच्छ्वास-निःश्वास-रूप प्रवृत्ति इत्यादि।[2]

शङ्का—पर्याप्ति और प्राण में क्या भेद है?

समाधान—नहीं, क्योंकि इनमें हिमवान और विन्ध्याचल पर्वत के समान भेद पाया जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता पर्याप्ति हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है, वे प्राण हैं। यही इन दोनों में भेद है।

शङ्का—पाँचों इन्द्रियाँ, आयु और कायबल ये प्राणसंज्ञा को प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि वे जन्म से लेकर मरण तक भव को धारण करने रूप से पाये जाते हैं और उनमें से किसी एक का अभाव होने पर मरण भी देखा जाता है, परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल इनको प्राणसंज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्था में जीवन पाया जाता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल के बिना अपर्याप्तावस्था के पश्चात् पर्याप्तावस्था में जीवन नहीं पाया जाता है इसलिए उन्हें प्राण मानने में कोई विरोध नहीं आता।

शङ्का—पर्याप्ति और प्राण के नाम मात्र में विवाद है, वस्तुतः कोई विवाद नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि कार्य और कारण के भेद से उन दोनों में भेद पाया जाता है तथा पर्याप्तियों में आयु का सद्भाव नहीं होने से, मनोबल-वचनबल-उच्छ्वासरूप प्राणों के अपर्याप्तावस्था में नहीं पाये जाने से पर्याप्ति और प्राण में भेद समझना चाहिए।

शङ्का—वे पर्याप्तियाँ भी अपर्याप्तकाल में नहीं पाई जाती हैं, इसलिए अपर्याप्तकाल में उनका सद्भाव नहीं रहेगा।

समाधान—नहीं, क्योंकि अपर्याप्तकाल में अपर्याप्तरूप से उनका सद्भाव पाया जाता है।

शङ्का—'अपर्याप्तरूप' इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—पर्याप्तियों की अर्धनिष्पत्ति (अपूर्णता) अपर्याप्ति है। इसलिए पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण में भेद सिद्ध हो जाता है।[3] अथवा इन्द्रियादि में विद्यमान जीवन के कारणपने की अपेक्षा न करके इन्द्रियादिरूप शक्ति की पूर्णतामात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवन के कारण हैं वे

---

१. द्रव्येन्द्रियेन्द्रियादिद्रव्यप्राणा, भावेन्द्रियादि-क्षायोपशमिकभावप्राणाः। (बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ३ की टीका)।
२. "बाह्यप्राणैः अभ्यन्तरप्राणकार्यैर्नयनोन्मीलनादीन्द्रियव्यापारकायचेष्टावाग्व्यापारोच्छ्वासनिःश्वासप्रवृत्तिरूपैर्जीवाः। प्राणंति जीवंति तथा अभ्यन्तरैः इन्द्रियावरणक्षयोपशमादिभिः यैर्जीवाः जीवंति" (श्री अभयचन्द्रसूरिकृत टीका)। ३. ध. पु. १ पृ. २५६-५७।

प्राण हैं, यही इन दोनों में भेद है।[1] आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मनरूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता पर्याप्तियाँ हैं। विषयग्रहणरूप व्यापार की व्यक्ति प्राण हैं। इसप्रकार दोनों में भेद जानना चाहिए।[2]

प्राणों के भेद

[3]**पंचवि इंदियपाणा मणवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।**
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ।।१३०।।

गाथार्थ—पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वचन-काय ये तीन बलप्राण, आनप्राण और आयुप्राण ये सब दस प्राण होते हैं ।।१३०।।

विशेषार्थ—मूल चार प्राण हैं—१. इन्द्रियप्राण २. बलप्राण ३. आनपानप्राण ४. आयुप्राण।[4] इनके अवान्तर दस भेद हो जाते हैं। इन्द्रिय पाँच—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। बल तीन-मनोबल, वचनबल, कायबल। आयु, श्वासोच्छ्वास, इसप्रकार ये सब मिलकर (५+३+१+१) दस प्राण हो जाते हैं।

उक्त पाँचों इन्द्रियों का एकेन्द्रिय आदि पाँच जातियों में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि चक्षुरिन्द्रियावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न हुई इन्द्रियों की एकेन्द्रिय आदि जातियों के साथ समानता नहीं पायी जाती। उसी प्रकार इन पांचों इन्द्रियों का इन्द्रिय पर्याप्ति में भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय आदि को आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशमरूप इन्द्रियों को और क्षयोपशम की अपेक्षा बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति के उत्पन्न करने में निमित्तभूत पुद्गलों के प्रचय को एक मान लेने में विरोध आता है, उसीप्रकार मनोबल का मनःपर्याप्ति में भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि मनोवर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय को और उससे मनोबलरूप आत्मबल को एक मानने में विरोध आता है तथा वचनबल भी भाषापर्याप्ति में अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि आहारवर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गलप्रचय का और उससे उत्पन्न हुई भाषावर्गणा के स्कन्धों का श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणमन करानेरूप शक्ति की परस्पर समानता का अभाव है। कायबल का भी शरीरपर्याप्ति में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि वीर्यान्तराय के उदयाभाव और उपशम से

---

१. "जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्यशक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति त्योर्भेदः।" (ध. पु. १ पृ. २५७)। २. "आहारशरीरेन्द्रियप्राणभाषामनोऽर्थग्रहण-शक्तिनिष्पत्तिरूपाः पर्याप्तयः विषय-ग्रहणव्यापार-व्यक्तिरूपाः प्राणाः इति भेदो ज्ञातव्यः।" (स्वा. का. अनु. गा. १४१ टीका पृ. ८०)। ३. यह गाथा ध. पु. २ पृ. ४२१ पर गा. २३६ है; प्रा. पं. सं. पृ. ५७३ पर गा. २८ है तथा मूलाचार पर्याप्ति अधिकार गा. १५० है, किन्तु 'कायसु' के स्थान पर 'काएण' पाठ है और 'दह' के स्थान पर 'दस' है। प्रा. पं. सं. में 'होंति' के स्थान पर 'हुंति' है। मुद्रित गो. जी. में 'आणपाण' जो अशुद्ध प्रतीत होता है अतः धवल आदि के आधार पर 'आणापाणप्पाण' शुद्ध पाठ रखा गया है। ४. "तिकाले चदुपाणा इन्दियबलमाउआण-पाणो य" (बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ३)।

उत्पन्न हुए क्षयोपशम की और खल रसभाग की निमित्तभूत शक्ति के कारण पुद्गलप्रचय की एकता नहीं पाई जाती। इसी प्रकार उच्छ्वास-निःश्वास प्राण कार्य है जो आत्मोपादानकारणक होता है। उच्छ्वास निःश्वास पर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है, अतएव इन दोनों में भेद समझ लेना चाहिए।[1]

द्रव्य और भावप्राणों की उत्पत्ति की सामग्री

वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेंदियेसु बला।
देहुदये कायाणा वचीबला आउ आउदये ॥१३१॥

गाथार्थ—वीर्यान्तराय कर्मसहित मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियप्राण और नोइन्द्रिय (मन) बल प्राण उत्पन्न होते हैं। शरीर नामकर्मोदय से कायबल, आनप्राण, वचनबलप्राण एवं आयुकर्मोदय से आयुप्राण उत्पन्न होते हैं ॥१३१॥

विशेषार्थ—मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के साथ-साथ वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर नोइन्द्रिय (मन) व इन्द्रियों में बल आ जाता है अर्थात् अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्तिरूप लब्धि नामक भावेन्द्रिय उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार इन दो कर्मों के क्षयोपशम से पाँच इन्द्रियप्राण व मनोबलप्राण ये छहप्राण उत्पन्न होते हैं। शरीर नाम कर्मोदय से शरीर में चेष्टा करने की शक्तिरूप कायबल नामक सातवाँ प्राण उत्पन्न होता है। उच्छ्वास-निःश्वास नामकर्म के उदय से सहित शरीर नामकर्मोदय होने पर उच्छ्वास-निःश्वासरूप प्रवृत्ति करने में कारण ऐसी शक्ति रूप आनप्राण नामक आठवाँ प्राण होता है। स्वरनामकर्मोदय सहित शरीर नामकर्म का उदय होने से वचन व्यापार में कारण ऐसी शक्ति विशेषरूप वचनबल नामक नवाँ प्राण होता है। आयुकर्मोदय से नारक आदि (नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव) पर्यायरूप भव धारण की शक्तिरूप आयु नामक दसवाँ प्राण उत्पन्न होता है।[2] छहों पर्याप्तियाँ मात्र एक पर्याप्ति नामकर्मोदय से निष्पन्न होती हैं, उस प्रकार किसी एक कर्मोदय से दसों प्राण उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि 'प्राण' नामक कर्मप्रकृति नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न प्राण उत्पन्न होते हैं, यही ज्ञान इस गाथा के द्वारा कराया गया है।

प्राणों के स्वामी

[3]इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा।
बीइंदियादिपुण्णे वचीमणो सण्णिपुण्णेव ॥१३२॥
[4]दस सण्णीणं पाणा सेसेगूणंतिमस्स बे ऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य सत्त दुगे सेसगेगूणा ॥१३३॥

गाथार्थ—इन्द्रिय, कायबल और आयु ये तीन प्राण पर्याप्त जीवों में भी होते हैं तथा अपर्याप्त जीवों में भी होते हैं, किन्तु पर्याप्त जीवों में आनपान प्राण भी होता है। द्वीन्द्रियादि पर्याप्त जीवों

---

१. ध. पु. २ पृ. ४१२-१३। २. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका। ३. ध. पु. २ पृ. ४१८ पर इस गाथा सम्बन्धी विषय दिया गया है। ४. यह गाथा ध. पु. २ पृ. ४१८ पर भी है।

में वचनबल और संज्ञी पर्याप्तक जीवों में मनोबल प्राण भी होते हैं ॥१३२॥ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में दस प्राण होते हैं और शेष पर्याप्तजीवों में एक-एक प्राण कम होता गया है, अन्त में दो प्राण कम होते हैं। अपर्याप्तकों के दो जीवसमासों में सात-सात प्राण हैं, शेष में एक-एक कम है ॥१३३॥

विशेषार्थ—गाथा १३० में कहे गये दसप्राण संज्ञीपर्याप्तकों के होते हैं। आनपान, वचनबल और मनोबल इन तीन प्राणों के बिना शेष सातप्राण संज्ञी-पंचेन्द्रिय-अपर्याप्तकों के होते हैं। दस प्राणों में से मनोबल के बिना शेष नौ प्राण असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के होते हैं और अपर्याप्त अवस्था को प्राप्त इन्हीं जीवों के वचनबल तथा आनपान प्राणों के बिना शेष सातप्राण होते हैं। असंज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्तक के नौ प्राणों में से श्रोत्रेन्द्रिय प्राण को कम कर देने पर शेष आठ प्राण चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-जीवों के होते हैं। इन्हीं चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तजीवों के आनपान और वचनबल के बिना शेष छह प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियपर्याप्त जीवों के आठ प्राणों में से चक्षुरिन्द्रिय कम कर देने से शेष सात प्राण त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीवों के होते हैं। इन सात प्राणों में से आनपान और वचनबलप्राण कम कर देने पर शेष पाँचप्राण त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकों के होते हैं। त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के सातप्राणों में से घ्राणेन्द्रिय कम कर देने पर शेष छह प्राण द्वीन्द्रियपर्याप्तकों के होते हैं। उन छह प्राणों में से आनपान और वचनबल कम कर देने पर शेष चारप्राण द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकों के होते हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों के छह प्राणों में से रसनेन्द्रियप्राण और वचनबल इन दो प्राणों को कम कर देने पर शेष चारप्राण एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों के होते हैं। उन चार में से आनपान प्राण कम कर देने से शेष तीन प्राण एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों के होते हैं।[1]

प्राकृतपञ्चसंग्रह में पृ. १० पर इन गाथाओं में उक्त विषय और भी स्पष्ट किया गया है—

उस्सासो पज्जत्ते सव्वेसिं काय-इंदियाऊणि।
वचि पज्जत्ततसाणं चित्तबलं सण्णिपज्जत्ते ॥४७॥

दससण्णीणं पाणा सेसे गूणंतिमस्स बे ऊणा।
पज्जत्तेसु दरेसु अ सत्त दुए सेसगेगूणा ॥४८॥

पुण्णेसु सण्णि सव्वे मणरहिया होंति ते दु इयरम्मि।
सोदक्खिघाणजिब्भारहिया सेसिंगिदिभासूणा ॥४९॥

पंचक्खदुए पाणा मण वचि उस्सास ऊणिया सव्वे।
कण्णक्खिगंधरसणारहिया सेसेसु ते अपुण्णेसु ॥५०॥

एइंदियादिपज्जत्तेसु ४/६/७/८/९/१०। सण्णि पंचिंदियादि—अपज्जत्तेसु। ७/७/६/५/४/३।

उपर्युक्त गाथाओं में क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के प्राणों का कथन किया गया है, अब सयोगीजिन और अयोगीजिन के प्राणों का विचार किया जाता है।

सयोगीजिन के पाँच भावेन्द्रियाँ और भावमन नहीं रहता है अतः इन छह के बिना चारप्राण पाये जाते हैं तथा केवलीसमुद्घात की अपर्याप्तावस्था में वचनबल और श्वासोच्छ्वास का अभाव

---

१. ध. पु. २ पृ. ४१८।

हो जाने से अथवा तृतीय शुक्लध्यान के काल में आयु व कायबल ये दो ही प्राण होते हैं, परन्तु कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रिय की पूर्णता की अपेक्षा दस प्राण कहते हैं, उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि सयोगीजिन के भावेन्द्रियाँ नहीं पाई जातीं। पाँचों इन्द्रियावरणकर्मों के क्षयोपशम को भावेन्द्रियाँ कहते हैं, किन्तु जिनका आवरणकर्म समूल नष्ट हो गया है, उनके वह क्षयोपशम नहीं होता। यदि प्राणों में द्रव्येन्द्रियों का ही ग्रहण किया जावे तो संज्ञीजीवों के अपर्याप्तकाल में सातप्राणों के स्थान पर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे, क्योंकि उनके द्रव्येन्द्रियों का अभाव होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सयोगीजिन के चार अथवा दो ही प्राण होते हैं।[1]

अयोगीजिन के आयु नामक एक ही प्राण होता है।

शङ्का—एक आयुप्राण होने का क्या कारण है?

समाधान—ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम स्वरूप पाँच इन्द्रियप्राण तो अयोगकेवली के हैं नहीं, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय हो जाने पर क्षयोपशम का अभाव पाया जाता है। इसीप्रकार आनपान, भाषा और मनःप्राण भी उनके नहीं हैं, क्योंकि पर्याप्तिजनित प्राण संज्ञा वाली शक्ति का उनके अभाव है। इसीप्रकार उनके कायवल नाम का प्राण भी नहीं है, क्योंकि उनके शरीर नामकर्मोदय जनित कर्म और नोकर्मों के आगमन का अभाव है। इसलिए अयोगकेवली के एक आयुप्राण ही होता है।[2] उपचार का आश्रय लेकर एकप्राण, छहप्राण अथवा सातप्राण भी होते हैं। यह कथन अप्रधान अर्थात् गौण है।[3]

'जहाँ मुख्य का अभाव हो, किन्तु उसके कथन करने का निमित्त या प्रयोजन हो वहाँ पर उपचार किया जाता है।'[4] अयोगीजिन के मुख्य इन्द्रियों का तो अभाव है, क्योंकि वे ज्ञानावरण के क्षयोपशमस्वरूप हैं, किन्तु पंचेन्द्रियजाति नामकर्मोदय के कारण अयोगकेवली पंचेन्द्रिय हैं। इसलिए पाँच इन्द्रियप्राणों का उपचार बन जाता है। शरीरनामकर्म का यद्यपि उदय नहीं है तथापि सत्त्व है और औदारिक शरीर भी है अतः कायबल प्राण का भी उपचार किया जा सकता है। इस प्रकार पांच इन्द्रियों के उपचार से एक आयुप्राण और पांच इन्द्रिय प्राण, छहप्राणों का उपचार बन जाता है। इन छहप्राणों में कायबल प्राण मिला देने से सात प्राणों का उपचार बन जाता है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **प्राणप्ररूपणा** नामक चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

●

---

१. 'तम्हा सजोगिकेवलिस्स चत्तारिपाणा दो पाणा वा।" (ध. पु. २ पृ. ४४४-४५ व पृ. ६५८) २. "आउअं पाणो एक्को चेव" (ध. पु. २ पृ. ४४५) ३. ध. पु. २ पृ. ४४५-४६। ४. "मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते ॥२१२॥ (आलापपद्धति)।

५. संज्ञा-प्ररूपणाधिकार

संज्ञा का लक्षण व भेद

[1]इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंतावि य उभये ताम्रो चत्तारि सण्णाम्रो ॥१३४॥

गाथार्थ—जिनसे बाधित होकर जीव इस लोक में दारुण दुःख प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करने पर भी जीव दोनों ही भवों में दारुण दुःख को प्राप्त होते हैं वे चार संज्ञाएँ हैं ॥१३४॥

विशेषार्थ—आहारादि की वांछा से बाधित होकर, संक्लेशित होकर, पीड़ित होकर जीव इस भव में दारुण अर्थात् तीव्र दुःख पाता है। वांछित पदार्थ का सेवन करने से जीव इस भव में और परभव में अर्थात् दोनों भवों में तीव्र दुःखों को प्राप्त होता है। वे संज्ञाएँ (वांछाएँ) चार हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा।[2] यहाँ वांछा को संज्ञा कहा गया है। वांछा ही इस लोक और परलोक में महान् दुःख का कारण है।

आहारसंज्ञा का लक्षण व कारण

[3]आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥१३५॥

गाथार्थ—आहार देखने से, उसके उपयोग से, कोठे (पेट) खाली होने से और साता-इतर अर्थात् असातावेदनीय कर्म की उदीरणा होने से आहारसंज्ञा होती है ॥१३५॥

विशेषार्थ—आहार के विषय में जो तृष्णा या आकांक्षा होती है वह आहारसंज्ञा है।[4] यह आहारसंज्ञा अन्तरंग और बहिरंग कारण मिलने पर उत्पन्न होती है। इसमें अन्तरंग कारण सातावेदनीय कर्म के प्रतिपक्षी असातावेदनीयकर्म का तीव्र उदय व उदीरणा है। बहिरंग कारण—१. उदररूपी कोठे का रिक्त होना, क्योंकि जब पेट खाली होता है तब भूख लगती है और भोजन की वांछा होती है। २. नाना प्रकार के रसयुक्त सुन्दर भोजन-पानादि को देखने से उसकी वांछा होती है। ३. पूर्व में भुक्त सुन्दर-सुस्वादु आहार आदि की स्मृतिरूप उपयोग होने से आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है।[5]

---

१. प्रा. पं. सं. (भारतीय ज्ञानपीठ) पृ. ११ गा. ५१ अ. १; पृ. ५७४ गा. ४०, किन्तु वहाँ 'बाहिया' के स्थान पर 'बाधिदा' पाठ है। २. सण्णा चउव्विहा आहार-भय-मेहुण-परिग्गहसण्णा चेदि।" (ध. पु. २ पृ. ४१३)। ३. प्रा. पं. सं. पृ. ११ गा. ५२; पृ. ५७४ गा. ४१, किन्तु कुछ पाठ भेद है। ४. "आहारे या तृष्णा कांक्षा साहारसंज्ञा।" (ध. पु. २ पृ. ४१४)। ५. श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका।

भयसंज्ञा का लक्षण व कारण

[1]अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए ।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ।।१३६।।

गाथार्थ—अति भयानक रूपादि के देखने, उसकी ओर उपयोग करने, शक्ति की हीनता और भयकर्म की उदीरणा रूप चार कारणों से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है ।।१३६।।

विशेषार्थ—भयसंज्ञा भयरूप है ।[2] १. तीव्र भयंकररूप-वेष-क्रियादि तथा क्रूर पशु सिंह सर्पादि के अवलोकन से । २. भयंकर डाकू, व्याघ्र, सिंह, सर्पादि की स्मृति से । ३. मनोबल की हीनता से । इसप्रकार इन तीन बहिरंग कारणों से और भय नोकषाय कर्म की उदीरणारूप अन्तरंग कारण से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है । भय के कारण भागने की अथवा शरणस्थान की खोज करने की इच्छा होती है ।[3] शक्तिहीन जीव जब अपने से अधिक बलशाली व हानिकारक पदार्थ को देखता है तो वह उससे डरकर शरण लेने की इच्छा करता है तथा शरण्य स्थान की खोज में भागता है ।

मैथुनसंज्ञा का लक्षण व कारण

[4]पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगेण कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ।।१३७।।

गाथार्थ—गरिष्ठ रस युक्त भोजन करने से, पूर्वभुक्तविषयों का ध्यान करने से, कुशील का सेवन करने से और वेद कर्म की उदीरणा से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है ।।१३७।।

विशेषार्थ—तीनों वेदों के सामान्य उदय के निमित्त से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है ।[5] तीनों वेदों का भेद न करके सामान्य वेद कर्म के तीव्र उदयरूप उदीरणा के कारण मैथुनसंज्ञा होती है । तीनों वेद कर्मों में से किसी भी एक की उदीरणा से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है । यह अन्तरंग कारण है । कामोत्पादक गरिष्ठ व स्वादिष्ट भोजन करने से, पूर्व में भोगे हुए विषयों को याद करने से, कुशीलसेवन से, कुशील (विट) पुरुषों की संगति से, कुशील काव्य व कथादि सुनने से, कुशील नाटक-सिनेमा-टेलीविजन व चित्र आदि के देखने से अर्थात् इन बहिरंग कारणों से मैथुन संज्ञा अर्थात् रतिक्रीड़ा करने की वांछा उत्पन्न होती है ।[6] स्त्रियों की रागकथा सुनना, स्त्रियों के मनोहर अङ्गों को देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों को स्मरण करना, पौष्टिक भोजन करना, अपने शरीर का संस्कार आदि करना इन कारणों से भी मैथुनसंज्ञा होती है । अतः इनका त्याग करना चाहिए ।[7]

---

१. कुछ अक्षर-भेद के साथ प्रा. पं. सं. पृ. ११ गा. ५३; पृ. ५७४ गा. ४२ है । २. "भयसंज्ञा भयात्मिका" (ध. पु. २ पृ. ४१४) । ३. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमद् अभयचन्द्रसूरि कृत टीका । ४. प्रा. पं. सं. (भारतीय ज्ञानपीठ) पृ. १२ गा. ५३; पृ. ५७४ गा. ४३ । ५. "वेदत्रयोदयसामान्यनिबन्धनं मैथुनसंज्ञा" (ध. पु. २ पृ. ४१३) । ६. श्रीमद् अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका । ७. "स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च" (मो. शा. अ. ७ सू. ७) ।

परिग्रहसंज्ञा का लक्षण व कारण

[1]उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ।।१३८।।

गाथार्थ—उपकरणों को देखने से, उनका उपयोग करने से, उनमें मूर्च्छाभाव रखने से तथा लोभकषाय कर्म की उदीरणा से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है ।।१३८।।

विशेषार्थ—बाह्यपदार्थों के निमित्त से जो लोभ होता है वह परिग्रहसंज्ञा है ।[2] मृदु शय्या, सुन्दर भोजन, सुगन्धित पुष्प, रूपवती स्त्री, सुवर्णादि इन्द्रियों के भोग के साधनभूत उपकरणों के देखने से, उनका स्मरण करने से, उनमें ममत्वभाव रखने से इन बाह्य कारणों से तथा अन्तरंग में लोभकषाय की विशेष उदीरणा से परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है ।[3]

अप्रमत्तगुणस्थान में संज्ञा का अस्तित्व

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा ।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि ण हि कज्जे ।।१३९।।

गाथार्थ—जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है अर्थात् अप्रमत्तगुणस्थान में प्रथम (आहार) संज्ञा नहीं है, क्योंकि वहाँ पर कारण का अभाव हो गया है। शेष तीन संज्ञाएँ उपचार से हैं, क्योंकि उनके कारणस्वरूप कर्म का उदय वहाँ पाया जाता है, किन्तु वे संज्ञाएँ कार्यरूप परिणत नहीं होतीं ।।१३९।।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि प्रथमगुणस्थान से प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक आहार-भय-मैथुन-परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ होती हैं। अप्रमत्तगुणस्थान में प्रथम संज्ञा अर्थात् आहारसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि आहारसंज्ञा का अन्तरङ्ग कारण असातावेदनीय कर्म की उदीरणा का अभाव हो गया है। सातावेदनीय-असातावेदनीय तथा आयुकर्म की उदीरणा प्रमत्तगुणस्थान तक ही होती है। अप्रमत्त-संयतादि गुणस्थानों में वेदनीय व आयुकर्म की उदीरणा का अभाव हो जाता है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भय-मैथुन व परिग्रह संज्ञा होती हैं, क्योंकि उनके कारण नोकषायभयकर्म-वेदकर्म व लोभकषाय की उदीरणा पाई जाती है। अपूर्वकरण आठवें गुणस्थान में भयकर्म की उदीरणा-व्युच्छित्ति हो जाने से अनिवृत्तिकरण (नौवें) गुणस्थान में भय संज्ञा नहीं है। नौवें गुणस्थान के अवेदभाग में वेदकर्म की उदीरणा नहीं होती अतः वहाँ पर मैथुन संज्ञा भी नहीं होती। उपशान्तमोह आदि गुणस्थानों में लोभकषाय की उदीरणा का अभाव हो जाने से परिग्रहसंज्ञा का भी अभाव हो जाता है। अप्रमत्तादि गुणस्थानों में कर्मोदीरणा निमित्त कारण के सद्भाव से उन संज्ञाओं का अस्तित्व उपचार मात्र से कहा गया है, किन्तु वहाँ उनका कार्य शरण, रतिक्रीड़ा व परिग्रह की वांछा नहीं होती। कर्मों का मन्द, मन्दतर व मन्दतम अतिसूक्ष्म अनुभागोदय होने से तथा विशेष संयम सहित होने से ध्यानयुक्त महामुनियों के मुख्यरूप से भय आदि संज्ञाएँ नहीं होतीं, अन्यथा

---

१. प्रा. पं. सं. पृ. ५७४ गा. ४४ तथा पृ. १२ गा. ५५। २. आलीढबाह्यार्थलोभतः परिग्रहसंज्ञा (ध पु. २ पृ. ४१३)। ३. श्रीमदभयचन्द्रसूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका।

शुक्लध्यान व घातियाकर्मों का क्षय कदाचित् घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार जीवनमुक्त जीवों के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। जीवनमुक्त जीवों (अर्हन्तों) का अभाव होने से परम-मुक्त (सिद्ध) जीवों का भी अभाव हो जाएगा। जिस प्रकार वैदिकमत वाले संसारी जीवों की मुक्ति का अभाव मानते हैं वैसे ही अर्हन्त के मत में भी मुक्ति के अभाव का प्रसङ्ग आ जाएगा। इसलिए मोक्ष के इच्छुक स्याद्वादियों को क्षपकश्रेणी में आहार आदि चारों संज्ञाओं का अभाव मानना चाहिए। इस प्रकार आहारसंज्ञा का निषेध हो जाने से केवलियों के कवलाहार भुक्ति कैसे सम्भव है? स्त्रियों (महिलाओं) के परिग्रहसंज्ञा के सद्भाव के कारण क्षपकश्रेणी-आरोहण का अभाव होने से स्त्रियों की मुक्ति कैसे सम्भव है? परमागम में स्त्रियों के वस्त्रत्यागपूर्वक संयम का निषेध है। आगमान्तर—जिसमें श्वेतवस्त्र आदि का विधान बताया गया है, युक्ति-आगमप्रमाण से उस आगमान्तर का खण्डन हो जाने से वह आगमान्तर (अन्य आगम) आगमाभास सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार केवलियों के कवलाहार का और स्त्री-मुक्ति का निषेध हो जाता है।[1]

शङ्का—यदि ये चारों संज्ञाएँ बाह्य पदार्थों के संसर्ग से होती हैं तो अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवों के संज्ञाओं का अभाव हो जाना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि अप्रमत्तों में उपचार से उन संज्ञाओं का सद्भाव स्वीकार किया गया है।[2]

अप्रमत्तसंयत जीवों के भय, मैथुन और परिग्रह ये तीन संज्ञाएँ होती हैं, क्योंकि असाता-वेदनीय कर्म की उदीरणा का अभाव हो जाने से अप्रमत्तसंयत के आहारसंज्ञा नहीं होती, किन्तु भय आदि संज्ञाओं के कारणभूत कर्मों का उदय सम्भव है। इसलिए उपचार से वहाँ भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ हैं।[3]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **संज्ञा प्ररूपणा** नामक पंचम अधिकार पूर्ण हुआ।

●

❁ "मार्गणा-महाधिकार" ❁

मंगलाचरण

धम्मगुणमग्गणाहयमोहारिबलं जिणं णमंसित्ता।
मग्गणमहाहियारं विविहहियारं भणिस्सामो ॥१४०॥

---

१. श्रीमदभयचन्द्रसूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। २. तत्रोपचारतस्तत्सत्त्वाभ्युपगमात् (ध. पु. २ पृ. ४१३)
३. तिण्णि सण्णाओ, असादावेदणीयस्सुदीरणाभावादो आहारसण्णा अपमत्तसंजदस्स णत्थि। कारणभूद कम्मोदय-संभवादो उवयारेण भय-मेहुण-परिग्गाहसण्णा अत्थि। (ध. पु. २ पृ. ४३३)।

गाथार्थ—धर्मरूपी धनुष, ज्ञान-दर्शन-संयम आदि गुणरूपी प्रत्यंचा अर्थात् डोरी और चौदह-मार्गणारूपी बाणों से मोहरूपी शत्रु के बल को नष्ट करने वाले जिन भगवान को नमस्कार करके विविध अवान्तर अधिकारों से युक्त मार्गणा महाधिकार कहता हूँ ।।१४०।।

विशेषार्थ—धर्म अर्थात् रत्नत्रय, क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही रत्नत्रय है। कर्मशत्रुओं के प्रधान नायक मोह को रत्नत्रय के बिना नहीं जीता जा सकता। रत्नत्रय के द्वारा ही मोह की शक्ति क्षीण की जा सकती है अतः रत्नत्रयधर्म को धनुष की उपमा दी है, क्योंकि धनुष के द्वारा युद्ध में शत्रु के बल को नष्ट किया जाता है। धनुष में डोरी होती है, जिसको खींचकर बाण छोड़े जाते हैं। गुण का अर्थ भी डोरी होता है। आत्मा का लक्षण चेतना-गुण है अतः चेतनागुण को डोरी की उपमा दी है। बाणों के बिना मात्र धनुष से शत्रु का बल नष्ट नहीं किया जा सकता। जिनमें जीवतत्त्व का विशेष कथन है ऐसी चौदहमार्गणाओं के ज्ञान से श्रद्धान दृढ़ होता है और रत्नत्रय निर्मल होता है। अतः चौदहमार्गणाओं को बाण की उपमा दी है। इस प्रकार जिसने रत्नत्रय धनुष, चेतनागुण डोरी और चौदहमार्गणाओं रूप बाणों के द्वारा मोहशत्रु को जीत लिया है अर्थात् रत्नत्रय के द्वारा जिसने मोह को नष्ट कर दिया है, वही वास्तविक 'जिन' है। ऐसे जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके अपने रत्नत्रय की निर्मलता तथा कर्मनिर्जरा के लिए श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मार्गणा महाधिकार का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है। इस मार्गणा महाधिकार में गति, इन्द्रिय, काय आदि चौदह अन्तर अधिकार हैं इसलिए इस अधिकार को महा-धिकार की संज्ञा दी गई है।

मार्गणा का निरुक्ति-अर्थ तथा उसकी संख्या का निर्देश

[1]जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ।।१४१।।

गाथार्थ—जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं—अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञान में चौदह कही गई हैं ।।१४१।।

विशेषार्थ—मार्गणा किसे कहते हैं? सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारों से युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं।[2] जिसके द्वारा या जिसमें जीव खोजे जाते हैं या विचार किये जाते हैं, वह मार्गणा है और उसके १४ भेद हैं।[3] जैसा श्रुतज्ञान या प्रवचन में कहा गया है हे भव्य ! वैसा जानना चाहिए। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण व संज्ञा प्ररूपणाओं के द्वारा जीव का संक्षेप से विचार होकर अब गति, इन्द्रिय आदि मार्गणाओं के द्वारा विस्तार से पाँच भावों से युक्त जीव का विचार किया जाएगा। गति, इन्द्रिय आदि पाँच भावों

---

१. यह गाथा ध. पु. १ पृ. १३२, प्रा. पं. सं. पृ. १२ गा. ५६, पृ. ७४ गा. ४५ पर भी है, किन्तु 'सुयणाणे' के स्थान पर 'सुदणाणे' पाठ दिया है। २. चतुर्दशजीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम् (ध. पु. १ पृ. १३९) ३. याभिर्यासु वा जीवाः मृग्यन्ते विचार्यन्ते ताश्चतुर्दशमार्गणा भवन्तीति। (श्रीमदभय-चन्द्रसूरि कृत टीका)।

अर्थात् पर्यायों में जीव वर्तन करता है, जिसके द्वारा श्रुत जाना जावे वह श्रुतज्ञान है। यहाँ श्रुतज्ञान से अभिप्राय वर्णपदवाक्यरूप द्रव्यश्रुत का है जो गुरु-शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा से अविच्छिन्न प्रवाह-रूप से चला आया है। कालदोष से या प्रमाद से यदि शास्त्रकार कहीं स्खलित हो गये हों तो उसको छोड़कर परमागम के अनुसार व्याख्यान के द्वारा अविरुद्ध वस्तुस्वरूप को ग्रहण करना चाहिए।[1]

शङ्का—लोक में अर्थात् व्यावहारिक पदार्थों का विचार करते समय भी चारप्रकार से अन्वेषण देखा जाता है। वे चार प्रकार ये हैं—मृगयिता, मृग्य, मार्गणा और मार्गणोपाय। किन्तु यहाँ लोकोत्तर पदार्थ के विचार में वे चारों प्रकार नहीं पाये जाते, इसलिए मार्गणा का कथन करना नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण में भी वे चारों प्रकार पाये जाते हैं। वे इसप्रकार हैं—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भव्य पुण्डरीक मृगयिता है अर्थात् लोकोत्तर पदार्थ का अन्वेषण करने वाला है। चौदह गुणस्थानों से युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य है। जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थान विशिष्ट जीव के आधारभूत है अथवा अन्वेषण करने वाले भव्य जीव को अन्वेषण करने में अत्यन्त सहायक कारण हैं, ऐसी गति आदिक मार्गणा है। शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणा के उपाय हैं।[2]

चौदह मार्गणाओं का नाम-निर्देश

[3]गइ-इंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥१४२॥

गाथार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं ॥१४२॥

विशेषार्थ—गति में, इन्द्रिय में, काय में, योग में, वेद में, कषाय में, ज्ञान में, संयम में, दर्शन में, लेश्या में, भव्य में, सम्यक्त्व में, संज्ञी में और आहार में जीवसमासों (गुणस्थानों) का अन्वेषण किया जाता है। इस गाथा सूत्र में 'य' शब्द समुच्चयार्थक है। मार्गणाएँ चौदह ही होती हैं।[4]

शङ्का—गाथा सूत्र में सप्तमी विभक्ति का निर्देश क्यों किया गया है ?

समाधान—उन गति आदि मार्गणाओं को जीवों का आधार बतलाने के लिए सप्तमी विभक्ति का निर्देश किया है।[5] इसी प्रकार प्रत्येक पद के साथ तृतीयाविभक्ति का भी निर्देश हो सकता है।

शङ्का—जबकि प्रत्येक पद के साथ सप्तमी विभक्ति पाई जाती है तो फिर तृतीया विभक्ति कैसे सम्भव है ?

---

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका। २. ध. पु. १ पृ. १३३-३४। ३. प्रा. पं. सं. पृ. १२ गा. ५७, पृ. ५७५ गा. ४६। मूलाचार पर्याप्ति अधिकार पृ. २७६ गा. १५६। ध. पु. १ पृ. १३२ सूत्र ४। ४. ध. पु. १ पृ. १३२। ५. ध. पु. १ पृ. १३३।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस गाथासूत्र में प्रत्येक पद के साथ जो सप्तमी विभक्ति का निर्देश है वह देशामर्शक है, इसलिए तृतीया विभक्ति का भी ग्रहण हो जाता है।[1]

शङ्का—इस गाथा सूत्र में मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीन को छोड़कर केवल मार्गणा का ही उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'गति' आदि मार्गणा वाचक पद देशामर्शक है। अथवा मार्गणा पद शेष तीनों का अविनाभावी है, इसलिए केवल मार्गणा कथन करने से शेष तीनों का कथन हो जाता है।[2]

गति—जो प्राप्त की जाये, वह गति है।[3] । गति का ऐसा लक्षण करने से सिद्धों के साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता, क्योंकि सिद्धों के द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणों का अभाव है। यदि केवलज्ञानादि गुणों को प्राप्त करने योग्य कहा जावे सो भी कथन नहीं बन सकता, क्योंकि केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मा में प्राप्य-प्रापक भाव का विरोध है। उपाधिजन्य होने से कषायादिक भावों को ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है, किन्तु वे सिद्धों में पाये नहीं जाते हैं, इसलिए सिद्धों के साथ अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।[4]

इन्द्रिय—जो प्रत्यक्ष में व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। अक्ष इन्द्रिय को कहते हैं[5] और जो अक्ष-अक्ष के प्रति विद्यमान रहता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं; जो कि इन्द्रियों का विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान पड़ता है। जो इन्द्रियविषय अथवा इन्द्रियज्ञानरूप प्रत्यक्ष में व्यापार करती हैं, वे इन्द्रियाँ हैं। वे इन्द्रियाँ स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और शब्द नाम के ज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियों के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इसलिए लब्धिरूप भावेन्द्रियाँ कारण हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं। इसीलिए द्रव्येन्द्रियों को भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। अथवा उपयोगरूप भावेन्द्रियों की उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से होती है अतः भावेन्द्रियाँ कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कारण हैं। इसलिए भी द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि कार्यगत धर्म के कारण में और कारणगत धर्म के कार्य में उपचार जगत् में प्रसिद्धरूप से पाया जाता है।[6]

काय—जो संचित किया जाता है, वह काय है।[7] यहाँ पर जो संचित किया जाता है वह काय है ऐसी व्याप्ति बना लेने पर काय को छोड़कर ईंट आदि के संचयरूप विपक्ष में भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है अतः व्यभिचार दोष आता है, ऐसी शंका मन में निश्चय करके आचार्य कहते हैं—इस प्रकार ईंट आदि के संचय के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता, क्योंकि 'पृथ्वी' आदि स्थावर नाम कर्मोदय व त्रस नाम कर्मोदय से जो संचित किया जाता है वह काय है, ऐसी व्याख्या की गई है।[8]

---

१. ध.पु. १ पृ. १३३। २. ध.पु. १ पृ. १३४। ३. 'गम्यत इति गतिः' (मूलाचार पर्याप्ति अधिकार पृ. २७६ गा. १५६ टीका; ध.पु. १ पृ. १३४। ४. ध.पु. १ पृ. १३४। ५. "प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि।" (ध.पु. १ पृ. १३५। ६. ध.पु. १ पृ. १३५। ७. "चीयत इति कायाः" (ध.पु. १ पृ. १३८)। ८. ध.पु. १ पृ. १३८।

योग—जो संयोग को प्राप्त हो, वह योग है ।[१] संयोग को प्राप्त होने वाले वस्त्रादिक से व्यभिचार दोष भी नहीं आता, क्योंकि वे आत्मा के धर्म नहीं हैं। कषायों के साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता, क्योंकि कषाय कर्मों के ग्रहण करने (आस्रव) में कारण नहीं है ।[२] अथवा प्रदेशपरिस्पन्दरूप आत्मा की प्रवृत्ति से कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य की उत्पत्ति को योग कहते हैं। अथवा आत्मा के प्रदेशों के संकोच और विस्तार रूप होने को योग कहते हैं। (प्रा. पं. १/५५)

वेद—जो वेदा जावे अथवा अनुभव किया जावे वह वेद है ।[३]

शङ्का—वेद का इस प्रकार लक्षण करके आठ कर्मों के उदय को भी वेद संज्ञा प्राप्त हो जाएगी, क्योंकि वेदन की अपेक्षा वेद और आठकर्म दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार वेद वेदनरूप है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय भी वेदनरूप है।

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि सामान्यरूप से की गई कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषों में पाई जाती है। इसलिए विशेष का ज्ञान हो जाता है। अथवा रौढ़िक शब्द की व्युत्पत्ति रूढ़ि के अधीन होती है। अतः वेद शब्द पुरुषवेदादि में रूढ़ होने के कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाए इस व्युत्पत्ति से वेद का ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठकर्मों के उदय का नहीं। अथवा आत्मप्रवृत्ति में मैथुनरूप सम्मोह को उत्पन्न करने वाला वेद है ।[४]

कषाय—सुख, दुःखरूपी नाना प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी क्षेत्र का जो कर्षण करती है अर्थात् फल उत्पन्न करने के योग्य करती है, वह कषाय है ।[५]

शङ्का—यहाँ पर कषाय शब्द की "कषन्तीति कषायाः" अर्थात् जो कसे वह कषाय है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति क्यों नहीं की ?

समाधान—'जो कषे वह कषाय है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति करने पर कषने वाले किसी भी पदार्थ को कषाय माना जाएगा। अतः कषाय के स्वरूप को समझने में संशय उत्पन्न हो सकता है, इसीलिए जो कषे वह कषाय है इस प्रकार की व्युत्पत्ति नहीं की गई तथा इस व्युत्पत्ति से कषाय के समझने में कठिनता आ जाएगी, इस भीति से भी 'जो कषे, वह कषाय है' कषाय शब्द की इस प्रकार की व्युत्पत्ति नहीं की गई।

ज्ञान—सत्यार्थ का प्रकाश करने वाला, सो ज्ञान है ।[६]

शङ्का—मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भूतार्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

---

१. 'युज्यत इति योगः' (ध.पु. १ पृ. १३९)। २. ध.पु. १ पृ. २३९-२४०। ३. "वेद्यत इति वेदः" (ध. पु. १ पृ. १४०-४१)। ४. "अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः" (मूलाचार पर्याप्ति अधिकार गा. १५६ टीका, पृ. २७६; ध. पु. १ पृ. १४१। ५. "सुखदुःखरूपबहुशस्यकर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः।" (ध. पु. १ पृ. १४१)। ६. "भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्" (मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२, गा. १५६ टीका पृ. २७७; ध. पु. १ पृ. १४२।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियों के प्रकाश में समानता पाई जाती है।

शङ्का—यदि दोनों के प्रकाश में समानता है तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मोदय से वस्तु के प्रतिभासित होने पर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की निवृत्ति नहीं होने से मिथ्यादृष्टियों को अज्ञानी कहा है।

शङ्का—ऐसा होने पर तो दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञान का अभाव प्राप्त हो जाएगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञानोपयोग का अभाव इष्ट ही है।

शङ्का—यदि ऐसा मान लिया जाए तो इस कथन का कालानुयोग में आये हुए **'एग-जीवं पडुच्च अणादिओ अपज्जवसिदो'** इत्यादि सूत्र के साथ विरोध क्यों नहीं प्राप्त होगा ? अर्थात् एक जीव की अपेक्षा मत्यज्ञान व श्रुताज्ञान का काल अनादि-अनन्त है, इस सूत्र से विरोध क्यों नहीं आएगा ?[1]

समाधान—ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि कालानुगम में जो ज्ञान की अपेक्षा कथन किया है वहाँ क्षयोपशम की प्रधानता है।

शङ्का—मिथ्याज्ञान सत्यार्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा में पाये जाने वाले द्वित्व का दूसरे पदार्थों में सत्त्व पाया जाता है। इसलिए उस ज्ञान में भूतार्थता बन जाती है।[2]

अथवा सद्भाव का निश्चय करने वाला ज्ञान है।[3] इससे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय अवस्था में ज्ञान का अभाव प्रतिपादित हो जाता है, क्योंकि शुद्धनय की विवक्षा में तत्त्वार्थ का उपलम्भ करने वाला ज्ञान है। इससे यह सिद्ध हो गया कि मिथ्यादृष्टि ज्ञानी नहीं है। जिसके द्वारा द्रव्य, गुण व पर्यायों को जानते हैं, वह ज्ञान है।[4]

शङ्का—ज्ञान तो आत्मा से अभिन्न है, इसलिए वह पदार्थों को जानने के प्रति साधकतम कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि साधकतम कारण स्वरूप ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्मा के स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है और कथंचित् भेदरूप ज्ञान को जाननक्रिया के प्रति साधकतम कारण मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

---

१. ध. पु. १ पृ. १४२। २. ध. पु. १ पृ. १४३। ३. "अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्" (ध. पु. १ पृ. १४३)। ४. "द्रव्यगुणपर्यायानेन जानातीति ज्ञानम्।" (ध. पु. १ पृ. १४३)।

संयम—संयमन करने को संयम कहते हैं।[१] संयम का इस प्रकार लक्षण करने पर भावचारित्र-शून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता, क्योंकि 'सं' शब्द से उसका निराकरण हो जाता है।

शङ्का—यहाँ पर यम शब्द से समितियों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि समितियों के नहीं होने पर संयम नहीं बन सकता ?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि संयम में दिये गये 'सं' शब्द से सम्पूर्ण समितियों का ग्रहण हो जाता है।[२]

दर्शन—जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है।[३] इससे चक्षु इन्द्रिय और आलोक के साथ अतिप्रसङ्ग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। (चक्षु से यहाँ द्रव्य चक्षु से प्रयोजन है।)

शङ्का—जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है। इस प्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रहती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुख चित्प्रकाश दर्शन है और बहिर्मुख चित्प्रकाश ज्ञान है, इसलिए इन दोनों के एक होने में विरोध आता है।

शङ्का—वह चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान—त्रिकाल विषयक अनन्त पर्यायरूप जीव के स्वरूप का अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार जो संवेदन होता है, वह चैतन्य है।[४] अतः सामान्य-विशेषात्मक बाह्यपदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान और सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है।[५]

अथवा आलोकनवृत्ति दर्शन है। इसका अभिप्राय यह है—जो अवलोकन करता है वह आलोकन या आत्मा है। वर्तन (व्यापार) वृत्ति है। आलोकन (आत्मा) की वृत्ति 'आलोकन वृत्ति' है। वह स्वसंवेदन है, उसी को दर्शन कहते हैं।[६] अथवा प्रकाशवृत्ति दर्शन है। इसका अभिप्राय—प्रकाश ज्ञान है। उसके लिए आत्मा की वृत्ति 'प्रकाशवृत्ति' है वही दर्शन है।[७] अथवा विषय और विषयी के संपात से पूर्व अवस्था दर्शन है।[८]

लेश्या—जो लिम्पन करती है वह लेश्या है। भूमिलेपिका के साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि "कर्मों से आत्मा को" इतने अध्याहार की अपेक्षा है।[९] अर्थात् जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है वह लेश्या है।[१०] अथवा कषाय से अनुरंजित मन-वचन-कायरूप योग की प्रवृत्ति

---

१. संयमनं संयमः (ध. पु. १ पृ. १४४)। २. ध. पु. १ पृ. १४४। ३. "दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्" (ध. पु. १ पृ. १४५)। ४. ध. पु. १ पृ. १४५। ५. "ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धं" (ध. पु. १ पृ. १४७)। ६. "आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः; आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।" [ध. पु. १ पृ. १४८-१४९]। ७. प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका प्रकाशो ज्ञानम् तदर्थमात्मनोवृत्तिः प्रकाशवृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्।" (ध. पु. १ पृ. १४९)। ८. "विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः" (ध. पु. १ पृ. १४९)। ९. लिम्पतीति लेश्या। न भूमिलेपिकयाऽतिव्याप्तिदोषः कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्" (ध. पु. १ पृ. १४९)। १०. ध. पु. ७ पृ. ७ व पु. ८ पृ. ३५६।

लेश्या है।[1] इससे वीतरागियों के केवलयोग को लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है। कषाय तो योगप्रवृत्ति का विशेषण है, अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती।[2] आत्मा और प्रवृत्ति (कर्मों) का संश्लेष सम्बन्ध करने वाली लेश्या है।[3]

भव्य—जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है, वह भव्य है और इससे विपरीत अभव्य है।[4]

सम्यक्त्व—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति सम्यक्त्व का लक्षण है।[5]

शंका—इसप्रकार सम्यक्त्व का लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव हो जाएगा?

समाधान—आपका कथन शुद्धनय का आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है।

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है।[6] अथवा तत्त्वरुचि सो सम्यग्दर्शन है।[7]

संज्ञी—जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश, आलाप को ग्रहण करता है, वह संज्ञी है; उससे विपरीत असंज्ञी है।[8]

आहार—औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड को ग्रहण करना आहार है, उससे विपरीत अनाहार है।[9]

सान्तर मार्गणाओं के भेद, सान्तरमार्गणाओं के उत्कृष्ट व जघन्यकाल का प्रमाण एवं विरहकाल का कथन

[10]**उवसम सुहुमाहारे, वेगुव्वियमिस्स-णर-अपज्जत्ते।**
सासणसम्मे मिस्से, सांतरगा मग्गणा अट्ठ ॥१४३॥
सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्तं च बारसमुहुत्ता।
पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एगसमयो दु ॥१४४॥

---

१. अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या" (ध. पु. १ पृ. १४६); पञ्चास्तिकाय गा. ११६ टीका; ध. पु. १६ पृ. ४८५ व ४८८; स. सि. अ. २ सू. ६। २. ध. पु. १ पृ. १५०। ३. "आत्म-प्रवृत्तिसंश्लेषकरि लेश्या।" [मूलाचार पृ. २७७ व ध. पु. १ पृ. १४६]। ४. "निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः तद्विपरीतोऽभव्यः।" [मूलाचार अ. १२ गा. १५६ टीका पृ. २७७ व ध. पु. १ पृ. १५०-५१] ५. "प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वं" [ध. पु. १ पृ. १५१, मूलाचार अ. १२ पृ. २७७]। ६. "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" [ध. पु. १ पृ. १५१; त. सू. अ. १ सू. २]। ७. "अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम्"[ध. पु. १ पृ. १५१; मूलाचार अ. १२ गा. १५६ टीका पृ. २७७]। ८. "शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राहिकः संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी।" [मूलाचार प. अ. १२, गा. १५६ टीका पृ. २७७; ध. पु. १ पृ. १५२]। ९. "शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः तद्विपरीतोऽनाहारी" [मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा. १५६ टीका; पृ. २७७; ध. पु. १ पृ. १५२-५३]। १०. मणुया य अपज्जत्ता वेउव्वियमिस्सहारया दोण्णि। सुहुमो सासणमिस्सो उवसमसम्मो य संतरा अट्ठ ॥५८॥

[1]पढमुवसमसहिदाए, विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा।
विरदीए पण्णरसा, विरहिदकालो दु बोद्धव्वो ॥१४५॥

गाथार्थ - उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्मसाम्पराय, आहारकयोग, आहारकमिश्रयोग, वैक्रियिक-मिश्रयोग, मनुष्य अपर्याप्त, सासादनसम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व ये आठ अन्तरमार्गणा हैं ॥१४३॥ इनका उत्कृष्ट विरहकाल क्रमशः सातदिन, छहमाह, वर्षपृथक्त्व, वर्षपृथक्त्व, बारहमुहूर्त और अन्तिम तीनमार्गणाओं का विरहकाल पल्य के असंख्यातवेंभाग; प्रथमोपशम सम्यक्त्वसहित विरताविरत-पंचम गुणस्थान का चौदह दिन और सकलसंयम का पन्द्रह दिन है। इन सबका जघन्य अन्तरकाल एकसमय है ॥१४४-१४५॥

विशेषार्थ—अन्तर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तरगमन, नास्तित्वगमन और अन्यभावव्यवधान ये सब एकार्थवाची नाम हैं।[2] 'रात्रिंदिव' यह दिवस का नाम है, क्योंकि सम्मिलित दिन व रात्रि से दिवस का व्यवहार देखा जाता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व का नानाजीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर सात दिवस मात्र होता है।[3] यदि कोई भी जीव प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि न हो तो उसका उत्कृष्ट विरहकाल सातदिवस मात्र है और जघन्य अन्तर एकसमय है।

आहारककाययोगी और आहारकमिश्रकाययोगी जीवों का अन्तर जघन्य से एकसमय होता है, क्योंकि एक समय तक आहारक और आहारकमिश्रकाययोगियों के बिना तीनों लोकों के जीव पाये जाते हैं, उत्कर्ष से अन्तर वर्षपृथक्त्व प्रमाण है, क्योंकि आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग के बिना समस्त प्रमत्तसंयतों का वर्षपृथक्त्व काल तक अवस्थान देखा जाता है।[4] आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग प्रमत्तसंयत-छठे गुणस्थान में ही होता है।

वैक्रियिकमिश्रकाययोगियों का अन्तर जघन्य से एकसमय होता है, क्योंकि सब वैक्रियिक-मिश्रकाययोगियों के पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेने पर एकसमय का अन्तर होकर द्वितीयसमय में देवों या नारकियों के उत्पन्न होने पर वैक्रियिकमिश्रकाययोगियों का अन्तर एकसमय होता है। वैक्रियिकमिश्र-काययोगियों का अन्तर उत्कर्ष से बारहमुहूर्त है, क्योंकि देव अथवा नारकियों में न उत्पन्न होने वाले जीव यदि बहुत अधिक काल तक रहते हैं तो बारह मुहूर्त तक ही रहते हैं।[5] अर्थात् देवों अथवा नारकियों में अधिक से अधिक बारहमुहूर्त तक कोई भी जीव उत्पन्न न हो, ऐसा सम्भव है।

मनुष्य अपर्याप्त अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों का अन्तर जघन्य से एकसमय है, क्योंकि जगत्श्रेणी के असंख्यातवेंभाग मनुष्य अपर्याप्तकों के मरकर अन्यगति को प्राप्त होने पर एकसमय अन्तर होकर द्वितीय समय में अन्य जीवों के मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होने पर एक समय अन्तर प्राप्त होता है। मनुष्य अपर्याप्तकों का अन्तर उत्कर्ष से पल्योपम का असंख्यातवाँभाग मात्र है, क्योंकि मनुष्य अपर्याप्तकों के मरकर अन्यगति को प्राप्त होने के पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग

---

१. सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति । विरदेसु य पण्णरसं विरहिय कालो य बोद्धव्वो ॥२०५॥ (प्रा. पं. सं. जीवसमास अधिकार)। २. "अन्तरमुच्छेदो विरहो परिणामांतरगमणं णत्थित्तगमणं अण्णभावव्व-हाणमिदि एयट्ठो" (ध. पु. ५ पृ. ३)। ३. ध. पु. ७ पृ. ४९२ सूत्र ५८–५९। ४. ध. पु. ७ पृ. ४८५-४८६ सूत्र २७-२८-२९। ५. ध. पु. ७ पृ. ४८५ सूत्र २४–२५–२६।

मात्र काल के बीत जाने पर पुनः नियम से मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होने वाले जीव पाये जाते हैं।[1]

सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तर जघन्य से एकसमय है, क्योंकि सासादनसम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों के जघन्य से एकसमय अन्तर के प्रति कोई विरोध नहीं है। उत्कर्ष से यह अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण है,[2] यद्यपि सम्यग्मिथ्यादृष्टियों के अस्तित्व का उत्कृष्टकाल भी पल्योपम के असंख्यातवेंभाग मात्र है, तथापि उससे उनका विरहकाल असंख्यातगुणा होते हुए भी पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है, क्योंकि पल्योपम का असंख्यातवाँभाग अनेकप्रकार का है।[3]

प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टियों में विरताविरति (संयतासंयत) नामक पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीवों का उत्कृष्ट अन्तर चौदह दिवस है और विरति अर्थात् संयतों का उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह दिवस है। कहा भी है—

सम्मत्ते सत्तदिणा विरदाविरदीए चौद्दस हवंति।
विरदीसु अ पण्णरसा विरहिद कालो मुणेयव्वो ॥१॥[4]

उपशमसम्यक्त्व में सात दिन, उपशमसम्यक्त्वसहित विरताविरति अर्थात् देशव्रत में चौदह दिन और विरति अर्थात् प्रमत्त-अप्रमत्त महाविरतियों में पन्द्रह दिन प्रमाण जानना चाहिए।

उपशमसम्यग्दृष्टि संयतासंयत का नाना जीवापेक्षा जघन्य अन्तर एकसमय और उत्कृष्ट अन्तर चौदह रात-दिन है।[5] उपशमसम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयतों व अप्रमत्तसंयतों का जघन्य अन्तरकाल एकसमय मात्र है और उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह रात-दिन है।[6]

इन गाथाओं द्वारा यह भी ज्ञात हो जाता है कि शेष मार्गणाओं का अन्तर नहीं है, वे निरन्तर हैं। यद्यपि 'अन्तर नहीं है' और 'निरन्तर' ये दोनों शब्द अन्तर के अभाव के द्योतक हैं तथापि 'अन्तर नहीं है' यह शब्द अभाव प्रधान है इसलिए यह प्रसज्यप्रतिषेध सम्बन्ध है। 'निरन्तर है' यह शब्द अन्तर के अभाव के साथ-साथ उनके अस्तित्व को भी सिद्ध करता है अतः यह पर्युदास प्रतिषेध है।[7]

६. गति-मार्गणाधिकार

गतिमार्गणा के अन्तर्गत गति शब्द का निरुक्ति अर्थ एवं गति के भेद

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चदुधा ॥१४६॥

---

१. ध. पु. ७ पृ. ४८१ सूत्र ८-९-१०। २. ध. पु. ७ पृ. ४६२-६३ सूत्र ६०-६१-६२। ३. ध. पु. १५ पृ. ७४। ४. ध. पु. ७ पृ. ४६२। ५. ध. पु. ५ पृ. १६६ सूत्र ३६०-६१। ६. ध. पु. ५ पृ. १६७ सूत्र ३६४-६५। ७. ध. पु. ७ पृ. ४७६।

[1]पढमुवसमसहिदाए, विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा।
विरदीए पण्णरसा, विरहिदकालो दु बोद्धव्वो ॥१४५॥

गाथार्थ - उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्मसाम्पराय, आहारकयोग, आहारकमिश्रयोग, वैक्रियिक-मिश्रयोग, मनुष्य अपर्याप्त, सासादनसम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व ये आठ अन्तरमार्गणा हैं ॥१४३॥ इनका उत्कृष्ट विरहकाल क्रमशः सातदिन, छहमाह, वर्षपृथक्त्व, वर्षपृथक्त्व, बारहमुहूर्त और अन्तिम तीनमार्गणाओं का विरहकाल पल्य के असंख्यातवेंभाग; प्रथमोपशम सम्यक्त्वसहित विरताविरत-पंचम गुणस्थान का चौदह दिन और सकलसंयम का पन्द्रह दिन है। इन सबका जघन्य अन्तरकाल एकसमय है ॥१४४-१४५॥

विशेषार्थ—अन्तर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तरगमन, नास्तित्वगमन और अन्यभावव्यवधान ये सब एकार्थवाची नाम हैं।[2] 'रात्रिंदिव' यह दिवस का नाम है, क्योंकि सम्मिलित दिन व रात्रि से दिवस का व्यवहार देखा जाता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व का नानाजीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर सात दिवस मात्र होता है।[3] यदि कोई भी जीव प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि न हो तो उसका उत्कृष्ट विरहकाल सातदिवस मात्र है और जघन्य अन्तर एकसमय है।

आहारककाययोगी और आहारकमिश्रकाययोगी जीवों का अन्तर जघन्य से एकसमय होता है, क्योंकि एक समय तक आहारक और आहारकमिश्रकाययोगियों के बिना तीनों लोकों के जीव पाये जाते हैं, उत्कर्ष से अन्तर वर्षपृथक्त्व प्रमाण है, क्योंकि आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग के बिना समस्त प्रमत्तसंयतों का वर्षपृथक्त्व काल तक अवस्थान देखा जाता है।[4] आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग प्रमत्तसंयत-छटे गुणस्थान में ही होता है।

वैक्रियिकमिश्रकाययोगियों का अन्तर जघन्य से एकसमय होता है, क्योंकि सब वैक्रियिक-मिश्रकाययोगियों के पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेने पर एकसमय का अन्तर होकर द्वितीयसमय में देवों या नारकियों के उत्पन्न होने पर वैक्रियिकमिश्रकाययोगियों का अन्तर एकसमय होता है। वैक्रियिकमिश्र-काययोगियों का अन्तर उत्कर्ष से बारहमुहूर्त है, क्योंकि देव अथवा नारकियों में न उत्पन्न होने वाले जीव यदि बहुत अधिक काल तक रहते हैं तो बारह मुहूर्त तक ही रहते हैं।[5] अर्थात् देवों अथवा नारकियों में अधिक से अधिक बारहमुहूर्त तक कोई भी जीव उत्पन्न न हो, ऐसा सम्भव है।

मनुष्य अपर्याप्त अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों का अन्तर जघन्य से एकसमय है, क्योंकि जगत्श्रेणी के असंख्यातवेंभाग मनुष्य अपर्याप्तकों के मरकर अन्यगति को प्राप्त होने पर एकसमय अन्तर होकर द्वितीय समय में अन्य जीवों के मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होने पर एक समय अन्तर प्राप्त होता है। मनुष्य अपर्याप्तकों का अन्तर उत्कर्ष से पल्योपम का असंख्यातवाँभाग मात्र है, क्योंकि मनुष्य अपर्याप्तकों के मरकर अन्यगति को प्राप्त होने के पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग

---

१. सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति। विरदेसु य पण्णरसं विरहिय कालो य बोहव्वो ॥२०५॥ (प्रा. पं. सं. जीवसमास अधिकार)। २. "अन्तरमुच्छेदो विरहो परिणामांतरगमणं णत्थित्तगमणं अण्णभावव्वहाणमिदि एयट्ठो" (ध. पु. ५ पृ. ३)। ३. ध. पु. ७ पृ. ४६२ सूत्र ५८-५९। ४. ध. पु. ७ पृ. ४८५-४८६ सूत्र २७-२८-२९। ५. ध. पु. ७ पृ. ४८५ सूत्र २४-२५-२६।

मात्र काल के बीत जाने पर पुनः नियम से मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होने वाले जीव पाये जाते हैं।[1]

सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तर जघन्य से एकसमय है, क्योंकि सासादनसम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों के जघन्य से एकसमय अन्तर के प्रति कोई विरोध नहीं है। उत्कर्ष से यह अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण है,[2] यद्यपि सम्यग्मिथ्यादृष्टियों के अस्तित्व का उत्कृष्टकाल भी पल्योपम के असंख्यातवेंभाग मात्र है, तथापि उससे उनका विरहकाल असंख्यातगुणा होते हुए भी पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है, क्योंकि पल्योपम का असंख्यातवाँभाग अनेकप्रकार का है।[3]

प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टियों में विरताविरति (संयतासंयत) नामक पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीवों का उत्कृष्ट अन्तर चौदह दिवस है और विरति अर्थात् संयतों का उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह दिवस है। कहा भी है—

सम्मत्ते सत्तदिणा विरदाविरदीए चोद्दस हवंति।
विरदीसु अ पण्णरसा विरहिद कालो मुणेयव्वो ॥१॥[4]

उपशमसम्यक्त्व में सात दिन, उपशमसम्यक्त्वसहित विरताविरति अर्थात् देशव्रत में चौदह दिन और विरति अर्थात् प्रमत्त-अप्रमत्त महाविरतियों में पन्द्रह दिन प्रमाण जानना चाहिए।

उपशमसम्यग्दृष्टि संयतासंयत का नाना जीवापेक्षा जघन्य अन्तर एकसमय और उत्कृष्ट अन्तर चौदह रात-दिन है।[5] उपशमसम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयतों व अप्रमत्तसंयतों का जघन्य अन्तरकाल एकसमय मात्र है और उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह रात-दिन है।[6]

इन गाथाओं द्वारा यह भी ज्ञात हो जाता है कि शेष मार्गणाओं का अन्तर नहीं है, वे निरन्तर हैं। यद्यपि 'अन्तर नहीं है' और 'निरन्तर' ये दोनों शब्द अन्तर के अभाव के द्योतक हैं तथापि 'अन्तर नहीं है' यह शब्द अभाव प्रधान है इसलिए यह प्रसज्यप्रतिषेध सम्बन्ध है। 'निरन्तर है' यह शब्द अन्तर के अभाव के साथ-साथ उनके अस्तित्व को भी सिद्ध करता है अतः यह पर्युदास प्रतिषेध है।[7]

६. गति-मार्गणाधिकार

गतिमार्गणा के अन्तर्गत गति शब्द का निरुक्ति अर्थ एवं गति के भेद

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चदुधा ॥१४६॥

---

१. ध. पु. ७ पृ. ४८१ सूत्र ८-९-१०। २. ध. पु. ७ पृ. ४९२-९३ सूत्र ६०-६१-६२। ३. ध. पु. १५ पृ. ७४। ४. ध. पु. ७ पृ. ४९२। ५. ध. पु. ५ पृ. १६६ सूत्र ३६०-६१। ६. ध. पु. ५ पृ. १६७ सूत्र ३६४-६५। ७. ध. पु. ७ पृ. ४७९।

गाथार्थ—गति कर्मोदय जनित पर्याय 'गति' है अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इस प्रकार वह गति चार प्रकार की है ।।१४६।।

विशेषार्थ—जहाँ को गमन किया जाय वह गति है।[1]

शङ्का—गति का इस प्रकार निरुक्ति अर्थ करने पर तो ग्राम, नगर, खेट, कर्वट आदि स्थानों को भी गति मानने का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं आता, क्योंकि रूढ़ि के बल से गति नामकर्म द्वारा जो पर्याय निष्पन्न की जाती है उसमें गति शब्द का प्रयोग किया जाता है। गति नामकर्म के उदयाभाव के कारण सिद्धगति अगति कहलाती है।

अथवा एक भव से दूसरे भव में संक्रान्ति गति है[2] और सिद्धगति असंक्रान्ति रूप है। कहा भी है—

[3]गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होइ ।।८४।।

गति कर्म से जो चेष्टा विनिवृत्त की जाती है उसको गति जानना चाहिए अथवा जिसके निमित्त से चतुर्गति में जाते हैं, वह गति है।

नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति के भेद से वह गति चार प्रकार की है।[4]

नरकगति का स्वरूप

[5]ण रमंति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य काल-भावे य।
अण्णोण्णेहिं य जह्मा, तह्मा ते णारया भणिया ।।१४७।।

गाथार्थ—जिस कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो स्वयं तथा परस्पर में कभी प्रीतिभाव को प्राप्त नहीं होते इसलिए वे नारत (नारक) कहे जाते हैं ।।१४७।।

विशेषार्थ—**द्रव्य**—खाद्य व पेय पदार्थ। **क्षेत्र**—बिल आदि स्थान। **काल**—ऋतु आदि काल। **भाव**—संक्लेशरूप भाव। जो इनमें तथा एक दूसरे में रत नहीं हैं, जो हिंसादिक असमीचीन कार्यों में व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं और उनकी गति को निरतगति कहते हैं। अथवा जो नर अर्थात् प्राणियों को काता (पीड़ा) देता है, पीसता है वह नरक है। नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है वे नारक हैं और उनकी गति नारकगति है। अथवा जिस गति का उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मों के उदय का सहकारी कारण है वह नरकगति है। जो परस्पर में प्रीति नहीं रखते हैं वे नरत हैं और उनकी गति नरतगति है।[6]

---

१. "गम्यत इति गतिः" (ध. पु. ७ पृ. ६; मूलाचार अ. १२ पृ. २७६)। २. "अथवा भवाद् भवसंक्रांतिर्गतिः" (ध. पु. ७ पृ. ६ मूलाचार पर्याप्ति अधिकार गा. १५६ टीका पृ. २७६)। ३. ध. पु. १ पृ. १३५; प्रा. पं. सं. गा. ६० पृ. ५७६। ४. "सा चतुर्विधा नरकगतितिर्यग्गतिमनुष्यगतिदेवगतिभेदेन।" (मूलाचार अ. १२ गा. १५६ की टीका)। ५. ध.पु. १ पृ. १०२; प्रा.पं. सं (ज्ञानपीठ) अ. १ गा. ६० पृ. १३। ६. ध. पु. १ पृ. २०३।

नैगमादि नयापेक्षा नारकी जीवों का कथन करते हुए कहा भी है—

"किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते हुए देखकर **नैगमनय** से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है ॥१॥ [जब वह मनुष्य प्राणिवध का विचार कर सामग्री का संग्रह करता है तब वह **संग्रहनय** से नारकी है।] **व्यवहारनय** का वचन इस प्रकार है–जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष व बाण लिये मृगों की खोज में भटकता फिरता है तब वह नारकी कहलाता है। **ऋजुसूत्रनय** का कथन इसप्रकार है—जब आखेट स्थान पर बैठकर वह पापी मृगों पर आघात करता है तब वह नारकी कहलाता है। **शब्दनय** कहता है कि—जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाता है तभी वह आघात करने वाला हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य नारकी है। **समभिरूढ़नय** का वचन इसप्रकार है—जब मनुष्य नारक कर्म (नरकायु) का बंधक होकर नारककर्म से संयुक्त हो जावे तभी वह नारकी कहा जावे। जब वह मनुष्य नरकगति में पहुँचकर नरक के दुःख अनुभव करता है तब वह **एवंभूतनय** से नारकी है ॥२-६॥"[1]

अधोलोक में नीचे-नीचे सात पृथिवियाँ हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा। इन सातों पृथिवियों में प्रथम आदि सात नरक हैं जिनके नाम क्रम से घर्मा, वंशा, शैला (मेघा), अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी हैं। उन नरकों में ८४,००,००० बिल हैं जो नारकियों के निवासस्थान हैं। उन नरकों में क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सतरह, बाईस और तेंतीस सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। जघन्य आयु प्रथम नरक में दस हजार वर्ष है, आगे द्वितीय आदि नरकों में पूर्व नरक की एक समय अधिक उत्कृष्ट आयु को उत्तर नरक की जघन्य आयु समझना चाहिए। प्रथम पृथ्वी के नारकी दुर्गन्धयुक्त अपवित्र, अल्प मात्रा में प्राप्त मिट्टी को शीघ्र ही खा जाते हैं। इससे असंख्यातगुणा अशुभ आहार क्रमसे द्वितीय आदि पृथिवियों में जानना चाहिए।

प्रथम नरक में अवधिज्ञान का क्षेत्र एक योजन प्रमाण है। आगे आधे-आधे कोस की हानि होकर सप्तम नरक में वह एक कोस मात्र क्षेत्र रह जाता है। प्रथम आदि चार नरकों में और पाँचवें अरिष्टा नामक नरक के दो तिहाई अर्थात् दो लाख बिलों में उष्णता की वेदना होती है। पाँचवीं पृथिवी के शेष एक लाख बिलों में तथा छठे-सातवें नरक के (१००००० + ९९९९५ + ५) दो लाख बिलों में अति शीतवेदना होती है।

प्रथम दो नरकों में कापोतलेश्या, तीसरे-चौथे नरक में नील व कृष्णलेश्या, छठे नरक में दुःकृष्ण लेश्या और सातवें में महाकृष्ण लेश्या है। प्रथम घर्मा नरक में उत्पन्न हुए नारकी पीड़ित होकर जन्मस्थान से ५०० धनुष प्रमाण ऊपर उछलते हैं तथा शेष नरकों में वे क्रमशः दूने-दूने ऊपर उछलते हैं। उन नरकों में जीवों को घोर, तीव्र, महाकष्टभीम, भीष्म, भयानक, दारुण, विपुल, उग्र और तीक्ष्ण दुःख प्राप्त होता है।[2]

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा[3] में नरकों के दुःखों का वर्णन इस प्रकार है—

"नरकायु पाप कर्मोदय से जीव नरकों में उत्पन्न होता है और पाँच प्रकार के अनेक दुःखों

१. गा. १ से ६ तक, ध. पु. ७ पृ. २८-२९। २. लोकविभाग का ८वाँ विभाग। ३. गाथा ३४ से ३९।

को सहन करता है। अन्यगति के दुःखों से भी नरकगति के दुःख अधिक हैं। असुरोदीरित दुःख, शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख, क्षेत्रजनित दुःख, परस्परोदीरितदुःख ये पाँच प्रकार के दुःख हैं। नरकों में अशुभ अपृथक् विक्रिया होती है। नारकी बाण आदि आयुधों की तथा वज्राग्नि आदि की अपने से अपृथक् विक्रिया करते हैं। वे नारकी अग्नि, वायु, शिला, वृक्ष, क्षारजल और विष आदि के स्वरूप को प्राप्त होकर एक दूसरे को भयानक कष्ट पहुँचाते हैं। वे नारकी व्याघ्र, गिद्ध, चील, काक, चक्रवाक, भेड़िया और कुत्ता इत्यादि हिंसक जीव रूप विक्रिया करके परस्पर दुःख देते हैं। नारकी वध, बन्धन आदि बाधाओं से तिल-तिल बराबर छेदन करने से ताड़न, भक्षण आदि द्वारा दूसरे नारकी को सताकर सन्तुष्ट होते हैं। नरक भूमि तपे हुए लोहे के समान स्पर्श युक्त, छुरा के समान तीक्ष्ण बालू से संयुक्त, सुई के समान नुकीले तृणों से व्याप्त होती है जिसके स्पर्शमात्र से हजारों बिच्छुओं के काटने की वेदना से भी अत्यन्त दुःसह वेदना होती है। नरकों में चारों ओर ज्वालाओं एवं विस्फुलिंगों से व्याप्त अंगवाली लोहे सदृश प्रतिमाएँ, छुरी व बाण आदि के समान तीक्ष्ण पत्तों वाले असिपत्र वन, सैकड़ों गुफाओं एवं यंत्रों से उत्कट ऐसे भयानक वेतालगिरि, अचिन्त्य कूट शाल्मलि, वैतरणी नदियाँ तथा उलूकों के खून से दुर्गन्धित एवं करोड़ों कीड़ों के समूह से व्याप्त ऐसे तालाब हैं जो कातर नारकियों के लिए दुस्तर हैं। अग्नि से भयभीत होकर दौड़ते हुए वे नारकी वैतरणी नदी पर जाते हैं और शीतलजल समझकर उसके खारे जल में जा गिरते हैं। उस खारे जल से शरीर में दाहजनित पीड़ा का अनुभव करने वाले वे नारकी वेग से उठकर छाया की अभिलाषा से असिपत्र वन में प्रविष्ट होते हैं, वहाँ पर भी वे गिरने वाले असिपत्रों के द्वारा छेदे जाते हैं। असिपत्रों के द्वारा उन नारकियों के पैर, भुजाएँ, कन्धे, कान, होंठ, नाक, सिर आदि छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। नरकों में शीत व उष्ण की वेदना असह्य होती है। वहाँ की पृथ्वी दुःसह दुःखों को देने वाली है। नरकों में क्षुधा, तृषा और भय के कष्ट का वेदन निरन्तर हुआ करता है। नरकों में उबलते (खौलते) हुए जल से परिपूर्ण कडाहे, जलते हुए विचित्र सूल और बहुत सी भट्टियाँ ऐसे बहुत से यातना के साधन स्वभाव से भी प्राप्त होते हैं और विक्रिया द्वारा भी बनाये जाते हैं।

"प्रथम तीन नरकों में कुमार्गगत चारित्रवाले अर्थात् दुष्ट आचरण करने वाले असुरकुमार देव भी उन नारकियों को अत्यन्त बाधा पहुँचाते हैं, उन नारकियों को परस्पर में लड़ाकर आनन्द को प्राप्त होते हैं। नारकी जीवों को इष्ट वस्तुओं का लाभ न होने से अनिष्ट वस्तुओं का संयोग होने से तथा अपमान व भय के कारण महान् मानसिक दुःख होता है। नारकी जीवों के शरीर के तिल प्रमाण खण्ड हो जाने पर भी वे मरण को प्राप्त नहीं होते। उनका अकालमरण नहीं होता। उनके शरीर के खण्ड पारे के समान बिखर कर पुनः जुड़ जाते हैं।[1] नारकियों के शरीर में अनेक प्रकार के रोग निरन्तर रहते हैं। अन्य भव में जो स्वजन था नरक में वह भी कुपित होकर दुःख देता है। नरकों के एक समय के दुःख भी हजारों जिह्वाओं द्वारा कहे नहीं जा सकते।"

जो मद्य पीते हैं, मांसभक्षण करते हैं, जीवों का घात करते हैं, शिकार करके हर्ष मानते हैं, मोह-लोभ व क्रोध आदि के कारण असत्य वचन बोलते हैं, काम से उन्मत्त परस्त्री में आसक्त, रात-दिन मैथुन सेवन करने वाले, दूसरों को ठगने वाले, परधन हरने वाले, चोरी करने वाले पापा-

---

१. लोकविभाग अष्टम विभाग।

चारी जीव नरक में उत्पन्न होते हैं।[1] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले जीव नरकायु बांधते हैं[2] और मरकर नरकों में उत्पन्न होते हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है।[3]

नारकी जीव असंख्यात हैं जो असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण है। प्रथम नरक में सबसे अधिक नारकी हैं और द्वितीयादि नरकों में प्रथम नरक के असंख्यातवें भाग नारकी हैं।[4] एक जीव की अपेक्षा कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक नरकगति नारकी जीव का अन्तर होता है, क्योंकि नरक से निकलकर गर्भोपक्रान्तिक तिर्यंच अथवा मनुष्यों में उत्पन्न होकर सबसे कम आयु के भीतर नरकायु बांधकर मरकर पुनः नरक में उत्पन्न होने वाले जीव के नरकगति से अन्तर्मुहूर्त अन्तर पाया जाता है। अधिक से अधिक असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्तकाल तक नरकगति में नारकी जीव का अन्तर होता है, क्योंकि नरक से निकलकर अविवक्षित गतियों में व एकेन्द्रियों में आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण पुद्गलपरिवर्तन काल तक परिभ्रमण करके पुनः नरक में उत्पन्न होने पर यह अन्तरकाल पाया जाता है।[5]

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में नारकी होते हैं।[6] सासादनगुणस्थान के साथ नरक में उत्पत्ति का विरोध है।[7] सम्यग्दृष्टि (क्षायिक या कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि) मरकर प्रथम पृथ्वी (नरक) में उत्पन्न होते हैं, किन्तु द्वितीयादि पृथिवियों (नरकों) में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते।[8]

प्रथम नरक तक असंज्ञी, द्वितीय नरक तक सरीसृप, तीसरे नरक तक पक्षी, चौथे नरक तक भुजंगादि, पांचवें नरक तक सिंह, छठे नरक तक स्त्री, सातवें नरक तक मत्स्य एवं मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

नरक से निकले हुए जीव गर्भज, कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्त मनुष्य या तिर्यंचों में ही जन्म लेते हैं, किन्तु सातवें नरक से मिथ्यात्व सहित ही निकलता है और तिर्यंचों में उत्पन्न होता है। नरक से निकलकर जीव नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती नहीं होते, किन्तु प्रथम-द्वितीय व तृतीय नरक से निकलकर तीर्थंकर हो सकता है। चतुर्थ नरक से निकलकर चरमशरीरी, पांचवें से निकलकर संयमी, छठे नरक से निकलकर देशव्रती, सातवें से निकलकर बिरले ही सम्यक्त्व को धारण करते हैं। प्रथमादि तीन नरकों में कोई जातिस्मरण से, कोई दुर्वार वेदना से और कोई देवों द्वारा धर्मोपदेश से सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं। शेष चार नरकों में नारकी जातिस्मरण और वेदनानुभव से सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं। इन चार नरकों में देवकृत धर्मोपदेश नहीं है, क्योंकि देवों का गमन तीसरे नरक तक ही होता है, उससे नीचे नहीं।[9] **विशेष**—ध. पु. ६ गति-आगति चूलिका के कथन में पृ. ४८४ सूत्र २०५ में श्री भूतबली आचार्य ने लिखा है कि सातवें नरक से निकलकर सम्यक्त्व या सम्यग्मिथ्यात्व प्राप्त नहीं करता है।

नारकी जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक होते हैं तथा उनके वैक्रियिक शरीर होता है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति दूसरा अधिकार। २. त.सू.अ. ६। ३. त.सू. अ. ७। ४. ध.पु. ७ पृ. २४५। ५. ध.पु. ७ पृ. १८७-८८। ६. ध.पु. १ पृ. २०४ सूत्र २५। ७. ध.पु. १ पृ. २०५। ८. ध. पु. १ पृ. २०७। ९. ति. प. दूसरा अधिकार।

तिर्यंचगति का स्वरूप

तिरियंति कुडिलभावं, सुविउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा।
अच्चंतपावबहुला, तह्मा तेरिच्छया भणिया ।।१४८।।

गाथार्थ—जो मन-वचन-काय की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनके आहारादि की संज्ञा सुव्यक्त है, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पाप की बहुलता पायी जाती है, वे तिर्यंच कहे गये हैं ।।१४८।।

विशेषार्थ—समस्त जाति के तिर्यंचों में उत्पत्ति का जो कारण है, वह तिर्यंचगति है। अथवा तिर्यंचगति नामकर्म के उदय से प्राप्त तिर्यंच पर्यायों का समूह वह तिर्यंचगति है। अथवा तिरस्, वक्र, कुटिल ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं अतः जो कुटिलभाव को प्राप्त होते हैं, वे तिर्यंच हैं। तिर्यंचों की गति तिर्यंचगति है।[2]

तिर्यंचों को जो सुख-दुःख होता है वे उसको अपने मन में सहन कर लेते हैं। वचनों के द्वारा दूसरों को प्रकट नहीं कर सकते या सुख-दुःख में भाग लेने के लिए दूसरों को बुला भी नहीं सकते। मुख में जो वृत्ति होती है वह काय से नहीं करते। यद्यपि सुशिक्षित तोता मैना आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में से किसी के मन-वचन-काय की ऋजु प्रवृत्ति होती है तथापि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक व अशिक्षित-संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रायः मन-वचन-काय के कुटिल भावों में प्रवर्तते हैं। मनुष्य एकान्तक्षेत्र में व नियतकाल में भोजन, मैथुन आदि क्रिया करता है, किन्तु मनुष्यों के समान तिर्यंचों की ये क्रियाएँ गूढ़ क्षेत्र में नहीं होतीं, सुविवृत स्थान में प्रकट रूप से होती हैं। मनुष्यों के समान तिर्यंचों में गुण-दोष का विवेक, नित्यश्रुताभ्यास व तत्त्वज्ञानादि शुभोपयोग नहीं होता इसलिए तिर्यंचों को अज्ञानी कहा गया है। तिर्यंचों में महाव्रत, गुण व शील का अभाव होने से और एकेन्द्रियादि में सम्यग्दर्शनादि शुभोपयोग का अभाव होने से तीव्रसंक्लेश परिणामों की प्रचुरता होने से तिर्यंचों में अत्यन्त पापबहुलता कहना युक्त ही है।[3]

तिर्यंचगति के दुःखों का वर्णन स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा ४० से ४३ में इस प्रकार है—

"अनेक प्रकार के तिर्यंचों में जन्म लेकर वहाँ गर्भावस्था में भी छेदन आदि के दुःख पाता है। एकेन्द्रिय, विकलत्रय संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि नाना प्रकार के तिर्यंचों में उत्पन्न होकर गर्भ व सम्मूर्छन जन्म में छेदन, शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि के दुःख पाता है। तिर्यंचों में सर्वत्र भीति-कृत भयानक दुःखों को सहता है। बलवान व्याघ्र, सिंह, भालू, बिलाव, कुत्ता, मगरमच्छ आदि बलहीन तिर्यंचों को मार डालते हैं, भक्षण कर जाते हैं। म्लेच्छ, भील, धीवर आदि पापी दुष्ट मनुष्यों के द्वारा मारा जाता है। सर्वत्र भयभीत होकर मारा-मारा फिरता है। तिर्यंच परस्पर एक दूसरे को खा जाते हैं अतः दारुण दुःखों को सहते हैं। भूख, प्यास ताड़न, मारण, वध, बन्धन,

---

१. ध. पु. १ पृ. २०२ पर भी यह गाथा कुछ पा भेदठ के साथ है। तद्यथा—'सुविउल' के स्थान पर 'सुवियड' और 'भणिया' के स्थान पर 'णाम' पाठ है। प्रा. पं. सं. पृ. ५७६ गा. ६२, वहां भी 'सुवियड' पाठ है। 'णिगिट्ठि' के स्थान पर 'णिगट्ठ' पाठ है। २. ध. पु. १ पृ. २०२। ३. श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका।

अतिभारवहन आदि अनेक प्रकार के दुःख सहते हैं।" तिर्यंचगति के दुःख प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। मायाचारी के कारण तिर्यंचायु का बन्ध कर जीव तिर्यंचों में उत्पन्न होकर नाना प्रकार के दुःखों को सहता है।[1]

तिर्यंचगति में तिर्यंचजीव द्रव्यप्रमाण से अनन्त हैं, काल की अपेक्षा अनन्तानन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होते हैं।

शङ्का—तिर्यंच जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों से क्यों नहीं अपहृत होते ?

समाधान—क्योंकि यहाँ पर केवल अतीतकाल सम्बन्धी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का ग्रहण किया गया है।[2]

तिर्यंच पाँच प्रकार के होते हैं—सामान्यतिर्यंच, पंचेन्द्रियतिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिनी और पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्त)। इनमें से सामान्य तिर्यंचों की संख्या का कथन ऊपर कर चुके हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंचपर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिनी, पंचेन्द्रियतिर्यंच अपर्याप्त असंख्यात हैं।[3]

तिर्यंचगति से तिर्यंचजीव का अन्तर कम से कम क्षुद्रभवग्रहण मात्र काल तक होता है, क्योंकि तिर्यंचगति से निकलकर मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक में उत्पन्न हो कदलीघात युक्त क्षुद्रभवग्रहण मात्र काल तक रहकर पुनः तिर्यंचों में उत्पन्न हुए जीव के क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण अन्तर पाया जाता है। अधिक से अधिक सागरोपमशतपृथक्त्व काल तक तिर्यंचगति से अन्तर पाया जाता है, क्योंकि तिर्यंच-जीव के तिर्यंचों में से निकलकर शेष गतियों में सागरोपमशतपृथक्त्व काल से ऊपर ठहरने का अभाव है।[4] किन्तु पंचेन्द्रिय तिर्यंच चतुष्क का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यातपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्तकाल होता है, क्योंकि विवक्षित गति से निकलकर एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय आदि अविवक्षित गतियों में असंख्यात पुद्गल परिवर्तन काल तक परिभ्रमण कर विवक्षित गति में उत्पन्न होने पर यह अन्तर काल पाया जाता है।[5]

तिर्यंचों में पाँच गुणस्थान होते हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत।[6] जिसप्रकार बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवालों का तिर्यंचगति के अपर्याप्तकाल में सद्भाव सम्भव है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतों का तिर्यंचगति के अपर्याप्तकाल में सद्भाव सम्भव नहीं है, क्योंकि अपर्याप्तकाल के साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि व संयतासंयत का विरोध है। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के चार भेदों में भी पाँच गुणस्थान होते हैं, किन्तु लब्ध्यपर्याप्तकों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अतिरिक्त अन्य गुणस्थान असम्भव हैं।[7]

---

१. "माया तैर्यग्योनस्य" (त. सू. अ. ६ सूत्र १६)। २. विशेष के लिए देखिए ध. पु. ३ पृ. ३०-३१। ३. ध. पु. ७ पृ. २५२। ४. ध. पु. ७ पृ. १८६। ५. ध. पु. ७ पृ. १९०। ६. ध. पु. १ पृ. २०७। ७. ध. पु. १ पृ. २०८।

शङ्का—तिर्यंचनियों के अपर्याप्तकाल में असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तिर्यंचनियों में असंयतसम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति नहीं होती।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यह निम्न गाथा सूत्र से जाना जाता है—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वरण-भवरण-सव्व-इत्थीसु ।
रणेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ।।१३३।।

अर्थात्-प्रथम नरक पृथ्वी के अतिरिक्त नीचे की छह नरक पृथिवियों में, ज्योतिषीवाणव्यन्तर और भवनवासी देवों में, सर्वप्रकार की स्त्रियों में सम्यग्दृष्टिजीव उत्पन्न नहीं होता।[1]

तिर्यंचों में चौदह जीवसमास होते हैं।

तिर्यंच जीवों के चारों संज्ञाएँ, समस्त इन्द्रियाँ, छहों काय, ग्यारह योग (वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक और आहारक मिश्र को छोड़कर), तीनों वेद, क्रोधादिक चारों कषाय, छह ज्ञान (३ ज्ञान ३ अज्ञान), दो संयम (असंयम, देशसंयम), केवलदर्शन को छोड़कर शेष तीनदर्शन, द्रव्य और भावरूप से छहों लेश्याएँ, भव्यत्व-अभव्यत्व और छहों सम्यक्त्व होते हैं। ये सब तिर्यंच संज्ञी एवं असंज्ञी, आहारक एवं अनाहारक तथा ज्ञान एवं दर्शनरूप दोनों उपयोगों सहित होते हैं।[2]

कितने ही तिर्यंच जीव प्रतिबोध से और कितने ही स्वभाव से भी प्रथमोपशम एवं वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत प्रकार के तिर्यंचों में से कितने ही सुख-दुःख को देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्रमहिमा के दर्शन से और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन से प्रथमोपशम एवं वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।[3]

मनुष्यगति का स्वरूप

[4]मण्णंति जदो णिच्चं, मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा ।
मण्णुब्भवा य सव्वे, तम्हा ते माणुसा भणिदा ।।१४९।।

गाथार्थ—जो नित्य ही हेय-उपादेय को जानते हैं, शिल्प आदि अनेक कलाओं में प्रवीण हैं, धारणा आदि दृढ़ उपयोगवाले हैं और मनु (कुलकरों) की सन्तान हैं, अतः वे मनुष्य हैं ऐसा कहा गया है ।।१४९।।

विशेषार्थ—जो जीव निरन्तर हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त तथा धर्म-अधर्म के

१. ध. पु. ९ पृ. २०९। २. ति. प. अधिकार ५, गाथा ३०७-३०९। ३. ति. प. अ. ५ गाथा ३१०-३११।
४. प्रा. पं. सं. (ज्ञानपीठ) पृ. १३ गा. ६२ व पृ. ५७६ गा. ६३-"मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु जे जीवा। मणउक्कडा य जम्हा तम्हा ते माणुसा भणिया ।।"

विषय में विचार करके निश्चय करते हैं, अवधारण करते हैं, आचरण करते हैं, सूक्ष्म रहस्य को जानते हैं, दूरदर्शी हैं, जिनके चिरकाल तक धारणा बनी रहती है और जो सातिशय उपयोग से विशिष्ट हैं, वे मनुष्य हैं। अथवा जब भोगभूमि का काल समाप्त होने लगा और कर्मभूमि का काल प्रारम्भ होने लगा तब प्रतिश्रुत प्रथम मनु (कुलकर) से लेकर भरत चक्रवर्ती पर्यन्त १६ मनु (कुलकर) युग (चतुर्थकाल) की आदि में हुए जिन्होंने उस समय की कठिनाइयों को दूर करने का उपाय प्रजा को बतलाया और 'जीवन सुखरूप रहे' ऐसा उपदेश दिया, इसलिए वे पिता तुल्य हुए। कर्मभूमि में जो मनुष्य हैं वे सब उनकी सन्तान हैं; मनु की सन्तान होने के कारण उनकी भी मनुष्य संज्ञा है।[1]

मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही पाये जाते हैं[2] मानुषोत्तर पर्वत से परे मनुष्य नहीं पाये जाते। मनुष्यों का स्थान जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करवरद्वीप ये ढाईद्वीप तथा लवणसमुद्र व कालोदधि ये समुद्र जिनकी विष्कम्भसूची ४५००००० योजन है, वहीं तक है। अर्थात् अन्य तीन गतियों की अपेक्षा मनुष्यों का स्थान सबसे अल्प है अर्थात् असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

शङ्का—मनुष्यों का क्षेत्र ४५००००० लाख योजन होने का क्या कारण है?

समाधान—मनुष्यगति से ही जीव मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, अन्य तीन गतियों से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सिद्धक्षेत्र का प्रमाण ४५००००० योजन है, अतः मनुष्यक्षेत्र का प्रमाण भी ४५००००० योजन है।

शङ्का—किसी भी स्थान से जीव मुक्त होकर सिद्धक्षेत्र पर जा सकता है, ऐसा क्यों न मान लिया जाये?

समाधान— मुक्त जीवों की गति एक समय मात्र में मोड़ा रहित होती है।[3] जिस स्थान से जीव मुक्त होता है, ऋजुगति से जाकर ठीक उस स्थान के ऊपर सिद्धक्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाता है। यदि सिद्धक्षेत्र के नीचे के स्थान के अतिरिक्त अन्यस्थान से मुक्ति हो तो सिद्धक्षेत्र में जाने के लिए उस जीव को मोड़ा लेना पड़ेगा और आर्ष से विरोध आ जाएगा।

शङ्का—नारकियों को मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—नारकियों के नित्य ही अशुभ लेश्या होती है।[4] कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्या हैं। अशुभलेश्यावाला संयम धारण नहीं कर सकता और संयम के बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—देवों के शुभ लेश्या ही होती है फिर देव मुक्ति क्यों नहीं प्राप्त करते हैं?

समाधान—देवों के शुभ लेश्या होते हुए भी उनके आहार आदि की पर्याय नियत है। जिनकी पर्याय नियत होती हैं वे संयम धारण नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वेच्छापूर्वक आहारादि का

---

१. श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका। २. "प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या." त. सू. अ. ३ सू. ३५। ३. "अविग्रहा जीवस्य" अ. २ सू. २७" (त. सू.)। ४. "नारकानित्याशुभतरलेश्या........" [अ. ३. सू. ३ त. सू.]।

त्याग करके उपवासादि तप धारण नहीं कर सकते। निर्जरा का मुख्य कारण तप है।[1]

शङ्का—तिर्यंच मोक्ष क्यों नहीं जाते?

समाधान—तिर्यंचों के नीचगोत्र का ही उदय है और जिनके नीचगोत्र का उदय होता है वे भी संयम धारण नहीं कर सकते।

शङ्का—क्या सभी मनुष्य मोक्ष जा सकते हैं?

समाधान—कर्मभूमिज मनुष्यों को ही मोक्ष होता है, भोगभूमिज मनुष्यों को मोक्ष नहीं होता।

शङ्का—भोगभूमिज मनुष्यों के वज्रर्षभनाराचसंहनन भी होता है और तीन शुभ लेश्या भी, फिर उनको मोक्ष क्यों नहीं होता?

समाधान—भोगभूमिज मनुष्यों की आहारपर्याय नियत है। उत्तम भोगभूमिज मनुष्य तीन दिन के पश्चात् आहार करते हैं, मध्यम भोगभूमिज दो दिन के पश्चात् और जघन्य भोगभूमिज एक दिन के अन्तराल से आहार करते हैं। वे अपने नियतकाल से पूर्व आहार नहीं कर सकते और नियत काल का उल्लंघन भी नहीं कर सकते अर्थात् नियतकाल पर भोगभूमिज को आहार अवश्य ग्रहण करना पड़ता है इसलिए वे संयम धारण नहीं कर सकते। संयम बिना मात्र सम्यग्दर्शन व ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। श्री **कुन्दकुन्दाचार्य** ने भी **प्रवचनसार** में कहा है—**"सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥"** पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। यह जीव श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है परन्तु पौरुष के समान चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है तो ज्ञान और श्रद्धान इसका क्या हित कर सकते हैं? अर्थात् ज्ञान और श्रद्धान इस जीव का कुछ भी हित नहीं कर सकते।[2] इसलिए संयम से शून्य ज्ञान व श्रद्धान से सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती।[3]

शङ्का—कर्मभूमिज मनुष्यों में क्या सभी मोक्ष जा सकते हैं?

समाधान—द्रव्यस्त्रियाँ मोक्ष नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनके वस्त्रों का त्याग नहीं बन सकता।[4]

शङ्का—क्या सभी पुरुष मोक्ष जा सकते हैं?

समाधान—कर्मभूमि क्षेत्र में छहखण्ड होते हैं; उनमें से एक आर्यखण्ड और पाँच म्लेच्छखण्ड होते हैं। म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न हुए पुरुषों को मोक्ष नहीं होता। सब म्लेच्छखण्डों में एक मिथ्या-

---

१. "तपसा निर्जरा च" [त. सू. अ. ६ सू. ३]। २. "अयं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्पादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपि" [प्र. सा. गा. २३७ ता. वृ.]। "असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्।" [प्र. सा. गा. २३७ की अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका]। ३. ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः [वही]। ४. "भावासंयमविना भाविवस्त्रादिउपादानान्यथानुपपत्तेः।" [ध. पु. १ पृ. ३३३]।

त्वगुणस्थान ही रहता है।[1]

शङ्का—आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए क्या सभी पुरुष दीक्षा लेकर मोक्ष जा सकते हैं ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा २२४/१० में व श्री जयसेनाचार्य ने उसकी टीका में इसप्रकार कहा है **"वण्णेसु तीसु एक्को"** जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में से एक हो **"कल्लाणंगो"** नीरोग शरीरधारी हो **"तवोसहो वयसा"** तप करने में समर्थ हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्य वय सहित हो। **"सुमुहो"** जिसके मुख का भाग भंग-दोष रहित निर्विकार हो तथा इस बात का बतलाने वाला हो कि इसके भीतर निर्विकार परम चैतन्य परिणति शुद्ध है। **"कुंछरहिदो"** जिसका लोक में दुराचारादि के कारण से कोई अपवाद न हो, **"लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो"** ऐसा गुणधारी पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए सभी पुरुष दीक्षा ग्रहणकर मोक्ष नहीं जा सकते।

मनुष्यगति के दुःख— [2]'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' संसारभावना के आधार से : जब यह जीव माता के गर्भ में आता है तब वहाँ इसके अङ्ग-उपाङ्ग संकुचित रहने के कारण यह घोर दुःख सहता है और जन्म के समय योनि से निकलते हुए भी इसे तीव्र दुःख सहना पड़ता है। बचपन में माता-पिता मर जाते हैं तो दुःखी होता हुआ दूसरे के उच्छिष्ट भोजन से पलता है और भिखारी बनकर जीवन बिताता है। दुष्कर्मों-बुरे कार्यों को करके पापकर्मों को बाँधता है और उन पापकर्मोदय से दुःख भोगता है। आश्चर्य है कि मनुष्य फिर भी हिंसा आदि पाप करता है, दान पूजन तपश्चरण ध्यान आदि पुण्यकार्य नहीं करता। बिरले पुरुष ही वेदक या क्षायिकसम्यग्दृष्टि होकर श्रावक के १२ व्रतों को या पाँच महाव्रतों को धारणकर विशुद्ध परिणामसहित निन्दा-गर्हा करते हुए पुण्य का उपार्जन करते हैं। [अपने दुष्कृत्यों को स्वयं कहना निन्दा है। गुरु के सामने अपने दोषों को कहना गर्हा है।][3] पुण्यशाली मनुष्यों के अर्थात् पुण्योदय सहित मनुष्यों के भी धन, धान्य, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि इष्ट पदार्थों का वियोग और सर्प, कण्टक व शत्रु आदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग देखा जाता है। श्री आदिनाथ तीर्थंकर के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत समर्थ होते हुए भी छोटे भाई श्री बाहुबली से पराजित होकर अपमानित हुए। बहुत पुण्यवान को भी पंचेन्द्रियों की विषय भोगरूप समस्त सामग्री व धन-धान्यादि नहीं मिलते। अल्प पुण्यवाले व पुण्यहीन पुरुषों को तो मिलता ही नहीं। समस्त वांछित पदार्थ प्राप्त हो जावे ऐसा पुण्य किसी के पास नहीं है। कोई मनुष्य स्त्री न होने के कारण दुःखी है और यदि किसी के स्त्री भी है तो पुत्र की उत्पत्ति न होने के कारण दुःखी है और यदि किसी के पुत्र भी हो जावे तो अनेक शारीरिक रोगों के कारण दुःखी है। यदि शरीर भी स्वस्थ नीरोग है तो धन-धान्यादि सम्पत्ति के अभाव के कारण दुःखी है। यदि सम्पत्ति भी है तो बाल्यावस्था या युवावस्था में मरण हो जाने के कारण दुःखी है। कोई दुष्ट स्त्री के कारण दुःखी है, कोई जुआरी, मांसभक्षी, मद्यप आदि दुर्व्यसनी पुत्र के कारण दुःखी है। किसी का भाई या कुटुम्बी वैरी है, किसी की पुत्री दुराचारिणी है अतः वे इन कारणों से दुःखी हैं। कोई सुपुत्र मर जाने के कारण, कोई प्रियस्त्री के

---

१. "सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्तं" [ति. प. च. अ. गा. २९३७]। २. गा. ४५ से ५७। ३. आत्मकृतदुष्कर्मणः स्वयं प्रकाशनं निन्दनम्, गर्हणं गुरुसाक्षिकात्मदोषप्रकाशनं" [स्वा. का. गा. ४८]।

मर जाने, कोई घर व कुटुम्बीजनों के आग में जल जाने से दुःखी है। मनुष्यगति में यह जीव इसप्रकार क्षुधा-तृषा आदि के नाना दुःख सहन करता हुआ भी अपनी बुद्धि को धर्म में नहीं लगाता और गृह व व्यापार सम्बन्धी आरम्भों को नहीं छोड़ता। संसार में आज जो धनवान है वह कल धनहीन दरिद्री देखा जाता है और जो धनहीन है वह अनेक ऐश्वर्य व सम्पदा से युक्त देखा जाता है, राजा से सेवक बन जाता है और सेवक नरनाथ (राजा) हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है। जैसे रामचन्द्रजी का मित्र विभीषण बन गया था। मित्र शत्रु हो जाता है जैसे रावण का शत्रु विभीषण हो गया था। यह सब विचित्रता पुण्य-पाप कर्मोदय के कारण होती है। यह सब कुछ प्रत्यक्ष देखते और अनुभव करते हुए भी इस जीव को संसार-शरीर और भोगों से विरक्तता नहीं आती, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

यद्यपि मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त व मनुष्यिनी संख्यात हैं, किन्तु लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य असंख्यात हैं। अतः सामान्य मनुष्य भी असंख्यात हैं जिनकी संख्या इसप्रकार प्राप्त की जा सकती है—सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल को उसके ही तृतीय वर्गमूल से गुणित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसे शलाका रूप से स्थापित कर रूपाधिक मनुष्यों और रूपादिक मनुष्य अपर्याप्तों द्वारा जगश्रेणी अपहृत होती है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल को सूच्यंगुल के तृतीय वर्गमूल से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उस गुणनफल से जगश्रेणी को भाजित करने पर जो भागफल प्राप्त होता है वह सामान्यमनुष्यों की संख्या से एक अधिक है। इसमें से पर्याप्तमनुष्यों व मनुष्यिनियों की संख्या कम कर देने से लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों की संख्या प्राप्त होती है।

शङ्का—रूप का प्रक्षेप किसलिए किया जाता है?

समाधान—चूंकि जगश्रेणी कृतयुग्म राशिरूप है, मनुष्यराशि तेजोजरूप है, इसलिए उसमें रूप का प्रक्षेप किया जाता है।[2]

मनुष्यगति में एक जीव के निरन्तर रहने का उत्कृष्टकाल ४७ पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम प्रमाण है। जो जीव अविवक्षित पर्याय से आकर मनुष्यगति में उत्पन्न हुआ और ४७ पूर्व-कोटि तक कर्मभूमिज मनुष्यों के तीनों वेदों में परिभ्रमण करके दान देकर अथवा दान का अनुमोदन करके तीन पल्योपम आयुस्थिति वाले भोगभूमिज मनुष्यों में उत्पन्न हुआ उस जीव के यह उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है।[3]

कम से कम क्षुद्रभवग्रहण काल तक मनुष्य का मनुष्यगति से अन्तर होता है, क्योंकि मनुष्य-गति से निकलकर तिर्यंचगति में उत्पन्न हो क्षुद्रभव काल तक रहकर पुनः मनुष्यगति में उत्पन्न होने से क्षुद्रभवकाल का जघन्य अन्तर पाया जाता है। अधिक से अधिक असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्तकाल तक मनुष्य का मनुष्यगति से अन्तर होता है, क्योंकि मनुष्यगति से निकलकर एकेन्द्रियादि तिर्यंचगति में आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण काल तक भ्रमण कर पुनः मनुष्यगति में उत्पन्न होने वाले जीव के यह उत्कृष्ट अन्तरकाल पाया जाता है।[4]

---

१. ध. पु. ७ पृ. २५६ सूत्र २७। २. ध. पु. ७ पृ. २५६। ३. ध. पु. ७ पृ. १२६। ४. ध. पु. ७ पृ. १८६-१९०।

मनुष्य-आयुबन्ध के बिना जीव मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकता । अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह में सन्तोषी प्राणी मनुष्य-आयु का बन्ध करता है ।[1]

मनुष्यगति ही ऐसी गति है जिसमें चौदह गुणस्थान सम्भव हैं, अन्य तीन गतियों में चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं ।

मनुष्य पर्याय सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि देव भी यह चाहता है कि मैं कब मनुष्य होऊं और संयम धारण कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करूँ, किन्तु खेद है कि मनुष्य इस अमूल्य पर्याय को पाकर भी विषयभोगों के लिए देवगति की वांछा करता है जहाँ संयम धारण नहीं हो सकता ।

तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों के अवान्तर भेद

सामण्णा पंचिंदी, पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता ।
तिरिया णरा तहा वि य, पंचिंदियभंगदो हीणा ।।१५०।।

गाथार्थ—सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रियतिर्यंच पर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिनी, पंचेन्द्रियतिर्यंच लब्ध्यपर्याप्तक इस प्रकार तिर्यंचों के पाँच भेद हैं । इसी प्रकार मनुष्यों के भी भेद हैं, किन्तु पंचेन्द्रिय भंग नहीं होता ।।१५०।।

विशेषार्थ—तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीव होते हैं । सामान्य तिर्यंच में उन सर्व जीवों का ग्रहण हो जाता है । एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय तिर्यंच नरकायु, देवायु, देवगति, नरकगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक अंगोपांग का बन्ध नहीं कर सकते, किन्तु पंचेन्द्रिय तिर्यच इन कर्मप्रकृतियों का बन्ध कर सकते हैं । एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंचों में एक मिथ्यात्वगुणस्थान होता है, किन्तु पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पाँच गुणस्थान सम्भव है । इत्यादि विशेषताओं के कारण पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का पृथक् भेद किया गया है । पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं । पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तीन वेद होते हैं । गर्भज व सम्मूर्च्छन दोनों प्रकार के होते हैं, किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्च्छन जन्मवाले तथा नपुंसकवेदी ही होते हैं । अतः पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी पर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त ऐसे दो भेद हो गये । पंचेन्द्रिय तिर्यंच-पर्याप्त में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हो सकता है, किन्तु योनिनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं हो सकता, इत्यादि कारणों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी पृथक् भेद कहा गया है ।

मनुष्यों में सभी पंचेन्द्रिय होते हैं एकेन्द्रिय आदि जीव नहीं होते, अतः मनुष्यों में पंचेन्द्रियरूप पृथक् भेद नहीं कहा गया । मनुष्यों में चार भेद ही होते हैं—मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यिनी और लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य । जिसप्रकार तिर्यंचों में इन भेदों के कारण कहे गये हैं, वे ही कारण मनुष्यों के भेदों में भी जानना चाहिए । मनुष्यिनी से प्रयोजन भावमनुष्यिनी से है । कर्मभूमि में ही वेद-वैषम्य है । जो द्रव्य से तो पुरुषवेदी हैं अर्थात् जिनके शरीर की रचना तो पुरुषों के शरीर के समान है, किन्तु भाव स्त्री जैसे हैं वे मनुष्यिनियों ही में ग्रहण किये गये हैं । मनुष्यिनियों के छहों संहनन व चौदह

---

१. "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" (त. सू. अ. ६) ।

गुणस्थान सम्भव हैं, किन्तु महिलाओं के तीन हीन संहनन[1] व पाँच गुणस्थान[2] ही हो सकते हैं, अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—मनुष्यिनियों में चौदहगुणस्थान होते हैं, यह कथन कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावस्त्री युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

शङ्का—बादर कषाय नौवें गुणस्थान के ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिए भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नहीं पाया जाता है। [अनिवृत्तिगुणस्थान में वेदोदय की व्युच्छित्ति हो जाने पर अवेद अवस्था हो जाती है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक पाँच गुणस्थान अवेदी के होते हैं।]

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ पर वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है और वह गति पहले नष्ट नहीं होती।

शङ्का—यद्यपि मनुष्यगति में चौदहगुणस्थान सम्भव हैं फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।[3]

देवों का स्वरूप

दीव्वंति जदो णिच्चं, गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं।
भासंत दिव्वकाया, तह्मा ते वण्णिया देवा॥१५१॥[4]

गाथार्थ—जो दिव्य भाव युक्त आठ गुणों से निरन्तर क्रीड़ा करते हैं और जिनका शरीर प्रकाशमान व दिव्य है, वे देव कहे गये हैं॥१५१॥

विशेषार्थ—जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियों की प्राप्ति के बल से क्रीड़ा करते हैं, वे देव हैं। देवों की गति देवगति है। अथवा जो अणिमादि ऋद्धियों से युक्त 'देव' इस प्रकार के शब्द, ज्ञान और व्यवहार में कारणभूत पर्याय का उत्पादक है, ऐसे देवगति नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई पर्याय को देवगति कहते हैं। यहाँ कार्य में कारण के उपचार से यह लक्षण किया गया है।[5]

जो देवपर्याय के कारण अणिमा आदि आठगुणों (ऋद्धियां) के द्वारा क्रीड़ा करते हैं, तीनों लोक (ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक) में परिवार सहित बिना रुकावट के विहार करते हैं,

---

१. गो. क. गाथा ३२। २. "सवासरत्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितिनां संयमानुपपत्तेः।" (ध. पु. १ पृ. ३३३)। ३. ध. पु. १ पृ. ३३३। ४. ध.पु. १ पृ. २०३। प्रा. पं. सं (ज्ञानपीठ)पृ. १३ गा. ६३; पृ. ५७६ गा. ६४ किन्तु 'दिव्वंति' के स्थान पर कीडंति पाठ है। ५. ध. पु. १ पृ. २०३।

पंचपरमेष्ठी की स्तुति करते हैं, सदा पंचेन्द्रिय के विषयभोगों से सुखी रहते हैं, रूप, लावण्य और यौवन से जिनका वैक्रियिक शरीर जाज्वल्यमान-प्रकाशमान रहता है, वे जीव देव हैं।[1]

देवों में दुःख—[2]जिस किसी प्रकार महान् कष्टों से चार प्रकार के देवों में उत्पन्न होता है। इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशदादि महाऋद्धिधारी देवों की विक्रिया आदि ऋद्धियों को तथा सम्पदा (विभूति) को देखकर मानसिक दुःख होता है। इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशत् आदि महाऋद्धि वाले देवों को पाँच इन्द्रियों के विषयसुख की तृष्णा से तथा प्रिय देवाङ्गना आदि के वियोग से दुःख होता है। जिन जीवों का सुख पाँच इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों के आधीन है उनकी तृप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। तृप्ति न होने से भोगों की तृष्णा निरन्तर बनी रहती है जिसके कारण वे सदा दुःखी रहते हैं। यद्यपि देवों को शारीरिक दुःख प्रायः नहीं होता है, क्योंकि उनके सुवैक्रियिक शरीर है, किन्तु उनको मानसिक दुःख होता है। शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख अतिप्रचुर होता है। जिसको मानसिक दुःख या चिन्ता होती है उसको विषयभोग, सुखदायक सामग्री भी दुःखदायक लगती है। देवों का सुख देवियों के नवशरीर, विक्रिया आदि मनोहर विषयों के आधीन है, वह विषयजनित सुख भी कालान्तर में द्रव्यान्तर के सम्बन्ध से दुःख का कारण बन जाता है, क्योंकि देवियों की लेश्या, आयु व बल देवो से भिन्न प्रकार का होता है।[3] इसलिए वे देवाङ्गनाएँ कालान्तर में दुःखदायक बन जाती हैं। अन्य सुखदायक इष्ट सामग्री का परिणमन भी इच्छानुसार न होने से वह इष्टसामग्री भी दुःख का कारण हो जाती है।

> [4]**एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्ख-सायरे घोरे।**
> **किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छियदो ॥६२॥**

—यदि परमार्थ से विचारा जावे तो अत्यन्त साररहित दुःख के सागररूप संसार में किसको कहाँ सुख हो सकता है अर्थात् इस असार संसार में जब देव भी दुःखी हैं तो अन्य किसी को सुख कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि सभी प्राणी दुःखो हैं।

देवों के भेद—देव चार निकाय वाले हैं।[5] भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है, वे भवनवासी हैं। असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार के भेद से दस प्रकार के भवनवासी देव हैं। इनकी वेश-भूषा, शस्त्र, यान-वाहन और क्रीड़ा आदि कुमारों के समान हैं इसलिए सब भवनवासियों में कुमार शब्दरूढ़ है। रत्नप्रभा पृथ्वी के पंक-बहुल भाग में असुरों के भवन हैं और खरभाग में शेष नौ प्रकार के भवन हैं।[6] जिनका नानाप्रकार के देशों में निवास है वे व्यन्तरदेव हैं। वे आठप्रकार के हैं-किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में सातप्रकार के व्यन्तरों के तथा पंकबहुल भाग में राक्षसों के आवास हैं।[7] ज्योतिर्मय होने के कारण इनकी ज्योतिषी संज्ञा है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक ये पाँच प्रकार ज्योतिषी देवों के हैं।

---

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र सूरि कृत टीका। २. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षान्तर्गत संसार भावना गाथा ५ से ६१। ३. ध. पु. १ पृ. ३३८। ४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा; संसार भावना। ५. "देवाश्चतुर्णिकायाः" (त. सू. अ. ४ सू. १) ६. सर्वार्थसिद्धि ४/१०। ७. सर्वार्थसिद्धि ४/११।

भूमिभाग से ७६० योजन ऊपर जाकर नौ सौ योजन तक ज्योतिषीदेवों से व्याप्त नभःप्रदेश ११० योजन मोटा और घनोदधि वातवलय पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र तक विस्तृत लम्बाई वाला है।[1] जो विशेषतः अपने में रहने वाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं, वे विमान हैं और जो उन विमानों में होते हैं, वे वैमानिक हैं। कल्पोपपन्न और कल्पातीत के भेद से वे दो प्रकार के हैं। कल्पोपपन्न में १६ स्वर्ग हैं—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। इन १६ स्वर्गों में १२ इन्द्र होते हैं क्योंकि मध्य के आठ स्वर्गों में चार इन्द्र होते हैं। इनके ऊपर नौ ग्रैवेयक, नवअनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सवार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। इन सबकी कल्पातीत संज्ञा है, क्योंकि इनमें सब अहमिन्द्र होते हैं।[2]

देवगति में एक जीव के रहने का काल जघन्य से १० हजार वर्ष है, क्योंकि तिर्यंच या मनुष्यों से निकलकर जघन्य आयु वाले देवों में उत्पन्न होकर वहाँ से च्युत होने वाले जीव के १० हजार वर्ष मात्र काल देवगति में पाया जाता है। अधिक से अधिक तेंतीस सागरोपम काल तक जीव देवगति में रहता है, क्योंकि तेंतीस सागर की देवायु बाँधकर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होकर तेंतीस सागरोपम काल तक वहाँ रहकर निकले हुए जीव के उक्त काल पाया जाता है।

शङ्का—दीर्घायु स्थितिवाले देवों में सात-आठ भवों का ग्रहण करने से और भी अधिककाल देवगति में पाया जा सकता है।

समाधान—नहीं पाया जा सकता। देव, नारकी, भोगभूमिज तिर्यंच और भोगभूमिज मनुष्य, इनके मरने पर ठीक तत्पश्चात् उसी पर्याय में उत्पत्ति नहीं पाई जाती, क्योंकि इसका अत्यन्ताभाव है।[3]

एक जीव का देवगति से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है, क्योंकि देवगति से *आकर गर्भोपक्रान्तिक पर्याप्त तिर्यंचों या मनुष्यों में उत्पन्न होकर पर्याप्तियाँ पूर्णकर देवायु बाँध पुनः देवों में उत्पन्न हुए जीव के देवगति से अन्तर्मुहूर्त अन्तर पाया जाता है।* अधिक से अधिक असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनन्त काल तक अन्तर होता है, क्योंकि देवगति से आकर शेष तीन गतियों में अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र पुद्गल परिवर्तन काल तक परिभ्रमण करके पुनः देवगति में उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं है।[4]

सिद्धगति का स्वरूप

[5]जाइजरामरणभया, संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ।
रोगादिगा य जिस्से, ण संति सा होदि सिद्धगई ॥१५२॥

गाथार्थ—जहाँ जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, संज्ञा और रोगादिक नहीं होते वह सिद्धगति है ॥१५२॥

विशेषार्थ—गतिमार्गणा के अन्तर्गत सिद्धों के स्वरूप का कथन होने के कारण यद्यपि गाथा

---

१. सर्वार्थसिद्धि ४/१२। २. सर्वार्थसिद्धि ४/१६ से १९। ३. ध. पु. ७ पृ. १२७ सूत्र २६-२७ की टीका। ४. ध.पु. ७ पृ. १८९-९०। ५. ध.पु. १ पृ. २०४ तथा प्रा.पं. सं. (ज्ञानपीठ) पृ. १४ गा. ६४, पृ. ५७६ गा. ६५।

में तथा धवल पु. १ सूत्र २४ में सिद्धों के साथ 'गति' शब्द का प्रयोग उपचार से किया गया है तथापि गा. १४६ में तथा धवल पु. १ पृ. १३४-३५ पर गति का जो लक्षण दिया गया है उससे सिद्धों का निराकरण हो जाता है, क्योंकि सिद्धों के गति नामकर्म का उदय नहीं है। ध.पु. १ पृ. १३४ पर तो इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–"गति का ऐसा लक्षण करने से सिद्धों के साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता, क्योंकि सिद्धों के द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणों का अभाव है।" गति नामकर्मोदय के अभाव के कारण सिद्धगति अगति कहलाती है, अथवा एक भव से दूसरे भव में संक्रान्ति का नाम गति है और सिद्धगति असंक्रान्तिरूप है।[1]

कर्म के वश से भव-भव में अपने शरीरपर्याय की उत्पत्ति होना जन्म है। इस प्रकार उत्पन्न हुई शरीर-पर्याय का वयरूप हानि के द्वारा शीर्ण होना वृद्धता है। अपनी आयु का क्षय हो जाने के कारण इस शरीरपर्याय का व प्राणों का त्याग सो मरण है। अनर्थ की आशंका के कारण अपकारक पदार्थों से भाग जाने की इच्छा सो भय है। क्लेश के कारणभूत अनिष्ट द्रव्यों का संगम सो संयोग है। सुख के कारणभूत इष्ट द्रव्यों का नाश सो वियोग है। इनसे उत्पन्न हुआ आत्मा का निग्रह सो दुःख है। शेष तीन आहार, मैथुन व परिग्रह की वांछा सो संज्ञा है। रोग, मानभंग, वध, बन्धन आदि की वेदना जिस गति में नहीं है और न उत्पन्न होती है, वह सिद्धगति है। क्योंकि इनकी उत्पत्ति के कारणभूत कर्मों का क्षय हो गया है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि अपने स्वाभाविक गुणों की उपलब्धिरूप सिद्धपर्याय है। इस सिद्धगति की प्राप्ति उस जीव को होती है जिसने परम प्रकृष्ट रत्नत्रय से परिणत होकर शुक्लध्यान विशेष से उत्पन्न हुए संवर निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय करके अपनी मुक्तावस्था प्राप्त कर ली है और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के द्वारा लोक का अग्रभाग प्राप्त कर लिया है, ऐसी सिद्धपरमेष्ठी पर्यायरूप सिद्धगति होती है।[2]

आत्मस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् अपने सम्पूर्ण गुणों से आत्मस्वरूप में स्थित होना सिद्धि है। ऐसे सिद्धि स्वरूप की गति सिद्धगति है।[3] सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण कर दिया है, बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहित-अनन्त-अनुपम-स्वाभाविक और प्रतिपक्ष रहित ऐसे सुख को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल-स्वरूप को प्राप्त हैं, सम्पूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्वगुणों के निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्मा का आकार चरमशरीर से कुछ न्यून है और जो लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं वे सिद्ध हैं।[4]

माण्डलिक मत वाले यह मानते हैं कि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण आकाश में ऊपर-ऊपर चले जा रहे हैं, कहीं पर भी ठहरते नहीं। कर्मों का अभाव हो जाने के कारण ऊर्ध्वगमन स्वभाव में कोई बाधा डालने वाला नहीं रहा। आचार्य कहते हैं कि कार्य की सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणों से होती है। धर्मद्रव्य बाह्य (निमित्त) कारण और ऊर्ध्वगमन स्वभाव अन्तरंग (उपादान) कारण हैं। लोकाकाश के अन्ततक ही धर्मद्रव्य का सद्भाव है। उससे आगे धर्मद्रव्य का अभाव है। अतः निमित्तकारण (धर्मद्रव्य) के अभाव के कारण[5] सिद्ध भगवान में ऊर्ध्वगमन

१. 'गदिकम्मोदयाभावासिद्धि गदी अगदी। अथवा भवाद्भवसंक्रान्तिर्गतिः अक्रान्तिः सिद्धगतिः।" (ध.पु. ७ पृ. ६)।
२. "सिद्धपरमेष्ठीपर्यायरूप सिद्धिर्गति भवति।" सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका। ३. ध. पु १ पृ. २०३। ४. ध. पु. १ पृ. २००। ५. "धर्मास्तिकायाभावात्" (त. सू. अ. १० सूत्र ८)।

शक्ति होते हुए भी वे लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाते हैं। माण्डलिक कार्य के होने में निमित्त को नहीं मानता, अतः उसके खण्डन के लिए यह विशेषण दिया गया है।

नरकगति में जीवों की संख्या

सामण्णा णेरइया घणअंगुलबिदियमूलगुणसेढी ।
बिदियादि बारदसअडछत्तिदुणिजपदहिदा सेढी ।।१५३।।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं रासिविहीणो दु सव्वरासी दु ।
पढमावणिम्हि रासी णेरइयाणं तु णिद्दिट्ठो ।।१५४।।

गाथार्थ—घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से जगच्छ्रेणी को गुणित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतना सामान्य से सर्वनारकी जीवों का प्रमाण है। द्वितीय आदि अधस्तन छह नरकों में नारकियों का प्रमाण क्रमशः बारहवें वर्गमूल से भाजित, दसवें वर्गमूल से भाजित, आठवें वर्गमूल से भाजित, छठे वर्गमूल से भाजित, तीसरे वर्गमूल से भाजित तथा द्वितीय वर्गमूल से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। नीचे की छह पृथिवियों के नारकियों का जितना प्रमाण हो उसको सम्पूर्ण नारक राशि में से घटाने पर जो शेष रहे उतना प्रथम पृथिवी के नारकियों का प्रमाण है।।१५३-१५४।।

विशेषार्थ—धवल ग्रन्थ में प्रमाण तीन प्रकार से बतलाया गया है—गणना की अपेक्षा, काल की अपेक्षा और क्षेत्र की अपेक्षा। यहाँ पर मात्र क्षेत्र की अपेक्षा नारकियों का प्रमाण बतलाया गया है। गणना की अपेक्षा नारकी असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा नारकी जीव असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं।[1] क्षेत्र की अपेक्षा नारकी जीव असंख्यात जगच्छ्रेणी प्रमाण हैं जो जगत्प्रतर के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।[2] उन जगच्छ्रेणियों की विष्कम्भसूची सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित उसी का प्रथम वर्गमूल है।[3]

शंका—उपर्युक्त गाथा १५३ में घनांगुल का द्वितीय वर्गमूल कहा गया है और धवलग्रन्थ में 'सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित प्रथम वर्गमूल' कहा गया है। इन दोनों आर्षग्रन्थों में विषमता क्यों है?

समाधान—इन दोनों आर्षग्रन्थों में विषमता नहीं है, मात्र शब्दों की विभिन्नता है। दोनों की राशि का प्रमाण समान है, उसमें विभिन्नता नहीं है।

शङ्का—समानता किस प्रकार है?

समाधान—सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल से सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल को गुणा करने पर सूच्यंगुल का प्रथम वर्गमूल आता है। सूच्यंगुल का प्रथम वर्गमूल गुणित द्वितीय वर्गमूल अर्थात् द्वितीय वर्गमूल गुणित द्वितीय वर्गमूल पुनः गुणित द्वितीय वर्गमूल (द्वितीय वर्गमूल × द्वितीय वर्गमूल × द्वितीय वर्गमूल)। इस प्रकार परस्पर गुणित करने पर सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल का घन (सूच्यंगुल का द्वितीय वर्गमूल)[3] प्राप्त होता है जो घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल के समान है।

---

१. ध.पु. ७ पृ. २४४ सूत्र २-३। २. ध.पु. ७ पृ. २४५ सूत्र ४-५। ३. ध.पु. ७ पृ. २४६ सूत्र ६।

शङ्का—यह भी कैसे ?

समाधान—सूच्यंगुल का द्वितीय वर्गमूल × सूच्यंगुल का द्वितीय वर्गमूल × सूच्यंगुल का द्वितीय वर्गमूल; अर्थात् "सूच्यंगुल × सूच्यंगुल × सूच्यंगुल" का द्वितीय वर्गमूल। इस प्रकार सूच्यंगुल को परस्पर तीन बार गुणित करने से सूच्यंगुल का घन प्राप्त होता है। सूच्यंगुल का घन ही घनांगुल है। अतः घनांगुल का द्वितीय वर्गमूल कहा गया है। इस प्रकार दोनों आर्षग्रन्थों में प्रमाणराशि समान है, उसमें भिन्नता नहीं है।

शङ्का—ध.पु. ७ पृ. २४६ सूत्र १३ की टीका में कहा है कि "जगच्छ्रेणी के प्रथम वर्गमूल को आदि करके उसके बारहवें, दसवें, आठवें, छठे, तीसरे और दूसरे वर्गमूल तक पृथक्-पृथक् गुणाकर व गुण्य क्रम से अवस्थित छह राशियों का परस्पर गुणा करने पर यथाक्रम से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम पृथिवियों के नारकियों का प्रमाण प्राप्त होता है।" किन्तु उपर्युक्त गाथा में कहा है कि जगच्छ्रेणी को बारहवें, दसवें, आठवें, छठे, तीसरे और दूसरे वर्गमूलों से भाजित करने पर द्वितीयादि नीचे के छह नरकों के नारकियों की संख्या का प्रमाण प्राप्त होता है। इस प्रकार इन दोनों आगमों में विरोध क्यों है ?

समाधान—इन दोनों आगमों में विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों आगमों में नारकियों की संख्या में भेद नहीं है।

शङ्का—धवलग्रन्थ में वर्गमूलों को परस्पर गुणा करने से संख्या बतलाई गई है और उपर्युक्त गाथा में भाग देने से संख्या बतलाई गई है। गुणा करने से संख्या वृद्धि को प्राप्त होती है और भाग देने से संख्या हीन होती है। अतः इन दोनों आगमों में द्वितीयादि पृथिवियों के नारकियों की संख्या में अवश्य भेद होना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बड़ी संख्या को भाग देने से जो प्रमाण प्राप्त होता है वही प्रमाण छोटी संख्याओं को परस्पर गुणा करने से प्राप्त हो सकता है। जैसे सप्तम पृथ्वी के नारकियों का जो प्रमाण जगच्छ्रेणी के प्रथम वर्गमूल व द्वितीय वर्गमूल को परस्पर गुणा करने से प्राप्त होता है वही प्रमाण जगच्छ्रेणी को द्वितीय वर्गमूल से भाग देने पर प्राप्त होगा।

शङ्का—यह कैसे सम्भव है ?

समाधान—सम्भव है, क्योंकि जगच्छ्रेणी को उसके ही द्वितीय वर्गमूल से भाजित करने पर उसका प्रथम वर्गमूल गुणित उसका द्वितीय वर्गमूल लब्ध प्राप्त होता है। ; छ्रेणी के प्रथमवर्गमूल को उसी के द्वितीय वर्गमूल से गुणा करने से उसका प्रथमवर्गमूल × उसका द्वितीय वर्गमूल प्राप्त होता है। मान लिया जाए कि जगच्छ्रेणी 'ज' है। बीजगणित के अनुसार 'ज' का प्रथम वर्गमूल $ज^{\frac{१}{२}}$ है और द्वितय वर्गमूल $ज^{\frac{१}{४}}$ है। इनको परस्पर गुणा करने पर गुणनफल $ज^{\frac{३}{४}}$ प्राप्त होता है, क्योंकि गुणा करने में घात जोड़ी जाती है $(\frac{१}{२}+\frac{१}{४}=\frac{३}{४})$। 'ज' को यदि द्वितीय वर्गमूल $ज^{\frac{१}{४}}$ से भाग दिया जावे तो $ज^{\frac{३}{४}}$ प्राप्त होता है, क्योंकि भाग में घात घटाई जाती है $(१-\frac{१}{४}=\frac{३}{४})$। अङ्कसंदृष्टि में जगच्छ्रेणी २५६ है। २५६ का प्रथम वर्गमूल १६ और द्वितीय वर्गमूल ४ है। इन दोनों को परस्पर गुणा करने से (१६ × ४) ६४ प्राप्त होते हैं। जगच्छ्रेणी '२५६' को उसके द्वितीय वर्गमूल ४ से भाजित करने पर (२५६ ÷ ४) ६४ प्राप्त होते हैं। इसीप्रकार अन्य पृथिवियों का प्रमाण जान लेना चाहिए।

द्वितीय पृथ्वी के नारकी $(ज.श्रे.)^{\frac{४०९५}{४०९६}}$, तृतीयपृथ्वी के नारकी $(ज.श्रे.)^{\frac{१०२३}{१०२४}}$, चतुर्थपृथ्वी के नारकी $(ज.श्रे.)^{\frac{२५५}{२५६}}$, पंचमपृथ्वी के नारकी $(ज.श्रे.)^{\frac{६३}{६४}}$, छठी पृथ्वी के नारकी $(ज.श्रे.)^{\frac{७}{८}}$ और सातवीं पृथ्वी के नारकी $(ज.श्रे.)^{\frac{३}{४}}$ हैं। (सब अंक घात हैं।) सर्व नारकियों का प्रमाण घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित ज.श्रे. में से इन सबको घटाने पर प्रथम पृथ्वी के नारकी जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है जो सर्व नारकी जीवों के प्रमाण से किंचित् ऊन है। इसप्रकार सर्वनारकियों का तथा सातों पृथ्वियों के नारकियों का पृथक्-पृथक् प्रमाण कहा गया है।

तिर्यंचगति के जीवों का प्रमाण

संसारी पंचक्खा, तप्पुण्णा तिगदिहीणया कमसो।
सामण्णा पंचिंदी, पंचिंदियपुण्णतेरिक्खा ॥१५५॥

छस्सयजोयणकदिहिदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं।
पुण्णूणा पंचक्खा, तिरियअपज्जत्तपरिसंखा ॥१५६॥

गाथार्थ—संसारी जीवराशि में से तीनों गतियों की जीवराशियों का प्रमाण घटाने पर सामान्य तिर्यंच जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय जीवराशि में से तीनगतियों के जीवों का प्रमाण कम कर देने पर पंचेन्द्रियतिर्यंच जीवों की संख्या प्राप्त होती है। समस्त पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के प्रमाण में से तीनगतियों के पर्याप्त जीवों का प्रमाण घटाने पर पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचों की संख्या प्राप्त हो जाती है। छह सौ योजन के वर्ग से भाजित जगत्प्रतर तिर्यंचनियों का प्रमाण है। पंचेन्द्रियतिर्यंचों के प्रमाण में से पर्याप्त पंचेन्द्रियतिर्यंचों की संख्या घटाने पर उपलब्ध-राशि पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों का प्रमाण है ॥१५५-१५६॥

विशेषार्थ—उपर्युक्त कथन को ठीक प्रकार से ग्रहण करने के लिए संसारी जीवों का प्रमाण, पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण तथा पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना आवश्यक है। सर्व जीव-राशि अनन्त है और अनन्त अनेक प्रकार का है—

[1]णामं ठवणा दवियं सस्सद गणणापदेसियमणंतं।
एगो उभयादेसो वित्थारो सव्व भावो य ॥८॥

नाम अनन्त, स्थापना अनन्त, द्रव्यानन्त, शाश्वतानन्त, गणनानन्त, अप्रदेशिकानन्त, एकानन्त, उभयानन्त, विस्तारानन्त, सर्वानन्त और भावानन्त। इस प्रकार यह ग्यारह प्रकार का अनन्त है।

शङ्का—इन ग्यारह प्रकार के अनन्तों में से किस अनन्त की अपेक्षा सर्व जीवराशि को अनन्त कहा गया है?

समाधान—गणनानन्त की अपेक्षा सर्व जीवराशि को अनन्त कहा गया है।

गणनानन्त भी तीनप्रकार का है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इन तीन प्रकार के

---

१. ध. पु. ३ पृ. ११।

गणनानन्तों में से भी सर्व जीवराशि अनन्तानन्त है, क्योंकि काल की अपेक्षा सर्व जीवराशि अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत नहीं होती है।[1] वह अनन्तानन्त भी तीनप्रकार का है। जघन्य अनन्तानन्त, उत्कृष्ट अनन्तानन्त और मध्यम अनन्तानन्त।

शङ्का—इन तीनों अनन्तानन्तों में से जीवराशि कौन सा अनन्तानन्त है?

समाधान—जीवराशि मध्यम अनन्तानन्त है, क्योंकि जहाँ-जहाँ 'अनन्तानन्त' कहा जाता है वहाँ-वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम-अनन्तानन्त का ग्रहण होता है।[2]

शङ्का—वह मध्यम अनन्तानन्त भी अनन्तानन्त विकल्परूप है। उनमें से किस विकल्प से प्रयोजन है?

समाधान—जघन्य अनन्तानन्त से अनन्त वर्गस्थान ऊपर जाकर और उत्कृष्ट अनन्तानन्त से अनन्त वर्गस्थान नीचे आकर—जो राशि उत्पन्न होती है वह राशि यहाँ पर अनन्तानन्त पद से ग्राह्य है। अथवा जघन्य अनन्तानन्त के तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर जो राशि उत्पन्न होती है। उससे अनन्तगुणी और छहद्रव्यों के प्रक्षिप्त करने पर जो राशि उत्पन्न होती है उससे अनन्तगुणी हीन मध्यम अनन्तानन्त राशि से प्रयोजन है।[3]

शङ्का—तीन बार वर्गित-संवर्गित करने से उत्पन्न हुई यह महाराशि सम्पूर्ण जीवराशि से अनन्तगुणी हीन है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—जघन्य अनन्तानन्त के उत्तरोत्तर वर्ग करने पर, जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानों से, ऊपर मध्यम अनन्तानन्तगुणे वर्गस्थान जाकर सम्पूर्ण जीवराशि की वर्गशलाका उत्पन्न होती है, जबकि तीन बार वर्गित-संवर्गित करने से उत्पन्न राशि की वर्गशलाका इससे पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है (यानी जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानों से ऊपर कुछ अधिक जघन्य परीतानन्तगुणे वर्गस्थान जाकर ही उत्पन्न हो जाती है)। इससे जाना जाता है कि जीवराशि की वर्गशलाका से तीन बार वर्गित-संवर्गित० की वर्गशलाकाएँ अनन्तगुणी हीन हैं। अतः राशि भी अनन्तगुणी हीन है।

बात यह है कि व्यय होने पर समाप्त होने वाली राशि को अनन्तरूप मानने में विरोध आता है। इसप्रकार कथन करने से अर्धपुद्गलपरिवर्तन के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता, क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तन को उपचार से अनन्त माना है।

शङ्का—जिसमें छह द्रव्य प्रक्षिप्त किये गये हैं, वह राशि कौनसी है?

समाधान—तीन बार वर्गित संवर्गित राशि में सिद्ध, निगोदजीव, वनस्पतिकायिक, पुद्गल, काल के समय और अलोकाकाश ये छह अनन्तराशियाँ मिला देनी चाहिए।

सिद्धाणिगोदजीवा वणप्फदी कालो य पोग्गला चेय।
सव्वमलोगागासं छप्पेदे-णंत-पक्खेवा ॥३१२॥ [ति.प.अ. ४]

---

१. "अणंताणंताहि ओसप्पिणि–उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ॥" [ध.पु. ३ पृ. २७]। २. यत्रानन्तं मार्गणं तत्राजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तं ग्राह्यम्।" [त.रा.वा. ३-२८]। ३. ध.पु. ३ पृ. १६।

प्रक्षिप्त करने योग्य इन छह राशियों के मिलाने पर छह द्रव्य प्रक्षिप्त राशि होती है। इसप्रकार तीन बार वर्गित संवर्गित राशि से अनन्तगुणे और छह द्रव्य प्रक्षिप्त राशि से अनन्तगुणे हीन इस मध्यम अनन्तानन्त की जितनी संख्या होती है तन्मात्र जीवराशि है।[1]

शङ्का—"अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के द्वारा जीव अपहृत नहीं होते," यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि जीवराशि से काल के समय अनन्तगुणे हैं? कहा भी है—

[2]धम्माधम्मागासा तिण्णि वि तुल्लाणि होंति थोवाणि।
वड्ढीदु जीव-पोग्गल-कालागासा अणंतगुणा ॥१९॥

अर्थात् "धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और लोकाकाश इनके प्रदेश समान होते हुए भी स्तोक हैं तथा जीवद्रव्यराशि इससे अनन्तगुणी है। उससे पुद्गलराशि अनन्तगुणी है, उससे काल के समय अनन्त-गुणे हैं, उससे आकाश के प्रदेश अनन्त गुणे हैं।" इससे जाना जाता है कि जीवराशि भले ही समाप्त हो जाओ, किन्तु काल के समय समाप्त नहीं हो सकते, क्योंकि जीवराशि से काल के समय अनन्तगुणे हैं।

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि जीवराशि का प्रमाण निकालने में अतीत काल का ही ग्रहण किया है। जिसप्रकार लोक में प्रस्थ (धान्य मापने का काष्ठ का माप विशेष) तीनप्रकार से विभक्त है, अनागत, वर्तमान और अतीत। उनमें से जो निष्पन्न नहीं हुआ है वह अनागत प्रस्थ है। जो बनाया जा रहा है वह वर्तमान प्रस्थ है और जो निष्पन्न हो चुका है और व्यवहार के योग्य है वह अतीत प्रस्थ है। उनमें से अतीत प्रस्थ के द्वारा सम्पूर्ण बीज मापे जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक गाथा इसप्रकार है—

[3]पत्थो तिहा विहत्तो अणागदो वट्टमाणतीदो य।
एदेसु अदीदेण दु मिणिज्जदे सव्व बीजं तु ॥२०॥

प्रस्थ तीन प्रकार का है, अनागत, वर्तमान और अतीत। इनमें से अतीत प्रस्थ के द्वारा सम्पूर्ण बीज मापे जाते हैं। इसी प्रकार काल भी तीन प्रकार का है अनागत, वर्तमान और अतीत। उनमें से अतीत काल के द्वारा सम्पूर्ण जीवराशि का प्रमाण जाना जाता है। और भी कहा है—

[4]कालो तिहा विहत्तो अणागदो वट्टमाणतीदो य।
एदेसु अदीदेण दु मिणिज्जदे जीवरासी दु ॥२१॥

काल तीन प्रकार का है, अनागत काल, वर्तमान काल और अतीतकाल। इनमें से अतीत-काल के द्वारा सम्पूर्ण जीवराशि का प्रमाण जाना जाता है। इसलिए जीवराशि का प्रमाण समाप्त नहीं होता है, परन्तु अतीत काल के सम्पूर्ण समय समाप्त हो जाते हैं। सोलह राशिगत अल्पबहुत्व से यह जाना जाता है। वह सोलह राशिगत अल्पबहुत्व इस प्रकार है—वर्तमान काल सबसे स्तोक। अभव्य जीवों का प्रमाण वर्तमान काल से जघन्ययुक्तानन्तगुणा है। अभव्य राशि से

---

१. धवला पु. ३ पृ. २४-२५-२६। २. ध.पु. ३ पृ. २९। ३. ध.पु. ३ पृ. २९। ४. ध.पु. ३ पृ. २९।

सिद्धकाल अनन्तगुणा है। सिद्धकाल से सिद्ध संख्यातगुणे हैं। सिद्ध जीवों से असिद्धकाल असंख्यात-गुणा है। असिद्धकाल से अतीत काल विशेष अधिक है अथवा सिद्धराशि को संख्यातआवली से गुणा करने पर अतीत काल का प्रमाण प्राप्त होता है।[1] अतीत काल से भव्यमिथ्यादृष्टि जीव अनन्तगुणे हैं। भव्य मिथ्यादृष्टियों से भव्यजीव विशेष अधिक हैं। भव्य जीवों से सामान्य मिथ्यादृष्टि जीव विशेष अधिक हैं। सामान्य मिथ्यादृष्टियों से संसारी जीव विशेष अधिक हैं। संसारी जीवों से सम्पूर्ण जीव विशेष अधिक हैं, सिद्ध जीवों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं। सम्पूर्ण जीवराशि से पुद्‌गल द्रव्य अनन्तगुणा है। यहाँ सम्पूर्ण जीवराशि से अनन्तगुणा गुणकार है। पुद्‌गल द्रव्य से अनागतकाल अनन्तगुणा है। यहाँ सम्पूर्ण पुद्‌गल द्रव्य से अनन्तगुणा गुणकार है। अनागत काल से सम्पूर्ण काल विशेष अधिक है। सम्पूर्ण काल से अलोकाकाश अनन्तगुणा है। यहाँ सम्पूर्ण काल से अनन्तगुणा गुणकार है। अलोकाकाश से सम्पूर्ण आकाश विशेष अधिक है। इस प्रकार इस अल्पबहुत्व से प्रतीत हो जाता है कि अतीत काल से सम्पूर्ण जीव अनन्तगुणे हैं। अतः अतीत काल के सम्पूर्ण समय अपहृत हो जाते हैं, परन्तु जीवराशि अपहृत नहीं होती। मोक्ष को जाने वाले जीवों की अपेक्षा संसारी जीवराशि का व्यय होने पर भी मिथ्यादृष्टि जीवराशि का सर्वथा विच्छेद नहीं होता।[2] यदि अनन्तानन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों से सम्पूर्ण जीवराशि अपहृत हो जावे तो सर्व भव्यजीवों के व्युच्छेद का प्रसंग आता है।[3]

शङ्का—अतीत काल से अपहृत किस प्रकार किया जाता है?

समाधान—एक ओर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के समयों को स्थापित करके और दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीवराशि को स्थापित करके, काल के समयों में से एक-एक समय और उसी के साथ मिथ्यादृष्टि जीवराशि के प्रमाण में से एक-एक जीव कम करते जाना चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर काल के समय और जीवराशि के प्रमाण को कम करते हुए चले जाने पर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के सब समय समाप्त हो जाते हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण समाप्त नही होता।[4]

सर्व जीवराशि (जो मध्यम अनन्तानन्त है) में से सिद्ध जीवराशि (संख्यातावली गुणित अतीत काल) को घटा देने पर संसारी जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। संसारी जीवराशि में से असंख्यात नारकी, असंख्यात मनुष्य व असंख्यातदेव इन तीन गतियों की असंख्यातरूप संख्या को कम कर देने से सामान्य तिर्यंचों का प्रमाण प्राप्त होता है जो अनन्त है तथा संसारी जीवराशि से कुछ कम है। तिर्यंच जीवराशि भी अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होती।[5]

पंचेन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं। जघन्य असंख्यातासंख्यात भी नहीं हैं और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात भी नहीं हैं, किन्तु मध्यम असंख्यातासंख्यात हैं। अर्थात् सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के वर्ग से जगत्प्रतर को भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतना पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण है। अथवा सूच्यंगुल को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो लब्ध हो उसके वर्ग से जगत्प्रतर

---

१. "तीदो संखेज्जावलिहद सिद्धाणं पमाणं तु ॥५७८॥" [गो.जी.] २. ध.पु. ३ पृ. २८-३३। ३. ध.पु. ७ पृ. २५१। ४. ध.पु. ३ पृ. २८। ५. "अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण॥१६॥" [ध. पु. ७ पृ. २५१]।

को भाग देने पर पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण प्राप्त होता हैं ।[१] इसमें से असंख्यात नारकी, असंख्यात देव तथा असंख्यात मनुष्य इन तीनों असंख्यातराशियों के घटाने पर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का प्रमाण प्राप्त होता है ।

जगत्प्रतर को सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग के वर्ग से भाजित करने पर पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है जो मध्यम असंख्यातासंख्यात है । इसमें से असंख्यातनारकी, संख्यातमनुष्य व असंख्यातदेव इन तीन गतियों के प्रमाण को घटाने पर पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है ।

देव-अवहारकाल को संख्यातरूपों से गुणित करने पर पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी जीवों का अवहारकाल होता है ।[२] अथवा छह सौ योजन के अंगुल करके वर्ग करने पर २१२३ कोड़ाकोड़ी, छत्तीस कोड़ी लाख और ६४ कोड़ी हजार (२१२३,३६,६४,००००००००००) प्रतरांगुल पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी का अवहारकाल होता हैं ।[३]

पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों के अवहारकाल से सम्बन्ध रखने वाला यह कितने ही आचार्यों का व्याख्यान घटित नहीं होता है, क्योंकि तीन सौ योजनों के अंगुलों का वर्गमात्र व्यन्तर देवों का अवहारकाल होता है ।

शङ्का– यह पूर्वोक्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों के अवहारकाल का व्याख्यान असत्य है और वाणव्यन्तर देवों के अवहारकाल के प्रमाण का व्याख्यान सत्य है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—इस विषय में पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी सम्बन्धी अवहारकाल का व्याख्यान असत्य ही है और व्यन्तर देवों के अवहारकाल का व्याख्यान सत्य ही है, ऐसा एकान्तमत नहीं है, किन्तु उक्त दोनों व्याख्यानों में से कोई एक व्याख्यान असत्य होना चाहिए अथवा दोनों ही व्याख्यान असत्य हैं ।[४]

षट्खंडागम के मूल सूत्रों में तो 'क्षेत्र की अपेक्षा पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी जीवों के द्वारा देव-अवहारकाल से संख्यातगुणे काल से जगत्प्रतर अपहृत होता है' ऐसा कहा है ।[५] देव-अवहारकाल २५६ अंगुल का वर्ग है । क्षेत्र की अपेक्षा देवों का प्रमाण जगत्प्रतर के २५६ अंगुल के वर्गरूप प्रतिभाग से प्राप्त होता है ।[६]

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का मत तो यही है कि ६०० योजन के वर्ग से जगत्प्रतर को भाग देने पर पंचेन्द्रिय योनिनी का प्रमाण प्राप्त होता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच लब्ध्यपर्याप्त जीव द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा असंख्यात हैं । काल की अपेक्षा असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणियों के द्वारा अपहृत होते हैं । क्षेत्र की अपेक्षा पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तों के द्वारा देवों के अवहारकाल से असंख्यातगुणे हीन काल के

---

१. "खेत्तेण पंचिंदिएसु पदरमवहिरदि असंगुलस्स असंखेज्जदि भाग वग्ग पडिभाएण ।।८२।।"[ध. पु. ३ पृ. ३१४; ध. पु. ७ पृ. २७० सूत्र ६४]। २. ध. पु. ७ पृ. २५३। ३. ध. पु. ३ पृ. २३०। ४. ध. पु. ३ पृ. २३१। ५. ध. पु. ३ पृ. २३० सूत्र ३५ व ध. पु. ७ पृ. २५३ सूत्र २१। ६. ध. पु. ७ पृ. २६० सूत्र ३३। ध. पु. ३ पृ. २६८ सूत्र ५५।

द्वारा जगत्प्रतर अपहृत होता है।[1] पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस (२५६ का वर्ग) प्रतरांगुल देवों के अवहार काल में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त का अवहार-काल होता है।[2] सामान्य पंचेन्द्रिय तिर्यंच के प्रमाण में से पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तराशि को घटा देने पर पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों का प्रमाण प्राप्त होता है।

शङ्का—पंचेन्द्रिय तिर्यंच सामान्य में से मात्र पंचेन्द्रिय पर्याप्त क्यों कम किये गये, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी का प्रमाण भी कम होना चाहिए, क्योंकि पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी भी पर्याप्त होते हैं।

समाधान—नहीं, पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त में तीनों वेदवाले जीव आ जाते हैं।[3] अतः पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तकों के प्रमाण में पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों का प्रमाण भी गर्भित है।

इसप्रकार तिर्यंचगति सम्बन्धी संख्या-प्ररूपणा समाप्त हुई।

मनुष्यों का प्रमाण, पर्याप्तमनुष्यों, मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्यों की संख्या

सेढीसूईअंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा ।
सामण्णमणुसरासी पंचमकदिघणसमा पुण्णा ॥१५७॥
[5]तललीनमधुगविमलं धूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ॥१५८॥
पज्जत्तमणुस्साणं, तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं ।
सामण्णा पुण्णूणा मणुवअपज्जत्तगा होंति ॥१५९॥

गाथार्थ—सूच्यंगुल के प्रथम और तृतीय वर्गमूल से जगच्छ्रेणी को भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसमें से एक कम करने से प्राप्त राशिप्रमाण सामान्य मनुष्य हैं। तथा पाँचवें वर्ग के घनप्रमाण पर्याप्त मनुष्य हैं ॥१५७॥ तकार से सकार पर्यन्त गाथा में विद्यमान अक्षरों से सूचित (उलटे क्रम से) क्रमशः छह, तीन, तीन, शून्य, पाँच, नौ, तीन, चार, पाँच, तीन, नौ, पाँच, सात, तीन, तीन, चार, छह, दो, चार, एक, पाँच, दो, छह, एक, आठ, दो, दो, नौ और सात अङ्क प्रमाण मनुष्य पर्याप्तकों की संख्या है ॥१५८॥ पर्याप्त मनुष्यों के प्रमाण का तीन चौथाई ($\frac{3}{4}$) मनुष्यिनियों का प्रमाण है। सामान्य मनुष्यराशि में पर्याप्त मनुष्यराशि कम करने पर जो राशि शेष रहे उतने प्रमाण अपर्याप्त मनुष्य होते हैं ॥१५९॥

विशेषार्थ—मनुष्यगति में मनुष्य द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं।[4] काल की अपेक्षा मनुष्य

---

१. "पंचिंदियतिरिक्ख अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया असंखेज्जा ॥३७॥ असंखेज्जासंखेज्जाहि ओसप्पिणि उस्सप्पिणीहिं अवहिरंति कालेण ॥३८॥ खेत्तेण पंचिंदियतिरिक्ख अपज्जत्तेहि पदरमवहिरदि देव अवहारकालादो असंखेज्जगुणहीणेण कालेण ॥३९॥" [ध. पु. ३ पृ. २३९] २. ध पु. ३ पृ. २३९। ३. "पंचिंदियतिरिक्ख पज्जत्ततिवेदा" [ध. पु. ३ पृ. २३८]। ४. ध. पु. ७ पृ. २५८। ५. "मणुसगदीए मणुस्सा दव्वपमाणेण असंखेज्जा" ध.पु. ७ पृ. २५४।

असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं।[१] सूच्यंगुल के प्रथमवर्गमूल को उसके तृतीय वर्गमूल से गुणित करके जगच्छ्रेणी को भाग देने से एक अधिक मनुष्यराशि का प्रमाण प्राप्त होता है। एक कम कर देने से मनुष्यों की संख्या प्राप्त होती है।[२]

शङ्का—एक कम किसलिए किया गया है ?

समाधान—चूंकि जगच्छ्रेणी कृतयुग्मराशिरूप है और मनुष्यराशि तेजोज है, अतः मनुष्यराशि में एक प्रक्षेप करके ज.श्रे. को भाग देने पर सूच्यङ्गुल का प्रथमवर्गमूल गुणित तृतीयवर्गमूल प्राप्त होता है।

शङ्का—'कृतयुग्म' और 'तेजोज' कौनसी राशि हैं ?

समाधान—जो राशि चार से अपहृत होती है वह कृतयुग्मराशि है। जिस राशि को चार से अपहृत करने पर तीन अङ्क शेष रहते हैं वह तेजोजराशि[३] है। कहा भी है—

[४]चोद्दस बादरजुम्मं सोलस कदजुम्मेत्थ कलियोजो।
तेरस तेजोजो खलु पण्णरसेवं खु विण्णेया ॥३॥

अर्थ—चौदह को बादरयुग्म, **सोलह को कृतयुग्म**, तेरह को कलिओज और **पन्द्रह को तेजोज** राशि जानना चाहिए।

तेजोजराशि में एक प्रक्षिप्त करने से कृतयुग्म राशि हो जाती है। जैसे—१५ तेजोजराशि में १ मिलाने से (१५+१) १६ कृतयुग्मराशि हो जाती है, जिसके द्वारा कृतयुग्म ज.श्रे. विभाजित हो जाती है।

ज.श्रे. को सूच्यंगुल के प्रथमवर्गमूल व तृतीयवर्गमूल से विभक्त करने पर ज.श्रे. का प्रमाण असंख्यातयोजन कोटि रह जाता है।[५] इस प्रकार सामान्य मनुष्यराशि का प्रमाण मध्यम असंख्यातासंख्यात सिद्ध हो जाता है।

कोड़ाकोड़ाकोड़ी के ऊपर और कोड़ाकोड़ाकोड़ी के नीचे अर्थात् द्विरूपवर्गधारा में छठे वर्ग से ऊपर और सातवें वर्ग से नीचे, इनके बीच की संख्या प्रमाण मनुष्य पर्याप्त हैं।[६] यद्यपि यह सामान्य कथन है, तथापि आचार्य परम्परागत गुरूपदेश से पंचम वर्ग के घनप्रमाण (पंचमवर्ग × पंचमवर्ग × पंचमवर्ग = षष्ठवर्ग × पंचमवर्ग) मनुष्य पर्याप्तराशि है।

तकारादि अक्षरों में से किस अक्षर के द्वारा कौन-सी संख्या ग्रहण की जाती है उसके लिए निम्नलिखित श्लोक जानना—

---

१. "असंखेज्जासंखेज्जाहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि अवहिरंति कालेण" ध.पु. ७ पृ. २५५ सूत्र २४। २. "मणुस-मणुस अपज्जत्तएहि रूवं रूवापक्खित्तएहि सेडी अवहिरदि अंगुलवग्गमूलं तदियवग्गमूलगुणिदेण" ध.पु. ७ पृ. २५६ सूत्र २७। ३. "जो रासी चदुहि अवहिरिज्जदि सो कदजुम्मो। जो तिगम्मो सो तेजोजो।" ध. पु. १० पृ. २२-२३। ४. ध. पु. १० पृ. २३। ५. "तिस्से सेडीए आयामो असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ" ध. पु. ७ पृ. २५६ सूत्र २७। ६. "मणुसपज्जत्ता दव्वपमाणेण कोडाकोडाकोडीए उवरि कोडाकोडाकोडाकोडीए हेट्ठदो छण्हंवग्गाणमुवरि सत्तण्हं वग्गाणं हेट्ठदो" ध. पु. ७ पृ. २५७; ध. पु. ३ पृ. २५३।

कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः ।
स्वर अन शून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ।।[1]

अर्थ—क, ख आदि ९ अक्षरों से (क ख ग घ ङ च छ ज झ) क्रमशः १, २, ३, ४ ५, ६, ७, ८, ९; ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध से क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९; प फ ब भ म से क्रमशः १, २, ३, ४, ५ तथा य, र, ल, व, श, ष, स, ह, से क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ अङ्कों का ग्रहण करना चाहिए। स्वर अ और न शून्य के सूचक हैं। मात्रा और उपरिम अक्षरों को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इनसे किसी अङ्क का बोध नहीं होता।

[2]मनुष्य पर्याप्त जीवराशि पाँचवें वर्ग (बादाल) के घनप्रमाण है, यह कथन युक्ति से घटित नहीं होता, क्योंकि "कोड़ाकोड़ाकोड़ी के ऊपर और कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी के नीचे मनुष्यपर्याप्तराशि है" षट्खण्डागम के इस सूत्र के साथ उक्त कथन का विरोध आता है। पंचम वर्ग (बादाल) का घन २९ अङ्क प्रमाण है, किन्तु एक के आगे २१ शून्य रखने से २२ अङ्क प्रमाण कोड़ाकोड़ाकोड़ी होती है और एक अंक के आगे २८ शून्य रखने से २९ अङ्क प्रमाण कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी होती है। परन्तु पंचम वर्ग के घन का प्रमाण २९ अंक प्रमाण होते हुए भी कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी नामक इस संख्या से बढ़ जाता है। दूसरे, यदि बादालरूप पंचमवर्ग के घनप्रमाण मनुष्य पर्याप्तराशि हो तो वह राशि मनुष्यक्षेत्र (६१९७०८४६६६८६४१६२०००००००० प्रतराङ्गुल प्रमाण क्षेत्र) में समा जानी चाहिए।[3] यदि ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ प्रमाण मनुष्यपर्याप्त जीवराशि को संख्यात प्रतराङ्गुल से गुणा किया जावे तो उस प्रमाण को मनुष्यक्षेत्र से संख्यातगुणे का प्रसङ्ग आ जाएगा।

शङ्का—मनुष्यक्षेत्र का क्षेत्रफल तो प्रमाणप्रतराङ्गुल से प्राप्त किया है, उसमें संख्यात उत्सेधाङ्गुलमात्र अवगाहना से युक्त मनुष्यपर्याप्तराशि कैसे समा जाएगी?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि सबसे उत्कृष्ट अवगाहना से युक्त (३ कोस) मनुष्यपर्याप्त राशि में संख्यातप्रमाण-प्रतराङ्गुलमात्र अवगाहना के गुणकार स्वरूप मुख विस्तार पाया जाता है। उसी प्रकार मनुष्यपर्याप्तराशि से संख्यातगुणे सर्वार्थसिद्धि के देवों की भी जम्बूद्वीप प्रमाण सर्वार्थसिद्धि के विमान में रहने के लिए अवकाश नहीं बन सकता, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि विमान के क्षेत्रफल से संख्यातगुणी अवगाहना से युक्त देवों का वहाँ अवस्थान मानने में विरोध आता है, अतः मनुष्यपर्याप्तराशि एककोड़ाकोड़ाकोड़ी से अधिक है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

[4]पर्याप्त मनुष्यराशि के चार भागों में से तीन भाग प्रमाण मनुष्यिनियाँ हैं और एक चतुर्थांश पुरुष व नपुंसकराशि है। 'मनुष्यिनी' शब्द से द्रव्यस्त्री अर्थात् महिलाओं का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यस्त्री वस्त्र का त्याग नहीं कर सकती और वस्त्र असंयम का अविनाभावी है। इसलिए द्रव्यस्त्रियों के संयमासंयमरूप पञ्चम गुणस्थान ही हो सकता है, संयम नहीं हो सकता, किन्तु मनुष्यिनियों के संयम भी हो सकता है।

---

१. गो. जी. का. गा. १५८ की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका। २. ध. पु. ३ पृ. २५५। ३. ध. पु. ३ पृ. २५८। ४. ध. पु. ७ पृ. २५९।

सामान्य मनुष्यराशि अर्थात् सूच्यंगुल के प्रथम व तृतीय वर्गमूलों से भाजित ज. श्रे. में से संख्यातप्रमाण मनुष्यपर्याप्तराशि घटाने पर भी अपर्याप्तमनुष्यों का प्रमाण असंख्यात प्राप्त होता है, अतः [1]अपर्याप्तमनुष्य द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा असंख्यात हैं। यहाँ निर्वृत्त्यपर्याप्तकों को ग्रहण न करके लब्ध्यपर्याप्तकों को ग्रहण करना चाहिए।[2] काल की अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत होते हैं।[3] क्षेत्र की अपेक्षा ज. श्रे. के असंख्यातवेंभागप्रमाण लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं। उस ज. श्रे. के असंख्यातवें भागरूप श्रेणी का आयाम असंख्यात करोड़ योजन है।

सूच्यङ्गुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित प्रथम वर्गमूल को शलाकारूप से स्थापित करके रूपाधिक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के द्वारा जगच्छ्रेणी अपहृत होती है।[4]

शङ्का—ज. श्रे. के असंख्यातवें भागरूप श्रेणी का आयाम असंख्यात करोड़ योजन है। यहाँ पर श्रेणी के असंख्यातवें भाग को श्रेणी क्यों कहा गया है?

समाधान—ज. श्रे. के असंख्यातवें भाग को भी श्रेणी कहते हैं, क्योंकि अवयवी के नाम की अवयव में प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे—ग्राम के एक भाग के दग्ध होने पर ग्राम जल गया, ऐसा कहा जाता है। अथवा, इस प्रकार का सम्बन्ध कर लेना चाहिए कि उस श्रेणी के असंख्यातवें भाग का आयाम अर्थात लम्बाई असंख्यात करोड़ योजन है। "अपज्जत्तएहि रूवपक्खित्तएहि रूवा पक्खित्तएहि रूवं पक्खित्तएहि" इन तीनों भी स्थानों में किसी भी वचन से रूपाधिक पर्याप्त मनुष्यराशि का प्रक्षेप करना चाहिए। पुनः लब्ध में से रूपाधिक पर्याप्त मनुष्यराशि को घटा देने पर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का प्रमाण होता है। सूच्यङ्गुल के प्रथम वर्गमूल को तृतीय वर्गमूल से गुणित करके जो लब्ध आवे, उससे ज. श्रे. को भाजित करने में लब्धराशि में से एक कम कर देने पर सामान्य मनुष्यराशि का प्रमाण आता है और इसमें से पर्याप्तक मनुष्यों का प्रमाण घटा देने पर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का प्रमाण प्राप्त होता है।[5]।

अल्पबहुत्व—

अयोगकेवली मनुष्य सबसे स्तोक हैं, उनसे चारों (८-६-१०-११) गुणस्थानवर्ती उपशामक संख्यातगुणे हैं। चारों (८-६-१०-१२) गुणस्थानवर्ती क्षपक, उपशामकों से संख्यातगुणे हैं। सयोगकेवली चारों क्षपकों से संख्यातगुणे हैं। अप्रमत्तसंयत मनुष्य सयोगकेवलियों से संख्यातगुणे हैं। प्रमत्तसंयत मनुष्य अप्रमत्तसंयतों से संख्यातगुणे हैं। प्रमत्तसंयतों से संयतासंयत मनुष्य संख्यातगुणे हैं। संयतासंयत मनुष्यों से सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य संख्यातगुणे हैं। सासादन सम्यग्दृष्टियों से सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्य संख्यातगुणे हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्यों से असंयत-

---

१. "मणुस अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया? असंखेज्जा ॥५०॥" ध. पु. ३ पृ. २६२। २. ध. पु. ३ पृ. २६२।
३. "असंखेज्जासंखेज्जाहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि अवहिरंति कालेण" ध. पु. ३ पृ. २६२ सूत्र ५१।
४. "खेत्तेण सेढीए असंखेज्जदिभागो। तिस्स सेढीए आयामो असंखेज्जाओ जोयण-कोडीओ। मणुस-अपज्जत्तेहि रूवा पक्खित्तेहि सेढिमवहिरदि अंगुल वग्गमूलं तदियवग्गमूलगुणिदेण ॥५२॥" ध.पु. ३ पृ. २६२। ५. ध.पु. ३ पृ. २६३-२६४।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य संख्यातगुणे हैं। असंयतसम्यग्दृष्टि मनुष्यों से मनुष्यपर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य संख्यातगुणे हैं। मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टियों से पर्याप्त मनुष्यिनी मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणी हैं। मनुष्य अपर्याप्तकों का अवहारकाल असंख्यातगुणा है। मनुष्यअपर्याप्तक असंख्यातगुणे हैं।[1] सामान्य मनुष्यों में सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानप्रतिपन्न जीवों की जो संख्या कही गई है उसके संख्यातवें भाग मनुष्यिनियों में सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानप्रतिपन्न जीवों का प्रमाण है, क्योंकि अप्रशस्त वेदोदय के साथ प्रचुर जीवों को सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—"नपुंसकवेदी असंयतसम्यग्दृष्टि जीव सबसे स्तोक हैं, स्त्रीवेदी असंयतसम्यग्दृष्टि उनसे असंख्यातगुणे हैं और पुरुषवेदी असंयतसम्यग्दृष्टि उनसे असंख्यातगुणे हैं", इस अल्पबहुत्व के प्रतिपादन करने वाले सूत्र से स्त्रीवेदियों के अल्प होने के कारण इनका स्तोकपना जाना जाता है तथा इसी से सासादन सम्यग्दृष्टि आदि के भी स्तोकपना सिद्ध हो जाता है, परन्तु इतनी विशेषता है कि उन सासादनसम्यग्दृष्टि आदि मनुष्यिनियों का प्रमाण इतना है, यह नहीं जाना जाता है, क्योंकि इस काल में इस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है।[2]

देवगति के जीवों का प्रमाण

तिण्णिसयजोययाणं, वेसदछप्पण्णअंगुलाणं च।
कदिहिदपदरं वेंतर, जोइसियाणं च परिमाणं ॥१६०॥

घणअंगुलपढमपदं, तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो।
भवणे सोहम्मदुगे, देवाणं होदि परिमाणं ॥१६१॥

तत्तो एगारणवसगपणचउणियमूलभाजिदा सेढी।
पल्लासंखेज्जदिमा, पत्तेयं आणदादिसुरा ॥१६२॥

तिगुणा सत्तगुणा वा, सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो।
सामण्णदेवरासी, जोइसियादो विसेसहिया ॥१६३॥

गाथार्थ— जगत्प्रतर में तीन सौ योजन के वर्ग का भाग देने पर व्यन्तरदेवों का प्रमाण प्राप्त होता है और दो सौ छप्पन अङ्गुल के वर्ग का भाग देने पर ज्योतिषी देवों का प्रमाण प्राप्त होता है ॥१६०॥ घनाङ्गुल के प्रथमवर्गमूल ज.श्रे. को गुणा करने पर भवनवासी देवों का प्रमाण प्राप्त होता है और ज.श्रे. को घनाङ्गुल के तृतीयवर्गमूल से गुणा करने पर सौधर्म-ईशान युगल के देवों का प्रमाण प्राप्त होता है ॥१६१॥ उससे ऊपर अपने ज.श्रे. के ग्यारहवें, नौवें, सातवें, पाँचवें और चौथे वर्गमूल से भाजित ज.श्रे. प्रमाण तीसरे (सानत्कुमार) कल्प से बारहवें (सहस्रार) कल्प तक ५ कल्पयुगलों में देवों का प्रमाण जानना। आनतादि (२६ विमानों) में देवों का प्रमाण पल्य के असंख्यातवेंभागप्रमाण है ॥१६२॥ सर्वार्थसिद्धि के देव मनुष्यिनियों से तीनगुणे या सातगुणे हैं तथा सामान्यदेवराशि ज्योतिषीदेवों से कुछ अधिक है ॥१६३॥

---

१. ध. पु. ३ पृ. २६६। २. ध. पु. ३ पृ. २६१-२६२।

विशेषार्थ—**शङ्का**—देवगति में देव द्रव्यप्रमाण से कितने हैं ?

समाधान—देवगति में देव द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं। यहाँ असंख्यात से संख्यात और अनन्त का प्रतिषेध जानना चाहिए।[1]

शङ्का—क्षेत्र की अपेक्षा देवों का प्रमाण कितना है ?

समाधान—क्षेत्र की अपेक्षा देवों का प्रमाण जगत्प्रतर को दो सौ छप्पन अङ्गुल के वर्ग से भाग देने पर प्राप्त होता है।[2]

'अङ्गुल' ऐसा सामान्यपद कहने पर यहाँ सूच्यङ्गुल का ग्रहण होता है।[3] २५६ सूच्यङ्गुल का वर्ग ६५५३६ प्रतराङ्गुल होता है। इससे जगत्प्रतर को भाग देने पर देवराशि का प्रमाण होता है। इसप्रकार देवराशि अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) असंख्यातासंख्यातप्रमाण सिद्ध होती है।[4]

शङ्का—काल की अपेक्षा देव कितने हैं ?

समाधान—काल की अपेक्षा देव असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं।[5]

इसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा सामान्य से देवराशि का प्रमाण कहा। तदनन्तर भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों का पृथक्-पृथक् प्रमाण कहते हैं।

शङ्का—भवनवासीदेव द्रव्यप्रमाण से कितने हैं ?

समाधान—भवनवासीदेव द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं।

शङ्का—क्षेत्र की अपेक्षा भवनवासीदेव कितने हैं ?

समाधान—क्षेत्र की अपेक्षा भवनवासीदेव असंख्यातजगच्छ्रेणीप्रमाण हैं, जो जगत्प्रतर के असंख्यातवेंभागप्रमाण है और जिसकी विष्कम्भसूची सूच्यङ्गुल को सूच्यङ्गुल के ही वर्गमूल से गुणित करने पर उपलब्ध होती है।[6] अर्थात् सूच्यङ्गुल को सूच्यङ्गुल के प्रथमवर्गमूल से गुणित करने पर (सूच्यङ्गुलप्रथमवर्गमूल × सूच्यङ्गुलप्रथमवर्गमूल × सूच्यङ्गुलप्रथमवर्गमूल) घनाङ्गुल का प्रथमवर्गमूल प्राप्त होता है यही ज.श्रे. की विष्कम्भसूची है। इस विष्कम्भसूची से जगच्छ्रेणी को गुणित करने पर भवनवासी देवों का प्रमाण प्राप्त होता है।[7]

शङ्का—काल की अपेक्षा भवनवासीदेव कितने हैं ?

समाधान—काल की अपेक्षा भवनवासीदेव असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं।[8]

---

१. ध. पु. ७ पृ. २५६, सूत्र ३०-३१। २. ध. पु. ७ पृ. २६०, सूत्र ३३। ३. "अंगुलमिदि वुत्ते एत्थ सूचिअंगुलं घेत्तव्वं" ध. पु. ३ पृ. २६८, सूत्र ५५ की टीका। ४. ध. पु. ७ पृ. २६०-६१। ५. ध. पु. ७ पृ. २६०, सूत्र ३२। ६. ध. पु. ७ पृ. २६१-२६२, सूत्र ३७-३८। ७. ध. पु. ३ पृ. २७१; सूत्र ५५ की टीका। ८. ध.पु.७ पृ. २६१, सूत्र ३६।

शङ्का—वाणव्यन्तरदेव द्रव्यप्रमाण से कितने हैं ?

समाधान—वाणव्यन्तरदेव द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं।[1]

शङ्का—क्षेत्र की अपेक्षा वाणव्यन्तरदेवों का प्रमाण कितना है ?

समाधान—क्षेत्र की अपेक्षा वाणव्यन्तरदेवों का प्रमाण जगत्प्रतर के संख्यात सौ योजनों के वर्गरूप प्रतिभाग से प्राप्त होता है।[2]

'संख्यात सौ योजन' से अभिप्राय तीन सौ योजन के अङ्गुल करके वर्गित करने पर उत्पन्न हुई (५३०८४१६००००००००००) प्रतराङ्गुलराशि से है।[3]

शङ्का—काल की अपेक्षा वाणव्यन्तरदेव कितने हैं ?

समाधान—काल की अपेक्षा असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं।[4]

यदि तिर्यंचिनियों का अवहारकाल तद्योग्य संख्यातगुणित छह सौ योजनों के अङ्गुलों का वर्गमात्र हो तो वाणव्यन्तरों का अवहारकाल तीनसौ योजनों के अङ्गुलों के वर्गरूप प्रतराङ्गुल प्रमाण हो सकता है। यदि पंचेन्द्रिय तिर्यंचिनियों का अवहारकाल छह सौ योजनों के अङ्गुल के वर्गरूप ही है (गा. १५६) तो वाणव्यन्तरदेवों का अवहारकाल तीन सौ योजन के अङ्गुलों के वर्ग के संख्यातवंभाग होना चाहिए, अन्यथा अल्पबहुत्व के [5]सूत्र के साथ इस कथन का विरोध आता है। उक्त अवहारकाल से भाजित जगत्प्रतर वाणव्यन्तरदेवों का प्रमाण है।[6]

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा स्थूलरूप से ज्योतिषीदेवों का प्रमाण सामान्य देवराशि के समान[7] अर्थात् २५६ सूच्यङ्गुल के वर्ग से भाजित जगत्प्रतर प्रमाण है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा विशेषता है, वह इस प्रकार है—वाणव्यन्तर आदि देव ज्योतिषीदेवों के संख्यातवेंभाग हैं। उनसे सामान्यदेवराशि को अपवर्तित करने पर संख्यात लब्ध आते हैं। उस लब्ध संख्यात का विरलन करके सामान्यदेवराशि को समानखण्ड करके देने पर विरलितराशि के प्रत्येक एक के प्रति वाणव्यन्तर आदि देवराशि प्राप्त होती है। इस वाणव्यन्तर आदि देवराशि को सामान्य देवराशि में से घटा देने पर ज्योतिषीदेवों का प्रमाण प्राप्त होता है।[8]

एक कम अधस्तन विरलन से देव-अवहारकाल को भाजित करने पर प्रतराङ्गुल का संख्यातवांभाग लब्ध आता है, उसे देव-अवहारकाल में मिला देने पर ज्योतिषीदेवों का अवहारकाल होता है।[9]

जैसा कि पहले कह चुके हैं कि "ज्योतिषीदेवों का प्रमाण २५६ सूच्यङ्गुल के वर्ग से भाजित

---

१. ध.पु. ७ पृ. २६२-६३, सूत्र ४०-४१। २. ध.पु. ७ पृ. २६३, सूत्र ४३। ३. "संखेज्जोयणेत्ति वुत्ते तिण्णि-जोयणसयमंगुलं काऊण वग्गिदे जो उप्पज्जदि रासी सो घेत्तव्वो" (ध.पु. ३ पृ. २७३ सूत्र ६३ की टीका) ४. ध.पु. ७ पृ. २६३, सूत्र ४२। ५. "वाणवेंतरदेवा संखेज्जगुणा" (ध.पु. ७ पृ. ५८५, सूत्र ४०)। ६. ध.पु. ३ पृ. २७३-७४। ७. "जोइसियदेवा देवगईणं भंगो" [ध.पु. ३ पृ. २७५, सूत्र ६५]। ८. ध.पु. ३ पृ. २७५-७६, सूत्र ६५ की टीका। ९. ध. पु. ३ पृ. २७६, सूत्र ६५ की टीका।

जगत्प्रतर प्रमाण है", किन्तु यदि यह प्रमाण सामान्यदेवों का है तो २५६ सूच्यङ्गुल के वर्ग प्रमाण सामान्यदेव सम्बन्धी अवहारकाल में प्रतराङ्गुल का संख्यातवाँ भाग मिला देने से ज्योतिषीदेवों का अवहारकाल प्राप्त होता है। इस अवहारकाल से जगत्प्रतर को भाजित करने पर ज्योतिषीदेवों का प्रमाण प्राप्त होता है।

शङ्का—[1]सौधर्म, ऐशानकल्पवासी देव द्रव्यप्रमाण से कितने हैं ?

समाधान—सौधर्म, ऐशानकल्पवासीदेव द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं।

शङ्का—क्षेत्र की अपेक्षा सौधर्म, ऐशानकल्पवासीदेव कितने प्रमाण हैं ?

समाधान—[2]क्षेत्र की अपेक्षा सौधर्म-ऐशानकल्पवासी देव असंख्यात जगच्छ्रेणी प्रमाण हैं। अथवा जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। उन असंख्यात जगच्छ्रेणियों की विष्कम्भसूची सूच्यङ्गुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित सूच्यङ्गुल के द्वितीय वर्गमूल प्रमाण है।

सूच्यङ्गुल के द्वितीयवर्गमूल × (तृतीय वर्गमूल × तृतीय वर्गमूल) को सूच्यङ्गुल के ही तृतीय वर्गमूल से गुणित करने पर = (सूच्यङ्गुल तृतीय वर्गमूल × सू. तृ. वर्गमूल × सू. तृ. वर्गमूल) = घनाङ्गुल का तृतीय वर्गमूल प्राप्त होता है, अतः घनाङ्गुल के तृतीय वर्गमूल प्रमाण सौधर्म-ऐशान कल्पों में देव हैं।[3]

शङ्का—काल की अपेक्षा सौधर्म-ऐशानकल्पवासी देव कितने हैं ?

समाधान—काल की अपेक्षा सौधर्म-ऐशानकल्पवासीदेव असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं।[4]

शङ्का—सानत्कुमारकल्प से सहस्रारकल्प तक के देवों का कितना प्रमाण है ?

समाधान—सानत्कुमारकल्प से सहस्रारकल्प तक के देवों का प्रमाण ज. श्रे. के असंख्यातवें भागप्रमाण है। सामान्य से ज. श्रे. के असंख्यातवें भागत्व की अपेक्षा सप्तमपृथ्वी के नारकियों से कोई भेद नहीं है। विशेष की अपेक्षा भेद है, क्योंकि यहाँ यथाक्रम से ग्यारहवाँ, नौवाँ, सातवाँ, पाँचवाँ और चौथा, इन ज.श्रे के वर्गमूलों की श्रेणीभागहाररूप से उपलब्धि है।[5] अर्थात् सानत्कुमार-माहेन्द्रकल्प में ग्यारहवें वर्गमूल से भाजित ज. श्रे., ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरकल्प में नवें वर्गमूल से भाजित ज. श्रे., लान्तव-कापिष्ठ कल्प में सातवें वर्गमूल से भाजित ज. श्रे., शुक्र-महाशुक्रकल्प में पाँचवें वर्गमूल से भाजित ज. श्रे. तथा शतार-सहस्रारकल्प में चतुर्थ वर्गमूल से भाजित ज. श्रे. प्रमाण देवराशि है।

शङ्का—आनत से अपराजित विमान तक के विमानवासी देव द्रव्यप्रमाण से कितने हैं ?

समाधान—आनत से अपराजित विमानतक के विमानवासीदेव द्रव्यप्रमाण से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यहाँ अन्तर्मुहूर्त से पल्योपम अपहृत होता है।[6]

---

१. ध.पु. ७ पृ. २६४, सूत्र४५-४६। २. ध.पु. ७ पृ. २६५,सूत्र ४८-५०। ३. ध.पु. ७ पृ. २६५, सूत्र ५० की टीका। ४. ध. पु. ७ पृ. २६४, सूत्र ४७। ५. ध. पु. ७ पृ. २६६। ६. ध. पु. ७ पृ. २६६, सूत्र ५२-५४।

यहाँ अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण आवली का असंख्यातवाँ भाग अथवा संख्यात आवलियाँ नहीं है। यद्यपि संख्यात आवलियों का अन्तर्मुहूर्त होता है, तथापि कार्य में कारण का उपचार करने से असंख्यात आवलियों के अन्तर्मुहूर्तपने का कोई विरोध नहीं है।[1]

सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा संख्यात हैं। यहाँ संख्यात का प्रमाण मनुष्यिनियों से तिगुना जानना।[2]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में छठा **गतिमार्गणा अधिकार** पूर्ण हुआ।

७. इन्द्रिय–मार्गणाधिकार

इन्द्रिय का निरुक्ति अर्थ

[3]अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहं ति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण ॥१६४॥

गाथार्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्रदेव बिना किसी विशेषता के "मैं इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र हूँ" इस प्रकार मानते हुए प्रत्येक स्वयं को स्वामी मानते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों को जानना चाहिए ॥१६४॥

विशेषार्थ—इन्द्र, सामानिक आदि भेद न होने के कारण कल्पातीत ग्रैवेयक आदि विमानवासी अहमिन्द्रदेवों में परस्पर कोई विशेषता नहीं है, अतः अपने-अपने व्यापार में "मैं ही हूँ" ऐसा स्वतंत्ररूप से अपने को मानते हुए प्रत्येक पृथक्-पृथक् स्वामी-सेवक की आधीनता रहित प्रवर्तते हैं। इसी प्रकार हीनाधिकता के भेद से रहित स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ भी अपने-अपने स्पर्श आदि विषय को ग्रहण करने में "मैं ही हूँ" ऐसा अपने आपको स्वतंत्र मानते हुए दूसरे की अपेक्षा बिना प्रत्येक इन्द्रिय स्वामीपने से वर्तन करती है। स्पर्शन इन्द्रिय को अपना स्पर्शरूप विषय जानने में रसना इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार रसना आदि इन्द्रियाँ भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा रहित, अपने-अपने विषय को स्वभाव से जानती हैं।[4]

इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होने से यहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है और इन्द्र (आत्मा) के लिङ्ग (चिह्न) को इन्द्रिय कहते हैं। जो इन्द्र (नामकर्म) से रचो जावे, वह इन्द्रिय है।[5]

इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषय में ही रत हैं अर्थात् नियत विषय में ही व्यापार करती हैं, अतः संकर और व्यतिकर दोष से रहित हैं। अपने-अपने विषय को स्वविषय कहते हैं, उसमें जो निश्चय से अर्थात् अन्य इन्द्रियों के विषय में प्रवृत्ति न करके केवल अपने ही विषय में रत हैं, वे इन्द्रियाँ हैं।

अथवा अपनी-अपनी वृत्ति में जो रत हैं, वे इन्द्रियाँ हैं। इसका स्पष्टीकरण यह है कि

---

१. ध. पु. ७ पृ. २६७। २. ध. पु. ३ पृ. २८६। ३. ध.पु. १ पृ. १३७। प्रा.पं.सं. (ज्ञानपीठ) पृ. १४ गा. ६५, पृ. ५७६ गा. ६६। ४. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीका। ५. ध.पु. १ पृ. २३२।

संशय और विपर्ययज्ञान के निर्णय आदि के करने में जो प्रवृत्ति होती है वह वृत्ति है। उस अपनी-अपनी वृत्ति में वे रत हैं, अतः वे इन्द्रियाँ हैं।

शङ्का—जब इन्द्रियाँ अपने विषय में व्यापार नहीं करती हैं तब व्यापार-रहित अवस्था में उनको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रूढ़ि के बल से ऐसी व्यापार-रहित अवस्था में भी उनमें इन्द्रियव्यवहार होता है।

अथवा जो अपने अर्थ में निरत हैं, वे इन्द्रियाँ हैं। "अर्यते" अर्थात् जो निश्चित किया जावे वह अर्थ है। उस अपने विषयरूप अर्थ में जो व्यापार करती हैं वे इन्द्रियाँ हैं। अथवा, अपने-अपने स्वतंत्र विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करने से वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं।[1]

इन्द्रियों के भेद और उनका स्वरूप

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।
भाविंदियं तु दव्वं, देहुदयजदेहचिण्हं तु ॥१६५॥

गाथार्थ—मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई विशुद्धि एवं उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान भावेन्द्रिय है तथा शरीर नामकर्मोदय से शरीर में उत्पन्न हुए चिह्न द्रव्येन्द्रियाँ हैं ॥१६५॥

विशेषार्थ—इन्द्रियों के दो भेद हैं—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से आत्मा में विशुद्धि अर्थात् अर्थ ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होती है, उस अर्थग्रहण की शक्ति को **लब्धि** कहते हैं।[2] लब्धि को योग्यता भी कहते हैं। उस विशुद्धि के द्वारा अपने विषयभूत अर्थग्रहणरूप व्यापार **उपयोग** है। लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियाँ हैं। चैतन्य की पर्याय भाव है और उस चैतन्य का लक्षण अथवा चिह्न **भावेन्द्रियाँ** हैं। जातिनामकर्मोदय सहित शरीरनामकर्मोदय से शरीर में स्पर्शनादि भावेन्द्रियों के चिह्नस्वरूप **द्रव्येन्द्रियाँ** हैं। पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है।[3]

शङ्का—द्रव्येन्द्रिय में पुद्गल का प्रयोग नहीं हुआ अतः द्रव्येन्द्रिय को पुद्गलद्रव्य की पर्याय क्यों कहा गया है ?

समाधान—नाम के एकदेश से सम्पूर्ण नाम का ग्रहण हो जाता है,[4] अतः पुद्गलद्रव्य के 'द्रव्य' ऐसा एकदेश मात्र कहने से पुद्गल द्रव्य का ग्रहण हो जाता है।

भावेन्द्रिय के **लब्धि** और **उपयोग** रूप दो भेद हैं।[5] प्राप्ति को लब्धि कहते हैं।[6] इन्द्रिय की निर्वृत्ति के कारणभूत ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम विशेष को **लब्धि** कहते हैं। अथवा जिसके

---

१. ध.पु. १ पृ. २३७। २. "विशुद्धिः अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः।" [मि.च. श्री अ. सूरि कृत टीका]। ३. "द्रव्यं-पुद्गलद्रव्यपर्यायः तद्रूपमिद्रियं द्रव्येन्द्रियं" [वही]। ४. "नामैकदेशस्य नाम्नि वर्तनात्" [वही]। ५. त.सू.अ. २ सू. १८। ६. "लम्भनं लब्धिः" सर्वार्थसिद्धि अ. २ सूत्र १८ की टीका।

सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना में व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम को **लब्धि** कहते हैं। क्षयोपशमरूप लब्धि के निमित्त के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मपरिणाम को **उपयोग** कहते हैं।[1]

निर्वृत्ति और उपकरण, ये द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं।[2] रचना को निर्वृत्ति कहते हैं। यह रचना, कर्म करता है। निर्वृत्ति दो प्रकार की है—बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यन्तर-निर्वृत्ति।

शङ्का—बाह्यनिर्वृत्ति किसे कहते हैं?

समाधान—इन्द्रिय संज्ञा को प्राप्त आत्मप्रदेशों में प्रतिनियत आकाररूप और नामकर्म के उदय से अवस्था विशेष को प्राप्त पुद्‌गलप्रचय को बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं।

शङ्का—आभ्यन्तरनिर्वृत्ति किसे कहते हैं।

समाधान—प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकाररूप से परिणत हुए लोकप्रमाण अथवा उत्सेधाङ्गुल के असंख्यातवेंभागप्रमाण आत्मप्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं।[3]

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अथवा जो निर्वृत्ति का उपकार करता है वह उपकरण है। बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से उपकरण भी दो प्रकार है। नेत्र की दोनों पलकें और नेत्ररोम आदि नेत्रेन्द्रिय के बाह्य उपकरण हैं। कृष्णमण्डल और शुक्लमण्डल नेत्रेन्द्रिय के अभ्यन्तर-उपकरण हैं।[4]

शङ्का—जिस प्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय का क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम क्या सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होता है या प्रतिनियत आत्मप्रदेशों में? आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम होता है; यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा के सम्पूर्ण अवयवों से रूपादिक की उपलब्धि का प्रसङ्ग आ जाएगा। यदि कहा जावे कि सम्पूर्ण अवयवों से रूपादिक की उपलब्धि होती ही है, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वाङ्ग से रूपादिक का ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता। इसलिए सर्वाङ्ग में क्षयोपशम नहीं माना जा सकता है। यदि आत्मा के प्रतिनियत अवयवों में चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम माना जाए सो भी नहीं बनता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर "आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं और चलाचल भी हैं" इस प्रकार से **वेदनाप्राभृत** के सूत्र[5] से आत्मप्रदेशों का भ्रमण अवगत हो जाने पर जीव-प्रदेशों की भ्रमणरूप अवस्था में सम्पूर्ण जीवों को अन्धेपने का प्रसङ्ग आ जाएगा?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवों के सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की गई है, परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जीव के सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों द्वारा रूपादि की उपलब्धि का प्रसङ्ग भी नहीं आता है, क्योंकि रूपादि के ग्रहण करने में सहकारी कारणरूप बाह्यनिर्वृत्ति जीव के सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में नहीं पाई जाती है।[6]

---

१. ध.पु. १ पृ. २३६। २. त.सू.अ. २ सू. १७। ३. स.सि.अ. २ सू. १७ की टीका। ४. स. सि. २/१७ की टीका। ५. ध. पु. १२ पृ. ३६७-६८, सूत्र ५–७ एवं धवल १३/२६६। गो. जी. गा. ५६२; त. रा. वा. अ. ५ सू. ८ वा. १४। ६. ध. पु. १ पृ. २३२–३३।

शङ्का—कर्मस्कन्धों के साथ जीव के सम्पूर्णप्रदेशों के भ्रमण करने पर जीवप्रदेशों से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त शरीर का भी जीवप्रदेशों के समान भ्रमण होना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जीवप्रदेशों की भ्रमणरूप अवस्था में शरीर का जीवप्रदेशों के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं रहता है ।

शङ्का—भ्रमण के समय शरीर के साथ जीवप्रदेशों का समवायसम्बन्ध नहीं मानने पर मरण प्राप्त हो जाएगा ?

समाधान—नहीं, आयुकर्म के क्षय को मरण का कारण माना है ।

शङ्का—तो जीवप्रदेशों का शरीर के साथ पुनः समवाय सम्बन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान—इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि जिन्होंने नाना अवस्थाओं का उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवप्रदेशों का शरीर के साथ पुनः समवायसम्बन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा जाता है । तथा दो मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध होने में कोई विरोध भी नहीं आता है । अथवा जीवप्रदेश और शरीर-संघटन के हेतुरूप कर्मोदय के कार्य की विचित्रता से यह सब होता है । जिसके अनेक प्रकार के कार्य अनुभव में आते हैं, ऐसे कर्म का सत्त्व पाया ही जाता है ।

शङ्का—द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीवप्रदेशों का भ्रमण नहीं होता है, ऐसा क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—नहीं, यदि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीवप्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जावे तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों को घूमती हुई पृथ्वी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिए आत्मप्रदेशों के भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रियप्रमाण आत्मप्रदेशों का भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिए ।[1]

शङ्का—उपयोग इन्द्रियों का फल है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियों से होती है, अतः उपयोग को इन्द्रियसंज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कारण में रहने वाले धर्म की कार्य में अनुवृत्ति होती है । लोक में कार्य, कारण का अनुकरण करते हुए देखा जाता है । जैसे घट के आकार से परिणत हुए ज्ञान को घट कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुए उपयोग को भी इन्द्रिय संज्ञा दी गई है ।[2]

इन्द्रिय-अपेक्षा जीवों के भेद

फासरसगंधरूवे, सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।
इगिबितिचदुपंचिंदियजीवा णियभेयभिण्णाओ ॥१६६॥

एइंदियस्स फुसणं, एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं ।
होंति कमउड्ढियाइं, जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं ॥१६७॥

---

१. ध.पु. १ पृ. २३३-३४ । २. ध.पु. १ पृ. २३७ ।

गाथार्थ—स्पर्श-रस-गन्ध-रूप और शब्द का ज्ञान जिनका चिह्न है, ऐसे एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं और वे अपने-अपने भेदों सहित हैं ।।१६६।। एकेन्द्रियजीव के एक स्पर्शन-इन्द्रिय ही होती है, शेष जीवों के क्रम से जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र बढ़ते जाते हैं ।।१६७।।

विशेषार्थ—जिनके एक ही इन्द्रिय पाई जाती है वे एकेन्द्रिय जीव हैं।

शङ्का—वह एक इन्द्रिय कौनसी है?

समाधान—वह एक इन्द्रिय स्पर्शन है।

शङ्का—स्पर्शनेन्द्रिय किसे कहते हैं?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदयरूप आलम्बन से जिसके द्वारा आत्मा पदार्थों को स्पर्श करता है अर्थात् पदार्थगत स्पर्शगुण की मुख्यता से जानता है, वह स्पर्शन-इन्द्रिय है।

स्पर्शनेन्द्रिय का यह लक्षण करणकारक की अपेक्षा से है। इन्द्रिय की स्वतंत्रविवक्षा में कर्तृ साधन भी होता है। जैसे–वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशमादि पूर्वोक्त कारणों के रहने पर जो स्पर्श करती है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं।

शङ्का—स्पर्शन इन्द्रिय का विषय क्या है?

समाधान—स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है।

शङ्का—स्पर्श का क्या अर्थ है?

समाधान—जिस समय द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से वस्तु ही विवक्षित होती है, उस समय इन्द्रिय के द्वारा वस्तु का ही ग्रहण होता है, क्योंकि वस्तु को छोड़कर स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते। इसलिए इस विवक्षा में जो स्पर्श किया जाता है, उसे स्पर्श कहते हैं और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता है। तथा जिस समय पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से पर्याय विवक्षित होती है, उस समय पर्याय का द्रव्य से भेद होने के कारण उदासीनरूप से अवस्थितभाव का कथन किया जाता है, अतः स्पर्श में भावसाधन भी बन जाता है। जैसे—स्पर्शन ही स्पर्श है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो सूक्ष्म परमाणु आदि में स्पर्श का व्यवहार नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें स्पर्शनरूप क्रिया का अभाव है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परमाणु आदि में भी स्पर्श है, अन्यथा परमाणुओं के कार्यरूप स्थूल पदार्थों में स्पर्श की उपलब्धि नहीं हो सकती थी, किन्तु स्थूल पदार्थों में स्पर्श पाया जाता है, इसलिए सूक्ष्म परमाणुओं में भी स्पर्श की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि न्याय का यह सिद्धान्त है कि जो अत्यन्त असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि सर्वथा असत् की उत्पत्ति मानी जाए तो अतिप्रसङ्ग हो जाएगा। इसलिए यह समझना चाहिए कि परमाणुओं में स्पर्शादिक अवश्य पाये जाते हैं, किन्तु वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते।

शङ्का—जबकि परमाणुओं में रहने वाला स्पर्श इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो उसको स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि परमाणुगत स्पर्श के इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की योग्यता का सदैव अभाव नहीं है।

शङ्का—परमाणुओं में रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियों के द्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि जब परमाणु स्थूल कार्यरूप से परिणत होते हैं तब तद्गत धर्मों को इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने की योग्यता पाई जाती है।

शङ्का—वे एकेन्द्रिय जीव कौन-कौन से हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं।

शङ्का—इन पाँचों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियाँ नहीं होतीं, यह कैसे जाना जावे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले होते हैं, इसप्रकार कथन करने वाला आर्षवचन पाया जाता है।

शङ्का—वह आर्षवचन कौन सा है ?

समाधान—वह आर्षवचन यह है—

[1]जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पासिंदिएण एक्केण।
कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण ॥१३५॥

अर्थ—क्योंकि स्थावरजीव एक स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपन करता है, अतः वह एकेन्द्रियजीव है।

अथवा, [2]**"वनस्पत्यन्तानामेकम्" तत्त्वार्थसूत्र** के इस वचन से जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। इस सूत्र का अर्थ इसप्रकार है—'अन्त' शब्द अनेक अर्थ का वाचक है। कहीं पर अवयवरूप अर्थ में आता है; जैसे—'वस्त्रान्तः' वस्त्र का अवयव। कहीं पर समीपता अर्थ में आता है, जैसे—'उदकान्तं गतः' जल के समीप गया। कहीं पर अवसानरूप अर्थ में आता है, जैसे 'संसारान्तं गतः' संसार के अन्त को प्राप्त हुआ। उनमें यहाँ विवक्षा से 'अन्त' शब्द का अवसानरूप अर्थ जानना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि वनस्पति पर्यन्त जीवों के एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

शङ्का—पृथ्वी से लेकर वनस्पतिपर्यन्त जीवों के पाँच इन्द्रियों में से कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि 'एक' स्पर्शन-इन्द्रिय का बोधक नहीं है, वह तो सामान्य से संख्यावाची है, इसलिए पाँच इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय का ग्रहण किया जा सकता है ?

---

१. ध.पु. १ पृ. २३९, प्रा.पं.सं. १/६९। २. त.सू.अ. २ सूत्र २२।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ 'एक' शब्द प्राथम्यवाची है, अतः उससे **'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि**[1]' इस सूत्र में आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन-इन्द्रिय का ही ग्रहण होता है।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम पर, रसनादि शेष इन्द्रियावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने पर तथा एकेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय की वशवर्तिता के होने पर एक स्पर्शन इन्द्रिय उत्पन्न होती है।[2]

एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शनेन्द्रिय। द्वीन्द्रिय जीव के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ। त्रीन्द्रिय जीव के स्पर्शन-रसना-घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ। चतुरिन्द्रिय जीव के स्पर्शन-रसना-घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ तथा पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

एक-एक इन्द्रिय का बढ़ता हुआ क्रम जिन इन्द्रियों का पाया जावे, ऐसी एक-एक इन्द्रिय के बढ़ते हुए क्रमरूप पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।[3]

जिनके दो इन्द्रियाँ होती हैं, वे दो इन्द्रिय जीव हैं। वे दो इन्द्रिय जीव शंख, शुक्ति और कृमि आदिक द्वीन्द्रियजीव हैं। कहा भी है—

[4]कुक्खिकिमि-सिप्पि-संखा-गंडोलारिट्ठ-अक्ख-खुल्ला य।
तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे ॥१३६॥

अर्थात् कुक्षि-कृमि (पेट के कीड़े), सीप, शंख, गण्डोला (उदर में उत्पन्न होने वाली बड़ी कृमि), अरिष्ट, अक्ष (चन्दनक नाम का जलचर जीव विशेष), क्षुल्लक (छोटा शंख) और कौड़ी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं।

शङ्का—वे दो इन्द्रियाँ कौन सी हैं?

समाधान—स्पर्शन और रसना। स्पर्शन का लक्षण कहा जा चुका है। रसना इन्द्रिय का स्वरूप-वीर्यान्तराय रसनेन्द्रियावरण (मतिज्ञानावरण) कर्म के क्षयोपशम से तथा अङ्गोपाङ्ग नाम-कर्म के उदय के अवलम्बन से जिसके द्वारा स्वाद का ग्रहण होता है वह रसना इन्द्रिय है।[5]

शङ्का—रसना इन्द्रिय का विषय क्या है?

समाधान—रसना इन्द्रिय का विषय रस है।

शङ्का—रस शब्द का क्या अर्थ है?

समाधान—जिस समय प्रधानरूप से वस्तु विवक्षित होती है उस समय वस्तु को छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती, इसलिए वस्तु ही रस है। इस विवक्षा में रस के कर्मसाधनपना

---

१. त.सू.अ. २ सूत्र १९। २. ध.पु. १ पृ. २३९-४०। ३. ध.पु. १ पृ. २५८-५९। ४. ध. पु. १ पृ. २४१। ५. ध. पु. १ पृ. २४१।

है, जैसे—जो चखा जाए, वह रस है। तथा जिस समय प्रधानरूप से पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्य से पर्याय का भेद बन जाता है, अतः जो उदासीनरूप से अवस्थित भाव है, उसी का कथन किया जाता है। इस प्रकार रस के भावसाधनपना भी बन जाता है। जैसे—आस्वादन में आने रूप क्रियाधर्म को रस कहते हैं।

शङ्का—स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों की उत्पत्ति किस कारण से होती है?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण (मतिज्ञानावरण) कर्म का क्षयोपशम होने पर शेष इन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय होने पर अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय के अवलम्बन से तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय की वशवर्तिता होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।[1]

जिनके तीन इन्द्रियाँ होती हैं वे त्रीन्द्रिय जीव हैं।

शङ्का—वे तीन इन्द्रिय जीव कौन से हैं?

समाधान—कुन्थु और खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

[2]कुंथु-पिपीलिक-मक्कुण-विच्छिअ-जू-इंदगोव गोम्ही य।
उत्तिगणट्टियादि णेया तीइंदिया जीवा ॥१३७॥

अर्थात् कुन्थु, पिपीलिका, खटमल, बिच्छू, जूं, इन्द्रगोप, कनखजूरा, उत्तिरंग, नट्टियादिक ये सब त्रीन्द्रिय जीव हैं।

शंका—वे तीन इन्द्रियाँ कौन-कौन सी हैं?

समाधान—स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं। स्पर्शन-रसना का स्वरूप पहले कहा जा चुका है।

शंका—घ्राणेन्द्रिय किसे कहते हैं?

समाधान—घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि पारतन्त्र्य विवक्षा में इन्द्रियों के करणसाधन होता है, इसलिए वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण (मतिज्ञानावरण) कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग-नामकर्म के उदय के आलम्बन से जिसके द्वारा सूंघा जाता है, वह घ्राणेन्द्रिय है। अथवा इन्द्रियों की स्वातंत्र्य विवक्षा में घ्राणशब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि लोक में इन्द्रियों की स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है। जैसे—यह मेरी आँख अच्छी तरह से देखती है, मेरा कान सुनता है, अतः पहले कहे हुए वीर्यान्तरायादि के क्षयोपशमादि कारण मिलने पर जो सूंघती है, वह घ्राण इन्द्रिय है।[3]

घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। जो सूंघा जाए वह गंध है अथवा सूंघे जाने रूप क्रिया गन्ध है। वीर्यान्तराय और स्पर्शन-रसना-घ्राणेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से, अंगोपांग नामकर्मोदय के

---

१. ध. पु. १ पृ. २४२। २. ध. पु. १ पृ. २४५। ३. ध. पु. १ पृ. २४५।

अवलम्बन से तथा त्रीन्द्रियजाति नामकर्म के उदय की वशवर्तिता के होने पर स्पर्शन, रसना एवं घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।[1]

जिनके चार इन्द्रियाँ पाई जाती हैं, वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं। मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

[2]**मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पदंगा य सलह-गोमच्छी।**
मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा ॥१३८॥

अर्थात् मकड़ी, भौंरा, मधु-मक्खी, मच्छर, पतङ्ग, शलभ, गोमक्खी, मक्खी, डाँस आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

वीर्यान्तराय और चक्षुइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से 'जिसके द्वारा पदार्थ देखा जाता है' वह चक्षुइन्द्रिय है। यद्यपि 'चक्षिङ्' धातु अनेकार्थक है, तथापि यहाँ दर्शनरूप अर्थ की विवक्षा है। स्वातंत्र्य विवक्षा में चक्षु इन्द्रिय के कर्तृसाधन भी होता है। जैसे—यह मेरी आँख अच्छी तरह से देखती है, इसलिए पूर्वकथित चक्षुइन्द्रियावरणादि कारणों के मिलने पर जो देखती है, वह चक्षुइन्द्रिय है।[3]

शङ्का—[4]चक्षुइन्द्रिय का विषय क्या है?

समाधान—चक्षुइन्द्रिय का विषय 'वर्ण' है। जो देखा जाए वह वर्ण है।

शङ्का—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, इन चारों इन्द्रियों की उत्पत्ति किन कारणों से होती है?

समाधान—[5]वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम, शेष श्रोत्रइन्द्रियावरणकर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय, अङ्गोपाङ्गनामकर्म के उदयालम्बन तथा चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म के उदय की वशवर्तितारूप कारणों के होने पर इन चार इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

शङ्का—[6]पञ्चेन्द्रियजीव किसे कहते हैं?

समाधान—जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ पाई जावें, वे पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।

शङ्का—पञ्चेन्द्रियजीव कौन-कौन से हैं?

समाधान—जरायुज, अण्डज आदि पञ्चेन्द्रियजीव हैं। कहा भी है—

संसेदिम-संमुच्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया चेव।
रस-पोतंडजजरजा पंचिंदिया जीवा ॥१३९॥

---

१. ध. पु. १ प. २४६। २. ध. पु. १ पृ. २४७। ३. वही। ४. ध. पु. १ पृ. २४८। ५. वही। ६. वही।

अर्थात् स्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपादिक, रसज, पोत, अण्डज और जरायुज ये सभी पञ्चेन्द्रियजीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुइन्द्रिय के सम्बन्ध में पूर्व में कहा जा चुका है।

शंका—[1]श्रोत्रेन्द्रिय किसे कहते हैं?

समाधान—वीर्यान्तराय और श्रोत्रइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से जिसके द्वारा सुना जाता है अथवा जो सुनती है वह श्रोत्रेन्द्रिय है।

शंका—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय क्या है?

समाधान—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है।

जो सुना जाए वह शब्द है। अथवा ध्वनिरूप क्रिया को शब्द कहते हैं।[2]

शंका—पाँचों इन्द्रियों की उत्पत्ति के कारण क्या हैं?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन के साथ-साथ पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय की वशवर्तिता पाँचों इन्द्रियों की उत्पत्ति के कारण हैं।

यद्यपि वीर्यान्तराय व इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों की उत्पत्ति होनी है, तथापि यहाँ जाति नामकर्मोदय की प्रधानता है।[3] मनुष्य, देव और नारकी तो पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं, तिर्यंचों में भी सिंह, मृग, शुक, मछली आदि पञ्चेन्द्रिय होते हैं।

पाँचों इन्द्रियों का विषयक्षेत्र

धणुवीसडदसयकदी, जोयणछादाल-हीणतिसहस्सा।
अट्ठसहस्स धणूणं, विसया दुगुणा असण्णि त्ति ।।१६८।।

गाथार्थ—स्पर्शनादि इन्द्रियों का विषयक्षेत्र क्रमशः (स्पर्शन) बीस की कृति (वर्ग) अर्थात् ४०० धनुष, (रसना) आठ का वर्ग ६४ धनुष, (घ्राण) दस का वर्ग १०० धनुष, (चक्षु) दो हजार नव सौ चौपन योजन तथा (श्रोत्र) आठ हजार धनुष प्रमाण है। आगे असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्यन्त विषय-क्षेत्र दुगुना-दुगुना होता गया है।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय जीव के **स्पर्शन** इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र बीस का वर्ग अर्थात् ४०० धनुष प्रमाण है, द्वीन्द्रिय के स्पर्शन इन्द्रिय का ही उत्कृष्ट क्षेत्र ८०० धनुष, त्रीन्द्रिय के १६०० धनुष, चतुरिन्द्रिय जीव के ३२०० धनुष और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव के ६४०० धनुष है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दूना-दूना जानना चाहिए।

द्वीन्द्रिय जीव के रसना इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ६४ धनुष प्रमाण है, त्रीन्द्रिय जीव के

---

१. ध. पु. १ पृ. २४६। २. ध. पु. १ पृ. २५०। ३. ध. पु. १ पृ. २४८।

१२८ धनुष, चतुरिन्द्रिय जीव के २५६ धनुष और असंज्ञी पंचेन्द्रियजीव के ५१२ धनुष प्रमाण है। त्रीन्द्रियजीव के घ्राण इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र १०० धनुष, चतुरिन्द्रियजीव के २०० धनुष तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रियजीव के ४०० धनुष प्रमाण है। चतुरिन्द्रियजीव के चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र २९५४ योजन और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के ५९०८ योजनप्रमाण है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय-जीव के श्रोत्र-इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ८००० धनुष प्रमाण है।[1] इस प्रकार पुद्गलपरिणाम-योग से ये विषयक्षेत्र जानने चाहिए। एकेन्द्रियादि जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट शक्ति से युक्त स्पर्शनादि इन्द्रियों के उक्त प्रमाणानुसार दूर स्थित पदार्थों को विषय करते हैं।

शङ्का—इतनी दूर तक स्थित स्पर्श, रस, गन्ध आदि विषयों को ये इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती हैं, क्योंकि ये इन्द्रियाँ प्राप्त अर्थ को ग्रहण करती हैं ?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों का बिना प्राप्त किये अर्थ को ग्रहण करना सिद्ध है। युक्ति तथा आगम से इन इन्द्रियों का प्राप्त किये बिना अर्थ को ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है।

शङ्का—वह युक्ति क्या है ?

समाधान—एकेन्द्रियजीव पाद अर्थात् जड़ को फैलाने से दूर स्थित वस्तु को भी जान लेते हैं अर्थात् जिस दिशा में सुवर्ण आदि वस्तुएँ गड़ी हुई हैं उधर ही एकेन्द्रिय वनस्पतिजीव अपनी जड़ फैला देते हैं तथा वस्तु युक्त प्रदेश में नाल-शिराओं को फैला देते हैं। आगम में भी स्पर्शन आदि इन्द्रियों को अप्राप्तग्राही माना गया है, क्योंकि स्पर्शन आदि युक्त मतिज्ञान के ३३६ भेद कहे गए हैं।[2]

चतुरिन्द्रियजीव २९५४ योजन दूर स्थित पदार्थों को अपनी आँखों से देख सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तो प्राप्तग्राही हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय प्राप्तग्राही नहीं है, अन्यथा अपने में स्थित अंजन आदि को भी जानने में समर्थ होती। चक्षुरिन्द्रिय पदार्थ के पास जाकर उसे नहीं जानती, अन्यथा आँख का प्रदेश चक्षुरहित हो जाता। ज्ञानरूपीचक्षु पदार्थ के पास जाता है ऐसा भी मानना युक्तिसंगत नहीं है, ऐसा मानने से आत्मा अज्ञ हो जाएगा। आँख क्रम से अपनी विषयभूत वस्तु के पास जाती है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से बीच के सभी पदार्थों के ज्ञान होने का प्रसंग आएगा। अतः चक्षु अप्राप्तार्थग्राही ही है, स्पर्शनादि इन्द्रियों के समान प्राप्तार्थग्राही नहीं है।

शिक्षा आलाप आदि के ज्ञान से रहित असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ५९०८ योजन दूर पर स्थित चक्षुविषय रूप को चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जानता है अतः असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चक्षुरिन्द्रियविषय ५९०८ योजन है। (मूला. पर्याप्ति अधिकार गाथा ५३ की टीका)।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र-इन्द्रिय-विषय आठ हजार धनुष है अर्थात् आठ हजार धनुष अन्तर

१-२. ध. पु. ९ पृ. १५८ पर तथा मूलाचार पर्याप्ति अधिकार में भी इस विषय के सम्बन्ध में उपयोगी गाथाएँ दी गई हैं।

पर उत्पन्न हुए शब्द को असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जानता है। पुद्गल द्रव्य का अर्थात् मूर्त द्रव्य का विशिष्टसंस्थान अथवा महत्त्व, वर्णादिक प्रगट होना पुद्गल द्रव्य का परिणमन है। सूर्यबिम्ब आदि पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं और वे विशिष्ट इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।[1]

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का इन्द्रिय-विषय-क्षेत्र

सण्णिस्स बार सोदे तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स।
सत्तेतालसहस्सा वेसयतेसट्ठिमदिरेया ॥१६६॥

गाथार्थ– संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय-क्षेत्र बारह योजन है। तीन इन्द्रियों का विषय-क्षेत्र नव-नव योजन है। चक्षुरिन्द्रिय का विषयक्षेत्र कुछ अधिक सैंतालीस हजार दो सौ तरेसठ योजन है ॥१६६॥

विशेषार्थ—इस सम्बन्ध में धवल पु. ६ पृ. १५८ पर तथा मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ पृ. २१२-२१३ पर ये गाथाएँ हैं—

पासे रसे य गंधे विसओ णव जोयणा मुणेयव्वा।
बारह जोयण सोदे चक्खुस्सुड्ढं पवक्खामि ॥५२॥[2]
सत्तेतालसहस्सा वे चेव सया हवंति तेवट्ठा।
चक्खिदियस्स विसओ उक्कस्सो होदि अदिरित्तो ॥५३॥[3]

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्श, रस व गन्धविषयक क्षेत्र नौ योजन प्रमाण तथा श्रोत्र का बारह योजन प्रमाण है, चक्षु-इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन से कुछ अधिक है।

जिनके इन्द्रियों का क्षयोपशम अतिशय तीव्र है ऐसे चक्रवर्ती आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के नव योजन दूर तक स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श का, रसनेन्द्रिय द्वारा रस का, घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का ज्ञान होता है और श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा बारह योजन दूर पर स्थित शब्द का ज्ञान होता है। चक्षुरिन्द्रियावरण के तीव्र क्षयोपशम वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त चक्रवर्ती आदि चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन से कुछ अधिक ($\frac{७}{२०}$ योजन अधिक) अर्थात् एक कोस, बारह सौ पन्द्रह दंड (धनुष), एक हाथ, दो अंगुल कुछ अधिक यव के चतुर्थभाग दूर पर स्थित पदार्थ को जानते हैं।[4]

चक्षु इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र की सिद्धि

तिण्णिसयसट्ठिविरहिदलक्खं दसमूलताडिदे मूलं।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ॥१७०॥[5]

---

१. मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. ५४ की संस्कृत टीका पृ. २१२। २. धवल पु. ६ पृ. १५८। मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ पृ. २१२ पर गाथा ५५ व मूलाचार (फलटन से प्रकाशित) पृ. ५६४ पर गा. १०६ है किन्तु उत्तरार्ध में कुछ शब्दभेद है। ३. धवल पु. ६ पृ. १५८। मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ पृ. २१३ पर गाथा ५६ तथा मूलाचार (फलटन) पृ. ५६५ पर गा. १०८ है। ४. मूलाचार उपर्युक्त गाथाओं की श्रीवसुनन्दि आचार्य-कृत संस्कृत टीका। ५. मूलाचार (फलटन) पृ. ५६५ पर गाथा १०९ इसी प्रकार है।

गाथार्थ—तीन सौ साठ कम एक लाख (१०००००—३६०=९९६४०) योजन को दस के वर्गमूल से गुणा करने से जो मूलराशि प्राप्त हो उसको नौ से गुणा करके साठ से भाग देने पर चक्षु-इन्द्रिय के विषय का अध्वान प्राप्त होता है ।।१७०।।

विशेषार्थ—सूर्य की १८४ गलियाँ हैं ।[१] इन गलियों में से जब सूर्य अभ्यन्तर प्रथम गली में होता है तब सूर्य जम्बूद्वीप में १८० योजन भीतर होता है। जम्बूद्वीप की विष्कम्भ सूची एक लाख योजन है। इसमें से दोनों ओर के १८० योजन (१८०×२) अर्थात् ३६० योजन करने पर अभ्यन्तर गली की विष्कम्भ सूची (१०००००—३६०=९९६४०) योजन प्राप्त होती है।[२] इस विष्कम्भ सूची को दस के वर्गमूल से गुणा करने पर अभ्यन्तर गली की परिधि होती है, जिसका प्रमाण निकटतम ३१५०८९ योजन है।[३] इस परिधि पर एक सूर्य को दो रात-दिन अथवा ४८ घंटे या ६० मुहूर्त लगते हैं।[४] जब सूर्य अभ्यन्तर प्रथम गली में होता है तब दिन अठारह मुहूर्त का होता है।[५] अतः सूर्योदय होने के नव मुहूर्त पश्चात् सूर्य अयोध्यानगरी पर होता है। अतः अयोध्या नगरी से सूर्योदय कितनी दूरी पर होता है उसका प्रमाण प्राप्त करने के लिए अभ्यन्तर प्रथम गली की परिधि को साठ से भाग देने पर सूर्य का एक मुहूर्त का गमनक्षेत्र प्राप्त हो जाता है।[६] पुनः उसको नौ से गुणा करने पर ९ मुहूर्त का गमनक्षेत्र प्राप्त होता है अर्थात् अयोध्यानगरी से सूर्योदय की दूरी प्राप्त हो जाती है। अभ्यन्तर प्रथम गली की परिधि ३१५०८९ योजन है, इसको ६० से भाग देकर ९ से गुणा करने पर अथवा ($\frac{९}{६०}=\frac{३}{२०}$) २० से भाग देकर ३ से गुणा करने पर ($३१५०८९ \times \frac{३}{२०}$) $= ४७२६३\frac{७}{२०}$ योजन प्राप्त होते हैं।[७] $\frac{७}{२०}$ योजन में एक कोस, बारह सौ पन्द्रह धनुष, एक हाथ, दो अंगुल और यव का कुछ अधिक चतुर्थभाग प्राप्त होते हैं।[८] इस सम्बन्ध में ये गाथाएँ भी उपयोगी हैं—

अस्सीदिसदं विगुणं दीवविसेसस्स वग्ग दहगुणियं ।
मूलं सट्ठिविहत्तं दिणद्धमाणाहतं चक्खू ।।५७।।[९]

जब सूर्य अभ्यन्तर प्रथम गली में होता है तब वह जम्बूद्वीप में १८० योजन अभ्यन्तर की ओर होता है। दोनों ओर से १८० योजन कम करने पर द्विगुण (१८०×२) अर्थात् ३६० योजन, जम्बूद्वीप की विष्कम्भ सूची एक लाख योजन में से कम करने पर शेष (१०००००—३६०) = ९९६४० रह जाते हैं। इसका वर्ग करके फिर इसको १० से गुणा करके वर्गमूल करने पर अभ्यन्तर गली की परिधि का प्रमाण ३१५०८९ होता है। इसको ६० से भाग देकर ९ से गुणा करने पर चक्षु-इन्द्रिय का उत्कृष्ट क्षेत्र प्राप्त होता है।

आ दिमपरिहिं तिगुणिय वीसहिदो लद्धमेत्ततेसट्ठी ।
दुसया सत्तत्तालं सहस्सया वीसहरिवसत्तंसा ।।४३०।।[१०]
एदं चक्खुप्पासोविकट्ठ-वखेत्तस्स होदि परिमाणं ।।४३१।। पूर्वार्ध ।[११]

—आदिम गली की परिधि को तिगुणा करके बीस का भाग देने पर सैंतालीस हजार दो सौ

---

१. ति.प. ७/२१९। २. ति.प. ७/४२६। ३. ति.प. ७/२५४। ४. ति.प. ७/२६८। ५. त्रि.सा.गा. ३७९। ६. ति.प. ७/२६९। ७. त्रि.सा.गा. ३८९-३९१ व संस्कृत टीका। ८. मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गाथा ५६ की संस्कृत टीका। ९. मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२। १०. ति.प. ७/४३०। ११. ति.प. ७/४३१ पूर्वार्ध।

त्रेसठ योजन और एक योजन के बीस भागों में से सात भाग; इतना लब्ध प्राप्त होता है। ४७२६३$\frac{7}{20}$ योजन, यही चक्षुइन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय है।

इन्द्रियों के आकार व अवगाहना का कथन

चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवरणाली।
अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥१७१॥[1]
अंगुलअसंखभागं संखेज्जगुणं तदो विसेसहियं।
तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु ॥१७२॥
सुहमणिगोद-अपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयह्मि।
अङ्गुलअसंखभागं जहण्णमुक्कसयं मच्छे ॥१७३॥[2]

गाथार्थ—चक्षु-इन्द्रिय का संस्थान अर्थात् आकार मसूर के समान है, श्रोत्र इन्द्रिय का आकार यवनाली के सदृश है। कदम्ब के फूल जैसा आकार घ्राण-इन्द्रिय का है। जिह्वा इन्द्रिय का आकार खुरपे जैसा है। स्पर्शन-इन्द्रिय अनेक आकार वाली है ॥१७१॥ चक्षु-इन्द्रिय की अवगाहना अङ्गुल के असंख्यातवें भाग है। इस से संख्यात गुणी श्रोत्र-इन्द्रिय की अवगाहना है। उससे विशेष-अधिक घ्राण-इन्द्रिय की अवगाहना है। उससे असंख्यात गुणी जिह्वा इन्द्रिय की अवगाहना है फिर भी अङ्गुल के संख्यातवें भाग है ॥१७३॥ सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के उत्पन्न होने के तृतीय समय में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्शन-इन्द्रिय की जघन्य-अवगाहना होती है और मत्स्य के उत्कृष्ट अवगाहना होती है ॥१७३॥[3]

विशेषार्थ—मसूर के समान आकार वाली और घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण चक्षु इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। यव की नाली के समान आकार वाली अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण श्रोत्र-इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। कदम्ब के फूल के समान आकार वाली और घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण घ्राण इन्द्रिय की बाह्य-निर्वृत्ति होती है। अर्ध-चन्द्र अथवा खुरपा के समान आकारवाली और घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण रसना-इन्द्रिय अर्थात् जिह्वा-इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। स्पर्शन-इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति अनियत आकार वाली होती है। वह जघन्य प्रमाण की अपेक्षा घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यअपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के तृतीय समयवर्ती शरीर में होती है और उत्कृष्ट प्रमाण की अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवों के शरीर में होती है[4]

चक्षु-इन्द्रिय की अवगाहना रूप प्रदेश सबसे स्तोक हैं। उनसे संख्यातगुणे श्रोत्र इन्द्रिय के प्रदेश हैं। अर्थात् चक्षुइन्द्रिय अपनी अवगाहना से जितने आकाशप्रदेशों को व्याप्त करती है उससे संख्यातगुणे आकाशप्रदेशों को व्याप्त कर श्रोत्र-इन्द्रिय रहती है। उससे विशेष अधिक आकाश

---

१. यह गाथा धवल पु. १ पृ. २३६; प्रा. पं. सं. पृ. १४ गा. ६६; मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. ५० है किन्तु शब्दभेद है। २. यह गाथा मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गाथा ४७ है किन्तु उत्तरार्ध में शब्दभेद है। ३. प्रा. पं. सं. १/६६। ४. धवल पु. १ पृ. २३४-२३५।

प्रदेशों को घ्राण-इन्द्रिय व्याप्त करती है। उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशों में रसना-इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यात गुणे अजघन्य स्पर्शन-इन्द्रिय के आकाशप्रदेश हैं।[1]

अनिन्द्रिय जीवों का कथन

ण वि इंदिय-करण-जुदा अवग्गहादीहिं गाहया अत्थे ।
णेव य इंदिय-सोक्खा अणिंदियाणंत-णाण-सुहा ।।१७४।।[2]

गाथार्थ—वे अनिन्द्रिय जीव इन्द्रिय रूप करण से युक्त नहीं हैं और अवग्रह आदि के द्वारा अर्थ को ग्रहण नहीं करते, उनके इन्द्रियसुख भी नहीं है, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय है ।।१७४।।

विशेषार्थ—जिनके इन्द्रियाँ नहीं होतीं, वे अनिन्द्रिय जीव हैं।

शङ्का—वे कौन हैं?

समाधान—शरीररहित सिद्ध भगवान अनिन्द्रिय हैं।

शङ्का—उन सिद्ध भगवान में भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, अतः वे इन्द्रिय सहित हैं?[3]

समाधान—नहीं, क्योंकि क्षयोपशमजन्य उपयोग के इन्द्रियत्व है। परन्तु जिन के समस्त कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धों में क्षयोपशम नहीं होता, क्योंकि वह क्षायिक भाव के द्वारा दूर कर दिया जाता है।[4]

शङ्का—अर्थ किसे कहते हैं?

समाधान—'जो जाना जाता है' वह अर्थ है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्याय में अर्थपना पाया जाता है।[5]

शंका—यह व्युत्पत्त्यर्थ अनागत और अतीत पर्यायों में समान है?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनागत और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत्शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिए उन्हें अर्थ यह संज्ञा नहीं दीं जा सकती।[6] केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है।

---

१. धवल पु. १ पृ. २३५। २. यह गाथा धवल पु. १ पृ. २४८ पर तथा प्राकृत पंच संग्रह (ज्ञानपीठ) पृ. ५७७ पर गाथा ७२ है। प्रा. पं. सं. पृ. १५ पर गा ७४ में कुछ शब्दभेद है। ३. धवल पु. १ पृ. २४८। ४. धवल पु. १ पृ. २४९। ५. 'अर्यंते परिच्छिद्यते इति न्यायतस्तत्रार्थत्वोपलम्भात्।' [जयधवल पु. १ पृ. २२]; 'अर्यंत इत्यर्थः निश्चीयत इत्यर्थः।' [सर्वार्थसिद्धि १/२]। ६. जयधवल पु. १ पृ. २३।

शङ्का—किस गुण के द्वारा अर्थ संज्ञा प्राप्त होती है ?

समाधान—प्रमेयत्व गुण के द्वारा अर्थ संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है ।[1]

शङ्का—यह गुण किस के आधार रहता है ?

समाधान—यह गुण द्रव्य के आधार रहता है, क्योंकि जितने भी गुण हैं वे सब द्रव्य के आश्रय से रहते हैं ।[2]

शङ्का—वर्तमान पर्याय को अर्थ संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसके आश्रय प्रमेयत्व गुण नहीं है ।

समाधान—वर्तमान पर्याय का द्रव्य के साथ तदात्म-सम्बन्ध होने के कारण वर्तमान पर्याय को अर्थसंज्ञा प्राप्त हो जाती है । कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।[3]

जिस काल में द्रव्य जिस पर्याय रूप परिणमन करता है उस काल में वह द्रव्य उस पर्याय से तन्मय होता है । अतीत व अनागत पर्यायों से द्रव्य वर्तमान में तन्मय नहीं होता अतः उनको अर्थ संज्ञा प्राप्त नहीं होती । वे तो प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव रूप हैं, सद्भाव रूप नहीं हैं ।

शङ्का—नामानन्त आदि के भेद से अनन्त अनेक प्रकार का है उनमें से यहाँ पर किस अनन्त से प्रयोजन है ?

समाधान—यहाँ पर विनाश रहित अनन्त से प्रयोजन है । अन्त विनाश को कहते हैं, जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं होता, वह अनन्त है ।[4]

शङ्का—क्या सिद्धों में अनन्त ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान और अनन्त सुख ये दो ही गुण हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि केवलदर्शन, सम्यक्त्व, वीर्यादि गुण अनन्तज्ञान व सुख के सहचारी हैं अतः उल्लेख के बिना भी शेष सब गुणों का ग्रहण हो जाता है । वे गुण भी स्वाभाविक हैं ।[5]

संक्षेप से एकेन्द्रियादि जीवों की संख्या का कथन

थावरसंखपिपीलियभमरमणुस्सादिगा सभेदा जे ।
जुगवारमसंखेज्जाणंताणंता णिगोदभवा ।।१७५।।

गाथार्थ—स्थावर काय (साधारण वनस्पति के अतिरिक्त), शंख (द्वीन्द्रिय), पिपीलिका

---

१. 'प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् ।' [आलापपद्धति सूत्र ९८] । २. 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।' [तत्त्वार्थ सूत्र ५/४१] । ३. प्रवचनसार गा. ८ । ४. "अन्तो विनाशः, न विद्यते अन्तो यस्य तदनन्तम् ।" [धवल पु. ३ पृ. १५] । ५. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र सूरि कृत टीका ।

(त्रीन्द्रिय), भ्रमर (चतुरिन्द्रिय), और मनुष्यादि (पंचेन्द्रिय) ये सब पृथक्-पृथक् अपने-अपने उत्तरभेदों सहित द्विवार असंख्यात अर्थात् असंख्यातासंख्यात हैं। निगोदिया अर्थात् साधारण वनस्पति अनन्तानन्त है ।।१७५।।

विशेषार्थ—स्थावर अर्थात् निगोदिया जीवों के अतिरिक्त समस्त एकेन्द्रिय जीव अपने भेद-प्रतिभेद सहित अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव, असंख्यातासंख्यात हैं। निगोद जीवों का पृथक् कथन किया गया है इसलिए स्थावरों में निगोद ग्रहण नहीं किया गया है। द्वीन्द्रिय जीवों में उत्कृष्ट अवगाहना शंख की है अत: शंख कहने से समस्त द्वीन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। सर्व परिचित त्रीन्द्रिय जीव चींटी (पिपीलिका) है। अत: पिपीलिका कहने से समस्त त्रीन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। चतुरिन्द्रिय जीवों में भ्रमर की उत्कृष्ट अवगाहना है अत: भ्रमर कहने से समस्त चतुरिन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। पंचेन्द्रियों में मनुष्य की प्रधानता है, क्योंकि मनुष्यगति में ही जीव संयम के द्वारा कर्मबन्धन को काटकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अत: मनुष्यादि कहने से चारों गतियों के समस्त पंचेन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है (द्विक बार असंख्यात कहने से असंख्यातासंख्यात का ग्रहण होता है, क्योंकि 'असंख्याता-संख्यात' में असंख्यात शब्द का दो बार प्रयोग होता है।)

एकेन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीव, एकेन्द्रिय बादर जीव, एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त जीव, एकेन्द्रियबादर पर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव, एकेन्द्रियसूक्ष्म अपर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त जीव, इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों की नौ राशियाँ द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा अनन्तानन्त हैं, क्योंकि निगोदिया जीव भी एकेन्द्रिय हैं। कालप्रमाण की अपेक्षा अनन्तानन्त अव-सर्पिणी-उत्सर्पिणयों से अपहृत नहीं होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तानन्त लोकप्रमाण है।[1]

शङ्का—उक्त नौ राशियों वाले एकेन्द्रिय जीवों में जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव त्रसों में से आकर उत्पन्न होते हैं और उतने ही जीव एकेन्द्रियों में से निकल कर त्रसों में उत्पन्न होते हैं। आय और व्यय समान होने के कारण इन नौ राशिय एकेन्द्रिय जीवों का कभी अन्त नहीं होगा। इसलिये यह कथन अनुक्तसिद्ध होने से यह सूत्र प्रारम्भ करने योग्य नहीं है।

समाधान—इन पूर्वोक्त नौ राशियों के आय और व्यय यदि समान होते तो यह सूत्र गाथा प्रारम्भ करने योग्य न होती, किन्तु इन राशियों का व्यय आय से अधिक है, क्योंकि पूर्वोक्त नौ राशियों में से निकल कर त्रसों में उत्पन्न होकर तथा सम्यक्त्व को ग्रहण करके संसारपर्याय का नाश कर दिया है वे पुन: उन पर्यायों में प्रवेश नहीं करते हैं। इसलिये ये नौ राशियाँ नियम से व्यय सहित हैं। इसलिये ये नौ राशियां व्यय सहित हैं। इस प्रकार इन नौ राशियों का व्यय सहित होने पर भी ये नौ राशियां कभी भी विच्छिन्न नहीं होती हैं, क्योंकि अतीत काल से वे अपने एक स्वरूप से स्थित हैं। यदि सम्पूर्ण जीव राशि से अतीत काल अनन्तगुणा होता तो अतीत काल से सम्पूर्ण जीव-राशि अपहृत होती, परन्तु ऐसा है नहीं. क्योंकि इस प्रकार की उपलब्धि नहीं होती।

शङ्का—व्यतीत हुए काल के द्वारा सम्पूर्ण जीवराशि का व्युच्छेद क्यों नहीं होता?

---

१. धवल पु. ७ पृ. २६७-२६८ सूत्र ५७-६०।

समाधान—नहीं, क्योंकि विवक्षित राशि की प्रतिपक्षभूत भव्यराशि का व्युच्छेद मान लेने पर अभव्यत्व की सत्ता के नाश का प्रसंग आ जाता है।[1] अभव्यों का अभाव नहीं है, क्योंकि उनका अभाव होने पर संसारी जीवों का अभाव प्राप्त होता है। संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों के भी अभाव का प्रसंग आता है।

शङ्का—संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों का अभाव कैसे सम्भव है?

समाधान—संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब पदार्थों की उपलब्धि सप्रतिपक्ष होती है।[2] कहा भी है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पायधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवइ एक्का॥[3]

सब पदार्थ सत्तारूप हैं, सविश्वरूप हैं, अनन्त पर्यायवाले हैं, व्यय-उत्पाद-ध्रुव से युक्त हैं, सप्रतिपक्ष रूप हैं और एक हैं। इस प्रकार इस गाथा में '**सव्व पयत्था सप्पडिवक्खा**' इन शब्दों द्वारा **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने 'सर्व पदार्थ सप्रतिपक्ष हैं' इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। जिसका उपयोग **श्री वीरसेन आचार्य** ने अनेक स्थलों पर किया है। इतना ही नहीं, किन्तु संसारी और असंसारी (मुक्त) जीवों का अभाव होने पर जीव मात्र का अभाव हो जायगा। जीव के अभाव हो जाने पर जीव के प्रतिपक्ष अजीव के अभाव का भी प्रसंग आएगा। इस प्रकार भव्य जीवों का अभाव हो जाने पर समस्त द्रव्यों के अभाव का प्रसंग आ जाएगा, अतः मुक्त होते रहने पर भी निगोद एकेन्द्रिय राशि का कभी अन्त नहीं होगा। क्योंकि आय के बिना व्यय होते रहने पर भी जिस राशि का अन्त न हो वह राशि अनन्त है।[4] निगोद राशि को छोड़कर शेष एकेन्द्रिय राशि असंख्यातासंख्यात है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तथा उन्हीं के पर्याप्त और अपर्याप्त जीव द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा असंख्यात अवसर्पिणियों-उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत होते हैं।[5]

'अपर्याप्त' शब्द से अपर्याप्त नामकर्म से युक्त जीवों का ग्रहण होता है, अन्यथा 'पर्याप्त' नाम कर्मउदय से युक्त निर्वृत्यपर्याप्ति जीवों का भी ग्रहण हो जाएगा। इसी प्रकार 'पर्याप्ति' शब्द से पर्याप्ति नामकर्म के उदय से युक्त जीवों का ग्रहण होता है, अन्यथा पर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त निर्वृत्यपर्याप्त जीवों का ग्रहण नहीं होगा। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से युक्त द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव हैं।[6]

शंका—'जिन जीवों के दो इन्द्रियाँ पाई जाती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव हैं' ऐसा कहने में क्या दोष आता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा अर्थ ग्रहण करने पर अपर्याप्त काल में विद्यमान जीवों के

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३०६-३०७। २. धवल पु. १४ पृ. २३४। ३. धवल पु. १४ पृ. २३४, पंचास्तिकाय गा. ८। ४. "जासिं संखाणं आयविरहियाणं संखेज्जा संखेज्जेहि वइज्जमाणाणं पि वोच्छेदो ण होदि तासिमणंतमिदि सण्णा।" ध.पु. १४ पृ. २३५। ५. धवल पु. ३ पृ. २१० व २१२ सूत्र ७७-७८। ६. धवल पु. ३ पृ. २११।

इन्द्रियाँ नहीं होने से उनके ग्रहण नहीं होने का प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

शंका— क्षयोपशम को इन्द्रिय कहते हैं, द्रव्येन्द्रिय को इन्द्रिय नहीं कहा गया है। इसलिए अपर्याप्त काल में द्रव्येन्द्रियों के नहीं रहने पर भी द्वीन्द्रिय आदि पदों के द्वारा उन जीवों का ग्रहण हो जाता है?

समाधान—यदि इन्द्रिय का अर्थ क्षयोपशम किया जाय तो जिनका क्षयोपशम नष्ट हो गया है, ऐसे सयोगकेवली के अनिन्द्रियपने का प्रसंग आजाता है।

शङ्का—आ जाने दो।

समाधान—नहीं, क्योंकि सूत्र सयोगकेवली को पंचेन्द्रिय रूप से प्रतिपादित करता है।[1]

शङ्का ये द्वीन्द्रिय आदि सर्व जीवराशियाँ सर्वकाल आय के अनुरूप व्यय से युक्त होने के कारण कभी विच्छेद को प्राप्त नहीं होती हैं, फिर 'असंख्यात अवसर्पिणियों-उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत होती हैं' यह कथन कैसे घटित हो सकता है?

समाधान—यह सत्य है कि द्वीन्द्रियादि जीव राशियाँ विच्छिन्न नहीं होती हैं, किन्तु इन राशियों का आय के बिना यदि व्यय ही होता तो निश्चय से ये विच्छिन्न हो जातीं। यदि ऐसा न माना जाय तो 'द्वीन्द्रिय आदि राशियाँ असंख्यात हैं' यह कथन नहीं बन सकता।[2]

इसी प्रकार पंचेन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय पर्याप्त और पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीव भी असंख्यात हैं।

एकेन्द्रिय जीवों में पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा भागाभाग का कथन

तसहीणो संसारी एयक्खा ताण संखगा भागा।
पुण्णाणं परिमाणं संखेज्जदिमं अपुण्णाणं ॥१७६॥
बादरसुहमा तेसिं पुण्णापुण्णेत्ति छव्विहाणंपि।
तक्कायमग्गणाये भणिज्जमाणक्कमो णेयो ॥१७७॥

गाथार्थ—त्रस जीवराशि से हीन संसारी जीवराशि एकेन्द्रिय जीव हैं। उसका संख्यात बहुभाग पर्याप्त है और संख्यात एक भाग अपर्याप्त हैं ॥१७६॥ एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं, उनमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रियों की ६ राशियों की संख्या का क्रम कायमार्गणा में कहा जायगा, ऐसा जानना ॥१७७॥

विशेषार्थ सम्पूर्ण जीवराशि में अनिन्द्रिय जीवों (मुक्त जीवों) को कम कर देने पर संसारी जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। उसमें से द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों को अथवा त्रस जीवों को कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। इस एकेन्द्रिय जीवराशि में बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त जीव सबसे स्तोक हैं। बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव इनसे

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३११। २. धवल पु. ३ पृ. ३१२।

असंख्यात गुणे हैं। असंख्यात लोक गुणकार है। बादर-एकेन्द्रिय जीव बादर-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीवों के प्रमाण से विशेष-अधिक है। बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त जीवों का जितना प्रमाण है, उतने विशेष-अधिक हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीव बादर-एकेन्द्रियों के प्रमाण से असंख्यातगुणे हैं। असंख्यात लोक गुणकार हैं। एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों के प्रमाण से विशेष-अधिक हैं। बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों का जितना प्रमाण है तन्मात्र विशेष-अधिक है। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्तक जीव एकेन्द्रियअपर्याप्तक जीवों के प्रमाण से संख्यात गुणे हैं। गुणकार संख्यात समय है। एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीव सूक्ष्म-एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं। बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं। बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों के प्रमाण से रहित सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों का जितना प्रमाण है तन्मात्र विशेष अधिक है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म-एकेन्द्रियों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं। बादर-एकेन्द्रियों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं।[1]

अङ्कसंदृष्टि- एकेन्द्रियजीवराशि २५६। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-जीवराशि २४०। बादर-एकेन्द्रिय-जीवराशि १६। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्त-जीवराशि १८०। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीवराशि ६०। बादर-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त-जीवराशि १२। बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त-जीवराशि ४।[2] एकेन्द्रिय-अपर्याप्तक जीव ७२। एकेन्द्रिय-पर्याप्तक १८४।

त्रस जीवों की संख्या का प्रमाण

बितिचपमाणमसंखेण वहिदपदरंगुलेण हिदपदरं।
हीणकमं पडिभागो आवलियासंखभागो दु ॥१७८॥
बहुभागो समभागो चउण्णमेदेसिमेक्क भागह्मि।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥१७९॥
तिबिपचपुण्णपमाणं पदरंगुलसंखभागहिदपदरं।
हीणकमं पुण्णूणा बितिचपजीवा अपज्जत्ता ॥१८०॥

गाथार्थ—असंख्यात से विभक्त प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या का प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु द्वीन्द्रियादि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा त्रीन्द्रिय-आदि उत्तर-उत्तर का प्रमाण क्रम से हीन होता गया है। इसका प्रतिभाग आवली का असंख्यातवाँभाग है ॥१७८॥ बहुभाग के चार समान खण्ड करके एक-एक खण्ड उक्त क्रम से एक-एक राशि को देना चाहिए। शेष एक भाग में से बहुभाग बहुत संख्या वाले को देना, ऐसे अन्त तक करना चाहिए ॥१७९॥ प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से जगत्प्रतर को खण्डित करने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त होता है जो क्रम से हीन है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाणों में से उन-उनके पर्याप्तकों का प्रमाण कम कर देने पर शेष अपर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है ॥१८०॥

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३२४-३२५। २. धवल पु. ३ पृ. ३२०-२१।

विशेषार्थ—प्रतरअंगुल के असंख्यातवें भाग से जगत्प्रतर को भाजित करने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवों के प्रमाण से त्रीन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है और त्रीन्द्रिय जीवों के प्रमाण से चतुरिन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है। चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रमाण से पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है। इस प्रकार ये क्रम से हीन हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आवली के असंख्यातवें भाग से प्रतर अंगुल को भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उससे जगत्प्रतर को भाग देने पर त्रस राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। उस त्रस राशि प्रमाण को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर एक भाग को पृथक् स्थापित करके, बहुभाग के चार सम खण्ड करके, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन चारों को हीन अधिकता से रहित एक-एक समखण्ड देना चाहिए। पृथक् स्थापित एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित करके, बहुभाग को द्वीन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए, क्योंकि इन चारों में द्वीन्द्रिय जीवराशि का प्रमाण सबसे अधिक है। शेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर बहुभाग त्रीन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए, क्योंकि अवशिष्ट त्रीन्द्रिय आदि तीन राशियों में त्रीन्द्रिय राशि अधिक है। शेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर बहुभाग चतुरिन्द्रिय जीवराशि को देना और शेष एक भाग पंचेन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए, क्योंकि पंचेन्द्रिय जीवराशि सबसे कम है। इन अपनी-अपनी देय राशियों के अपने-अपने समखण्डों में मिलने पर द्वीन्द्रिय आदि जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है।[1]

त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीव, द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव, पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव और चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त करने के लिए जगत्प्रतर को प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से खण्डित करना चाहिए। जो लब्ध प्राप्त हो उसको आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर बहुभाग के चार सम खण्ड कर एक-एक समखण्ड त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीवों को, द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीवों को, पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों को और चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों को देना चाहिए। शेष एक भाग को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर बहुभाग त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के समखण्ड में मिलाना चाहिए। अवशेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर बहुभाग द्वीन्द्रिय के समखण्ड में मिलाना चाहिए। अवशेष एक खण्ड पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर बहुभाग पंचेन्द्रियपर्याप्त जीवों के समखण्ड में मिलाना चाहिए और शेष एक भाग चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों के समखण्ड में मिलाना चाहिए। इस प्रकार मिलाने से जो राशि उत्पन्न हो वह त्रीन्द्रिय पर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त और चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है जो क्रम से हीन होता गया है। पर्याप्त जीवराशियों को अपनी सामान्यजीवराशियों में से घटाने पर अपर्याप्त जीवराशियों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।[2] धवलग्रंथ में इस विषय का कथन इस प्रकार है–प्रतिभाग और भागहार ये दोनों एकार्थवाची शब्द हैं। अंगुल के असंख्यातवें भाग का वर्ग $\left(\frac{\text{अंगुल}}{\text{असंख्यातवाँ भाग}} \times \frac{\text{अंगुल}}{\text{असंख्यातवाँ भाग}} = \frac{\text{प्रतरांगुल}}{\text{असंख्यातवाँ भाग}}\right)$ पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण लाने के लिए जगत्प्रतर का प्रतिभाग [भाजक] है और

१-२. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृत टीकानुसार।

सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग का वर्ग $\frac{\text{(प्रतरांगुल)}}{\text{(संख्यातवाँ भाग)}}$ पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण लाने के लिए जगत्प्रतर का प्रतिभाग है। आवली के असंख्यातवें भाग से सूच्यंगुल को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसको वर्गित करने पर $\frac{\text{(प्रतरांगुल)}}{\text{(आवली का असंख्यात. भाग)}}$ द्वीन्द्रिय जीवों का अवहारकाल [= भाजक] होता है। द्वीन्द्रियों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसको उसी द्वीन्द्रियों के अवहारकाल में मिला देने पर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इस द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकों के अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसे उसी द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त के अवहारकाल में मिला देने पर त्रीन्द्रिय जीवों का अवहारकाल होता है। इन त्रीन्द्रिय जीवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसको उसी अवहारकाल में मिला देने पर त्रीन्द्रिय अपर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्तक, पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के अवहारकाल को क्रम से आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित करके उत्तरोत्तर एक-एक भाग से अधिक करना चाहिए। अनन्तर पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों का अवहारकाल होता है। इसे आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर जो लब्ध प्राप्त हो उसको उसी त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के अवहारकाल में मिला देने पर द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों का अवहारकाल होता है। इस द्वीन्द्रिय-पर्याप्तकों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर जो लब्ध प्राप्त हो उसको उसी द्वीन्द्रिय-पर्याप्तकों के अवहारकाल में मिला देने पर पंचेन्द्रिय-पर्याप्तकों का अवहारकाल होता है। पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक जीवों के इस अवहार-काल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसको उसी पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त जीवों के अवहारकाल में मिला देने पर चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इन अवहारकालों से पृथक्-पृथक् जगत्प्रतर के भाजित करने पर अपने-अपने द्रव्य (जीवराशि) का प्रमाण आता है।[1]

उपर्युक्त सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमद् अभयचन्द्रसूरि कृत टीका और अध्यात्मग्रन्थ धवल इन दोनों कथनों में मात्र विधि का अन्तर है। इन दोनों कथनों के अनुसार प्राप्त जीवराशियों के प्रमाण में अन्तर नहीं है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **इन्द्रिय मार्गणा** नामक सातवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

८. कायमार्गणा अधिकार

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ।
सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादि छब्भेओ ॥१८१॥

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३१५-३१६।

गाथार्थ—जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस व स्थावर नामकर्मोदय से काय होती है। वह जिनमत में पृथ्वीकाय आदि के भेद से छह प्रकार की कही गई है ॥१८१॥

विशेषार्थ—जाति नामकर्म के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला त्रस व स्थावर नामकर्म है। उस के उदय से उत्पन्न हुई आत्मा की त्रसरूप व स्थावररूप पर्याय काय है, ऐसा सर्वज्ञ वीतराग के मत में कहा गया है। त्रस जीव है अथवा स्थावर जीव है सो काय है। ऐसा व्यवहार होता है, कहा जाता है। उद्वेगजनित क्रियावाला त्रस और स्थितिक्रियावाला स्थावर यह लक्षण निरुक्ति से सिद्ध हो सकता है। जो पुद्गलस्कन्धों के द्वारा संचित किया जाता है, वह काय है जैसे औदारिक आदि शरीर। शरीर में स्थित आत्मा भी उपचार से काय है। जीवविपाकी जाति नामकर्म त्रस व स्थावर नामकर्म का कार्य होने से जीव की पर्याय ही काय है, ऐसा व्यवहार होता है। पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म का कार्य होने से शरीर भी काय शब्द से ग्रहण किया जाता है। वह काय पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस के भेद से छह प्रकार की है।

जो संचित किया जाता है, वह काय है। ईंट आदि के संचय के साथ व्यभिचारदोष भी नहीं आता है, क्योंकि 'पृथ्वी आदि कर्मोदय से' इतना विशेषण लगा लेना चाहिए।

शंका—पुद्गलविपाकी औदारिक आदि शरीर नामकर्मोदय से जो संचित किया जाता है, वह काय है, ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सहकारी रूप पृथिवी आदि नाम कर्मोदय के अभाव में केवल औदारिक आदि शरीर नामकर्मोदय से नोकर्म वर्गणाओं का संचय नहीं हो सकता।

शङ्का—कार्मणकाययोग में स्थित जीव के पृथिवी आदि के द्वारा संचित हुए नोकर्म पुद्गल का अभाव होने से अकायपना प्राप्त हो जाएगा ?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि नोकर्मरूप पुद्गलों के संचय का कारण पृथिवी आदि कर्म सहकृत औदारिक आदि नामकर्म का सत्त्व कार्मणकाययोग रूप अवस्था में भी पाया जाता है, इसलिए उस अवस्था में भी कायपने का व्यवहार बन जाता है।

अथवा योगरूप आत्मा की प्रवृत्ति से संचित हुए औदारिक आदि रूप पुद्गल पिण्ड काय हैं।

शङ्का—काय का इस प्रकार लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दिया गया है, वह दूर नहीं होता। अर्थात् इस प्रकार भी जीव के कार्मणकाययोग अवस्था में अकायपने की प्राप्ति होती है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि योगरूप आत्म-प्रवृत्ति से संचित हुए कर्म रूप पुद्गल पिण्ड का कार्मणकाययोग अवस्था में सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् जिस समय आत्मा कार्मण काययोग की अवस्था में होता है, उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का सद्भाव रहता है, अतः उसके कायपना बन जाता है।[2]

---

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रसूरि कृता टीका। २. धवल पु. १ पृ. १३७-१३८।

शङ्का—कार्मण काययोग अवस्था में योगरूप आत्मप्रवृत्ति से संचय को प्राप्त हुए नोकर्म पुद्गल पिण्ड का असत्त्व होने के कारण कार्मणकाययोग में स्थित जीव के 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता ?

समाधान—नोकर्म पुद्गलपिण्ड के संचय के कारणभूत कर्म का कार्मण काययोग अवस्था में सद्भाव होने से, कार्मणकाययोग में स्थित जीव के 'काय' यह संज्ञा बन जाती है। कहा भी है—

अप्पप्पवुत्ति-संचिद-पोग्गल-पिंडं वियाण कायो त्ति ।
सो जिणमदम्हि भणिओ पुढविक्कायादयो सो दो ॥८६॥

—योगरूप आत्मप्रवृत्ति से संचय को प्राप्त हुए औदारिकादि पुद्गलपिण्ड काय है। यह काय जिनमत में पृथिवीकाय आदि के भेद से छह प्रकार का कहा गया है और वे पृथिवी आदि छह काय त्रसकाय और स्थावरकाय के भेद से दो प्रकार के होते हैं।[1]

पृथिवीरूप शरीर को पृथिवीकाय कहते हैं, वह जिनके पाया जाता है, उन जीवों को पृथिवीकायिक कहते हैं।

शङ्का—पृथिवीकायिक का इस प्रकार लक्षण करने पर कार्मणकाययोग में स्थित जीवों के पृथिवीकायिकपना नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह बात नहीं है, जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें 'यह हो चुका' इस प्रकार का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार कार्मणका योग में स्थित पृथिवीकायिक जीवों के भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है। अथवा जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मोदय के वशवर्ती हैं, उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। इसी प्रकार जलकायिक आदि को भी जान लेना चाहिए।

शङ्का—पृथिवी आदि कर्म तो असिद्ध हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि पृथिवीकायिक आदि कार्य का होना अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिए पृथिवीआदि नामकर्मों के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

शङ्का—स्थानशील अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव है, वे स्थावर हैं, ऐसी व्याख्या के अनुसार स्थावरों का स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वैसा लक्षण मानने पर वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकाय जीवों की एक देश से दूसरे देश में गति होने से उन्हें अस्थावरत्व का प्रसंग प्राप्त होगा।

शङ्का—वायुकायिक और अग्निकायिक को अस्थावर-पना प्राप्त होना है तो होने दो, क्योंकि आगम में इनको त्रस कहा है।

प्रतिशङ्का—वह कौनसा आगम है ?

प्रतिशङ्का का उत्तर—वह आगम इस प्रकार है—

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥[2]

---

१. धवल पु. १ पृ. १३८-१३९ । २. पंचास्तिकाय गा. १११ ।

—उन पाँच में से पृथ्वीकाय-जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन तो स्थावर हैं, अग्निकाय और वायुकाय ये दो त्रस हैं। पृथ्वी, जल, वनस्पति, अग्नि, वायु ये पाँचों ही मनपरिणाम से रहित हैं और एकेन्द्रिय भी हैं।

समाधान—नहीं, क्योंकि उक्त आगमसूत्र है ऐसा निर्णय नहीं हुआ है। दूसरे इस आगम का द्वादशांग के सूत्र से विरोध आता है।

शङ्का—वह सूत्र कौनसा है ?

समाधान—"तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।"[१] द्वीन्द्रिय से आदि लेकर अयोगकेवली तक त्रस जीव होते हैं। पारिशेष न्याय से इसी सूत्र के द्वारा यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर है।[२] उक्त आगम में भी अग्निकायिक और वायुकायिक को एकेन्द्रिय कहा गया है अतः वे त्रस नहीं हो सकते किन्तु वे स्थावर हैं, ऐसा पारिशेष न्याय से सिद्ध हो जाता है।

स्थानशील स्थावर होते हैं, यह निरुक्ति व्युत्पत्ति मात्र ही है, इसमें 'गौ' शब्द की व्युत्पत्ति की तरह प्रधानता से अर्थ का ग्रहण नहीं है।[३] पृथिवी-अप्-तेज-वायु और वनस्पति ये पाँचों ही स्थावर नामकर्मोदय के कारण स्थावर हैं।[४] त्रस नामकर्म के उदय से जिन्होंने त्रस पर्याय को प्राप्त कर लिया है वे त्रस है।[५]

शङ्का—'त्रसी उद्वेगे' इस धातु से त्रस शब्द की उत्पत्ति हुई है। जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं, वे त्रस हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि गर्भ में स्थित, अण्डे में बन्द, मूर्च्छित और सोते हुए जीवों में उक्त लक्षण घटित नहीं होने से, उनके अत्रसत्व का प्रसंग आजाएगा। इसलिए चलने और ठहरने की अपेक्षा त्रस और स्थावर नहीं समझने चाहिए।[६]

पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चारों के शरीर में वर्णादि चारों गुणों का सद्भाव

पुढवीआऊतेऊवाऊकम्मोदयेण तत्थेव।
णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा ॥१८२॥

गाथार्थ—पृथिवी, अप् (जल), तेज (अग्नि) और वायु इनका शरीर नियम से अपने-अपने नामकर्मोदय से अपने-अपने योग्य वर्ण-रस गंध और स्पर्श युक्त बनता है ॥१८२॥

विशेषार्थ—वैशेषिक की मान्यतानुसार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार धातुएँ हैं, इनमें से पृथिवी में वर्ण-रस-गंध-स्पर्श चारों हैं, किन्तु जल में गंध नहीं है। अग्नि में गन्ध और रस इन दो

---

१. षट्खंडागम संत प्ररूपणा सूत्र ४४। २. "के पुनः स्थावरा इति चेदेकेन्द्रियाः। कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात्।" [धवल पु. १ पृ. २७५-२७६]। ३. धवल पु. १ पृ. २६५-२६६। ४. "एते पञ्चापि स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयजनितविशेषत्वात्।" [धवल पु. १ पृ. २६५]। ५. धवल पु. १ पृ. २६६ ६. धवल पु. १ पृ. २६६।

का अभाव है और वायु में गंध-रस और रूप इन तीनों का अभाव है।[1] किन्तु वैशेषिक का ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इन चारों धातुओं के शरीर के निर्माण का कारण एक ही प्रकार के परमाणु हैं, किन्तु परिणमन विशेष के कारण किसी में कोई गुण व्यक्त रहता है और कोई गुण अव्यक्त रहता है। किसी में गन्ध गुण अव्यक्त रहता है, किसी में गन्ध और रस और किसी में गन्ध-रस और वर्ण ये तीन गुण अव्यक्त रहते हैं, जिसके कारण इन्द्रियों द्वारा उनका ग्रहण नहीं होता; किन्तु किसी भी परमाणु या धातु में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण इन चार गुणों में से किसी भी गुण का अभाव नहीं होता हैं।[2] क्योंकि गुण का अभाव होने से परमाणु का विनाश हो जाएगा।

वैशेषिक मत को दृष्टि में रखते हुए यह गाथा रची गई है क्योंकि इस में मात्र पृथिवी आदि चार स्थावरों के शरीरों में स्पर्श-रस-गन्ध और वर्ण इन चारों गुणों का कथन किया गया है। उनमें से स्पर्श गुण आठ प्रकार का है—मृदु, कर्कश (कठोर), गुरु (भारी), लघु (हल्का), शीत (ठंडा), उष्ण (गर्म), स्निग्ध (सच्चिक्कण), रूक्ष। तिक्त, आम्ल, कटु (कड़वा), मधुर और कषायला के भेद से रस पंच प्रकार का है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से गन्ध दो प्रकार की है। कृष्ण, नील, पीत, शुक्ल और लाल के भेद से वर्ण पाँच प्रकार का है। द्विसंयोगी त्रिसंयोगी आदि की अपेक्षा गुणों के संख्यात-असंख्यात भेद हो जाते हैं। लवण रस का मधुर रस में अन्तर्भाव हो जाता है।[3] जलादि में गन्ध आदि अव्यक्त होने पर भी स्पर्शगुण के व्यक्त रूप सद्भाव के कारण उन गन्ध-आदि अव्यक्त गुणों का भी बोध हो जाता है, क्योंकि स्पर्शगुण के साथ अन्य गुणों का अविनाभावी सम्बन्ध है, इसलिए स्पर्शगुण की प्रधानता है।

पृथिवी के पृथिवी, शर्करा आदि ३६ भेद हैं जो इस प्रकार हैं—

पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य।
अय तंब तउय सीसय रूप्प सुवण्णे य वइरे य ॥९॥
हरिदाले हिंगुलये मणोसिला सस्सगंजण पावले य।
अब्भपडलब्भवालु य वादरकाया मणिविधीया ॥१०॥
गोमज्झगेय रुजगे अंके फलिहे लोहिदंके य।
चंदप्पभे य वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥११॥
गेरु य चंदण वव्वग वयमोए तह मसारगल्लो य।
ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरदव्वा ॥१२॥[4]

मिट्टी रूप पृथिवी, नदियों की वालूरेत, तीक्ष्ण और चौकोर आदि आकार वाली शर्करा (कंकर), गोल पत्थर, बड़ा पत्थर, समुद्र आदि में उत्पन्न होने वाला नमक, लोहा, तांबा, जस्ता,

---

१. "स्पर्शादिजले गंधस्याभावात्तेजसि गंधरसयोः वायौ गंध-रस-रूपाणामनुपलब्धेरिति "श्लोकवार्तिक अ. ५ सूत्र २३ श्लोक १ वार्तिक १] २. "क्वचित्परमाणौ गंधगुणे, क्वचित् गंधरसगुणयोः क्वचित् गंधरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु तदविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति। न तदपकर्षो युक्तः। ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुकारणं। परिणामवशात् विचित्रो हि परमाणोः परिणामगुणः क्वचित् कस्यचिद्-गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वेन विचित्रां परिणतिमादधाति।" [पंचास्तिकाय गाथा ७० श्री अमतचन्द्राचार्य कृत टीका]। ३. "लवण रसस्य मधुररसे अन्तर्भावो वेदितव्यः।" [तत्त्वार्थवृत्ति ५/२३ की टीका] ४. मूलाचार पंचाचार अधिकार ५ गा. ९-१२।

सीसा, चांदी, सोना, वज्र (हीरा), हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, हरे रंगवाला सस्यक, अंजन, मूंगा, भोडल, चिकनी और चमकती हुई रेती, कर्केतनमणि, राजवर्तकमणि, पुलकवर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रकान्तमणि, वैडूर्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेरु, रुधिराक्षमणि, चन्दन-गंधमणि, मरकतमणि, पुखराज, नीलमणि और विद्रुममणि ये सब पृथिवी के भेद हैं। इनके भेद से पृथिवीकायिक जीव भी छत्तीस प्रकार के हो जाते हैं।[1]

ओसा य हिमो धूमरि हरदणु सुद्धोदवो घणुदगे।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ।।१३।।[2]

ओस, बर्फ, कुहरा, स्थूल बिन्दुरूप जल, सूक्ष्म बिन्दुरूप जल, चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न हुआ जल, झरना आदि से उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाब और घनवात आदि से उत्पन्न हुआ घनोदक अथवा हरदणु अर्थात् तालाब और समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल तथा घनोदक अर्थात् मेघ आदि से उत्पन्न हुआ जल ये सब जिनशासन में जलकायिक जीव कहे गये हैं।[3]

इंगाल-जाल अच्ची-मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
अण्णे वि एवमाई तेउक्काया समुद्दिट्ठा ।।[4]

—अंगार, ज्वाला, अर्चि (अग्निकिरण, स्फुलिंग), मुर्मर (कण्डे की अग्नि), शुद्ध-अग्नि (बिजली या सूर्यकान्त आदि से उत्पन्न हुई अग्नि), धूमादि सहित सामान्य अग्नि। ये सब अग्निकाय जीव कहे गये हैं।[5]

वादुब्भामो उक्कलि मंडली गुंजा महा घण तणु य।
एदे उ वाउकाया जीवा जिण-इंद-णिद्दिट्ठा ।।[6]

—सामान्य वायु, उद्भ्राम (चक्रवात), उत्कलि (जलतरंगों के साथ तरंगित होने वाली वायु), मण्डली (पृथिवी से स्पर्श करके घूमता हुआ वायु), गुंजा (गुंजायमान वायु), महावात (आंधी), घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव हैं।

[7]पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इनमें से प्रत्येक चार प्रकार का है। पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथ्वीजीव; जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव; अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक, अग्निजीव; वायु, वायुकाय, वायुकायिक, वायुजीव।

पृथिवी मार्ग में उपमर्दित धूलि पृथिवी है। यह अचेतन और कठिन गुण को धारण करती

---

१. ति. प. २/११-१४; धवल १/२७४; प्रा. पं. १/७७; सि. सा. दीपक ११/३२-३५, धवल पु. १ पृ. २७२-२७३ सूत्र ४२ की टीका। २. मूलाचार पञ्चाचार-अधिकार ५ गा. १३। ३. धवल पु. १ पृ. २७३ सूत्र ४२ की टीका। ४. मूलाचार पंचाचार-अधिकार ५ गा. १४, धवल पु. १ गा. १५१ सि.सा. दीपक ११/४५-४८। ५. धवल पु. १ पृ. २७६ सूत्र ४२ की टीका। ६. धवल पु. १ पृ. २७३ गा. १५२; मूलाचार पंचाचार अधिकार ५ गा. १५। ७. तत्त्वार्थ वृत्ति अ. २ सू. १३ पृ. ९३-९४। मूलाचार (फलटन से प्रकाशित) पृ. १२०-१२१।

है। अचेतन होने के कारण पृथिवी में स्थावर नामकर्म का उदय नहीं है फिर भी प्रथन क्रिया के कारण पृथिवी कही गई है।

पृथिवीकाय—काय शब्द का अर्थ शरीर होता है। पृथिवी जीव जिस काय को छोड़कर अन्यत्र जन्म लेने को चला गया है, ऐसा जो पृथिवीकायिक का शरीर वह पृथिवीकाय है। जैसे मृत मनुष्य का शरीर। ऐसे ही ईंट आदि। यह भी अचेतन है। इसके स्थावर पृथिवीकाय नाम कर्मोदय नहीं है। इसकी विराधना में हिंसा का दोष नही है।

पृथिवीकायिक—जिसमें पृथिवी जीव विद्यमान है, वह पृथिवीकायिक है। इसकी विराधना में दोष है।

पृथिवीजीव—जिसके पृथिवी स्थावरकाय नामकर्म का उदय है परन्तु अभी तक पृथिवी को अपना शरीर नहीं बनाया है, ऐसे विग्रहगति स्थित जीव को पृथिवीजीव कहते हैं। इसके कार्मण काययोग होता है।

जल—जो जल आलोड़ित हुआ है, जहाँ-तहाँ फेंका गया है अथवा वस्त्र से गालित हुआ है, वह जल है।

जलकाय—जिस जलकायिक में से जीव नष्ट हो चुके हैं अथवा गर्म-जल जलकाय है।

जलकायिक—जलजीव ने जिस जल को शरीररूप से ग्रहण किया है, वह जलकायिक है।

जलजीव—विग्रहगति में स्थित जीव जो एक, दो या तीन समय में जल को शरीर रूप से ग्रहण करेगा, वह जलजीव है।

अग्नि—इधर-उधर फेंकी हुई अग्नि, जलादि संसिक्त अग्नि, प्रचुर भस्म से आच्छादित अग्नि, जिसमें थोड़ी सी उष्णता है, वह अग्नि है।

अग्निकाय—भस्म आदि अथवा जिस अग्निकायिक को अग्निजीव ने छोड़ दिया है, वह अग्निकाय है।

अग्निकायिक—जिस अग्नि रूपी शरीर को अग्निजीव ने धारण कर लिया है, वह अग्निकायिक है।

अग्निजीव—जो जीव अग्नि रूपी शरीर को धारण करने के लिए जा रहा है विग्रह गति में स्थित ऐसा जीव अग्निजीव है।

वायु—धूलि का समुदाय जिसमें है ऐसी भ्रमण करने वाली वायु वायु है।

वायुकाय—जिस वायुकायिक में से जीव निकल गया है, ऐसी वायु का पुद्गल वायुकाय है।

वायुकायिक—वायुजीव से युक्त वायु वायुकायिक है।

वायुजीव—वायु रूपी शरीर को धारण करने के लिए जाने वाला ऐसा विग्रहगति में स्थित

जीव वायुजीव है ।[1] इस विषय में **सिद्धान्तसारदीपक** के अध्याय ११ का भी अवलोकन करना चाहिए ।

शङ्का—इन चार भेदों में से कौनसे चेतन हैं और कौनसे अचेतन हैं ?

समाधान—आदि के दो भेद अचेतन हैं, निर्जीव हैं । शेष दो 'कायिक' व विग्रहगति स्थित जीव सचेतन हैं ।[2]

शङ्का—दोनों सचेतनों में परस्पर क्या अन्तर है ?

समाधान—तीसरा भेद कायिकजीव तो शरीर सहित है और चौथा भेद जीव शरीर रहित है । शरीर सहित व शरीर रहित इन दोनों सचेतनों में यह अन्तर है ।

शङ्का—दोनों अचेतनों में क्या अन्तर है ?

समाधान—प्रथम अचेतन भेद वर्तमान में जीवरहित होने के कारण अचेतन है किन्तु वह पृथिवी आदि जीवों की उत्पत्ति के लिए योनी स्थान बना हुआ है । उसमें जीव जन्म ले सकता है, जीव के जन्म लेने पर वह सचेतन हो जाएगा । जैसे मार्ग में मर्दन की हुई धूलि जब तक मार्ग चलता रहता है अचेतन है, किन्तु रात्रि में गमनागमन बन्द हो जाने से पृथिवी जीवों की उत्पत्ति हो जाती है और वह अचेतन धूलि सचेतन बन जाती है । किन्तु ईंट आदि पृथिवीकाय में पृथिवी जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार प्रथम भेद विलोड़ित जल, दोहरे वस्त्र रूपी यंत्र द्वारा गालित जल[3] अथवा हाइड्रोजन व आक्सीजन इन दो वायु से बना जल, अथवा चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न हुआ जल वर्तमान में अचेतन है किन्तु कालान्तर में जलकाय जीवों की उत्पत्ति हो जाने से वह सचेतन हो जाएगा किन्तु दूसरा भेद जलकाय रूप उष्ण जल है । जलकाय जीवों का योनि स्थान नष्ट हो जाने से उष्ण जल में जलकाय जीवों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती । प्रचुर भस्म से आच्छादित अग्नि अथवा विद्युत् रूप अग्नि अथवा सूर्यकान्त मणि से उत्पन्न हुई अग्नि वर्तमान में अचेतन है किन्तु भस्म के हट जाने पर व कालान्तर में इस प्रथम तेज भेद में अग्निजीव की उत्पत्ति होने से सचेतन हो जाते हैं । परन्तु दूसरा भेद अग्निकाय, जिसमें उष्णता दूर हो गई है ऐसी भस्म में अग्निकाय जीव उत्पन्न नहीं हो सकते । इस प्रकार प्रथम भेद सचेतन हो जाता है और दूसरा काय भेद सचेतन नहीं होता है, यही इन दोनों में भेद है । कालान्तर में सचेतन हो जाने के कारण प्रथम भेद किंचित् प्राणाश्रित भी कहा गया है ।

---

१. तत्त्वार्थवृत्ति २/१३ पृ. ६४; मूलाचार (फलटन) पृ. १२१ । २. "चतुर्णामपि पृथिवीशब्दवाच्यत्वेऽपि शुद्धपुद्गल पृथिव्या, जीवपरित्यक्तपृथिवीकायस्य च नेह ग्रहणं तयोरचेतनत्वेन तत्कर्मोदयासम्भवात्तत्कृतपृथिवी-व्यपदेशासिद्धेः । तस्माज्जीवाधिकारात्पृथिवीकायत्वेनगृहीत्वतः पृथिवीकायिकस्य विग्रहगत्यापन्नस्य पृथिवीजीवस्य ग्रहणं तयोरेव पृथिवीस्थावरनामकर्मोदयसद्भावात्पृथिवीव्यपदेशघटनात् ।" [सुखानबोटका तत्त्वार्थ सूत्र २/१३] ।
३. "एवं विलोडित यत्रतत्रविक्षिप्तं वस्त्रादिगालितं जलमाप उच्यते ।" [तत्त्वार्थवृत्ति २/१३]; "अथ जलस्य प्रासुकत्वं कियत्कालमिति वर्णयन्ति-मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम् । उष्णोदकमहोरात्रं ततः सम्मूर्च्छिमं भवेत ।।२१।।" [श्रीशिवकोटिआचार्यप्रणीत रत्नमाला] ।

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा ।
घादसरीरं थूलं अघादवेहं हवे सुहुमं ।।१८३।।

गाथार्थ—बादर व सूक्ष्म नाम कर्मोदय से उन पृथिवीकायिक आदि जीवों का शरीर बादर व सूक्ष्म होता है, घात लक्षण वाला शरीर बादर (स्थूल) होता है और अघात लक्षण वाला शरीर सूक्ष्म होता है ।।१८३।।

विशेषार्थ—स्थावर जीव दो प्रकार के हैं—बादर व सूक्ष्म । जिनके जीवविपाकी बादर नामकर्म का उदय है, वे बादर जीव हैं । जिनके सूक्ष्म जीव-विपाकी-नामकर्म का उदय है, वे सूक्ष्म जीव हैं । बादर जीवों का शरीर भी बादर होता है और सूक्ष्म जीवों का शरीर भी सूक्ष्म होता है ।[1]

शङ्का—बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची है और स्थूलता का स्वरूप नियत नहीं है, अतः यह ज्ञात नहीं होता कि कौन-कौन जीव स्थूल हैं । जो चक्षुइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे स्थूल हैं, यदि ऐसा कहा जाए तो भी नहीं बनता, क्योंकि ऐसा मानने पर जो स्थूल जीव चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने के योग्य नहीं हैं, उनको सूक्ष्मपने की प्राप्ति हो जाएगी । जिनका चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता उनको बादर मान लेने पर सूक्ष्म और बादर में कोई भेद नहीं रह जाएगा ।

समाधान—नहीं, क्योंकि यह आशंका आगम के स्वरूप की अनभिज्ञता की द्योतक है । वह बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची नहीं है, किन्तु बादर नामकर्म का वाचक है । इसलिए बादर नामकर्म के उदय के सम्बन्ध से जीव भी बादर हो जाता है ।

शङ्का—शरीर की स्थूलता को उत्पन्न करने वाले कर्म को बादर और सूक्ष्मता को उत्पन्न करने वाले कर्म को सूक्ष्म कहते हैं । तथापि जो चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है, वह सूक्ष्म शरीर है और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह बादर शरीर है । अतः सूक्ष्म और बादर कर्म के उदयवाले सूक्ष्म और बादर शरीर से युक्त जीवों को सूक्ष्म और बादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है । इससे यह सिद्ध हुआ जो चक्षु से ग्राह्य हैं, वे बादर हैं और जो चक्षु से अग्राह्य हैं, वे सूक्ष्म हैं ।[2] यदि यह लक्षण न माना जाय तो सूक्ष्म और बादर में कोई भेद नहीं रह जाता ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि स्थूल तो हो और चक्षु से ग्रहण करने योग्य न हो, इस कथन में कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—सूक्ष्मशरीर से असंख्यातगुणी अधिक अवगाहना वाले शरीर को बादर कहते हैं और उस शरीर से युक्त जीवों को उपचार से बादर कहते हैं । अथवा बादर शरीर से असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले शरीर को सूक्ष्म कहते हैं । उस सूक्ष्मशरीर से युक्त जीव को उपचार से सूक्ष्म कहते हैं ।

---

१. श्रीमदभयचन्द्रसूरिकृतटीका । २. "यदुदयाद् जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद् बादरनाम, पृथिव्यादेरेकैकशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बादरपरिणामविशेषाद् बहूनां समुदायचक्षुषा ग्रहणं भवति । तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति ।" श्वेताम्बर कर्म प्रकृति पृ. ७ ।

समाधान—यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सबसे जघन्य बादर शरीर से सूक्ष्म नामकर्म के द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीर की अवगाहना असंख्यातगुणी होने से[१] उपर्युक्त कथन में अनेकान्त दोष आता है। इसलिए जिन जीवों के बादर-नामकर्म का उदय पाया जाता है, वे बादर हैं और जिनके सूक्ष्म नामकर्म का उदय पाया जाता है, वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।[२]

शङ्का—सूक्ष्म नामकर्म के उदय और बादर नामकर्म के उदय में क्या भेद है?

समाधान—बादर नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त-पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को धारण करता है और सूक्ष्म नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त-पदार्थों के द्वारा आघात नहीं होने योग्य शरीर को उत्पन्न करना है। यही इन दोनों में भेद है।

शङ्का—सूक्ष्म जीवों का शरीर सूक्ष्म होने से ही अन्य मूर्त द्रव्यों के द्वारा आघात को प्राप्त नहीं होता है, अतः मूर्त द्रव्यों के साथ प्रतिघात का नहीं होना सूक्ष्म नामकर्म के उदय से नहीं मानना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात को नहीं प्राप्त होने से सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त होने वाले सूक्ष्म शरीर से असंख्यातगुणे हीन अवगाहना वाले और बादर नामकर्म के उदय से बादर संज्ञा को प्राप्त होने वाले बादर शरीर की सूक्ष्मता के प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त-पदार्थों से प्रतिघात नहीं होगा, ऐसी आपत्ति आएगी।

शङ्का—आजाने दो?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय में कोई विशेषता नहीं रह जाएगी।

शङ्का—सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्मशरीर को उत्पन्न करने वाला है, इसलिए इन दोनों के उदय में भेद है।

समाधान नहीं, क्योंकि सूक्ष्म शरीर से भी असंख्यातगुणोहीन अवगाहना वाले और बादर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए बादर शरीर की उपलब्धि होती है।[३]

इस उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता है, ऐसे शरीर का निर्माण करने वाला सूक्ष्म नामकर्म है और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त-पदार्थों से प्रतिघात को प्राप्त होने वाले शरीर को निर्माण करनेवाला बादर नामकर्म है।[४]

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकार के हैं बादर और सूक्ष्म अर्थात् बादर पृथिवीकायिक और सूक्ष्म पृथिवीकायिक। जलकायिक जीव दो प्रकार के हैं बादर जलकायिक और सूक्ष्म जलकायिक। अग्निकायिक जीव दो प्रकार के हैं। बादर अग्निकायिक और सूक्ष्म अग्निकायिक। वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं–बादर वायुकायिक और सूक्ष्म वायुकायिक।[५]

---

१. "बादरणिगोद जीव अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ॥४०॥ सुहुमणिगोदजीव णिव्वत्ति पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ॥४७॥" [ध. पु. ११ पृ. ५८-५९]। २. ध.पु. १ पृ. २४९-२५०। ३. धवल पु. १ पृ. २५१। ४. ध. पु. १ पृ. २५३। ५. ध. पु. १ पृ. २६७।

चारों स्थावरों के शरीर की अवगाहना व आश्रय

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स बिंदमाणं तु।
आधारे थूला ओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा ।।१८४।।[1]

गाथार्थ—हे भव्यो ! बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के चारों स्थावर जीवों की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवेंभाग प्रमाण है। स्थूल अर्थात् बादर जीव आधार की अपेक्षा रखता है किन्तु सूक्ष्म जीव व्यवधान के बिना सर्वत्र भरे हुए हैं ।।१८४।।

विशेषार्थ—आठ यव से द्रव्य अंगुल निष्पन्न होता है, उसको तीन बार परस्पर गुणित करने से घनांगुल हो जाता है। उस द्रव्य घनांगुल में जितने आकाश के प्रदेश हों, उन प्रदेशों के असंख्यात खण्ड करने पर उनमें से एक खण्ड, अंगुल का असंख्यातवाँ भाग होता है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक बादर व सूक्ष्म जीवों के शरीर की उतनी अवगाहना होती है अर्थात् घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाशप्रदेशों को उक्त जीवों का शरीर रोककर ठहरता है।

शङ्का—घनांगुल प्रमाण आकाशप्रदेशों का भागहार क्या है ?

समाधान—पल्य का असंख्यातवाँ भाग।

शङ्का—यह जघन्य अवगाहना का प्रमाण है या उत्कृष्ट अवगाहना का ?

समाधान—सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त जीव की जघन्य शरीर अवगाहना से लेकर बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक की उत्कृष्ट शरीर अवगाहना पर्यन्त जितनी भी शरीर अवगाहना है अर्थात् बादर व सूक्ष्म पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की सर्व शरीर अवगाहनाओं का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है।

शङ्का—सब शरीरों की अवगाहना भिन्न-भिन्न होती है, उन सबका प्रमाण एक कैसे हो सकता है ?

समाधान—अंगुल के असंख्यातवें भाग के असंख्यात भेद हैं, क्योंकि असंख्यात संख्या भी असंख्यात प्रकार की होती है। सामान्यदृष्टि से वे सब अंगुल के असंख्यातवें भाग हैं तथापि विशेष-दृष्टि से उनमें परस्पर हीनाधिकता है।

शङ्का—विशेषरूप हीनाधिकता है या गुणाकार रूप हीनाधिकता है ?

समाधान—विशेषरूप हीन-अधिकता भी है और गुणाकार रूप हीन-अधिकता भी है। यह पूर्व में शरीर अवगाहना के कथन से स्पष्ट है।[2]

शङ्का—अंगुल के असंख्यातवें भाग में गुणाकार वृद्धि होने पर भी अंगुल का असंख्यातवाँभाग ही बना रहता है यह कैसे सम्भव है ?

---

१. "अंगुलअसंखभागं बादरसुहुमा" [मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. ४६]; "देसेहिं बादरा खलु सुहुमेहि णिरंतरो लोओ।।" [मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. १६१]। २. गो.जी.गा. ६४-११२।

समाधान—अंगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्यातगुणी वृद्धि होने पर पूर्व की अपेक्षा प्रमाण में वृद्धि होती है, तथापि असंख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उसका प्रमाण भी अंगुल का असंख्यातवाँ भाग ही होता है। जैसे ४ संख्या १०० संख्या का संख्यातवाँ भाग है। चार को संख्यात (५) से गुणा करने पर भी जो संख्या (४×५=२०) प्राप्त होती है, वह भी १०० संख्या का संख्यातवाँ भाग है।

जो बादर शरीर हैं वे अन्य के आधार से रहते हैं, जैसे बादर जीव वातवलय के, आठ पृथिवियों के तथा विमान पटलों के आश्रय से रहते हैं;[1] जिससे वे नीचे न गिर जावें। और जो सूक्ष्म शरीर हैं वे जल, स्थल आदि में अर्थात् लोकाकाश में सर्वत्र पाये जाते हैं, क्योंकि वे व्याघात से रहित हैं। बादर जीव लोक के एकदेश में रहते हैं परन्तु लोक का एक प्रदेश भी सूक्ष्म जीवों से रहित नहीं है।[2]

शङ्का—यदि सूक्ष्म जीवों का शरीर व्याघात से रहित है तो वे लोकाकाश के बाहर क्यों नहीं पाये जाते।

समाधान—जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक ही जीव-पुद्गलों का गमन पाया जाता है। गमन में बाह्यसहकारीकारण धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश के बाहर जीव-पुद्गलों का गमन सम्भव नहीं है।[3]

तेरह गाथाओं द्वारा वनस्पति स्थावर काय का कथन

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदि होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं ॥१८५॥

गाथार्थ—वनस्पति कर्मोदय से जीव वनस्पति होता है। वह वनस्पति प्रत्येक और सामान्य (साधारण) के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की होती है—प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति ॥१८५॥

विशेषार्थ—स्थावर नामकर्म के उत्तर भेद पाँच हैं। पृथिवी, अप् (जल), तेज (अग्नि), वायु और वनस्पति। इन पाँचों में से वनस्पति स्थावर नाम कर्मोदय से जीव वनस्पतिकायिक होता है। जिनके प्रत्येकशरीर नामकर्मोदय से प्रत्येकशरीर होता है वे प्रत्येकवनस्पति हैं। जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है वे प्रत्येकशरीर जीव हैं जैसे खैर आदि वनस्पति।[4] एक जीव के एक शरीर होता है।[5]

शङ्का—प्रत्येकशरीर का इस प्रकार लक्षण करने पर पृथिवीकाय आदि पाँचों स्थावरों के शरीरों की भी प्रत्येक शरीर संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

---

१ व २. मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. १६१ की टीका पृ. २८२। ३. लोकालोकावच्छेदकौ धर्माधर्मावेव गतिस्थितिहेतू मन्तव्याविति॥ पंचास्तिकाय गाथा ९३ की टीका। तह्मा धम्माधम्मागमणट्ठिदिकारणाणि णागासं। इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं॥ पं.का.गाथा ९५॥ ४. "प्रत्येकं पृथक्शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः।" [धवल पु. १ पृ. २६८] ५. "एकस्य जीवस्य एकं शरीरमित्यर्थः।" [श्री अभयचन्द्राचार्य कृत टीका]।

समाधान - यह आशंका आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि पृथिवीकाय आदि को प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है।

शङ्का—तो फिर पृथिवीकाय आदि के साथ भी प्रत्येक विशेषण क्यों नहीं लगाया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वनस्पतियों में प्रत्येकवनस्पति से निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पाई जाती है, उस प्रकार पृथिवी आदि में प्रत्येकशरीर से भिन्न अर्थात् साधारण-शरीर ऐसा कोई भेद नहीं पाया जाता, इसलिए पृथिवी आदि में यह विशेषण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।[1]

शङ्का—प्रत्येक वनस्पति में बादर और सूक्ष्म ये दो विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिए प्रत्येक वनस्पति को अनुभयपना प्राप्त हो जाता है। परन्तु बादर और सूक्ष्म इन भेदों को छोड़कर अनुभयरूप कोई तीसरा विकल्प पाया नहीं जाता है, इसलिए अनुभयरूप विकल्प के अभाव में प्रत्येक-शरीर वनस्पतियों का भी अभाव प्राप्त हो जाएगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति का बादररूप से अस्तित्व पाया जाता है, इसलिए उसका अभाव नहीं हो सकता।

शङ्का—प्रत्येक वनस्पति को बादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति का दूसरे रूप से अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए बादर रूप से उसके अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

शङ्का—प्रत्येक वनस्पति में यद्यपि सूक्ष्मता-विशिष्ट जीव की सत्ता सम्भव है, क्योंकि सत्त्वा-न्यथानुपपत्ति रूप से उसकी सिद्धि हो जाती है। इसलिए यह सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप अनैकान्तिक है।[2]

समाधान—नहीं, क्योंकि बादर यह लक्षण उत्सर्ग रूप (व्यापक) होने से संपूर्ण प्राणियों में पाया जाता है। इसलिए प्रत्येकवनस्पति जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि जिस प्रकार साधारण शरीर में उत्सर्गविधि की बाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारणशरीरों में बादर भेद के अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक वनस्पति में अपवाद विधि नहीं पाई जाती। उनमें सूक्ष्मभेद का सर्वथा अभाव है।

शङ्का—प्रत्येकवनस्पति में बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रत्येकवनस्पति और त्रसों में बादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते, इसलिए सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता, क्योंकि आगम के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सूक्ष्मत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्ष आदि से अप्रसिद्ध सूक्ष्म को बादर की तरह उत्सर्ग मानने में विरोध आता है।[3]

---

१. धवल पु. १ पृ. २६८। २. धवल पु. १ पृ. २६९। ३. धवल पु. १ पृ. २६९।

बादरनिगोद से प्रतिष्ठित वनस्पति, सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

शङ्का—जो बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं ऐसी कौनसी वनस्पतियाँ हैं?

समाधान—थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादरनिगोद से प्रतिष्ठित हैं।[1]

बीज आदि की अपेक्षा वनस्पति के भेद तथा सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित अवस्था का कथन

मूलग्गपोरबीजा खंदा तह खंदबीजबीजरुहा।
समुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ।।१८६।।[2]

गाथार्थ—मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, और सम्मूर्च्छिम ये सब वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक के भेद से दोनों प्रकार की कही गई हैं ।।१८६।।

विशेषार्थ—जिन वनस्पतियों का बीज मूल है, वे मूलबीज वनस्पतियाँ हैं जैसे अदरक, हल्दी आदि। जिन वनस्पतियों का बीज उनका ही अग्रभाग है वे अग्रबीज हैं, जैसे आर्यक (नेत्रवाला) आदि। जिन वनस्पतियों का बीज उनका पर्व है, वे पर्वबीज वनस्पतियाँ हैं जैसे सांठा आदि। जिन वनस्पतियों का बीज कन्द है वे वनस्पतियाँ कन्दबीज जाननी जैसे पिंडालु, रतालु, सूरण आदि। जिन वनस्पतियों का बीज स्कन्ध है, वे स्कन्धबीज वनस्पतियाँ हैं जैसे सालरि (सलई), पलास आदि। जो वनस्पतियाँ अपने बीज से ही लगी हैं वे बीजरुह हैं जैसे गेहूँ, शालि आदि। जिन वनस्पतियों का मूलादि नियत बीज नहीं है, चारों ओर से पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करके उपजी हैं वे सम्मूर्च्छिम वनस्पतियाँ हैं, जैसे दूब आदि।

यद्यपि मूल आदि सभी वनस्पतियों का सम्मूर्च्छन जन्म है, गर्भज नहीं है तथापि जिसका कोई नियत बीज नहीं है तथा (सत्त्व की अन्य प्रकार से प्राप्ति का अभाव है) यद्वा तद्वा अनुकूल वातावरण मिलने पर कहीं पर भी स्वयमेव उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसा एक सम्मूर्च्छिम वनस्पतिकाय का एक भिन्न भेद कहा गया है। ये सब वनस्पतियाँ प्रत्येक शरीर होते हुए अनन्तानन्त निगोद जीवों के शरीरों से प्रतिष्ठित होने के कारण परमागम में अनन्तकाय कही गई हैं। तथा 'च' शब्द से अप्रतिष्ठित का ग्रहण करने से ये वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं। प्रतिष्ठित-प्रत्येक की उत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवेंभाग प्रमाण है।[3]

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ।।१८७।।[4]

गाथार्थ—योनिभूत बीज में वही जीव या अन्य जीव उत्पन्न होता है। ये मूलादि प्रथम अवस्था में प्रत्येक अर्थात् अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं ।।१८७।।

---

१ धवल पु. १ पृ. २७१। २ धवल पु. १ पृ. २७३; प्रा. पं. सं. पृ. १७ गाथा ८१ व पृ. ५७० गाथा ७६, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ. ६६। ३. श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। ४. जीवतत्त्वप्रदीप टीका में यह गाथा नं. १९० है।

विशेषार्थ—मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरूह अर्थात् जीव की उत्पत्ति के आधारभूत पुद्गल स्कन्ध बीजों में, जिनकी अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, जल, पृथिवी, वायु व ऋतु आदि का निमित्त मिलने पर, वही जीव, जो पहले उस बीज में था, या अन्य जीव गत्यन्तर से आकर उस बीज में उपजता है। मूलादिक, जो आगम में प्रतिष्ठितप्रत्येक प्रसिद्ध हैं, वे भी शरीरग्रहण के समय या अन्तर्मुहूर्त काल तक अप्रतिष्ठितप्रत्येक रहती हैं। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् उनके आश्रय निगोदजीव हो जाते हैं तब वे प्रतिष्ठितप्रत्येक हो जाती हैं।[1]

श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कृत तीन गाथाओं में प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित का विशेष लक्षण

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥१८८॥[2]

मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥१८९॥

कंदस्स व मूलस्स व सालखंदस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥१९०॥[3]

गाथार्थ—जिनकी स्नायु, रेखाबन्ध और गाँठ अप्रकट हों, जिनका [भंग करने पर] समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर हीरुक-अन्तर्गतसूत्र-तंतु नहीं लगा रहे तथा छिन्न करने पर भी जो उग जावे उसे साधारणवनस्पति कहते हैं और इससे विपरीत को प्रत्येकवनस्पति कहते हैं ॥१८८॥ जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोंपल अथवा अंकुर, क्षुद्रशाखा (टहनी), पत्र, फूल, फल तथा बीज; इनको तोड़ने से समान भंग अर्थात् बराबर-बराबर दो टुकड़े हों, बिना ही हीरुक के भंग हो जाय उनको सप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति कहते हैं। इसके विपरीत जिनका भंग समान न हो उनको अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति कहते हैं ॥१८९॥ जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्ध (तना) की छाल मोटी हो, उसको अनन्तजीव सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं ॥१९०॥

विशेषार्थ **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा १२८ की टीका में पृष्ठ ६६ पर पण्डित कैलाशचन्द्रजी ने लिखा है कि जिस प्रत्येक वनस्पति की धारियाँ, फाँकें और गांठें दिखाई न देती हों, जिसे तोड़ने पर खट से बराबर-बराबर दो टुकड़े हो जाँय और बीच में कोई तार वगैरह न लगा रहे तथा जो काट देने पर भी पुनः उग जाए वह साधारण अर्थात् सप्रतिष्ठितप्रत्येक है। यहाँ सप्रतिष्ठितप्रत्येक शरीर वनस्पति को साधारण जीवों का आश्रय होने से साधारण कहा है। जिस वनस्पति में उक्त बातें न हों अर्थात् जिसमें धारियाँ आदि स्पष्ट दिखाई देती हों, तोड़ने पर समान टुकड़े न हों, टूटने पर तार लगा रह जाए उस वनस्पति को अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर कहते हैं। **मूलाचार** में पंचाचाराधिकार की गाथा २१६ जीवकाण्ड की उक्त गाथा १८८ के समान है। वहाँ भी **वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती** ने ऐसा ही

---

१. श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका अनुसार। २. यही गाथा मूलाचार अधिकार ५ में २१६वीं गाथा रूप है। ३. ये तीनों गाथाएँ स्वा.का.अनु. गा. १२८ की टीका में पृ. ६६ पर आई हैं। [रायचन्द्र ग्रन्थमाला]।

विशेषार्थ अपनी **आचारवृत्ति** में किया है। इतना विशेष है कि वहाँ "अहीरुक" के उदाहरण रूप मंजीठ [मंजिष्ठ] आदि वनस्पतियाँ कही हैं। यथा—**अहीरुहं न विद्यते हीरुकं बालरूपं यस्य तदहीरुहं पुनः सूत्राकाराविर्वाजतं मंजिष्ठादिकम्।** अब इसी गाथा का सोदाहरण खुलासा किया जाता है—

गूढ़सिर—अर्थात् जिन प्रत्येक शरीर वनस्पतियों की बहिःस्नायुक अदृश्य हों अर्थात् वाह्य लकीर [धारी जैसी] अदृश्य हो (बाहरी लम्बी लकीर दिखाई न देती हो) वे गूढ़सिर वनस्पतियाँ हैं। ककड़ी, तरोई, भिंगी आदि पर बाह्य लम्बी लकीरें स्पष्ट नजर आती हैं, पर कच्ची अवस्था में ये नहीं दिखतीं। **गूढ़संधि**—जिन प्रत्येकवनस्पतियों में सन्धि के बीच में छेहा प्रकट न हुआ हो जैसे नारंगी, दाड़िम आदि में पतला पीला छेहा दो भागों के बीच में होता है किन्तु ज्यादा कच्ची अवस्था में वह छेहा प्रकट नहीं होता, अथवा जिनमें फाँकें नहीं पड़ी हों जैसे कच्चे सन्तरे, नारंगी आदि में, वे गूढ़संधि हैं। **गूढ़पर्व**—पर्व गाँठ को कहते हैं जैसे गन्ने, बाँस आदि की दो पोरियों के बीच में बहुत कड़ी गाँठ होती है। जिन प्रत्येक वनस्पतियों में वह गाँठ प्रकट नहीं हुई हो वे गूढ़पर्व हैं। इस प्रकार ऐसी कच्ची अवस्था में (जबकि ये सिरा, सन्धि या पर्व दिखते नहीं) गूढ़सिरा, गूढ़सन्धि और गूढ़पर्व ये तीनों प्रकार की प्रत्येक वनस्पतियाँ साधारण होती हैं। सप्रतिष्ठितप्रत्येक के आश्रय बादर साधारण अर्थात् निगोद रहता है, अतः आधार में आधेय का उपचार करके सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति को साधारण कहा जाता है। **समभंग**—जिन प्रत्येक वनस्पतियों के भंग (टुकड़े) करने पर सदृश छेद हो जायें जैसे चाकू आदि से टुकड़े करने पर समान भाग होते है और परस्पर तन्तु भी न लगा रहे तो वे समभंग वनस्पतियाँ हैं। ये भी साधारण अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतियाँ हैं। **छिन्नरुह**—जो काटने पर भी उग जाएँ वे छिन्नरुह प्रत्येकवनस्पतियाँ हैं जैसे आलू आदि। ये भी साधारण अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतियाँ हैं। इनसे विपरीत लक्षण वाली अगूढ़सिरा, अगूढ़सन्धि, अगूढ़पर्व, असमभंग, छिन्न-अरुह; ये वनस्पतियाँ अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। यथा—नारियल, इमली, ताल-वृक्ष का फल, आम्र आदि।

साधारण जीवों का स्वरूप

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहमात्ति विण्णेया॥१६१॥

गाथार्थ—साधारण नामकर्मोदय से निगोदशरीर वाला साधारण वनस्पतिकायिक जीव होता है। ऐसे जीव बादर व सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं॥१६१॥

विशेषार्थ—स्थावर नामकर्म के उत्तरोत्तर भेदस्वरूप साधारण नामकर्म के उदय से जीव साधारण-वनस्पति होता है। उस जीव का निगोदशरीर अर्थात् साधारण शरीर होता है।

शङ्का—साधारण शरीर कौनसा होता है?

समाधान—जिन अनन्त जीवों का भिन्न-भिन्न शरीर न होकर, समान रूप से एक शरीर पाया जाता है, वे साधारणशरीर जीव हैं।[1]

१. धवल पु. १ पृ २६६।

शङ्का—भिन्न-भिन्न जीवों से पृथक्-पृथक् बँधे हुए पुद्गलविपाकी होने से आहार-वर्गणाओं के स्कन्धों को शरीर के आकार रूप से परिणमन कराने में कारण रूप और भिन्न-भिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक नोकर्मस्कन्धों के द्वारा अनेक जीवों के एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो एकदेश में अवस्थित हैं और परस्पर संबद्ध जीवों के साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहाँ पर स्थित सम्पूर्ण जीवसम्बन्धी एक शरीर को उत्पन्न करते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता क्योंकि साधारण रूप कारण से उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण होता है। क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।[1]

शङ्का—निगोद किसे कहते हैं ?

समाधान—**'नि' नियतामनन्तजीवानामेकामेव, 'गां' भूमिं, क्षेत्रं, निवासं, 'द' ददातीति निगोदम्** अर्थात् जो एक सीमित स्थान में अनन्तानन्त जीवों को स्थान देता है, वह निगोदशरीर है।[2]

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥१९२॥[3]

गाथार्थ—साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास-निःश्वास का ग्रहण यह साधारण जीवों का साधारण लक्षण कहा गया है ॥१९२॥

विशेषार्थ—इस सूत्र गाथा द्वारा शरीरी और शरीर दोनों का ही लक्षण कहा गया है, क्योंकि एक के लक्षण का ज्ञान होने पर दूसरे के लक्षण का भी ज्ञान हो जाता है।[4]

शरीर के योग्य पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण करना आहार कहलाता है। वह साधारण अर्थात् सामान्य होना है।

शंका—एक जीव के द्वारा ग्रहण किया गया आहार उस काल में वहाँ अनन्त जीवों का कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उस आहार से उत्पन्न हुई शक्ति का बाद में उत्पन्न हुए जीवों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही ग्रहण हो जाता है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो 'आहार साधारण है' इसके स्थान में 'आहारजनित शक्ति साधारण है' ऐसा कहना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य में कारण का उपचार कर लेने से आहार-जनित शक्ति को भी आहारसंज्ञा सिद्ध होती है।[5]

---

१. धवल पु. १ पृ. २७०। २. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा संस्कृत टीका पृ. ६६। ३. धवल पु. १ पृ. २७० व पु. ३ पृ. ३३२; प्रा.पं.सं. पृ. १७ गा. ८२; धवल पु. १४ पृ. २२२ पर यह मूल गाथा १२२ है। ४. धवल पु. १४ पृ. २२६। ५. जयधवल पु. १४ पृ. २२७।

'आण' शब्द का अर्थ उच्छ्वास है और 'अपाण' शब्द का अर्थ निःश्वास है।[1] उन आनापान का ग्रहण अर्थात् उपादान सब जीवों के साधारण अर्थात् सामान्य है।

शङ्का—किन जीवों के साधारण है ?

समाधान—साधारण जीवों के साधारण है। गाथासूत्र में 'साहारणजीवाणं' शब्द के द्वारा ऐसा कहा गया है।

शङ्का—साधारण जीव कौन है ?

समाधान—एक शरीर में निवास करनेवाले जीव साधारण हैं।

अन्य शरीरों में निवास करनेवाले जीवों के उनसे भिन्न शरीर में निवास करने वाले जीवों के साथ साधारणता नहीं है, क्योंकि उनमें एक शरीर के आवास से उत्पन्न हुई प्रत्यासत्ति का अभाव है। इसका अभिप्राय यह है—सबसे जघन्य पर्याप्तिकाल के द्वारा यदि पहले उत्पन्न हुए निगोद जीव शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आहारपर्याप्ति और उच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्ति से पर्याप्त होते हैं तो उसी शरीर में उनके साथ उत्पन्न हुए मन्द योगवाले निगोद जीव भी उसी काल द्वारा इन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं, अन्यथा आहारग्रहण आदि का साधारणपना नहीं बन सकता। यदि दीर्घकाल के द्वारा पहले उत्पन्न हुए जीव चारों पर्याप्तियों को प्राप्त करते हैं तो उसी शरीर में पीछे से उत्पन्न हुए जीव उसी काल के द्वारा उन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[2]

शंका—शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति ये सबके साधारण हैं, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि गाथासूत्र में 'आहार' और 'आनापान' पद का ग्रहण देशामर्षक है, इसलिए उनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।[3]

साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि।
ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं ॥१२६॥[4]

—जिन अनन्तानन्त जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण होती है वे साधारणकायिक जीव हैं। एक समय में एक साथ उत्पन्न होने वाले अनन्तानन्त सब साधारण जीवों की आयु समान होती है, अर्थात् हीनाधिक नहीं होती।

एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ॥१२३॥[5]

—एक जीव का जो अनुग्रहण अर्थात् उपकार है वह बहुत साधारण जीवों का है और इसका भी है। तथा बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है वह मिलकर इस विवक्षित जीव का भी है।

---

१. धवल पु. १४ पृ. २२६। २. धवल पु. १४ पृ. २२७। ३. धवल पु. १४ पृ. २२८। ४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा। ५. धवल पु. १४ पृ. २२८।

एक निगोद जीव का अनुग्रहण अर्थात् पर्याप्तियों को उत्पन्न करने के लिए जो पुद्गल-परमाणुओं का ग्रहण है या निष्पन्न हुए शरीर के जो परमाणु पुद्गलों का ग्रहण है, वह उस शरीर में उस काल में रहनेवाले और नहीं रहने वाले बहुत साधारण जीवों के होता है। क्योंकि उस आहार से उत्पन्न हुई शक्ति वहाँ के सब जीवों में युगपत् उपलब्ध होती है। अथवा उन परमाणुओं से निष्पन्न हुए शरीर के अवयवों का फल सब जीवों में उपलब्ध होता है।

शङ्का—यदि एक जीव में योग से आये हुए परमाणु-पुद्गल उस शरीर में रहने वाले अन्य जीवों के ही होते हैं तो योगवाले उस जीव का वह अनुग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि उसका सम्बन्ध अन्य जीवों के साथ पाया जाता है।

समाधान—इस एक योगवाले जीव का भी वह अनुग्रहण होता है, क्योंकि उसका फल इस जीव में भी उपलब्ध होता है।[1]

शंका—एक जीव के द्वारा दिये गये पुद्गलों का फल अन्य जीव कैसे भोगते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक के द्वारा भी दिये गये धन-धान्यादिक को अविभक्त धनवाले भाई लड़की पिता पुत्र और नाती तक के जीव भोगते हुए देखे जाते हैं।

शङ्का—उसी शरीर में निवास करनेवाले जीवों के योग से आये हुए परमाणुपुद्गल एक विवक्षित जीव के होते हैं या नहीं होते ?

समाधान—बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है वह मिलकर एक का अर्थात् विवक्षित निगोद जीव का भी होता है, क्योंकि एक शरीर में निवास करने वाले अनन्त जीवों के योग से आये हुए परमाणु पुद्गल-कलाप से उत्पन्न हुई शक्ति इस जीव में पाई जाती है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो उन बहुत जीवों का वह अनुग्रहण अर्थात् उपकार नहीं होता है, क्योंकि उसका फल अन्यत्र ही एक जीव में उपलब्ध होता है ?

समाधान—'एक' शब्द अन्तर्गभित वीप्सारूप अर्थ को लिये हुए है, इसलिये यह फलित हुआ कि एक-एक जीव का भी वह अनुग्रहण है, क्योंकि उन पुद्गलों से अन्य जीवों में शक्ति के उत्पन्न होने के काल में ही अपने में भी उसकी उत्पत्ति होती है।[2]

समगं वक्कंताणं समगं तेसिं शरीरणिप्पत्ती।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो ॥१२४॥[3]

—एक शरीर में उत्पन्न होने वालों के उन के शरीर की निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उच्छ्वास-निःश्वास होता है।

एक शरीर में जो पहले उत्पन्न हुए अनन्त जीव हैं और जो बाद में उत्पन्न हुए अनन्त जीव हैं, वे सब एक साथ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं।

---

१. धवल पु. १४ पृ. २२८। २. धवल पु. १४ पृ. २२९। ३. धवल पु. १४ पृ. २२९।

शङ्का—भिन्न काल में उत्पन्न हुए जीवों का एकसाथपना कैसे बन सकता है ?[1]

समाधान—नहीं, क्योंकि एक शरीर के सम्बन्ध से उन जीवों के भी एकसाथपना होने में कोई विरोध नहीं आता।

शङ्का—एक शरीर में बाद में उत्पन्न हुए जीव हैं, ऐसी अवस्था में उनकी प्रथम समय में ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रथम समय में उत्पन्न हुए जीवों के अनुग्रहण का फल बाद में उत्पन्न हुए जीवों में भी उपलब्ध होता है, इसलिए एक शरीर में उत्पन्न होने वाले सब जीवों की प्रथम समय में ही उत्पत्ति इस न्याय के अनुसार बन जाती है।

इस प्रकार दोनों प्रकारों से एक साथ उत्पन्न हुए जीवों के उन के शरीर की निष्पत्ति **समगं** अर्थात् अक्रम से ही होती है तथा एक साथ अनुग्रहण होता है, क्योंकि उन का अनुग्रहण समान है। जिस कारण से सब जीवों के परमाणु पुद्गलों का ग्रहण समगं अर्थात् अक्रम से होता है, इसलिए आहार, शरीर, इन्द्रियों की निष्पत्ति और उच्छ्वास-निःश्वास की निष्पत्ति **समगं** अर्थात् अक्रम से होती है। अन्यथा अनुग्रह के साधारण होने में विरोध आता है। एक शरीर में उत्पन्न हुए अनन्त जीवों की चार पर्याप्तियाँ अपने-अपने स्थान में एक साथ समाप्त होती हैं, क्योंकि अनुग्रहण साधारण रूप है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[2]

जत्थेक्कुमरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
बक्कमइ जत्थ एक्को बक्कमणं तत्थणंताणं ।।१६३।।[3]

गाथार्थ—जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ अनन्त जीवों का मरण होता है और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है।।१६३।।

विशेषार्थ—जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ नियम से अनन्त निगोद जीवों का मरण होता है।

शङ्का—इस स्थल पर अवधारण कहाँ से होता है ?

समाधान—गाथासूत्र में आये हुए 'दु' शब्द का अवधारण रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध है।

संख्यात, असंख्यात या एक जीव नहीं मरते हैं, किन्तु निश्चय से एक शरीर में निगोदराशि के अनन्त जीव ही मरते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तथा जिस निगोद शरीर में एक जीव **बक्कमदि** अर्थात् उत्पन्न होता है उस शरीर में नियम से अनन्त निगोद जीवों की **'बक्कमणं'** अर्थात् उत्पत्ति होती है। एक, संख्यात और असंख्यात जीव एक निगोदशरीर में एक समय में नहीं उत्पन्न

---

१. धवल पु. १४ पृ २२६ २. धवल पु. १४ पृ. २३०। ३. धवल पु. १४ पृ. २३० पर यह मूलगाथा १२५ है किन्तु 'जत्थेक्कु' के स्थान पर 'जत्थेउ' तथा 'हवे' के स्थान पर 'भवे' है। धवल पु. १ पृ. २७०; प्रा. पं. सं. पृ. १७ गाथा ८३।

होते हैं, किन्तु अनन्त जीव ही उत्पन्न होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। वे एक बन्धनबद्ध होकर ही उत्पन्न होते हैं, अन्यथा प्रत्येक शरीरवर्गणा और बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणा के अनन्त प्राप्त होने का प्रसंग आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसी वे पाई नहीं जातीं।[1] कहा भी है—

बादरसुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण।
ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादीहि ॥१२६॥[2]

—बादरनिगोद जीव और सूक्ष्मनिगोद जीव ये परस्पर बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं। तथा वे अनन्त जीव हैं जो मूली, थूअर और आर्द्रक आदि के निमित्त से होते हैं।

एक शरीर में स्थित बादर निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य बादर निगोद जीवों के साथ तथा एक शरीर में स्थित सूक्ष्म निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य सूक्ष्म निगोद जीवों के साथ बद्ध अर्थात् समवेत होकर रहते हैं। वह समवाय देशसमवाय और सर्वसमवाय के भेद से दो प्रकार का है। वे देशसमवाय से बद्ध होकर नहीं रहते, किन्तु परस्पर सब अवयवों से स्पृष्ट होकर ही वे रहते हैं; अबद्ध और अस्पृष्ट होकर वे नहीं रहते।

शङ्का—इस प्रकार अवस्थित होकर कितने जीव रहते हैं?

समाधान—इस प्रकार अवस्थित होकर वे संख्यात या असंख्यात नहीं होते, किन्तु वे जीव अनन्त होते हैं।

शङ्का—वे किस कारण से होते हैं?

समाधान- मूली, थूअर और आर्द्रक आदि कारणों से होते हैं। यहाँ पर 'आदि' शब्द से वनस्पतियों के अन्य भेद भी ग्रहण करने चाहिए। इसके द्वारा बादर निगोद की योनि कही गई है, सूक्ष्म निगोद की नहीं, क्योंकि जल-थल और आकाश में सर्वत्र उनकी योनि देखी जाती है। तात्पर्य यह है कि मूली, थूअर और आर्द्रक आदि वनस्पतियों के शरीर बादर निगोद की योनि होते हैं।

इसलिए मूली, थूअर और आर्द्रक आदि तथा मनुष्य आदि के शरीरों में असंख्यात लोक-प्रमाण निगोदशरीर होते हैं। वहाँ एक-एक निगोदशरीर में अनन्तानन्त बादरनिगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव प्रथम समय में उत्पन्न होते हैं। वहीं पर द्वितीय समय में असंख्यात गुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल व्यतीत होने तक असंख्यात गुणे हीन श्रेणीरूप से निरन्तर जीव उत्पन्न होते हैं। पुनः एक, दो और तीन समय से लेकर उत्कृष्ट रूप से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल व्यतीत होने तक अन्तर देकर पुनः एक, दो और तीन समय से लेकर उत्कृष्ट रूप से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सान्तर-निरन्तर क्रम से तब तक जीव उत्पन्न होते हैं, जब तक उत्पत्ति सम्भव है। इस प्रकार इस क्रम से उत्पन्न हुए बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव एक शरीर में बद्धस्पृष्ट होकर रहते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

---

१. धवल पु. १४ पृ. २३१। २. धवल पु. १४ पृ. २३१।

जीवराशि आयरहित और व्यय सहित है; क्योंकि उसमें मोक्ष जाने वाले जीव उपलब्ध होते हैं। किन्तु संसारी जीवों का अभाव प्राप्त नहीं होता। इसकी सिद्धि के लिए आगे की गाथा कही जाती है—

स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि व निगोद शरीरों का स्वरूप व संख्या

खंधा असंखलोगा अंडर-आवास-पुलवि-देहा वि।
हेट्ठिल्लजोणिगाओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥१९४॥
जम्बूदीवं भरहो कोसल-सागेद-तग्घराइं वा।
खंधंडरआवासापुलविशरीराणि दिट्ठंता ॥१९५॥

गाथार्थ—जम्बूद्वीप, जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र, भरत क्षेत्र में कोशल देश, कोशल देश में साकेतनगरी और साकेतनगरी में घर होते हैं, उसी प्रकार स्कन्ध, स्कन्ध में अण्डर, अण्डर में आवास, आवास में पुलवि और पुलवि में निगोदशरीर होते हैं ॥१९५॥ स्कन्ध असंख्यात लोक-प्रमाण हैं। अण्डर, आवास, पुलवि और निगोदशरीर ये उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रम से स्थित हैं ॥१९४॥

विशेषार्थ—स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच हैं। उनमें से जो बादरनिगोद का आश्रयभूत है, बहुत वक्खारों से युक्त है तथा वलंजंत-वाणिय-कच्छउड समान है ऐसे मूली, थूअर और लता आदि संज्ञा को धारण करने वाला **स्कन्ध** कहलाता है। वे स्कन्ध असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, क्योंकि बादरनिगोद प्रतिष्ठित जीव असंख्यातलोक प्रमाण पाये जाते हैं। जो उन स्कन्धों के अवयव हैं और जो वलंजुअकच्छउड के पूर्वापर भाग के समान हैं, उन्हें **अण्डर** कहते हैं। जो अण्डर के भीतर स्थित हैं तथा कच्छउडअण्डर के भीतर स्थित वक्खार के समान हैं उन्हें **आवास** कहते हैं। एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर होते हैं। तथा एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास होते हैं। जो आवास के भीतर स्थित हैं और जो कच्छउड-अण्डर-वक्खार के भीतर स्थित पिशवियों के समान हैं, उन्हें **पुलवि** कहते हैं। एक-एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण (पुलवियाँ) होती हैं। तथा एक-एक आवास की पृथक्-पृथक् एक-एक पुलवि में असंख्यात लोकप्रमाण **निगोदशरीर** होते हैं, जो औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलों के उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउड अण्डर वक्खार पुलवि के भीतर स्थित द्रव्यों के समान पृथक्-पृथक् अनन्तानन्त निगोद जीवों से आपूर्ण होते हैं। अथवा जम्बूद्वीप, भरत, जनपद, ग्राम और पुर के समान स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और शरीर होते हैं।[1]

एक निगोदशरीर में द्रव्य की अपेक्षा जीवों का प्रमाण

एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९६॥[2]

---

१. धवल पु. १४ पृ. ८६। २. धवल पु. १४ पृ. २३४ मूल गा. १२८; धवल पु. १ पृ. २७० व ३९४, पु. ४ पृ. ४७८; प्रा.पं.सं. पृ. १७ गा. ८४; मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. १६३।

गाथार्थ—एक निगोदशरीर में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत काल के द्वारा सिद्ध हुए जीवों से भी अनन्तगुणे हैं ।।१९६।।

विशेषार्थ—संसारी जीवों की व्युच्छित्ति कभी नहीं होती । उसका एक हेतु इस गाथा में कहा गया है । एक निगोदशरीर में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा अनन्त जीव हैं ।

शंका—वे कितने हैं ?

समाधान—अतीत काल में जो सिद्ध हुए हैं, उनसे अनन्तगुणे एक निगोद शरीर में होते हैं ।[1]

शङ्का—वह कौनसी युक्ति है जिससे एक निगोद शरीर में अनन्त जीव उपलब्ध होते हैं ?

समाधान—सब जीव राशि का अनन्त होना यही युक्ति है ।

आयरहित जिन संख्याओं का व्यय होने पर सत्त्व का विच्छेद होता है वे संख्याएँ संख्यात और असंख्यात संज्ञावाली होती हैं । आय से रहित जिन संख्याओं का संख्यात और असंख्यात रूप से व्यय होने पर भी विच्छेद नहीं होता है, उनकी अनन्त संज्ञा है और सब जीवराशि अनन्त है, इसलिए वह विच्छेद को नहीं प्राप्त होती, अन्यथा उसके अनन्त होने में विरोध आता है ।

शङ्का—अर्धपुद्गलपरिवर्तन के साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल अनन्त होते हुए भी उसका विच्छेद होता है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्त संज्ञावाले केवलज्ञान का ही विषय होने से उसकी (उपचार से) अनन्तरूप से प्रसिद्धि है । मेय में मान की संज्ञा असिद्ध है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रस्थ से मापे गये यवों में प्रस्थ संज्ञा की उपलब्धि होती है ।

शंका—सब अतीत काल के द्वारा जो सिद्ध हुए हैं, उनसे एक निगोदशरीर के जीव अनन्तगुणे हैं, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—युक्ति से ही जाना जाता है । यथा-असंख्यातलोक प्रमाण निगोदशरीरों में यदि सब जीवराशि उपलब्ध होती है तो एक निगोद शरीर में कितने जीव प्राप्त होंगे । इस प्रकार फलराशि से गुणित इच्छाराशि में प्रमाणराशि का भाग देने पर एक निगोदशरीर में जीवों का प्रमाण सब जीवराशि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है । परन्तु सिद्ध जीव यदि अतीतकाल के प्रत्येक समय में यदि असंख्यात लोकप्रमाण सिद्ध होवें तो भी अतीत काल से असंख्यात गुणे ही होंगे । परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि सिद्ध जीव अतीत काल के असंख्यातवेंभाग प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं ।

शङ्का—सब जीवराशि अतीत काल से अनन्त गुणी है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—षोड़शपदिक अल्पबहुत्व से जाना जाता है ।[2]

शङ्का—षोड़शपदिक अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

---

१. धवल पु. १४ पृ. २३५ । २. धवल पु. १४ पृ. २३५-२३६ ।

समाधान—वर्तमानकाल सबसे स्तोक है। अभव्य जीवों का प्रमाण उससे अनन्तगुणा है। जघन्य युक्तानन्त यहाँ पर गुणाकाररूप से अभीष्ट है। अभव्य राशि से सिद्धकाल अनन्तगुणा है। छहमहीने के अष्टम भाग में एक मिला देने पर जो समयसंख्या प्राप्त हो उससे भक्त अतीतकाल का अनन्तवाँभाग यहाँ पर गुणाकार है। सिद्धकाल से सिद्ध संख्यातगुणे हैं। यहाँ पर दस प्रथक्त्व गुणाकार है। सिद्ध जीवों से असिद्ध काल असंख्यातगुणा है। यहाँ पर संख्यात आवलिकाएँ गुणाकार है। असिद्ध काल से अतीत काल विशेष अधिक है। सिद्धकाल का जितना प्रमाण है उतना विशेष अधिक है।[1] अतीत काल से भव्य मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं। भव्य मिथ्यादृष्टि का अनन्तवाँभाग गुणाकार है। भव्य मिथ्यादृष्टियों से भव्य जीव विशेष अधिक हैं। सासादन गुणस्थान से अयोगीकेवली गुणस्थान तक जीवों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं। भव्य जीवों से सामान्य मिथ्यादृष्टि विशेष अधिक हैं। अभव्य राशि में से सासादन आदि तेरह गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रमाण को कम कर देने पर जो राशि अवशिष्ट रहे, उतने विशेष अधिक हैं। सामान्य मिथ्यादृष्टियों से संसारी जीव विशेष अधिक हैं। सासादन आदि तेरह गुणस्थानवर्ती जीवों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं। संसारी जीवों से सम्पूर्ण जीव विशेष अधिक हैं। सिद्ध जीवों का जितना प्रमाण है उतने अधिक हैं। सम्पूर्ण जीवराशि से पुद्गल राशि अनन्तगुणी है। यहाँ पर सम्पूर्ण जीवराशि से अनन्तगुणा गुणाकार है।[2] पुद्गल से अनागत काल अनन्तगुणा है। यहाँ पर सर्व पुद्गल द्रव्य से अनन्तगुणा गुणाकार है।[3] अनागत काल से सम्पूर्ण काल विशेष अधिक है। वर्तमान और अतीत कालमात्र विशेष अधिक है। संपूर्ण काल से अलोकाकाश अनन्तगुणा है। सम्पूर्ण काल से अनन्तगुणा गुणाकार है।[4] अलोकाकाश से सम्पूर्ण आकाश विशेष अधिक है। लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण विशेष अधिक है। इस प्रकार इस अल्पबहुत्व से यह प्रतीत हो जाता है कि अतीतकाल से मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तगुणे हैं।[5] इसलिए सिद्ध हुआ कि सिद्धों से एक निगोदशरीर के जीव अनन्तगुणे हैं। अतएव सभी अतीतकाल के द्वारा एक निगोदशरीर के जीव भी सिद्ध नहीं होते हैं। उन निगोदों में जो जीव स्थित हैं वे दो प्रकार के हैं—चतुर्गति और नित्यनिगोद। जो देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुन: निगोद में प्रवेश करके रहते हैं वे चतुर्गति निगोद जीव हैं। अतीत काल में त्रसपने को प्राप्त हुए जीव यदि बहुत अधिक होते हैं तो अतीतकाल से असंख्यातगुणे ही होते हैं। अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा यदि प्रतर के असंख्यातवेंभाग प्रमाण जीव त्रसों में उत्पन्न होते हैं तो अतीतकाल में कितने प्राप्त होंगे? इस प्रकार फलराशि से गुणित इच्छाराशि में प्रमाणराशि का भाग देने पर अतीतकाल से असंख्यातगुणी त्रस राशि होती है। इससे जाना जाता है कि अतीतकाल में त्रस भाव को नहीं प्राप्त हुए जीवों का अस्तित्व है और जीवों के सिद्ध होने पर भी संसारी जीवों का विच्छेद नहीं होता।[6]

अतीतकाल में त्रस भाव को नहीं प्राप्त हुए जीवों का अर्थात् नित्यनिगोद जीवों का अस्तित्व है और संसारी जीवों का विच्छेद नहीं होता, यह एक गाथा द्वारा कहा जाता है—

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३०। २. सर्व जीवराशि का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सब पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है। धवल पु. १३ पृ. २६२-२६३। ३. सब पुद्गलद्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक मात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व काल प्राप्त होता है। धवल पु. १३ पृ. २६३। ४. सब कालों का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब आकाश श्रेणी प्राप्त होती है। ५. धवल पु. ३ पृ. ३०-३१। ६. धवल पु. १४ पृ. २३६।

नित्यनिगोद का लक्षण

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंक-सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ।।१९७।।[1]

गाथार्थ—जिन्होंने त्रस भाव को नहीं प्राप्त किया है, ऐसे अनन्तजीव हैं, क्योंकि वे भाव-कलंकप्रचुर हैं इसलिये निगोदवास को नहीं त्यागते ।।१९७।।

विशेषार्थ—जिन्होंने अतीतकाल में कदाचित् भी त्रस परिणाम नहीं प्राप्त किया है ऐसे अनन्तजीव नियम से है ।[2] अन्यथा संसार में भव्य जीवों का अभाव प्राप्त होता है। उनका अभाव है नहीं, क्योंकि उनका (भव्य जीवों का) अभाव होने पर अभव्य जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है। और वह भी है नहीं, क्योंकि उनका (भव्य और अभव्य जीवों का) अभाव होने पर संसारी जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है (क्योंकि संसारी जीव भव्य व अभव्य दो ही प्रकार के हैं) और संसारी जीवों का अभाव भी नहीं है क्योंकि संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों के भी अभाव का प्रसंग आता है।

शङ्का—संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों का अभाव कैसे सम्भव है ?

समाधान—संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी जीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा नहीं बन सकती ।[3]

इसलिए सिद्ध होता है कि अतीतकाल में त्रसभाव को नहीं प्राप्त हुए अनन्त जीव हैं। यहाँ पर उपर्युक्त गाथा इस प्रकार है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पायधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवइ एक्का ।।१८।।[4]

—सत्ता सब पदार्थों में स्थित है, विश्वस्वरूप है, अनन्तपर्यायवाली है, व्यय-उत्पाद और ध्रुवत्व से युक्त है, सप्रतिपक्ष है और एक है।

वे त्रसपरिणाम को क्यों नहीं प्राप्त हुए हैं? इसके समाधान में सूत्रगाथा के उत्तरार्ध में कहा है **'भावकलंकसुपउरा'** अर्थात् भावकलङ्क (संक्लेश); उसकी वहाँ अत्यन्त प्रचुरता है। एकेन्द्रिय जाति में उत्पत्ति का हेतु (भावकलंक) यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उसकी प्रचुरता होने से यहाँ के जीवों ने निगोदवास को नहीं त्यागा है अर्थात् नहीं छोड़ा है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[5] इस प्रकार नित्य निगोद जीवों का लक्षण भी कहा गया है।

---

१. धवल पु. १४ पृ. २३३ पर मूलगाथा १२७ है किन्तु 'सुपउरा' के स्थान पर 'अपउरा' है। मूलाचार पर्याप्त्य-धिकार गा. १६२ पृ. २८२; धवल पु. १ पृ. २७१, पु. ४ पृ. ४७७; प्रा.पं.सं. गा. ८५ पृ. १९। २. "जेहि अदीदकाले कदचि वि तस परिणामो ण पत्तो ते तारिसा अणंता जीवाणियमा अत्थि।" धवल पु. १४ पृ. २३३। ३. "सव्वस्स सप्पडिवक्खस्स उवलंभण्णहाणुववत्ती दो।" [धवल पु. १४ पृ. २३४]। ४. धवल पु. १४ पृ. २३४, पंचास्तिकाय गा. ८। ५. धवल पु. १४ पृ. २३३-२३४।

त्रस जीवों का स्वरूप

बिहि तिहि चदुहिं पंचहिं सहिया जे इंदिएहिं लोयह्मि ।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोबदेसेण ।।१९८।।[1]

गाथार्थ—लोक में जो दो इन्द्रियों से, तीन इन्द्रियों से, चार इन्द्रियों से और पाँच इन्द्रियों से सहित जीव हैं श्री वीर भगवान के उपदेश अनुसार उनको त्रसकाय जानना चाहिए ।।१९८।।[2]

विशेषार्थ—त्रस जीव स्पर्शन व रसना इन दो इन्द्रियों से सहित हैं, स्पर्शन रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों से सहित हैं अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों से सहित हैं तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों से सहित जीव हैं ।

इनमें से जो स्पर्शन व रसना इन दो इन्द्रियों से सहित हैं वे द्वीन्द्रिय जीव हैं, जैसे शंख, कौड़ी, सीप, जोंक व लट आदि । जो स्पर्शन, रसना व घ्राण इन तीन इन्द्रियों से सहित हैं वे त्रीन्द्रिय जीव हैं जैसे चींटी, बिच्छू, पटार, जूं व खटमल आदि । जो स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु इन चार इन्द्रियों सहित हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं जैसे मक्खी, पतंग, भौंरा, मधुमक्खी, मकड़ी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों से सहित हैं वे पंचेन्द्रिय जीव हैं जैसे पक्षी, हाथी, घोड़ा, सर्प, मनुष्य, देव, नारकी आदि । पंचेन्द्रिय जीवों का जन्म अनेक प्रकार का होता है । अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले जैसे पक्षी आदि । जरायुज जिनके ऊपर मांस आदि का जाल लिपटा रहता है ऐसे जेर सहित जन्म लेने वाले मनुष्य, गाय, भैंस आदि । जो पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भ में जरायु आदि आवरण से रहित होकर रहते हैं वे **पोतायिक** हैं । चमड़े के पात्र में रखे हुए घृत आदि में चमड़े के संयोग से उत्पन्न होने वाले **रसायिक** हैं । पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव **संस्वेदिम** कहे जाते हैं । सर्व ओर से पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर बनाने वाले **संमूर्च्छन** जन्मवाले हैं । पृथिवी, काठ, पत्थर आदि को भेदकर उत्पन्न होने वाले जीव **उद्भेदिम** है जैसे रत्न या पत्थर आदि को चीरने से निकलनेवाले मेंढक । देव और नारकियों के उपपादस्थानों में उत्पन्न होने वाले देव और नारकी जीव **उपपादिम** है ।[3]

जिनके जीवविपाकी त्रस नाम कर्म का उदय है वे त्रसजीव हैं ।

शङ्का—जो भयभीत होकर गति करें, वे त्रस हैं; ऐसा क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—यह व्युत्पत्त्यर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि गर्भस्थ, अण्डस्थ, मूर्च्छित, सुषुप्त आदि में बाह्य भय आदि के निमित्त मिलने पर भी हलन-चलन नहीं होता; अतः इनमें अत्रसत्व का प्रसंग आजाएगा ।[4] आगम में भी द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगकेवली जीवों को त्रस कहा गया है ।[5]

शङ्का—त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर ?

समाधान—त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते ।

---

१. धवल पु. १ पृ. २७४; प्रा.पं.सं. पृ. १८ गा. ८६ । २. "द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।।१४।।" [तत्त्वार्थ सूत्र अ. २] । ३. तत्त्वार्थवृत्ति २/१४ । ४. राजवार्तिक २/१२/१-२ । ५. "तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।।४४।।" धवल पु. १ पृ. २७५ ।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान- क्योंकि त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आगमप्रमाण नहीं पाया जाता।[1]

त्रस जीवों का क्षेत्र

उववादमारणंतिय परिणद तसमुज्झिऊण सेसतसा ।
तसणालिबाहिरह्मि य णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।१९९।।

गाथार्थ--उपपादगत और मारणान्तिक समुद्घातगत त्रसों के अतिरिक्त शेष त्रस जीव त्रस-नाली के बाहर नहीं पाये जाते, ऐसा जिनों के द्वारा कहा गया है ।।१९९।।

विशेषार्थ—उपपाद एक प्रकार का है और वह भी उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही होता है।[2] विवक्षितभव के प्रथम समय में जो पर्याय की प्राप्ति है वह उपपाद है।[3] प्राणत्याग मरण है, **'अंतः'** का अर्थ अवसान है। जिसका अवसान काल है वह **'मरणांतकाल'** है, अर्थात् वर्तमान भव की स्थिति का चरम अन्तर्मुहूर्त वह मरणान्तकाल है। मरणान्तकाल में होने वाले समुद्घात मारणांतिक समुद्घात हैं उत्तरभव की उत्पत्ति के स्थान तक जीवप्रदेश फैल जाते हैं यह मारणांतिक समुद्घात का लक्षण है।[4] अपने वर्तमानशरीर को नहीं छोड़कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रहगति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र तक जाकर शरीर से तिगुणे विस्तार से अथवा अन्य प्रकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने का नाम मारणान्तिक समुद्घात है। मारणान्तिक समुद्घात निश्चय से जहाँ आगे उत्पन्न होना है ऐसी दिशा के अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्घातों के इस प्रकार एक दिशा में गमन का नियम नहीं है, क्योंकि उनका दशों दिशाओं में भी गमन पाया जाता है। (परन्तु रा.वा. १/२०/१२ में लिखा है कि आहारक व मारणांतिक समुद्घात एक दिशा में होते हैं। शेष पाँच समुद्घात छहों दिशाओं में होते हैं।) मारणांतिक समुद्घात की लम्बाई उत्कृष्टतः अपने उत्पद्य-मान क्षेत्र के अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्घातों का यह नियम नहीं है।[5] 'च' शब्द से केवली समुद्घात को भी छोड़कर ऐसा ग्रहण करना चाहिए। उपपाद, मारणान्तिक समुद्घात और केवली समुद्घात इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना समुद्घात; कषाय समुद्घात, वैक्रियिक समुद्घात, तैजस्कशरीर-समुद्घात, आहारकशरीर समुद्घात इन सात अवस्थाओं को प्राप्त सर्व त्रस जीव त्रसनाली में ही पाये जाते हैं, त्रस नाली के बाह्य लोक में नहीं पाये जाते। एक राजू विष्कम्भ वाली और चौदह राजू लम्बी लोक के मध्य में स्थित त्रस नाली है। त्रस नाली की यह अन्वर्थ संज्ञा है[6] क्योंकि वह नाली के समान है। कहा भी है—

लोय बहुमज्झदेसे रुक्खे सारव्व रज्जुपदरजुदा ।
चोद्दसरज्जुत्तुंगा तसणाली होदि गुणणामा ।।१४३।।[7]

---

१. धवल पु. १ पृ. २७२। २. "उववादो एयविहो। सो वि उप्पण्णपढमसमए चेव होदि।" [धवल पु. ४ पृ. २९]। ३. "विवक्षितभवप्रथमसमयपर्यायप्राप्तिः उपपादः।" [श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका]। ४. "मरणं प्राणत्यागः ....जीवप्रदेशाग्रसर्पणलक्षणः।" [श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका पृ. ४४४]। ५. धवल पु. ४ पृ. २७। ६. श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। ७. त्रिलोकसार।

लोक के बहुमध्य प्रदेशों में त्रस नाली उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार वृक्ष के मध्य में सारभूत लकड़ी विद्यमान रहती है। यह त्रस नाली एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊँची है जिसका क्षेत्रफल (१×१×१४) १४ घनराजू है। लोक ३४३ घनराजू है। उसमें मात्र १४ घनराजू प्रमाण वाली त्रसनाली है, अर्थात् उस त्रसनाली में त्रसजीव पाये जाते हैं। शेष (३४३-१४) ३२९ घनराजू में मात्र स्थावर जीव ही प्राप्त होते हैं, त्रस नहीं। उपपादमारणान्तिक समुद्घात एवं केवली समुद्घात वाले त्रसजीवों के आत्मप्रदेशों का सत्त्व अवश्य ३२९ घनराजू में पाया जाता है।[1]

शङ्का—उपपाद के समय त्रस जीव त्रसनाली से बाहर किस प्रकार रहते हैं?

समाधान—कोई वायुकायिक त्रसनाली से बाहर वातवलय में स्थित है। उसने द्वीन्द्रिय आदि त्रस पर्याय की आयु का बन्ध किया। वायुकायिक जीव आयु के अन्तिम समय में मरण करके अगले समय में त्रस नामकर्म का उदय आ जाने से त्रस हो गया, किन्तु त्रसनाली तक आने में एक समय लगेगा। वही विग्रहगति का प्रथम समय है। इस प्रकार त्रसनाली से बाह्य एकेन्द्रिय पर्याय छोड़कर त्रस में उत्पन्न होने वाले के त्रस आयु के प्रथम समय की उपपाद अवस्था में त्रस जीव त्रसनाली से बाहर रहता है।

शङ्का—मारणान्तिक समुद्घात में त्रसजीव त्रसनाली के बाह्य भाग में क्यों जाता है?

समाधान—त्रसनाली में स्थित किसी त्रस जीव ने तनुवातवलय में उत्पन्न होने के लिए वायुस्थावर काय का बन्ध करके त्रस आयु के चरम अन्तर्मुहूर्त में आगामी भव के उत्पत्तिस्थान तनुवातवलय को स्पर्श करने के लिए मारणान्तिक समुद्घात किया। जिसके कारण उस त्रस जीव के आत्मप्रदेश त्रसनाली से तनुवातवलय तक फैल गये। इस प्रकार त्रसजीव के आत्म-प्रदेश त्रसनाली से बाहर स्थित हो जाते हैं।

शङ्का—केवली समुद्घात की किन अवस्थाओं में त्रसनाली से बाहर आत्मप्रदेश रहते हैं?

समाधान—कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण तथा संकुचित होते हुए पुनः प्रतर व कपाट अवस्थाओं के पाँच समयों में केवली भगवान के आत्मप्रदेश त्रसनाली से बाहर रहते हैं। केवलीसमुद्घात का स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है।[2]

वनस्पतियों की भाँति अन्य जीवों में भी प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित भेद

पुढवीआदिचउण्हं केवलिआहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥२००॥

गाथार्थ—पृथिवी आदि चार स्थावरकायिकों का शरीर, केवलियों का शरीर, आहारक शरीर, देव व नारकियों का शरीर अप्रतिष्ठित है, शेष जीवों के शरीर निगोद से प्रतिष्ठित होते हैं ॥२००॥

---

१. त्रिलोकसार पृ. १५४। २. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र कृत टीका पृ. ४४४।

जलकायिक जीव विशेष अधिक हैं, उनसे वायुकायिक जीव विशेष अधिक हैं। विशेष अधिक के लिए प्रतिभाग असंख्यात लोक है ।।२०४।।

विशेषार्थ—[1]सूत्र अविरुद्ध आचार्यपरम्परा से आये हुए उपदेश के अनुसार तेजस्कायिक जीव-राशि की संख्या उत्पन्न करने की विधि इस प्रकार है—एक घनलोक को शलाका रूप से स्थापित करके और दूसरे घनलोक को विरलित करके उस विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति घनलोक को देय रूप से देकर और परस्पर वर्गितसंवर्गित करके शलाकाराशि में से एक कम कर देना चाहिए। तब एक अन्योन्य गुणकार शलाका प्राप्त होती है। परस्पर वर्गित संवर्गित करने से उत्पन्न हुई उस राशि की वर्गशलाकाएँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र होती हैं। उस उत्पन्न राशि की अर्धच्छेद शलाकाएँ असंख्यात लोकप्रमाण होती हैं और वह उत्पन्न राशि भी असंख्यात लोकप्रमाण होती है। पुनः इस उत्पन्न हुई महाराशि को विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति उसी उत्पन्न हुई महाराशि को देय रूप से देकर परस्पर वर्गित संवर्गित करके शलाका राशि में से दूसरी बार एक कम करना चाहिए। तब अन्योन्य गुणकार शलाकाएँ दो होती हैं और वर्गशलाकाएँ, अर्धच्छेदशलाकाएँ तथा उत्पन्न राशि असंख्यात लोकप्रमाण होती है। इसी प्रकार लोकप्रमाण शलाकाराशि समाप्त होने तक इसी क्रम से ले जाना चाहिए। तब अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण लोक होगा और शेष तीन राशियाँ अर्थात् उस समय उत्पन्न हुई महाराशि और उसकी वर्गशलाकाएँ तथा अर्धच्छेदशलाकाएँ असंख्यात लोकप्रमाण होंगी। पुनः इस प्रकार उत्पन्न हुई महाराशि को विरलित करके और इसी राशि को शलाकारूप से स्थापित करके विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति उसी उत्पन्न हुई महाराशि के प्रमाण को देय रूप से देकर वर्गितसंवर्गित करके शलाका राशि में से एक कम कर देना चाहिए। तब अन्योन्य गुणकार शलाकाएँ एक अधिक लोक-प्रमाण होती हैं। शेष तीनों राशियाँ अर्थात् उत्पन्न हुई महाराशि, वर्गशलाकाएँ और अर्धच्छेदशलाकाएँ असंख्यात लोकप्रमाण होती हैं। पुनः उत्पन्न हुई महाराशि को विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति उसी उत्पन्न हुई महाराशि को देकर वर्गितसंवर्गित करके शलाकाराशि में से दूसरी बार एक घटा देना चाहिए। उस समय अन्योन्य गुणकार शलाकाएँ दो अधिक लोकप्रमाण होती हैं। शेष तीनों राशियाँ लोकप्रमाण होती हैं। इस प्रकार इसी क्रम से दो कम उत्कृष्ट संख्यातमात्र लोकप्रमाण अन्योन्य गुणकार शलाकाओं के दो अधिक लोकप्रमाण अन्योन्य गुणकार शलाकाओं में प्रविष्ट होने पर चारों राशियाँ भी असंख्यात लोकप्रमाण होती हैं। इसी प्रकार दूसरी बार स्थापित शलाकाराशि समाप्त होने तक इसी क्रम से ले जाना चाहिए। तब भी चारों राशियाँ असंख्यात लोकप्रमाण होती हैं। पुनः अन्त में उत्पन्न हुई महाराशि को शलाकारूप से स्थापित करके और दूसरी उसी उत्पन्न हुई महाराशि के प्रमाण को विरलित करके और उत्पन्न हुई उसी महाराशि के प्रमाण को विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति देय रूप से देकर परस्पर वर्गित संवर्गित करके शलाकाराशि में से एक कम कर देना चाहिए। तब भी चारों राशियाँ असंख्यात लोकप्रमाण होती हैं। इसी प्रकार तीसरी बार स्थापित शलाकाराशि समाप्त होने तक इसी क्रम से ले जाना चाहिए। तब भी चारों राशियाँ असंख्यात लोक प्रमाण हैं। पुनः अन्त में इस उत्पन्न हुई महाराशि को तीन प्रतिराशिरूप करके उनमें से एक राशि को शलाकारूप से स्थापित करके, दूसरी एक राशि को विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति एक राशि के

---

१. ध. पु. ३ पृ. ३३४-३३६ व त्रिलोकसार पृ. ७८।

प्रमाण को देय रूप से देकर परस्पर वर्गितसंवर्गित करके शलाकाराशि में से एक कम कर देना चाहिए। इस प्रकार पुनः पुनः करके तब तक ले जाना चाहिए जब तक कि अतिक्रान्त शलाकाओं से अर्थात् पहली दूसरी और तीसरी बार स्थापित अन्योन्य गुणकार शलाकाओं से न्यून चौथी बार स्थापित अन्योन्य गुणकार शलाकाराशि समाप्त होती है। तब तेजस्कायिक राशि उत्पन्न होती है। उस तेजस्कायिक राशि की अन्योन्य गुणकार शलाकाएँ चौथीबार स्थापित अन्योन्य गुणकार शलाका राशि प्रमाण हैं।

[1]तेजस्कायिक राशि को असंख्यात लोकों के प्रमाण से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी तेजस्कायिक राशि के प्रमाण में प्रक्षिप्त करने पर पृथिवीकायिक राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। इस पृथिवीकायिक राशि को असंख्यात लोकों के प्रमाण से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी पृथिवीकायिक राशि में मिला देने पर अप्कायिक राशि का प्रमाण होता है। इस अप्कायिक राशि को असंख्यात लोकों के प्रमाण से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी अप्कायिक राशि में मिला देने पर वायुकायिक राशि का प्रमाण होता है।

अपदिट्ठिदपत्तेया असंखलोगप्पमाणया होंति।
तत्तो पदिट्ठिदा पुण असंखलोगेण संगुणिदा ।।२०५।।

गाथार्थ---अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं और उनसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात लोकगुणे हैं ।।२०५।।

विशेषार्थ—एक सागरोपम में से एक पल्योपम को ग्रहण करके और उस पल्योपम को आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित करके वहाँ जो एक भाग लब्ध प्राप्त हो उसे पृथक् स्थापित करके शेष बहुभाग को पल्य कम सागर में मिला देने पर बादर तेजस्कायिक राशि की अर्धच्छेद शलाकाएँ होती हैं। जो एक भाग पृथक्-पृथक् स्थापित किया था, उसे फिर भी आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित करके वहाँ जो एक भाग लब्ध प्राप्त हुआ उसे घटाकर अवशेष बहुभाग को बादर तेजस्कायिक राशि के अर्धच्छेदों में मिला देने से बादर वनस्पति (अप्रतिष्ठित) प्रत्येक-शरीर जीवों को अर्धच्छेदशलाकाएँ होती हैं। इसी प्रकार बादरनिगोदप्रतिष्ठित की अर्धच्छेद-शलाकाएँ प्राप्त हो जाती हैं।[2] अर्थात् शेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित कर, लब्ध प्राप्त एक खंड को पृथक् स्थापित कर शेष बहुभाग को बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की अर्धच्छेदशलाकाओं में मिला देने पर निगोद-प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति की अर्धच्छेदशलाकाएँ होती हैं।

अपनी-अपनी अर्धच्छेद शलाकाओं को विरलन करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणित करने पर अपनी-अपनी राशि उत्पन्न होती है।[3] बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव राशि के अर्धच्छेद अल्प हैं, अतः यह राशि अल्प है। और निगोद प्रतिष्ठित राशि के अर्धच्छेद अधिक हैं अतः नगोद प्रतिष्ठित राशि अधिक है। अधिक अर्धच्छेदों को घनलोक के अर्धच्छेदों से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसको विरलित करके और उस

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३४१। २. धवल पु. ३ पृ. ३४४। ३. त्रिलोकसार गा. ७५।

विरलित राशि के प्रत्येक प्रति एक के प्रति घनलोक को देयरूप से देकर परस्पर गुणित (असंख्यात लोक प्रमाण) करने से जो राशि उत्पन्न हो उससे बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक की जीवराशि को गुणित करने पर बादरनिगोद प्रतिष्ठित जीवराशि का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।[1]

तसरासिपुढविआदी-चउक्कपत्तेयहीण-संसारी ।
साहारणजीवाणं परिमाणं होदि जिणदिट्ठं ॥२०६॥

गाथार्थ—त्रसराशि, पृथिवी आदि चार स्थावरकाय जीव और प्रत्येक वनस्पति इन सबको संसारी जीवराशि में से कम करने पर साधारण जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है, ऐसा जिनदेव ने कहा है ॥२०६॥

विशेषार्थ—प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग से भाजित जगत्प्रतर प्रमाण त्रसराशि (गा. २११), असंख्यात लोक प्रमाण पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय व प्रत्येक वनस्पति (गा. २०४-२०५) इन सब राशियों की संख्या को सर्व संसारी जीवराशि के प्रमाण में से घटाने पर जो शेष रहे वह साधारण वनस्पतिकायिक जीवों की अर्थात् निगोद जीवों की संख्या है। यह संख्या अनन्तानन्त है जो सिद्ध जीवों के प्रमाण से अनन्तगुणी है (गा. १९६)।

सगसग-असंखभागो बादरकायाण होदि परिमाणं ।
सेसा सुहुमपमाणं पडिभागो पुव्वणिद्दिट्ठो ॥२०७॥

गाथार्थ—अपनी-अपनी राशि का असंख्यातवाँ भाग बादरकाय जीवों का प्रमाण है और शेष बहुभाग प्रमाण सूक्ष्मकाय जीव हैं। प्रतिभाग का प्रमाण पूर्व (गा. २०४) में कहा जा चुका है ॥२०७॥

विशेषार्थ—गाथा २०४ में '**पडिभागोऽसंखलोगो**' इन शब्दों द्वारा प्रतिभाग का प्रमाण असंख्यातलोक कहा गया है। अपनी-अपनी राशि को असंख्यातलोक से विभाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने बादरकाय जीवों का प्रमाण है और शेष बहुभाग सूक्ष्मकाय जीवों का प्रमाण है जो बादर जीवों के प्रमाण से असंख्यातगुणा है। पृथिवीकाय जीवराशि में असंख्यात लोक का भाग देने पर जो एक भाग प्रमाण लब्ध प्राप्त हो उतने बादर पृथिवीकाय जीव हैं। पृथिवीकाय राशि में से बादर जीवों का प्रमाण घटा देने पर शेष बहुभाग सूक्ष्म पृथिवीकाय जीवों का प्रमाण है। इसी प्रकार जलकाय आदि राशियों में बादर व सूक्ष्म जीवों का प्रमाण प्राप्त कर लेना चाहिए। बादर पृथिवीकायिक जीव स्तोक हैं, उनसे असंख्यातगुणे सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव हैं। गुणाकार असंख्यातलोक है।[2]

सुहमेसु संखभागं संखा भागा अपुण्णगा इदरा ।
जस्सि अपुण्णद्धादो पुण्णद्धा संखगुणिदकमा ॥२०८॥

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३४६-३४७। २. धवल पु. ३ पृ. ३६६।

गाथार्थ—सूक्ष्मकाय जीवों के संख्यातवेंभाग अपर्याप्त जीव हैं और संख्यात बहुभाग प्रमाण पर्याप्त जीव हैं, क्योंकि सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त जीवों की आयु से सूक्ष्मपर्याप्त जीवों की आयु संख्यातगुणी है ।।२०८।।

विशेषार्थ—सूक्ष्म अपर्याप्त जीवों की संख्या से सूक्ष्म पर्याप्तजीवों की संख्या संख्यातगुणी है, क्योंकि अपनी राशि के संख्यातवें एकभाग प्रमाण अपर्याप्त जीव हैं और संख्यातवें बहुभाग प्रमाण पर्याप्त जीव हैं। एकभाग से बहुभाग संख्यात गुणा है। सूक्ष्म पृथिवीकायिक पर्याप्त जीव सूक्ष्मपृथिवीकायिक अपर्याप्तों से संख्यातगुणे हैं। संख्यात समय गुणाकार है।[1] इसी प्रकार अपकायिक, तेजकायिक और वायुकायिक जीवों के विषय में जानना चाहिए।[2]

सूक्ष्म पृथिवीकायिक सूक्ष्मजलकायिक, सूक्ष्मतेजकायिक, सूक्ष्मवायुकायिक, सूक्ष्मवनस्पतिकायिक, सूक्ष्म निगोद जीव और उनके ही पर्याप्त तथा अपर्याप्त जीवों का काल सूक्ष्म एकेन्द्रिय, सूक्ष्मएकेन्द्रिय पर्याप्त और सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के काल के समान है।[3] सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव कितने काल तक होता है? एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।[4] सूक्ष्मएकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव कितने काल तक होते हैं? एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण है।[5] पर्याप्तक जीवों की जघन्य आयु से लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जघन्य आयु संख्यातगुणी हीन होती है।[6] जघन्य काल में जघन्य जीवों का संचय और दीर्घकाल में अधिक जीवों का संचय होता है। जो अनुपात काल का है वही अनुपात संचित जीवों की संख्या का है। जैसे अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के काल से प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थान का काल दुगुणा है अतः अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या से प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या दुगुणी है[7]। सूक्ष्म अपर्याप्तकों की आयु से सूक्ष्म पर्याप्तकों की आयु संख्यातगुणी है। इसी अनुपात से सूक्ष्मअपर्याप्तजीवराशि से सूक्ष्मपर्याप्तजीवराशि संख्यातगुणी है। गुणाकार का प्रमाण संख्यात समय है।

पल्लासंखेज्जवहिदपदरंगुलभाजिदे जगप्पदरे।
जलभूणिपबादरया पुण्णा आवलिअसंखभजिदकमा ।।२०९।।

गाथार्थ—पल्य के असंख्यातवें भाग से विभक्त प्रतरांगुल, उससे भाजित जगत्प्रतर प्रमाण बादर जलकायिक जीव हैं। इसको आवली के असंख्यातवें भाग से विभक्त करने पर पृथिवीकायिक बादर पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। पुनः उसको आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर निगोद से प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है, पुनः उसको आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों का प्रमाण आता है ।।२०९।।

---

१. "सुहुमपुढविकाइयपज्जत्ता संखेज्जगुणा। को गुणगारो? संखेज्जसमया।" [धवल पु. ३ पृ. ३६७]।
२. "एवं चाउ-तेउ-वाउणं जाणिऊण वत्तव्वं।" [धवल पु. ३ पृ. ३६६]। ३. धवल पु. ४ पृ. ४०५ सूत्र १५१। ४. धवल पु. ४ पृ. ३६४-३६५ सूत्र १२२, १२३, १२४। ५. धवल पु. ४ पृ. ३६६ सूत्र १२५-१२६। ६. धवल पु. ४ पृ. ३६६ सूत्र १२६ की टीका। ७. धवल पु. ३ पृ. ९०।

विशेषार्थ—यहाँ 'अंगुल' शब्द कहा गया है, उससे प्रमाणांगुल का ग्रहण करना चाहिए।[1] उस प्रमाणांगुल के असंख्यातवें भाग का जो वर्ग अर्थात् प्रतरांगुल का असंख्यातवाँ भाग, जो पल्य के असंख्यातवें भाग से प्रतरांगुल को भाग देने से प्राप्त हुआ, तद्रूप प्रतिभाग अर्थात् भागाहार या अवहारकाल है। इस अवहारकाल से बादर जलकायिक पर्याप्त जीवों के द्वारा जगत्प्रतर अपहृत होता है।[2]

पल्योपम के असंख्यातवें भाग से सूच्यंगुल को भाजित करके जो लब्ध आवे उसको वर्गित करने पर प्रतरांगुल का असंख्यातवाँ भाग प्राप्त होता है। यह बादर अप्कायिक पर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इस बादर अप्कायिक पर्याप्तजीवों के अवहारकालको आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादरपृथिवीकायिक पर्याप्त जीवों का अवहार काल होता है। इस बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त जीवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भागसे गुणित करने पर बादर-निगोद-प्रतिष्ठित पर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इस बादर-निगोद-प्रतिष्ठित पर्याप्त जीवों के अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों का अवहार काल होता है। यहाँ अवहारकाल के उत्तरोत्तर अधिक होने का कारण यह है कि पूर्व-पूर्ववर्ती अपनी-अपनी राशि बहुत पाई जाती है। इन अवहार कालोंसे जगत्प्रतर को भाजित करने पर अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण प्राप्त होता है।[3]

जितना-जितना भागाहार (अवहार काल अर्थात् भाजक) बढ़ता जाता है, उतना-उतना ही लब्ध (भाज्यफल) हीन होता जाता है। इस करणसूत्र के अनुसार बादर जलकायपर्याप्तजीवों का अवहारकाल अल्प है, अतः बादर जलकाय पर्याप्त जीवों का प्रमाण अधिक है। बादर पृथिवीकाय पर्याप्त जीवों का अवहारकाल आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है अतः बादर पृथिवीकाय पर्याप्त राशि आवली के असंख्यातवेंभाग से भाजित बादर जलकाय पर्याप्त जीवराशि प्रमाण है; अर्थात् बादर जलकाय पर्याप्त जीवराशि को आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर जो प्रमाण प्राप्त हो, उतनी बादर-पृथिवीकाय-पर्याप्त जीवराशि है। बादर-पृथिवीकाय-पर्याप्त जीवों के अवहार काल से बादर-प्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों का अवहार काल आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणा है अतः बादर पृथिवीकाय पर्याप्त जीवराशि को आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित करने पर एक खंड प्रमाण बादर प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवराशि है। इसको भी पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से अपहृत करने पर बादर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है, क्योंकि इसका अवहार काल पूर्व अवहार काल से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणा है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व अवहारकाल से उत्तरोत्तर अवहार काल आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा होता जाता है। पूर्वपूर्व बादर-पर्याप्त जीवराशि की अपेक्षा उत्तरोत्तर बादर पर्याप्त आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यातगुणी हीन होती गई है।

बिदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं।
पज्जत्ताण पमाणं तेहिं विहीणा अपज्जत्ता ।।२१०।।

---

१. "एत्थ अंगुलमिदि उत्ते पमाणांगुलं घेतव्वं।" [धवल पु. ३ पृ. ३४६]। २. धवल पु. ३ पृ. ३४६।
३. धवल पु. ३ पृ. ३५०।

गाथार्थ—घनावली के असंख्यातवें भाग प्रमाण बादर अग्निकायिक पर्याप्त जीव हैं और लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव हैं। अपनी-अपनी संपूर्ण बादर पर्याप्त राशि में से बादर पर्याप्तों का प्रमाण घटाने पर बादर अपर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त होता है ।।२१०।।

विशेषार्थ—बादर तैजस्कायिक पर्याप्त जीव द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा असंख्यात हैं जो असंख्यात आवलियों के वर्गरूप हैं किन्तु आवली के घन के भीतर हैं अर्थात् घनावली से हीन है। आवली के असंख्यातवें भाग से प्रतरावली को भाजित करके जो लब्ध आवे, उससे प्रतरावली के उपरिम वर्ग को भाजित करने पर बादर तेजस्कायिक पर्याप्त राशि होती है। यह असंख्यात प्रतरावली प्रमाण है। इसका स्पष्टीकरण :—प्रतरावली का उसी के उपरिम वर्ग में भाग देने पर प्रतरावली का प्रमाण आता है। प्रतरावली के द्वितीय भाग का प्रतरावली के उपरिम वर्ग में भाग देने पर दो प्रतरावलियाँ लब्ध आती हैं। प्रतरावली के तृतीय भाग का प्रतरावली के उपरिम वर्ग में भाग देने पर तीन प्रतरावलियाँ लब्ध आती हैं। इसी प्रकार नीचे जाकर आवली के असंख्यातवें भाग से प्रतरावली को खण्डित करके जो लब्ध आवे (प्रतरावली का असंख्यातवाँ भाग) उसका प्रतरावली के उपरिम वर्ग में भाग देने पर असंख्यात प्रतरावलियाँ लब्ध आती हैं। इतना बादर तेजस्कायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण है।[1]

आवलियाए वग्गो आवलियासंखभागगुणिदो दु।
तह्मा घणस्स अंतो बादरपज्जत्ततेऊणं ।।७७।।[2]

—चूंकि आवली के असंख्यातवें भाग से आवली के वर्ग को गुणित कर देने पर बादर तेजस्कायिक पर्याप्त राशि का प्रमाण होता है, इसलिए वह प्रमाण घनावली के भीतर है।

बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण हैं जो लोक के संख्यातवें भाग है।[3] संख्यात से घनलोक को भाजित करने पर बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है।[4]

जगसेढीए वग्गो जगसेढीसंखभागगुणिदो दु।
तह्मा घणलोगंतो बादरपज्जत्तवाऊणं ।।७८।।[5]

—जगच्छ्रेणी के वर्ग को जगच्छ्रेणी के संख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादर वायुकायिक पर्याप्ति राशि आती है। इसलिए उक्त प्रमाण घनलोक के भीतर आता है।

साहारणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा।
पुण्णाणमपुण्णाणं परिमाणं होदि अणुकमसो ।।२११।।

गाथार्थ—साधारण बादर जीवों में असंख्यातवें भाग तो पर्याप्त जीव हैं और असंख्यात बहुभाग अपर्याप्त जीवों का प्रमाण है ।।२११।।

विशेषार्थ—बादरनिगोद पर्याप्त जीव सबसे स्तोक हैं। बादरनिगोद अपर्याप्त जीव असंख्यात

---

१. धवल पु. ३ पृ. २५० सूत्र ६१ व पृ. २५१। २. धवल पु. ३ पृ. ३५५। ३. धवल पु. ३ पृ. ३५५ सूत्र ६४। ४. धवल पु. ३ पृ. ३५६। ५. धवल पु. ३ पृ. ३५६।

गुणे हैं। असंख्यात लोक गुणाकार है।[1] जिन अनन्तानन्त जीवों का साधारण रूप से एक ही शरीर होता है, उन्हें निगोदजीव कहते हैं।[2] इस प्रकार साधारण और निगोद पर्यायवाची शब्द हैं। जितनी भी बादरनिगोदराशि है उसमें असंख्यात लोक का भाग देने पर एकभाग प्रमाण बादर निगोद पर्याप्त जीव हैं और शेष बहुभाग प्रमाण बादर निगोद अपर्याप्त जीव हैं। यह उपर्युक्त अल्प-बहुत्व से सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—बादरों में पर्याप्त जीवों के स्तोक होने का क्या कारण है?

समाधान—बादर पुण्य प्रकृति है और पर्याप्ति भी पुण्य प्रकृति है। उक्त **निगोदिया** जीवों में जिनके बादर और पर्याप्ति दोनों पुण्यप्रकृतियों का उदय हो, ऐसे जीव स्तोक होते हैं। यहाँ पर संचयकाल की विवक्षा नहीं है, किन्तु पुण्यप्रकृति की विवक्षा है।

आवलिअसंखसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं।
कमसो तसतप्पुण्णा पुण्णूणतसा अपुण्णा हु ॥२१२॥

गाथार्थ—आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने पर त्रस जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है और आवली के संख्यातवें भाग से भाजित प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने पर पर्याप्तित्रस जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। सामान्य त्रस राशि में से पर्याप्त त्रसों का प्रमाण घटा देने पर शेष अपर्याप्त त्रसों का प्रमाण है ॥२१२॥

विशेषार्थ—त्रसकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का प्रमाण पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों के प्रमाण के समान है।[3]

शङ्का—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों को एकत्र करने पर त्रसकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का प्रमाण होता है। तब फिर त्रसकायिक लब्ध्यपर्याप्तकों की प्ररूपणा पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों की प्ररूपणा के समान कैसे हो सकती है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उभयत्र अर्थात् पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक और त्रसकायिक लब्ध्यपर्याप्तक, इन दोनों का प्रमाण लाने के लिए प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग रूप भागाहार को देखकर इस प्रकार का उपदेश दिया है। अर्थ की अपेक्षा जो उन दोनों की प्ररूपणा में विशेष है, उसका गणधर भी निवारण नहीं कर सकते।[4] अतः पंचेन्द्रियों के आधार से त्रस जीवों के प्रमाण का कथन किया जाएगा, क्योंकि दोनों में भागहार की समानता पाई जाती है; जैसे—

क्षेत्र की अपेक्षा पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के द्वारा सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के वर्गरूप प्रतिभाग से और सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग के वर्गरूप प्रतिभाग से जगत्प्रतर अपहृत होता है।[5]

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३७२। २. "जेसिमणंताणंतजीवाणमेक्कं चेव सरीरं भवदि साधारणरूवेण ते णिगोदजीवा भणंति।" धवल पु. ३ पृ. ३५७। ३. धवल पु. ३ पृ. ३६२ सूत्र १०२। ४. धवल पु. ३ पृ. ३६३। ५. धवल पु. ३ पृ. ३१४ सूत्र ८२।

क्षेत्र की अपेक्षा त्रसकायिकों द्वारा सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग के वर्ग रूप प्रतिभाग से और त्रसकायिक पर्याप्तकों के द्वारा सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग के वर्गरूप प्रतिभाग से जगत्प्रतर अपहृत होता है।[1]

इस सूत्र द्वारा कथित अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विकलेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों का तथा उनके पर्याप्त व अपर्याप्त जीवों का प्रमाण लाने के लिए अवहार कालों का (भागाहारों का) कथन किया जाता है।

[2]आवली के असंख्यातवें भाग से सूच्यंगुल को भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसको वर्गित करने पर द्वीन्द्रिय जीवों का अवहार काल होता है। द्वीन्द्रियों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी द्वीन्द्रियों के अवहारकाल में मिला देने पर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इसी द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी द्वीन्द्रिय अपर्याप्त अवहारकाल में मिला देने पर त्रीन्द्रिय जीवों का अवहारकाल होता है। पुन: इस त्रीन्द्रिय जीवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध आवे, उसे उसी त्रीन्द्रिय जीवों के अवहारकाल में मिला देने पर त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकों का अवहारकाल होता है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के अवहारकाल को क्रम से आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित करके उत्तरोत्तर एक-एक भाग से अधिक करना चाहिए। अनन्तर पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इसे आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के अवहारकाल में मिला देने पर द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। इस द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी द्वीन्द्रिय पर्याप्त अवहारकाल में मिला देने पर पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का अवहार काल होता है। इस पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर देने पर जो लब्ध आवे उसे उसी पंचेन्द्रिय पर्याप्त अवहारकाल में मिला देने पर चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों का अवहारकाल होता है। यहाँ सर्वत्र राशि विशेष से राशि को अपवर्तित करके जो लब्ध आवे उसमें से एक कम करके भागहार रूप आवली का असंख्यातवें भाग उत्पन्न कर लेना चाहिए। इन अवहार कालों में से पृथक्-पृथक् जगत्प्रतर को भाजित करने पर अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण आता है।[3]

आवलिअसंखभागेणवहिद-पल्लूणसायरद्धछिदा ।
बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसायरं पुण्णं ।।२१३।।
तेवि विसेसेणहिया पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण ।
तम्हा ते रासीओ असंखलोगेण गुणिदकमा ।।२१४।।
दिण्णच्छेदेणवहिदइट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे ।
लद्धमिदइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयदधणं ।।२१५।।

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३६१ सूत्र १००। २. धवल पु. ३ पृ. ३१५-३१६। ३. धवल पु. ३, पृ. ३१५-१६।

गाथार्थ—आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित पल्य को सागर में से घटाने पर जो शेष रहे उतने बादरतेजस्काय जीव के अर्धच्छेद हैं। अप्रतिष्ठित प्रत्येक, प्रतिष्ठित प्रत्येक, बादर पृथिवीकायिक, बादरजलकायिक जीवों के अर्धच्छेदों का प्रमाण क्रम से आवली के असंख्यातवें भाग का दोबार, तीन बार, चार बार, पाँच बार, पल्य में भाग देकर सागर में घटाने से जो लब्ध शेष रहता है, उतना-उतना है। बादरवायुकायिक जीवों के अर्धच्छेदों का प्रमाण पूर्णसागर प्रमाण है ॥२१३॥ यह प्रत्येक अर्धच्छेद राशि अपनी पूर्व-पूर्व राशि से पल्य के असंख्यातवें भाग उत्तरोत्तर अधिक है। अतः उत्तरोत्तर जीवों का प्रमाण अपने से पूर्व जीवों के प्रमाण से असंख्यात लोकगुणा है ॥२१४॥ देय राशि के अर्धच्छेदों से भाजित इष्ट राशि के अर्धच्छेदों का प्रकृत विरलन राशि में भाग देने से जो लब्ध प्राप्त हो उतनी बार इष्ट राशि को रखकर परस्पर गुणा करने से प्रकृत धन प्राप्त होता है ॥२१५॥

विशेषार्थ—एक सागरोपम में से एक पल्य को ग्रहण करके और उस पल्य को आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित करके जो एकभाग लब्ध आवे उसको पृथक् स्थापित करके शेष बहुभाग को उसी राशि में अर्थात् पल्य कम सागर में मिला देने पर बादरतेजकायिक राशि की अर्धच्छेद-शलाकाएँ होती हैं। जो एकभाग पृथक् स्थापित किया था उसको फिर भी आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित करके, बहुभाग को बादरतेजकायिक के अर्धच्छेदों में मिलाने पर बादर अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति जीवों की अर्धच्छेद शलाकाएँ होती हैं। शेष एकभाग के पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित कर बहुभाग को ग्रहण कर बादर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के अर्धच्छेदों में मिलाने से बादरनिगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवराशि के अर्धच्छेदशलाकाएँ होती हैं। पुनः शेष एकभाग को आवली के असंख्यातवें भाग से खंडित कर बहुभाग को बादरनिगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवराशि के अर्धच्छेदों में मिलाने से बादर पृथिवीकायिक जीव-राशि की अर्धच्छेदशलाकाएँ होती हैं। शेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवेंभाग से खंडित करके बहुभाग को बादर पृथिवीकायिक जीवराशि के अर्धच्छेदों में मिलाने से बादर जलकायिक जीव राशि की अर्धच्छेदशलाकाएँ होती हैं। जो एकभाग शेष रहा था उसको बादर जलकायिक जीवराशि के अर्धच्छेदों में मिलाने से सम्पूर्ण एक सागर के अर्धच्छेद प्रमाण बादर वायुकायिक जीवराशि की अर्धच्छेद शलाकाएँ होती हैं।[1]

बादर तेजस्कायिक राशि की अर्धच्छेदशलाकाओं का विरलन करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणित करने पर बादर तेजस्कायिक जीवराशि उत्पन्न होती है। अथवा घनलोक के अर्धच्छेदों से बादर तेजस्कायिक राशि के अर्धच्छेदों के भाजित करने पर जो लब्ध आवे, उसे विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति घनलोक को देकर परस्पर गुणित करने पर बादर तेजस्कायिक राशि उत्पन्न होती है। अथवा बादर तेजस्कायिक राशि के अर्धच्छेदों को बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीवों के अर्धच्छेदों में से घटाकर जो राशि शेष रहे उसे विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणित करने से जो राशि उत्पन्न हो उससे बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीवों की राशि के भाजित करने पर बादर तेजस्कायिक राशि उत्पन्न होती है। अथवा, बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक राशि के जितने अधिक अर्धच्छेद हों उतनी बार बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३४४।

प्रत्येक शरीर राशि के अर्धच्छेद करने पर भी बादर तेजस्कायिक राशि उत्पन्न होती है। अथवा घनलोक के अर्धच्छेदों से अधिक अर्धच्छेदों के भाजित करने पर वहाँ जो लब्ध आवे उसे विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति घनलोक को देय रूप से देकर परस्पर गुणित करने पर जो राशि आवे उससे बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीवराशि के भाजित करने पर बादर तेजस्कायिक राशि आती है। इसी प्रकार बादर निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, बादर पृथिवीकायिक, बादर अप्कायिक और बादर वायुकायिक जीवों के अपने-अपने अर्धच्छेदों से बादर तेजस्कायिक राशि उत्पन्न कर लेनी चाहिए।

बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवराशि के अर्धच्छेदों को विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणित करने पर बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीव राशि उत्पन्न होती है। अथवा घनलोक के अर्धच्छेदों से बादर वनस्पतिकायिक अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर राशि के अर्धच्छेदों के भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसको विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक-एक के प्रति घनलोक को देय रूप से देकर परस्पर गुणित करने पर बादर वनस्पतिकायिक अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर राशि उत्पन्न होती है। बादर तेजस्कायिक राशि से बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर राशि के उत्पन्न करने पर अधिक अर्धच्छेद प्रमाण बादर तेजस्कायिक राशि के दुगुणित-दुगुणित करने पर बादर वनस्पति-कायिक अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीव राशि उत्पन्न होती है। अथवा-अधिक अर्धच्छेदों को विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो, उससे बादर तेजस्कायिक राशि को गुणित करने पर बादर वनस्पतिकायिक अप्रतिष्टित प्रत्येक शरीर जीवराशि होती है। अथवा अधिक अर्धच्छेदों को घनलोक के अर्धच्छेदों से भाजित करके जो लब्ध आवे उसे विरलित करके और उस विरलित राशि के प्रत्येक एक-एक के प्रति घनलोक को देयरूप से देकर परस्पर गुणित करने से जो राशि उत्पन्न हो उनसे बादर तेजस्कायिक जीवराशि को गुणित करने पर बादर वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर जीवराशि उत्पन्न होती है। बादर निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर वनस्पति, बादर पृथिवीकायिक, बादर अप्कायिक और बादर वायुकायिक जीवराशि के प्रमाण से बादर वनस्पतिकायिक, अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर राशि के उत्पन्न करने पर जिस प्रकार इन राशियों से तेजस्कायिक जीवराशि उत्पन्न की गई, उसी प्रकार उत्पन्न करनी चाहिए। बादर निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक, बादर पृथिवीकायिक, बादर अप्कायिक और बादर वायुकायिक की इसी प्रकार प्ररूपणा करनी चाहिए।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **कायमार्गणा** नामक आठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

९. योगमार्गणाधिकार

योग का सामान्य लक्षण

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥

गाथार्थ—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण में कारणभूत शक्ति है, वह योग है ।।२१६।।

विशेषार्थ—इस गाथा में योग का लक्षण कहा गया है। समस्त आत्म-प्रदेशों में कर्मों को ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग है। आत्मा में यह शक्ति स्वाभाविक नहीं है, किन्तु पुद्गल-विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त संसारी जीव में उत्पन्न होती है। जिनके पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म का उदय नहीं है, ऐसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिनदेव के योग का अभाव हो जाता है और वे अयोगकेवली हो जाते हैं।

जो संयोग को प्राप्त हो वह योग है।[१] संयोग को प्राप्त होने वाले वस्त्र आदि के साथ व्यभि-चार दोष नहीं आता, क्योंकि वे आत्मधर्म नहीं हैं। यद्यपि कषाय आत्मधर्म है तथापि उसके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता, क्योंकि कषाय कर्मों के ग्रहण करने में कारण नहीं पड़ती। वह तो स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध में कारण है।[२] अथवा प्रदेशपरिस्पन्द रूप आत्मा की प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य की उत्पत्ति योग है। अथवा आत्मप्रदेशों का संकोचविकोच योग है।[३]

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो।
जीवस्स प्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो ।।८८।।[४]

मन, वचन और काय के निमित्त से होने वाली क्रिया से युक्त आत्मा के जो वीर्यविशेष उत्पन्न होता है, वह योग है। अथवा जीव के प्रणियोग (परिस्पन्दरूप क्रिया) योग है। ऐसा जिन का उपदेश है। मन की उत्पत्ति के लिए जो परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है, वह मनोयोग है। वचन की उत्पत्ति के लिए जो परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है, वह वचनयोग है। काय की क्रिया के लिए जो परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है वह काययोग है।

शङ्का—प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है। ऐसी परिस्थिति में मनोयोग शेष योगों का अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जानी चाहिए? अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है?

समाधान—अनेक योग एक साथ नहीं हो सकते, क्योंकि कार्य और कारण इन दोनों की एक काल में उत्पत्ति नहीं हो सकती।[५]

मन, वचन और काय के अवलम्बन से जीवप्रदेशों में परिस्पन्द होना योग है।[६] जीवप्रदेशों का जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण होता है[७], वह योग कहलाता है।

---

१. "युज्यत इति योगः।" [धवल पु. १ पृ. १३९]। २. "ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।" [गो. क. गा. २५७]। ३. "अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो योगः। अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचयोगः।" [धवल पु. १ पृ. १४०] 'आत्मप्रवृत्तेस्संकोचविकोचो योग।" [धवल पु. ७ पृ. ६]। ४. धवल पु. १ पृ. १४०। ५. धवल पु. १ पृ. २७९। ६. "मनोवाक्कायावष्टंभबलेन जीवप्रदेशपरिस्पन्दो योग इति।" [धवल पु. ७ पृ ६]। ७. धवल पु. १० पृ. ४३७।

शङ्का—जीव की गमनरूप क्रिया भी तो योग है।

समाधान—जीव के गमन को योग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अघातिया कर्मों के क्षय से ऊर्ध्वगमन करने वाले अयोगकेवली के सयोगत्व का प्रसंग आ जायेगा।[1]

मन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द-लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह **मनोयोग** है। वचन से उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह **वचनयोग** है। काय से उत्पन्न हुए आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है, वह **काययोग** है।[2] मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलम्बन से जो जीव का संकोच-विकोच होता है, वह मनोयोग है, भाषावर्गणा सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों के अवलम्बन से जो जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच होता है, वह वचनयोग है। जो चतुर्विध शरीरों के अवलम्ब से जीव-प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है, वह काययोग है।[3]

शङ्का—जो जीवप्रदेश अस्थित हैं, उनके कर्मबन्ध भले ही हो, क्योंकि अस्थित (परिस्पन्द, चल) रूप आत्मप्रदेश योगसहित हैं। किन्तु जो जीवप्रदेश स्थित (अचल, परिस्पन्द रहित) हैं, उनके कर्मबन्ध का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे योग से रहित हैं।

प्रतिशङ्का—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

प्रतिशङ्का का उत्तर—जीवप्रदेशों का परिस्पन्द न होने से ही जाना जाता है कि वे योग से रहित हैं। परिस्पन्द रहित जीवप्रदेशों में योग की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर सिद्ध जीवों के भी सयोग होने की आपत्ति आती है।[4]

शङ्का का समाधान—मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग (प्रयोग) होता है, वह योग है और कर्मबन्ध का कारण है। परन्तु वह प्रयत्न थोड़े से जीव-प्रदेशों में नहीं हो सकता, क्योंकि एक जीव में प्रवृत्त हुए उक्त योग की थोड़े से अवयवों में प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है, अथवा एक जीव में उसके खण्ड-खण्ड रूप से प्रवृत्ति होने में विरोध आता है। इसलिए स्थित (अचल, अपरिस्पन्दात्मक) जीवप्रदेशों में कर्मबन्ध होता है। दूसरे योग से सम्पूर्ण जीवप्रदेशों में नियम से परिस्पन्द होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि योग से अनियम से उसकी उत्पत्ति होती है। तथा एकान्ततः नियम नहीं है, ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि जीवप्रदेशों में जो परिस्पन्द उत्पन्न होता है, वह योग से ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है। इस कारण स्थित (अचल) जीवप्रदेशों में भी योग के होने से कर्मबन्ध को स्वीकार करना चाहिए।[5]

शङ्का—योग कौनसा भाव है?

समाधान—'योग' यह अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है कि योग न तो औपशमिक भाव है, क्योंकि मोहनीय कर्म का उपशम नहीं होने पर भी योग पाया जाता है। न वह

---

१. "न जीवगमणं जोगो, अजोगिस्स अघादिकम्मक्खएण वुड्ढं गच्छंतस्स ति सजोगत्तप्पसंगादो।" [धवल. पु. १० पृ. ४३७]। २. धवल पु. १ पृ. ३०८। ३. धवल पु. ७ पृ. ७६ ४. धवल पु. १२ पृ. ३६६। ५. धवल . १२ पृ. ३६७।

क्षायिक भाव है, क्योंकि आत्मस्वरूप से रहित योग की कर्मों के क्षय से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। योग घातिकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि घातिकर्मोदय के नष्ट होने पर भी सयोग-केवली में योग का सद्भाव पाया जाता है। योग अघातिकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि अघातिकर्मोदय के रहने पर भी अयोगकेवली में योग नहीं पाया जाता। योग शरीर नामकर्मोदय-जनित भी नहीं है, क्योंकि पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के जीव-परिस्पन्दन का कारण होने में विरोध है।

शङ्का—कार्मणशरीर पुद्गलविपाकी नहीं है, क्योंकि उससे पुद्गलों के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान आदि का आगमन आदि नहीं पाया जाता है। इसलिए योग को कार्मण शरीर से उत्पन्न होने वाला मान लेना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सर्वकर्मों का आश्रय होने से कार्मणशरीर भी पुद्गलविपाकी ही है। इसका कारण यह है कि यह सर्व कर्मों का आश्रय या आधार है।

शङ्का—कार्मणशरीर के उदय विनष्ट होने के समय में ही योग का विनाश देखा जाता है। इसलिए योग कार्मणशरीरजनित है, ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो अघातिकर्मोदय के विनाश होने के अनन्तर ही विनष्ट होनेवाले पारिणामिक भव्यत्व भाव के भी औदयिकपने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से योग के पारिणामिकपना सिद्ध हुआ। अथवा 'योग' यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नामकर्म के उदय का विनाश होने के पश्चात् ही योग का विनाश पाया जाता है। ऐसा मानने पर भव्यत्वभाव के साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि सम्बन्ध के विरोधी भव्यत्व भाव की कर्म से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है[१] ?

योग कौनसा भाव है, षट्खण्डागम में एक अन्य विकल्प का कथन निम्न प्रकार है—

"क्षायोपशमिक लब्धि से जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होता है।[२]

शङ्का—जीवप्रदेशों के संकोच और विकोच अर्थात् विस्तार रूप परिस्पन्द 'योग' है। यह परिस्पन्द कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्मोदय से रहित सिद्धों के वह नहीं पाया जाता। अयोगकेवली में योग के अभाव से यह कहना उचित नहीं है कि योग औदयिक नहीं होता, क्योंकि अयोगकेवली के यदि योग नहीं होता तो शरीर नामकर्म का उदय भी तो नहीं होता। शरीर नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला योग उस कर्मोदय के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा मानने से अतिप्रसंग दोष उत्पन्न होगा। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है तो योग को क्षायोपशमिक क्यों कहा जाता है ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि जब शरीर नामकर्म के उदय से शरीर बनने के योग्य बहुत से पुद्गलों का संचय होता है और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाव से व उन्हीं स्पर्धकों के सत्वोपशम से तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक

---

१. ध. पु. ५ पृ. २२५-२२६। २. ध. पु. ७ पृ. ७५।

वीर्य बढ़ता है तब उस वीर्य को पाकर चूंकि जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच बढ़ता है, इसलिए योग क्षायोपशमिक है।[1]

शङ्का—यदि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से जीव-प्रदेशों के परिस्पन्द की वृद्धि और हानि होती है, तो जिसके अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग आता है?

समाधान—नहीं आता, क्योंकि क्षायोपशमिक बल से क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षायोपशमिक बल की वृद्धिहानि से वृद्धि-हानि को प्राप्त होने वाला जीवप्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिक बल से वृद्धि-हानि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आजायेगा।

शङ्का—यदि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, तो सयोगकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है?

समाधान—नहीं आता, क्योंकि योग में क्षायोपशमिक भाव तो उपचार से माना गया है। असल में योग औदयिक भाव ही है। औदयिक योग का सयोगकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है।[2]

योग मार्गणा औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्म की उदीरणा व उदय से उत्पन्न होती है।[3]

योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघातिया कर्म के उदय से होती है, अतः योग औदयिक भाव है।

शङ्का—योग को क्षायोपशमिक भी तो कहा गया है?

समाधान—वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से योग की वृद्धि देखकर क्षायोपशमिक कहा गया है। वह भी घटित हो जाता है।[4]

योगविशेष का लक्षण

मणवयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु।
तण्णामं होदि तदा तेहिं दु जोगा हु तज्जोगा ॥२१७॥
सब्भावो सच्चमणो[5] जो जोगो तेण सच्चमणजोगो।
तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति ॥२१८॥
ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥२१९॥[6]

---

१. ध. पु. ७ पृ. ७५। २. धवल पु. ७ पृ. ७६। ३. धवल पु. ९ पृ. ३१६। ४. धवल पु. १० पृ. ४३६। ५. मुद्रित पुस्तक में 'सब्भावमणे सच्चो' यह पाठ है जो अशुद्ध प्रतीत होता है किन्तु धवल पु. १ पृ. २८१ पर 'सब्भावसच्चमणो' यह पाठ है, इसको ही यहाँ पर ग्रहण किया गया है। ६. धवल पु १ पृ. २८२। प्रा.पं.सं गाथा ९० पृ. १८।

गाथार्थ—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय पदार्थों में जो मन वचन की प्रवृत्ति होती है उस समय में मन और वचन का वही नाम होता है और उसके सम्बन्ध से उस प्रवृत्ति (योग) का भी वही नाम होता है ।।२१७।। सद्भाव सो सत्य है उस सम्बन्धी मन सत्यमन है । उस सत्यमन से होनेवाला योग सत्य मनोयोग है, इससे विपरीतयोग मृषामनोयोग है, उभय रूपयोग सत्यमृषामनोयोग है ।।२१८।। जो मन, सत्य और मृषा से युक्त नहीं होता वह असत्यमृषामन है, उससे होने वाला योग असत्यमृषा-मनोयोग है ।।२१६।।

विशेषार्थ—मनोयोग चार प्रकार का कहा गया है । इस सम्बन्ध में निम्न सूत्र है—

—**"मणजोगो चउव्विहो, सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो असच्चमोस-मणजोगो चेदि ।।४६।।"** [षट् खण्डागम संत-परूवणा धवल पु. १ पृ. २८०] मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग, सत्यमृषामनोयोग, असत्यमृषामनोयोग ।।४६।।

सत्य, अवितथ और अमोघ, ये एकार्थवाची शब्द हैं। सत्य सम्बन्धित मन सत्यमन है और उसके द्वारा जो योग होता है वह सत्यमनोयोग है । इससे विपरीतयोग मृषामनोयोग है । जो योग सत्य और मृषा इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है वह सत्यमृषा मनोयोग है । सत्यमनोयोग और मृषा मनोयोग से व्यतिरिक्त योग असत्यमृषामनोयोग है ।

शङ्का—असत्यमृषामनोयोग अर्थात् अनुभयमनोयोग कौनसा है ?

समाधान—समनस्क जीवों में वचनप्रवृत्ति मानसज्ञानपूर्वक होती है, क्योंकि मानसज्ञान के बिना उनमें वचन-प्रवृत्ति नहीं पाई जाती । इसलिए उन चारों में से सत्यवचननिमित्तक मन के निमित्तसे होने वाले योग को सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन-निमित्तक मन से होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनों रूप वचननिमित्तक मनसे होने वाला योग उभय मनोयोग है । इन तीनों प्रकार के वचनों से भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभय वचन निमित्तक मन से होने वाला योग अनुभय मनोयोग है । तथापि यह कथन मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि इसकी सम्पूर्ण मन के साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती है । अर्थात् उक्त कथन उपचरित है क्योंकि वचन की सत्या-दिकता से मन में सत्य आदि का उपचार किया गया है ।

शङ्का—यहाँ पर निर्दोष अर्थ कौनसा लेना चाहिए ।[1]

समाधान—मन की यथार्थ प्रवृत्ति सत्यमन है ।[2] जैसी वस्तु है वैसी प्रवृत्ति करने वाला सत्य मन है । इससे विपरीत मन असत्यमन है । सत्य और असत्य इन दोनों रूप मन उभय मन है । तथा जो संशय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान का कारण है वह अनुभय मन है । अथवा मन में सत्य, असत्य आदि वचनों को उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षा से सत्यवचनादि के निमित्त से होने के कारण जिसे पूर्व में उपचार कहा गया है, वह कथन मुख्य भी है ।

सामान्य मनोयोग, सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-

---

१. धवल पु. १ पृ. २८१ । २. यथावस्तुप्रवृत्तं मनः सत्यमनः । [धवल पु. १ पृ. २८१] ।

केवली पर्यन्त होते हैं।[1]

शङ्का—चार मनोयोगों के अतिरिक्त (सामान्य) मनोयोग इस नाम का पाँचवाँ मनोयोग कहाँ से आया?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भेदरूप चार प्रकार के मनोयोगों में रहने वाले सामान्य योग के पाँचवीं संख्या बन जाती है।

शङ्का—वह सामान्य क्या है, जो चार प्रकार के मनोयोग में पाया जाता है।

समाधान—यहाँ पर सामान्य से मन की सदृशता का ग्रहण करना चाहिए। मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह मनोयोग है।

शङ्का—पूर्वप्रयोग से प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति देखी जाती है?

समाधान—यदि प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति होती है तो होने दो, क्योंकि ऐसे मन से होने वाला योग मनोयोग है, यह अर्थ यहाँ पर विवक्षित नहीं है। किन्तु मन के निमित्त से जो परिस्पन्दरूप प्रयत्नविशेष होता है, वह यहाँ पर योगरूप से विवक्षित है।

शङ्का—केवलीजिन के सत्यमनोयोग का सद्भाव रहा आवे, क्योंकि वहाँ पर वस्तु के यथार्थ ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उनके असत्यमृषामनोयोग का सद्भाव सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञान का अभाव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि संशय और अनध्यवसाय के कारण रूप वचन का कारण मन होने से उस में भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है। अतः सयोगी जिन में अनुभय मनोयोग का सद्भाव स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय को पैदा करते हैं, इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—केवली के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनन्त होने से और श्रोता का क्षयोपशम अतिशय रहित होने से केवली के वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है।

शङ्का—तीर्थङ्करों के वचन अनक्षर रूप होने के कारण ध्वनिरूप हैं, इसलिए वे एकरूप हैं, और एकरूप होने के कारण वे सत्य और अनुभय रूप दो प्रकार के नहीं हो सकते।

समाधान—नहीं, क्योंकि केवली के वचनों में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभयवचन का सद्भाव पाया जाता है। इसलिए केवली की ध्वनि अनक्षरात्मक ही है, यह बात असिद्ध है।[2]

शङ्का—केवली के द्रव्यमन का सद्भाव रहा आवे परन्तु वहाँ पर उसका कार्य नहीं पाया जाता।

---

१. "मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णि मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥५०॥" [धवल पु. १ पृ. २८२]। २. धवल. पु. १ पृ. २८३।

समाधान—द्रव्यमन के कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्यमन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि द्रव्यमन की वर्गणाओं को लाने के लिए होने वाले प्रयत्न में कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मन के निमित्त से जो आत्मा का परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है, वह मनोयोग है।[1]

शङ्का—जब केवली के (भाव) मन नहीं है, तो उससे सत्य और अनुभय इन दो प्रकार के वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपचार से मन के द्वारा उन दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है।[2]

सत्य मनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं।[3]

शङ्का—क्षपक और उपशमक जीवों के सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोग का सद्भाव रहा आवे, परन्तु शेष दो अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग का सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि इन दोनों में रहने वाला अप्रमाद वह असत्य और उभयमन के कारणभूत प्रमाद का विरोधी है। अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होते हैं, इसलिए उनके असत्य मनोयोग और उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि आवरणकर्म से युक्त जीवों के विपर्यय और अनध्यवसाय के कारणभूत मन का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके सम्बन्ध से क्षपक या उपशमक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि प्रमाद मोह की पर्याय है।

दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ॥२२०॥[4]
जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥२२१॥[5]

गाथार्थ—दस प्रकार के सत्यवचन में जो योग होता है, वह सत्य वचन योग है। इससे विपरीत योग मृषा वचनयोग है। सत्य-मृषा वचनयोग उभय वचनयोग है। जो वचन न तो सत्यरूप हो और न मृषा ही हो वह असत्यमृषा वचनयोग है। असंज्ञी जीवों की भाषा और संज्ञी जीवों में जो अमंत्रणी आदि भाषा है वह अनुभय भाषा है ॥२२०-२२१॥

---

१. धवल पु. १ पृ. २८४। २. धवल पु. १ पृ. २८५। ३. "मोसमणजोगोसच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥५१॥" [ध. पु.१ पृ.२८५] ४. धवल पु १ पृ. २८६; प्रा पं. सं. पृ. १६ गा. ६१ व पृ. ५७८ गा. ८५। ५. धवल पु. १ पृ.२८६; प्रा. पं. सं. पृ. १६ गा. ६२ व पृ. ५७८ गा. ८६।

विशेषार्थ—"वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि"[धवल पु. १ पृ. २८६]।

वचनयोग चार प्रकार का है:—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभय वचनयोग। सामान्य वचनयोग और अनुभय वचनयोग द्वीन्द्रिय जीव से लेकर सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान तक होता है।[1]

शङ्का—अनुभय मन के निमित्त से जो वचन उत्पन्न होता है वह अनुभय वचन है, यह पूर्व में कथन किया गया है। ऐसी अवस्था में द्वीन्द्रियादि असंज्ञीजीवों के अनुभय वचनयोग कैसे हो सकता है?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि सम्पूर्ण वचन मन से ही उत्पन्न होते हैं। यदि सम्पूर्ण वचनों की उत्पत्ति मन से ही मान ली जावे तो मन रहित केवलियों के वचनों का अभाव प्राप्त होगा।

शङ्का—विकलेन्द्रिय जीवों के मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती और ज्ञान के बिना वचनों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती?[2]

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति है, यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो शेष इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान की उत्पत्ति मन से मानते हो। अथवा मन से समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियों में रह भी तो नहीं सकता, क्योंकि दृष्ट, श्रुत और अनुभूत को विषय करनेवाले मानस ज्ञान का दूसरी जगह मानने में विरोध आता है। यदि मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहकारी कारण माना जाय, तो भी नहीं बनता, क्योंकि प्रयत्न सहित आत्मा के सहकार की अपेक्षा रखने वाली इन्द्रियों से इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति पाई जाती है।

शङ्का—समनस्क जीवों में तो ज्ञान की उत्पत्ति मनोयोग से ही होती है।

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर केवलज्ञान से व्यभिचार आता है।

शंका—तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवों के जो क्षायोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोग से होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं, यह तो इष्ट ही है।

शंका—मनोयोग से वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा गया था, वह कैसे घटित होगा?

समाधान—यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि 'मनोयोग से वचन उत्पन्न होता है' यहाँ पर मानस ज्ञान की 'मन' यह संज्ञा उपचार से रखकर कथन किया है।

---

१. "वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जावसजोगिकेवलि त्ति ॥५३॥" [धवल पु. १ पृ. २८७]।
२. धवल पु. १ पृ. २८७।

शङ्का—विकलेन्द्रियों के वचनों में अनुभयपना कैसे आसकता है ?

समाधान—विकलेन्द्रियों के वचन अनध्यवसायरूप ज्ञान के कारण हैं, इसलिए उन्हें अनुभय-रूप कहा है।[1]

शङ्का—विकलेन्द्रियों के वचनों में ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसाय का कारण क्यों कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ पर अनध्यवसाय से वक्ता के अभिप्राय विषयक अध्यवसाय का अभाव विवक्षित है।

सत्य वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक होता है।[2] दसों ही प्रकार के सत्यवचनों के उपर्युक्त तेरह गुणस्थानों में पाये जाने में कोई विरोध नहीं आता है, इसलिए उनमें दसों प्रकार के सत्यवचन होते हैं।

मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं।[3]

शङ्का—जिसकी कषायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीव के वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि असत्य वचन का कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है, इस अपेक्षा से वहाँ पर असत्य वचन के सद्भाव का प्रतिपादन किया है और इसीलिए उभय संयोगज सत्यमृषा वचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता।

शङ्का—वचनगुप्ति का पूरी तरह से पालन करने वाले कषायरहित जीवों के वचनयोग कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कषायरहित जीवों में अन्तर्जल्प के पाये जाने में विरोध नहीं आता।[4]

दृष्टान्तपूर्वक दस प्रकार के सत्य वचन

जणवदसम्मदिठवणाणामे रूवे पडुच्चववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ॥२२२॥

भत्तं देवी चंदप्पहपडिमा तह य होदि जिणदत्तो।
सेदो दिग्घो रज्झदि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥२२३॥

सक्को जंबूदीवं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च।
पल्लोवमं च कमसो जणपदसच्चादि दिट्ठंता ॥२२४॥

---

१. धवल पु. १ पृ. २८७। २. "सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥५४॥" [धवल पु. १ पृ. २८८]। ३. "मोसवचिजोगो सच्चमोस वचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥५५॥" [धवल पु. १ पृ. २८९]। ४. धवल पु. १ पृ. २८९।

गाथार्थ—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहार सत्य, सम्भावना सत्य, भाव सत्य, उपमा सत्य। यह दस प्रकार का सत्य है। जैसे (१) भक्त, (२) देवी, (३) श्री चन्द्रप्रभु प्रतिमा, (४) जिनदत्त, (५) श्वेत, (६) लम्बा, बडा, (७) भात पकता है, (८) इन्द्र जम्बूद्वीप को उलटा कर सकता है, (९) पापवर्ज्य वचन, (१०) पल्योपम; ये क्रमसे जनपद सत्य आदि के दृष्टान्त हैं ।।२२२-२२४।।

विशेषार्थ—(१) जिस देशमें जो शब्द रूढ़ हो रहा है या प्रवृत्ति में आरहा है वह **जनपदसत्य** है, जैसे ओदन को महाराष्ट्र में भातु कहते हैं, आंध्रप्रदेश में वंटक या मुकूडु कहते हैं। कर्णाट देशमें 'कूलु' कहते हैं। द्रविड़ देश में 'चोरु' कहते हैं। इस प्रकार ओदन भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है। जिस देश में 'ओदन' जिस नाम से कहा जाता है उस देश में वह शब्द जनपद सत्य है। (२) संवृति अर्थात् कल्पना और सम्मति अर्थात् बहुत मनुष्य उसी प्रकार मानते हैं अथवा सर्वदेश में समान रूप से रूढ़ नाम संवृति सत्य है, इसी को **सम्मति सत्य** भी कहते हैं जैसे पटरानी के अतिरिक्त अन्य महिलाओं को देवी कहना। (३) एक वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना करके उसे मुख्य वस्तु के नाम से कहना **स्थापना सत्य** है जैसे श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा को श्री चन्द्रप्रभ कहना। (४) अन्य अपेक्षा रहित मात्र व्यवहार के लिए किसी का नाम रखना। जैसे मात्र व्यवहार के लिए किसी व्यक्ति का **नाम** जिनदत्त रख देना। यद्यपि वह जिनके द्वारा दिया हुआ नहीं है तथापि मात्र व्यवहार के लिए जिनदत्त कहा जाता है। (५) यद्यपि पुद्गल में अनेक गुण हैं तथापि रूप की मुख्यता से कहना **रूप सत्य** है, जैसे मनुष्य में स्पर्श-रस-गंध वर्ण आदि अनेक गुण विद्यमान हैं तथापि गोरा रूप होने के कारण गोरा मनुष्य कहना। इसमें वर्ण गुण की मुख्यता है अन्य गुण गौण हैं। यह रूप सत्य है। (६) अन्य वस्तु की अपेक्षा से विवक्षित वस्तु को हीन या अधिक कहना वह **प्रतीत्य सत्य** है इसको आपेक्षिक सत्य भी कहा जाता है। जैसे यह दीर्घ है सो ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ कहा गया है। यद्यपि दीर्घ की अपेक्षा वह लघु भी है, परन्तु उसकी विवक्षा नहीं है। (७) नैगमादि नयों में से किसी नय की मुख्यता से वस्तु को कहना वह **व्यवहार सत्य** है। जैसे नैगम नय की मुख्यता से 'भात पक रहा है।' यद्यपि चावलों के पकने के पश्चात् भात होगा। परन्तु भात पर्याय रूप परिणमन होने वाला है, अतः नैगम नय की अपेक्षा उसको भात कहने में कोई दोष नहीं है। यह व्यवहार सत्य है। अथवा संग्रह नय की अपेक्षा सर्वपदार्थ सत् रूप हैं क्योंकि सत् कहने से सर्व पदार्थों का ग्रहण हो जाता है यह भी व्यवहार सत्य है। (८) असम्भव का परिहार करता हुआ सम्भावना की अपेक्षा वस्तु-धर्म का विधान करना सो **सम्भावना सत्य** है जैसे इन्द्र में जम्बूद्वीप को उलटने की शक्ति है। यद्यपि इन्द्र ने जम्बूद्वीप को न कभी उलटा है और न उलटेगा तथापि इन्द्र की शक्ति के विधान की अपेक्षा यह सत्य है। यह **सम्भावना सत्य** है। इसमें क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि क्रिया अनेक बाह्य कारणों के मिलने पर उत्पन्न होती है। (९) अतीन्द्रिय पदार्थ के सम्बन्ध में सिद्धान्तवचन अनुसार विधि व निषेध का संकल्प रूप परिणाम सो भाव है। उस भाव को कहने वाले वचन **भाव सत्य** हैं। जैसे जो सूख गया है या अग्नि में पकाया गया है या यंत्र द्वारा छिन्न-भिन्न किया गया है अथवा खटाई वा नमक से मिश्रित वस्तु प्रासुक है; इसका सेवन करने से पाप नहीं होता ऐसा पापवर्जनरूप वचन भाव सत्य है। यद्यपि उसमें इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म जीवों की सम्भावना हो सकती है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानी ने आगम में प्रासुक कहा है अतः उनको प्रासुक कहना भाव सत्य है। (१०) जो किसी प्रसिद्ध पदार्थ की समानता अन्य पदार्थ में कहना वह **उपमा सत्य** है। अथवा दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। उपमा के आश्रय से जो वचन बोले

जाते हैं वे उपमा सत्य हैं; जैसे पल्योपम। पल्य नाम गड्ढे का है। जितने असंख्यातासंख्यात रोम के अग्रभाग उस गड्ढे में आते हैं, उतने असंख्यातासंख्यात समय प्रमाण काल को पल्योपम काल कहते हैं।[1]

अनुभयवचन के भेदों का कथन

आमंतणि आणवणी याचणि या पुच्छणीय पण्णवणी।
पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमा य ॥२२५॥
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवंति भासाओ।
सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तं ससंजणया ॥२२६॥

गाथार्थ—आमंत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोम्नी, अनक्षरगता ये नव प्रकार की अनुभयात्मक भाषा है, क्योंकि सुनने वाले को व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशों का ज्ञान होता है ॥२२५-२२६॥

विशेषार्थ—"हे देवदत्त यहाँ आओ" इस प्रकार के बुलाने वाले वचन आमंत्रणी भाषा है। 'यह कार्य करो' इत्यादि आज्ञारूप वचन आज्ञापनी भाषा है। 'यह मुझको दो' इत्यादि याचनारूप वचन याचनीभाषा है। "यह क्या है" इत्यादि प्रश्नात्मक वचन आपृच्छनी भाषा है। "मैं क्या करूँ" इत्यादि सूचनात्मक वचन प्रज्ञापनी भाषा है। "मैं यह त्याग करता हूँ" ऐसे त्याग या परिहार रूप वचन प्रत्याख्यानी भाषा है। 'यह बकपंक्ति है या ध्वजापंक्ति है' इस प्रकार के संशयात्मक वचन संशयवचनी भाषा है। 'मुझे भी ऐसा ही होना चाहिए' इस प्रकार की इच्छा व्यक्त करने वाले वचन इच्छानुलोम्नी भाषा है। द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों की अनक्षरात्मक भाषा होती है, जो अपनी-अपनी समस्या रूप संकेत को व्यक्त करने वाली है। यह नवमी अनक्षरगत भाषा है। यह नौ प्रकार की भाषा अनुभय वचन रूप है, क्योंकि इनके सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशों का बोध होता है। सामान्य अंश व्यक्त होने से ये भाषाएँ असत्य भी नहीं हैं और विशेष अंश व्यक्त न होने से ये सत्य भी नहीं हैं।

शङ्का—अनक्षरी भाषा में सामान्य अंश भी व्यक्त नहीं है, फिर उसमें अनुभयवचनपना कैसे संभव है?

समाधान—बोलने वाले का अनक्षर भाषा द्वारा सुख-दुःखादि के अवलंबन द्वारा हर्ष आदि का अभिप्राय जाना जाता है। अतः अनक्षरी भाषा में भी सामान्य अंश व्यक्त है। अनक्षरी भाषा वाले जीवों के संकेत रूप वचन होते हैं, उन वचनों द्वारा उनके सुख-दुःख के प्रकरण आदि का अवलम्बन करके उसके माध्यम से उनके हर्ष आदि का अभिप्राय जाना जाता है।[2]

चारों प्रकार के मनोयोग तथा वचनयोग का मूल कारण

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओ दु।
मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ॥२२७॥

---

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र सूरि टीका अनुसार। २. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्रकृत टीका अनुसार।

गाथार्थ—(सत्य व अनुभय) मनोयोग और वचनयोग का मूल कारण पर्याप्ति नामकर्म का उदय और शरीर नामकर्म का उदय है। मृषा व उभय मनोयोग और वचन योग का मूल कारण आवरण का तीव्र अनुभागोदय है ॥२२७॥

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में यद्यपि सामान्य मन व वचन योग का कथन है किन्तु सामान्य मन व वचन से सत्य व अनुभय मनोयोग और वचनयोग का ग्रहण होता है क्योंकि विशेष के बिना सामान्य 'खरविषाणवत्' है।[1] मृषा और उभय का कथन गाथा के उत्तरार्ध में किया गया है इसलिये भी पूर्वार्ध में सामान्य से सत्य व अनुभय का ग्रहण होता है। मृषा व उभय मनोयोग और वचनयोग का मुख्य कारण आवरणकर्म के अनुभाग का उदय है अन्यथा क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान में मृषा व उभय मनोयोग और वचनयोग का कथन न किया जाता। मात्र मोहनीय कर्म ही मृषा व उभय मनोयोग और वचनयोग का कारण नहीं है, यद्यपि केवली भगवान के यथार्थ ज्ञान होने से सत्य वचनयोग तो संभव है तथापि केवली के वचनों के निमित्त से श्रोता को संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि श्रोता क्षायोपशमिक ज्ञान वाला तथा अतिशय रहित है इसलिए केवली के अनुभयवचन योग भी सिद्ध हो जाता है।[2]

सयोगकेवली के मनोयोग की सम्भावना

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगह्मि।
उत्तो मणोवयरेणिंदियणाणेण हीणम्मि ॥२२८॥
अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदह्मि।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥२२९॥

गाथार्थ—मनसहित जीवों के वचनप्रयोग मनोज्ञान पूर्वक ही होता है अतः इन्द्रियज्ञान रहित सयोगकेवली में उपचार से मनोयोग कहा गया है। अङ्गोपाङ्ग नामकर्मोदय से द्रव्य मन होता है, उस द्रव्य मन के लिये केवली भगवान के मनोवर्गणाओं का आगमन होता है, इसलिए भी मनोयोग कहा गया है ॥२२८-२२९॥

विशेषार्थ—**शङ्का**—केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिए उनके मन नहीं पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनके द्रव्य मन का सद्भाव पाया जाता है।

शङ्का—केवली के द्रव्यमन का सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहाँ पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है?

समाधान—द्रव्य मन के कार्यरूप क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्य मन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो पाया जाता है, क्योंकि द्रव्य मन की वर्गणाओं को लाने के लिए होने वाले प्रयत्न में कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मन के निमित्त से जो आत्म-परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है, वह मनोयोग है।

---

१. "निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।" [आलापपद्धति गा. ९]। २. धवल पु. १ पृ. २८३।

शङ्का—केवली के द्रव्य मन को उत्पन्न करने में प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्य को क्यों नहीं करता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि केवली के मानसिक ज्ञान के सहकारी कारण रूप क्षयोपशम का अभाव है, इसलिए उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

शङ्का—जबकि केवली के यथार्थ में अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उससे सत्य और अनुभय इन दो प्रकार के वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपचार से मन के द्वारा उन दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है।[1]

औदारिक काययोग और औदारिक मिश्रयोग

पुरुमहदुदारुरालं एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं।
औरालियं तमुच्चइ औरालियकायजोगो सो ॥२३०॥
ओरालिय उत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ॥२३१॥[2]

गाथार्थ—पुरु, महान् उदार और उराल ये शब्द एकार्थवाचक हैं। उदार में जो होता है वह औदारिक है और उसके निमित्त से होने वाला योग औदारिक काययोग है ॥२३०॥

हे भव्य ! ऐसा जानो कि जिसका पहले स्वरूप कहा है—वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक मिश्र है और उसके द्वारा होने वाले योग को औदारिक मिश्र योग कहते हैं ॥२३१॥

विशेषार्थ—[3]औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीवप्रदेशों में परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है वह औदारिककाययोग है। कार्मण और औदारिक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुए वीर्य से जीव के प्रदेशों में परिस्पन्द के लिए जो प्रयत्न होता है वह औदारिकमिश्रकाययोग है। उदार, पुर और महान् ये एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है वह औदारिक शरीर है।

शङ्का—औदारिकशरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है, क्योंकि वर्गणा खण्ड में कहा है—[4]औदारिकशरीर द्रव्य संबन्धी वर्गणाओं के प्रदेश सबसे अल्प हैं। उससे असंख्यातगुणे वैक्रियिकशरीर

---

१. धवल पु. १ पृ. २८४ व २८५। २. ये दोनों गाथाएँ धवल पु. १ पृ. २९१ पर गाथा १६० व १६१ हैं तथा प्रा.पं.सं. ५२० पर गाथा ९३ व ९४ हैं किन्तु कुछ अक्षरों में अन्तर है। ३. धवल पु. १ पृ. २८९ व २९०। ४. "पदेसअप्पाबहुए त्ति सव्वत्थोवाओ ओरालियसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्टदाए ॥७८५॥ वेउव्वियसरीर दव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए असंखेज्जगुणाओ ॥७८६॥ आहारसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्टदाए असंखेज्ज-गुणाओ ॥७८७॥ तेजासरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंतगुणाओ ॥७८८॥ भासा-मण-कम्मइयसरीरदव्ववग्ग-णाओ पदेसट्ठदाए अणंतगुणाओ ॥७८९॥" [धवल पु. १४ पृ. ५६०-५६२]।

द्रव्यसंबन्धी वर्गणा के प्रदेश हैं। उससे असंख्यातगुणे आहारकशरीर द्रव्यसंबन्धी वर्गणा के प्रदेश हैं। उससे अनन्तगुणे तैजसशरीर द्रव्य संबन्धी वर्गणा के प्रदेश हैं। उससे अनन्तगुणे भाषाद्रव्यवर्गणा के प्रदेश हैं। उससे अनन्तगुणे मनोद्रव्यवर्गणा के प्रदेश हैं और उससे अनन्तगुणे कार्मणशरीर द्रव्यवर्गणा के प्रदेश हैं।"

समाधान—प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि अवगाहना की अपेक्षा औदारिकशरीर की स्थूलता बन जाती है। जैसाकि वर्गणा खण्ड में कहा है—[1]कार्माणशरीर संबन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना सबसे सूक्ष्म है। मनोद्रव्य वर्गणा की अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है। भाषाद्रव्यवर्गणा की अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है। तैजस शरीर संबन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है। आहारशरीरसंबन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है। वैक्रियिक शरीर संबन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है। औदारिकशरीर संबन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है।

अथवा अवगाहना की अपेक्षा उराल है। शेष शरीरों की अवगाहना से इस शरीर की अवगाहना बहुत है, इसलिए औदारिकशरीर उराल है।

शङ्का—इसकी अवगाहनाके बहुत्व का ज्ञान कैसे होता है?

समाधान—क्योंकि महामत्स्य का औदारिक शरीर पाँच सौ योजन विस्तार वाला और एक हजार योजन आयाम वाला होता है।[2] इससे इसकी अवगाहना का बहुत्व जाना जाता है।

शङ्का—सूक्ष्मपृथिवी, जल, अग्नि, वायु और साधारण शरीरों के स्थूलपने का अभाव है। उन सूक्ष्मपृथिवी आदि शरीरों में औदारिक शरीर कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं; क्योंकि सूक्ष्मतर वैक्रियिकशरीर आदि की अपेक्षा सूक्ष्मशरीरों में अर्थात् सूक्ष्म पृथिवीकायिक आदि जीवों के सूक्ष्मशरीरों में स्थूलपना बन जाता है अथवा परमागम में सूक्ष्म पृथिवीकायिक आदि जीवों के शरीर को औदारिक कहा है।[3]

शङ्का—उदार शब्द से उराल शब्द की निष्पत्ति होने पर औदारिक शरीर की महत्ता कैसे बनती है?

समाधान—क्योंकि औदारिक शरीर निवृत्तिगमन का हेतु है और अठारह हजार शीलों की उत्पत्ति का निमित्त है, इसलिए इसकी महत्ता बन जाती है।[4]

शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व अन्तर्मुहूर्त काल तक औदारिक मिश्रकाययोग होता है, क्योंकि उस समय मात्र औदारिक वर्गणाओं के निमित्त से आत्म-प्रदेश परिस्पन्द नहीं होता, किन्तु

---

१. "ओग्गाहणअप्पाबहुए त्ति सव्वत्थोवाओ कम्मइयसरीरदव्ववग्गणाओ ओगाहणाए ।।७६०।। मणदव्ववग्गणाओ ओगाहणाए असंखेज्जगुणाओ ।।७६१।। भासादव्ववग्गणाओ ओगाहणाए असंखेज्जगुणाओ ।।७६२।। तेजासरीरदव्ववग्गणाओ ओगाहणाए असंखेज्जगुणाओ ।।७६३।। आहारसरीरदव्ववग्गणाओ ओगाहणाए असंखेज्जगुणाओ ।।७६४।। वेउव्वियसरीरदव्ववग्गणाओ ओगाहणाए असखेज्जगुणाओ ।।७६५।। ओरालियसरीरदव्ववग्गणाओ ओगाहणाए असंखेज्जगुणाओ ।।७६६।।" [धवल पु. १४ पृ. ५६२-५६४]। २. धवल पु. १४ पृ. ३२२। ३. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र कृत टीका। ४. धवल पु. १४ पृ. ३२३।

कार्मणशरीर के संबन्ध से युक्त होकर ही औदारिक वर्गणाओं से योग होता है। औदारिक वर्गणा और कार्मणवर्गणा इन दोनों के निमित्त से योग होता है, अतः यह औदारिक मिश्र काययोग है।

औदारिक काययोग और औदारिकमिश्रकाययोग तिर्यंचों और मनुष्यों के होता है।[1]

शङ्का—देव और नारकियों के औदारिकशरीर नामकर्म का उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि स्वभाव से ही उन के औदारिक शरीर नामकर्म का उदय नहीं होता। अथवा देवगति और नरकगति नामकर्म के उदय के साथ औदारिक शरीर नामकर्म का विरोध है, इसलिए उनके औदारिक शरीर का उदय नहीं पाया जाता। फिर भी तिर्यंचों और मनुष्यों के औदारिक और औदारिक मिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का नियम करने पर तिर्यंचों और मनुष्यों में कार्मणकाययोग आदि के अभाव की आपत्ति आ जाएगी। इसलिए औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग मनुष्यों के और तिर्यंचों के ही होता है, ऐसा नियम जानना चाहिए।[2]

वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोग

विविहगुणइड्ढिजुत्तं विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं।
तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो ॥२३२॥[3]
वेगुव्वियउत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो वेगुव्वियमिस्सजोगो सो ॥२३३॥[4]

गाथार्थ—विवध गुण-ऋद्धियों से युक्त अथवा विशिष्ट क्रियावाला शरीर विक्रिय अथवा विगुर्व है। उसमें उत्पन्न होने वाले योग को वैगुर्विक=वैक्रियिक काययोग जानना चाहिए। हे भव्य! जब तक उक्त स्वरूपवाले वैक्रियिक शरीर की पर्याप्ति अपरिपूर्ण रहती है तब तक वैक्रियिक मिश्रकाय जानना चाहिए। और उसके द्वारा होने वाला संप्रयोग वैक्रियिक मिश्र काययोग है ॥२३२-२३३॥

विशेषार्थ—विविध गुण-ऋद्धियों से युक्त है इसलिए वैक्रियिक है।[5] अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व और कामरूपित्व इत्यादि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ हैं। इन ऋद्धि गुणों से युक्त है, ऐसा समझकर वैक्रियिक है, ऐसा कहा है।[6]

विविध अर्थात् नाना प्रकार की शुभ-अशुभ रूप अणिमा महिमा आदि गुण, उनकी ऋद्धि अर्थात् महत्ता से संयुक्त देवनारकियों का शरीर वह वैगुर्व है, वैगुर्विक या वैक्रियिक है। जिसमें

---

१. "ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणुस्साणं ॥५७॥" [धवल पु. १ पृ. २९५]। २. ध. पु. १ पृ. २९५-२९६। ३. धवल पु. १ पृ. २९१ गाथा १६२ व प्रा.पं.सं. पृ. २१ गाथा ९५ व पृ. ५७८ गाथा ८९ है किन्तु कुछ शब्द भेद है। ४. धवल पु. १ पृ. २९२ गाथा १६३ व प्रा.पं.सं. पृ. २१ गाथा ९६ व पृ. ५७८ गाथा ९० है किन्तु शब्द भेद है। यह गाथा नं. २३४ है किन्तु धवल व पंचसंग्रह की गाथाओं के अनुसार यह नं. २३३ पर लिखी गई है। ५. "विविहइड्ढिगुण जुत्तमिदि वेउव्वियं ॥२३८॥" [धवल पु. १४ पृ. ३२५]। ६. धवल पु. १४ पृ. ३२५।

नानाप्रकार के गुण से वह विगुर्व है। जिसका प्रयोजन विगुर्व है वह वैगुर्विक है। अथवा विविध नाना प्रकार की क्रिया व अनेक अणिमा आदि विकार का नाम विक्रिया है। जिसका प्रयोजन विक्रिया है वह वैक्रियिक है। उस वैक्रियिक शरीर के लिए, उस शरीर रूप परिणमने योग्य वैक्रियिक आहार वर्गणाओं के ग्रहण से उत्पन्न हुई शक्ति से जीवप्रदेशों में परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है वह वैक्रियिक काययोग है। जब तक वैक्रियिक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक कार्मण और वैक्रियिक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुए वीर्य से जीवप्रदेशों में परिस्पन्द के लिए जो प्रयत्न होता है वह वैक्रियिक मिश्र काययोग है[1] अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अपर्याप्त काल में मात्र वैक्रियिक वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द नहीं होता, किन्तु कार्मणशरीर के सम्बन्ध से युक्त होकर ही वैक्रियिक शरीर सम्बन्धी वर्गणाओं के निमित्त से योग होता है, इसलिए यह मिश्रयोग है।

वैक्रियिक काययोग की सम्भावना कहाँ-कहाँ

बादर-तेऊवाऊपंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं सरीरं विगुव्वणप्पं हवे जेसिं ॥२३४॥[2]

गाथार्थ—बादर तेजकायिक-वायुकायिक और पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव औदारिक शरीर द्वारा विक्रिया करते हैं इनमें से जिनके शरीर में यह योग्यता पाई जाती है वे विक्रिया करते हैं ॥२३४॥

विशेषार्थ—देव और नारकियों में वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्र काययोग होता है।[3]

शङ्का—तिर्यंचों और मनुष्यों के इन दोनों योगों का उदय क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि तिर्यंचगति और मनुष्यगति कर्मोदय के साथ वैक्रियिक शरीर नामकर्म के उदय का विरोध आता है अर्थात् तिर्यंच और मनुष्यगति में वैक्रियिक शरीर नामकर्म का उदय नहीं होता, यह स्वभाव है। इसलिए तिर्यंच और मनुष्यों के वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिकमिश्र काययोग नहीं होता।

शङ्का—तिर्यंच और मनुष्य भी वैक्रियिक शरीरवाले सुने जाते हैं। वह कैसे संभव होगा?

समाधान--नहीं, क्योंकि औदारिक शरीर दो प्रकार का है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक। जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है वह मनुष्यों और तिर्यंचों के वैक्रियिक रूप से कहा गया है किन्तु उसमें नाना गुण और ऋद्धियों का अभाव होने के कारण उसको वैक्रियिक शरीर में ग्रहण नहीं किया गया।

चार शरीर जिनके होते हैं, वे चार शरीरवाले जीव हैं।

शङ्का--वे चार शरीर कौन-कौनसे हैं?

---

१. श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। २. यद्यपि यह गाथा २३३ नं. पर है किन्तु धवल ग्रंथ की दृष्टि से इसको नं. २३४ दिया है। ३. "वेउव्वियकायजोगो वेउव्विय मिस्सकाय जोगो देवणेरइयाणं ॥५८॥" [धवल पु. १ पृ. २९६]।

समाधान—औदारिकशरीर-वैक्रियिकशरीर-तैजसशरीर और कार्मणशरीर; अथवा औदारिकशरीर-आहारकशरीर-तैजसशरीर-कार्मणशरीर; इनके साथ विद्यमान चार शरीर वाले जीव होते हैं।[1]

योगमार्गणा के अनुवाद से पाँचों मनोयोगी, पाँचों वचनयोगी और औदारिक काययोगी जीव तीन शरीर वाले और चार शरीर वाले होते हैं।[2]

शङ्का—उत्तर शरीर की विक्रिया करने वाले जीवों के औदारिक काययोग कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उत्तर शरीर भी औदारिककाय है।

शङ्का—औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए विक्रिया स्वरूप शरीर का औदारिकपना नहीं रहता?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने में विरोध आता है।[3]

परन्तु विवक्षावश अन्यत्र ऐसा भी कहा है कि यह विक्रिया रूप शरीर भी औदारिक है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विक्रिया रूप शरीर को औदारिक होने का निषेध है।[4] वैक्रियिकशरीर नामकर्म का उदीरणा काल जघन्य से एक समय मात्र है, क्योंकि तिर्यंचों या मनुष्यों में एक समय के लिए उत्तर शरीर की विक्रिया करके द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त हुए जीव के एक समय काल पाया जाता है।[5] अग्निकायिक, वायुकायिक, बादर अग्निकायिक, बादरवायुकायिक, उनके पर्याप्त, त्रसकायिक और त्रसकायिक पर्याप्त जीवों में विक्रिया करनेवाले जीव होते हैं, इसलिए उनमें वैक्रियिक शरीर सम्भव है।[6]

आहारक काययोग और आहारक मिश्रयोग

आहारस्सुदयेण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं।
असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥२३५॥

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥२३६॥

उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं।
सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥२३७॥

अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणंपि कदाचि संभवइ ॥२३८॥

---

१. धवल पु. १४ पृ. २३८। २. "जोगाणुवादेण पंचमणजोगी पंचवचिजोगी ओरालिय कायजोगी अत्थि जीवा तिसरीरा चदु सरीरा ॥१४४॥" [धवल पु. १४ पृ. २४२]। ३. धवल पु. १४ पृ. २४२-२४३। ४. धवल पु. १४ पृ. ४०२। ५. धवल पु. १५ पृ. ६४। ६. धवल पु. १४ पृ. २४२।

आहरदि अणेण मुणी सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे।
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो ॥२३६॥[1]
आहारयमुत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सजोगो सो ॥२४०॥[2]

गाथार्थ—असंयम के परिहार तथा सन्देह को दूर करने के लिए प्रमत्तसंयत मुनि के आहारक शरीरनामकर्मोदय से आहारक शरीर होता है ॥२३५॥ निज क्षेत्र में केवली द्विक (केवली व श्रुत-केवली) का अभाव होने पर किन्तु दूसरे क्षेत्र में सद्भाव होने पर तप आदि कल्याणकों के दर्शन के लिए और चैत्य व चैत्यालय की वन्दना के लिए भी आहारक शरीर उत्पन्न होता है ॥२३६॥ यह आहारक शरीर उत्तमाङ्ग से उत्पन्न है, सप्त धातुओं से रहित है, शुभ है, संहनन से रहित है, शुभ संस्थान वाला है, धवल है, एक हस्त प्रमाण अवगाहना वाला है, प्रशस्त नामकर्मोदय का कार्य है ॥२३७॥ व्याघात से रहित है, इसकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण है। पर्याप्ति के पूर्ण होने पर कदाचित् मरण भी सम्भव है ॥२३८॥ अपने को सन्देह होने पर मुनि इस शरीर के द्वारा केवली के पास जाकर सूक्ष्म पदार्थ का आहरण (ग्रहण) करता है, इसलिए इस शरीर के द्वारा होने वाला योग आहारककाययोग है ॥२३९॥ उक्त स्वरूपवाला आहारक शरीर जब तक अपर्याप्त रहता है तब तक वह आहारकमिश्र है। उसके द्वारा होनेवाला संप्रयोग वह आहारकमिश्र काययोग है ॥२४०॥

विशेषार्थ—[3]जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करता है अर्थात् आत्मसात् करता है वह आहारकशरीर है। उस आहारक शरीर से जो योग होता है, वह आहारककाययोग है।

शङ्का—औदारिक स्कन्धों से सम्बन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशों का हस्तप्रमाण, शंख के समान धवल वर्णवाले और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थान से युक्त अन्य शरीर के साथ कैसे सम्बन्ध हो सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव के प्रदेश अनादिकालीन बन्धनों से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं, अतएव उनका मूर्त आहारक शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं आता है। और इसीलिए उनका फिर से औदारिक शरीर के साथ संघटन होना भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है।

शङ्का—जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध करने वाला आयु कर्म है। जीव तथा शरीर का परस्पर वियोग होना मरण है। इसलिए जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीव की फिर से उसी शरीर में उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है अतः जीव का औदारिक शरीर के साथ पुनः संघटन नहीं बन सकता। अर्थात् एक बार जीवप्रदेशों का आहारक शरीर के साथ सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् पुनः उन प्रदेशों का पूर्व औदारिक शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता?

---

१. व २. धवल पु. १ पृ. २६४; प्रा.पं.सं. पृ. २१ गाथा ६७-६८। ३. धवल पु. १ पृ. २६२।

समाधान—नहीं, क्योंकि आगम में जीव और शरीर के वियोग को मरण नहीं कहा गया। अन्यथा उनके संयोग को उत्पत्ति मानना पड़ेगा।

शङ्का—जीव और शरीर का संयोग उत्पत्ति रहा आवे, इसमें क्या हानि है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व भव में ग्रहण किये हुए आयुकर्म के उदय होने पर जिन्होंने उत्तर भव सम्बन्धी आयुकर्म का बन्ध कर लिया है और भुज्यमान आयु से सम्बन्ध छूट जाने पर भी जिन्होंने पूर्व अथवा उत्तर इन दोनों शरीरों में से किसी एक शरीर को प्राप्त नहीं किया है ऐसे जीवों की उत्पत्ति पाई जाती है। इसलिए जीव और शरीर के संयोग को उत्पत्ति नहीं कह सकते।

शङ्का—उत्पत्ति इस प्रकार की रह आवे, फिर भी मरण तो जीव और शरीर के वियोग को ही मानना पड़ेगा ?

समाधान—यह कहना ठीक है, तो भी जीव और शरीर का सम्पूर्ण रूप से वियोग ही मरण कहा जा सकता है। उनका एकदेश से वियोग होना मरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनके कण्ठ पर्यन्त जीवप्रदेश संकुचित हो गये हैं ऐसे जीवों का भी मरण नहीं पाया जाता है। यदि एकदेश वियोग को भी मरण माना जावे तो जीवित शरीर से छिन्न होकर जिसका हाथ अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार दोष आ जाएगा। इसी प्रकार आहारक शरीर को धारण करना, इसका अर्थ सम्पूर्ण रूप से औदारिक शरीर का त्याग करना नहीं है, जिससे आहारक शरीर को धारण करने वाले का मरण माना जावे।[1]

यह आहारक शरीर सूक्ष्म होने के कारण गमन करते समय वैक्रियिक शरीर के समान न तो पर्वतों से टकराता है, न शस्त्रों से छिदता है और न अग्नि से जलता है। आहारक और कार्मण की वर्गणाओं से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह आहारक मिश्र काययोग है।[2]

[3]असंयम-बहुलता, आज्ञा-कनिष्ठता और अपने क्षेत्र में विरह, [केवली, श्रुतकेवली का अभाव] इस प्रकार इन तीन कारणों से साधु आहारक शरीर को प्राप्त होते हैं। जल, स्थल और आकाश के एक साथ दुष्परिहार्य सूक्ष्म जीवों से आपूरित होने पर असंयम बहुलता होती है। उसका परिहार करने के लिए हंस और वस्त्र के समान धवल, अप्रतिहत, आहार वर्गणा के स्कन्धों से निर्मित और एक हाथ प्रमाण उत्सेधवाले आहारक शरीर को प्राप्त होते हैं इसलिए आहारक शरीर का प्राप्त करना असंयम-बहुलता निमित्तक कहा जाता है। आज्ञा, सिद्धान्त और आगम ये एकार्थवाची शब्द हैं। उसकी कनिष्ठता अर्थात् अपने क्षेत्र में उसका थोड़ा होना आज्ञाकनिष्ठता है। यह द्वितीय कारण है। आगम को छोड़कर द्रव्य और पर्यायों के अन्य प्रमाणों के विषय न होने पर तथा उनमें सन्देह होने पर, अपने सन्देह को दूर करने के लिए परक्षेत्र में स्थित 'श्रुतकेवली और केवली के पादमूल में जाता हूँ,' ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूप से परिणमन करके गिरि, नदी, सागर, मेरुपर्वत, कुलाचल और पाताल में केवली और श्रुतकेवली के पास जाकर तथा विनय से पूछकर सन्देहरहित होकर लौट आता है। परक्षेत्र में महामुनियों के केवलज्ञान की उत्पत्ति और

१. धवल पु. १ पृ. २९२-२९३। २. धवल पु. १ पृ. २९३। ३. धवल पु. १४ पृ. ३२६।

परिनिर्वाणगमन तथा तीर्थंकरों के परिनिष्क्रमण (दीक्षा) कल्याणक, यह तीसरा कारण है। विक्रियाऋद्धि से रहित और आहारकलब्धि से युक्त साधु अवधिज्ञान से या श्रुतज्ञान से या देवों के आगमन के विचार से केवलज्ञान की उत्पत्ति जानकर 'वन्दनाभक्ति से जाता हूँ' ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूप से परिणमन कर उस प्रदेश में जाकर उन केवलियों की और दूसरे जिनों व जिनालयों की वन्दना करके वापिस आता है। इन तीनों ही कारणों का अवलम्बन लेकर ग्रहण किये जाने वाले आहारक शरीर की नाम निरुक्ति यह है—'निपुण' अर्थात् अण्हा और मृदु यह उक्त कथन का तात्पर्य है। स्निग्ध अर्थात् धवल, सुगन्ध, सुष्ठु और सुन्दर यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अप्रतिहत का नाम सूक्ष्म है। आहार द्रव्यों में से आहारक शरीर को उत्पन्न करने के लिए निपुणतर और स्निग्धतर स्कन्धों को आहरण करता है अर्थात् ग्रहण करता है, इसलिए आहारक कहलाता है।

शङ्का—निपुण और स्निग्ध सूक्ष्मतर कैसे हो सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रथम अवस्था को देखते हुए तर और तम प्रत्यय के विषयभूत पदार्थों के सूक्ष्मतर होने में कोई विरोध नहीं आता।

अथवा आहारक द्रव्य प्रमाण है। उनमें से निपुणों में अतिनिपुण, निष्णातों में अति-निष्णात और सूक्ष्मों में अतिसूक्ष्म को आहरण करता है अर्थात् जानता है, इसलिए आहारक कहा गया है।[1]

[2]**शङ्का**—यदि आहारक शरीर वर्गणाएँ पाँचों वर्णवाली होती हैं तो आहारक शरीर धवल होता है, यह कैसे कहा गया है?

समाधान—नहीं, क्योंकि विस्रसोपचय की धवलता को देखकर यह उपदेश दिया है।

शङ्का—आहारक शरीर वर्गणाएँ पाँच रसवाली होती हैं, अतः अशुभ रस की संभावना होने पर आहारक शरीर मधुर होता है, यह कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि अप्रशस्त रस वाली वर्गणाओं का अव्यक्त रस होने से वहाँ मधुर रस का उपदेश दिया गया है।

आहारकशरीर वर्गणाएँ दो गन्धवाली होती हैं। यहाँ पर भी सुगन्धपना पूर्व के समान कहना चाहिए।

आहारकशरीर वर्गणाएँ आठ स्पर्शवाली होती हैं। यहाँ पर भी आहारक शरीर का शुभस्पर्श पूर्व के समान कहना चाहिए। अथवा अशुभ रस, अशुभ गन्ध और अशुभ स्पर्शवाली वर्गणाएँ आहा-रक शरीर रूप से परिणमन करती हुई शुभ रस, शुभ गन्ध और शुभ स्पर्शरूप से परिणमन करती हैं, ऐसा यहाँ पर कहा गया है।[3]

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धि प्राप्त छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत के

---

१. धवल पु. १४ पृ. ३२६-३२७। २. धवल पु. १४ पृ. ५५७-५५८। ३. धवल पु. १४ पृ. ५५८।

ही होता है ॥५९॥[1]

शङ्का—यहाँ पर क्या आहारक ऋद्धि की प्राप्ति से संयतों को ऋद्धिप्राप्त कहा गया है, या उनको पहले वैक्रियिकऋद्धि प्राप्त हो गई है इसलिए उनको ऋद्धिप्राप्त कहा गया है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि इतरेतराश्रय दोष आता है। इसी को स्पष्ट किया जाता है—जब तक आहारक ऋद्धि प्राप्त नहीं होती तब तक उनको ऋद्धिप्राप्त माना नहीं जा सकता, और जब तक वे ऋद्धिप्राप्त न हों तब तक उनके आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती। दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता क्योंकि एक ऋद्धि का उपयोग करते समय उनके दूसरी ऋद्धियों की उत्पत्ति का अभाव है। यदि दूसरी ऋद्धियों का सद्भाव माना जाता है तो आहारक ऋद्धिवालों के मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति भी माननी चाहिए, क्योंकि दूसरी ऋद्धियों के समान इसके होने में कोई विशेषता नहीं परन्तु आहारक ऋद्धि वाले के मनःपर्ययज्ञान माना नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर आगम से विरोध आता है।

समाधान—प्रथम पक्ष में जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है, क्योंकि आहारक ऋद्धि स्वतः की अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि स्वतः से स्वतः की उत्पत्तिरूप क्रिया के होने में विरोध आता है। संयम-अतिशय की अपेक्षा आहारक ऋद्धि की उत्पत्ति होती है, इसलिए 'ऋद्धिप्राप्त संयतानाम्' यह विशेषण भी बन जाता है। यहाँ पर दूसरी ऋद्धियों के उत्पन्न नहीं होने पर भी कारण में कार्य का उपचार करके ऋद्धि के कारणभूत संयम को ही ऋद्धि कहा गया है, इसलिए ऋद्धि के कारणरूप संयम को प्राप्त संयतों को ऋद्धिप्राप्तसंयत कहते हैं और उनके आहारक ऋद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है। अथवा संयमविशेष से उत्पन्न हुई आहारक-शरीर के उत्पादनरूप शक्ति को आहारक ऋद्धि कहते हैं, इसलिए भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है। दूसरे विकल्प में दिया गया दोष भी नहीं आता है, क्योंकि एक ऋद्धि के साथ दूसरी ऋद्धियाँ नहीं होती हैं, ऐसा माना नहीं गया। एक आत्मा में युगपत् अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि गणधरों के युगपत् सातों ऋद्धियाँ होती हैं।[2]

शङ्का—आहारक ऋद्धि के साथ मनःपर्ययज्ञान का विरोध कहा गया है?

समाधान—यदि आहारक ऋद्धि के साथ मनःपर्ययज्ञान का विरोध है तो रहा आवे, किन्तु आहारक ऋद्धि का अन्य सम्पूर्ण ऋद्धियों के साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा गया है।[3]

आहारकमिश्रकाययोगी का जघन्य काल व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।[4]

शङ्का—यहाँ एक समय जघन्यकाल क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि यहाँ मरण और योग परावृत्ति का होना असम्भव है।[5]

---

१. "आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगे संजदाणमिड्ढिपत्ताणं ॥५९॥ [धवल पु. १ पृ. २९७]। २. धवल पु. १ पृ. २९७-२९८। ३. धवल पु. १ पृ. २९८। ४. "आहारमिस्सकायजोगी केवचिरं कालादो होदि? ॥१०८॥ जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ॥१०९॥ उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं ॥११०॥ (धवल पु. ७ पृ. १५५)। ५. धवल पु. ७ पृ. १५५।

आहारकमिश्रकाययोगी का जघन्यकाल से उत्कृष्ट काल संख्यातगुणा है। पूर्व में जिसने अनेक बार आहारक शरीर को उत्पन्न किया है ऐसा कोई एक प्रमत्तसंयत जीव आहारकमिश्रकाययोगी हुआ और सबसे लघु अन्तर्मुहूर्त से पर्याप्तकपने को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से जघन्यकाल प्राप्त होता है। नहीं देखा है मार्ग को जिसने अर्थात् पूर्व में कभी आहारकशरीर उत्पन्न नहीं किया, ऐसा कोई प्रमत्तसंयत जीव आहारकमिश्रकाययोगी हुआ और जघन्यकाल से संख्यातगुणे सबसे बड़े काल अर्थात् अन्तर्मुहूर्त द्वारा पर्याप्तियों की पूर्णता को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उत्कृष्टकाल प्राप्त होता है।[1]

आहारककाययोगी का एकजीव अपेक्षा जघन्यकाल एकसमय है।[2] मनोयोग या वचनयोग में विद्यमान कोई एक प्रमत्तसंयत जीव आहारक काययोग को प्राप्त हुआ और द्वितीय समय में मरा अथवा मूल शरीर में प्रविष्ट हो गया।[3] इस प्रकार एक समय काल प्राप्त होता है।

आहारककाययोगी जीव का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है ॥२१२॥[4] मनोयोग या वचनयोग में विद्यमान कोई एक प्रमत्तसंयत जीव आहारककाययोग को प्राप्त हुआ। वहाँ पर सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल रह करके अन्य योग को प्राप्त हुआ।[5] इस प्रकार उत्कृष्टकाल प्राप्त होता है।

[6]जिस जीव के आहारकशरीर का उदय होता है उसके पच्चीस, सत्ताईस, अट्ठाईस और उनतीस ये चार उदयस्थान नामकर्म के होते हैं। पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान इस प्रकार हैं— मनुष्यगति, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, आहारक शरीर, आहारक-अङ्गोपांग, वर्णचतुष्क, उपघात, अगुरुलघु, पञ्चेन्द्रिय जाति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, आदेय, त्रस चतुष्क, समचतुरस्रसंस्थान, सुभग, यशस्कीर्ति और निर्माण। शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर परघात और प्रशस्तविहायोगति इन दो प्रकृतियों के मिलने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। आनापान पर्याप्ति के पूर्ण होने पर उच्छ्वास प्रकृति मिलने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर सुस्वर प्रकृतिक के उदय होने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इन चार उदयस्थानों से स्पष्ट हो जाता है कि आहारक शरीर में संहनन नामकर्म का उदय न होने से अस्थि (हड्डी) आदि सात धातु नहीं होती।

[7]रोम के अग्रभाग के आठवें भाग प्रमाण सिरच्छिद्र दशम द्वार से आहारक पुतला निकलता है। अतः उत्तमांग से उत्पन्न होता है, ऐसा कहा है।

---

१. धवल पु. ४ पृ. ४३३। २. "एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ ॥२११॥" (धवल पु. ४ पृ. ४३१)। ३. धवल पु. ४ पृ. ४३२। ४. "उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं ॥२१२॥ (धवल पु. ४ पृ. ४३२)। ५. धवल पु. ४ पृ. ४३२। ६. "आहारसरीरुदयं जस्स य ठाणाणि तस्स चत्तारि। पणुवीस, सत्तवीसं, अट्ठावीसं च उगुतीसं ॥१७०॥ तत्थ इमं पणुवीसं मणुसगई तेय, कम्म आहारं। तस्स य अंगोवंगं वण्णचउक्कं च उवघायं ॥१७१॥ अगुरुयलहु पंचिदिय-थिराथिर सुहासुहं च आदेज्जं। तसचउ समचउरं सुहयं जसणिमिण भंग एगोदु ॥१७२॥ एमेव सत्तवीसं सरीरपज्जत्तयस्स परघायं। पक्खिविय पसत्थगई भंगो वि एत्थ एगो दु ॥१७३॥ एमेवट्ठावीसं आणापज्जत्तयस्स उस्सासं। पक्खित्ते तह चेव य भंगो वि य एत्थ एगो दु ॥१७४॥ एमेऊणत्तीसं भासा पज्जत्तयस्स सुस्सरयं। पक्खिविय एय भंगो सव्वे भंगा दु चत्तारि ॥१७५॥ [प्रा.पं.सं. पृ. ३७१-३७३ सप्ततिका अधिकार]। ७. "रोमाग्राष्टमभागप्रमाणशिरोदशम द्वारच्छिद्रादाहारकं-पुत्तलकं निर्गच्छति।" [तत्त्वार्थवृत्ति २/४९]।

कार्मण काययोग

कम्मेव य कम्मभवं कम्मइयं जो दु तेण संजोगो ।
कम्मइयकायजोगो इगिविगतिगसमयकालेसु ।।२४१।।[1]

गाथार्थ—कर्मों का समूह अथवा कार्मणशरीर नामकर्म के उदय से होने वाली काय कार्मण-काय है। उसके द्वारा होने वाला योग कार्मण काययोग है। यह योग एक, दो अथवा तीन समय काल तक होता है ।।२४१।।

विशेषार्थ—विग्रहगति को प्राप्त चारों गतियों के जीवों के तथा प्रतर व लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवलीजिन के कार्मणकाययोग होता है ।।६०।।[2]

विग्रह देह को कहते हैं। उसके लिए जो गति होती है, वह विग्रहगति है। यह जीव औदारिक आदि शरीरनामकर्मोदय से अपने-अपने शरीर की रचना करने में समर्थ नाना प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है, अतएव संसारी जीवों के द्वारा शरीर का ग्रहण किया जाता है। इसलिए देह को विग्रह कहते हैं। ऐसे विग्रह अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है वह विग्रहगति है। अथवा 'वि' का अर्थ विरुद्ध और 'ग्रह' का अर्थ 'घात' होने से विग्रह शब्द का अर्थ व्याघात भी होता है, जिसका अर्थ पुद्गलों के ग्रहण करने का निरोध होता है। इसलिए विग्रह अर्थात् पुद्गलों के ग्रहण करने के निरोध के साथ जो गति होती है, वह विग्रहगति है। उसको भले प्रकार से प्राप्त जीव विग्रहगति समापन्न है। उनके अर्थात् विग्रहगति को प्राप्त जीवों के कार्मणकाययोग होता है। जिससे सम्पूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं, उस बीजभूत कार्मणशरीर को कार्मणकाय कहते हैं। वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होता है वह योग है। कार्मण काय से जो योग उत्पन्न होता है वह कार्मणकाययोग है। वह विग्रहगति अर्थात् वक्रगति में विद्यमान जीवों के होता है। एक गति से दूसरी गति को गमन करने वाले जीवों के चार प्रकार की गतियाँ होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति और गोमूत्रिकागति। उनमें पहली इषुगति विग्रहरहित होती है। शेष तीन गतियाँ विग्रहसहित होती हैं। सरल अर्थात् धनुष से छूटे हुए बाण के समान मोड़ारहित गति को इषुगति कहते हैं। इस गति में एक समय लगता है। जैसे हाथ से तिरछे डाले गये जल की एक मोड़ावाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीवों की एक मोड़ावाली गति पाणिमुक्ता गति है। यह गति दो समयवाली होती है। जैसे हल में दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़े वाली गति लांगलिका गति है। यह गति तीन समयवर्ती होती है। जैसे—गाय का चलते समय मूत्र का करना अनेक मोड़े वाला होता है उसी प्रकार तीन मोड़ेवाली गति गोमूत्रिका गति है। यह चार समय वाली होती है।[3] इषुगति को छोड़कर शेष तीनों विग्रहगतियों में कार्मण काययोग होता है।[4]

सब कर्मों का प्ररोहण अर्थात् आधार उत्पादक और सुख-दुःख का बीज है इसलिए कार्मण शरीर है ।।२४१।।[5] कर्म इसमें उगते हैं इसलिए कार्मणशरीरप्ररोहण है। कुष्माण्डफल के वृंत्त के समान कार्मणशरीर सब कर्मों का आधार है। सब कर्मों का उत्पादक भी है, क्योंकि कार्मणशरीर

---

१. धवल पु. १ पृ. २९५; प्रा. पं. सं. पृ. २१ गा. ९९ व पृ. ५७८ गा. ९३। २. "कम्मइयकायजोगो विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीय वा समुग्घाद-गदाणं ।।६०।।" [धवल पु. १ पृ. २९८]। ३. ध. पु. १ पृ. २९९-३००। ४. धवल पु. १ पृ. ३००। ५. "सव्व कम्माणं परूहणुप्पादयं सुहदुक्खाणं विजमिदि कम्मइय ।।२४१।।" [धवल पु. १४ पृ. ३२८]।

के बिना सब कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए वह सुखों और दु:खों का भी बीज है। क्योंकि उसके बिना उनका सत्त्व नहीं होता। इसके द्वारा नामकर्म के अवयवरूप कार्मण शरीर की प्ररूपणा की है। आगामी सब कर्मों का प्ररोहक, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सुख:दुखों का बीज है, इसीलिए आठों कर्मों का समुदाय कार्मणशरीर है।[1]

दूसरे शरीर को धारण करने के लिए मोड़ेवाली गति में कर्मयोग होता है। कर्मकृत आत्म-प्रदेश परिस्पन्दन रूप कर्मयोग के द्वारा कर्मों का आदान और देशान्तर-गमन दोनों होते हैं।[2]

योगप्रवृत्ति का प्रकार

वेगुव्वियआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरदम्हि।
जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण ॥२४२॥

गाथार्थ—प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थान में वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर की क्रिया युगपत् नहीं होती है। सभी जीवों के एक काल में एक ही योग होता है ॥२४२॥

विशेषार्थ—इस गाथा से यह व्यक्त होता है कि वैक्रियिक ऋद्धि और आहारकऋद्धि युगपत् प्रमत्तसंयत मुनि के सम्भव हैं, किन्तु वैक्रियिक शरीर की उत्पत्ति और आहारक शरीर की उत्पत्ति युगपत् सम्भव नहीं है। विशेष इस प्रकार है—

"कोई देवपर्याय से मनुष्यगति प्राप्त करके दीक्षा ग्रहण कर प्रमत्तसंयत होकर आहारक शरीर की रचना करता है। उस भूतपूर्व देव के संयम की अपेक्षा पाँच शरीर भी सम्भव हैं। जैसे घी का घड़ा। प्रमत्तसंयत के आहारक और वैक्रियिक दोनों शरीरों का उदय होते हुए भी दोनों शरीरों की एक काल में प्रवृत्ति का अभाव होने से एक के त्याग द्वारा औदारिक तैजस कार्मण आहारक ये चार शरीर युगपत् संभव हैं। अस्तित्व की अपेक्षा वैक्रियिक शरीर होने से पाँच शरीर हैं। वैक्रियिक शरीर लब्धि प्रत्यय भी है, इस सूत्र को यहाँ पर लगा लेना चाहिए।"[3]

तत्त्वार्थसूत्रकार का मत इस से भिन्न प्रकार का है। वहाँ पर एक जीव में मात्र चार शरीर तक का ही अस्तित्व स्वीकार किया गया है। [4]इस सूत्र की टीका में श्री अकलंकदेव ने पाँच शरीर का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। क्योंकि आहारक शरीर संयत मनुष्य के होता है उसके वैक्रियिक शरीर नहीं होता। देव और नारकियों के वैक्रियिक शरीर है, किन्तु उनके आहारक शरीर नहीं होता। युगपत् आहारक शरीर और वैक्रियिक शरीर का अस्तित्व संभव नहीं है।[5] इसका कारण यह है कि मनुष्य व तिर्यंचों के विक्रियात्मक शरीर को वैक्रियिक न मानकर, औदारिक

---

१. धवल पु. १४ पृ. ३२८-३२९। २. तत्त्वार्थवृत्ति २/२५। ३. कश्चिद् देवो मनुष्यगतिमवाप्य दीक्षामुपादाय प्रमत्तसंयत: सन् आहारकशरीर निर्वर्त्तयति। तस्य देवचरस्य संयतस्य अपेक्षया पञ्चापि भवन्ति घृतघटवत्। प्रमत्तसंयतस्य आहारकवैक्रियिकशरीरोदयत्वेऽपि तयोरेककाले प्रवृत्त्यभावात् एकतरत्यागेन युगपदौदारिकतैजस-कार्मणाहारकाणि चत्वारि, वैक्रियिक वा अस्तित्वमाश्रित्य पञ्चापि भवन्ति। लब्धिप्रत्ययवैक्रियिकापेक्षया योज्यम्।" [तत्त्वार्थ राजवार्तिक २/४३ टिप्पण नं. ३ पृ. १५०]। ४. "तदादीनि भाज्यानियुगपदेकस्मिन्ना-चतुर्भ्य: ॥२/४३॥" ५. "वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पञ्चाभावा:। यस्य संयतस्याहारकं न तस्य वैक्रि-यिकम्, यस्य देवस्य नारकस्य वा वैक्रियिकं न तस्याहारकमिति युगपत्पञ्चानामसंभव:।"[त. रा. वा.२/४३/६]।

मानकर चार शरीर के ही अस्तित्व का कथन किया है। यदि आगे के दो सूत्रों के आधार पर[1] उसको वैक्रियिक माना जाय तो पाँच शरीर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—तीनों योगों की प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान—युगपत् नहीं होती, क्योंकि एक आत्मा के तीनों योगों की प्रवृत्ति युगपत् मानने पर योग-निरोध का प्रसंग आजाएगा।

शङ्का—कहीं पर मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान—यदि देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ। परन्तु उस के मन-वचन और काय की प्रवृत्ति के लिए जो प्रयत्न होते हैं, उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि आगम में इस प्रकार का उपदेश नहीं मिलता है।[2]

शङ्का—दो या तीन योग एक साथ क्यों नहीं होते ?

समाधान—नहीं होते, क्योंकि उनकी एक साथ प्रवृत्ति का निषेध किया गया है।

शङ्का—अनेक योगों की एक साथ वृत्ति पाई तो जाती है ?

समाधान—नहीं पाई जाती, क्योंकि इन्द्रियों के विषय से परे जो जीवप्रदेशों का परिस्पन्द होता है, उसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान मान लेने में विरोध आता है। जीवों के चलते समय जीव-प्रदेशों के संकोच-विकोच का नियम नहीं है, क्योंकि सिद्ध होने के प्रथम समय में जब जीव यहाँ से (मध्यलोक से) लोक के अग्रभाग को जाता है तब उसके जीवप्रदेशों में संकोच-विकोच नहीं पाया जाता।[3]

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि एक समय में एक ही योग होता है। एक जीव में एक से अधिक अर्थात् दो तीन योग युगपत् नहीं हो सकते।

स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण शुद्ध जीव मध्य लोक से लोकाग्र स्थित तनु-वातवलय तक जाता है, किन्तु शरीर नाम कर्मोदय न होने से योग अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्द नहीं होता।

योगरहित अयोगी

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया।
ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंतबलकलिया ॥२४३॥[4]

---

१. "औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥ लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥" [तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २]। २. धवल पु. १ पृ. २७९। ३. धवल पु. ७ पृ. ७७, धवल १०/४३७। ४. यही गाथा प्रा. प. सं. पृ. ५७८ गा. ९४ है व पृ. २२ गा. १०० है किन्तु 'अजोगि' के स्थान पर 'अजोइ' और 'बल' के स्थान पर गुण है तथा धवल पु. १ पृ. २८० पर भी है किन्तु 'अजोगि' के स्थान पर 'अजोइ' है।

गाथार्थ—जिन जीवों में पुण्य और पाप के उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं होते हैं वे अनुपम और अनन्त बल सहित अयोगी जिन हैं ।।२४३।।

विशेषार्थ—शङ्का—अशुभ योग क्या हैं ?

समाधान—हिंसा, चोरी और मैथुन आदिक अशुभ काययोग हैं। असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचन योग हैं। मारने का विचार, ईर्षा, डाह आदि अशुभ मनोयोग हैं।

शङ्का—शुभ योग क्या हैं ?

समाधान—अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काय योग हैं। सत्य, हित, मित बोलना शुभ वचनयोग हैं। अर्हन्त-भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग हैं।

शङ्का—योग के शुभ और अशुभ भेद किस कारण से हैं ?

समाधान—जो योग शुभ परिणाम के निमित्त से होता है, वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणाम के निमित्त से होता है वह अशुभ योग है।

शङ्का—जो शुभ कर्म का कारण है वह शुभ योग है और जो अशुभ कर्म का कारण है वह अशुभ योग है। ऐसा क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—नहीं, यदि इस प्रकार इनका लक्षण किया जाएगा तो शुभयोग ही नहीं हो सकता, क्योंकि शुभ योग से भी ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। शुभ अशुभ योग का जो लक्षण कहा गया है, वही सही है।

शङ्का—यदि ऐसा है अर्थात् शुभ योग से भी अशुभ कर्मों का आस्रव होता है तो शुभयोग पुण्य का उत्पादक है, यह कैसे कहा गया ?

समाधान—अघातिकर्मों में जो पुण्य और पाप हैं, उनकी अपेक्षा पुण्य-पाप हेतुता का निर्देश है। अथवा 'शुभ पुण्य का ही कारण है' ऐसा अवधारण (निश्चय) नहीं किया, किन्तु 'शुभ ही पुण्य का कारण है।' यह अवधारण किया गया है।

शङ्का—पुण्य किसे कहते हैं ?

समाधान—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है जैसे सातावेदनीय आदि।[1]

शङ्का—सातावेदनीय आदि पुण्य-प्रकृतियाँ तो बंध रूप होने के कारण लोहे की बेड़ी हैं वे आत्मा को कैसे पवित्र कर सकती हैं ?

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक व सर्वार्थसिद्धि ६/३।

समाधान—सातावेदनीय, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, मनुष्यायु इत्यादि बयालीस पुण्यप्रकृतियाँ हैं। ये पुण्यप्रकृतियाँ तीर्थंकरादिक पदों अर्थात् अर्हन्त पद के सुख को देने वाली हैं।[1] इसलिये पुण्य का लक्षण 'जो आत्मा को पवित्र करता है,' यह यथार्थ है।

शरीर नामकर्म के उदय से योग अर्थात् कर्म व नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति आत्मा में उत्पन्न होती है।[2] जिनके शरीर नामकर्म के उदय का अभाव हो गया उनके उसके कार्य-भूत योग का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति असम्भव है। अतः चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगीकेवली और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान के शरीर नामकर्म का उदय न होने से योग का अभाव है। सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक शुभ योग है। पहले गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक शुभ और अशुभ दोनों योग हैं।

शंका—योग का अभाव होने से सिद्ध भगवान के बल के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि हमारे योग के आश्रय से ही बल देखा जाता है?

समाधान—सिद्ध भगवान का बल हमारे जैसा बल नहीं है। सिद्ध भगवान का बल अनन्त है। लोक-अलोक समस्त ज्ञेयों को युगपत् जानने में उनको खेद या थकावट नहीं होती। इसीलिए गाथा में **'अनुपमअनन्तबलकलिताः'** शब्द दिया है।

शरीर में कर्म-नोकर्म का विभाग

ओरालियवेगुव्वियआहारयतेजणामकम्मुदये।
चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥२४४॥

गाथार्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस नामकर्म के उदय से होने वाले ये चार शरीर नोकर्म हैं। कर्म ही कार्मण शरीर हैं ॥२४४॥

विशेषार्थ—कर्म के उदय से होने वाले चार शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस) नोकर्म हैं।

शङ्का—औदारिक आदि चार शरीरों की 'नोकर्म' संज्ञा क्यों है?

समाधान—'नो' शब्द का प्रयोग निषेध के लिए भी होता है और ईषत् के लिए भी होता है। जैसे नोकषाय में 'नो' शब्द का प्रयोग ईषत् के लिए हुआ है उसी प्रकार 'नोकर्म' में नो शब्द का प्रयोग ईषत् के लिए हुआ है। ये औदारिक आदि चार शरीर कार्मण के समान आत्मा के गुणों को नहीं घातते। जैसे कार्मण शरीर आत्मा के गुणों को घातता है और चारों गतियों में परिभ्रमण कराता है उस प्रकार से औदारिक आदि चार शरीर न तो आत्मा के गुणों को घातते हैं और न चारों गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इसलिए चार शरीरों की नोकर्म संज्ञा है। ये चारों शरीर कार्मण

---

१. "पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादिसुखखानयः।" [मूलाचार प्रदीप पाँचवाँ अधिकार श्लोक १५८ पृ. २००]; "पुण्णफला अरहंता" [प्रवचनसार गाथा २३], "अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति।" [आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका]। २. गो.जी.गा. २१६।

शरीर के सहकारी कारण हैं, इसलिए भी इनकी नोकर्म संज्ञा है।

शङ्का—तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

समाधान—तेज और प्रभा गुण से युक्त होने के कारण इसकी तैजसशरीर संज्ञा है ॥२४०॥[1] शरीर स्कन्ध के पद्मरागमणि के समान वर्ण का नाम तेज है तथा शरीर से निकली हुई रश्मिकला का नाम प्रभा है। इसमें जो हुआ है वह तैजसशरीर है।[2]

कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से कार्मणशरीर होता है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मस्कन्धसमूह ही कार्मणशरीर हैं। इन कर्मस्कन्धसमूह के बिना अन्य की कार्मणशरीर संज्ञा परमागम में नहीं कही गई है।

औदारिकादिक शरीरों के समयप्रबद्ध और वर्गणाओं का अवगाहना प्रमाण

परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु।
ताहिं अणंतहिं णियमा समयपबद्धो हवे एक्को ॥२४५॥
ताणं समयपबद्धा सेढि असंखेज्जभागगुणिदकमा।
णंतेण य तेजदुगा परं परं होदि सुहमं खु ॥२४६॥[3]
ओगाहणाणि ताणं समयपबद्धाण वग्गणाणं च।
अंगुल-असंख-भागा उवरुवरिमसंखगुणहीणा ॥२४७॥
तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख-।
भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा ॥२४८॥

गाथार्थ—अनन्तानन्त परमाणुओं की वर्गणा संज्ञा है अर्थात् अनन्तानन्त परमाणुओं की एक वर्गणा होती है। अनन्तानन्त उन वर्गणाओं का एक समयप्रबद्ध होता है ॥२४५॥ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों के समयप्रबद्ध उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणे हैं। गुणाकार श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग है। तैजस और कार्मण के समयप्रबद्ध अनन्तगुणे हैं। किन्तु ये पाँचों ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं ॥२४६॥ इन शरीरों के समयप्रबद्ध और वर्गणाओं की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है। आगे-आगे अवगाहना असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणीहीन होती गई है ॥२४७॥ औदारिक आदि शरीरों के समयप्रबद्ध व वर्गणा की अवगाहना सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भाजित घनांगुल प्रमाण है, किन्तु यह अवगाहना उत्तरोत्तर क्रम से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भक्त होकर हीन होती गई है ॥२४८॥

विशेषार्थ—समगुण वाले परमाणु अर्थात् वर्गों की एक पंक्ति करने से वर्ग होता है।[4] ऐसा करने पर अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्ग (परमाणु) प्राप्त होते हैं।

---

१. तेयप्पहगुणजुत्तमिदितेजइयं ॥२४०॥ धवल पु. १४ पृ. ३२७। २. धवल पु. १४ पृ. ३२७-३२८। ३. परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥ अनन्तगुणे परे ॥३९॥ [तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २]। ४. "समगुणा पङ्क्तीकृताः वर्गा वर्गणा।" [रा.वा २/५/४]।

द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करने पर इन सब की 'वर्गणा' संज्ञा है। वर्गों के समूह का नाम वर्गणा है। वर्गणा एक होती है, परन्तु वर्ग अनन्त होते हैं।[1] अभव्यों से अनन्तगुणे अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एकसमय प्रबद्ध होता है। इतना द्रव्य प्रतिसमय बाँधा जाता है, इसलिए इसकी समयप्रबद्ध संज्ञा है।[2] सिद्धराशि के अनन्तवें भाग के अनन्त भेद हैं। इसलिए अभव्य राशि से अनन्तगुणा, ऐसा मध्यम अनन्तानन्त सिद्धों के अनन्तवें भाग से ग्रहण करना चाहिए।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गल स्कन्धों की आहारद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। अनन्तानन्तप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा के ऊपर और प्रथम अग्रहण द्रव्य वर्गणा के नीचे यह आहारवर्गणा स्थित है।[3]

आहारवर्गणा के वर्गणाग्र (वर्गणा समूह) के असंख्यात खण्ड करने पर वहाँ बहुभाग प्रमाण आहारक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है। शेष के असंख्यात खण्ड करने पर बहुभाग प्रमाण वैक्रियिक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है। तथा शेष एकभाग प्रमाण औदारिक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है। स्तोक वर्गणाओं में स्तोक ही आते हैं इसलिए औदारिक शरीर वर्गणा स्तोक है, ऐसा कितने ही आचार्य कथन करते हैं। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि तैजस शरीर वर्गणा आदि में इस अर्थ की प्रवृति नहीं देखी जाती।[4]

औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ प्रदेशार्थता (प्रदेशगणना) की अपेक्षा सबसे स्तोक हैं ॥७८५॥ यह अल्पबहुत्व, योग से आनेवाले एकसमयप्रबद्ध की वर्गणाओं का कहा जा रहा है, सब वर्गणाओं का नहीं। एक योग से आनेवाली औदारिक शरीर द्रव्यवर्गणाएँ प्रदेशाग्र और वर्गणा की अपेक्षा स्तोक हैं।[5] वैक्रियिक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ॥७८६॥ जिस योग से औदारिक शरीर के लिए आहार वर्गणाओं में से औदारिक शरीर वर्गणाएँ एक समय में आगमन प्रायोग्य होती हैं, उन्हीं वर्गणाओं में से उसी समय में अन्य जीव के उसी योग से वैक्रियिकशरीर के लिए आगमनयोग्य वर्गणाएँ असंख्यातगुणी होती हैं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणाकार है। आहारक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं ॥७८७॥ उसी समय में उसी योग से आहार वर्गणाओं में से आनेवाली आहारक शरीरद्रव्य वर्गणाएँ असंख्यातगुणी होती हैं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। ज.श्रे. के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणाकार है।[6]

तैजस शरीरद्रव्यवर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तगुणी हैं ॥७८८॥[7] उसी समय में उसी योग के द्वारा तैजस शरीर द्रव्य वर्गणाओं में से तैजस शरीर के लिए आनेवाली वर्गणाएँ

---

१. "एवं कदे अभवसिद्धिएहिं अणंतगुणा सिद्धाणमणंतभागमेत्ता लद्धा भवंति। एदेसिं सव्वेसिं वि दव्वट्ठियणए अवलंबिदे वग्गणा इदि सण्णा। वग्गाणं समूहो वग्गणा, तेसिं चेव असमूहो वग्गो। वग्गणा एगा, वग्गा अणंता।" [धवल पु. १२ पृ. ६३-६४]। २. "समये प्रबध्यत इति समयप्रबद्धः।"[धवल पु. १२ पृ. ४७८]। ३. "ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीर पाओग्गपोग्गलक्खंधाणं आहारदव्ववग्गणा त्ति सण्णा। अणंताणंतपदेसिय-परमाणुपोग्गलदव्ववग्गणाणमुपरि आहारदव्ववग्गणाणाम ॥७९॥ आहारदव्ववग्गणाणमुवरि अगहणदव्ववग्गणा णाम ॥८०॥" [धवल पु. १४ पृ. ५९]। ४. धवल पु. १४ पृ. ५६०-५६१। ५. धवल पु. १४ पृ. ५६०। ६. धवल पु. १४ पृ. ५६१। ७. धवल पु. १४ पृ. ५६१।

प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्तगुणी होती हैं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवेंभागगुणाकार है। भाषा वर्गणाएँ, मनोवर्गणाएँ और कार्मण शरीर वर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तगुणी हैं ।।७८६।। उसी समय में उसी योग से भाषा वर्गणाओं में से भाषा रूप पर्याय से परिणमन करनेवाली वर्गणाएँ प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्तगुणी होती हैं। उसी समय में उसी योग से मनोद्रव्य वर्गणाओं में से द्रव्यमन के लिए आनेवाली वर्गणाएँ प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्तगुणी होती हैं। उसी समय में उसी योग से कार्मणद्रव्य वर्गणाओं में से आठों कर्मों के लिए आनेवाली वर्गणाएँ प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्तगुणी होती हैं। सर्वत्र गुणाकार अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवंभाग प्रमाण होता है।[1]

अवगाहना अल्पबहुत्व—कार्मणशरीर द्रव्यवर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा सबसे स्तोक हैं। क्योंकि एक घनाङ्गुल में अङ्गुल के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर एक कार्मण वर्गणा की अवगाहना उत्पन्न होती है। मनोद्रव्यवर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं। अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणाकार है। भाषावर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी है ।।७६२।। अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणाकार है। तैजसशरीर द्रव्यवर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७६३।। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणाकार है। आहारक शरीर द्रव्यवर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं ।।७६४।। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणाकार है वैक्रियिक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं ।।७६५।। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणाकार है। औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं ।।७६६।। अंगुल का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है।[2]

इस सब का अभिप्राय यह है कि औदारिक शरीर स्थूल है इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है। वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर सूक्ष्म है। आहारक शरीर से तैजस शरीर सूक्ष्म है। और तैजस शरीर से कार्मण शरीर सूक्ष्म है। यह कथन अवगाहना की अपेक्षा किया गया है, किन्तु प्रदेश की अपेक्षा औदारिक शरीर से असंख्यातगुणे प्रदेश वैक्रियिक शरीर में हैं और वैक्रियिक शरीर से असंख्यात गुणे प्रदेश आहारक शरीर में हैं। आहारक शरीर से अनन्तगुणे प्रदेश तैजस शरीर में है और तैजस शरीर से अनन्तगुणे प्रदेश कार्मण शरीर में है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो पूर्व शरीर से उत्तर शरीर महापरिमाण वाला प्राप्त होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बन्धविशेष के कारण परिमाण में भेद नहीं होता। जैसे रुई का ढेर और लोहे का गोला।[3]

इन पाँचों शरीरों के समयप्रबद्ध में परमाणुओं की संख्या यद्यपि उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होती गई है तथापि अवगाहना सूक्ष्म-सूक्ष्म होती गई है। औदारिक शरीर का समयप्रबद्ध व वर्गणा की अवगाहना, घनांगुल को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर प्राप्त होता है उसको पुनः सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर वैक्रियिक शरीर के समयप्रबद्ध व वर्गणा की अवगाहना होती है। उसको पुनः सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर आहारक शरीर के समयप्रबद्ध व वर्गणा की अवगाहना होती है पुनः सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से खंडित करने पर

---

१. धवल पु. १४ पृ. ५६२। २. धवल पु. १४ पृ. ५६२-५६४। ३. सर्वार्थसिद्धि २।३७-३६।

तैजस शरीर सम्बन्धी समयप्रबद्ध व वगणा की अवगाहना का प्रमाण प्राप्त होता है। उसको भी सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर कार्मण शरीर के समयप्रबद्ध व वर्गणा की अवगाहना प्राप्त होती है।

विस्रसोपचय का स्वरूप

जीवादो णंतगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया।
जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडिसमाणा हु ।।२४९।।

गाथार्थ—(कर्म और नोकर्म के) प्रत्येक परमाणु पर जीवराशि से अनन्तगुणे विस्रसोपचय हैं, वे जीव के साथ समवेत हैं। एक-एक के प्रति समान हैं ।।२४९।।

विशेषार्थ—शङ्का—विस्रसोपचय किसकी संज्ञा है?

समाधान—पाँच शरीरों के परमाणुपुद्गलों के मध्य जो पुद्गल स्निग्ध आदि गुणों के कारण उन पाँच शरीरों के पुद्गलों में लगे हुए हैं, उनकी विस्रसोपचय संज्ञा है। उन विस्रसोपचयों के सम्बन्ध के कारण पाँच शरीरों के परमाणु रूप पुद्गलगत स्निग्ध आदि गुण हैं, उनकी भी विस्रसोपचय संज्ञा है, क्योंकि यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया है।[1]

एक-एक औदारिक प्रदेश (परमाणु) में सब जीवों से अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।[2]

शङ्का—अविभागप्रतिच्छेद किसे कहते हैं?

समाधान—एक परमाणु में जो जघन्य वृद्धि होती है, उसे अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

इस प्रमाण से परमाणुओं के जघन्यगुण अथवा उत्कृष्ट गुण का छेद करने पर सब जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। एक-एक परमाणु में जितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं, एक-एक परमाणु में एक बन्धनबद्ध विस्रसोपचय परमाणु भी उतने ही होते हैं, क्योंकि कार्य कारण के अनुसार देखा जाता है।[3] यहाँ पर सब जीवों से अनन्तगुणत्व की अपेक्षा समानता है, संख्या की अपेक्षा नहीं, क्योंकि जघन्य अनुभाग के कारण लगे हुए स्तोक विस्रसोपचयों से निष्पन्न जघन्य प्रत्येक शरीर वर्गणा की अपेक्षा जघन्य अनुभाग से अनन्तगुणे अनुभाग के कारण आये हुए विस्रसोपचयों से निष्पन्न उत्कृष्ट प्रत्येक शरीर वर्गणा के अनन्तगुणे होने का प्रसंग आता है।

शङ्का—विस्रसोपचयों की अविभागप्रतिच्छेद संज्ञा कैसे है?

समाधान—कार्य में कारण का उपचार करने से अविभाग प्रतिच्छेदों के कार्यरूप विस्रसोपचयों की वह संज्ञा सिद्ध होती है।[4]

पुद्गलपरमाणु और जीवप्रदेश परस्पर में अनुगत हो जाते हैं। अथवा परमाणु की जीवप्रदेश संज्ञा होने में कोई विरोध नहीं आता।[5] अतः 'जीवेन सह समवेताः' ऐसा कहा गया है।

---

१. धवल पु. १४ पृ. ४३०। २. "अविभागपडिच्छेदपरूवणादाय एक्केक्कम्मि ओरालियपदेसे केवडिया अविभागपडिच्छेदा ।।५०३।। अणंता अविभागपडिच्छेदा सव्वजीवेहि अणंतगुणा ।।५०४।।" [धवल पु. १४ पृ. ४३१। ३. धवल पु. १४ पृ. ४३१। ४. धवल पु. १४ पृ. ४३२। ५. "जीव-पोग्गलाणमण्णोण्णाणुगयत्ते परमाणुस्स वि जीवपदेसववएसाविरोहादो वा।" [धवल पु. १४ पृ. ४३९]।

औदारिक शरीर के अविभागप्रतिच्छेद सबसे स्तोक हैं। उनसे वैक्रियिकशरीर के अविभाग-प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। सब जीवों से अनन्तगुणागुणाकार है। उनसे आहारक शरीर के अविभाग-प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। गुणाकार सब जीवों से अनन्तगुणा है। उनसे तैजस शरीर के अविभाग-प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। सब जीवों से अनन्तगुणा गुणाकार है। उनसे कार्मण शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। सब जीवों से अनन्तगुणागुणाकार है।[1]

दूसरे प्रकार से विस्रसोपचय का कथन इस प्रकार है—जिन्होंने औदयिक भाव को नहीं छोड़ा है और जो समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को व्याप्त कर स्थित हैं, ऐसे जीवों के द्वारा छोड़े गये पाँच शरीरों की विस्रसोपचय प्ररूपणा की जाती है। पाँच शरीरों का एक-एक परमाणु जीव से मुक्त होकर भी सब जीवों से अनन्तगुणे विस्रसोपचयों से उपचित होता है। इसलिए ये ध्रुवस्कन्ध सान्तर निरन्तर वर्गणाओं में समान धन वाले होकर अन्तर्भाव को प्राप्त होते हैं। वे सब लोक में से आकर बद्ध हुए हैं।[2]

शङ्का—यह कथन किसलिए आया है?

समाधान—अपने-अपने कहे गये हेतु के अनुसार कर्म के योग्य सादि अनादि और सब जीव-प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाहपने को प्राप्त हुआ पुद्‌गल बँधता है। इस वचन के अनुसार जिस प्रदेश पर जो जीव स्थित हैं, वहाँ स्थित जो पुद्‌गल हैं, वे मिथ्यात्व आदि (मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग) कारणों से जिस प्रकार पाँच रूप से परिणमन करते हैं, उसी प्रकार यहाँ पर स्थित हुए ही विस्रसोपचय भी क्या बन्ध को प्राप्त होते हैं या नहीं? इस बात का निर्णय करने के लिए यह कथन आया है।[3]

वे पाँचों शरीरों के स्कन्ध समस्त लोक में से आये हुए विस्रसोपचयों के द्वारा बद्ध होते हैं। सब लोकाकाश के प्रदेशों पर स्थित हुए पुद्‌गल समीरण आदि के वश से या गति रूप परिणाम के कारण आकर उनके साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। अथवा पाँचों शरीरों के पुद्‌गल जीव से मुक्त होने के समय में ही समस्त आकाश को व्याप्त कर रहते हैं।[4]

औदारिक शरीर के जो एक गुणयुक्त वर्गणा के द्रव्य हैं, वे बहुत हैं और वे अनन्त विस्रसो-पचयों से उपचित हैं ॥५३६॥[5] अनन्त विस्रसोपचयों से उपचित एक गुणयुक्त वर्गणा के द्रव्य शलाकाओं की अपेक्षा बहुत हैं।

शङ्का—एक गुण से क्या ग्रहण किया जाता है?

समाधान—जघन्य गुण ग्रहण किया जाता है। वह जघन्य गुण अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है।

शङ्का—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

---

१. धवल पु. १४ पृ. ४३७-४३८ सूत्र ५१५-५१६। २. 'ते च सव्वलोगागदेहि बद्धा ॥५२२॥" [धवल पु. १४ पृ. ४३९। ३. ध.पु. १४ पृ. ४३९-४४०। ४. ध.पु. १४ पृ. ४४०। ५. "ओरालियसरीरस्स जे एयगुणजुत्तवग्ग-णाए दव्वा ते बहुआ अणंतेहि विस्सासुवचएहि उवचिदा ॥५३६॥ [ध.पु. १४ पृ. ४५०]।

समाधान—'अनन्त विस्रसोपचयों से उपचित हैं', यह सूत्र अन्यथा बन नहीं सकता है। इस सूत्र से जाना जाता है कि वह अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है।

शंका—एक अविभागप्रतिच्छेद के रहते हुए एक विस्रसोपचय न होकर अनन्त विस्रसोपचय संभव हैं।

समाधान—यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसी अवस्था में उनका सम्बन्ध बिना कारण होता है, ऐसा प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। यदि कहा जाय कि उसका विस्रसोपचयों के साथ बन्ध भी हो जाएगा सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जघन्य गुण वाले के साथ बन्ध नहीं होता[१] इस सूत्र के साथ विरोध आता है।

जो दो गुणयुक्त वर्गणा के द्रव्य हैं, वे विशेष हीन हैं और वे अनन्त विस्रसोपचयों से उपचित हैं ॥५४०॥[२]

शङ्का—यदि अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों से युक्त जघन्यगुण में 'एक गुण' शब्द प्रवृत्त रहता है तो दो जघन्यगुणों में 'दो गुण' शब्द की प्रवृत्ति होनी चाहिए, अन्यथा 'दो' शब्द की प्रवृत्ति नहीं उपलब्ध होती?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जघन्यगुण के ऊपर एक अविभाग प्रतिच्छेद की वृद्धि होने पर दो गुण भाव देखा जाता है।

शङ्का—एक ही अविभागप्रतिच्छेद की द्वितीय गुण संज्ञा कैसे है?

समाधान—क्योंकि मात्र उतने ही गुणान्तर की वृद्धि द्रव्यान्तर में देखी जाती है। गुण के द्वितीय अवस्था विशेष की द्वितीय गुण संज्ञा है और तृतीय अवस्था विशेष की तृतीय गुण संज्ञा है, इसलिए जघन्य गुण के साथ द्विगुणपना और त्रिगुणपना यहाँ बन जाता है। अन्यथा 'द्विगुणगुणयुक्त वर्गणा के द्रव्य' ऐसा सूत्र प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि इस प्रकार का सूत्र उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार दो गुण युक्त वर्गणा के द्रव्य शलाकाओं की दृष्टि से पूर्व की शलाकाओं से अनन्त-भागहीन हैं।

शङ्का—जिस प्रकार पारिणामिक भाव रूप से स्थित हुए परमाणु रूप पुद्गलों में एक परमाणु के सम्बन्ध का निमित्तभूत वर्गणा गुण सम्भव है, उस प्रकार जीव से अवेद रूप इन औदारिकशरीर पुद्गलों में क्यों सम्भव नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व आदि कारणों से बन्ध होते समय ही जिसमें सब जीवों से अनन्तगुणे बन्धन गुणवृद्धि को प्राप्त हुए हैं तथा जीवों से पृथक् होकर भी जिन्होंने औदयिक भाव का त्याग नहीं किया है, ऐसे औदारिक परमाणुओं में अनन्त बन्धनगुण उपलब्ध होते हैं।[३] इसी प्रकार

---

१. "न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥" [तत्त्वार्थसूत्र अ. ५]। २. "जे दुगुणजुत्तवग्गणाए दव्वा ते विसेसहीणा अणंतेहि विस्सासुवचएहि उवचिदा ॥५४०॥" [धवल पु. १४ पृ. ४५०]। ३. धवल पु. १४ पृ. ४५०-४५१।

तीन, चार, पाँच, संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त गुणयुक्त वर्गणा के जो द्रव्य हैं वे विशेष हीन हैं और वे अनन्त विस्रसोपचयों से उपचित हैं ।।५४१।। इसी प्रकार चार शरीरों की अपेक्षा जानना ।[1]

कर्म और नोकर्म के उत्कृष्ट संचय का स्वरूप तथा स्थान

उक्कस्सट्ठिदिचरिमे सगसगउक्कस्ससंचओ होदि ।
पणदेहाणं वरजोगादिससामग्गिसहियाणं ।।२५०।।
आवासया हु भवअद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य ।
ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे ।।२५१।।

गाथार्थ—उत्कृष्ट योग आदि अपनी-अपनी सामग्री सहित पाँचों ही शरीर वालों के उत्कृष्ट स्थिति के अन्त समय में अपना-अपना उत्कृष्ट संचय होता है। कर्मों के उत्कृष्ट संचय से युक्त जीव के उत्कृष्ट संचय करने के लिए ये छह आवश्यक कारण होते हैं—भवाद्धा, आयुष्य, योग, संक्लेश, अपकर्षण, उत्कर्षण ।।२५०-२५१।।

विशेषार्थ—औदारिक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी तीन पल्य की आयु वाला उत्तरकुरु और देवकुरु का अन्यतर मनुष्य होता है।[2]

स्त्रीवेद और पुरुषवेद के कारण तथा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि गुणों के कारण द्रव्य विशेष नहीं होता, इस बात का ज्ञान कराने के लिए अन्यतर (कोई भी) पद का निर्देश किया गया है।

शङ्का—देवकुरु व उत्तरकुरु मनुष्य के अतिरिक्त अन्य के उत्कृष्ट स्वामित्व का किसलिए निषेध है ?

समाधान—क्योंकि अन्यत्र बहुत साता का अभाव है, क्योंकि असाता से औदारिक शरीर के बहुत पुद्गल का अपचय होता है।

शङ्का—उत्तरकुरु और देवकुरु के सब मनुष्य तीन पल्य की स्थिति वाले ही होते हैं, इसलिए 'तीन पल्य की स्थिति वाले के' यह विशेषण युक्त नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्तरकुरु व देवकुरु के मनुष्य तीन पल्य की स्थिति वाले ही होते हैं, ऐसा कहने का फल वहाँ पर शेष आयुस्थिति के विकल्पों का निषेध करना है।[3]

उसी मनुष्य ने प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योग से आहार ग्रहण किया।[4]

शरीर के योग्य पुद्गलपिण्ड का ग्रहण करना आहार है। तद्भवस्थ होने के द्वितीय या तृतीय

---

१. "एवं ति चदु-पंच-छ-सत्त-अट्ठ-णव-दस-संखेज्ज-असंखेज्ज-अणंत-अणंतणंतगुणजुत्तवग्गणाए दव्वा ते विसेसहीणा अणंतेहि विस्सासुवचएहि उवचिदा ।।५४१।। एवं चदुण्णं सरीराण ।।५४३।।" [धवल पु. १४ पृ. ४५२-५३]।
२. "ओरालियसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं कस्स ।।४१७।। अण्णदरस्स उत्तरकुरु-देवकुरु-मणुअस्सतिपलिदोवमट्ठिदियस्स ।।४१८।।" [धवल पु. १४ पृ. ३९७-३९८]। ३. धवल पु. १४ पृ. ३९८-३९९। ४. "तेणेव पढमसमय आहारएण पढमसमय तब्भवत्थेण उक्कस्सेण जोगेण आहारिदो ।।४१९।। [ध. पु. १४ पृ. ३९९]।

समय जो आहारक होता है उसका प्रतिषेध करने के लिए 'प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर आहार ग्रहण किया' यह विशेषण दिया है।

शङ्का—विग्रहगति से उत्पन्न होने में क्या दोष है?

समाधान—नहीं, क्योंकि दो समय में संचित हुए द्रव्य के अभाव का प्रसंग आता है। उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ ॥४२०॥[1] प्रथम समय के योग से द्वितीय समय का योग असंख्यातगुणा है। दूसरे समय के योग से तीसरे समय का योग असंख्यात गुणा है। इस प्रकार एकान्तानुवृद्धि योग के अन्तिम समय तक लेजाना चाहिए। जघन्य वृद्धि का प्रतिषेध करने के लिए 'उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ' यह कहा है।[2]

सबसे लघु अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ ॥४२१॥[3] छहों पर्याप्तियों के पूरे होने के काल जघन्य भी हैं और उत्कृष्ट भी हैं। उसमें अन्तर्मुहूर्त प्रमाण सर्व जघन्य काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ।

शंका—लघु अपर्याप्तकाल किसलिए ग्रहण किया जाता है?

समाधान—क्योंकि पर्याप्तकालीन परिणामयोग से अपर्याप्तकालीन एकान्तानुवृद्धियोग असंख्यातगुणे हीन होते हैं। अतः उनके द्वारा बहुत पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता। इसलिए अपर्याप्त काल लघु ग्रहण किया गया।

उसके बोलने के काल अल्प हैं ॥४२२॥[4] भाषा के व्यापार से जो परिश्रम होता है, उससे तथा भाषारूप पुद्गलों का अभिघात होने से बहुत औदारिक शरीर पुद्गलों की निर्जरा होने का प्रसंग आता है, इसलिए भाषाकाल स्तोक चाहिए।

मनोयोग के काल अल्प हैं ॥४२३॥[5] चिन्ता के कारण जो परिश्रम होता है, उससे गलने वाले पुद्गलों का निषेध करने के लिए "मनोयोग के काल अल्प हैं" यह कहा है।

छविच्छेद अल्प है ॥४२४॥[6] छवि शरीर को कहते हैं। उसके नख आदि का क्रियाविशेष के द्वारा खंडन करना छेद है। वे छेद वहाँ पर अल्प अर्थात् स्तोक हैं। जिनसे शरीरपीड़ा होती है, वे वहाँ अल्प हैं।

आयुकाल के मध्य कदाचित् विक्रिया नहीं की ॥४२५॥[7] तीन पल्य की आयु का पालन करते हुए कदाचित् विक्रिया नहीं की, क्योंकि औदारिक शरीर का त्याग कर विक्रिया रूप को ग्रहण करनेवाले के केवल औदारिक शरीर की निर्जरा होने का प्रसंग आता है। यह विक्रिया रूप शरीर भी औदारिक है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विक्रिया रूप शरीर के औदारिक होने का निषेध है।[8]

---

१. "उक्कस्सियाए वड्ढीए वड्ढिदो ॥४२०॥" [धवल पु. १४ पृ. ४००]। २. धवल पु. १४ पृ. ४००। ३. 'अंतोमुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो ॥४२१॥" [धवल पु. १४ पृ. ४००]। ४. "तस्स अप्पाओ भासद्धाओ ॥४२२॥" [धवल पु. १४ पृ. ४०१]। ५. "अप्पओ मणजोगद्धाओ ॥४२३॥" [धवल पु. १४ पृ. ४०१]। ६. "अप्पा छविच्छेदा ॥४२४॥" [धवल पु. १४ पृ. ४०१]। ७. "अंतरेण कदाइ विउव्विदो ॥४२५॥" [ध.पु. १४ पृ. ४०१]। ८. ध. पु. १४ पृ. ४०२।

जीवितव्य काल के स्तोक शेष रहने पर योग यवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा।[1] बहुत पुद्गलों का संग्रह करने के लिए वहाँ अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहा, क्योंकि अधिक काल तक वहाँ रहना सम्भव नहीं है। तीन पल्य प्रमाण काल के भीतर जब-जब सम्भव है तब-तब यवमध्य के ऊपर के योग स्थानों में ही परिणमन करता है।

अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहा ॥४२७॥[2] क्योंकि जो अन्तिम जीवगुणहानि है वहाँ आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल का आश्रय लेकर अन्तिम योग से वहाँ के योग असंख्यातगुणे होते हैं किन्तु वहाँ पर आवली के असंख्यातवें भाग से अधिक काल तक ठहरना सम्भव नहीं है। यवमध्य के ऊपर रहता हुआ जब-जब सम्भव है तब-तब अन्तिम जीवगुणहानि-स्थानान्तर में ही रहता है।

चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ ॥४२८॥,[3] क्योंकि योगवृद्धि से प्रदेशबन्ध की वृद्धि बहुत होती है, तथा उत्कृष्ट योग के साथ दो समय, तीन समय और चार समय को छोड़कर सर्वत्र भवस्थिति के भीतर बहुत काल तक परिणमन करने की शक्ति का अभाव है। इस भव में जब-जब सम्भव है, तब-तब उत्कृष्ट योग को ही प्राप्त हुआ है।

शङ्का—यहाँ पर संक्लेश का कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—क्योंकि मर कर ऋजुगति के प्राप्त होने पर कषाय की वृद्धिहानि से कोई प्रयोजन नहीं। संक्लेश के सद्भाव में अवलम्बन करण के करने से बहुत नोकर्मपुद्गलों के गलने का प्रसंग प्राप्त होता है, इसलिए संक्लेश वास का ग्रहण नहीं किया गया।

अन्तिम समय में तद्भवस्थ हुए उस जीव के औदारिकशरीर का उत्कृष्ट प्रदेशाग्र (प्रदेशसमूह) होता है ॥४२९॥[4]

उपसंहार—किसी मनुष्य या तिर्यंच ने दान या दान के अनुमोदन से तीन पल्य की स्थितिवाले देवकुरु या उत्तरकुरु के मनुष्य की आयु का बन्ध किया। इस प्रकार इस क्रम से मरकर ऋजु गति से देवकुरु या उत्तरकुरु में मनुष्य उत्पन्न हुआ। पुनः प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट उपपादयोग से आहार ग्रहण कर, उन ग्रहण किये गये नोकर्मप्रदेशों को तीन पल्य के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक गोपुच्छाकार से निक्षिप्त किया फिर द्वितीय समय से लेकर उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योग से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल तक असंख्यातगुणित श्रेणिरूप से नोकर्म प्रदेशों को ग्रहण कर तीन पल्यप्रमाण काल में निक्षिप्त किया। पुनः अतिशीघ्र पर्याप्तियों को समाप्त करके और परिणामयोग को प्राप्त होकर उपर्युक्त कही गई विधि से आकर जो अन्तिम समय में स्थित होता है, वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है।[5]

वैक्रियिकशरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी बाईस सागर की स्थितिवाला आरण और

---

१. "थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति जोगजवमज्झस्सुवरिमंतो मुहुत्तद्धमच्छिदो ॥४२६॥ धवल पु. १४ पृ. ४०२।
२. "चरिमे जीवगुणहाणिट्ठाणंतरे आवलियाए असंखेज्जदिभागमच्छिदो ॥४२७॥" [धवल पु. १४ पृ. ४०३]।
३. "चरिम-दुचरिमसमए उक्कस्सजोगं गदो ॥४२८॥" [धवल पु. १४ पृ. ४०३]। ४. "तस्स चरिम समयतब्भवत्थस्स तस्स ओरालियसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं ॥४२९॥" [ध.पु. १४ पृ. ४०४]। ५. ध.पु. १४ पृ. ४०४-४०५।

अच्युत कल्पवासी अन्यतर देव है ।।४३१-४३२।।[1] सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि के निमित से द्रव्य विशेष नहीं होता।

शङ्का—दीर्घ आयुवाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में उत्कृष्ट स्वामी क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि नौ ग्रैवेयक आदि ऊपर के देवों में उत्कृष्ट योग के परावर्तन के बार प्रचुरमात्रा में नहीं उपलब्ध होते।

ऊपर अवगाहना ह्रस्व है, इसलिए वहाँ पर स्वामित्व नहीं कहा गया, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि योग के वशसे आनेवाले कर्म व नोकर्म पुद्गलों की अवगाहना विशेष के कारण संख्याविशेष उत्पन्न नहीं होती।[2]

शङ्का—नीचे के देवों में उत्कृष्ट स्वामित्व क्यों नहीं कहा गया?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर लम्बी आयु का अभाव है।

शङ्का—सातवीं पृथिवी के नारकियों की आयु लम्बी होती है और उत्कृष्ट योग भी है, वहाँ उत्कृष्ट स्वामित्व क्यों नहीं कहा?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ संक्लेशों की बहुलता है, इसलिए उनमें बहुत नोकर्मों की निर्जरा होती है।

उसी देव ने प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योग से आहार ग्रहण किया ।।४३३।। उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण सर्व लघु-काल के द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ ।।४३५।। उसके बोलने के काल अल्प हैं ।।४३६।। मनोयोग के काल अल्प हैं ।।४३७।। उसके छविच्छेद नहीं होते ।।४३८।। क्योंकि वैक्रियिक शरीर में छेद व भेद आदिक नहीं पाये जाते। उसने अल्पतर विक्रिया की ।।४३९।। क्योंकि बहुत विक्रिया करने से बहुत परमाणु पुद्गलों के गलन होने का प्रसंग प्राप्त होता है। जीवितव्य के स्तोक शेष रहने पर वह योग यवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा ।।४४०।। अन्तिम जीव गुणहानिस्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग काल तक रहा ।।४४१।। चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ ।।४४२।। अन्तिम समय में तद्भवस्थ हुए उस जीव के वैक्रियिक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र होते हैं ।।४४३।।[3]

आहारक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी उत्तर शरीर की विक्रिया करनेवाला अन्यतर प्रमत्तसंयत जीव है ।।४४५-४४६।। अवगाहना आदि की अपेक्षा द्रव्य भेद नहीं है। प्रमाद के होने पर संयत के आहारक शरीर का उदय होता है। उसी जीव ने प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योगद्वारा आहार को ग्रहण किया।[4]

---

१. वेउव्वियसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं कस्स ।।४३१।। अण्णदरस्स आरण-अच्चुद कप्पवासियदेवस्स बावीस-सागरोवमट्ठिदियस्स ।।४३२।।" [धवल पु. १४ पृ. ४११]। २. धवल पु. १४ पृ. ४११। ३. धवल पु. १४ पृ. ४१२-४१३। ४. "उक्कस्सपदेण आहारसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं कस्स। अण्णदरस्स पमत्तसंजदस्स उत्तरसरीरं विउव्वियस्स ।।४४६।।" [धवल पु. १४ पृ. ४१४]।

शङ्का—आहारक शरीर का 'प्रथम समय तद्भवस्थ' विशेषण कैसे बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि औदारिक शरीर को छोड़कर आहारकशरीररूप से परिणत हुए जीव का अवान्तरगमन है, इसलिए 'प्रथमसमयतद्भवस्थ' विशेषण बन जाता है।[1]

उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ ।।४४८।। सबसे लघु अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ ।।४४९।। उसके बोलने के काल अल्प हैं ।।४५०।। मनोयोग के काल अल्प हैं ।।४५१।। छविच्छेद नहीं हैं ।।४५२।। निवृत्त होने के काल के थोड़ा शेष रह जाने पर योगयवमध्यस्थान के ऊपर परिमित्तकाल तक रहा ।।४५३।। अन्तिम जीवगुणहानि स्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहा ।।४५४।। चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ ।।४५५।। निवृत्त होनेवाला वह जीव अन्तिम समय में आहारक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी है ।।४५६।।

औदारिक शरीर सम्बन्धी कथन में विशेष रूप से कथन हो चुका है तथापि जो विशेषता है, उसका कथन इस प्रकार है—प्रमत्तसंयत आहारक शरीर को उत्पन्न करता हुआ अपर्याप्त काल में अपर्याप्तयोग वाला होता है अन्यथा उत्कृष्ट वृद्धि द्वारा आहारक मिश्र काल के वृद्धि नहीं बन सकती। दूसरे, निषेक-रचना करने पर अवस्थित रूप से ही निषेकरचना होती है, गलितावशेष निषेकरचना नहीं होती।

शङ्का—यह किस कारण जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि आहारकशरीर की निर्जरा होने का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा गया है।

यदि कहा जाय कि कालभेद के बिना एक ही समय में निक्षिप्त हुए प्रदेशों का एक समय के बिना अन्तर्मुहूर्त में गलना सम्भव है सो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने में विरोध आता है। इसी प्रकार तिर्यंच और मनुष्यों में वैक्रियिकशरीर की निषेक-रचना कहनी चाहिए, अन्यथा वहाँ पर क्षीण होने का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होने में विरोध आता है।[2]

तैजस शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी अन्यतर पूर्वकोटि की आयुवाला जीव जो नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों के आयु कर्म का बन्ध करता है ।।४६०।। जो पूर्वकोटि आयुवाला जीव सातवीं पृथिवी के नारकियों में आयुकर्म का बन्ध करता है वह तैजसशरीर के छ्यासठ सागर प्रमाण स्थिति के प्रथमसमय से लेकर अन्तिम समय तक गोपुच्छाकाररूप से निषेक रचना करता है। जो सातवीं पृथिवी के नारकियों की आयु का बन्ध करता हुआ स्थित है वही तैजस शरीरनोकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है, ऐसा नहीं ग्रहण करना चाहिए, किन्तु जो पूर्वकोटि की आयुवाला पर्याप्त और उत्कृष्ट योगवाला जीव आगे पूर्वकोटि के त्रिभाग शेष रहने पर सातवीं पृथिवी के नारकियों की आयु का बन्ध करने में समर्थ है, वह तैजसशरीर नोकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पूर्वकोटि की आयुवाला बाँधता है, इस प्रकार के नियम करने का कोई फल नहीं रहता।

---

१. ध.पु. १४ पृ. ३३९। २. धवल पु. १४ पृ. ४१५।

शङ्का—पूर्वकोटि की आयुवाले जीव के ही तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध क्यों कराया ?

समाधान—क्योंकि वहाँ पर उत्कृष्ट योग के परावर्तन के बार प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

शङ्का—यदि ऐसा है तो पूर्वकोटि की आयुवालों में ही भ्रमण कराकर तैजसशरीर नोकर्म का उत्कृष्ट संचय क्यों नहीं प्राप्त होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहुत बार मरकर उत्पन्न होनेवाले जीव के अपर्याप्त योगों के द्वारा स्तोक द्रव्य के संचय का प्रसंग प्राप्त होता है।

नारकियों की आयु का बन्ध होते समय कुछ कम दो पूर्वकोटि से हीन तेंतीस सागर की आयु का बन्ध होना चाहिए, अन्यथा नारकी के अन्तिम समय में छ्यासठ सागर की परिसमाप्ति होने में विरोध आता है।[1]

जो पूर्वकोटि की आयुवाला उपर्युक्त विवक्षित जीव सातवीं पृथिवी के नारकियों के आयुकर्म का बन्ध करता है वह क्रम से मरा और नीचे सातवीं पृथिवी में उत्पन्न हुआ।४६१।।[2]

कदलीघात के बिना जीवन धारण कर मरा।

शङ्का—सातवीं पृथिवी में ही क्यों उत्पन्न कराया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर संक्लेश के कारण बहुत द्रव्य का उत्कर्षण उपलब्ध होता है। तथा अन्यत्र इस प्रकार का संक्लेश नहीं पाया जाता।

शंका—आयु के प्रमाण का कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—उस की आयु कुछ कम होती है, इसलिए आयु के प्रमाण का कथन नहीं किया। वहाँ से निकलकर फिर भी पूर्वकोटि की आयुवालों में उत्पन्न हुआ ।।४६२।।[3]

शङ्का—पुनः पूर्वकोटि की आयुवालों में क्यों उत्पन्न हुआ ?

समाधान— क्योंकि वहाँ पर उत्कृष्ट योग के परावर्तन के वार प्रचुरता से पाये जाते हैं।

उसी क्रम से आयु का पालन करके मरा और पुनः नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ ।।४६३।।[4] अर्थात् कदलीघात और अपवर्तनाघात के बिना जीवन धारण कर मरा। दूसरी पूर्वकोटि के अन्त में प्रथम तेंतीस सागर समाप्त करके तेंतीस सागर की आयुवाले नारकियों में उत्पन्न हुआ। तीनों अपर्याप्त कालों (दो नरक के और एक तिर्यंच का) के प्रथम समय में आहारक हुए और प्रथम समय में तद्भवस्थ हुए उसी जीव ने उत्कृष्ट योग से आहारक को ग्रहण

---

१. ध. पु. १४ पृ. ४१६-४१७। २. "कमेण कालगदसमाणो अधो सत्तमाए पुढविए उववण्णो ।।४६१।। [धवल पु. १४ पृ. ४१७] ३. "तदो उवट्टिदसमाणो पुणरावे पुव्वकोडाउए सुववण्णो" ।।४६२।। [ध. पु. १४ पृ. ४१८]। ४. ४६३ से ४७४ तक के सूत्र पृ. ४१८-४२१ तक ध. पु. १४ में हैं।

किया ॥४६४॥ पर्याप्त काल बढ़ाने के लिए विग्रहगति से उत्पन्न होने का निषेध किया गया।

उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ ॥४६५॥ सबसे अल्प अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ ॥४६६॥ वहाँ तेंतीस सागर आयुप्रमाण भवस्थिति का पालन करता हुआ बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है। बहुत-बहुत बार विपुल संक्लेश परिणाम वाला होता है ॥४६७, ४६८, ४६९॥ बहुत पुद्गलों का संग्रह करने के लिए उत्कृष्ट योग-वालों में घुमाया। संचित हुए तैजस पुद्गलों का उत्कर्ष करने के लिए संक्लेश का कथन आया है। औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारकशरीर के पुद्गलों का उत्कर्ष नहीं होता, क्योंकि उन शरीरों के कथन में संक्लेश का कथन नहीं आया है। इस प्रकार परिभ्रमण करके जीवितव्य के स्तोक शेष रहने पर योग यवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक ठहरा ॥४७०॥ अन्तिम जीव-गुणहानि स्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहा ॥४७१॥ द्विचरम और त्रिचरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुआ ॥४७२॥ चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ ॥४७३॥ चरमसमयवर्ती तद्भवस्थ वह जीव तैजस शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी है ॥४७४॥ छ्यासठ सागर स्थिति के प्रथम समय में जो तैजस शरीर पुद्गल स्कन्ध बँधा था, स्वामित्व के अन्तिम समय में वह अन्तिम गोपुच्छ मात्र शेष रहता है जो कर्मस्थिति के द्वितीय समय में बाँधा वह स्वामित्व के अन्तिम समय में चरम और द्विचरम गोपुच्छ मात्र शेष रहता है [इसी प्रकार चलते हुए कर्मस्थिति के अन्तिम समय में बाँधा हुआ समयप्रबद्ध पूर्णरूपेण (पूरा का पूरा) शेष रहता है।] इस प्रकार अन्तिम समय में डेढ़ गुणहानि मात्र समयप्रबद्ध प्रमाण तैजस शरीर का द्रव्य होता है। कार्मणशरीर प्रदेशाग्र का स्वामी निम्न जीव है—

जो जीव बादर पृथिवीकायिक जीवों में कुछ अधिक दो हजार सागरोपम से कम कर्मस्थिति प्रमाणकाल तक रहा।[1]

शङ्का—अप्कायिक, वायुकायिक व वनस्पतिकायिक जीवों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनके पर्याप्त व अपर्याप्त योग से पृथिवीकायिक जीवों का पर्याप्त व अपर्याप्त योग असंख्यातगुणा है।[2]

शङ्का—बादर पृथिवीकायिकों में सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण काल तक क्यों नहीं घुमाया?

समाधान—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रियों में त्रसों का योग और आयु असंख्यातगुणी होती है और वे संक्लेश-बहुल होते हैं, इसलिए पृथिवीकायिकों में घुमाने के पश्चात् त्रसों में घुमाया। यदि एकेन्द्रियों में ही रखते तो इनकी अपेक्षा त्रसों में जो असंख्यातगुणे द्रव्य का संचय होता है वह नहीं प्राप्त होता। यही कारण है कि सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण काल तक एकेन्द्रियों में नहीं घुमाया है।

शङ्का—त्रसकायिकों में अपनी स्थिति प्रमाण काल के भीतर उत्कृष्ट द्रव्य का संचय करके पुनः बादर पृथिवीकायिकों में उत्पन्न होकर वहाँ अन्तर्मुहूर्त रह कर फिर त्रसस्थितिकाल तक त्रसों में भ्रमण करके एकेन्द्रियों में उत्पन्न कराते। इस प्रकार कर्मस्थितिप्रमाण काल तक क्यों नहीं घुमाया?

---

१. ध.पु. १० पृ. ३२। २. ध.पु. १० पृ. ३३।

समाधान—नहीं, क्योंकि त्रस स्थिति को पूर्ण करके जो जीव एकेन्द्रिय में उत्पन्न होता है, उसका त्रसों में संचित हुए द्रव्य को बिना गाले निकलना नहीं होता।[1]

वहाँ (बादर पृथिवीकायिकों) में परिभ्रमण करने वाले जीव के पर्याप्तभव बहुत और अपर्याप्तभव थोड़े होते हैं ।।८।।[2] उत्पत्ति के वारों का नाम भव है।

शङ्का—पर्याप्तों में ही बहुत बार क्यों उत्पन्न कराया ?

समाधान—अपर्याप्तकों के योगों से पर्याप्तकों के योग असंख्यातगुणे पाए जाते हैं।

शङ्का—योगों की बहुलता क्यों अभीष्ट है।

समाधान—योग से प्रदेशों की अधिकता सिद्ध होती है।[3]

पर्याप्तकाल दीर्घ और अपर्याप्तकाल थोड़े होते हैं ।।९।। अर्थात् पर्याप्तकों में उत्पन्न होता हुआ दीर्घ आयु वालों में ही उत्पन्न होता है और अपर्याप्तों में उत्पन्न होता हुआ अल्प आयुवालों में ही उत्पन्न होता है।[4] दीर्घ आयुवाले पर्याप्तों में उत्पन्न होकर भी सबसे अल्प काल द्वारा पर्याप्तियों को पूर्ण करता है।[5]

जब-जब आयु को बाँधता है तब-तब उसके योग्य जघन्य योग से बाँधता है।[6] कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशसंचय कराने के लिए जघन्य योग से ही आयु का बन्ध कराया जाता है अन्यथा उत्कृष्ट संचय नहीं हो सकता। उत्कृष्टयोग के काल में आयु का बंध होने पर, जघन्ययोग से आयु को बाँधने वाले के कर्मों का जो क्षय होता है, उससे असंख्यातगुणे द्रव्य का क्षय देखा जाता है।[7]

उपरिम स्थितियों के निषेक का उत्कृष्टपद होता है और अधस्तन स्थितियों के निषेकों का जघन्यपद होता है ।।११।।[8] एकेन्द्रियों में यद्यपि उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध एक सागर है। तथापि एक सागर काल बीतने पर समयप्रबद्ध के सब कर्मस्कन्ध नहीं गलते, क्योंकि उत्कर्षण द्वारा उनका स्थिति-सत्त्व बढ़ा लिया जाता है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो अनन्तकाल तक उत्कर्षण कराकर संचय को क्यों नहीं ग्रहण किया जाता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कर्मस्कन्धों की उतने काल तक उत्कर्षण शक्ति का अभाव है। 'व्यक्त अवस्था को प्राप्त हुई कर्म-स्थिति शक्ति-रूप कर्म-स्थिति का अनुसरण करने वाली होती है।[9]

अथवा बध्यमान और उत्कर्षमाण प्रदेशाग्र को निक्षिप्त करता हुआ गुणित कर्मांशिक जीव अंतरंग कारणवश प्रथम स्थिति में थोड़े प्रक्षिप्त करता है द्वितीय स्थिति में विशेष अधिक प्रक्षिप्त करता है, तृतीय स्थिति में विशेष अधिक प्रक्षिप्त करता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति के प्राप्त

---

१. ध. पु. १० पृ. ३४। २. ध. पु. १० पृ. ३५। ३. ध. पु. १० पृ. ३६। ४. ध.पु १० पृ. ३७। ५. ध.पु. १० पृ. ३८। ६. धपु. १० पृ. ३८। ७. ध.पु. १० पृ. ३९। ८. ध.पु. १० पृ. ४०। ९. "वत्तिकम्मट्ठिदि अणुसारिणी सत्ति कम्मट्ठिदि त्ति वयणादो।" [ध.पु. १० पृ. ४२]।

होने तक विशेष अधिक के क्रम से प्रक्षेप करता है।[1] इस विलोम विन्यास का कारण गुणितकर्मांशिकत्व और अनुलोम विन्यास का कारण क्षपितकर्मांशिकत्व है, न कि संक्लेश और विशुद्धि।[2]

बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है ॥१२॥[3] बहुत-बहुत बार बहुत संक्लेश रूप परिणामवाला होता है ॥१३॥ द्रव्य का उत्कर्षण कराने के लिए और उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध कराने के लिए बहुत-बहुत बार संक्लेश रूप परिणामों को प्राप्त कराया जाता है।[4]

इस प्रकार परिभ्रमण करके बादर त्रस पर्याप्तकों में उत्पन्न हुआ, अभिप्राय यह है कि त्रस स्थिति से रहित कर्मस्थिति प्रमाण काल तक एकेन्द्रियों में परिभ्रमण करके फिर बादर त्रस पर्याप्तकों में उत्पन्न हुआ।

शङ्का—बादर शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ?

समाधान—सूक्ष्मता का निषेध करने के लिए।

शङ्का—त्रस कहने से ही सूक्ष्मता का प्रतिषेध हो जाता है, क्योंकि सूक्ष्म जीव त्रसों में नहीं पाये जाते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ पर सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जो सूक्ष्मता उत्पन्न होती है उसके बिना विग्रहगति में वर्तमान त्रसों की सूक्ष्मता स्वीकार की गई है। क्योंकि उनका शरीर अनन्तानन्त विस्रसोपचयों से उपचित औदारिकनोकर्मस्कन्धों से रहित है।[5]

त्रसों में परिभ्रमण करने वाले उक्त जीव के पर्याप्त भव बहुत होते हैं और अपर्याप्त भव थोड़े होते हैं ॥१५॥ पर्याप्त काल दीर्घ होता है और अपर्याप्त काल थोड़ा होता है ॥१६॥ जब-जब आयु को बाँधता है तब-तब उसके योग्य जघन्य योग से बाँधता है ॥१७॥ उपरिम स्थितियों के निषेक का उत्कृष्ट पद होता है और नीचे की स्थितियों के निषेक का जघन्यपद होता है ॥१८॥ बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है ॥१९॥ बहुत-बहुत बार बहुत संक्लेश परिणाम वाला होता है ॥२०॥[6]

इस प्रकार परिभ्रमण करके अन्तिम भवग्रहण में नीचे सातवीं पृथिवी के नारकियों में उत्पन्न हुआ ॥२१॥ उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थिति को बाँधने के लिए और उत्कृष्ट उत्कर्षण कराने के लिए सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। कर्म-स्थिति को बढ़ाने का नाम उत्कर्षण है। कर्मप्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम अपकर्षण है। अन्य नरक पृथिवियों में तीव्र संक्लेश और दीर्घ आयु स्थिति का अभाव है।[7]

प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योग के द्वारा कर्म-पुद्गलों को ग्रहण किया ॥२२॥ उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ ॥२३॥ अन्तर्मुहूर्त द्वारा अतिशीघ्र सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ ॥२४॥ एक भी पर्याप्ति के अपूर्ण रहने पर पर्याप्तकों में

---

१. ध. पु. १० पृ. ४३। २. ध. पु. १० पृ. ४४। ३. ध.पु. १० पृ. ४५। ४. ध. पु. १० पृ. ४६। ५. ध.पु. १० पृ. ४७-४८। ६. ध.पु. १० पृ. ५०-५१। ७. ध.पु. १० पृ. ५२-५३।

परिणामयोग नहीं होता किन्तु धवल पु. १० पृ. ४२२, ४२७ व ४३१ पर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने के प्रथम समय से परिणामयोग होता है ऐसा कहा गया है।[1] अपर्याप्तयोग से पर्याप्त योग असंख्यात गुणा होता है इसलिए सर्व लघु काल में पर्याप्त हुआ ऐसा कहा गया है।[2] वहाँ भवस्थिति तेंतीस सागरोपम प्रमाण है ॥२५॥ आयु का उपभोग करता हुआ बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है ॥२६॥ बहुत-बहुत बार बहुत संक्लेश परिणाम वाला होता है ॥२७॥ इस प्रकार परिभ्रमण करके जीवन के थोड़ा शेष रह जाने पर योग यवमध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित रहा ॥२८॥[3] अन्तिम जीव गुणहानि स्थान में आवली के असंख्यातवें भाग काल तक रहा ॥२९॥[4] द्विचरम व त्रिचरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुआ ॥३०॥ चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ ॥३१॥ उस चरम समय में तद्भवस्थ जीव के कार्मण शरीर उत्कृष्ट होता है ॥३२॥[5]

पाँच शरीरों की उत्कृष्टस्थिति का प्रमाण

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसांतेमुहुत्त उवहीणं।
छावट्ठी कम्मट्ठिदि बंधुक्कस्सट्ठिदी ताणं ॥२५२॥

गाथार्थ—तीन पल्य, तेंतीस सागर, अन्तर्मुहूर्त, छयासठ सागर और कर्मस्थितिबंध प्रमाण इन पाँचों शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५२॥

विशेषार्थ—औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य प्रमाण है, क्योंकि औदारिक शरीर मनुष्य व तिर्यंचों के होता है। मनुष्य और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य प्रमाण होती है।[6] अतः औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य प्रमाण कही है। वैक्रियिक शरीर देव व नारकियों के होता है।[7] उनकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर है।[8] अतः वैक्रियिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर कही गई है। आहारक शरीर का स्वामी प्रमत्तसंयत है।[9] प्रमत्तसंयत गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है।[10] अतः आहारक शरीर की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कही गई।

तैजसशरीर और कार्मणशरीर इन दोनों शरीरों का सब जीवों के अनादिकाल से सम्बन्ध है।[11] अतः इनकी स्थिति विवक्षित समयप्रबद्ध की अपेक्षा से कही गई है।

---

१. ध.पु. १० पृ. ५४-५५ "एक्काए वि पज्जत्तीए असमत्ताए पज्जत्तएसु परिणामजोगो ण होदि त्ति।" [ध. पु. १० पृ. ५५] "सो जहण्णपरिणामजोगो तेसिं कत्थ होदि ? सरीरपज्जत्तीएपज्जत्तयदस्स पढमसमए चेव होदि।" [ध.पु. १० पृ. ४२२,४२७,४३१] अर्थात् शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने के प्रथम समय में परिणाम योग होता है। यह दूसरा मत है। २. ध. पु. १० पृ. ५५। ३. ध. पु. १० पृ. ५५-५७। ४. ध.पु. १० पृ. ६८। ५. ध पु. १० पृ. १०७-१०९। तथा पृ. २२४ सूत्र ३४। ६. "नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥" (तत्त्वार्थसूत्र अ. ३)। ७. "देवनारकाणामुपपादः ॥२/३४॥ औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥२/४६॥" (तत्त्वार्थसूत्र)। ८. "महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिरिति ॥३/४/३। विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिः ॥४/३२/३" (राजवार्तिक)। ९. "शुभं विशुद्धमव्याघातिचाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥" (तत्त्वार्थसूत्र अ. २)। १०.धवल पुस्तक ४। ११. "अनादिसंबन्धे च ॥४१॥ सर्वस्य ॥४२॥" (तत्त्वार्थ सूत्र अ. २)।

जो प्रदेशाग्र तैजसशरीररूप से प्रथम समय में बाँधे जाते हैं उनमें से कुछ एक समय तक रहते हैं, कुछ दो समय तक रहते हैं, कुछ तीन समय तक रहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट रूपसे छयासठ सागर काल तक रहते हैं ॥२४७॥ अर्थात् अनादि से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव के जहाँ कहीं भी स्थापित करके तैजसशरीर की प्रदेशरचना उपलब्ध होती है।[1]

जो प्रदेशाग्र कार्मण शरीर रूप से बाँधे जाते हैं उनमें से कुछ एक समय अधिक आवली प्रमाणकाल तक रहते हैं, कुछ दो समय अधिक आवलीप्रमाणकाल तक रहते हैं और कुछ तीन समय अधिक आवली प्रमाणकाल तक रहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट रूप से कर्मस्थिति प्रमाणकाल तक रहते हैं ॥२४८॥[2] यहाँ पर कर्मस्थिति ऐसा कहने पर सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आठों कर्मों के समुदाय को कार्मण शरीर रूप से स्वीकार किया गया है। प्रथम समय जो प्रदेशाग्र बाँधे जाते हैं उनमें से कुछ एक समय अधिक आवली काल तक रहते हैं, क्योंकि बन्धावली के बाद के समय में द्रव्य का अपकर्षण करके उदय में निक्षिप्त करने पर उस विवक्षित एक समय अधिक आवली रूप उदय समय उदीयमान कर्मप्रदेश का अवस्थान काल एक समयाधिक आवली होता है तथा ऐसे उस कर्मप्रदेश में लाये गये द्रव्य का दो समय अधिक आवली के अन्तिम समय में अकर्मपना देखा जाता है।[3]

उपसंहार—एक जीव की अपेक्षा, मिश्र काल अर्थात् अपर्याप्त काल को छोड़कर पाँचों शरीरों का काल इस प्रकार है—तिर्यंच और मनुष्यों के औदारिक शरीर का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्योपम प्रमाण है। यहाँ पर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिश्रकाल कम किया गया है। मूल वैक्रियिक शरीर का काल जघन्य से अपर्याप्त काल सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त कम दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त कम तैंतीस सागर है। उत्तर वैक्रियिक शरीर का काल देवों के जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

शङ्का—तीर्थंकरों के जन्मोत्सव तथा नन्दीश्वर द्वीप में जिनचैत्यालयों की पूजन में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल लगता है। वहाँ देवों का उत्तर वैक्रियिक शरीर इतने काल तक कैसे रहता है?

समाधान—पुनःपुनः विक्रिया करने से उत्तर वैक्रियिक शरीर की सन्तति का विच्छेद नहीं होता।

आहारक शरीर का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सन्तति की अपेक्षा तैजस व कार्मण शरीर अभव्यों के अनादि-अनन्त हैं। किसी भव्य के अनन्त काल तक भी सान्त नहीं होते। किसी भव्य के अनादि सान्त है। सन्ताननिरपेक्ष तैजस शरीर की स्थिति छयासठ सागर है और कार्मण शरीर की स्थिति कर्मस्थिति प्रमाण अर्थात् सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण है।[4]

पाँचों शरीरों के गुणहानि आयाम का प्रमाण

अंतोमुहुत्तमेत्तं गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं।
पल्ला संखेज्जदिमं गुणहाणी तेजकम्माणं ॥२५३॥

---

१. धवल पु. १४ पृ. ३३५। २. धवल पु. १४ पृ. २३५। ३. धवल पु. १४ पृ. २३५-२३६। ४. राजवार्तिक २/४९/८।

गाथार्थ—आदि के तीन शरीरों का गुणहानि-आयाम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। तैजस शरीर और कार्मण शरीर इन दोनों का गुणहानि आयाम पल्य के असंख्यातवें भाग है ।।२५३।।

विशेषार्थ—प्रथम निषेक के द्रव्य को निषेक भागाहार (दो गुणहानि) से भाग देने पर चय का प्रमाण प्राप्त होता है। प्रत्येक निषेक एक-एक चय हीन होता जाता है। प्रथम निषेक के द्रव्य से घटते-घटते जब तक प्रथम निषेक के द्रव्य का आधा होता है तब तक एक गुणहानि आयाम है। दोगुणा हीन अर्थात् आधा हो जाने पर द्वितीय गुणहानि का प्रारम्भ हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक गुणहानि में द्रव्य दो गुणा हीन (अर्ध) होता जाता है, अतः इसका नाम गुणहानि सार्थक है। एक गुणहानि में जितने निषेक होते हैं उनका नाम गुणहानि आयाम या गुणहानि अध्वान होता है।[1]

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर की एक गुणहानि की लम्बाई का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है और तीनों गुणहानि स्थानान्तर समान हैं।[2] परन्तु तैजस शरीर और कार्मण शरीर की गुणहानि का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र है;[3] जो अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति को अपनी-अपनी नानागुणहानियों से भाग देने पर प्राप्त होता है।

औदारिक और वैक्रियिक इन दोनों शरीरों के भव के प्रथम समय में जो प्रदेशाग्र निषिक्त होते हैं, उससे ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल (एक गुणहानि) जाकर वहाँ की स्थिति में निषिक्त (सिंचित) हुआ प्रदेशाग्र दुगुणाहीन होता है। पुनः द्विगुणहीन निषेक से ऊपर उतना ही अवस्थित अध्वान जाकर जो अन्य निषेक है वह उससे दुगुणा हीन है। इस प्रकार उत्कृष्ट रूप से तीन पल्य और तेंतीस सागर होने तक दुगुणाहीन होता जाता है। उत्तरोत्तर विवक्षित दुगुणे हीन निषेक से ऊपर अवस्थित अन्तर्मुहूर्त अध्वान जाकर स्थित निषेक दुगुणा हीन होता है। इस क्रम से तीन पल्य और तेंतीस सागर की अन्तिम स्थिति के प्राप्त होने तक ले जाना चाहिए।[4]

एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है तथा नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।।२७४।।[5] गुणहानिस्थानान्तर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है यह बात सूत्र से ही जानी जाती है, क्योंकि वह युक्ति की विषयता का उल्लंघन कर स्थित है। परन्तु नानागुणहानिशलाकाओं का प्रमाण सूत्र और युक्ति दोनों से जाना जाता है। अन्तर्मुहूर्त को यदि एक गुणहानि शलाका प्राप्त होती है तो तीनपल्य तथा तेंतीस सागरों की कितनी गुणहानिशलाकाएँ प्राप्त होंगी, इस प्रकार फलराशि से गुणित इच्छाराशि में प्रमाणराशि का भाग देने पर नानागुणहानिस्थानान्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण लब्ध प्राप्त होता है। एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तर स्तोक है, क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उससे नानागुणहानिस्थानान्तर असंख्यात गुणे हैं, गुणाकार पल्य का असंख्यातवाँ भाग है।[6]

अब आहारक शरीर के प्रदेशविन्यास विषयक प्ररूपणा की जाती है—प्रथम समय में आहारक हुए और प्रथम समय में तद्भवस्थ हुए जीव के द्वारा जो प्रथम समय में प्रदेशाग्र निक्षिप्त

---

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमदभयचन्द्र कृत टीका। २. धवल पु. १४ पृ. ३४० व ३८८। ३. धवल पु. १४ पृ. ३४० व ३४२। ४. ध. पु. १४ पृ. ३४६-३४७। ५. "एगपदेसगुणहाणिट्ठाणंतरमंतोमुहुत्तं णाणापदेसगुणहाणिट्ठाणंतराणि पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागो ।।२७४।।" [धवल १४ पृ. २४७]। ६. ध. पु. १४ पृ. ३४८।

होता है उससे अन्तर्मुहूर्त जाकर वह दुगुणाहीन हो जाता है ।।२७७।।[1]

शङ्का—औदारिक शरीर और वैक्रियिक शरीर के साथ ही आहारक शरीर की प्ररूपणा क्यों नहीं की ?

समाधान—क्योंकि गुणहानिशलाकाओं की संख्या में भेद है।

गुणहानि अवस्थित है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर संख्यात समय है। अन्तर्मुहूर्त की एक गुणहानिशलाका प्राप्त होती है तो आहारक शरीर के साथ रहने के प्रमाण काल के भीतर वे कितनी प्राप्त होंगी, इस प्रकार फलराशि से गुणित इच्छाराशि में प्रमाण-राशि का भाग देने पर संख्यात नानागुणहानिशलाकाएँ प्राप्त होती हैं। नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर स्तोक हैं, क्योंकि संख्यात हैं और उनसे एकप्रदेशगुणहानि स्थानान्तर असंख्यात गुणा है। गुणाकार अन्तर्मुहूर्त है।[2]

तैजस शरीरवाले और कार्मण शरीरवाले जीव के द्वारा तैजस शरीर और कार्मण शरीर रूप से प्रथम समय में जो प्रदेशाग्र निक्षिप्त होता है उससे पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर वह दुगुणा हीन होता है, पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर वह दुगुणा हीन होता है ।।२८२।। इस प्रकार उत्कृष्ट रूप से छ्यासठ सागर तथा कर्मस्थिति के अन्त तक दुगुणाहीन-दुगुणाहीन होता हुआ जाता है ।।२८३।। एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर पल्य के असंख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण है और नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर पल्य के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ।।२८४।। नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर स्तोक हैं ।।२८५।। उनसे एकप्रदेशगुणहानि-स्थानान्तर असंख्यातगुणा है ।।२८६।।[3]

औदारिकादि शरीरों के बन्ध, उदय और सत्त्व अवस्था में द्रव्य प्रमाण

एक्कं समयपबद्धं बंधदि एक्कं उदेदि चरिमम्मि।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं ।।२५४।।
णवरि य दुसरीराणं गलिदवसेसा उमेत्तठिदिबंधो।
गुणहाणीण दिवड्ढं संचयमुदयं च चरिमम्हि ।।२५५।।

गाथार्थ—प्रतिसमय एकसमयप्रबद्ध का बन्ध होता है और एक ही समयप्रबद्ध का उदय होता है। अन्त में डेढ़ गुणहानि प्रमाण समयप्रबद्ध द्रव्य का सत्त्व रहता है। किन्तु औदारिक और वैक्रियिक शरीर में यह विशेषता है कि इन दोनों शरीरों के बध्यमान समयप्रबद्धों की स्थिति भुक्त आयु से अवशिष्ट आयु की स्थिति प्रमाण होती है। आयु के अन्त समय में डेढ़ गुणहानि मात्र संचय तथा उदय होता है ।।२५४-२५५।।

---

१. "आहारसरीरिणा तेणेव पढमसमयआहारएण पढमसमयतब्भवत्थेण आहारसरीरत्ताए जं पढमसमए पदेसग्गं तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण दुगुणहीणं ।।२७७।।" [धवल पु. १४ पृ. ३४८] २. धवल पु. १४ पृ. ३४९। ३. ध. पु. १४ पृ. ३५०-३५१।

विशेषार्थ—तीन पल्यों के प्रथम समय में जो बद्ध नोकर्म है, उसे उन्हीं तीन पल्यों के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक गोपुच्छाकार रूप से निक्षिप्त करता है। जो दूसरे समय में बद्ध नोकर्मप्रदेशाग्र है उसे दूसरे समय से लेकर गोपुच्छाकार रूप से निक्षिप्त करता हुआ तब तक जाता है जब तक तोन पल्यों का द्वि चरम समय है। पुनः नोकर्मस्थिति के अन्तिम समय में विवक्षित समयप्रबद्ध के चरम व द्विचरम गोपुच्छ को निक्षिप्त करता है, क्योंकि ऊपर आयुस्थिति का अभाव है। तीसरे समय में बद्ध जो नोकर्म प्रदेशाग्र है उस तीसरे समय से लेकर निक्षिप्त करता हुआ तब तक जाता है जब तक द्विचरम समय प्राप्त होता है। अनन्तर अन्तिम समय में विवक्षित समय-प्रबद्ध के चरम, द्विचरम और त्रिचरम गोपुच्छों को निक्षिप्त करता है। पुनः इस प्रकार जाकर तीन पल्यों के द्विचरम समय में जो बद्ध नोकर्म प्रदेशाग्र है, उसके प्रथम गोपुच्छ को द्विचरम समय में निक्षिप्त करके पुनः शेष द्रव्य को अन्तिम समय में निक्षिप्त करता है। तीन पल्यों के अन्तिम समय में जो बद्ध नोकर्म है उसका पूरा पुंज बनाकर उसे अन्तिम समय में ही निक्षिप्त करता है।[1]

इस प्रकार तीन पल्य के अन्तिम समय में जो प्रदेशाग्र संचित होता है उसे जोड़ा जाय तो अन्तिम समय में संचित हुए कुलद्रव्य का प्रमाण डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण होता है।

इसी प्रकार वैक्रियिक शरीर आदि शेष चारों के विषय में जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि आहारकशरीर, तैजसशरीर और कार्मण शरीर में अवस्थित रूप से ही निषेकरचना होती है, गलितशेष निषेक रचना नहीं होती।[2] अर्थात् आहारक शरीर के प्रत्येक समयप्रबद्ध की निषेकरचना अन्तर्मुहूर्त के जितने समय हैं उतने प्रमाण होगी, (गलितावशेष कालमात्र प्रमाण ही नहीं), तैजस शरीर की निषेकरचना, छ्यासठ सागर के जितने समय हैं, उतने प्रमाण होती है। सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर के जितने समय हैं उनमें सात हजार वर्ष के समय घटाने पर जो शेष रहे तत्प्रमाण कार्मण शरीर की बन्ध के समय निषेकरचना होती है। प्रतिसमय एकसमयप्रबद्ध मात्र द्रव्य बँधता है, क्योंकि एक समय में बँधनेवाले कर्म व नोकर्म द्रव्य की समयप्रबद्ध संज्ञा है। किसी समय प्रबद्ध का प्रथम निषेक, किसी का द्वितीय निषेक, किसी-किसी का तृतीय चतुर्थादि निषेक और किसी का चरम निषेक, किसी का द्विचरम निषेक, किसी का त्रिचरम आदि निषेक, इन सबके युगपत् एक समय में उदय में आने से सब मिलकर एकसमयप्रबद्ध द्रव्य उदय में आता है ऐसा कहा जाता है। कहा भी है—

समयपबद्धपमाणं होदि तिरिच्छेण वट्टमाणम्मि।
पडिसमयं बंधुदओ एक्को समयप्पबद्धो दु ॥९४२॥
सत्तं समयपबद्धं दिवड्ढगुणहाणि ताडियं ऊणं।
तियकोणसरूवट्ठिददव्वे मिलिदे हवे णियमा ॥९४३॥[3]

—विवक्षित वर्तमान समय में एक समय प्रबद्ध बँधता है और एक समयप्रबद्ध मात्र द्रव्य उदय में आता है। ऐसा तिर्यग् रूप रचना से जाना जाता है। सत्त्व द्रव्य कुछ कम डेढ़गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण है। यह त्रिकोण रचना यंत्र के सब द्रव्य को जोड़ देने से नियम से इतना ही प्राप्त होता है ॥९४२-९४३॥

---

१. धवल पु १४ पृ. ४०६-४०७। २. धवल पु. १४ पृ. ४१५। ३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीका में त्रिकोणयंत्र दिया हुआ है। उस त्रिकोण यंत्र से यह सिद्ध हो जाता है कि डेढ़गुणहानि प्रमाण समयप्रबद्ध हमेशा सत्ता में रहता है, किन्तु औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर इन तीनों शरीरों का डेढ़गुणहानि समयप्रबद्ध अपनी-अपनी स्थिति के अन्तिम समय में होता है।

विशेष के लिए इस सम्बन्ध में गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ६४२ व ६४३ की टीका देखनी चाहिए।

ओरालियवरसंचं देवुत्तरकुरुवजादजीवस्स ।
तिरियमणुस्सस्स हवे चरिमदुचरिमे तिपल्लठिदिगस्स ।।२५६।।
वेगुव्वियवरसंचं बावीस-समुद्दआरणदुगम्हि ।
जह्मा वरजोगस्स य वारा अण्णत्थ णहि बहुगा ।।२५७।।
तेजासरीरजेट्ठं सत्तमचरिमम्हि बिदियवारस्स ।
कम्मस्स वि तत्थेव य णिरये बहुवारभमिदस्स ।।२५८।।

गाथार्थ—तीन पल्योपम की स्थितिवाले देवकुरु अथवा उत्तरकुरु में उत्पन्न हुए तिर्यंच या मनुष्य के चरम व द्विचरम समय में औदारिक शरीर का उत्कृष्ट संचय होता है ।।२५६।। बाईस सागर की आयुवाले आरण-अच्युत स्वर्ग के देवों में ही वैक्रियिक शरीर का उत्कृष्ट संचय होता है, क्योंकि उत्कृष्ट योग के बार आदि अन्यत्र बहुधा नहीं होते ।।२५७।। सप्तम पृथिवी में दूसरी बार उत्पन्न हुए नारकी के तैजस शरीर का उत्कृष्ट संचय होता है। अनेक बार नरकों में भ्रमण करके सप्तम पृथिवी में उत्पन्न हुए नारकी के अन्तिम समय में कार्मण शरीर का उत्कृष्ट संचय होता है ।।२५८।।

विशेषार्थ—गाथा २५६ में तीन पल्य की आयु वाले देवकुरु व उत्तरकुरु के मनुष्य व तिर्यंच दोनों को औदारिक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी कहा है, किन्तु धवल पु. १४ पृ. ३९८ सूत्र ४१८ में मात्र मनुष्य को स्वामी कहा है, वह सूत्र इस प्रकार है—

"अण्णदरस्स उत्तरकुरुदेवकुरुमणुअस्स तिपलिदोवमट्ठिदियस्स ।।४१८।।"

उपर्युक्त गाथा में चरम व द्विचरम दोनों समयों में स्वामी बताया गया है, किन्तु धवल पु. १४ सूत्र ४२९ में मात्र चरम समय में स्वामी बतलाया गया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

"तस्स चरिमसमयतब्भवत्थस्स तस्स ओरालियसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं ।।४२९।।"

गाथा २५७ में वैक्रियिक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र के स्वामित्व का कथन तो किया गया है, किन्तु समय का कथन नहीं है। धवल पु. १४ पृ. ४१३ सूत्र ४४३ में उसके स्वामित्व का काल चरम-समय बतलाया गया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

"तस्स चरिमसमयतब्भवत्थस्स तस्स वेउव्वियसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं ।।४४३।।"

इन गाथाओं में आहारक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र के स्वामी का कथन नहीं है, किन्तु धवल पु. १४ पृ. ४१४-४१५ सूत्र ४४५ से ४५६ तक आहारक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र के स्वामी का कथन है।

गाथा २५०-२५१ की टीका में इन पाँच शरीरों के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र के स्वामी का कथन धवल पु. १४ व धवल पु. १० के आधार पर विस्तारपूर्वक हो चुका है। पुनरुक्त दोष के कारण यहाँ पर कथन नहीं किया गया। गाथा २५०-२५१ के विशेषार्थ से देखना चाहिए।

ग्यारह गाथाओं द्वारा श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव योगमार्गणा में जीवों की संख्या का कथन करते हैं—

योगमार्गणा में जीवों की संख्या

बादरपुण्णा तेऊ सगरासीए असंखभागमिदा।
विक्किरियसत्तिजुत्ता पल्लासंखेज्जया बाऊ ॥२५९॥
पल्लासंखेज्जाहय–बिदंगुलगुणिदसेढिमेत्ता हु।
वेगुव्वियपंचक्खा भोगभुमा पुह विगुव्वंति ॥२६०॥

गाथार्थ—बादर पर्याप्त अग्निकायिक जीवराशि का असंख्यातवाँ भाग विक्रिया शक्ति से युक्त है। बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव विक्रियाशक्ति से युक्त हैं ॥२५९॥ पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित घनांगुल से जगच्छ्रेणी को गुणा करने पर पंचेन्द्रिय वैक्रियिक शक्ति वाले जीवों का प्रमाण आता है। भोगभूमिया पृथक्-विक्रिया भी करते हैं ॥२६०॥

विशेषार्थ—ओघ की अपेक्षा चार शरीर वाले जीव असंख्यात हैं अर्थात् जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण या असंख्यात ज.श्रे. प्रमाण है। उन जगच्छ्रेणियों की विष्कम्भ सूची पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र घनांगुलप्रमाण है।[1] इस संख्या में तिर्यंचों की प्रधानता है, क्योंकि मनुष्य में विक्रिया शक्तियुक्त जीव संख्यात होते हुए भी बहुत अल्प हैं। इसीलिये तिर्यंचों में विक्रिया करने वाली राशि पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र घनांगुलों से गुणित ज.श्रे. प्रमाण है।[2] पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त, त्रस और त्रसपर्याप्त जीवों का भङ्ग पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के समान कहा गया है,[3] इससे भी ज्ञात होता है कि पंचेन्द्रियतिर्यंचों की मुख्यता है। क्योंकि अग्निकायिक व वायुकायिक इन दोनों में भी मिलकर विक्रिया करने वाली राशि पल्योपम के असंख्यातवें भाग है।[4] किन्तु पंचेन्द्रियतिर्यंच,

---

१. "चदुसरीरा दव्वपमाणेण केवडिया ? असंखेज्जा, पदरस्स असंखे. भागो, असंखेज्जाओ सेढीओ, तासिं सेढीणं विक्खंभसूची पलिदो. असखे. भागमेतघणंगुलाणि।" [धवल पु. १४ पृ. २४९]। २. "तिरिक्खेसु विउव्वमाण-रासी पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेतघणंगुलेहि गुणिदसेढिमेत्तो।" [धवल पु. ३ पृ. ६६-६७]। ३. "पंचिंदिय-पंचिंदियपज्जत्ता तस-तसपज्जत्ता पंचिंदिय तिरिक्खभंगो।" [धवल पु. १४ पृ. २५१]। ४. "एइंदिय बादरइंदियपज्जत्ता चदुसरीरा दव्वपमाणेण केवडिया ? असंखेज्जा, पलिदो. असंखे. भागो।" [धवल पु. १४ पृ. २५०]।

पंचेन्द्रियतिर्यंच पर्याप्त और पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनी जीवों में चार शरीर वाले जीव द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा असंख्यात हैं जो जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।[1] अथवा पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनाङ्गुलों से ज.श्रे. को गुणित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने वहाँ चार शरीर वाले अर्थात् विक्रिया करने वालों का प्रमाण है।[2]

बादर अग्निकायिक पर्याय जीवराशि घनावली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। उसका भी असंख्यातवाँभाग विक्रिया शक्ति से युक्त है। पल्य के असंख्यातवें भाग बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव वैक्रियिक शक्ति युक्त हैं। विक्रिया शक्ति से युक्त बादर वायुकायिक और बादर अग्निकायिक दोनों मिलकर भी पल्य के असंख्यातवेंभाग प्रमाण हैं। विक्रिया शक्ति युक्त मनुष्य व तिर्यंच पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित घनांगुल से ज.श्रे. को गुणा करने पर जो लब्ध आवे तत्प्रमाण है। भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच और कर्मभूमिज मनुष्यों में चक्रवर्ती मूल शरीर से पृथक् उत्तर शरीररूप विक्रिया भी करते हैं।[3]

देवेहिं सादिरेया तिजोगिणो तेहिं हीण तसपुण्णा।
बियजोगिणो तदूणा संसारी एक्कजोगा हु ॥२६१॥

गाथार्थ—तीन योग वाले जीव देवों से कुछ अधिक होते हैं। तीन योगवाले जीवों को त्रस पर्याप्त राशि में से घटाने पर दो योग वाले जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। संसारी जीवों में से तीन योग वाले और दो योग वाले जीवों को कम करने पर एक योग वाली जीवराशि प्राप्त होती है ॥२६१॥

विशेषार्थ—ज्योतिषी देवों से साधिक समस्त देवों का प्रमाण है, क्योंकि वानव्यन्तर आदि शेष सम्पूर्ण देव ज्योतिषी देवों के संख्यातवें भाग प्रमाण है।[4] इस देवराशि में नारकी, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच व पर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण मिलाने से तीन योग वाले जीवों का प्रमाण आजाता है। सूच्यंगुल का प्रथम वर्गमूल गुणित द्वितीय वर्गमूल प्रमाण जगश्रेणियाँ नारकियों का प्रमाण है।[5] बादाल के घनप्रमाण मनुष्य राशि है।[6] संख्यात गुणित २५६ अंगुल के वर्ग से भाजित जगत्प्रतर-प्रमाण संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच हैं। इन तीन राशियों को देवराशि में मिलाने से साधिक देवराशि होती है।

शङ्का—इन तीन राशियों के मिलाने से देवराशि दुगुणी-तिगुणी आदि क्यों नहीं होती?

समाधान—नहीं, क्योंकि शेष तीन गति संबन्धी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या देवगति के संख्यातवें भाग प्रमाण है।[7]

---

१. धवल पु. १४ पृ. २४६। २. धवल पु. १४ पृ. ३०३। ३. श्रीमदभयचन्द्र सूरिकृत टीका।
४. "वाणवेंतरादि सेस सव्वेदेवा जोइसियदेवाणं संखेज्जदि भागमेत्ता हवंति।" [धवल पु. ३ पृ. २७५]।
५. "तासिं सेढीणं विक्खंभसूची अंगुलवग्गमूलं विदियवग्गमूलगुणिदेण ॥१७॥" [धवल पु. ३ पृ. १३१]।
६. "मणुसपज्जत्ता बादालवग्गस्स घणमेत्ता।" [धवल पु. ३ पृ. २५५]। ७. "सव्वे देव सण्णिणो चेय। तेसिं संखेज्जदि भागमेत्ता तिगदि सण्णिणो होंति।" [धवल पु. ३ पृ. ४८२]।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के ही मन, वचन और काय ये तीन योग होते हैं। संज्ञी जीवों की संख्या देवों से कुछ अधिक कही गई है।[1] त्रस पर्याप्त राशि में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी गर्भित हैं[2] जिनके वचन और काय ये दो योग होते हैं। अतः त्रस पर्याप्त राशि के प्रमाण (प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से भाजित जगत्प्रतर)[3] में से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का प्रमाण घटाने से शेष द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक की संख्या शेष रह जाती है जो वचन व काय योगी होते हैं। समस्त संसारी जीवराशि में से तीन योगवाले और दो योग वाले जीवों की संख्या घटाने पर शेष मात्र एक काययोगी जीवों की संख्या रह जाती है जो अनन्त है।[4]

इस प्रकार इस गाथा द्वारा त्रियोगी द्वियोगी और एकयोगी जीवों की संख्या का कथन किया गया है। तीन योगी और दो योगी जीव असंख्यात हैं और एक योगी जीव अनन्त हैं।

अंतोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा।
तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा ॥२६२॥

तज्जोगो सामण्णं काओ संखाहदो तिजोगमिदं।
सव्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी ॥२६३॥

गाथार्थ—पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से चारों मनोयोगों का काल अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु क्रम से संख्यातगुणा-संख्यातगुणा है। उन चारों कालों के जोड़ रूप सामान्य मनोयोग काल से चारों वचनयोगों का काल संख्यात गुणा है। चारों वचनयोगों के जोड़ रूप काल अर्थात् सामान्य वचनयोग के काल से काययोग का काल संख्यातगुणा है। तीनों योगों के जोड़ रूप काल से तीन योग वाली राशि को विभक्त करके अपनी-अपनी राशि के कालसे गुणा करने पर अपनी-अपनी राशि का प्रमाण प्राप्त होता है ॥२६२-२६३॥

विशेषार्थ—काल के अनुसार योग में जीवसंख्या होती है, क्योंकि योगकाल में ही तत् योग सम्बन्धी जीवों का संचय होता है। चारों मनोयोग और सामान्य मनोयोग तथा चारों वचनयोग व सामान्य वचनयोग का काल क्रम से संख्यात गुणा है जो इस प्रकार है—सत्यमनोयोग का काल सबसे स्तोक है। मृषामनोयोग का काल उससे संख्यात गुणा है। उससे उभय मनोयोग का काल संख्यात गुणा है। उससे अनुभय मनोयोग का काल संख्यात गुणा है। इससे सामान्य मनोयोग का काल विशेष अधिक है। उससे सत्यवचनयोग का काल संख्यात गुणा है। उससे मृषावचनयोग का काल संख्यात गुणा है। उससे उभय वचनयोग का काल संख्यात गुणा है। उससे अनुभय वचनयोग का काल संख्यातगुणा है। उससे सामान्य वचनयोग का काल विशेष अधिक है। उससे काययोग का काल संख्यात गुणा है।[5]

मनोयोग, वचनयोग और काययोग के कालों के जोड़ से तीन योगवाली राशि को जो साधिक

---

१. "सण्णियाणुवादेण सण्णीसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया देवेहिं सादिरेयं ॥१८५॥" [ध.पु. ३ पृ. ४८२]। २. "द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥" [तत्त्वार्थ सूत्र अ. २]। ३. "पदरंगुलस्स संखेज्जदि भागेण जगपदरे भागे हिदे तसकाइयपज्जत्ता भवंति त्ति वुत्तं भवदि।" [धवल पु. ३ पृ. ३६२]। ४. "एदे दो वि रासीओ अणंता।" [धवल पु. ३ पृ. ३६५]। ५. धवल पु. ३ पृ. ३८८।

देवराशि प्रमाण है, खण्डित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसकी तीन प्रतिराशियाँ करके पुनः उन्हें अपने-अपने काल से गुणित कर देने पर मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगियों की राशियाँ प्राप्त होती हैं। पुनः चारों मनोयोगों के कालों के जोड़ से मनोयोगी जीवराशि को खंडित करके जो लब्ध आवे उसकी चार प्रतिराशियाँ करके अपने-अपने काल से गुणित करने पर सत्यमनोयोग आदि चारों मनोयोगियों की पृथक्-पृथक् संख्या प्राप्त हो जाती है।[1]

इसी प्रकार चारों वचनयोगों के कालों के जोड़ से वचनयोगी जीवराशि को जो कि ऊपर प्राप्त हुई है उसे खंडित करके जो लब्ध प्राप्त हो उसकी चार प्रतिराशियाँ करके अपने-अपने योग-काल से गुणित करने पर सत्यवचनयोगी आदि जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। इतनी विशेषता है कि अनुभय वचनयोगी जीवराशि में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय वचनयोगी जीवराशि मिलाने से अनुभय वचनयोगियों की जीवसंख्या प्राप्त हो जाती है।[2]

कम्मोरालियमिस्सयओरालद्धासु संचिदअणंता।
कम्मोरालियमिस्सय ओरालियजोगिणो जीवा ॥२६४॥
समयत्तयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहिदरासी।
सगगुणगुणिदे थोवो असंखसंखाहदो कमसो ॥२६५॥

गाथार्थ—कार्मणकाययोग काल, औदारिकमिश्रकाययोग काल और औदारिककाययोग काल में एकत्र होने वाले कार्मणकाययोगी, औदारिकमिश्रकाययोगी तथा औदारिककाययोगी जीव अनन्तानन्त हैं ॥२६४॥ कार्मण काययोग का काल तीन समय, औदारिकमिश्रकाययोग का काल संख्यात आवली और उससे भी संख्यात गुणित आवलियाँ औदारिककाययोग का काल है। इन तीनों कालों के जोड़से एक योगवाली जीवराशि में भाग देकर अपने-अपने कालसे गुणा करने पर अपनी-अपनी राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। कार्मणकाययोगी जीवराशि सबसे कम है, उससे असंख्यात गुणी औदारिक-मिश्र-काययोगी जीवराशि है और उससे संख्यात गुणी औदारिक काययोगी जीवराशि है ॥२६५॥

विशेषार्थ—यहाँ पर साधारण वनस्पति अर्थात् निगोदराशि की प्रधानता है क्योंकि निगोद राशि के अतिरिक्त अन्य सब गतियों के जीव असंख्यात हैं। उस निगोदराशि में भी सूक्ष्म जीव मुख्य हैं। क्योंकि बादर निगोद से सूक्ष्म निगोद जीव असंख्यात गुणे हैं।[3] उन सूक्ष्म निगोद जीवों में भी अपर्याप्तकों से पर्याप्तक जीव संख्यातगुणे हैं।[4] सूक्ष्म पर्याप्तक निगोद जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र है।[5] किन्तु यह आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होते हुए भी अपर्याप्त काल से संख्यात गुणी है। कार्मण काययोग का उत्कृष्ट काल तीन समय है, क्योंकि अनाहारक अवस्था में ही कार्मणकाययोग होता है और अनाहारक अवस्था का उत्कृष्ट काल तीन समय है।[6] अपर्याप्त काल संख्यात आवली प्रमाण है। और एक आवली में जघन्य युक्तासंख्यात समय होते हैं।[7] अतः

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३६४। २. धवल पु. ३ पृ. ३८९-३९०। ३. धवल पु. ३ पृ. ३७०। ४. धवल पु. ३ पृ. ३७२-३७३। ५. धवल पु. ४ पृ. ३९२। ६. "एकं द्वौ त्रीन् वाऽनाहारकः ॥३०॥" [तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २]। ७. त्रिलोकसार गाथा ३७।

कार्मण काययोग काल से अपर्याप्तकाल असंख्यातगुणा है। अपर्याप्त काल से पर्याप्त काल संख्यातगुणा है। इन तीनों कालों का योग भी अन्तर्मुहूर्त होता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं।

तिर्यंचों और मनुष्यों के अपर्याप्त काल से पर्याप्त काल संख्यात गुणा है क्योंकि कर्मभूमिजों की मुख्यता है। उन कालों के जोड़ से तिर्यंच राशि को खंडित करके जो लब्ध आवे उसे अपर्याप्त काल से गुणित करने पर अपर्याप्त राशि का प्रमाण प्राप्त होता है।[1] अपर्याप्त काल में दो योग होते हैं। विग्रह गति में अर्थात् अनाहारक अवस्था में कार्मण काययोग और आहारक अवस्था में औदारिक मिश्रकाययोग। संख्यात आवली मात्र अन्तर्मुहूर्त काल में यदि सर्व अपर्याप्त जीवराशि का संचय होता है तो तीन समयों में कितना संचय प्राप्त होगा? इस प्रकार इच्छाराशि से फलराशि को गुणित करके जो लब्ध आवे उसे प्रमाण से भाजित करने पर अन्तर्मुहूर्त से भाजित सर्व जीवराशि[2] अर्थात् इतने जीव कार्मण काययोगी होते हैं। इसको असंख्यात से गुणा करने पर औदारिक मिश्र-काययोगियों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

सोवक्कमाणुवक्कमकालो संखेज्जवासठिदिवाणे।
आवलिअसंखभागो संखेज्जावलिपमा कमसो ॥२६६॥
तहिं सव्वे सुद्धसला सोवक्कमकालदो दु संखगुणा।
तत्तो संखगुणूणा अपुण्णकालम्हि सुद्धसला ॥२६७॥
तं सुद्धसलागाहिदणियरासिमपुण्णकाललद्धाहिं।
सुद्धसलागाहिं गुणे वेंतरवेगुव्वमिस्सा हु ॥२६८॥
तहिं सेसदेवणारय-मिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं।
सुरणिरय-कायजोगा वेगुव्वियकायजोगा हु ॥२६९॥

गाथार्थ—संख्यात वर्ष की स्थिति वाले वानव्यन्तर देवों में सोपक्रमकाल और अनुपक्रमकाल क्रमशः आवली के असंख्यातवें भाग व संख्यात आवली प्रमाण हैं ॥२६६॥ उस संख्यात वर्ष की स्थिति में सर्वशुद्ध शलाका का प्रमाण सोपक्रमकाल से संख्यात गुणा है। अपर्याप्त काल सम्बन्धी शुद्ध शलाका का प्रमाण सर्वशुद्धशलाकाओं से संख्यातगुणा हीन है ॥२६७॥ व्यन्तर देवों के प्रमाण में शुद्ध शलाका का भाग देने से जो प्राप्त हो उसको अपर्याप्त काल सम्बन्धी शुद्ध शलाका से गुणा करने पर वैक्रियिक मिश्र काययोगी व्यन्तर देवराशि उपलब्ध होती है ॥२६८॥ वैक्रियिक मिश्र-काययोगी व्यन्तर देवराशि में शेष देव व नारकी वैक्रियिक मिश्रयोगियों का प्रमाण मिलादेने पर सर्व वैक्रियिक मिश्र काययोगियों की संख्या प्राप्त हो जाती है। पर्याप्त देव व नारकी काययोगियों का जो प्रमाण है उतने वैक्रियिक काययोगी जीव हैं ॥२६९॥

विशेषार्थ—उत्पत्ति का नाम उपक्रमण है। जिस काल में निरन्तर उत्पत्ति होती है वह सोपक्रमकाल है। यह सोपक्रमकाल उत्कृष्ट रूप से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। उसके

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३९६। २. धवल पु. ३ पृ. ४०३।

पश्चात् उत्पत्ति का अन्तर पड़ जाता है। वह अन्तरकाल जघन्य से एकसमय और उत्कृष्ट संख्यात आवली प्रमाण है। देवों में संख्यात वर्ष की आयु वाले व्यन्तर देव अधिक उत्पन्न होते हैं अतः उनकी अपेक्षा कथन किया गया है। संख्यात वर्ष में सोपक्रमकालशलाकाओं में (उत्पत्ति काल के बारों में) यदि सर्व देवराशि एकत्र होती है तो अपर्याप्त काल सम्बन्धी उपक्रम शलाकाओं में कितने जीवों का संचय होगा। इस प्रकार त्रैराशिक गणित करके इच्छाराशि से प्रमाणराशि को भाजित करके जो लब्ध प्राप्त हो उसका देवराशि में भाग देने से वैक्रियिक मिश्रकाययोगी देवों का प्रमाण प्राप्त होता है, जो देवराशि के संख्यातवें भाग मात्र है।[1] असंख्यात वर्ष की आयु वालों में अनुपक्रम काल बड़ा होगा, अतः उनमें वैक्रियिक मिश्रकाययोगियों का प्रमाण अल्प होगा इसलिए उनकी विवक्षा नहीं की गई। वैक्रियिक मिश्रकाययोगी देवराशि में नारक मिश्रकाययोगियों की संख्या मिला देने से समस्त वैक्रियिक मिश्रकाययोगियों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

वैक्रियिक काययोगी देवों के संख्यातवें भाग से कम है।[2]अपनी-अपनी राशि के संख्यातवें भाग से न्यून देवों की जो राशि है उतना वैक्रियिककाययोगियों का प्रमाण है। देव और नारकियों की राशि को एकत्र करके मनोयोग, वचनयोग और काययोग के काल के जोड़ से खण्डित करके जो लब्ध आवे उसकी तीन प्रतिराशियाँ करके अपने-अपने काल से गुणित करने पर अपनी-अपनी राशियों का प्रमाण होता है। चूंकि मनोयोगी जीवराशि और वचनयोगी जीवराशि देवों के संख्यातवें भाग है, इसलिये वैक्रियिक काययोगी राशि का प्रमाण कुल राशि से संख्यातवें भाग कम होता है।[3]

आहारककाययोगी तथा आहारकमिश्रकाययोगियों का प्रमाण

आहारकायजोगा चउवण्णं होंति एकसमयम्हि।
आहारमिस्सजोगा सत्तावीसा दु उक्कस्सं ॥२७०॥

गाथार्थ—एक समय में आहारक काययोग वाले जीव अधिक से अधिक चौपन हैं।[4] और आहारक मिश्र काययोगी सत्तावीस हैं ॥२७०॥

विशेषार्थ—आहारककाययोगी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं होते। उपर्युक्त गाथा में आहारकमिश्रकाययोगी यद्यपि सत्तावीस कहे गये हैं, क्योंकि यह कथन आचार्य परम्परा से आये हुए उपदेश अनुसार है, किन्तु धवल पु. ३ सूत्र १२० में सत्तावीस न कहकर संख्यात कहे हैं।[5] अर्थात् आहारक मिश्रकाययोग में जिनदेव ने जितनी संख्या देखी हो, उतने संख्यात जीव होते हैं, सत्तावीस नहीं; क्योंकि सूत्र में 'संख्यात' यह निर्देश अन्यथा बन नहीं सकता। तथा आहारक मिश्र योगियों से आहारक काययोगी जीव संख्यातगुणे हैं, इससे भी प्रतीत होता है कि आहारक मिश्र काययोगी जीव संख्यात हैं, सत्तावीस नहीं। कदाचित् कहा जाये कि दो भी तो संख्यात हैं, परन्तु उसका यहाँ पर ग्रहण नहीं किया गया, क्योंकि अजघन्यानुत्कृष्ट संख्या का ही ग्रहण किया

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४००। २. "वेउव्वियकायजोगी दव्वपमाणेण केवडिया? देवाणं संखेज्जदिभागूणं ॥६४-६५॥" [धवल पु. ७ पृ. २७६]। ३. धवल पु. ३ पृ. ३६८-३६६। ४. "आहारकायजोगीसु पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया? चदुवण्णं ॥११६॥" [धवल पु. ३ पृ. ४०१]। ५. "आहारमिस्सकायजोगीसु पमत्तसंजदा-दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा॥१२०॥" [धवल पु. ३ पृ. ४०२]।

है। अथवा सर्व अपर्याप्त काल से जघन्य पर्याप्त काल भी संख्यात गुणा है, इससे भी यह प्रतीत होता है कि आहारक मिश्र काययोगी सत्तावीस नहीं लेने चाहिए।[1]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **योगमार्गणा** नामका नवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१०. वेदमार्गणाधिकार

वेदमार्गणा

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ।।२७१।।

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोषं वा ।।२७२।।

गाथार्थ—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म के उदय से भावपुरुषवेदी, भावस्त्रीवेदी और भावनपुंसकवेदी होता है। अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से द्रव्यपुरुषवेदी, द्रव्यस्त्रीवेदी और द्रव्य-नपुंसकवेदी होता है। द्रव्य और भाव ये दोनों वेद प्रायः सम (सदृश) होते हैं, परन्तु कहीं पर विषम भी हो जाते हैं ।।२७१।। वेद नोकषाय के उदय व उदीरणा से परिणामों में सम्मोह होता है। सम्मोह के कारण जीव गुण व दोष को नहीं जानता ।।२७२।।

विशेषार्थ—वेद दो प्रकार का है द्रव्यवेद और भाववेद। अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से शरीर में योनि, लिङ्ग (मेहन) आदि की रचना होती है वह द्रव्यवेद है। वेद नोकषाय, मोहनीय कर्मोदय व उदीरणा से जीव में पुरुष व स्त्री अथवा दोनों से रमण करने के भाव उत्पन्न होते हैं और जीव मोहित होकर विवेकहीन हो जाता है तथा गुण व दोष का विवेक जाता रहता है। जैसे—मदिरा-पान करके जीव उन्मत्त हो जाता है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कार्य-अकार्य इत्यादि का विचार नहीं रहता। ऐसी दशा वेदकर्म के तीव्रोदय में हो जाती है। इस विषय में निम्नलिखित गाथाएँ उपयोगी हैं—

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो।
इत्थी-पुरिस-णउंसय वेयंति तदो हवदि वेदो ।।१०१।।

तिव्वेद एव सव्वे विजीवा दिट्ठा हु दव्व-भावादो।
ते चेव हु विवरीया संभवंति जहाकमं सव्वे ।।१०२।।

उदयादु णोकसायाण भाववेदो य होइ जंतूणं।
जोणी य लिंगमाई णामोदय दव्ववेदो दु ।।१०३।।

इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्व-भावदो होंति।
ते चेव य विवरीया हवंति सव्वे जहाकमसो ।।१०४।।[2]

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४०२। २. प्राकृत पंचसंग्रह (ज्ञानपीठ से प्रकाशित) पृ. २२।

वेदकर्म की उदीरणा होने पर जीव नानाप्रकार के बालभाव (उन्मत्तभाव) करता है। और स्त्रीभाव, पुरुषभाव और नपुंसकभाव का वेदन करता है। वेदकर्म के उदय से होने वाला भाव ही भाववेद है। द्रव्य और भाव की अपेक्षा सर्व ही जीव तीनों वेद वाले दिखलाई देते हैं। वे सर्व ही विपरीत वेदवाले (विषम वेद वाले) यथाक्रम संभव है। नोकषाय के उदय से जीव के भाववेद होता है तथा योनि, लिंग आदि द्रव्यवेद, नामकर्म के उदय से होता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीनों ही वेद निश्चय से द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं और वे सर्व यथाक्रम विपरीत विषम भी परिणत हो जाते हैं।

आत्मप्रवृत्ति (आत्मा की चैतन्य रूप पर्याय) में मैथुनरूप चित्तविक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं।[1] नामकर्म के उदय से शरीर में मूछ, दाढ़ी, लिंग आदि का होना द्रव्यपुरुष है। नामकर्मोदय से शरीर में रोमरहित मुख, स्तन, योनि आदि का होना द्रव्यस्त्री है। नामकर्म के उदय से मूछ, दाढ़ी, लिंग आदि तथा स्तन, योनि आदि दोनों प्रकार के चिह्नों से रहित शरीर का होना द्रव्यनपुंसक होता है। प्रचुरता से द्रव्य और भाव वेद सदृश ही होते हैं, क्वचित् कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों में विसदृश (विषम) भी हो जाते हैं। जैसे द्रव्य से पुरुषवेद किन्तु भाव से स्त्री या नपुंसकवेद। द्रव्य से स्त्रीवेद भाव से पुरुष या नपुंसकवेद। द्रव्य से नपुंसकवेद भाव से स्त्री या पुरुषवेद। इस प्रकार से विसदृश वेदों की भी सम्भावना है।[2] इन तीनों वेदों के स्वामित्व का कथन इस प्रकार है—

एइंदिय विर्यालिदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे।
वेदे णपुंसगा ते णादव्वा होंति णियमादु ।।८७।।
देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुयतिरिया।
ते होंति दोसुवेदेसु णत्थि तेसिं तदियवेदो ।।८८।।
पंचेन्दिया दु सेसा सण्णि असण्णिय तिरिय मणुसा य।
ते होंति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चावि वेदेहिं ।।८९।।[3]

—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। एकेन्द्रिय जीव; द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय विकलेंद्रिय जीव; नारकी और सर्व सम्मूर्च्छन जीव अथवा संज्ञी सम्मूर्च्छन तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन ये सब नियम से नपुंसकवेदी होते हैं अर्थात् द्रव्य व भाव से नपुंसक वेदवाले होते हैं। देव, भोगभूमिया, असंख्यात वर्ष की आयुवाले अर्थात् भोगभूमि प्रतिभाग में (भरत व ऐरावत क्षेत्र के भोगभूमिया काल में) उत्पन्न होने वाले तथा सर्वम्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य व तिर्यंचों के पुरुष व स्त्री ये दो ही वेद होते हैं, नपुंसकवेद नहीं होता।[4] इनमें वेदवैषम्य नहीं होता। शेष संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य-तिर्यंचों में स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों वेद होते हैं और इनमें वेदविषमता भी होती है।

यथाक्रम तीनों वेदों के लक्षण

पुरुगुणभोगे सेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरुउत्तमो य जह्मा तह्मा सो वण्णिओ पुरिसो ।।२७३।।[5]

---

१. धवल पु. १ पृ. १४१ "अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः।" २. श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। ३. मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ पृ. ३४०-३४१। ४. मूलाचारपर्याप्ति अधिकार १२ गाथा ८८ पृ. २४१। ५. यह गाथा धवल पु. १ पृ. ३४१, तथा पु. ६ पृ. ४७ और प्रा.पं.सं. गाथा १०६ पृ. २३ पर भी है।

गाथार्थ—जो उत्तम गुण और उत्तम भोगों में स्वामीपने का अनुभव करता है, जो लोक में उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है, वह पुरुष है ।।२७३।।

विशेषार्थ—जो उत्कृष्ट गुणों में और उत्कृष्ट भोगों में शयन करता है वह पुरुष है। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव सोते हुए पुरुष के समान गुणों से अनवगत होता है और भोगों को प्राप्त नहीं करता वह पुरुष है। जिसके स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा पाई जाती है, वह पुरुष है। जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है।[1]

शङ्का—जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है, वह उत्तम कर्म कैसे कर सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उत्तम कर्म को करने रूप सामर्थ्य से युक्त जीव के स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है, अतः वह उत्तम कर्म को करता है, ऐसा कथन उपचार से किया है।[2]

छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं वि दोसेण ।
छादणसीला जह्मा तह्मा सा वण्णिया इत्थी ।।२७४।।[3]

गाथार्थ—जो अपने को दोषों से आच्छादित करती है और दूसरों को भी दोषों से आच्छादित करती है; आच्छादनशील होने के कारण वह स्त्री कही गई है ।।२७४।।

विशेषार्थ - जो दोषों से स्वयं अपने को भी और दूसरों को भी आच्छादित करती है वह स्त्री है। स्त्रीरूप जो वेद है वह स्त्रीवेद है। अथवा जो पुरुष की आकांक्षा करती है, वह स्त्री है, इसका अर्थ पुरुष की चाह करने वाली होती है। जो अपने को स्त्रीरूप अनुभव करता है वह स्त्रीवेद है। स्त्रीरूप वेद को स्त्रीवेद कहते हैं।[4] जो कोमल वचन, कटाक्ष रूप अवलोकन, अनुकूल प्रवर्तन आदि द्वारा पुरुष को अपने वश में करके पापक्रियाओं से दूषित करती है, वह स्त्री है। यद्यपि तीर्थंकर की माता आदि कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जिनमें यह लक्षण घटित नहीं होता तथापि प्रचुरता की अपेक्षा यह लक्षण कहा गया है।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिङ्गविदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ।।२७५।।[5]

गाथार्थ—जो न स्त्री है और न पुरुष है, किन्तु स्त्री और पुरुष सम्बन्धी दोनों प्रकार के लिंगों से रहित है, आवा की अग्नि के समान तीव्र वेदना से युक्त है और सर्वदा स्त्री व पुरुष विषयक मैथुन की अभिलाषा से उत्पन्न हुई वेदना से जिसका चित्त कलुषित है, उसे नपुंसक कहते हैं ।।२७५।।

विशेषार्थ—जो न स्त्री है और न पुरुष है, वह नपुंसक है। जिसके स्त्री और पुरुषविषयक

---

१. धवल पु. १ पृ. ३४१। २. धवल पु. १ पृ. २४१। ३. यह गाथा धवल पु. १ पृ. ३४१ व पुस्तक ६ पृ. ४६ तथा प्रा.पं.सं. पृ. २३ पर भी है। ४. धवल पु. १ पृ. ३४०। ५. यह गाथा धवल पु. १ पृ. ३४२ व पु. ६ पृ. ४७ तथा प्रा.पं.सं. गाथा १०७ पृ. २३ पर भी है।

दोनों प्रकार की अभिलाषा पाई जाती है, उसे नपुंसक कहते हैं।[1] अथवा नपुंसक वेद नोकषाय के उदय से जो आत्मपरिणाम होते हैं वह नपुंसकवेद है। जिसके दाढ़ी, मूछ व लिंग इत्यादि पुरुष के चिह्न तथा स्तन, योनि इत्यादि स्त्री के चिह्न ये दोनों चिह्न नहीं पाये जाते, वह नपुंसक है।

वेदरहित जीव

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेयणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा सगसंभवणंतवरसोक्खा ।।२७६।।[2]

गाथार्थ—तृण की अग्नि, कारीष-अग्नि, इष्टपाक अग्नि (आवा की अग्नि) के समान तीनों वेदों के परिणामों से रहित जीव अपगतवेदी होता है। ऐसे जीव आत्मासे उत्पन्न होने वाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुख को भोगते हैं ।।२७६।।

विशेषार्थ—जिनके तीनों प्रकार के वेदों से उत्पन्न होने वाला सन्ताप (अन्तरंग दाह) दूर होगया है, वे अपगतवेदी जीव हैं।[3] औपशमिक व क्षायिक लब्धि से जीव अपगतवेदी होता है। विवक्षित वेद के उदय सहित उपशम श्रेणी चढ़ कर मोहनीयकर्म का अन्तर करके, यथायोग्य स्थानों में विवक्षित वेद के उदय, उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण, परप्रकृतिसंक्रम, स्थितिकाण्डक, और अनुभाग काण्डक के बिना जीव में जो पुद्गल स्कन्धों का अवस्थान होता है, वह उपशम है। उस समय जो जीव की वेद के अभाव रूप लब्धि है, उसीसे जीव अपगतवेदी होता है।

विवक्षित वेद के उदय से क्षपक श्रेणी को चढ़ कर, अन्तरकरण करके यथायोग्य स्थान में विवक्षित वेद सम्बन्धी पुद्गल स्कन्धों के स्थिति व अनुभाग सहित जीवप्रदेशों से निःशेषतः दूर हो जाने को क्षय कहते हैं। उस अवस्था में जो जीव का परिणाम होता है वह क्षायिक भाव है। उस क्षायिक लब्धि से जीव अपगतवेदी होता है।

शङ्का—वेद का अभाव और अभाव सम्बन्धी लब्धि ये दोनों जब एक ही काल में उत्पन्न होते हैं, तब उनमें आधार-आधेय भाव या कार्य-कारण भाव कैसे बन सकता है ?

समाधान—बन सकता है, क्योंकि समान काल में उत्पन्न होने वाले छाया और अंकुर में कार्य-कारण भाव देखा जाता है तथा घट की उत्पत्ति के काल में ही कुशूल का अभाव देखा जाता है।

शङ्का—तीनों वेदों के द्रव्य कर्मों के क्षय से भाववेद का अभाव भले ही हो, क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव मानना न्यायसंगत है। किन्तु उपशमश्रेणी में त्रिवेदसम्बन्धी पुद्गल द्रव्यस्कन्धों के रहते हुए भाववेद का अभाव घटित नहीं होता, क्योंकि कारण के सद्भाव में कार्य का अभाव मानने में विरोध आता है ?

समाधान—विरोध नहीं आता, क्योंकि जिनकी शक्ति देखो जा चुकी है, ऐसी औषधियाँ जब किसी आमरोग सहित अर्थात् अजीर्ण के रोगी को दी जाती हैं, तब अजीर्ण रोग से उन औषधियों की शक्ति प्रतिहत हो जाती है और वे अपना कार्य करने में असमर्थ पाई जाती हैं।[4]

---

१. धवल पु. १ पृ. ३४१। २. यह गाथा धवल पु. १ पृ. ३४२ तथा प्रा. पं. सं. गा. १०८ पृ. २३ पर है। ३. धवल पु. १ पृ. ३४२। ४. धवल पु. ७ पृ. ८१-८२।

यद्यपि अनिवृत्तिकरण के अवेदभाग के प्रारम्भ से जीव अपगतवेदी हो जाता है तथापि यहाँ पर उसकी विवक्षा नहीं है, किन्तु केवली की विवक्षा है। क्योंकि स्वात्मोत्पन्न अनन्त उत्कृष्ट सुख केवली के ही सम्भव है।[1] छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान दर्शन स्वभाव का घात होने से स्वाभाविक अनन्त व उत्कृष्ट सुख सम्भव नहीं है, किन्तु स्वभाव का घात रूपी दुःख विद्यमान है।[2]

वेदमार्गणा में जीवसंख्या

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसा य सण्णिणो जीवा।
तत्तेउपम्मलेस्सा संखगुणूणा कमेणेदे ।।२७७।।

गाथार्थ—ज्योतिष देवों से संख्यातगुणे हीन व्यन्तर हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन योनिनी तिर्यंच हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन पुरुषवेदी तिर्यंच हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंच हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन संज्ञी पंचेन्द्रिय तेजोलेश्या वाले जीव हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन संज्ञी पंचेन्द्रिय पद्मलेश्या वाले जीव हैं ।।२७७।।

विशेषार्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी जीव भवनवासी देवियों से संख्यातगुणे हैं। वानव्यन्तर देव पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों से संख्यातगुणे हैं। वहीं पर देवियाँ देवों से संख्यातगुणी हैं। ज्योतिषी देव वानव्यंतर देवियों से संख्यातगुणे हैं। तथा वहीं पर देवियाँ देवों से संख्यातगुणी हैं। यह खुद्दाबन्ध के सूत्र से जाना जाता है। देवों के संख्यात बहुभाग देवियाँ होती हैं तथा तिर्यंच योनिनी जीव देवियों के संख्यातवें भाग हैं।[3]

इगिपुरिसे बत्तीसं देवी तज्जोगभजिदवेवोघे।
सगगुणगारेण गुणे पुरुषा महिला य देवेसु ।।२७८।।

गाथार्थ—एक देव के बत्तीस देवियाँ होती हैं। उनके योग से देवओघ राशि को भाग देकर अपने-अपने गुणाकार से गुणा करने पर देव और देवियों का प्रमाण प्राप्त होता है ।।२७८।।

विशेषार्थ—यदि एक देव है तो उसकी बत्तीस देवियाँ होती हैं। इस प्रकार एक और बत्तीस को जोड़कर (१+३२) तेंतीस से देवराशि को खण्डित करने पर एक खण्ड प्रमाण देव हैं इस एक खण्ड को देव ओघ राशि में से कम करने पर देवियों का प्रमाण प्राप्त होता है।[4]

देवों से देवियाँ बत्तीस गुणी होती हैं, ऐसा व्याख्यान भी देखा जाता है।[5]

देवों से देवियाँ बत्तीस गुणी हैं, इस प्रकार आचार्य-परम्परा से आये हुए उपदेश से जाना

---

१. श्रीमदभयचन्द्र सूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। २. प्रवचनसार गा. ६० श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका "खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि।" तथा गा. ५५ श्री जयसेन आचार्य कृत टीका-"यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्खेदकारणं भवति। खेदश्च दुःखम्।" ३. ध. पु. ३ पृ. ४१३-४१४। ४. "देवरासिं तेत्तीसखंडाणि काऊणेगखंडमवणिदे देवीणं पमाणं होदि।" [ध.पु. ७ पृ. २८१]। ५. देवेहिंतो देवीओ बत्तीसगुणाओ त्ति वक्खाणदंसणादो च।" [ध.पु. ३ पृ. २३२]।

जाता है।[1] इन देवियों से कुछ अधिक स्त्रीवेदी जीव हैं।[2] देवियों में तिर्यंच व मनुष्य सम्बन्धी स्त्रीवेदी राशि को जोड़ देने पर सर्व स्त्रीवेदी राशि प्राप्त होती है।[3]

देवेहिं सादिरेया पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी।
तेहिं विहीण सवेदो रासी संढाण परिमाणं ॥२७६॥

गाथार्थ—देवों से कुछ अधिक पुरुषवेदियों का प्रमाण है और देवियों से कुछ अधिक स्त्रीवेद वाले हैं। सवेद राशि में से पुरुषवेदी और स्त्रीवेदियों का प्रमाण घटाने पर शेष नपुंसकों का प्रमाण है ॥२७६॥

विशेषार्थ—पुरुषवेदी जीव देवों से कुछ अधिक हैं।[4] देवराशि के तेंतीस खण्ड करके उनमें से एक खण्ड देवों में पुरुषवेदियों का प्रमाण है। उसमें तिर्यंच व मनुष्य सम्बन्धी पुरुषवेद राशि को जोड़ देने पर सर्व पुरुषवेदियों का प्रमाण होता है। इसी कारण पुरुषवेदियों का प्रमाण देवों से कुछ अधिक कहा गया है।[5] इसी प्रकार देवियों से स्त्रीवेदियों का साधिक प्रमाण कहा गया है।

कुल सवेद राशि अनन्तानन्त है। उसमें से पुरुषवेदी व स्त्रीवेदी की असंख्यात राशि कम करने पर भी नपुंसक वेद राशि अनन्तानन्त शेष रहती है।[6] जो अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होती है वह नपुंसक राशि क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तालोक प्रमाण है।[7]

निगोद राशि नपुंसक वेदी ही है और निगोद राशि अनन्तानन्त है। अतः नपुंसक वेदी भी अनन्तानन्त कहे गये हैं। अथवा एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक जीव शुद्ध नपुंसक वेदी होते हैं।[8]

शङ्का—चींटियों के अण्डे देखे जाते हैं।

समाधान—अण्डों की उत्पत्ति गर्भ में ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है।[9]

शङ्का—एकेन्द्रिय जीवों के द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है फिर एकेन्द्रिय जीवों के नपुंसक वेद का अस्तित्व कैसे बतलाया?

समाधान—एकेन्द्रियों में द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि वेद के कथन में उसकी प्रधानता नहीं है। अथवा द्रव्यवेद की एकेन्द्रियों में उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए उसका अभाव नहीं सिद्ध होता। किन्तु सम्पूर्ण प्रमेयों में व्याप्त होकर रहने वाले उपलम्भप्रमाण (केवलज्ञान) से उसकी सिद्धि हो जाती है।

---

१. "तेहिंतो देवीओ बत्तीसगुणा हवंति त्ति आइरिय परंपरागयुवदेसादो णव्वदे।" [ध. पु. ३ पृ. ४१४]। २ व ३. "देवीहिं सादिरेयं ॥१०२॥ तिरिक्ख-मणुस्साण इत्थि वेदरासिं पक्खित्ते सव्वित्थिवेदरासी होदि।" [ध.पु. ७ पृ. २८१]। ४. "देवेहि सादिरेयं ॥१०५॥ "धवल पु. ७ पृ. २८२]। ५. धवल पु. ७ पृ. २८२। ६ "णवुंसयवेदा दव्वपमाणेण केवडिया? ॥१०६॥ अणंता ॥१०७॥" [धवल पु ७ पृ. २८२]। ७. "अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति ॥१०८॥ खेत्तेण अणंताणंता लोगा।" [धवल पु. ७ पृ. २८२-२८३]। ८. "तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया ॥१०६॥ [ध.पु. २ पृ. ३४५]। ६. धवल पु. १ पृ. २४६।

शङ्का—जो स्त्रीभाव और पुरुषभाव से सर्वथा अनभिज्ञ हैं ऐसे एकेन्द्रियों के स्त्री और पुरुष-विषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो पुरुष स्त्रीवेद से सर्वथा अज्ञात है और भूगृह के भीतर वृद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसे युवा पुरुष के साथ उक्त कथन का व्यभिचार आता है।[1]

तीनों वेदों की प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि वेद पर्याय है। जैसे विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त नहीं रहते, क्योंकि जन्म से लेकर मरण तक किसी एक वेद का उदय पाया जाता है।[2]

अपगतवेदी जीव द्रव्यप्रमाण से अनन्त हैं।[3]

गब्भणपुइत्थिसण्णी सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा।
कुरुजा असण्णिगब्भजणपुइत्थीवाणजोइसिया ॥२८०॥
थोवा तिसु संखगुणा तत्तो आवलिअसंखभागगुणा।
पल्लासंखेज्जगुणा तत्तो सव्वत्थ संखगुणा ॥२८१॥

गाथार्थ—गर्भज संज्ञी नपुंसक १, संज्ञी गर्भज पुरुष २, गर्भज संज्ञी स्त्रीवेदी ३, सम्मूर्च्छन संज्ञी पर्याप्त ४, सम्मूर्च्छन संज्ञी अपर्याप्त ५, भोगभूमिया ६, असंज्ञी गर्भज नपुंसक वेदी ७, असंज्ञी गर्भज पुरुषवेदी ८, गर्भज असंज्ञी स्त्रीवेदी ९, वानव्यन्तर देव १०, ज्योतिषी देव ११। ये ग्यारह स्थान क्रम से हैं। पहला स्थान सबसे स्तोक है। उसके आगे के तीन स्थान क्रम से संख्यातगुणे हैं। फिर एक स्थान आवली के असंख्यातवें भाग गुणा है। फिर एक स्थान पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है। इससे आगे के सर्व स्थान संख्यातगुणे-संख्यातगुणे हैं ॥२८०-२८१॥

विशेषार्थ—उपर्युक्त कथन वेदमार्गणा में अल्पबहुत्व बतलाने के लिए किया गया है। यह कथन पंचेन्द्रिय तिर्यंच की अपेक्षा किया गया है।[4]

१. संज्ञी नपुंसक वेदी गर्भज सबमें स्तोक हैं ॥१३४॥ २. उससे संज्ञी पुरुषवेदी गर्भज संख्यातगुणे हैं ॥१३५॥ क्योंकि पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र प्रतरांगुलों का जगत्प्रतर में भाग देने पर संज्ञी नपुंसकवेदी गर्भजों का प्रमाण होता है अतएव वे स्तोक हैं। दूसरे संज्ञी गर्भज जीवों में नपुंसकवेदियों की प्रायः सम्भावना नहीं है। ३. उससे संज्ञी स्त्रीवेदी गर्भज संख्यातगुणे हैं ॥१३६॥ क्योंकि संज्ञी गर्भजों में पुरुषवेदियों से स्त्रीवेदी बहुत पाये जाते हैं। ४. संज्ञी नपुंसकवेदी सम्मूर्च्छिम पर्याप्त संख्यातगुणे हैं ॥१३७॥ क्योंकि संज्ञी गर्भजों से संज्ञी सम्मूर्च्छिम जीव संख्यातगुणे हैं। सम्मूर्च्छिम स्त्रीवेदी व पुरुषवेदी नहीं होते। ५. संज्ञी नपुंसकवेदी सम्मूर्च्छिम अपर्याप्त असंख्यातगुणे हैं ॥१३८॥ आवली का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है, जो परम गुरु के उपदेश से जाना जाता है। ६. संज्ञी स्त्रीवेदी व पुरुषवेदी गर्भज असंख्यातवर्षायुष्क दोनों ही तुल्य असंख्यातगुणे हैं ॥१३९॥

---

१. धवल पु. १ पृ. ३४४। २. धवल पु. १ पृ. ३४६। ३. धवल पु. ७ पृ. २८३। ४. धवल पु. ७ पृ. ५५५ "पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु पयदि।"

शङ्का— दोनों वेदों की समानता कैसे है ?

समाधान—असंख्यातवर्षायुष्कों अर्थात् भोगभूमियों में स्त्री-पुरुष युगलों की ही उत्पत्ति होती है। नपुंसकवेदी, सम्मूर्च्छिम व असंज्ञी स्वप्न में भी वहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि वे अत्यन्ताभाव से निराकृत हैं। यहाँ गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। यह आचार्य परम्परागत उपदेश से जाना जाता है। इससे सब अतिक्रान्त राशियों के लिए जगत्प्रतर का भागाहार पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र प्रतरांगुल प्रमाण होता है। किन्तु यहाँ संख्यात प्रतरांगुल भागाहार है।

७. भोगभूमियों से असंज्ञी नपुंसकवेदी गर्भज संख्यातगुणे हैं ॥१४०॥ क्योंकि नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम पंचेन्द्रियों में बहुतों के नहीं होता। ८. असंज्ञी पुरुषवेदी गर्भज संख्यातगुणे हैं ॥१४१॥ ९. इनसे असंज्ञी स्त्रीवेदी गर्भज संख्यातगुणे हैं ॥१४२॥ भोगभूमियों से लेकर असंज्ञी स्त्रीवेदी गर्भज राशि तक जगत्प्रतर का भागाहार संख्यात प्रतरांगुल है।[1]

१०. पंचेन्द्रिय योनिनी तिर्यंचों से (यानी असंज्ञी स्त्रीवेदी गर्भजों से) वानव्यंतर देव संख्यातगुणे हैं ॥४०॥ गुणकार संख्यात समय है। ११. वानव्यन्तर देवों से ज्योतिषी देव संख्यातगुणे हैं ॥४२॥ संख्यात समय गुणकार है।[2] परन्तु धवल क्षुद्रबन्ध, अल्पबहुत्वानुगम, वेदमार्गणा (धवल ७ पृ. ५५५ से ५५८) के अनुसार नौ स्थान तो ऊपर के अनुसार ही हैं। पर दसवाँ तथा ग्यारहवाँ स्थान इस प्रकार है—(१०) असंज्ञी स्त्रीवेदी गर्भजों से असंज्ञी नपुंसक सम्मूर्च्छन पर्याप्त संख्यातगुणे हैं। (११) असंज्ञी नपु० सम्मूर्च्छन पर्याप्तों से असंज्ञी नपु० सम्मूर्च्छन अपर्याप्त जीव असंख्यातगुणे हैं। गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **वेदमार्गणा** नाम का दसवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

११. कषायमार्गणाधिकार

कषाय का निरुक्तिसिद्ध लक्षण (कृष् धातु की अपेक्षा)

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥२८२॥[3]

गाथार्थ—सुख-दुःख आदि अनेक धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मक्षेत्र को जो कर्षण (फल उत्पन्न करने योग्य) करती है, वह कषाय है ॥२८२॥

विशेषार्थ— **शङ्का**—'कषन्तीति कषायाः' अर्थात् जो कसे वे कषाय हैं इस प्रकार की व्युत्पत्ति क्यों नहीं की ?

---

१. धवल पु. ७ पृ. ५५५ से ५५८ तक, सूत्र १३४-१४२। २. धवल पु. ७ पृ. ५८५ सूत्र ४० व ४२।
३. प्रा.पं.सं.पृ. २३ गा. १०८ व पृ. ५७९ गा. १००; धवल पु. १ पृ. १४२ गा. ९०।

समाधान—जो कसे, उन्हें कषाय कहते हैं। कषाय शब्द की इस प्रकार की व्युत्पत्ति करने पर कषने वाले किसी भी पदार्थ को कषाय माना जायगा। अतः कषायों का स्वरूप समझने में संशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिए 'जो कसे वह कषाय है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति नहीं की गई।[1]

कषाय का निरुक्तिसिद्ध लक्षण (कष् धातु की अपेक्षा)

सम्मत्त-देस-सयल-चरित्त-जहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कषाया चउसोल असंखलोगमिदा ।।२८३।।

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र परिणामों को जो घातती है, वह कषाय चार प्रकार की, सोलह प्रकार की अथवा असंख्यात लोकप्रमाण भेद वाली है ।।२८३।।

विशेषार्थ—कषाय मोहनीयकर्म रूप है। मोहनीयकर्म आत्मा के श्रद्धागुण व चारित्रगुण को मोहित करता है अर्थात् विपरीत करता है। आत्मा के उक्त गुणों को घातने की अपेक्षा वह चार प्रकार की है। आत्मा के सम्यग्दर्शनगुण को जो घाते वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। किंचित् त्याग रूप एकदेशचारित्र को जो घाते वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। जो सकलचारित्र (महाव्रतरूप चारित्र) का घात करे वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। जो यथाख्यात चारित्र का घात करे वह संज्वलन कषाय है। चार गुणों को घातने की अपेक्षा कषाय के उपर्युक्त चार भेद हो जाते हैं।

पढमो दंसण घाई बिदिओ तह घाई देसविरइ त्ति ।
तइओ संजमघाई चउत्थो जहखाय घाईया ।।११५।।[2]

—प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन का घात करती है, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरति (देशचारित्र, देशसंयम) की घातक है। तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल संयम (महाव्रत, सकलचारित्र) का घात करती है और चतुर्थ संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्र की घातक है।

सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः ।
अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिनः ।।६२५।।
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः ।
चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम् ।।६२६।।[3]

—सम्यक्त्व को घात करनेवाली कषायें वे अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। देशव्रत (देशचारित्र) को घातकरने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। संयम (महाव्रतरूप सकलचारित्र) का विनाश करना प्रत्याख्यानावरण कषाय का स्वभाव है। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती है।

---

१. धवल पु. १ पृ. १४१। २. प्रा.प.सं.पृ. २५। ३. उपासकाध्ययन, कल्प ४६, पृ. ३३१-३३२।

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं ।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ।।४५।।

—प्रथम आदि अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चारों कषाय, क्रम से सम्यक्त्व को, देशचारित्र को, सकलचारित्र को और यथाख्यात चारित्र को घातती हैं। इसलिए इन कषायों के नाम भी घातने गुण के अनुसार हैं (सार्थक हैं)।

शङ्का—अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन की घातक कैसे हो सकती है? वह तो चारित्र-मोहनीय कर्म की प्रकृति है अतः चारित्रगुण की घातक हो सकती है। सम्यग्दर्शन की घातक तो मिथ्यात्वप्रकृति है।

समाधान—विपरीत अभिनिवेश मिथ्यात्व है और वह विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय प्रकृति इन दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है। सासादन गुणस्थान वाले के अनन्तानुबन्धी का उदय तो पाया ही जाता है। इसलिए वहाँ पर भी दोनों अज्ञान (मिथ्याज्ञान) सम्भव है।[1]

शङ्का—सासादन किसे कहते हैं?

समाधान—सम्यक्त्व की विराधना आसादन है। जो इस आसादना से युक्त है, उसे सासादन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किन्तु जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामों को नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व कर्म के अभिमुख है, उसे सासादन कहते हैं।

शङ्का—सासादन न सम्यक्त्व रूप है, न मिथ्यात्व रूप है और न मिश्ररूप है इसलिए सासादन गुणस्थान सम्भव नहीं है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थान में विपरीत अभिनिवेश अर्थात् विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिए वह असद्दृष्टि माना गया है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि कहना चाहिए। इसे सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और चारित्र का प्रतिबन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीत अभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है, इसलिए द्वितीय-गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश नहीं पाया जाता, इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं; केवल सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।[2]

शङ्का—इस कथन के अनुसार जब वह सासादन गुणस्थानवर्ती असद्दृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई?

---

१. "मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः। स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते।" [धवल पु. १ पृ. ३६१]।
२. धवल पु. १ पृ. १६३-१६४।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र कहने से अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का प्रतिबन्धक होने से उसे उभयरूप संज्ञा देना न्यायसंगत है ?

समाधान—यह आरोप ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है फिर भी परमागम में मुख्य नय की अपेक्षा इस तरह का उपदेश नहीं दिया है।[1]

शङ्का—अनन्तानुबन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की है, इस विषय में क्या युक्ति है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सासादन भाव की उत्पत्ति अन्यथा हो नहीं सकती, इस अन्यथानुपपत्ति से अनन्तानुबन्धी के दर्शनमोहनीयता सिद्ध होती है। चारित्र में अनन्तानुबन्धी का व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के अनन्त उदय रूप प्रवाह के कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय के निष्फलत्व का विरोध है।[2]

प्रत्याख्यान और संयम एकार्थवाले नाम हैं। अप्रत्याख्यान अर्थात् ईषत् (अल्प) प्रत्याख्यान (त्याग)। अल्पत्याग को अथवा संयमासंयम को या देशचारित्र को अप्रत्याख्यान कहते हैं। उसका आवरण करने वाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।[3]

प्रत्याख्यान अर्थात् संयम का जो आवरण करती है, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है।[4] जो सम्यक् प्रकार जलता है वह संज्वलन कषाय है।

शङ्का—संज्वलन कषाय में सम्यक्पना क्या है ?

समाधान—चारित्र के साथ जलना ही इसका सम्यक्पना है। चारित्र का विनाश नहीं करते हुए यह कषाय उदय को प्राप्त होती है, यह अर्थ कहा गया है।

शङ्का—चारित्र का विनाश नहीं करने वाले संज्वलन कषाय के चारित्रावरणता कैसे बन सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संज्वलनकषाय संयम में मल को उत्पन्न करके यथाख्यात चारित्र की प्रतिबन्धक होती है। इसलिए संज्वलन कषाय के चारित्रावरणता मानने में कोई विरोध नहीं है।[5]

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से कषाय चार प्रकार की है। इन चारों में से प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभ भेद करने से कषाय १६ प्रकार की है। जैसे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ। प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण कषायों के समान चारों संज्वलन

---

१. धवल पु. १. पृ. १६५। २. धवल पु. ६ पृ. ४२-४३। ३. धवल पु. ६ पृ. ४३-४४। ४. धवल पु. ६ पृ. ४४। ५. धवल पु. ६ पृ. ४४।

कषायों के बन्ध और उदय के युगपत् अभाव के प्रति प्रत्यासत्ति नहीं है, इस बात को बतलाने के लिए क्रोध आदि प्रत्येक पद के साथ संज्वलन शब्द लगाया गया है।[1]

शङ्का—असंख्यात लोकप्रमाण किस प्रकार हैं?

समाधान—उदयस्थानों की विशेषता की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं, क्योंकि तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर इत्यादि अनेक भेदों के उदय में आने की अपेक्षा चारित्रमोहनीय कर्मप्रकृतियों के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हो जाते हैं।[2]

शङ्का—क्रोध किसे कहते हैं?

समाधान—क्रोध, कोप, रोष आदि क्रोध रूप परिणाम हैं। कहा भी है—

कोहो य कोव रोसो य अक्खम संजलण कलह वड्ढी य।
झंझा दोस विवादो दस कोहेयट्ठिया होंति ॥१॥[3]

—क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और विवाद ये दस क्रोध के पर्यायवाची शब्द जानने चाहिए। क्रोध, कोप और रोष ये शब्द सुबोध हैं क्योंकि ये क्रुध्, कुप् और रुष् धातु से बने हैं। क्षमा रूप परिणाम का न होना अक्षमा है। इसका दूसरा नाम अमर्ष है। जो भले प्रकार जलता है, वह संज्वलन है, क्योंकि स्व और पर को संतप्त करने वाला होने से क्रोध अग्नि है। कलह का अर्थ प्रतीत (ज्ञात) है। क्रोध से पाप, अयश, कलह और बैर आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं इसलिए क्रोध का नाम वृद्धि है, क्योंकि सभी अनर्थों की जड़ क्रोध है। तीव्रतर संक्लेश परिणाम का नाम झंझा है। उसका हेतु होने से क्रोध-कषाय का नाम भी झंझा है। द्वेष का अर्थ अप्रीति है, आन्तरिक कलुषता इसका तात्पर्य है। विरुद्धवाद का नाम विवाद है। स्पर्धा और संघर्ष इसके नामान्तर हैं। इस प्रकार ये दस क्रोध के पर्यायवाची शब्द हैं।[4]

शङ्का—मान किसे कहते हैं?

समाधान—**माण मद दप्प थंभो उक्कास पगास तध समुक्कस्सो।**
अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो ॥२॥[5]

—मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव और उत्सिक्त, इन दस लक्षण वाला मान है। जाति आदि के द्वारा अपने को अधिक (बड़ा) मानना **मान है**। उन्हीं जाति आदि के द्वारा आविष्ट हुए जीव का मदिरापान किये हुए जीव के समान उन्मत्त होना **मद है**। मद से बढ़े हुए अहंकार का दर्प होना **दर्प** है। सन्निपात अवस्था में जिस प्रकार मनुष्य स्खलित

---

१. धवल पु. ६ पृ. ४५। २. "पुनःसर्वेऽप्युदयस्थानविशेषापेक्षया असंख्यातलोकप्रमिता भवन्ति। कुतः? तत्कारण-चारित्रमोहनीयोत्तरोत्तरप्रकृतिविकल्पानामसंख्यातलोकमात्रत्वात् ॥" [कर्मप्रकृति ग्रन्थ गाथा ६१ टीका पृ. ३२ (ज्ञानपीठ)]। ३. जयधवल पु. १२ 'वंजणे अणियोगद्दारं' पृ. १८६ गा. १। ४. जयधवल पु. १२ पृ. १८६-१८७, "क्रोधः कोपो रोषः संज्वलनमथाक्षमा तथा कलहः। झंझा-द्वेष-विवादो वृद्धिरिति क्रोधपर्यायाः ॥१॥" ५. जयधवल पु. १२ 'वजणे अणियोगद्दारं' पृ. १८७ गा. २।

रूप से यद्वातद्वा बोलता है, उसी प्रकार मदवश उत्पन्न हुए दर्प से स्खलित यद्वातद्वा बोलते हुए स्तब्ध हो जाना **स्तम्भ है**। उसी प्रकार **उत्कर्ष, प्रकर्ष** और **समुत्कर्ष** ये तीनों भी मान के पर्यायवाची नाम घटित हो जाते हैं, क्योंकि ये तीन भी अभिमान के द्योतक हैं।[1] अपने उत्कर्ष का नाम आत्मोत्कर्ष है। मैं ही जाति आदिरूप से उत्कृष्ट हूँ, मुझसे अन्य कोई दूसरा उत्कृष्ट नहीं है, इस प्रकार के अध्यवसाय का नाम **आत्मोत्कर्ष** है। दूसरे को परिभवन अर्थात् नीचा दिखाना परिभव है, दूसरे का अपमान करना **परिभव है**। अपने उत्कर्ष और दूसरे के परिभव के द्वारा उद्धत होता हुआ उत्‌चिंति अर्थात् गर्वित होना **उत्सिक्त** है। इस प्रकार मान के ये दस पर्यायवाची नाम हैं।[2]

माया य सादिजोगो णियदी वि य बंचणा अणुज्जुगदा।
गहणं मणुण्णमग्गण कक्क कुहक गूहणच्छण्णो ।।३।।[3]

—माया, सातियोग, निकृति, वञ्चना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञमार्गणा, कक्क, कुहक, गूहन और छन्न माया कषाय के ये ग्यारहं पर्यायवाची नाम हैं। कपटप्रयोग का नाम **माया** है। कुटिल व्यवहार का नाम **सातियोग** है। ठगने के अभिप्राय का नाम **निकृति** है। विप्रलम्भन का नाम **वञ्चना** है। योग की कुटिलता का नाम **अनृजुता** है। दूसरे के मनोज्ञ अर्थ को प्राप्त कर उसका अपलाप करने का नाम **ग्रहण** है अर्थात् भीतरी वञ्चना के अभिप्राय का निभृताकार रूप से गूढ़ मंत्र करना। मिथ्या विनय आदि उपचारों द्वारा दूसरे से मनोज्ञ अर्थ के स्वीकार करने के अभिप्राय का नाम **मनोज्ञमार्गण** है। दम्भ का नाम **कल्क** है। झूठे मन्त्र, तन्त्र और उपदेशादि द्वारा लोक का उपजीवन करना **कुहक** है। भीतरी दुराशय का बाह्य में संवरण करना (छिपाना) **निगूहन** है। छद्मप्रयोग करना **छन्न** है। अतिसन्धान और विश्रम्भघात आदि 'छन्न' है।[4]

कामो रागणिदाणो छंदो य सुदो य पेज्ज दोसो य।
णेहाणुराग आसा इच्छा मुच्छा य गिद्धी य ।।४।।
सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्ज जिब्भा य।
लोभस्स णामधेज्जा वीसं एगट्ठिया भणिदा ।।५।।[5]

—काम, राग, निदान, छन्द, सूत, प्रेय, दोष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, साशता, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या और जिह्वा ये २० लोभ के एकार्थक नाम कहे गये हैं। इष्टस्त्री और इष्टपति या पुत्र आदि परिग्रह की अभिलाषा का नाम **काम** है। मनोज्ञ विषय के अभिष्वंग का नाम **राग है**। जन्मान्तर के सम्बन्ध से संकल्प करने का नाम **निदान है** अर्थात् जन्मान्तर में भी इस प्रकार की भोगसम्पन्नता कैसे होगी, इस प्रकार अनागत विषय की प्रार्थना में अभिसन्धान का होना निदान है। मन के अनुकूल विषय के बार-बार भोगने में मन के प्रणिधान का नाम **छन्द** है। नाना प्रकार के विषयों के अभिलाषरूप कलुषित जल के द्वारा 'सूयते' अर्थात् परि-

---

१. ज.ध. पु. १२ पृ. १८७-१८८। २. "स्तम्भ-मद-मान-दर्प्प-समुत्कर्ष-प्रकर्षाश्च। आत्मोत्कर्ष-परिभवा उत्सिक्तश्चेति मानपर्यायाः। [ज.ध. पु १२ पृ. २८८]। ३. जयधवल पु. १२ 'वजणे अणियोगद्दारं' पृ. १८८ गा. ३। ४. ज.ध.पु. १२ पृ १८८-१८९ "मायाय सातियोगो निकृतिरथा वंचना तथानृजुता। ग्रहणं मनोज्ञमार्गण-कल्क-कुहक गूहनच्छन्नम्।" (जयधवल पु. १२ पृ. २८९)। ५. जयधवल पु. १२ 'वजणे अणियोगद्दारं' पृ. १८९ गा. ४-५।

सिंचित करना **सुत** नाम का लोभ है। 'स्व' का जो भाव वह स्वता कहलाता है। अर्थात् ममकार जिसमें है वह **स्वत** नाम का लोभ है।[1] प्रिय के समान वह प्रेय है। प्रेय नामक दोष **प्रेय-दोष** है।

शङ्का—इसके प्रेय रूप होने पर दोषपना कैसे बन सकता है, क्योंकि दोनों के एक होने का निषेध है ?

समाधान—नहीं, आह्लादन मात्र हेतुत्व की अपेक्षा परिग्रह की अभिलाषा के प्रेयरूप होने पर भी संसार के बढ़ाने का कारणपना होने से दोषपना बन जाता है।

इष्ट वस्तु में अनुराग सहित मन का प्रणिधान होना **स्नेह** है। इसी प्रकार अनुराग का भी व्याख्यान करना चाहिए। अविद्यमान अर्थ की आकांक्षा करना **आशा** नामक लोभ है। अथवा जो आश्यति अर्थात् आत्मा को कृश करता है वह आशा नाम का लोभ है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की अभिलाषा का नाम **इच्छा** है। परिग्रह सम्बन्धी अतितीव्र अभिष्वंग का नाम **मूर्च्छा** है। उपात्त और अनुपात्त परिग्रहों में अत्यधिक तृष्णा का नाम **गृद्धि** है। आशा के साथ जो रहता है वह शास है और शास का भाव शासता है। अथवा जो शाश्वत हो वह **शाश्वत** है। यह भी लोभ का एक नाम है। परिग्रह के ग्रहण करने के पहले और बाद में सदा-सदा बने रहने के कारण लोभ शाश्वत कहलाता है। प्रकृष्टरूप से अर्थन अर्थात् चाहना प्रार्थना है, अर्थात् प्रकृष्टरूप से धन की चाह करना **प्रार्थना** है। **लालसा** और **गृद्धि** ये एकार्थवाची शब्द हैं। 'विरमणं विरतिः' जिसमें विरति नहीं उसका नाम अविरति है। असंयम का हेतु होने से **अविरति** लाभपरिणाम स्वरूप है, क्योंकि हिंसा सम्बन्धी अविरमण अर्थात् अविरति के सभी भेद लोभ कषाय निमित्तक होते हैं। विषय सम्बन्धी पिपासा का नाम **तृष्णा** है। **विद्या** शब्द से लोभ लिया गया है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति वेदन के आधीन है, इसलिए लोभ भी विद्यारूप से उपचरित किया गया है। लोभ लोभ से बढ़ता है। इस प्रकार विद्या के समान होने से लोभ का नाम विद्या है। जिस प्रकार विद्या की आराधना कष्टसाध्य है उसी प्रकार लोभ का आलम्बनभूत भोगोपभोग कष्टसाध्य होने से प्रकृत में लोभ को विद्या कहा है। असन्तोषरूप साधर्म्य का आश्रय कर **जिह्वा** लोभ का पर्यायवाची नाम है।[2]

क्रोध दोष है, क्योंकि क्रोध के करने से शरीर में सन्ताप होता है, शरीर काँपने लगता है, कान्ति बिगड़ जाती है, आँखों के सामने अँधियारी छा जाती है, कान बहरे हो जाते हैं, मुख से शब्द नहीं निकलता, स्मृति लुप्त हो जाती है, आदि। गुस्से में आकर मनुष्य अपने पिता और माता आदि प्राणियों को मार डालता है। गुस्सा सकल अनर्थों का कारण है।

मान दोष है, क्योंकि वह क्रोध के अनन्तर उत्पन्न होता है और क्रोध के विषय में कहे गये समस्त दोषों का कारण है। माया पेज्ज (राग) है, क्योंकि उसका आलम्बन प्रिय वस्तु है। अपने लिए प्रिय वस्तु की प्राप्ति आदि के लिए ही माया की जाती है। वह अपनी निष्पत्ति के अनन्तरकाल में मन में सन्तोष उत्पन्न करती है अर्थात् मायाचार के सफल हो जाने पर मनुष्य को प्रसन्नता होती है। लोभ पेज्ज है, क्योंकि प्रसन्नता का कारण है।[3]

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. १८९-१९०। २. ज.ध. पु. १२ पृ.१९०-१९२। "कामो रागनिदाने छंद सुता प्रेयदोषनामानः। स्नेहानुराग आशा, मूर्च्छेच्छागृद्धिसशाश्च ॥४॥ साशता प्रार्थना तृष्णा लालसा विरतिस्तथा। विद्या जिह्वा च लोभस्य पर्यायाः विंशतिः स्मृताः ॥५॥" (जयधवल पृ. १९२)। ३. जयधवल पु. १ पृ. ३६५-३६६।

शङ्का—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों दोष हैं, क्योंकि वे स्वयं आस्रवरूप हैं या आस्रव के कारण हैं ?

समाधान—यह कहना ठीक है, किन्तु यहाँ पर कौनसी कषाय आनन्द की कारण है और कौनसी आनन्द की कारण नहीं है, इतने मात्र की विवक्षा है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। अथवा प्रेम में दोषपना पाया ही जाता है। अतः माया और लोभ प्रेय (पेज्ज) हैं।[1]

व्यवहारनय की अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ पेज्ज है।

शङ्का—क्रोध और मान दोष हैं यह कहना युक्त है, परन्तु माया को दोष कहना ठीक नहीं, क्योंकि माया में दोष का व्यवहार नहीं देखा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि माया में भी अविश्वास का कारणपना और लोकनिन्दितपना देखा जाता है। जो वस्तु लोकनिन्दित होती है वह प्रिय नहीं हो सकती, क्योंकि निन्दा से हमेशा दुःख उत्पन्न होता है। लोभ पेज्ज है, क्योंकि लोभ के द्वारा बचाये हुए द्रव्य से जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है।[2]

शब्दनय की अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है, लोभ दोष है किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज है।

क्रोधात्प्रीतिविनाशं मानाद्विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात्प्रत्ययहानिं सर्वगुणविनाशको लोभः ॥१४६॥[3]

—क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का घात होता है, शठता से विश्वासघात होता है। लोभ से समस्तगुण घाते जाते हैं।

क्रोध, मान और माया से जीव को संतोष और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। लोभ कथंचित् पेज्ज है, क्योंकि रत्नत्रय के साधन विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है, तथा शेष पदार्थ विषयक लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पाप की उत्पत्ति देखी जाती है।

शङ्का—धर्म भी पेज्ज नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सुख और दुःख के कारणभूत धर्म और अधर्म को पेज्ज और दोषरूप नहीं मानने पर धर्म और अधर्म के भी अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।[4]

शक्ति की अपेक्षा क्रोधादि चार कषायों के भेद

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥२८४॥

---

१. जयधवल पु. १ पृ. ३६६। २. जयधवल पु. १ पृ. ३६७-३६८। ३. जयधवल पु. १ पृ. ३६९। ४. जयधवल पु. १ पृ. ३६९-३७०।

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतश्रो माणो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायश्रो कमसो ॥२८५॥
वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसीमाया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं ॥२८६॥
किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसश्रो लोहो ।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायश्रो कमसो ॥२८७॥[1]

गाथार्थ—**क्रोध** चार प्रकार का है—पत्थर की रेखा के समान, पृथिवी की रेखा के समान, धूलिरेखा सदृश और जलरेखा सदृश। ये चारों प्रकार के क्रोध क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं ॥२८४॥ **मान** भी चार प्रकार का है—पाषाण सदृश, अस्थि सदृश, काष्ठ सदृश, बेंत सदृश। ये भी क्रमसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में उत्पादक हैं ॥२८५॥ **माया** भी चार प्रकार की है—बाँस की जड़ सदृश, मेढ़े के सींग के सदृश, गोमूत्र सदृश और खुरपा सदृश। यह माया भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पत्ति की कारण है ॥२८६॥ **लोभ** भी चार प्रकार का है—कृमिराग सदृश, चक्रमल सदृश, शरीरमल सदृश और हल्दी के रंग के समान। यह भी क्रम से नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवगति में उत्पत्ति का कारण है ॥२८७॥

विशेषार्थ—श्री भगवान गुणधर भट्टारक विरचित कषायपाहुड के चतुस्थान नामक आठवें अधिकार में गाथा २, ३ व ४ के द्वारा इस विषय का कथन किया गया है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

णग-पुढवि-वालु गोदयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
सेलघण-अट्ठि-दारुअ-लदासमाणो हवदि माणो ॥२॥
वंसजिण्हुगसरिसी मेंढ विसाणसरिसी य गोमुत्ती ।
अवलेहणी समाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥३॥
किमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो ।
हालिद्दवत्थसमगो लोभोवि चउव्विहो भणिदो ॥४॥[2]

क्रोध चार प्रकार का है—नगराजिसदृश, पृथिवीराजि सदृश, बालुकाराजि सदृश और उदकराजि सदृश। मान भी चार प्रकार का है—शैलघन समान, अस्थि समान, दारु समान और लता समान। माया भी चार प्रकार की है—बाँस की जड़ के सदृश, मेढे के सींग के सदृश, गोमूत्र के सदृश और अवलेखनी के सदृश। लोभ भी चार प्रकार का है—कृमिराग के सदृश, अक्षमल के सदृश, पांशुलेप के सदृश और हारिद्र वस्त्र के सदृश ॥२-४॥

इन चार गाथाओं में क्रोध आदि चारों कषायों के उदाहरण सहित प्रत्येक के चार भेदों का नाम-निर्देश किया गया है। उनमें से 'णगराइसरिसो' यह शब्द पर्वत शिलाभेद सदृश क्रोध का

१. धवल पु. १ पृ. ३५० गा. १७४-१७७; प्रा.पं.सं.पृ. २४ गा. १११-११४; कर्मप्रकृति ग्रन्थ (ज्ञानपीठ) पृ. १२१ व १२२ गा. ५७-६०। २. जयधवल पु. १२ पृ. १५२ व १५५।

द्योतक है। सर्वकाल में अविनाशरूप साधर्म्य को देखकर यह उदाहरण कहा गया है। जैसे पर्वत शिलाभेद किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न होकर पुनः कभी दूसरे उपाय द्वारा सन्धान को प्राप्त नहीं होता, तदवस्थ ही बना रहता है। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम किसी भी जीव के, किसी भी पुरुष विशेष में उत्पन्न होकर किसी भी दूसरे उपाय से उपशम को प्राप्त नहीं होता है, प्रतिकार रहित होकर उस भव में भी उसी प्रकार बना रहता है और जन्मान्तर में भी उससे उत्पन्न हुआ संस्कार बना रहता है। इस प्रकार का तीव्रतर क्रोध परिणाम शिलारेखा सदृश कहा जाता है।

इसी प्रकार पृथिवी रेखा सदृश क्रोध है, किन्तु यह क्रोध पूर्व के क्रोध से मन्द अनुभागवाला है, क्योंकि चिरकाल तक अवस्थित होने पर भी इसका पुनः दूसरे उपाय से सन्धान हो जाता है। यथा ग्रीष्मकाल में पृथिवी का भेद हुआ अर्थात् पृथिवी के रस का क्षय होने से वह भेदरूप से परिणत हो गई। पुनः वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह दरार भर कर उसी समय संधान को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम चिरकाल तक अवस्थित रहकर भी पुनः दूसरे कारण से तथा गुरु के उपदेश आदि से उपशम भाव को प्राप्त होता है, वह इस प्रकार का तीव्र परिणामभेद पृथिवीरेखा सदृश है। यहाँ दोनों स्थलों पर 'राइ' शब्द अवयव के विच्छिन्न होने रूप भेदपर्याय का वाचक है।

'धूलिराजि सदृश' ऐसा कहने पर नदी के पुलिन आदि में बालुका राशि के मध्य उत्पन्न हुई रेखा के समान क्रोध ऐसा ग्रहण करना चाहिए। वह अल्पतर काल तक रहता है, इसे देखकर कहा है। यथा नदी के पुलिन आदि में बालुका राशि के मध्य पुरुष के प्रयोग से या अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई रेखा जैसे हवा के अभिघात आदि दूसरे कारण द्वारा शीघ्र ही पुनः समान हो जाती है अर्थात् रेखा मिट जाती है। इसी प्रकार क्रोध परिणाम भी मन्दरूप से उत्पन्न होकर गुरु के उपदेश-रूपी पवन से प्रेरित होता हुआ अतिशीघ्र उपशम को प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार उदकराजि के सदृश भी क्रोध जान लेना चाहिए। किन्तु इससे भी मन्दतर अनुभाग वाला और स्तोकतर काल तक रहने वाला होता है। क्योंकि पानी के भीतर उत्पन्न हुई रेखा का बिना दूसरे उपाय के उस समय ही विनाश देखा जाता है। यहाँ उभयत्र अन्त के दो क्रोधों में 'राइ' शब्द रेखा का पर्यायवाची है।[1]

इसी प्रकार मान के भी चारों स्थानों को जानना चाहिए। इतनी विशेषता है 'सेल' से शिला समझना चाहिए। अतिस्तब्ध भाव की अपेक्षा यह उदाहरण कहा गया है। इसी प्रकार अस्थि, दारु और लता के समान मान कषाय का अर्थ कर लेना चाहिए।[2]

माया सम्बन्धी चार स्थानों के उदाहरण के निर्देश द्वारा कथन किया गया है। बाँस की टेढ़ीमेढ़ी जड़ की गाँठ के सदृश पहली माया होती है। इसके टेढ़ेपन के निष्प्रतिकारपने का आश्रय कर यह उदाहरण दिया गया है। जैसे बाँस की जड़ की गाँठ नष्ट होकर तथा शीर्ण होकर भी सरल नहीं की जा सकती, इसी प्रकार अतितीव्र वक्र भाव से परिणत माया परिणाम भी निरुपक्रम होता है। माया की दूसरी अवस्था मेढ़े के सींग के सदृश है। यह पूर्वमाया से मन्द अनुभागवाली है, क्योंकि अतिवलित वक्रतारूप से परिणत हुए भी मेढ़े के सींग को अग्निताप आदि दूसरे उपायों द्वारा सरल

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. १५३-१५४। २. जयधवल पु. १२ पृ. १५४।

करना शक्य है। तथा गोमूत्र सदृश और अवलेखनी या खुरपा के सदृश माया के क्रम से वक्रभाव की हानि के तारतम्य के सम्बन्ध से कथन करना चाहिए। यहाँ पर अवलेखनी पद से दांतों को साफ करने वाला लकड़ी का टुकड़ा (दातुन या जीभी) लेना चाहिए।[1]

लोभ का प्रथम स्थान कृमिराग लोभस्थान है। कृमिराग कीट विशेष होता है। वह नियम से जिस वर्ण के आहार को ग्रहण करता है, उसी वर्ण के अतिचिक्कण डोरे को अपने मल त्यागने के द्वार से निकालता है। उस सूत्र द्वारा जुलाहे अतिकीमती अनेक वर्णवाले नाना वस्त्र बनाते हैं उस वर्ण के रंग को यद्यपि हजार कलशों की सतत धारा द्वारा प्रक्षालित किया जाता है, नाना प्रकार के क्षारयुक्त जलों द्वारा धोया जाता है तो भी उस रंग को थोड़ा भी दूर करना शक्य नहीं है, क्योंकि वह अतिनिकाचितस्वरूप है, अग्नि से जलाये जाने पर भी भस्मपने को प्राप्त होते हुए उस कृमिराग से अनुरक्त हुए वस्त्र के उस वर्ण का रंग कभी छूटने योग्य न होने से वैसा ही बना रहता है। इसी प्रकार जीव के हृदय में स्थित अतितीव्र लोभ परिणाम जिसे कृश नहीं किया जा सकता, वह कृमिराग के रंग के सदृश कहा जाता है।[2]

अन्यद्धि (दूसरा) लोभ निकृष्ट वीर्यवाला और तीव्र अवस्था परिणत होता है। वह अक्षमल सदृश होता है। रथ के चक्के को या गाड़ी के तुम्ब को धारण करने वाली लकड़ी अक्ष कहलाती है और उसका मल अक्षमल है। अर्थात् अक्षांजन के स्नेह से गीला हुआ मषीमल। अति चिक्कण होने से उस अक्षमल को सुखपूर्वक दूर करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार यह लोभ परिणाम भी निधत्त स्वरूप होने से जीव के हृदय में अवगाढ़ होता है। इसलिए उसे दूर करना शक्य नहीं है।[3]

तीसरा लोभस्थान धूलि लेप के सदृश है। जिस प्रकार पैर में लगा हुआ धूलि का लेप पानी के द्वारा धोने आदि उपायों द्वारा सुखपूर्वक दूर कर दिया जाता है, वह चिरकाल तक नहीं ठहरता, उसी के समान उत्तरोत्तर मन्द स्वभाव वाला यह लोभ का भेद भी चिरकाल तक नहीं ठहरता। पिछले लोभ से अनन्तगुणाहीन सामर्थ्यवाला होता हुआ थोड़े ही काल में जरा से प्रयत्न द्वारा दूर हो जाता है।[4]

जो लोभ की चौथी मन्दतर अवस्था विशेष है, वह हरिद्रवस्त्र के समान कही गयी है। हल्दी से रंगा वस्त्र हारिद्र कहलाता है। जैसे हल्दी के द्रव से रंगे गये वस्त्र का वर्ण रंग चिरकाल तक नहीं ठहरता, वायु और आतप आदि के निमित्त से ही उड़ जाता है; इसी प्रकार यह लोभ का भेद मन्दतम अनुभाग से परिणत होने के कारण चिरकाल तक आत्मा में नहीं ठहरता। क्षण मात्र में ही दूर हो जाता है। इस प्रकार प्रकर्ष और अप्रकर्ष वाले तीव्र और मन्द अवस्था के भेद से विभक्त होने के कारण लोभ भी चार प्रकार का कहा गया है।[5]

अल्पबहुत्व इस प्रकार है—लता के समान जघन्य वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों से दारु के समान जघन्यवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। लता के समान दूसरी वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों से दारु के समान दूसरी वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। इस प्रकार लता के समान उत्कृष्टवर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों से दारु के समान उत्कृष्टवर्गणा के अविभाग-

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. १५५। २. जयधवल पु. १२ पृ. १५६। ३. जयधवल पु. १२ पृ. १५६।
४. जयधवल पु. १२ पृ. १५६-१५७। ५. जयधवल पु. १२ पृ. १५७।

प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। इस स्थान के प्राप्त होने तक लेजाना चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनुभाग व्यवस्था के अनुसार यह क्रम निश्चित होता है कि लता के समान समस्त अनुभाग-अविभागप्रतिच्छेदों से दारु के समान समस्त अनुभाग के अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। इसी प्रकार दारु के समान अनुभाग से अस्थि के समान अनुभाग अनन्तगुणे हैं। उससे भी शैल के समान अनुभाग अनन्तगुणे हैं।[1]

कषायों की चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थितिबन्ध करने वाले जीव के अन्तिम स्थिति में एकस्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय विशेषता को लिये हुए देशघाती और सर्वघाती सब प्रकार के परमाणु पाये जाते हैं। तथा आबाधा के बाद की समनन्तर जघन्यस्थिति में भी वे अविशेष रूप से सम्भव हैं। एकस्थानीय अनुभाग उत्कृष्टस्थिति में भी प्राप्त होता है और चतुः स्थानीय अनुभाग जघन्यस्थिति में भी प्राप्त होता है, क्योंकि सभी स्थितिविशेषों में अपने-अपने चारों स्थान बिना विशेषता के पाये जाते हैं।[2]

सव्वावरणीयं पुण उक्कस्सं होइ दारु असमाने।
हेट्ठा देसावरणं सव्वावरणं च उवरिल्लं ॥७६॥[3]

—दारु के समान मान में प्रारम्भ के एकभाग अनुभाग को छोड़कर शेष सब अनन्तबहुभाग तथा उत्कृष्ट अनुभाग सर्वावरणीय हैं (सर्वघाती हैं)। उससे पूर्व का लता समान अनुभाग और दारु का प्रथम अनन्तवें भाग अनुभाग देशावरण है। दारु समान अनुभाग से आगे का अस्थि व शैल रूप अनुभाग सर्वावरण (सर्वघाती) है। यह क्रम माया, लोभ व क्रोध सम्बन्धी चारों स्थानों में निरवशेष रूप से नियम से जानना चाहिए।[4]

असंज्ञी जीव द्विस्थानीय अनुभाग का वेदन करता हुआ नियम से द्विस्थानीय अनुभाग को बाँधता है, क्योंकि उनमें प्रकारान्तर सम्भव नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव (श्रेणी में) एकस्थानीय अनुभाग का वेदन करता हुआ नियम से एकस्थानीय अनुभाग को ही बाँधता है शेष अनुभागों को नहीं बाँधता। द्विस्थानीय अनुभाग का वेदन करता हुआ द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय अनुभाग को बाँधता है। त्रिस्थानीय अनुभाग का वेदन करता हुआ त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय अनुभाग को बाँधता है। तथा चतुःस्थानीय अनुभाग का वेदन करता हुआ नियम से चतुःस्थानीय अनुभाग को बाँधता है। वह शेष स्थानों का अबन्धक है।[5]

क्रोधकषाय के चारों स्थानों नग, पृथ्वी आदि का उदाहरणपूर्वक जो अर्थसाधन किया गया है वह कालविषयक साधर्म्य का आश्रय लेकर किया गया है। शेष कषायों के बारह स्थानों का भाव की मुख्यता से उदाहरणपूर्वक अर्थसाधन किया गया है। मान का भाव स्तब्धता है। माया का भाव अनर्जु गत वक्रता है। लोभ का भाव असन्तोषजनित संक्लेशपना है।[6]

जो जीव (श्रेणी में) अन्तर्मुहूर्त तक होने वाले भाव को धारण कर क्रोध का वेदन करता है, वह उदकराजि के समान ही क्रोध का वेदन करता है, क्योंकि उदकराजि के समान उसका

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. १६२-१६३। २. जयधवल पु. १२ पृ. १५८। ३. जयधवल पु. १२ पृ. १६४। ४ जयधवल पु. १२ पृ. १६५ ५. जयधवल पु. १२ पृ. १७१। ६. जयधवल पु. १२ पृ. १७६-१८०।

चिरकाल तक अवस्थान के बिना उसी समय विलय देखा जाता है। यह संयम का घात नहीं करता, क्योंकि वह मन्द अनुभाग स्वरूप होता है, किन्तु संयम की अतिविशुद्धता (अत्यन्त शुद्धि) का प्रतिबन्धक है, क्योंकि उसका प्रमादादि रूप मल के उत्पन्न करने में व्यापार होता है।[1]

जो जीव अन्तर्मुहूर्त काल का उल्लंघन कर अर्धमास के भीतर तक क्रोध का वेदन करता है वह नियम से बालुकारेखा के समान क्रोध का अनुभव करता है, क्योंकि बालुकारेखा के समान क्रोध परिणाम का अन्तर्मुहूर्त को उल्लंघन कर अर्धमास के भीतर तक अवस्थान देखा जाता है। कषाय के उदय से उत्पन्न हुए शल्य रूप से परिणत कलुष परिणाम के उतने काल तक अवस्थान को देख कर ऐसा कहा गया है। अन्यथा क्रोधोपयोग के अवस्थान काल के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कथन करनेवाले सूत्र के साथ विरोध आता है। यह क्रोध परिणाम का भेद अनुभव में आता हुआ संयम का घात करके जीव को संयमासंयम में स्थापित करता है।[2]

जो जीव नियम से अर्धमास बिताकर छह माह के भीतर तक क्रोध का वेदन करता है, क्योंकि उससे उत्पन्न हुआ संस्कार पृथिवीभेद के समान छह माह के भीतर तक अवस्थित देखा जाता है। वह पृथिवी रेखा के समान तृतीय क्रोध है। यहाँ पर भी कषायपरिणाम शल्य रूप से मात्र छह मास तक अवस्थित रहता है। अन्यथा सूत्र के साथ विरोध आता है। यह क्रोध परिणाम अनुभव में आता हुआ जीव में संयमासंयम का घात कर जीव को सम्यक्त्व में स्थापित करता है।[3]

किसी के प्रति उत्पन्न हुआ क्रोध शल्य होकर हृदय में स्थित हुआ, पुनः संख्यात, असंख्यात और अनन्त भवों के द्वारा उसी जीव को देखकर प्रकृष्ट क्रोध को प्राप्त होता है, क्योंकि उससे उत्पन्न हुए संस्कार का निकाचित रूप से उतने काल तक अवस्थित रहने में विरोध का अभाव है। उक्त प्रकार का क्रोधपरिणाम पर्वतरेखा के समान है। क्योंकि पर्वत शिलाभेद के समान उसका अनन्त काल के द्वारा पुनः सन्धान (जोड़) उपलब्ध नहीं होता। वेदन में आता हुआ यह क्रोध परिणाम सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का घात कर मिथ्यात्व भाव में स्थापित करता है। सबसे-तीव्र अनुभाग वाला यह चौथा क्रोधभेद है।[4]

यद्यपि उदकराजि, धूलिराजि, पृथिवीराजि और पर्वतराजि के उपर्युक्त लक्षणों का तथा संज्वलन, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण और अनन्तानुबन्धी क्रोध के लक्षणों का परस्पर सादृश्य है, तथापि उदकराजि आदि क्रोध और संज्वलन आदि क्रोध में अन्तर है। असंज्ञी के पाषाण-राजि व पृथिवीराजि का बन्ध व उदय नहीं है तथापि अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरण का बन्ध व उदय पाया जाता है। अप्रत्याख्यानावरण के उदय के अभाव में अप्रत्याख्यानावरण का बन्ध नहीं होता किन्तु पृथिवीराजि (त्रिस्थानिक) के उदयाभाव में पृथिवीराजि (त्रिस्थानिक) का बन्ध होता है।

नरकादि गतियों में उत्पत्ति के प्रथम समय में बहुलता की अपेक्षा क्रोधादिक के उदय का नियम

णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ।।२८८।।

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. १८० । २. जयधवल पु. १२ पृ. १८१ । ३. जयधवल पु. १ पृ. १८१-१८२ ।
४. जयधवल पु. १२ पृ. १८२ ।

गाथार्थ—नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति में उत्पन्न होने के प्रथम काल में क्रम से क्रोध, माया, मान व लोभ का उदय होता है। अथवा ऐसा नियम नहीं भी है ।।२८८।।

विशेषार्थ—नरकों में उत्पन्न होने वाले जीवों के सर्वप्रथम क्रोध कषाय का उदय पाया जाता है। मनुष्यों में उत्पन्न हुए जीव के प्रथम समय में मानकषाय के उदय के नियम का उपदेश देखा जाता है। तिर्यंचों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में माया कषाय के उदय का नियम देखा जाता है। देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों के सर्वप्रथम लोभ कषाय का उदय होता है। ऐसा आचार्य-परम्परागत उपदेश है।[1] नरक, मनुष्य, तिर्यंच और देवगतियों में उत्पन्न हुए जीवों के प्रथम समय में यथाक्रम से क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय देखा जाता है।[2]

शंका—देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में लोभ को छोड़ कर शेष कषायों का उदय नहीं पाया जाता है?

समाधान—यह कहना तब ठीक होता जब यहाँ भी वैसा अभिप्राय विवक्षित होता। किन्तु प्रकृत में चूर्णिसूत्रकार का अभिप्राय है कि देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में इस प्रकार का नियम नहीं पाया जाता। सामान्य से सब कषायों का उदय वहाँ विरोध को नहीं प्राप्त होता। देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में सब कषायों का उदय सम्भव है।[3]

शङ्का—क्रोधादि कषायों में उपयुक्त हुए जीवों का मरण की अपेक्षा जघन्यकाल एक समय-मात्र है ऐसा जीवस्थान आदि ग्रन्थों में कहा है, वह यहाँ पर क्यों स्वीकार नहीं किया गया?

समाधान— नहीं, क्योंकि चूर्णिसूत्र के अभिप्राय अनुसार उस प्रकार काल को स्वीकार करना सम्भव नहीं है।[4]

श्री भूतबली आचार्य के कथनानुसार देवगति आदि में उत्पन्न होने के प्रथम काल में लोभ आदि कषायों के उदय होने का नियम देखा जाता है, किन्तु **श्री यतिवृषभाचार्य** कृत चूर्णिसूत्रों के अनुसार उक्त प्रकार का नियम नहीं पाया जाता है। जैसा कि धवल व जयधवल के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है।

इस गाथा का निर्माण श्री भूतबली के कथनानुसार हुआ है, किन्तु गाथा में **'अणियमो वा'** इन शब्दों द्वारा श्री यतिवृषभाचार्य के मत की भी सूचना दी गई है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दो महान् आचार्यों के दो भिन्न-भिन्न मत हैं। इन दोनों में से कौन ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वर्तमान में श्रुतकेवली का अभाव है।

कषायरहित जीव

अप्पपरोभयबाधणबंधासंजमणिमित्त—कोहादी।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ।।२८९।।[5]

---

१. धवल पु. १ पृ. ४४५। २. धवल पु. ७ पृ. १६१। ३. जयधवल पु. ७ पृ. ३२५। ४. जयधवल पु. १३ पृ. १५। ५. यह गाथा धवल पु. १ पृ. ३५१, तथा प्रा. पं. संग्रह पृ. २५ गा. ११६ पर भी है।

गाथार्थ—स्व और पर को तथा दोनों को बाधा देने, बन्धन करने तथा असंयम की निमित्तभूत क्रोध आदि कषाय जिनके नहीं है तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मल से रहित हैं, वे जीव अकषायी हैं ।।२८९।।

विशेषार्थ—क्रोधादि कषाय निज को कर्मबन्ध की कारण है तथा पर में कषाय उत्पन्न करने की कारण होने से पर को भी बन्ध की कारण है। अथवा निज में क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होने से तथा पर में कषायोत्पत्ति की कारण होने से निज और पर दोनों को बन्ध करने वाली है। इसी प्रकार कषाय करने वाला स्वयं दुखी होता है, दूसरों को दुःख उत्पन्न करता है अथवा निज और पर दोनों को बाधा उत्पन्न करने वाली कषाय है। कषाय के आवेश में इन्द्रियसंयम और प्राणी-संयम दोनों संयम नष्ट हो जाते हैं। जिन जीवों में ये क्रोध आदि कषायें नहीं हैं वे अकषाय जीव हैं। ये जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इन तीनों कर्म-मलों से रहित हैं, यह सिद्धों की अपेक्षा कथन है। अथवा जो भावकर्ममल से रहित हैं वे अमल हैं, यह कथन ग्यारहवें आदि गुणस्थानों की अपेक्षा है।[1]

शङ्का—कौन-कौन गुणस्थानवर्ती जीव अकषायी होते हैं ?

समाधान—उपशान्तकषायवीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोगकेवली इन चार गुणस्थानों में कषायरहित जीव होते हैं।

शङ्का—उपशान्तकषाय गुणस्थान को कषायरहित कैसे कहा ? क्योंकि अनन्त परमाणुरूप द्रव्यकषाय का सद्भाव होने से वह कषायरहित नहीं हो सकता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कषाय के उदय के अभाव की अपेक्षा उसमें कषायों से रहितपना बन जाता है।[2]

शक्ति, लेश्या व आयुबन्ध की अपेक्षा कषाय के भेद अर्थात् स्थान

कोहादिकसायाणं चउचउदसवीस होंति पदसंखा ।
सत्तीलेस्साआउगबंधाबंधगदभेदेहिं ।।२९०।।

सिलसेलवेणुमूलक्किमिरायादी कमेण चत्तारि ।
कोहादिकसायाणं सत्ति पडि होंति णियमेण ।।२९१।।

किण्हं सिलासमाणे किण्हादी छक्कमेण भूमिम्हि ।
छक्कादी सुक्कोत्ति य धूलिम्मि जलम्मि सुक्केक्का ।।२९२।।

सेलगकिण्हे सुण्णं णिरयं च य भूगएगबिट्ठाणे ।
णिरयं इगिबितिआऊ तिट्ठाणे चारि सेसपदे ।।२९३।।

धूलिगछक्कट्ठाणे चउराऊतिगदुगं च उवरिल्लं ।
पणचदुठाणे देवं देवं सुण्णं च तिट्ठाणे ।।२९४।।

---

१. श्रीमदभयचन्द्रसूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका। २. धवल पु. १ पृ. ३५२।

सुण्णं दुगइगिठाणे जलम्हि सुण्णं असंखभजिदकमा ।
चउचोदसबीसपदा असंखलोगा हु पत्तेयं ।।२९५।।

गाथार्थ—क्रोधादि चार कषायों के शक्ति की अपेक्षा चार, लेश्याओं की अपेक्षा चौदह, आयुबन्ध की अपेक्षा बीस स्थान होते हैं ।।२९०।। शिलाभेद, शैलस्तम्भ, बाँस की जड़, कृमिराग ये चार क्रमसे क्रोध आदि कषायों की शक्ति की अपेक्षा भेद हैं ।।२९१।। शिला समान शक्ति-भेद में कृष्ण लेश्या, पृथिवी समान कषाय भेद में कृष्ण आदि क्रमसे छहों लेश्याएँ, धूलि समान कषायभेद में छहों लेश्याओं से लेकर शुक्ल लेश्या पर्यन्त छह स्थान, जलरेखा समान कषायस्थान में शुक्ल लेश्या का एक स्थान होता है ।।२९२।। शैलगत कृष्ण लेश्या में शून्य तथा नरकायु बन्ध, पृथिवी समान कषायभेद के दो स्थानों में एक नरकायु का ही बन्ध होता है। उसके पश्चात् तीन स्थानों में क्रमसे एक आयु, दो आयु और तीन आयु का बन्ध होता है। शेष चार, पाँच व छह लेश्या वाले स्थानों में चारों आयु का बन्ध होता है ।।२९३।। धूलिभेद गत छहों लेश्यावाले स्थानों में क्रम से चार आयु, तीन आयु और दो आयु का बन्ध, उसके आगे पाँच लेश्यावाले और चार लेश्या वाले स्थान में एक देव आयु का बन्ध, तीन लेश्या वाले स्थान में देवायु का बन्ध व शून्य है ।।२९४।। दो लेश्या वाले और एक लेश्या वाले स्थान में शून्य। जलभेदगत एक लेश्या स्थान में शून्य। इस प्रकार चार, चौदह और बीस स्थान कहे गये हैं। प्रत्येक के असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ।।२९५।।

विशेषार्थ– सर्वप्रथम कषायों के शक्ति की अपेक्षा चार भेद करने चाहिए। जैसे क्रोध के शिलाभेद, पृथिवीभेद, धूलि (बालुका) भेद, जलभेद; मान के शैलस्तम्भ, अस्थिस्तम्भ, काष्ठ स्तम्भ और बेंत स्तम्भ; माया के बाँसमूल की वक्रता, मेढ़े के सींग की वक्रता, गोमूत्र वक्रता, खुरपा वक्रता, लोभ के चार भेद कृमिराग, चक्रमल, शरीर मल, हरिद्र रंग। इन चार स्थानों के लेश्या की अपेक्षा भेद करने चाहिए। शिलाभेद में एक कृष्ण ही लेश्या है, इसलिए उत्तरस्थान एक है। पृथिवीभेद में छहों लेश्या हैं अतः छह स्थान इस प्रकार हैं—१. कृष्ण लेश्या, २. कृष्ण व नील लेश्या का मिश्रित स्थान, ३. कृष्ण, नील व कापोत लेश्या का मिश्रित स्थान, ४. कृष्ण, नील, कापोत व पीत लेश्या का मिश्रित स्थान, ५. कृष्ण, नील, कापोत, पीत व पद्म लेश्या का मिश्रित स्थान, ६. कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या का मिश्रित स्थान, ये छह उत्तरस्थान लेश्या की अपेक्षा पृथिवी शक्ति स्थान के हैं। इसी प्रकार धूलिभेद के छहों लेश्या, पाँचलेश्या, चारलेश्या, तीन शुभ लेश्या, दो शुभ लेश्या और एक शुक्ल लेश्या की अपेक्षा, छह स्थान जानने चाहिए। जलभेद में शुक्ल लेश्या एक ही स्थान है। लेश्या की अपेक्षा कुल स्थान–शिलाभेद का १, पृथिवीभेद के छह, धूलिभेद के छह, जलभेद का १ (१+६+६+१) इस प्रकार १४ होते हैं।

आयुबन्ध की अपेक्षा शिलाभेद में दो उत्तरोत्तर स्थान एक अबन्ध दूसरा नरकायु का इस प्रकार दो स्थान, पृथिवी भेद में कुल ८ स्थान—१. कृष्णलेश्या नरकायु, २. कृष्ण नील लेश्या नरकायु, ३. कृष्ण नील कापोत मिश्रित लेश्या में १ नरकायु, २. नरकायु तिर्यंचायु, ३. नरकायु-तिर्यंचायु और मनुष्यायु ये तीन, ४. कृष्ण आदि चार मिश्रित लेश्या में चारआयु का एक स्थान, ५. कृष्ण आदि पाँच मिश्रित लेश्या में चारों आयु का एक बन्धस्थान, ६. छहों मिश्रित लेश्या में चारों आयु का एक बन्धस्थान इस प्रकार पृथिवीभेद के छह लेश्या स्थानों में आयुबन्ध के ८ स्थान

होते हैं। धूलिभेद में आयुबन्ध के ६ स्थान इस प्रकार हैं—१. छहों मिश्रित लेश्या स्थान में १ चारों आयु का बन्ध स्थान, २. नरक बिना तीन आयु का बन्ध स्थान, ३. मनुष्य व देवायु का बन्ध स्थान ये तीन आयुबन्ध स्थान; २. कृष्ण बिना पाँच लेश्याओं के मिश्रित स्थान में देवायु का एक बन्ध स्थान ३. कृष्ण नील बिना चार लेश्याओं के मिश्रित स्थान में देवायु का एक बन्धस्थान; ४. पीतादि तीन शुभ लेश्या मिश्रित स्थान में एक देवायु का बन्ध स्थान दूसरा अबन्ध स्थान इस प्रकार दो स्थान; ५. पद्म व शुक्ल मिश्रित लेश्या में एक अबन्ध स्थान, ६. शुक्ल लेश्या में एक अबन्ध स्थान इस प्रकार धूलिभेद के छह लेश्या-छह लेश्या स्थानों में आयु बन्ध के (३ + १ + १ + २ + १ + १) ६ स्थान होते हैं। जलभेद के एक लेश्यास्थान में आयुबन्ध का एकस्थान होता है। चार शक्तिभेदों के १४ लेश्यास्थानों में (२ + ८ + ६ + १) २० आयुबन्ध स्थान होते हैं। यह विषय आगे दी गई तालिका पर दृष्टि डालने मात्र से स्पष्ट हो जाता है।

इन गाथाओं से तथा धवल पु. १६ पृ. ४९६ से ४९७ के कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि छहों लेश्याओं में कुछ अंश ऐसे हैं जो छहों लेश्याओं में साधारण हैं, अन्यथा पृथिवी व धूलिभेद में छह लेश्या का एक स्थान सम्भव नहीं हो सकता तथा वह स्थान भी चारों आयुबन्ध के योग्य हो।

तीव्र-मन्दता की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट संक्रम और प्रतिग्रह के अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नीललेश्या का जघन्य लेश्यास्थान स्तोक है। नीललेश्या के जिस स्थान में कृष्णलेश्या से प्रतिग्रहण होता है, वह नीललेश्या का जघन्य प्रतिग्रह स्थान उससे अनन्तगुणा है। कृष्ण का जघन्य संक्रमस्थान और जघन्य कृष्णस्थान दोनों ही तुल्य व अनन्तगुणे हैं। नील का जघन्य संक्रमस्थान अनन्तगुणा है। कृष्ण का जघन्य प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। नील का उत्कृष्ट प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। कृष्ण का उत्कृष्ट संक्रमस्थान अनन्तगुणा है। नील का उत्कृष्ट संक्रमस्थान और उत्कृष्ट नीलस्थान दोनों ही तुल्य व अनन्तगुणे हैं। कृष्ण का उत्कृष्ट प्रतिग्रह स्थान अनन्तगुणा है। उत्कृष्ट कृष्णलेश्या-स्थान अनन्तगुणा है।[1]

इस अल्पबहुत्व से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णलेश्या और नीललेश्या के कुछ मध्यम अंश परस्पर समान हैं। इसी प्रकार नीललेश्या और कापोतलेश्या के संक्रमणस्थान व प्रतिग्रहस्थानों के अल्पबहुत्व कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि नील और कापोतलेश्या के कुछ मध्यम अंश एक हैं। इसी प्रकार कापोत व तेजोलेश्या, तेजोलेश्या व पद्मलेश्या, पद्मलेश्या व शुक्ललेश्या के संक्रमण व प्रतिग्रहस्थानों के अल्पबहुत्व के कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि ऊपर व नीचे की लेश्याओं के कुछ मध्यम अंश परस्पर सदृश हैं। अत: निम्नलिखित अल्पबहुत्व कहा गया है—

कापोत का जघन्यस्थान सबसे मन्द अनुभाग से संयुक्त है, नीललेश्या का जघन्यस्थान उससे अनन्तगुणा है। कृष्णलेश्या का जघन्य स्थान उससे अनन्तगुणा है, तेजलेश्या का जघन्य स्थान अनन्त-गुणा है, पद्मलेश्या का जघन्यस्थान अनन्तगुणा है, शुक्ललेश्या का जघन्य स्थान अनन्तगुणा है, कापोत का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है, नील का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है, कृष्ण का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है, तेज का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है, पद्म का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है, शुक्ल का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है।[2]

---

१. धवल पु. १६ पृ. ४९६। २. धवल पु. १६ पृ. ४८९।

कषाय के शक्तिस्थान, लेश्यास्थान और आयुबन्धाबन्ध स्थान सम्बन्धी तालिका

[गाथा २९०–२९५]

शक्ति स्थान ४	लेश्यास्थान १४	आयुबन्धाबन्ध स्थान २०
१ शिलाभेद समान	१ कृष्णलेश्या	० अबन्ध
		१ नरकायु
१ पृथ्वीभेद समान	१ कृष्ण	१ नरकायु
	२ कृष्ण, नील	१ नरकायु
	३ कृष्णादि तीन लेश्या	१ नरकायु
		२ नरकतिर्यंचायु
		३ नरकतिर्यंचमनुष्यायु
	४ कृष्णादि चार लेश्या	४ सर्व आयु
	५ कृष्णादि पाँच लेश्या	४ सर्व आयु
	६ कृष्णादि छह लेश्या	४ सर्व आयु
१ धूलिरेखा समान	६ कृष्णादि छह लेश्या	४ सर्व आयु
		३ मनुष्यदेव तिर्यंचायु
		२ मनुष्यदेवायु
	५ कृष्ण बिना पाँच लेश्या	१ देवायु
	४ कृष्ण, नील बिना चार लेश्या	१ देवायु
	३ पीतादि तीन लेश्या	१ देवायु
		० अबन्ध
	२ पद्म और शुक्ल दो लेश्या	० अबन्ध
	१ शुक्ल लेश्या	० अबन्ध
१ जलरेखा समान	१ शुक्ल लेश्या	० अबन्ध

शङ्का—शुक्ल लेश्या में स्थित जीव पद्म, तेज, कापोत और नील लेश्याओं को लांघकर कैसे एक साथ कृष्णलेश्या में परिणत हो सकता है ?

समाधान—मध्यम शुक्ल लेश्या वाला देव-आयु के क्षीण होने पर जघन्य शुक्ललेश्या आदि से परिणमन न करके अशुभ तीन लेश्याओं में गिरता है।[1]

यद्यपि इन प्रकरणों में यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है तथापि इन प्रकरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि छहों लेश्याओं के कुछ मध्यम अंश परस्पर समान हैं।[2]

इस विषय का किसी भी आचार्य ने उल्लेख नहीं किया है अतः यह विषय ग्राह्य नहीं है किन्तु विचारणीय है। विचारार्थ ही इस विषय को यहाँ पर लिखा गया है।

कषायमार्गणा में जीवों की संख्या

पुह पुह कसायकालो णिरये अंतोमुहुत्तपरिमाणो ।
लोहादी संखगुणो देवेसु य कोहपहुदीदो ॥२९६॥
सव्वसमासेणवहिदसगसगरासी पुणोवि संगुणिदे ।
सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीणपरिमाणं ॥२९७॥[3]

गाथार्थ—नारकियों में पृथक्-पृथक् कषाय का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त है तथापि लोभादि कषायों का काल पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर संख्यात गुणा है। इसी प्रकार देवों में क्रोधादि कषायों का काल पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर संख्यात गुणा है। समस्त कषायों के उदयकाल के जोड़ का—अपनी-अपनी गति सम्बन्धी जीवराशि में भाग देने से जो लब्ध प्राप्त हो उसको अपनी-अपनी गति सम्बन्धी विवक्षित कषाय के उदय काल से गुणा करने पर तत्-तत् कषाय सम्बन्धी जीवराशि का प्रमाण प्राप्त होता है ॥२९६-२९७॥

विशेषार्थ—क्रोध कषाय का काल, मान कषाय का काल, माया कषाय का काल और लोभ कषाय का काल जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त है।[4] नरक गति में लोभ का काल सबसे स्तोक है, उससे माया का काल संख्यात गुणा है, उससे मान का काल संख्यात गुणा है उससे क्रोध का काल संख्यातगुणा है, इसी प्रकार देवगति में भी जानना चाहिए, इतनी विशेषता है कि लोभ का काल संख्यातगुणा है, इस स्थान के प्राप्त होने तक विलोम क्रमसे जानना चाहिए।[5] इस का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरक गति में क्रोध मान पुनः क्रोध मान यह अवस्थित परिपाटी है। इस परिपाटी से

---

१. धवल पु. ८ पृ. ३२२। २. गाथा ४९९-५०६ की टीका भी देखें। ३. गो. जी. (कलकत्ता संस्करण) शास्त्राकार पृ. ६३२ और ६३४ पर वृत्तियों में लिखा है कि ये गाथाएँ माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव की हैं। ४. कोधद्धा माणद्धा मायाद्धा लोहद्धा जहण्णियाओ वि उक्कस्सियाओ वि अंतोमुहुत्तं। [ज.ध. पु. १२ पृ. १५]। ५. ज.ध. पु. १२ पृ. १९।

हजारों बार परिवर्तन करके तदनन्तर एक बार माया रूप परिवर्तन होता है,[1] क्योंकि नारकी जीव अत्यन्त दोषबहुल होते हैं, इसलिए उनमें क्रोध और मान की प्रचुरता पाई जाती है। इस प्रकार पुनः पुनः परिवर्तन होने पर मायारूप परिवर्तन भी संख्यात हजार बार हो जाते हैं तब विसदृश परिपाटी के अनुसार एक बार लोभ सम्बन्धी परिवर्तनबार होता है। माया सम्बन्धी प्रत्येक परिवर्तनबार क्रोध और मान के संख्यात हजार परिवर्तनबारों का अविनाभावी है। इस प्रकार माया सम्बन्धी संख्यात हजार परिवर्तन बारों के होने के पश्चात् एक बार लोभ रूप से परिणमता है।

शङ्का – ऐसा किस कारण से होता है?

समाधान—अत्यन्त पापबहुल नरकगति में प्रेयस्वरूप लोभ परिणाम अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार यह क्रम अपनी विवक्षित स्थिति के अन्तिम समय तक चलता रहता है। इसकी संदृष्टि इस प्रकार है—नरक गति में संख्यात वर्ष की आयु वाले भव में या असंख्यात वर्ष की आयु वाले भव में क्रोध-मान १ १ ० ० पुनः क्रोध-मान २ २ ० ० इस प्रकार के संख्यात हजार परिवर्तनबारों के हो जाने पर अन्तिम बार में क्रोध होकर मान का उल्लंघन कर एक बार माया रूप परिवर्तन होता है।[2] उसकी संदृष्टि यह है –३ २ १ ०। फिर भी इसी पूर्वोक्त विधि से ही क्रोध मान इस प्रकार संख्यात हजार परिवर्तन बारों के हो जाने पर पुनः अन्तिम बार में क्रोध होकर मान का उल्लंघन कर मायारूप एक बार परिवर्तन करता है। इसकी संदृष्टि ३ २ १ ०। फिर भी इसी पूर्वोक्त विधि से संख्यात हजार माया सम्बन्धी परिवर्तनबारों के भी समाप्त हो जाने पर उसके अनन्तर जो परिपाटी होती है उसमें क्रोध होकर मान व माया का उल्लंघन कर एक बार लोभ रूप से परिणमता है। उसकी संदृष्टि ३ २ ० १ है। फिर भी इसी विधि से ३/३ २/२ १/१ ०/० माया परिवर्तन बारों के संख्यात हजार बार परिवर्तित होने पर पुनः क्रोध होकर तथा मान और माया का उल्लंघन कर एक बार लोभ रूप से परिणमता है। उसकी संदृष्टि ३ २ ० १ है। फिर भी इसी क्रम से ३/३ २/२ १/१ ०/० माया के परिवर्तन बारों के संख्यात हजार बार हो जाने पर एक बार लोभ परिणमता है। उसकी संदृष्टि ३ २ ० १ है। इस प्रकार पहले प्राप्त हुई आयु के अन्तिम समय तक जानना चाहिए। यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ के परिवर्तन बारों का पूरा योग—क्रोध २७, मान १८, माया ६, लोभ ३।[3]

इन परिवर्तन बारों का अल्पबहुत्व निम्न प्रकार है—

इस प्ररूपणा के अनुसार एक भवग्रहण में नरकगति में संख्यात वर्षवाले भव में या असंख्यात वर्ष वाले भव में लोभ के परिवर्तनबार सबसे स्तोक हैं। क्योंकि नरकगति में लोभ के परिवर्तन बार अत्यन्त विरल पाये जाते हैं। उससे माया कषाय के परिवर्तन बार संख्यातगुणे हैं, क्योंकि लोभ के एक-एक परिवर्तन बार में माया के परिवर्तन बार संख्यात हजार होते हैं। उनसे मान कषाय के परिवर्तनबार संख्यातगुणे हैं क्योंकि माया के एक-एक परिवर्तनबार में मान के परिवर्तनबार संख्यात हजार होते हैं। उनसे क्रोध के परिवर्तनबार विशेष अधिक हैं विशेष का प्रमाण अपना संख्यातवाँ भाग है। मान के परिवर्तनबारों से लोभ और माया के परिवर्तनमात्र विशेष अधिक हैं।

---

१. "णिरय गइए कोहो माणो कोहो माणो त्ति बार-सहस्साणि परियत्तिदूण सइं माया परिवत्तदि।" [ज.ध. पु. १२ पृ. ३४]। २. ज.ध. पु. १२ पृ. ३५]। ३. ज.ध. पु. १२ पृ. ३६।

अर्थात् मानकषाय के परिवर्तन बारों में लोभ और माया के परिवर्तन बारों के मिला देने से क्रोध के परिवर्तनबार आजाते हैं।[1] अंक संदृष्टि अनुसार लोभ के परिवर्तनबार ३, माया के परिवर्तनबार संख्यात गुणे अर्थात् ६, मान के परिवर्तन बार संख्यात गुणे अर्थात् १८। इस १८ में ३ व ६ मिला देने पर (१८ + ३ + ६) २७ क्रोध के परिवर्तनबार प्राप्त होते हैं।

देवगति में लोभ-माया पुनः लोभ-माया इस प्रकार संख्यात हजार बार जाकर तदनन्तर एक बार मान रूप परिणमन होता है। क्योंकि प्रेयस्वरूप लोभ और माया की वहाँ बहुलता से उत्पत्ति देखी जाती है इसलिए लोभ और माया के द्वारा संख्यात हजार बारों को प्राप्त होकर उसके बाद लोभरूप से परिणमन कर माया के योग्य स्थान में माया का उल्लंघन कर एक बार मान रूप से परिवर्तित होता है। इस प्रकार इस क्रम से पुनः पुनः करने पर मान के परिवर्तितबार भी संख्यात हजार हो जाते हैं।[2] तदनन्तर अन्य प्रकार का परिवर्तन होता है। मान के संख्यात हजार परिवर्तन बारों के होने पर एक बार क्रोधरूप परिवर्तन होता है। प्रत्येक मानकषाय का परिवर्तनबार लोभ और माया के संख्यात हजार परिवर्तन बारों का अविनाभावी है, इस क्रम से मानकषाय के संख्यात हजार परिवर्तन बारों के हो जाने पर एक बार क्रोधरूप से परिवर्तित होता है। क्योंकि देवगति में अप्रशस्ततर क्रोध परिणाम की प्रायः उत्पत्ति नहीं है। इस प्रकार प्राप्त हुई आयु के अन्तिम समय तक यह परिवर्तनक्रम होता रहता है। अंक संदृष्टि में लोभकषाय के परिवर्तनबार २७, माया के १८, मान के ६ और क्रोध के ३।[3]

देवगति में क्रोधकषाय के परिवर्तनबार सब थोड़े हैं। उनसे मानकषाय के परिवर्तनबार संख्यातगुणे हैं। उनसे मायाकषाय के परिवर्तनबार संख्यातगुणे हैं। उनसे लोभकषाय के परिवर्तनबार विशेष अधिक हैं। विशेष का प्रमाण अपना संख्यातवाँभाग है जो क्रोध और मान के परिवर्तनबार हैं, उतना है।[4] देवगति के कषाय सम्बन्धी काल का योग करके उससे देवों की ओघ जीवराशि को खण्डित करके जो लब्ध आवे उसकी चार प्रतिराशियाँ करके उन्हें परिपाटी क्रम से उन्हें क्रोधादिक के कालों से गुणित करने पर अपनी-अपनी राशियाँ होती हैं।[5] इसी प्रकार नारकियों में जानना चाहिए।

मनुष्य तथा तिर्यंचों में कषाय सहित जीवों का प्रमाण

णरतिरिय लोहमायाकोहो माणो विइंदियादिव्व ।
आवलिअसंखभज्जा सगकालं वा समासेज्ज ।।२६८।।

गाथार्थ—जिस प्रकार द्वीन्द्रिय आदि जीवों की संख्या प्राप्त की है उसी क्रम से मनुष्य व तिर्यंचों के लोभ, माया, क्रोध व मान वाले जीवों का प्रमाण आवली के असंख्यातवें भाग क्रम से प्राप्त कर लेना चाहिए। अथवा निज-निज काल का आश्रय करके उक्त कषाय वाले जीवों का प्रमाण निकालना चाहिए।।२६८।।

विशेषार्थ—ओघ से मान का काल सबसे स्तोक है। उससे क्रोध का काल विशेष अधिक है। उससे माया का काल विशेष अधिक है। उससे लोभ का काल विशेष अधिक है। प्रवाह्यमान

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. ३८-४०। २. जयधवल पु. १२ पृ. ३७। ३. जयधवल पु. १२ पृ. ३८। ४. जयधवल पु. १२ पृ. ४०-४१। ५. धवल पु. ३ पृ. ४२७।

(श्रीनागहस्ती) उपदेश अनुसार कालों का परस्पर विशेष अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त अनेक प्रकार का है—संख्यात आवलीप्रमाण, आवली के संख्यातवेंभाग प्रमाण तथा आवली के असंख्यातवेंभाग प्रमाण। यहाँ पर आवली के असंख्यातवेंभाग प्रमाण परस्पर कषायों के कालों का विशेष है, क्योंकि पूर्वाचार्यों का सम्प्रदाय उसी प्रकार पाया जाता है। इस प्रकार ओघ से तिर्यंचगति और मनुष्य गति की प्रधानता से अल्पबहुत्व कहा गया है, क्योंकि मनुष्य व तिर्यंचों के अतिरिक्त अन्य गतियों में मान का काल सबसे स्तोक नहीं होता।[1]

ओघ से लोभ, माया, क्रोध, मान इस परिपाटी से असंख्यात परिवर्तनबारों के हो जाने पर एक बार लोभकषाय का परिवर्तनबार अधिक होता है। इस प्रकार लोभ सम्बन्धी असंख्यात परिवर्तन-बारों के अतिरिक्त हो जाने पर क्रोध सम्बन्धी परिवर्तनबारों से माया सम्बन्धी परिवर्तनबार अतिरिक्त होता है। इस प्रकार माया सम्बन्धी असंख्यात परिवर्तनबारों के अतिरिक्त हो जाने के बाद मान सम्बन्धी परिवर्तनबारों से क्रोध सम्बन्धी परिवर्तनबार अतिरिक्त अर्थात् अधिक होते हैं। यह प्ररूपणा ओघ से की गई है। उसमें भी तिर्यंचगति और मनुष्यगति में ओघ प्ररूपणा से आदेश प्ररूपणा में कोई भेद नहीं है अत: यह कहा गया है कि इसी प्रकार तिर्यंचगति और मनुष्यगति में जानना चाहिए।[2]

चारों कषाय वाले मनुष्य व तिर्यंचों की संख्या परस्पर समान नहीं है, क्योंकि चारों कषायों का काल समान नहीं है। तिर्यंच और मनुष्यों में मान का काल सबसे स्तोक है। क्रोध का काल मान के काल से विशेष अधिक है। आवली के असंख्यातवें भाग से विशेष अधिक है। माया का काल क्रोध के काल से विशेष अधिक है। आवली के असंख्यातवें भाग से विशेष अधिक है। लोभ का काल माया के काल से विशेष अधिक है। आवली का असंख्यातवाँ भाग विशेष अधिक है। इस प्रकार कालों के विसदृश रहने पर जिनका निर्गम और प्रवेश समान है और सन्तान की अपेक्षा गंगानदी के प्रवाह के समान जो अवस्थित हैं, ऐसी वहाँ स्थित उन राशियों की सदृशता नहीं बन सकती। चारों कषायों के कालों का योग करके उसका चारों कषाय वाली अपनी-अपनी राशि में भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसकी चार प्रतिराशियाँ करके मानादि कषायों के कालों से परिपाटी क्रम से गुणित करने पर अपनी-अपनी राशियाँ होती हैं।[3]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **कषायमार्गणा** नाम का ग्यारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१२. ज्ञानमार्गणाधिकार

ज्ञान का निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ॥२९९॥[4]

गाथार्थ—जिसके द्वारा त्रिकालविषयक द्रव्य और बहुभेद सहित उनके गुण तथा उनकी

---

१. ज.ध. पु. १२ पृ. १७-१८। २. कषायपाहुडसुत्त पृ. ५६९-५७० सूत्र १०७-११०। ३. धवल पु. ३ पृ. ४२५।
४. यह गाथा धवल पु. १ में गाथा नं. ९१ पृ. १४४ पर है तथा प्रा.पं.सं.पृ. २५ गा. ११७ व पृ. ५७९ गा. १०६।

अनेक प्रकार की पर्यायें प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से जानी जाती हैं, वह ज्ञान कहा गया है ।।२९९।।

विशेषार्थ—भूतार्थ (सत् रूप अर्थ) को प्रकाश करने वाला ज्ञान है ।[1]

शङ्का—मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भूतार्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के ज्ञात में समानता पाई जाती है ।[2]

शङ्का—यदि दोनों के ज्ञान में समानता पाई जाती है, तो मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—मिथ्यात्व सहित ज्ञान को ही ज्ञान का कार्य नहीं करने से अज्ञान कहा है। जैसे पुत्रोचित कार्य को नहीं करने वाले पुत्र को ही अपुत्र कहा जाता है।

शङ्का—ज्ञान का कार्य क्या है ?

समाधान—तत्त्वार्थ में रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का धारण करना ज्ञान का कार्य है। यह कार्य मिथ्यादृष्टि जीव में नहीं पाया जाता इसलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा है।[3] इच्छा प्रकट करना **रुचि है**।[4] स्वरूप का निर्णय करना **निश्चय है**। निर्णय से चलायमान न होना **श्रद्धा** है। अथवा फल दो प्रकार का होता है—साक्षात् फल और पारम्पर्य फल। वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह ज्ञान का साक्षात् फल है। हान, उपादान और उपेक्षा ये पारम्पर्य फल हैं। हान अर्थात् जानने के पश्चात् अनिष्ट या अहितकर वस्तु के परित्याग करने को **हान** कहते हैं। उपादान—जानने के पश्चात् इष्ट या हितकर वस्तु का ग्रहण करना **उपादान है**। वीतराग दशा में पदार्थ को जानने के पश्चात् उसमें हेय-उपादेय की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु उपेक्षा या उदासीनता रूप माध्यस्थ भाव पैदा होता है यह **उपेक्षा** है।[5]

जो जानता है, वह ज्ञान है अर्थात् साकार उपयोग ज्ञान है अथवा जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्म के एकदेश क्षय से अथवा सम्पूर्ण ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणाम को ज्ञान कहते हैं[6] कर्म-कर्तृ भाव का नाम आकार है, उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है, उसका नाम साकार है।[7] प्रमाण से पृथक्भूत कर्म को आकार कहते हैं।[8] अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय जो प्रतिभासमान होता है, उसे **आकार** कहते हैं।

द्रव्य अनादि अनन्त है। द्रव्यदृष्टि से न तो द्रव्य का नाश होता है और न किसी नवीन द्रव्य

---

१. "भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्" [धवल पु. १ पृ. १४२] व मूलाचार पृ. २७७]। २. धवल पु. १ पृ. १४२। ३. धवल पु. १ पृ. ३५३ व धवल पु. ५ पृ. २२४। ४. भावपाहुड़ गा. ८२ टीका। ५. श्री पं. हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत 'अनुवादप्रमेयरत्नमाला' पृ. ३००-३०१। ६. धवल पु. १ पृ. ३५३। ७. "कम्म-कत्तार-भावो आगारो तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति।" [धवल पु. १३ पृ. २०७]। ८. "पमाणदो, पुधभूदं कम्ममायारो।" [जयधवल पु. १ पृ. ३३१]।

का उत्पाद होता है इसलिए गाथा में द्रव्य को त्रैकालवर्ती कहा है। ऐसे बहुत प्रकार के द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायें जिसके द्वारा जानी जाती हैं वह ज्ञान है। जीव और अजीव दो प्रकार के द्रव्य हैं। पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य के भेद से अजीव द्रव्य पाँच प्रकार का है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि जीवद्रव्य के गुण हैं। स्पर्श रस गन्ध वर्ण आदि पुद्गल द्रव्य के गुण हैं। संसारी मुक्त अथवा त्रस स्थावर आदि जीवद्रव्य की पर्यायें हैं। अणु और स्कन्ध आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं

वह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दो प्रकार का है। —प्रत्यक्ष–जो अक्ष कहिये आत्मा के आश्रित हो वह मुख्य प्रत्यक्ष ज्ञान है।[1] 'अक्ष' अर्थात् आत्मा, उससे "पर" (अन्य) जो इन्द्रियाँ उनके द्वारा अभिवर्द्धन को प्राप्त होने वाला ज्ञान परोक्ष है।[2]

जो ज्ञान अनन्त शुद्ध है, चैतन्य सामान्य के साथ जिसका अनादि सम्बन्ध है, जो एक अक्ष कहिये आत्मा से प्रतिनियत है–जिसको इन्द्रिय आदि व प्रकाश आदि की सहायता की आवश्यकता नहीं है, जो अनन्त शक्तिशाली होने के कारण अनन्त है, ऐसा वह प्रत्यक्ष ज्ञान समस्त ज्ञेयों को जानता है, कोई भी ज्ञेय उस ज्ञान से बाहर नहीं रहा। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के पाँच विशेषण दिये गये हैं। अर्थात् पाँच विशेषणों द्वारा प्रत्यक्ष को बतलाया गया है।[3]

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥[4]

—ज्ञेय पदार्थ सम्बन्धी जो ज्ञान पर के निमित्त या सहायता से होता है, वह ज्ञान परोक्ष है और जो ज्ञान केवल (बिना इन्द्रियादि की सहायता के) आत्मा के द्वारा जानता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

अथवा विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहित और विशेषता से होने वाले प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं। अविशदस्वरूप वाला जो ज्ञान है वह परोक्ष है।[5]

असहायज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।[6] अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है, इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है।[7] कर्मों के क्षयोपशम आदि, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रियों की व मन की तथा प्रकाश आदि की सहायता की अपेक्षा के बिना ही केवलज्ञान ज्ञेयों को जानता है इसलिये वह असहाय है किन्तु ज्ञेयों की अपेक्षा रहती है क्योंकि केवलज्ञान ज्ञेय प्रमाण है (प्रवचनसार गा. २३)[8] और ज्ञेयों के बिना ज्ञान उत्पन्न हो नहीं सकता।[9] इसलिए अर्थ (ज्ञेयों) की सहायता की अपेक्षा रहती है।

---

१. "अक्षमात्मानं प्रत्याऽऽश्रितं प्रत्यक्षमिति मुख्यप्रत्यक्षम्" [प्रमेयरत्नमाला पृ. ४३] २. "अक्ष आत्मा तस्मात् परावृत्तं परोक्षम्। अथवा परैरिन्द्रियादिभिरुक्ष्यते सिच्यतेऽभिवर्द्धत इति परोक्षम्।" [प्रमेयरत्नमाला पृ.४३]। ३. प्रवचनसार गाथा ५४ श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका। ४. प्रवचनसार। ५. विशदं प्रत्यक्षम् ॥१॥ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥२/४ प. मु.॥ परोक्षमितरत् ॥३/१॥ [परीक्षामुख]। ६. "केवलमसहायं" [जयधवल पु. १ पृ. २१]। "आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्।" [जयधवल १/२३]"। ८. "णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ॥" [प्रवचनसार गाथा २१]। ९. "णेयेण विणा कहं णाणं।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २४७]।

ज्ञान के भेद, मिथ्याज्ञान का कारण और उसका स्वामी

पंचेव होंति णाणा मदिसुदओहीमणं च केवलयं।
खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ॥३००॥[1]
अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये।
णवरि विभंगं णाणं पंचिंदियसण्णिपुण्णेव ॥३०१॥[2]

गाथार्थ—ज्ञान पाँच प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान। इनमें से आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञान क्षायिक है ॥३००॥ आदि के तीनों समीचीन ज्ञान, मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर अज्ञान हो जाते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि विभंग ज्ञान संज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्याप्त के ही होता है ॥३०१॥

विशेषार्थ—ज्ञान आठ प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मतिकुज्ञान, श्रुतकुज्ञान और विभंगज्ञान। इनमें से आदि के पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं और अन्त के तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥[3]

शङ्का—अज्ञान कहने पर क्या ज्ञान का अभाव ग्रहण किया गया है? ज्ञान के अभाव में जीव के अभाव का प्रसंग आता है, क्योंकि ज्ञान जीव का लक्षण है। यदि अज्ञान कहने पर ज्ञान का अभाव न माना जाय तो फिर प्रतिषेध के फलाभाव का प्रसंग आता है?

समाधान—प्रथम पक्ष में कहे गये दोष की प्रस्तुत कथन में संभावना नहीं है, क्योंकि यहाँ पर प्रसज्य प्रतिषेध अर्थात् अभाव मात्र से प्रयोजन नहीं है। दूसरे पक्ष में कहा गया दोष भी नहीं आता, क्योंकि यहाँ जो अज्ञान शब्द से ज्ञान का प्रतिषेध किया गया है, उसकी आत्मा को छोड़ अन्य समीपवर्ती प्रदेश में स्थित समस्त द्रव्यों में स्व-पर विवेक के अभावरूप सफलता पायी जाती है। अर्थात् स्व-पर विवेक से रहित जो पदार्थज्ञान होता है उसे ही यहाँ अज्ञान कहा है।

शङ्का—तो यहाँ सम्यग्दृष्टि के ज्ञान का भी प्रतिषेध क्यों न किया जाय, क्योंकि विधि और प्रतिषेध भाव से मिथ्यादृष्टि ज्ञान और सम्यग्दृष्टि ज्ञान में कोई विशेषता नहीं है?

समाधान—यहाँ अन्य पदार्थों में परत्वबुद्धि के अतिरिक्त भाव अर्थात् पदार्थ सामान्य का अपेक्षा प्रतिषेध नहीं किया गया जिससे सम्यग्दृष्टि ज्ञान का भी प्रतिषेध हो जाय। किन्तु ज्ञातवस्तु में विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के उदय के बल से जहाँ पर जीव में अपने जाने हुए पदार्थ में श्रद्धान नहीं उत्पन्न होता, वहाँ जो ज्ञान होता है, वह अज्ञान है, क्योंकि उसमें ज्ञान का फल नहीं पाया जाता।[4]

---

१. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।" [तत्त्वार्थसूत्र १/९]। २. "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।" [त.सू. १/३१]। ३. बृहद् द्रव्यसंग्रह गा. ५। ४. धवल पु. ७ पृ. ८४-८५।

शङ्का—घट, पट, स्तम्भ आदि पदार्थों में मिथ्यादृष्टियों के भी यथार्थज्ञान व श्रद्धान पाया जाता है ?

समाधान—नहीं पाया जाता, क्योंकि उनके उस ज्ञान में भी अनध्यवसाय अर्थात् अनिश्चय देखा जाता है। यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'यह ऐसा ही है' ऐसे निश्चय का वहाँ अभाव होता है। अथवा यथार्थ दिशा के सम्बन्ध में विमूढ़ जीव वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार इन्द्रिय-विषयों के ज्ञानानुसार श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहलाता है, क्योंकि उसके यथार्थ ज्ञान की दिशा में श्रद्धान का अभाव है। इसी प्रकार स्तंभादि पदार्थों में यथाज्ञान श्रद्धा रखता हुआ भी जीव जिन भगवान के वचनानुसार श्रद्धान के अभाव में अज्ञानी कहलाता है।[1]

क्षायोपशमिक लब्धि से जीव मत्यज्ञानी आदि होता है ॥४५॥[2] अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और तीन अज्ञान क्षायोपशमिक भाव हैं।

शङ्का—मति अज्ञानी के क्षायोपशमिक लब्धि कैसे मानी जा सकती है ?

समाधान—क्योंकि, उस जीव के मत्यज्ञानावरणकर्म के देशघाती स्पर्धकों के उदय से मत्यज्ञानित्व पाया जाता है।

शङ्का—यदि देशघाती स्पर्धकों के उदय से अज्ञानित्व होता है तो अज्ञानित्व को औदयिक भाव मानने का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं आता, क्योंकि वहाँ सर्वघाती स्पर्धकों के उदय का अभाव है।

शङ्का—तो फिर अज्ञानित्व में क्षायोपशमिकत्व क्या है ?

समाधान—आवरण के होते हुए भी आवरणीय ज्ञान का एकदेश जहाँ पर उदय में पाया जाता है, उसी भाव को क्षायोपशमिक नाम दिया गया है। इससे अज्ञान को क्षायोपशमिक भाव मानने में कोई विरोध नहीं आता। अथवा ज्ञान के विनाश का नाम क्षय है। उस क्षय का उपशम हुआ एकदेशक्षय है। इस प्रकार एकदेशीयक्षय की क्षयोपशम संज्ञा मानी जा सकती है। ऐसा क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान या अज्ञान उत्पन्न होता है, वही क्षायोपशमिक लब्धि है।

इसी प्रकार श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को भी क्षायोपशमिक भाव कहना चाहिए। विशेषता केवल यह है कि इन सब ज्ञानों में अपने-अपने आवरणों के देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक लब्धि होती है।

शङ्का—इन सातों ज्ञानों के सात ही आवरण क्यों नहीं होते ?

समाधान—नहीं होते, क्योंकि पाँच ज्ञानों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान पाये नहीं जाते। किन्तु इससे मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान का अभाव नहीं हो जाता, क्योंकि उनका यथाक्रम से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर्भाव होता है।[3]

---

१. धवल पु. ७ पृ. ८६। २. "खओवसमियाएलद्धीए।" [धवल पु. ७ पृ. ८६]। ३. धवल पु. ७ पृ. ८७।

शङ्का--पहले इन्द्रिय मार्गणा और योग मार्गणा में सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से, उन्हीं स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव की प्ररूपणा की गई है। किन्तु यहाँ पर सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय और उनके सत्त्वोपशम इन दोनों का प्रतिषेध करके केवल देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव कहा गया है। इस प्रकार स्ववचन विरोध क्यों नहीं होता ? [1]

समाधान--नहीं होता, क्योंकि यदि सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से संयुक्त देशघाती स्पर्धकों के उदय से ही क्षायोपशमिक भाव मानना इष्ट हो तो स्पर्शनेन्द्रिय, काययोग और मतिज्ञान व श्रुतज्ञान इनके क्षायोपशमिक भाव प्राप्त नहीं होगा; चूंकि स्पर्शनेन्द्रियावरण, वीर्यान्तराय, मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान इनके आवरणों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय का सब काल में अभाव है। अर्थात् उक्त आवरणों के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय कभी होता ही नहीं है। इसमें कोई स्ववचनविरोध भी नहीं है, क्योंकि इन्द्रियमार्गणा और योगमार्गणा में अन्य आचार्यों के व्याख्यान क्रम का ज्ञान कराने के लिए वहाँ वैसा प्ररूपण किया गया है। जो जिससे नियमतः उत्पन्न होता है वह उसका कार्य होता है और वह दूसरा उसको उत्पन्न करने वाला कारण होता है। किन्तु देशघाती स्पर्धकों के उदय के समान सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय नियम से अपने-अपने ज्ञान के उत्पादक नहीं होते, क्योंकि क्षीणकषाय के अन्तिम समय में अवधि और मनःपर्यय ज्ञानावरणों के सर्वघाती स्पर्धकों के क्षय से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होते हुए नहीं पाये जाते।[2]

शङ्का—जीव केवलज्ञानी कैसे होता है? केवलज्ञान क्षायिक भी नहीं है, क्योंकि क्षय तो अभाव को कहते हैं और अभाव को कारण मानने में विरोध आता है।[3]

समाधान--क्षायिक लब्धि से जीव केवलज्ञानी होता है। केवलज्ञानावरण का क्षय तुच्छ अर्थात् अभावरूप मात्र है, इसलिए वह कोई कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञानावरण के बन्ध, सत्त्व और उदय के अभाव सहित तथा अनन्तवीर्य, वैराग्य सम्यक्त्व व दर्शन आदि गुणों से युक्त जीवद्रव्य को तुच्छ मानने में विरोध आता है। किसी भाव को अभावरूप मानना विरोधी बात नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव स्वभाव से ही एक दूसरे को सर्वात्म रूप से आलिंगन करके स्थित पाये जाते हैं। जो बात पाई जाती है उसमें विरोध नहीं रहता, क्योंकि विरोध का विषय अनुपलब्धि है और इसलिए जहाँ जिस बात की उपलब्धि होती है, उसमें फिर विरोध का अस्तित्व मानने में ही विरोध आता है।[4]

शङ्का—अनन्तानुबन्धी के उदय से भी मिथ्याज्ञान होता है, ऐसा क्यों कहा गया है ? मात्र मिथ्यात्व कहना पर्याप्त था, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से ही विपरीत अभिनिवेश होता है।

समाधान--सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होते हुए भी मिथ्याज्ञान (अज्ञान) होता है। इस बात को बतलाने के लिए अनन्तानुबन्धी का उदय भी अज्ञान में कारण है। विपरीत अभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं और वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनों के निमित्त से

---

१. धवल पु. ७ पृ. ८६-८७। २. धवल पु. ७ पृ. ८८। ३. "केवलणाणीणाम कधं भवदि ॥४६॥ ण खइयं पि, खओ णाम अभावो तस्स कारणत्तविरोहादो।" [धवल पु. ७ पृ. ८८ व ९०]। ४. "खइयाए लद्धीए ॥४७॥" व टीका [धवल पु. ७ पृ. ९०-९१]।

उत्पन्न होता है। सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का उदय तो पाया ही जाता है, इसलिए वहाँ पर दोनों अज्ञान होते हैं।[1]

शङ्का—एकेन्द्रियों में श्रोत्रइन्द्रिय का अभाव होने से शब्द का ज्ञान नहीं हो सकता इसलिए श्रुतअज्ञान भी नहीं हो सकता ?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्द के निमित्त से होने वाले पदार्थज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहते हैं। रूप आदि लिंग से जो लिंगी का ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है; जैसे वनस्पतिकायिक की हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है।[2]

मिश्रज्ञान का कारण और मनःपर्ययज्ञान का स्वामी

मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।
संजमविसेससहिए मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं ॥३०२॥

गाथार्थ—सम्यग्मिथ्यात्व मिश्रप्रकृति के उदय से तीन अज्ञान और तीन ज्ञान का परस्पर मिश्रण होने वाले तीन मिश्रज्ञान होते हैं। जिनके विशिष्ट संयम होता है, उन्हीं के मनःपर्यय ज्ञान होता है ॥३०२॥

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म की मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि तीसरा गुणस्थान होता है। उस सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आदि के तीनों ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) तीनों अज्ञान (मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, विभंग ज्ञान) से मिश्रित होते हैं। मतिज्ञान से मत्यज्ञान मिश्रित होता है, श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान से मिश्रित होता है, अवधिज्ञान विभंगज्ञान से मिश्रित होता है। अर्थात् तीनों ही ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते हैं।[3]

शङ्का—यथार्थ श्रद्धान से अनुबिद्ध अवगम को ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धा से अनुबिद्ध अवगम अज्ञान है। ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न जीवों के आधार से रहने वाले ज्ञान-अज्ञान का मिश्रण नहीं बन सकता ?

समाधान—यह कहना सत्य है, क्योंकि यह इष्ट है, किन्तु यहाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में यह अर्थग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति मिथ्यात्व तो हो नहीं सकती, क्योंकि उससे अनन्तगुणे हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्व में विपरीत अभिनिवेश को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं पाई जाती है और न वह सम्यक्त्व प्रकृति रूप ही है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति से अनन्तगुणी अधिक शक्ति वाले सम्यग्मिथ्यात्व का यथार्थ श्रद्धा के साथ साहचर्य सम्बन्ध का विरोध है। इसलिए जात्यन्तर होने से सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तररूप परिणामों का ही उत्पादक है। अतः सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न हुए परिणामों से युक्त ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि उस ज्ञान में यथार्थ श्रद्धा का अन्वय नहीं पाया जाता है। उसको अज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अयथार्थ श्रद्धा के साथ सम्पर्क नहीं रखता है। इसलिए वह ज्ञान

---

१. धवल पु. १ सूत्र ११६ की टीका। २. धवल पु. १ सूत्र ११६ की टीका। ३. "सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि। अभिणिबोहियणाणं मदिअण्णाणेण मिस्सयं, सुदणाणं सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं। तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥११६॥ [धवल पु. १ पृ. ३६३]।

सम्यग्मिथ्यात्व परिणाम की तरह जात्यन्तर रूप अवस्था को प्राप्त है। अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है।[1]

यथावस्थित प्रतिभासित पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न बोध ज्ञान है। न्यूनता आदि दोषों से युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न बोध अज्ञान है। जात्यन्तर रूप कारण से उत्पन्न ज्ञानजात्यन्तर ज्ञान है। इसी का नाम मिश्रज्ञान है।[2]

मनः पर्ययज्ञान प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होता है।[3] क्योंकि मनःपर्ययज्ञान के स्वामी संयमी होते हैं।

शङ्का—देशचारित्र आदि नीचे के गुणस्थानवर्ती जीवों के मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि संयमासंयम और असंयम के साथ मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।

शङ्का—यदि संयम मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण है तो समस्त संयमियों के मनः-पर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—यदि मात्र संयम ही मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता तो ऐसा भी होता। किन्तु मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति में अन्य भी कारण हैं, इसलिए उन दूसरे हेतुओं के न रहने से समस्त संयतों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए गाथा में '**संजमविसेससहिए**' दिया है।

शङ्का—वे दूसरे विशेष कारण कौनसे हैं ?

समाधान—विशेष जाति के द्रव्य, विशिष्ट क्षेत्र व विशिष्ट काल आदि अन्य कारण हैं, जिनके बिना सभी संयमियों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता।[4]

स्वयं ग्रन्थकार मनःपर्ययज्ञान के भेद आदि का विशेष कथन गाथा ४३८ से ४५६ तक करेंगे।

तीनों अज्ञानों के लक्षण

विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवदेस-करणेण।
जा खलु पवत्तइ मदी-अण्णाणं ति णं बेंति ॥३०३॥[5]
आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादिउवएसा।
तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणंति णं बेंति ॥३०४॥[6]

---

१. धवल पु. १ सूत्र ११६ टीका पृ. ३६३-३६४। २. धवल पु. १ सूत्र ११६ की टीका पृ. ३६४। ३. "मण-पज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग छदुमत्था ति ॥१२१॥" [धवल पु. १ पृ. ३६६] ४. धवल पु. १ सूत्र १२१ की टीका पृ. ३६६-३६७। ५. धवल पु. १ पृ. ३५८ गा. १७६; प्रा. पं. संग्रह पृ. २५ गा. ११८ व पृ. ५७६ गा. १०७। ६. धवल पु. १ पृ. ३५८ गा. १८०; प्रा. पं. सं. पृ. २६ गा. ११६ व पृ. ५७६ गा. १०८।

विवरीयमोहिणाणं खग्रोवसमियं च कम्मबीजं च ।
वेभंगोत्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्हि ॥३०५॥[1]

गाथार्थ—परोपदेश के बिना जो विष, यंत्र, कूट, पंजर तथा बन्ध ग्रादि के विषय में बुद्धि प्रवृत्त होती है, उसको ज्ञानीजन मत्यज्ञान कहते हैं ॥३०३॥ "ग्राभीयमासुरक्खा" चौरशास्त्र हिंसाशास्त्र ग्रथवा "ग्राभीमासुरक्खयं" कालासुर कृत वेद हिंसा शास्त्र, महाभारत, रामायण ग्रादि के तुच्छ ग्रौर परमार्थ शून्य होने से, साधन करने के ग्रयोग्य उपदेशों को ऋषिगण श्रुताज्ञान कहते हैं ॥३०४॥ जो क्षायोपशमिक ग्रवधिज्ञान मिथ्यात्व सहित होने से विपरीत स्वरूप है ग्रौर नवीन कर्म का बीज है, वह सम्पूर्णज्ञानियों के द्वारा ग्रागम में कुग्रवधि या विभंग ज्ञान कहा गया है ॥३०५॥

विशेषार्थ—जिसके खाने से या सूंघने ग्रादि से मरण हो जाय वह **विष** है, जिसमें पशु, पक्षी, मछली ग्रादि स्थलचर, नभचर, जलचर जीव पकड़े जायें वह **जाल** है। जिसमें पशु-पक्षी ग्रादि बन्द रखे जावें वह **पिंजरा** है। रस्सी (जेवरी) ग्रादि जिससे जीव बाँधे जावें वह **बन्ध** है। इस प्रकार जीवों के मारने व बाँधने ग्रादि के कारणरूप **यंत्र** ग्रादि की रचना, जो परोपदेश के बिना की जाती है, वह मत्यज्ञान है। यदि परोपदेशपूर्वक इन कार्यों को करे तो श्रुताज्ञान है। इस प्रकार परोपदेश बिना हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ग्रादि पाप के कारणभूत पदार्थों में की ऊहापोह करना, रचना करना इत्यादि कुज्ञान है। दूसरों को भय उपजाने वाले ऐसे हिंसा, चोरी ग्रादि का कथन करने वाले शास्त्र, हनुमान ग्रादि को वानर कहने वाले ग्रौर रावण ग्रादि को राक्षस कहने वाले शास्त्र, एक शीलवती भार्या को पंचभर्तारी कहने वाले शास्त्र परमार्थशून्य शास्त्र हैं। ऐसे शास्त्रों को श्रुत-ग्रज्ञान कहा गया है।

विशिष्ट ज्ञान ग्रर्थात् ग्रवधिज्ञान का भंग (विपरीत) रूप परिणमन विभंगज्ञान है। वस्तु का ग्रयथार्थ या विरुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान होना विभंगज्ञान है। ग्रवधिज्ञानावरण कर्म केक्ष योपशम से जो ज्ञान विपरीत-ग्रभिनिवेश सहित होता है वह विभंगज्ञान है। मिथ्यात्व के कारण वस्तु का ग्रन्यथा ज्ञान होता है। यह विभंगज्ञान ग्रयथार्थ होने से कर्मबन्ध का ही कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

नौ गाथाग्रों द्वारा मतिज्ञान का कथन

ग्रहिमुह-णियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिइंदियजम् ।
ग्रवगह-ईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं ॥३०६॥[2]

गाथार्थ – इन्द्रिय ग्रौर ग्रनिन्द्रिय (मन) की सहायता से ग्रभिमुख ग्रौर नियमित पदार्थ का ज्ञान ग्राभिनिबोधिक ज्ञान है। प्रत्येक के ग्रवग्रह, ईहा, ग्रवाय, धारणा ये चार भेद हैं ॥३०६॥

विशेषार्थ—मतिज्ञान का दूसरा नाम 'ग्राभिनिबोधिक' भी है। ग्राभि-नि+बोधक है। 'ग्राभि' ग्रर्थात् ग्रभिमुख; 'नि' ग्रर्थात् नियमित पदार्थ का पाँच इन्द्रियों ग्रौर मन के द्वारा जो बोध=

---

१. धवल पु. १ पृ. ३५६ गा. १८१; प्रा. पं. सं पृ. २६ गा. १२० व पृ. ५७६ गा. १०६। २. यह गाथा धवल पु. १ पृ. ३५६ गा. १८२ ग्रौर प्रा.पं. संग्रह पृ. २६ गा. १२२ है किन्तु उत्तरार्ध "बहु-ग्रोग्गहाइणा खलु कय-छत्तीस-ति-सय भेयं।" इस प्रकार है।

ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक है। इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य क्षेत्र में पदार्थ का अवस्थित होना अभिमुख कहलाता है। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श में नियमित है; रस, गंध, वर्ण व शब्द में नियमित नहीं है। अर्थात् स्पर्शनइन्द्रिय का विषय स्पर्शनियत है। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय का विषय रस-नियत है। घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध नियत है। चक्षुइन्द्रिय का विषय वर्ण व आकार आदि नियत है। श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द नियत है।[1] प्रत्येक इन्द्रिय अपने-योग्य क्षेत्र में स्थित (अभिमुख) अपने नियत विषय को ही जानती है।

अभिमुख और नियमित अर्थ के अवबोध को अभिनिबोध कहते हैं। स्थूल, वर्तमान और अनन्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थ अभिमुख है।[2] अथवा इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य अर्थ का नाम अभिमुख है।[3] चक्षुरिन्द्रिय में रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द, घ्राणे-न्द्रिय में गन्ध, जिह्वेन्द्रिय में रस, स्पर्शनेन्द्रिय में स्पर्श और नोइन्द्रिय (मन) में दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थ नियमित हैं।[4] अथवा, अन्यत्र उनकी प्रवृत्ति न होने से उसका नियम है। अर्थ, इन्द्रिय, आलोक और उपयोग के द्वारा ही रूपज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थ, इन्द्रिय और उपयोग के द्वारा ही रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शज्ञान की उत्पत्ति होती है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ तथा मन के द्वारा नोइन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति होती हैं; यह यहाँ नियम है।[5] इस प्रकार के अभिमुख और नियमित पदार्थों में जो बोध होता है वह आभिनिबोध है। आभिनिबोध ही आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है।[6] नियम के अनुसार अभिमुख अर्थों का जो ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।[7] यह ज्ञान परोक्ष है।

अक्ष का अर्थ आत्मा है।[8] अक्ष से जो इतर वह पर है। आत्मा से इतर कारणों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्षज्ञान है। उपात्त और अनुपात्त इतर कारणों की प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है। यहाँ 'उपात्त' शब्द से इन्द्रियाँ व मन तथा 'अनुपात्त' शब्द से प्रकाश व उपदेशादिक का ग्रहण किया गया है। इनकी प्रधानता से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। जिस प्रकार गमनशक्ति से युक्त होते हुए भी स्वयं गमन करने में असमर्थ व्यक्ति का लाठी आदि आलम्बन की प्रधानता से गमन होता है, उसी प्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर ज्ञ स्वभावी; परन्तु स्वयं पदार्थ को ग्रहण करने में असमर्थ हुए आत्मा के पूर्वोक्त प्रत्ययों की प्रधानता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष है।

मति (आभिनिबोधिक) ज्ञान चार प्रकार का है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।[9] अवग्रह आदि चारों ही ज्ञानों की सर्वत्र क्रम से उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि उस प्रकार की व्यवस्था नहीं पाई जाती है। इसलिए कहीं तो केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है, कहीं अवग्रह और ईहा ये दो या अवग्रह और धारणा ये दो होते हैं; कहीं पर अवग्रह, ईहा और अवाय ये तीन भी होते हैं; और कहीं पर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों ही होते हैं।[10] अवग्रह आदि का स्वरूप स्वयं

---

१. "स्वक-स्वकेन्द्रियेषु नियमितं।"[धवल पु. ९ पृ. १६०]। २. धवल पु. ६ पृ. १५। ३. धवल पु. १३ पृ. २०९। ४. धवल पु. ६ पृ. १५। ५. धवल पु. १३ पृ. २०९-२१०। ६. धवल पु. ६ पृ. १६। ७. धवल पु. १३ पृ. २१०। ८. 'अक्ष आत्मा।' [धवल पु. ९ पृ. १४३]। ९. धवल पु. ९ पृ. १४३। १०. धवल पु. ६ पृ. १८। "तदो कहिं पि ओग्गहो चेय। कहिं पि ओग्गहो धारणा य दो च्चेय। कहिं पि ओग्गहो ईहा य" टिप्पण नं. २।

ग्रन्थकार आगे कहेंगे, इसलिए यहाँ पर इनका स्वरूप नहीं लिखा गया है।

अवग्रह व ईहा का लक्षण तथा अवग्रह के भेद

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा ॥३०७॥
वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे।
कमसो ते वावरिदा पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ॥३०८॥[1]

गाथार्थ—विषय और विषयी के संयोग के अनन्तर नियम से अवग्रह ज्ञान होता है। ग्रहण किये गये पदार्थ की विशेष जिज्ञासा ईहा ज्ञान है ॥३०७॥ प्राप्त अर्थ और अप्राप्त अर्थ के कारण क्रम से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का हो जाता है। उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा पहले व्यंजनावग्रह तथा पीछे अर्थावग्रह इस क्रम से होते हैं। चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता ॥३०८॥

विशेषार्थ—विषय और विषयी के सम्बन्ध होने के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह से ग्रहण किये गये पदार्थ के विशेष को जानने के लिए अभिलाषारूप जो ज्ञान होता है वह ईहा है।[2] विषय और विषयी के सम्बन्ध के अनन्तर जो आद्य ग्रहण होता है वह अवग्रह है। 'पुरुष' इस प्रकार अवग्रह द्वारा गृहीत अर्थ में भाषा, आयु और रूपादि विशेषों से होने वाली आकांक्षा का नाम ईहा है।[3] विषय और विषयी का सम्पात होने के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। रस आदिक अर्थ विषय है, छहों इन्द्रियाँ विषयी हैं। ज्ञानोत्पत्ति की पूर्वावस्था ही विषय व विषयी का सम्पात है, जो दर्शन है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्ति के कारण-भूत परिणाम-विशेष की सन्तति की उत्पत्ति से उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त काल स्थायी होता है। इसके बाद जो वस्तु का प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। यथा—चक्षु के द्वारा 'यह घट है, यह पट है' ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। जहाँ घटादि के बिना रूप, दिशा और आकार आदि विशिष्ट वस्तुमात्र ज्ञान के द्वारा अनध्यवसायरूप से जानी जाती है वहाँ भी अवग्रह ही है, क्योंकि अनवगृहीत अर्थ में ईहादि ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी तरह शेष इन्द्रियों का भी अवग्रह कहना चाहिए।[4] विषय और विषयी के योग्य देश में प्राप्त होने के अनन्तर आद्यग्रहण अवग्रह है। बाहरी पदार्थ विषय है और इन्द्रियाँ विषयी हैं। इन दोनों की ज्ञान उत्पन्न करने के योग्य अवस्था का नाम संपात है। विषय और विषयी के संपात के अनन्तर उत्पन्न होने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है। वह अवग्रह भी दो प्रकार का है—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। उनमें अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप को ग्रहण करना। प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है, जैसे स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श को ग्रहण करना।[5]

---

१. मुद्रित ग्रन्थों में गाथा ३०८ का नं. गाथा ३०७ है और गाथा ३०७ का नं. गाथा ३०८। किन्तु यहाँ पर जिस गाथा में अवग्रह ज्ञान का लक्षण कहा गया है वह प्रथम लिखी गई है, उसके पश्चात् अवग्रह ज्ञान के भेद वाली गाथा लिखी गई है। २. धवल पु. १ पृ. ३५४। ३. धवल पु. ९ पृ. १४४। ४. धवल पु. १३ पृ. २१६-२१७। ५. धवल पु. ६ पृ. १६ पृ. १७।

स्पष्ट ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अस्पष्ट ग्रहण के व्यंजनावग्रह होने का प्रसंग आता है।

शङ्का—ऐसा हो जाओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि चक्षु से भी अस्पष्ट ग्रहण देखा जाता है, इसलिए उसे व्यंजनावग्रह होने का प्रसंग आता है। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता;[1] सूत्र में उसका निषेध किया है।

आशुग्रहण का नाम अर्थावग्रह है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर धीरे-धीरे ग्रहण होने को व्यंजनावग्रह का प्रसंग आता है। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर धीरे-धीरे ग्रहण करने वाला चाक्षुष अवग्रह भी व्यंजनावग्रह हो जाएगा। तथा क्षिप्र और अक्षिप्र ये विशेषण यदि दोनों अवग्रहों को नहीं दिये जाते हैं तो मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद नहीं बन सकते हैं।

शङ्का—मन और चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना नहीं उपलब्ध होता है ?[2] कहा भी है—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं चेय पस्सदे रूवं।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ।।५४।।[3]

—श्रोत्र से स्पृष्ट शब्द को सुनता है, परन्तु चक्षु से रूप को अस्पृष्ट ही देखता है। शेष इन्द्रियों से गन्ध, रस और स्पर्श को बद्ध व स्पृष्ट ही जानता है। इस सूत्र से इन्द्रियों के प्राप्त पदार्थ का ही ग्रहण करना सिद्ध होता है ?

समाधान—इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है—चक्षु रूप को अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है, 'च' शब्द से मन भी अस्पृष्ट ही वस्तु को ग्रहण करता है। शेष इन्द्रियाँ गन्ध, रस और स्पर्श को बद्ध अर्थात् अपनी-अपनी इन्द्रियों में नियमित व स्पृष्ट ग्रहण करती हैं, 'च' शब्द से अस्पृष्ट भी ग्रहण करती हैं। 'स्पृष्ट' शब्द को सुनता है यहाँ भी 'बद्ध' और 'च' शब्द जोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने पर दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है।[4] क्योंकि धव वृक्ष अप्राप्त निधि को ग्रहण करता हुआ देखा जाता है और तूंबड़ी की लता आदि अप्राप्त बाड़ी व वृक्ष आदि को ग्रहण करती हुई देखी जाती है। इससे शेष चार इन्द्रियाँ भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण कर सकती हैं, यह सिद्ध होता है।[5]

पदार्थ के पूरी तरह से अनिःसृतपने को और अनुक्तपने को अप्राप्त नहीं कहा गया है जिससे उनके अवग्रहादि का कारण इन्द्रियों का अप्राप्यकारीपना होवे।[6]

शङ्का—तो फिर अप्राप्यकारीपने से क्या प्रयोजन है ? यदि पूरी तरह से अनिःसृतत्व और

---

१. "न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।" [तत्त्वार्थ सूत्र १/१६]। २. ध. पु. १३ पृ. २२०। ३. ध. पु. ६ पृ. १५६ स. सि. १/१६, रा. वा. १/१६-३; वि. भा. ३३६ (नि. ५) आदि। ४. धवल पु. ६ पृ. १६०। ५. धवल पु. १३ पृ. २२०, धवल पु. ११ सूत्र ११५ की टीका। ६. धवल पु. १ पृ. ३५६।

अनुक्तत्व को अप्राप्त नहीं कहा जाता तो चक्षु और मन से अनिःसृत और अनुक्त के अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्त के अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्व का प्रसंग आजाएगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि **इन्द्रियों के ग्रहण करने के योग्य देश में पदार्थों की अवस्थिति को ही प्राप्ति कहते हैं।** ऐसी अवस्था में रस, गन्ध और स्पर्श का उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों के साथ अपने-अपने योग्य देश में अवस्थित रहना स्पष्ट ही है। शब्द का भी श्रोत्र इन्द्रिय के साथ अपने योग्य देश में अवस्थित रहना स्पष्ट है। उसी प्रकार रूप का चक्षु के साथ अभिमुख रूप से अपने देश में अवस्थित रहना स्पष्ट है क्योंकि रूप को ग्रहण करने वाले चक्षु के साथ रूप का प्राप्यकारीपना नहीं बनता है। इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थों के अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं।[1]

शङ्का—अवग्रह निर्णय रूप है अथवा अनिर्णय रूप है ? प्रथम पक्ष में अर्थात् निर्णय रूप स्वीकार करने पर उसका अवाय में अन्तर्भाव होता है, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि वैसा होने पर उसके पीछे संशय की उत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आएगा तथा निर्णय के विपर्यय व अनध्यवसाय होने का विरोध भी है। अनिर्णय स्वरूप मानने पर अवग्रह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा होने पर उसका संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय में अन्तर्भाव होगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशदावग्रह और अविशदावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का है। उनमें विशद अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ अनियम से ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। यह निर्णय रूप होकर भी अवाय संज्ञावाला नहीं हो सकता, क्योंकि ईहा प्रत्यय के पश्चात् होने वाले निर्णय की अवाय संज्ञा है।

उनमें भाषा आयु व रूपादि विशेषों को ग्रहण न करके व्यवहार के कारणभूत पुरुषमात्र के सत्वादि विशेषों को ग्रहण करने वाला तथा अनियम से जो ईहा आदि की उत्पत्ति में कारण है वह अविशदावग्रह है। यह अविशदावग्रह दर्शन में अन्तर्भूत नहीं है, क्योंकि वह विषय और विषयी के सम्बन्ध काल में होने वाला है।

शङ्का—अविशदावग्रह अप्रमाण है, क्योंकि वह अनध्यवसाय स्वरूप है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि वह कुछ विशेषों के अध्यवसाय से सहित है। उक्त ज्ञान विपर्यय स्वरूप होने से भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें विपरीतता नहीं पाई जाती। यदि कहा जाय कि वह चूंकि विपर्यय ज्ञान का उत्पादक है अतः अप्रमाण है, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे विपर्यय ज्ञान के उत्पन्न होने का कोई नियम नहीं है। संशय का हेतु होने से भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि कारणगुणानुसार कार्य के होने का नियम नहीं पाया जाता, तथा अप्रमाणभूत संशय से प्रमाणभूत निर्णय प्रत्यय की उत्पत्ति होने से उक्त हेतु व्यभिचारी भी है। संशय रूप होने से भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि स्थाणु और पुरुष आदि रूप दो विषयों में प्रवर्तमान व चलस्वभाव संशय की अचल व एक पदार्थ को विषय करने वाले अविशदावग्रह के साथ एकता का विरोध है। इस कारण ग्रहण किये गये वस्त्वंश के प्रति अविशदावग्रह को प्रमाण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वह व्यवहार के योग्य है।[2]

---

१. धवल पु. १ पृ. ३५७। २. धवल पु. ६ पृ. १४४-१४६।

ईहा ज्ञान—अवग्रह से ग्रहण किये गये पदार्थ के विशेष को जानने के लिए अभिलाषारूप जो ज्ञान होता है वह ईहा ज्ञान है।[1] अवग्रह से ग्रहण किये गये अर्थ को विशेष जानने की आकांक्षा ईहा है। अर्थात् अवग्रह के द्वारा जो पदार्थ ग्रहण किया गया है, उसकी विशेष जिज्ञासा ईहा है। जैसे किसी पुरुष को देखकर क्या यह भव्य है? अथवा क्या यह अभव्य है? इस प्रकार की विशेष परीक्षा करने को ईहा ज्ञान कहते हैं। ईहा ज्ञान सन्देह रूप नहीं है, क्योंकि ईहात्मक विचार रूप बुद्धि से सन्देह का विनाश पाया जाता है। सन्देह से उपरितन तथा अवाय ज्ञान से अधस्तन ऐसी अन्तराल में प्रवृत्त होनेवाली विचार-बुद्धि का नाम ईहा है।

शङ्का—विशेष रूप से तर्क करना श्रुतज्ञान है।[2] इस शास्त्रवचन के अनुसार ईहा वितर्करूप होने से श्रुतज्ञान है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि अवग्रह से प्रतिगृहीत अर्थ का आलम्बन करने वाला वितर्क ईहा है और भिन्न अर्थ का आलम्बन करनेवाला वितर्क श्रुतज्ञान है।[3]

शङ्का—अवग्रह से पुरुष को ग्रहण करके, क्या यह दक्षिण का रहनेवाला है या उत्तर का, इत्यादि विशेष ज्ञान के बिना संशय को प्राप्त हुए व्यक्ति के उत्तरकाल में विशेष जिज्ञासा के प्रति जो प्रयत्न होता है उसका नाम ईहा है। इस कारण अवग्रह गृहीत विषय को ग्रहण करने तथा संशयात्मक होने से ईहा प्रत्यय प्रमाण नहीं है?

समाधान—गृहीत-ग्रहण अप्रमाणता का कारण नहीं है, क्योंकि उसका कारण संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय है। दूसरे, ईहाप्रत्यय सर्वथा गृहीतग्राही भी नहीं है, क्योंकि अवग्रह से गृहीत वस्तु के उस अंश के निर्णय की उत्पत्ति में निमित्तभूत लिंग को, जो अवग्रह से नहीं ग्रहण किया गया है, ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान गृहीतग्राही नहीं हो सकता। एकान्ततः अगृहीत को ही प्रमाण ग्रहण करते हो सो भी नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर अगृहीत होने के कारण खरविषाण के समान असत् होने से वस्तु [सत्] के ग्रहण का विरोध होगा। ईहा प्रत्यय संशय भी नहीं है, क्योंकि निर्णय की उत्पत्ति में निमित्तभूत लिंग के ग्रहण द्वारा संशय को दूर करनेवाले विमर्शप्रत्यय के संशय रूप होने में विरोध है। संशय के आधारभूत जीव में समवेत होने से यह ईहा प्रत्यय अप्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि संशय के विरोधी और स्वरूपतः संशय से भिन्न उक्त प्रत्यय के अप्रमाण होने का विरोध है। अनध्यवसायरूप होने से भी ईहा अप्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि कुछ विशेषों का अध्यवसाय करते हुए संशय को दूर करने वाले उक्त प्रत्यय के अनध्यवसाय रूप होने का विरोध है। अतएव परीक्षा प्रत्यय (ईहा प्रत्यय) प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। कहा भी है—

अवायावयवोत्पत्तिस्संशयावयवच्छिदा ।
सम्यग्निर्णयपर्यंता परीक्षेहेति कथ्यते ।।४७।।[4]

—संशय के अवयवों को नष्ट करके अवाय के अवयवों को उत्पन्न करनेवाली जो भले प्रकार निर्णयपर्यन्त परीक्षा होती है, वह ईहा प्रत्यय है ।।४७।।

---

१. धवल पु. १ पृ. ३५४। २. "वितर्कः श्रुतम्।" [त.सू. ६/४३]। ३. धवल पु. ६ पृ. १७। ४. धवल पु. ६ पृ. १४५।

शङ्का—ईहादिक प्रत्यय मतिज्ञान नहीं हो सकते, क्योंकि वे श्रुतज्ञान के समान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होते।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए अवग्रह ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ईहादिकों को उपचार से इन्द्रियजन्य स्वीकार किया गया है।

शङ्का— वह औपचारिक इन्द्रियजन्यता श्रुतज्ञान में भी मान लेनी चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार ईहादिक की अवग्रह से गृहीत पदार्थ के विषय में प्रवृत्ति होती है, उस प्रकार चूंकि श्रुतज्ञान की नहीं होती, अतः व्यधिकरण होने से श्रुतज्ञान के प्रत्यासत्ति का अभाव है। इस कारण श्रुतज्ञान में उपचार से इन्द्रियजन्यत्व नहीं बनता। इसलिए श्रुत के मतिसंज्ञा भी सम्भव नहीं है।[1]

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ में उसके विशेष को जानने की इच्छा होना ईहा है। यह अनध्यवसायस्वरूप अवग्रह से उत्पन्न हुए संशय के पीछे होती है, क्योंकि शुक्लरूप क्या बलाका है या पताका है, इस प्रकार संशय को प्राप्त हुए जीव के ईहा की उत्पत्ति होती है। अविशद अवग्रह से पीछे होने वाली ही ईहा है, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है; क्योंकि विशद अवग्रह के द्वारा 'यह पुरुष' इस प्रकार ग्रहण किये गये पदार्थ में भी 'क्या यह दाक्षिणात्य है या उदीच्य है', इस प्रकार के संशय को प्राप्त हुए मनुष्य के भी ईहाज्ञान की उत्पत्ति उपलब्ध होती है।

शङ्का—संशय प्रत्यय का अन्तर्भाव किस ज्ञान में होता है ?

समाधान—ईहा में, क्योंकि वह ईहा का कारण है।

शङ्का—यह भी क्यों ?

समाधान—क्योंकि कारण में कार्य का उपचार होने से। वस्तुतः वह संशय प्रत्यय अवग्रह ही है।

शङ्का—ईहा का क्या स्वरूप है ?

समाधान—संशय के बाद और अवाय के पहले बीच की अवस्था में विद्यमान तथा हेतु के अवलम्बन से उत्पन्न हुए विमर्शरूप प्रत्यय को ईहा कहते हैं।

ईहा अनुमानज्ञान नहीं है क्योंकि अनुमानज्ञान अनवगृहीत अर्थ को विषय करता है और अवगृहीत अर्थ को विषय करने वाले ईहाज्ञान तथा अनवगृहीत अर्थ को विषय करने वाले अनुमान को एक मानना ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न अधिकरण वाले होने से इन्हें एक मानने में विरोध आता है। इनके एक न होने का यह भी एक कारण है कि ईहाज्ञान अपने विषय से अभिन्नरूपलिंग से उत्पन्न होता है और अनुमानज्ञान अपने विषय से भिन्नरूप लिंग से उत्पन्न होता है, इसलिए इन्हें एक मानने में विरोध आता है। संशयज्ञान के समान वस्तु का परिच्छेदक नहीं होने से ईहाज्ञान

---

१. धवल पु. ६ पृ. १४६-१४८।

अप्रमाण है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ईहाज्ञान वस्तु को ग्रहण करके प्रवृत्त होता है और दाक्षिणात्य व उदीच्य विषयक लिंग का उसमें ज्ञान रहता है; इसलिए उसमें अप्रमाणता सम्भव न होने के कारण उसे अप्रमाण मानने में विरोध आता है। अविशद अवग्रह के बाद होने वाली ईहा अप्रमाण है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह वस्तुविशेष की परिच्छित्ति का कारण है और वह वस्तु के एकदेश को जानचुकी है तथा वह संशय और विपर्ययज्ञान से भिन्न है। अतः उसे अप्रमाण मानने में विरोध आता है। वह अनध्यवसायरूप होने से अप्रमाण है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि संशय का छेदन करना उसका स्वभाव है, शुक्लादि विशिष्ट वस्तु को सामान्यरूप से वह जान लेती है तथा त्रिभुवनगत वस्तुओं में से शुक्लता को ग्रहण कर एक वस्तु में प्रतिष्ठित करने की वह इच्छुक है; इसलिए उसे अप्रमाण मानने में विरोध आता है।

अवग्रह ज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ में विज्ञान, आयु, प्रमाण, देश और भाषा आदि-रूप विशेष से जानने की इच्छा सो ईहा ज्ञान है। अवग्रह ज्ञान के पश्चात् और अवाय ज्ञान के पूर्व जो विचारात्मक ज्ञान होता है, जिसका स्वभाव अवग्रह ज्ञान में उत्पन्न हुए सन्देह को दूर करना है, वह ईहाज्ञान है।[1]

अवाय व धारणा ज्ञान

ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालांतरेवि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं ॥३०९॥

गाथार्थ—ईहा ज्ञान के द्वारा जब भले प्रकार निर्णय होजाता है, पदार्थ के विषय में वह सुनिश्चय अवाय ज्ञान है। निर्णीत वस्तु के कालान्तर में स्मरण का कारण चौथा धारणा ज्ञान है।

विशेषार्थ—ईहा के द्वारा जाने गये पदार्थ का निश्चयरूप ज्ञान अवाय मतिज्ञान है। कालान्तर में भी विस्मरण न होने रूप संस्कार को उत्पन्न करने वाला ज्ञान धारणा मतिज्ञान है ॥३०९॥[2]

ईहा के अनन्तर ईहारूप विचार के फलस्वरूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अवाय ज्ञान है, अर्थात् ईहा ज्ञान में विशेष जानने की आकांक्षारूप जो विचार होता है, उस विचार के निर्णयरूप ज्ञान को अवाय कहते हैं।[3] स्वगत लिंग का ठीक तरह से ज्ञान हो जाने के कारण संशयज्ञान के निराकरण द्वारा उत्पन्न हुआ निर्णयात्मक ज्ञान अवाय है। यथा-ऊपर उड़ना व पंखों को हिलाना-डुलाना आदि चिह्नों के द्वारा यह जानलेना कि यह बलाकापंक्ति ही है, पताका नहीं है, या वचनों के सुनने से ऐसा जान लेना कि यह पुरुष दाक्षिणात्य ही है, उदीच्य नहीं है; यह अवाय ज्ञान है।[4]

शङ्का—अवग्रह और अवाय इन दोनों ज्ञानों के निर्णयत्व के सम्बन्ध में कोई भेद न होने से एकता क्यों नहीं है?

समाधान—निर्णयत्व के सम्बन्ध में कोई भेद न होने से एकता भले ही रही आवे, किन्तु

---

१. जयधवल पु. १ पृ. ३३६। २. धवल पु. १ सूत्र ११५ की टीका ३. जयधवल पु. १ पृ. ३३६।
४. धवल पु. १३ पृ. २१८।

विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर उत्पन्न होने वाला प्रथम ज्ञान विशेष अवग्रह है और ईहा के अनन्तर काल में उत्पन्न होने वाले सन्देह के अभावरूप अवायज्ञान होता है, इसलिए अवग्रह और अवाय इन दोनों ज्ञानों में एकता नहीं है।

शङ्का—लिंग से उत्पन्न होने के कारण अवाय श्रुतज्ञान है?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ से पृथग्भूत अर्थ का आलम्बन करनेवाली, निर्णय रूप लिंगजनित बुद्धि को श्रुतज्ञानपना माना गया है। किन्तु अवाय ज्ञान अवग्रह गृहीत पदार्थ को ही विषय करता है और ईहाज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है, इसलिए वह श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है।[1]

शङ्का—अवायज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह ईहा से निर्णीत लिंग के आलम्बन बल से उत्पन्न होता है। जैसे अनुमान?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अवग्रह से गृहीत पदार्थ को विषय करने वाले तथा ईहा प्रत्यय से विषयीकृत लिंग से उत्पन्न हुए निर्णयरूप और अवग्रह से गृहीत पदार्थ को विषय करने वाले अवाय प्रत्यय के मतिज्ञान न होने का विरोध है और अनुमान अवग्रह से गृहीत पदार्थ को विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि वह अवग्रह से निर्णीत लिंग के बल से अन्य वस्तु यानी अन्यपदार्थ में उत्पन्न होता है।[2]

जिससे निर्णीत पदार्थ का विस्मरण नहीं होता, वह धारणा है।[3] अवायज्ञान से निर्णय किये गए पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न होना धारणा है। जिस ज्ञान से कालान्तर अर्थात् आगामी काल में भी अविस्मरण के कारणभूत संस्कार जीव में उत्पन्न होते हैं उस ज्ञान का नाम धारणा है।[4] अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ के कालान्तर में विस्मरण नहीं होने का कारणभूत ज्ञान धारणा है। यथा—'वही यह बलाका है जिसे प्रातःकाल हमने देखा था', ऐसा ज्ञान होना धारणा है।

शङ्का—फलज्ञान होने से ईहादिक (ईहा, अवाय, धारणा) ज्ञान अप्रमाण हैं?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अवग्रह ज्ञान के भी दर्शन का फल होने से अप्रमाणता का प्रसंग आता है। दूसरे सभी ज्ञान कार्य रूप ही उपलब्ध होते हैं, इसलिए भी ईहादिक ज्ञान अप्रमाण हैं?

शङ्का—गृहीतग्राही होने से ईहादिक ज्ञान (ईहा, अवाय, धारण) अप्रमाण हैं?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वात्मना अगृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाला कोई भी ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है। दूसरे, गृहीत अर्थ को ग्रहण करना यह अप्रमाणता का कारण भी नहीं है, क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप से जायमान ज्ञानों में ही अप्रमाणता देखी जाती है।[5]

---

१. धवल पु. ६ पृ. १८। २. धवल पु. ९ पृ. १४८। ३. धवल पु. ६ पृ. १४४। ४. धवल पु. ६ पृ. १८। ५. धवल पु. १३ पृ. २१८-२१९।

अवग्रहादिक चारों की सर्वत्र क्रम से उत्पत्ति का नियम भी नहीं है, क्योंकि अवग्रह के पश्चात् नियम से संशय की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। संशय के बिना विशेष की आकांक्षा नहीं होती जिससे कि अवग्रह के पश्चात् नियम से ईहा उत्पन्न हो और न ईहा से नियमतः निर्णय उत्पन्न होता है, क्योंकि कहीं पर निर्णय को उत्पन्न न करने वाला ईहा प्रत्यय ही देखा जाता है। अवाय से धारणाज्ञान भी नियम से नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार पाया जाता है। इस कारण अवग्रह से लेकर धारणा तक चारों ज्ञान मतिज्ञान हैं।[1] अर्थात् चारों ज्ञानों की उत्पत्ति सदा क्रमशः हो ही, इस नियम के अभाव के कारण इनकी चारों की भिन्नता सिद्ध होती है। यदि चारों एक मतिज्ञानरूप होते तो सदा चारों को नियमतः व क्रमशः होना पड़ता। क्योंकि ये चारों ही ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं और दूसरे, इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा विषय किये गये पदार्थ को ही ये ज्ञान विषय करते हैं, इसलिए ये चारों ज्ञान (अवग्रह, ईहा, अवाय धारणा) मतिज्ञान कहलाते हैं।[2]

अब ईहादिक के जघन्य कालों का अल्पबहुत्व कहा जाता है—

दर्शनोपयोग के काल से चक्षुइन्द्रियजनित अवग्रह का काल विशेष अधिक है। इससे श्रोत्र इन्द्रिय अवग्रहज्ञान का काल विशेष अधिक है। इससे घ्राणइन्द्रिय अवग्रहज्ञान काल विशेषअधिक है। इससे जिह्वाइन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञान-काल विशेष अधिक है। इससे मनोयोग का जघन्यकाल विशेष अधिक है। इससे वचनयोग का जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे काययोग का जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे स्पर्शन इन्द्रियजनित अवग्रहज्ञान का जघन्य काल विशेषअधिक है। सर्वत्र विशेष का प्रमाण संख्यात, आवलियाँ लेना चाहिए।

शंका—मन से उत्पन्न होने वाले अवग्रह ज्ञान का अल्पबहुत्व क्यों नहीं कहा?

समाधान—मन से उत्पन्न होने वाले अवग्रहज्ञान के काल का मनोयोग के काल में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिए उसका पृथक् कथन नहीं किया गया।

अवायज्ञानोपयोग का जघन्य काल स्पर्शनइन्द्रिय से उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञान के काल से विशेष अधिक है। यह अवायज्ञान का काल सभी इन्द्रियों में समान है। ईहा का जघन्य काल अवाय के उक्त काल से विशेषअधिक है।[3]

शेष सब सुगम है।

मतिज्ञान के एक, चार आदि करके तीनसौ-छत्तीस पर्यन्त भेदों का कथन

एक्कचउक्कं चउवीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा।
इगिछब्बारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ॥३१०॥(३१४)
बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।
तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु ॥३११॥ (३१०)

---

१. धवल पु. ६ पृ. १४८। २. ज.ध.पु. १ पृ. ३३७। ३. ज.ध.पु. १ पृ. ३३४-३३६।

गाथार्थ—एक, चार, चौबीस और अट्ठाईस इनकी तीन-तीन पंक्तियाँ करनी। इन तीनों पंक्तियों के अङ्कों को एक, छह व बारह से गुणा करने पर मतिज्ञान के भेदों की संख्या प्राप्त होती है। बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी, इनमें से प्रत्येक मतिज्ञान का विषय होने से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥३१० । ३११॥ (३१४,३१०)[1]

विशेषार्थ—सामान्य की अपेक्षा मतिज्ञान एक प्रकार का है। व्यंजनावग्रह की अपेक्षा चार प्रकार का है—१. श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, २. घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, ३. जिह्वेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, ४. स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह।[2] व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता। चार इन्द्रियों की अपेक्षा चार भेद कहे गए हैं। व्यंजनावग्रह के पश्चात् ईहा-अवाय-धारणाज्ञान नहीं होता, मात्र व्यंजनावग्रह होता है, अतः व्यंजन-ईहा आदि का कथन नहीं किया गया है।[3] अर्थ अर्थात्-पदार्थ के पाँचों इन्द्रियों और मन इन छहों से अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा होते हैं अतः अर्थ की अपेक्षा छह अवग्रह, छह ईहा, छह अवाय और छह धारणा इस प्रकार २४ भेद होते हैं।[4] इन चौबीस में चार व्यंजनावग्रह मिला देने से (२४+४) २८ भेद हो जाते हैं।

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके प्रतिपक्षभूत पदार्थों का आभिनिबोधिक ज्ञान होता है।[5] अर्थात् बहु, अल्प, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों के आश्रय से मतिज्ञान होता है। इन बारह से अट्ठाईस को गुणा करने से (२८ × १२) ३३६ भेद मतिज्ञान के होते हैं।

विशिष्ट स्पष्टीकरण इस प्रकार है—मतिज्ञान चौबीस प्रकार का होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है, चक्षुइन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान चार प्रकार का है, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार-चार प्रकार का होता है। इस प्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं। अथवा मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकार का होता है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--अवग्रह दो प्रकार का होता है अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। उनमें चक्षु और मन से अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि इन दोनों से प्राप्त अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियों के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों पाये जाते हैं।[6] चौबीस प्रकार के अर्थ-मतिज्ञान में चार प्रकार का व्यंजनावग्रह मिलाने से (२४+४) २८ प्रकार का हो जाता है। बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके विपरीत अल्प, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव; इन बारह प्रकार के पदार्थों को मतिज्ञान विषय करता है। अतः इन्हें पूर्वोक्त २८ प्रकार के मतिज्ञान में पृथक्-पृथक् प्रत्येक में मिला देने पर [अर्थात् गुणा करने पर] मतिज्ञान (२८×१२) तीनसौ छत्तीस प्रकार का हो जाता है।[7]

---

१. मुद्रित पुस्तकों में गाथा ३१० की क्रम संख्या ३१४ है और गाथा सं. ३१२ की क्रम सं. ३१० है किन्तु गाथा ३१४ के बिना गाथा ३१० का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता अतः गाथा की क्रम सं. में परिवर्तन किया गया है। २. ध.पु. १३ पृ. २२१ सूत्र २६। ३. "व्यंजनस्यावग्रहः ॥१८॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां ॥१९॥ [तत्त्वार्थ सूत्र अ. १]। ४. ध.पु. १३ सूत्र २८, ३०, ३२, ३४ पृ. २२७, २३०-३१, २३२, २३३। ५. "बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम् ।"१६। [तत्त्वार्थ सूत्र अ. १]। ६. ध.पु. १ पृ. ३५४। ७. ज.ध.पु. १ पृ. १४।

अथवाः—चक्षु से बहुत का अवग्रह करता है, चक्षु से एक का अवग्रह करता है, इत्यादि। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय अवग्रह बारह प्रकार है। ईहा, अवाय और धारणा इनमें से प्रत्येक चक्षु के निमित्त से बारह प्रकार है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के निमित्त से मतिज्ञान के अड़तालीस भेद होते हैं। मन के निमित्त से भी इतने ही भेद होते हैं, क्योंकि इन दोनों के व्यंजनावग्रह नहीं होता। शेष चार इन्द्रियों में से प्रत्येक के निमित्त से साठ भंग होते हैं, क्योंकि उनमें व्यंजनावग्रह के बारह भेद भी होते हैं। ये सब एकत्र होकर (४८ + ४८ + ६० + ६० + ६० + ६०) तीन सौ छत्तीस होते हैं।[१]

अथवा इस प्रकार से भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से आभिनिबोधिक ज्ञान चार प्रकार का है। एक इन्द्रिय के यदि अवग्रह आदि चार ज्ञान प्राप्त होते हैं तो छह इन्द्रियों के कितने ज्ञान प्राप्त होंगे? इस प्रकार त्रैराशिक प्रक्रिया द्वारा फलराशि से गुणित इच्छाराशि को प्रमाण राशि से भाजित करने पर चौबीस आभिनिबोधिक ज्ञान उपलब्ध होते हैं। इन चौबीस भेदों में जिह्वा, स्पर्शन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धी चार व्यंजनावग्रहों के मिलाने पर आभिनिबोधिक ज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं। बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके प्रतिपक्षभूत पदार्थों का आभिनिबोधिक ज्ञान होता है। चक्षु के द्वारा बहुत का अवग्रहज्ञान होता है, चक्षु के द्वारा एक का अवग्रहज्ञान होता है इत्यादि चक्षु-अवग्रहज्ञान के बारह भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार चक्षु, ईहा, अवाय और धारणा के भी बारह-बारह भेद हो जाते हैं। पहले उत्पन्न किये गये ४, २४, २८ भेदों को दो स्थानों में रखकर छह और बारह से गुणा करके और पुनरुक्त भंगों को कम करके क्रम से स्थापित करने पर इन भेदों का प्रमाण होता है ४ × १२ = ४८; २४ × १२ = २८८; २८ × १२ = ३३६।[२] इनमें अवग्रह आदि की अपेक्षा ४८ भेद, इन्द्रिय व मन के अर्थावग्रह आदि की अपेक्षा २८८ भेद तथा व्यंजनावग्रह के ४८ भेद मिलाने पर (२८८ + ४८) कुल ३३६ भेद हो जाते हैं। बात यह है कि मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ४ भेद हैं। इन्हें ५ इन्द्रिय और एक मन (६) से गुणित कर देने पर २४ भेद होते हैं। इसमें व्यंजनावग्रह के ४ भेद मिला देने पर २८ भेद हो जाते हैं। ये अट्ठाईस उत्तरभेद हैं, अतः इनमें अवग्रह आदि ४ मूल भेद मिला देने पर ३२ भेद हो जाते हैं। [धवल १३/२३४] ये भेद तो इन्द्रिय और अवग्रहादि की अलग-अलग विवक्षा से हुए।

अब जो बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त व ध्रुव; ऐसे ६ प्रकार के पदार्थ बताये हैं तथा इनके प्रतिपक्षभूत ६ इतर पदार्थों को मिलाकर [यानी एक, एकविध आदि को मिलाकर] १२ प्रकार के पदार्थ बताये हैं; उनसे अलग-अलग उक्त [४, २४, २८ व ३२] विकल्पों को यदि गुणित किया जाता है तो मतिज्ञान के निम्न विकल्प उत्पन्न होते हैं:--

प्रथम स्थान	द्वितीय स्थान
४ × ६ = २४	४ × १२ = ४८
२४ × ६ = १४४	२४ × १२ = २८८
२८ × ६ = १६८	२८ × १२ = ३३६
३२ × ६ = १९२	३२ × १२ = ३८४

१. ध.पु. ९ पृ. १५५-१५६ व ध.पु. ६ पृ. १९-२१। २. ध.पु. १३ पृ. २३३-२४०।

इस प्रकार कुल ८ विकल्प बने। इनके साथ मूल विकल्प—४, २४, २८, ३२ भी मिला देने पर कुल १२ विकल्प (भेद) हो जाते हैं। यथा:—४, २४, २८, ३२, २४, १४४, १६८, १९२, ४८, २८८, ३३६, ३८४ परन्तु इनमें २४ नामक संख्या दो बार आई। अतः एक ही प्रकार की संख्या दो बार आजाने से इसे पुनरुक्त मानकर एक चौबीस को अलग कर, एक बार ही चौबीस लिखने पर ऐसे भेद-समूह बनते हैं—

४ २४ २८ ३२ १४४ १६८ १९२ ४८, २८८, ३३६, ३८४; इन्हें संख्या क्रम से जमाने पर ऐसा रूप बनता है—

४, २४, २८, ३२, ४८, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६, ३८४; स्मरणीय है कि २४, २४ जो दो बार आए थे वे यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार से बने थे। यथा पहली २४ भेद रूप संख्या:— "६ इन्द्रिय × ४ अवग्रहादि भेद = २४" रूप हैं। दूसरी २४ भेद रूप संख्या:—'अवग्रहादि ४ × ६ [बहु, बहुविध, क्षिप्र आदि] पदार्थ = २४ रूप है। फिर भी ये उस २४ रूप भेद के दो भंग हुए हैं। मूल स्थान तो २४ रूप एक ही हुआ; अतः एक बार ही चौबीस लिखा गया है। [ध.१३/२४१]

अब इस प्रकार साधित ११ विकल्पों में से ऊपर मूल में ४, २४, २८, ४८, २८८, ३३६ इन छह को ही खोला है। शेष विकल्प टिप्पण में खोल दिये ही हैं।

बहु आदि के स्वरूप का कथन

बहुवत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणम्हि।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा ॥३१२॥
वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा।
सकलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई ॥३१३॥
पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा।
वत्थंतर-चंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे ॥३१४॥

गाथार्थ—एक जाति के बहुत व्यक्ति '**बहु**' है। इससे विपरीत अर्थात् बहु जाति के बहुत व्यक्ति '**बहुविध**' हैं। इनके प्रतिपक्षी तथा क्षिप्रादि और उनके प्रतिपक्षियों का उनके नाम से ही अर्थ सिद्ध है ॥३१२॥ वस्तु के एकदेश को देखकर समस्त वस्तु का ज्ञान होना अथवा वस्तु के एकदेश या पूर्ण वस्तु का ग्रहण होने पर उसके अवलम्बन से अन्य वस्तु का ज्ञान होना यह सब अनिःसृत है ॥३१३॥ जल में डूबे हुए हस्ती की सूंड को देखकर उसी समय हस्ती का ज्ञान होना अथवा मुख को देखकर उसी समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमा का ज्ञान होना अथवा गवय को देखकर गौ का ज्ञान होना, यह सब अनिःसृत ज्ञान है ॥३१४॥

विशेषार्थ—'बहु' शब्द को संख्यावाची और वैपुल्यवाची ग्रहण किया है, क्योंकि दोनों प्रकार का अर्थ करने में कोई विशेषता नहीं है। बहुशब्द संख्यावाची है और वैपुल्यवाची भी है। उन दोनों का ही यहां ग्रहण है, क्योंकि इन दोनों ही अर्थों में समानरूप से उसका प्रयोग होता है। संख्या में

यथा—एक, दो, बहुत। वैपुल्य में यथा—बहुत भात, बहुत दाल।[1]

शङ्का—बहु अवग्रह आदि ज्ञानों का अभाव है, क्योंकि ज्ञान एक-एक पदार्थ के प्रति अलग-अलग होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वदा एक पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग आता है।

शङ्का—ऐसा रहा आवे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर नगर, वन और छावनी में भी एक पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग आजाएगा।

शङ्का—नगर, वन और स्कन्धावार में चूंकि एक नगर, एक वन और एक छावनी इस प्रकार एकवचन का प्रयोग अन्यथा बन नहीं सकता, इससे विदित होता है कि ये बहुत नहीं हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहुत्व के बिना उन तीन प्रत्ययों की उत्पत्ति में विरोध आता है। दूसरे एकवचन का निर्देश एकत्व का साधक है, ऐसी भी कोई बात नहीं है; क्योंकि वन में अवस्थित धवादिकों में एकत्व नहीं देखा जाता। सादृश्य एकत्व का कारण है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ उसका विरोध है।

दूसरे जिसके मत में विज्ञान एक अर्थ को ही ग्रहण करता है, उसके मत में पूर्वविज्ञान की निवृत्ति होने पर उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति होती है या पूर्वविज्ञान की निवृत्ति हुए बिना ही उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति होती है ? पूर्वविज्ञान की निवृत्ति हुए बिना तो उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि "विज्ञान एकमन होने से एक अर्थ को जानता है," इस वचन के साथ विरोध आता है और ऐसा होने पर "यह इससे भिन्न है" इस प्रकार के व्यवहार का लोप होता है। तीसरे, जिसके मत में एक विज्ञान अनेक पदार्थों को विषय नहीं करता है, उसके मत में मध्यमा और प्रदेशनी अंगुलियों का एक साथ ग्रहण नहीं होने के कारण तद्विषयक दीर्घ और ह्रस्व का आपेक्षिक व्यवहार नहीं बनेगा। चौथे, प्रत्येक विज्ञान को एक-एक अर्थ के प्रति नियत मानने पर स्थाणु और पुरुष में 'वह' इस प्रकार उभयसंस्पर्शी ज्ञान न हो सकने के कारण तन्निमित्तक संशयज्ञान का अभाव होता है। पाँचवें, पूर्णकलश को चित्रित करने वाले और चित्रकर्म में निष्णात चैत्र के क्रिया व कलशविषयक विज्ञान नहीं हो सकने के कारण उसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती है।[2] कारण कि एक साथ दो, तीन ज्ञानों के अभाव में उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है। छठे, एक साथ बहुत का ज्ञान नहीं हो सकने के कारण योग्यप्रदेश में स्थित अंगुलिपंचक का ज्ञान नहीं हो सकता। जाने गये अर्थ में भेद होने से विज्ञान में भी भेद है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नाना स्वभाव वाला एक ही त्रिकोटि परिणत विज्ञान उपलब्ध होता है। शक्तिभेद वस्तुभेद का कारण है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अलग-अलग अर्थक्रियाकारी न होने से उन्हें वस्तुभूत नहीं माना जा सकता।[3] इस प्रकार बहुत वस्तुओं का एक साथ ग्रहण करना बहु-अवग्रह है। यह बहु-अवग्रह

---

१. ध.पु. १३ पृ. २३५; व ध.पु. ९ पृ. ३४९। २. ध.पु. १३ पृ. २३५-२३६ व ध.पु. ९ पृ. ३४९। ३. धवल पु. १३ पृ. २३६ व धवल पु. ९ पृ. १४९, १५०, १५१।

इस प्रकार कुल ८ विकल्प बने। इनके साथ मूल विकल्प—४, २४, २८, ३२ भी मिला देने पर कुल १२ विकल्प (भेद) हो जाते हैं। यथा:—४, २४, २८, ३२, २४, १४४, १६८, १९२, ४८, २८८, ३३६, ३८४ परन्तु इनमें २४ नामक संख्या दो बार आई। अतः एक ही प्रकार की संख्या दो बार आजाने से इसे पुनरुक्त मानकर एक चौबीस को अलग कर, एक बार ही चौबीस लिखने पर ऐसे भेद-समूह बनते हैं—

४ २४ २८ ३२ १४४ १६८ १९२ ४८, २८८, ३३६, ३८४; इन्हें संख्या क्रम से जमाने पर ऐसा रूप बनता है—

४, २४, २८, ३२, ४८, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६, ३८४; स्मरणीय है कि २४, २४ जो दो बार आए थे वे यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार से बने थे। यथा पहली २४ भेद रूप संख्या:— "६ इन्द्रिय × ४ अवग्रहादि भेद = २४" रूप हैं। दूसरी २४ भेद रूप संख्या:—'अवग्रहादि ४ × ६ [बहु, बहुविध, क्षिप्र आदि] पदार्थ = २४ रूप है। फिर भी ये उस २४ रूप भेद के दो भंग हुए हैं। मूल स्थान तो २४ रूप एक ही हुआ; अतः एक बार ही चौबीस लिखा गया है। [ध.१३/२४१]

अब इस प्रकार साधित ११ विकल्पों में से ऊपर मूल में ४, २४, २८, ४८, २८८, ३३६ इन छह को ही खोला है। शेष विकल्प टिप्पण में खोल दिये ही हैं।

बहु आदि के स्वरूप का कथन

बहुवत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणम्हि।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा॥३१२॥

वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा।
सकलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई॥३१३॥

पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा।
वत्थंतर-चंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे॥३१४॥

गाथार्थ—एक जाति के बहुत व्यक्ति '**बहु**' है। इससे विपरीत अर्थात् बहु जाति के बहुत व्यक्ति '**बहुविध**' हैं। इनके प्रतिपक्षी तथा क्षिप्रादि और उनके प्रतिपक्षियों का उनके नाम से ही अर्थ सिद्ध है॥३१२॥ वस्तु के एकदेश को देखकर समस्त वस्तु का ज्ञान होना अथवा वस्तु के एकदेश या पूर्ण वस्तु का ग्रहण होने पर उसके अवलम्बन से अन्य वस्तु का ज्ञान होना यह सब अनिःसृत है॥३१३॥ जल में डूबे हुए हस्ती की सूंड को देखकर उसी समय हस्ती का ज्ञान होना अथवा मुख को देखकर उसी समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमा का ज्ञान होना अथवा गवय को देखकर गौ का ज्ञान होना, यह सब अनिःसृत ज्ञान है॥३१४॥

विशेषार्थ—'बहु' शब्द को संख्यावाची और वैपुल्यवाची ग्रहण किया है, क्योंकि दोनों प्रकार का अर्थ करने में कोई विशेषता नहीं है। बहुशब्द संख्यावाची है और वैपुल्यवाची भी है। उन दोनों का ही यहां ग्रहण है, क्योंकि इन दोनों ही अर्थों में समानरूप से उसका प्रयोग होता है। संख्या में

यथा—एक, दो, बहुत। वैपुल्य में यथा—बहुत भात, बहुत दाल।[1]

शङ्का—बहु अवग्रह आदि ज्ञानों का अभाव है, क्योंकि ज्ञान एक-एक पदार्थ के प्रति अलग-अलग होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वदा एक पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग आता है।

शङ्का—ऐसा रहा आवे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर नगर, वन और छावनी में भी एक पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग आजाएगा।

शङ्का—नगर, वन और स्कन्धावार में चूंकि एक नगर, एक वन और एक छावनी इस प्रकार एकवचन का प्रयोग अन्यथा बन नहीं सकता, इससे विदित होता है कि ये बहुत नहीं हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहुत्व के बिना उन तीन प्रत्ययों की उत्पत्ति में विरोध आता है। दूसरे एकवचन का निर्देश एकत्व का साधक है, ऐसी भी कोई बात नहीं है; क्योंकि वन में अवस्थित धवादिकों में एकत्व नहीं देखा जाता। सादृश्य एकत्व का कारण है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ उसका विरोध है।

दूसरे जिसके मत में विज्ञान एक अर्थ को ही ग्रहण करता है, उसके मत में पूर्वविज्ञान की निवृत्ति होने पर उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति होती है या पूर्वविज्ञान की निवृत्ति हुए बिना ही उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति होती है ? पूर्वविज्ञान की निवृत्ति हुए बिना तो उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि "विज्ञान एकमन होने से एक अर्थ को जानता है," इस वचन के साथ विरोध आता है और ऐसा होने पर "यह इससे भिन्न है" इस प्रकार के व्यवहार का लोप होता है। तीसरे, जिसके मत में एक विज्ञान अनेक पदार्थों को विषय नहीं करता है, उसके मत में मध्यमा और प्रदेशनी अंगुलियों का एक साथ ग्रहण नहीं होने के कारण तद्विषयक दीर्घ और ह्रस्व का आपेक्षिक व्यवहार नहीं बनेगा। चौथे, प्रत्येक विज्ञान को एक-एक अर्थ के प्रति नियत मानने पर स्थाणु और पुरुष में 'वह' इस प्रकार उभयसंस्पर्शी ज्ञान न हो सकने के कारण तन्निमित्तक संशयज्ञान का अभाव होता है। पाँचवें, पूर्णकलश को चित्रित करने वाले और चित्रकर्म में निष्णात चैत्र के क्रिया व कलशविषयक विज्ञान नहीं हो सकने के कारण उसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती है।[2] कारण कि एक साथ दो, तीन ज्ञानों के अभाव में उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है। छठे, एक साथ बहुत का ज्ञान नहीं हो सकने के कारण योग्यप्रदेश में स्थित अंगुलिपंचक का ज्ञान नहीं हो सकता। जाने गये अर्थ में भेद होने से विज्ञान में भी भेद है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नाना स्वभाव वाला एक ही त्रिकोटि परिणत विज्ञान उपलब्ध होता है। शक्तिभेद वस्तुभेद का कारण है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अलग-अलग अर्थक्रियाकारी न होने से उन्हें वस्तुभूत नहीं माना जा सकता।[3] इस प्रकार बहुत वस्तुओं का एक साथ ग्रहण करना बहु-अवग्रह है। यह बहु-अवग्रह

---

१. ध.पु. १३ पृ. २३५; व ध.पु. ६ पृ. ३४६। २. ध.पु. १३ पृ. २३५-२३६ व ध.पु. ६ पृ. ३४६। ३. धवल पु. १३ पृ. २३६ व धवल पु. ६ पृ. १४६, १५०, १५१।

अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि योग्य देश में स्थित पाँचों अंगुलियों का एक साथ उपलम्भ पाया जाता है।[1]

एक अर्थ को विषय करनेवाला विज्ञान एकप्रत्यय है।

शङ्का—ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग आदि रूप अवयवों में रहनेवाली अनेकता से अनुगत एकता पाई जाती है, अतएव वह एकप्रत्यय नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ इस प्रकार की ही जात्यन्तरभूत एकता का ग्रहण किया है।[2]

एक शब्द के व्यवहार का कारणभूत प्रत्यय एकप्रत्यय है।[3]

शङ्का—अनेकधर्मात्मक वस्तुओं के पाए जाने से एक अवग्रह नहीं होता है। यदि होता है तो एकधर्मात्मक वस्तु की सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि एकधर्मात्मक वस्तु का ग्रहण करने वाला प्रमाण पाया जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक वस्तु का ग्रहण करनेवाला ज्ञान एक-अवग्रह कहलाता है। तथा विधि और प्रतिषेध धर्मों के वस्तुपना नहीं है, जिससे उनमें अनेक अवग्रह हो सके? किन्तु विधि और प्रतिषेध धर्मों के समुदायात्मक एक वस्तु होती है उस प्रकार की वस्तु के उपलम्भ को एक अवग्रह कहते हैं। अनेक वस्तु विषयक ज्ञान को अनेक अवग्रह कहते हैं। किन्तु प्रतिभास तो सर्व ही अनेक धर्मों का विषय करनेवाला होता है, क्योंकि विधि और प्रतिषेध इन दोनों में किसी एक ही धर्म का अनुपलम्भ है, अर्थात् इन दोनों में से एक को छोड़कर दूसरा नहीं पाया जाता, दोनों ही प्रधान-अप्रधान रूपसे साथ-साथ पाये जाते हैं।[4]

विध का ग्रहण भेद प्रकट करने के लिए है, अतः बहुविध का अर्थ बहुत प्रकार है। जाति में रहनेवाली बहुसंख्या को अर्थात् अनेक जातियों को विषय करने वाला प्रत्यय बहुविध कहलाता है। गाय, मनुष्य, घोड़ा और हाथी आदि जातियों में रहने वाला अक्रम प्रत्यय चक्षुर्जन्य बहुविध प्रत्यय है। तत, वितत, घन और सुषिर आदि शब्दजातियों को विषय करने वाला अक्रम प्रत्यय श्रोत्रज बहुविध प्रत्यय है। कपूर, अगुरु, तुरुष्क (सुगन्धित द्रव्य विशेष) और चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों में रहने वाला यौगपद्य प्रत्यय [=ज्ञान] घ्राणज बहुविध प्रत्यय है। तिक्त, कषाय, आम्ल, मधुर और लवण रसों में एक साथ रहने वाला प्रत्यय रसनज बहुविध प्रत्यय है। स्निग्ध, मृदु, कठिन, उष्ण, गुरु, लघु और शीत आदि स्पर्शों में एक साथ रहने वाला स्पर्शज बहुविध प्रत्यय है। यह प्रत्यय असिद्ध नहीं है, क्योंकि यह पाया जाता है और जिसकी प्राप्ति है उसका अपह्नव नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने में अव्यवस्था की आपत्ति के साथ जातिविषयक बहुप्रत्यय के निमित्त से होने वाले बहुवचन के भी व्यवहार के अभाव की आपत्ति आएगी।[5]

एक जाति को विषय करने के कारण इस बहुविध प्रत्यय के प्रतिपक्षभूत प्रत्यय [=ज्ञान] को **एकविध** कहते हैं।

---

१. धवल पु. ६ पृ. १६। २. धवल पु. १३ पृ. २३६। ३. धवल पु. ६ पृ. १५१। ४. धवल पु. ६ पृ. १६। ५. धवल पु. ६ पृ. १५१-१५२ व धवल पु. १३ पृ. २३७।

शङ्का—एक और एकविध में क्या भेद है ?

समाधान—एक व्यक्ति रूप पदार्थ का ग्रहण करना एक अवग्रह है और एक जाति में स्थित एक पदार्थ का अथवा बहुत पदार्थों का ग्रहण करना एकविध अवग्रह है।[1] अथवा एकविध का अन्तर्भाव एकप्रत्यय में नहीं हो सकता, क्योंकि वह एक प्रत्यय व्यक्तिगत एकता में सम्बद्ध रहने वाला है और यह एकविध अनेक व्यक्तियों में सम्बद्ध एकजाति में रहने वाला है।[2] जाति और व्यक्ति एक नहीं होने से उनको विषय करने वाले प्रत्यय भी एक नहीं हो सकते।[3]

शीघ्र अर्थ को ग्रहण करने वाला प्रत्यय **क्षिप्रप्रत्यय** है।[4] क्षिप्र वृत्ति अर्थात् शीघ्रवस्तु को ग्रहण करने वाला क्षिप्रप्रत्यय है।[5] आशुग्रहण क्षिप्र-अवग्रह है।[6] धीरे (शनैः) ग्रहण करना **अक्षिप्र-अवग्रह** है। जिस प्रकार नूतन सकोरे को प्राप्त हुआ जल उसे धीरे-धीरे गीला करता है, उसी प्रकार पदार्थ को धीरे-धीरे जानने वाला प्रत्यय अक्षिप्र-प्रत्यय है।[7]

वस्तु के एकदेश का अवलम्बन करके पूर्णरूप से वस्तु को ग्रहण करनेवाला तथा वस्तु के एकदेश अथवा समस्त वस्तु का अवलम्बन करके वहाँ अविद्यमान अन्य वस्तु को विषय करने वाला भी **अनिःसृत** प्रत्यय है। यह प्रत्यय असिद्ध नहीं है, क्योंकि घट के अर्वाग्भाग का अवलम्बन करके कहीं घट प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है, कहीं पर अर्वाग्भाग के एकदेश का अवलम्बन करके उक्त प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है, कहींपर 'गाय के समान गवय होता है' इस प्रकार अथवा अन्यप्रकार से एक वस्तु का अवलम्बन करके वहाँ समीप में न रहने वाली अन्य वस्तु को विषय करनेवाले प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है। कहीं पर अर्वाग्भाग के ग्रहण काल में ही परभाग का ग्रहण पाया जाता है और यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अन्यथा वस्तुविषयक प्रत्यय की उत्पत्ति बन नहीं सकती। तथा अर्वाग्भाव मात्र वस्तु हो नहीं सकती, क्योंकि उतने मात्र से अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता।[8]

शङ्का—अर्वाग्भाग के आलम्बन से अनालम्बित परभागादिकों का होनेवाला ज्ञान अनुमान ज्ञान क्यों नहीं होगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनुमान ज्ञान लिंग से भिन्न अर्थ को विषय करता है। अर्वाग्भाग के ज्ञान के समान काल में होने वाला परभाग का ज्ञान तो अनुमान ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि वह अवग्रह स्वरूप ज्ञान है। भिन्न काल में होने वाला भी उक्त ज्ञान अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ईहा के बाद में उत्पन्न होने से उसका अवायज्ञान में अन्तर्भाव होता है।

कहीं पर एक वर्ण के सुनने के समय में ही आगे कहे जाने वाले वर्णविषयक ज्ञान की उत्पत्ति उपलब्ध होती है, कहीं पर दो, तीन आदि स्पर्शवाली अतिशय अभ्यस्त वस्तु में एक स्पर्श का ग्रहण होते समय ही दूसरे स्पर्श से युक्त उस वस्तु का ग्रहण होता है। तथा कहीं पर एक रस के ग्रहण-समय में ही उस प्रदेश में असन्निहित दूसरे रस से युक्त वस्तु का ग्रहण होता है; इसलिए भी अनिःसृत प्रत्यय असिद्ध नहीं है। दूसरे आचार्य 'अनिःसृत' के स्थान में 'निःसृत' पाठ पढ़ते हैं, परन्तु वह

---

१. धवल पु. ६ पृ. २०। २. धवल पु. ९ पृ. १५२। ३. धवल पु. १३ पृ. २३७। ४. धवल पु. १३ पृ. २३७। ५. धवल पु. ९ पृ. १५२। ६. धवल पु. ६ पृ. २०। ७. धवल पु. १३ पृ. २३७ व धवल पु. ९ पृ. १५२ व धवल पु. ६ पृ. २०। ८. ध.पु. ९ पृ. १५२-१५३।

घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर एक मात्र उपमा प्रत्यय ही वहाँ उपलब्ध होता है। इसका प्रतिपक्षभूत निःसृत प्रत्यय है, क्योंकि कहीं पर किसी काल में वस्तु के एकदेश के ज्ञान की ही उत्पत्ति देखी जाती है।[1] अभिमुख अर्थ का ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है और अनभिमुख अर्थ का ग्रहण करना अनिःसृत-अवग्रह है। अथवा उपमान-उपमेय भाव के द्वारा ग्रहण करना निःसृत-अवग्रह है, जैसे कमलदलनयना अर्थात् इस स्त्री के नयन कमलपत्र के समान हैं। उपमान-उपमेय भाव के बिना ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है।[2]

नियमित गुण-विशिष्ट अर्थ का ग्रहण करना उक्त अवग्रह है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा धवल पदार्थ का ग्रहण करना और घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सुगन्धित द्रव्य का ग्रहण करना इत्यादि। अनियमित गुण-विशिष्ट द्रव्य का ग्रहण करना अनुक्त-अवग्रह है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा गुड़ आदि के रस का ग्रहण करना और घ्राणेन्द्रिय के द्वारा दही आदि के रस का ग्रहण करना।[3]

कृतिअनुयोगद्वार में भी कहा है कि प्रतिनियत गुणविशिष्ट वस्तु के ग्रहण के समय ही जो गुण उस इन्द्रिय का विषय नहीं है ऐसे गुण से युक्त उन वस्तु का ग्रहण होना अनुक्त प्रत्यय है। यह प्रत्यय असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि चक्षु के द्वारा लवण, शर्करा और खांड के ग्रहण के समय ही कदाचित् उसके रस का ज्ञान हो जाता है, दही की गंध के ग्रहणकाल में ही उसके रस का ज्ञान हो जाता है, प्रदीप के स्वरूप का ग्रहण होते समय ही कदाचित् उसके स्पर्श का ज्ञान हो जाता है और संस्कारसम्पन्न किसी के शब्दश्रवण के समय ही उस वस्तु के रसादि का ज्ञान भी देखा जाता है। इसका प्रतिपक्षभूत उक्त प्रत्यय है।[4]

शङ्का—मन से अनुक्त का विषय क्या है?

समाधान—अदृष्ट, अश्रुत और अनुभूत पदार्थ। इन पदार्थों में मन की प्रवृत्ति असिद्ध भी नहीं है क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर उपदेश के बिना द्वादशांग श्रुत का ज्ञान नहीं बन सकता है।

शङ्का—निःसृत और उक्त में क्या भेद है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उक्तप्रत्यय निःसृत और अनिःसृत उभय रूप होता है, इसलिए उसे निःसृत से अभिन्न मानने में विरोध आता है।[5]

पूर्वोक्त अनुक्त अवग्रह अनिःसृत-अवग्रह के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि एक वस्तु के ग्रहण काल में ही उससे पृथग्भूत वस्तु का उपरिम भाग के ग्रहणकाल में ही परभाग का और अंगुलि के ग्रहणकाल में ही देवदत्त का ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है।[6]

नित्यत्व विशिष्ट स्तम्भ आदि का ज्ञान स्थिर अर्थात् ध्रुव प्रत्यय है। स्थिर ज्ञान एकान्त रूप है, ऐसा निश्चय करना युक्त नहीं है, क्योंकि विधिनिषेध के द्वारा यहाँ पर भी अनेकान्त की विषयता देखी जाती है। बिजली और दीपक की लौ आदि में उत्पाद-विनाशयुक्त वस्तु का ज्ञान अध्रुवप्रत्यय है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त वस्तु का ज्ञान भी अध्रुवप्रत्यय है, क्योंकि यह

---

१. ध.पु. १३ पृ. २३८। २. ध.पु. ६ पृ. २०। ३. ध.पु ६ पृ. २०। ४. ध.पु. ९ पृ. २३८-२३९, ध.पु. १३ पृ. १५३-१५४। ५. धवल पु. ९ पृ. २३९, धवल पु. १३ पृ. १५४-१५५। ६. धवल पु. ६ पृ. २०।

ज्ञान ध्रुव ज्ञान से भिन्न है।[1] यह वही है, वह मैं ही हूँ' इस प्रकार का प्रत्यय ध्रुव कहलाता है। इसका प्रतिपक्षभूत प्रत्यय अध्रुव है।[2]

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा इन चारों के और आभिनिबोधिक के पर्यायवाची नाम--
१. अवग्रह अवदान, सान, अवलम्बना और मेधा ये अवग्रह के पर्यायवाची नाम हैं। जिसके द्वारा घटादि पदार्थ 'अवगृह्यते' अर्थात् जाने जाते हैं वह **अवग्रह** है। जिसके द्वारा 'अवदीयते खण्डयते' अर्थात् अन्य पदार्थों से अलग करके विवक्षित अर्थ जाना जाता है वह अवग्रह का अन्य नाम **अवदान** है। जो अनध्यवसायको 'स्यति, छिनत्ति, हन्ति, विनाशयति' अर्थात् छेदता है नष्ट करता है, वह अवग्रह का तीसरा नाम '**सान**' है। जो अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रियादिक का अवलम्बन लेता वह अवग्रह का **चौथा नाम अवलम्बना** है। जिसके द्वारा पदार्थ '**मेध्यति**' अर्थात् जाना जाता है वह अवग्रह का पाँचवाँ नाम मेधा है।[3]

ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहा के पर्याय नाम हैं ॥३८॥

जिस बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुए संशय का नाश करने के लिए 'ईहते' अर्थात् चेष्टा करते हैं वह '**ईहा**' है। जिसके द्वारा अवग्रह से ग्रहण किये गये अर्थ के नहीं जाने गये विशेष की 'ऊह्यते' अर्थात् तर्कणा करते हैं वह '**ऊहा**' है। जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प का 'अपोह्यते' अर्थात् निराकरण किया जाता है वह '**अपोहा**' है। अवग्रह से ग्रहण किये गये अर्थ के विशेष की जिसके द्वारा गवेषणा की जाती है वह '**गवेषणा**' है। अवग्रह से ग्रहण किया गया अर्थ जिसके द्वारा विशेष रूप से मीमांसित किया जाता है (विचारा जाता है) वह '**मीमांसा**' है।[4]

अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा, ये अवाय के पर्याय नाम हैं ॥३९॥

जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ 'अवेयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है वह '**अवाय**' है। जिसके द्वारा अन्वेषित अर्थ 'व्यवसीयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है वह '**व्यवसाय**' है। जिसके द्वारा ऊहित अर्थ 'बुद्धयते अर्थात् जाना जाता है वह '**बुद्धि**' है। जिसके द्वारा तर्कसंगत अर्थ विशेष रूप से जाना जाता है वह '**विज्ञप्ति**' है। जिसके द्वारा वितर्कित अर्थ आमुंड्यते' अर्थात् संकोचित किया जाता है वह '**आमुंडा**' है। जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ अलग-२ 'आमुण्डयते' अर्थात् संकोचित किया जाता है वह **प्रत्यामुण्डा** है।

धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम हैं ॥४०॥

धरणी के समान बुद्धि का नाम **धरणी** है। जिस प्रकार धरणी (पृथिवी) गिरि, नदी, सागर, वृक्ष, झाड़ी और पत्थर आदि को धारण करती है उसी प्रकार जो बुद्धि निर्णीत अर्थ को धारण करती है वह '**धरणी**' है। जिसके द्वारा निर्णीत अर्थ धारण किया जाता है वह '**धारणा**' है। जिसके द्वारा निर्णीत रूपसे अर्थ स्थापित किया जाता है वह '**स्थापना**' है। कोष्ठ के समान बुद्धि का नाम '**कोष्ठा**' है। कोष्ठा कुस्थली को कहते हैं। उसके समान जो निर्णीत अर्थ को धारण करती

---

१. धवल पु. १३ पृ. २३९ २. धवल पु. ९ पृ. १५४। ३. धवल पु. १३ पृ. २४२। ४. धवल पु. १३ पृ. २४२।

है वह बुद्धि **'कोष्ठा'** कही जाती है। जिसमें विनाश के बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं वह बुद्धि **'प्रतिष्ठा'** है।[1]

संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये एकार्थवाची नाम हैं ॥४१॥

जिसके द्वारा समीचीन रूपसे जाना जाता है, वह **'संज्ञा'** है। स्मरण करना **स्मृति** है। मनन करना **मति** है। चिन्तन करना **चिन्ता** है।[2] यद्यपि ये शब्द अलग-अलग धातु से बने हैं तो भी रूढ़ि से पर्यायवाची हैं।[3]

एकेन्द्रिय जीव के लब्ध्यक्षर ज्ञान से लेकर छह वृद्धियों के साथ स्थित असंख्यात लोकप्रमाण मतिज्ञान के विकल्प होते हैं, उन सब ज्ञानों का इन्हीं भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है।[4]

॥ 'इति मतिज्ञानम्' ॥

श्रुतज्ञान का सामान्य लक्षण

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥३१५॥[5]

गाथार्थ—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञानपूर्वक होता है। यहाँ शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥३१५॥

विशेषार्थ—शब्द और धूमादिक लिंग के द्वारा जो एक पदार्थ से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। उनमें शब्द के निमित्त से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान मुख्य है। वह दो प्रकार का है अंग और अंगबाह्य। अंगश्रुत बारह प्रकार का है और अंगबाह्य चौदह प्रकार का है।[6] 'श्रुतज्ञान' मतिज्ञानपूर्वक होता है, क्योंकि मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं पाई जाती है।[7]

'श्रुत' शब्द कुशल शब्द के समान जहत्स्वार्थवृत्ति है। जैसे कुश (तीक्ष्ण नोकवाली घास) काटने रूप क्रिया का आश्रय करके सिद्ध किया गया कुशल शब्द सब जगह 'पर्यवदात' (विमल या मनोज्ञ) अर्थ में आता है, उसी प्रकार 'श्रुत' शब्द भी श्रवण क्रिया को लेकर सिद्ध होता हुआ भी रूढ़ि वश किसी ज्ञानविशेष में रहता है, न कि केवल श्रवण से उत्पन्न ज्ञान में ही। वह भी श्रुतज्ञान मतिपूर्वक अर्थात् मतिज्ञान के निमित्त से होने वाला है, क्योंकि 'कार्य को जो पालन करता है अथवा पूर्ण करता है वह पूर्व है' इस प्रकार पूर्व शब्द सिद्ध हुआ है।

शङ्का—मतिपूर्वत्व की समानता होने से श्रुतज्ञान में कोई भेद नहीं होता?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि मतिपूर्वत्व के समान होने पर भी प्रत्येक पुरुष में श्रुतज्ञाना-

---

१. धवल पु. १३ पृ. २४३। २. धवल पु. १३ पृ. २४४। ३. सर्वार्थसिद्धि १।१३। ४. धवल पु. १३ पृ. २४४। ५. यह गाथा धवल पु. १ में पृ. ३५६ पर गाथा १८३ है, तथा प्रा. पं. सं. अ. १ गाथा १२२ पृ. २६ पर भी है। ६. धवल पु. १ सूत्र ११५ की टीका पृ. ३५७। "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक-द्वादशभेदम् ॥१।२०॥" [त. सू.]। ७. जयधवल पु. १ पृ. २४।

वरण के क्षयोपशम बहुधा भिन्न होते हैं, अतः उनके भेद से और बाह्य निमित्तों के भी भेद से श्रुत की हीनाधिकता का सम्बन्ध होता है।

शङ्का—जब आद्यश्रुतविषयता को प्राप्त हुए अविनाभावी वर्ण-पद-वाक्य आदि भेदों को धारण करने वाले शब्दपरिणत पुद्गलस्कन्ध से और चक्षु आदि के विषय से संकेतयुक्त पुरुष घट से जलधारणादि कार्यरूप अन्य सम्बन्धी को अथवा अग्नि आदि से भस्म आदि को जानता है तब श्रुत से श्रुत का लाभ होता है, अतः श्रुत का मतिपूर्वत्व लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यवधान के होने पर भी पूर्व शब्द की प्रवृत्ति होती है। जैसे मथुरा से पूर्व में पाटलिपुत्र है। इसलिए मतिपूर्व-ग्रहण में सक्षात् मतिपूर्वक और परम्परा से मतिपूर्वक भी ग्रहण किया जाता है।[1]

श्रुतज्ञान के निमित्त से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी श्रुतज्ञान ही है। फिर भी 'मति-ज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' इस सूत्र के साथ विरोध नहीं आता, क्योंकि उक्त सूत्र श्रुतज्ञान की प्रारम्भिक प्रवृत्ति की अपेक्षा कहा गया है।[2]

पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची हैं।[3]

श्रुतज्ञान के भेद

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।
वेरुवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं ॥३१६॥

गाथार्थ—षट्स्थानपतित वृद्धि की अपेक्षा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण द्विरूप वर्गधारा में छठे वर्गस्थान एकट्ठी में से एक कम है ॥३१६॥

विशेषार्थ—सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक के जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्ध्यक्षर है।

शङ्का—इसकी अक्षर संज्ञा किस कारण से है ?

समाधान—नाश के बिना एक स्वरूप से अवस्थित रहने से केवलज्ञान अक्षर है। क्यों उसमें वृद्धि हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सूक्ष्म निगोदलब्ध्यपर्याप्तक ज्ञान भी वही है, इसलिए इस ज्ञान को अक्षर कहते हैं।

शङ्का—इसका प्रमाण क्या है ?

समाधान—इसका प्रमाण केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग है।

यह ज्ञान निरावरण है, क्योंकि अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित रहता है अथवा

---

१. धवल पु. ६ पृ. १६०-१६१। २. धवल पु. १३ पृ. २१०। ३. सर्वार्थसिद्धि १/२०।

इसके आवृत्त होने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है। इस लब्ध्यक्षर ज्ञान में सब जीवराशि का भाग देने पर सब जीवराशि से अनन्तगुणे ज्ञानविभागप्रतिच्छेद आते हैं।

शङ्का—लब्ध्यक्षर ज्ञान सब जीवराशि से अनन्तगुणा है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—वह परिकर्म से जाना जाता है। यथा—"सब जीवराशि का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकप्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सब पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है। पुनः सब पुद्गल द्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब काल प्राप्त होता है। पुनः सब कालों का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब आकाशश्रेणी प्राप्त होती है। पुनः सब आकाशश्रेणी का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक मात्र वर्गस्थान आगे जाकर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। पुनः उसके भी उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर एक जीव का अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है। पुनः इसके भी उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक का लब्ध्यक्षर ज्ञान प्राप्त होता है" ऐसा परिकर्म में कहा है। इस लब्ध्यक्षर ज्ञान में सब जीवराशि का भाग देने पर ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सब जीवराशि से अनन्तगुणा लब्ध होता है। इस प्रक्षेप को प्रतिराशिभूत लब्ध्यक्षर ज्ञान में मिलाने पर पर्यायज्ञान का प्रमाण उत्पन्न होता है। पुनः पर्यायज्ञान में सब जीवराशि का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे उसी पर्यायज्ञान में मिलादेने पर पर्यायसमासज्ञान उत्पन्न होता है। पुनः इसके आगे अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि क्रम से असंख्यात लोकमात्र पर्याय-समासज्ञान स्थानों के द्विचरम स्थान के प्राप्त होने तक पर्याय समासज्ञान स्थान निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। पुनः एक प्रक्षेप की वृद्धि होने पर अन्तिम पर्याय समास स्थान होता है। इस प्रकार पर्याय-समासज्ञान स्थान असंख्यात लोकमात्र छह स्थान पतित प्राप्त होते हैं।[1]

पुनः अन्तिम-पर्यायसमासज्ञान में सब जीवराशि का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसको अन्तिम-पर्यायसमासज्ञान में मिलाने पर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है। यह अक्षरज्ञान सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक के अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरों के बराबर होता है।[2] इस अक्षरज्ञान से पूर्व के सब ज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान हैं, जो असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान पतित हैं।

अक्षर के तीन भेद हैं--लब्ध्यक्षर, निर्वृत्त्यक्षर और संस्थान अक्षर। सूक्ष्म-निगोदलब्ध्य-पर्याप्तक से लेकर श्रुतकेवली तक जीव के जितने क्षयोपशम होते हैं उन सब की लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जीवों के मुख से निकले हुए शब्द की निर्वृत्त्यक्षर संज्ञा है। उस निर्वृत्त्यक्षर के व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो भेद हैं। व्यक्त निर्वृत्त्यक्षर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के होता है। अव्यक्त निर्वृत्त्यक्षर द्वीन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तक होता है। संस्थानाक्षर का दूसरा नाम स्थापना-अक्षर है।

शङ्का--स्थापना क्या है ?

---

१. धवल पु. १३ पृ. २६२-२६४। २. धवल पु. १३ पृ. २६४।

समाधान—'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेद रूप से बुद्धि में जो स्थापना होती है, या जो लिखा जाता है, वह स्थापना-अक्षर है।

शङ्का—इन तीन अक्षरों में से प्रकृत में कौनसे अक्षर से प्रयोजन है ?

समाधान—लब्ध्यक्षर से प्रयोजन है, शेष अक्षरों से नहीं है ; क्योंकि वे जड़ स्वरूप हैं। जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक के होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्व धारी के होता है। जघन्य निर्वृत्यक्षर द्वीन्द्रिय पर्याप्तक आदिकों के होता है और उत्कृष्ट १४ पूर्वधारी के होता है इसी प्रकार संस्थानाक्षर का भी कथन करना चाहिए। एक अक्षर के द्वारा जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह जघन्य अक्षर श्रुतज्ञान है। इस अक्षरज्ञान के ऊपर दूसरे अक्षर की वृद्धि होने पर अक्षरसमास नामका श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए संख्यात अक्षरों को मिलाकर एक पद नाम का श्रुतज्ञान होता है।[1]

जितने अक्षर हैं उतने ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं। क्योंकि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। अक्षरों का प्रमाण इस प्रकार है—

वर्गाक्षर पच्चीस, अन्तस्थ चार और ऊष्माक्षर चार इस प्रकार तैंतीस व्यंजन होते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, इस प्रकार ये नौ स्वर अलग-अलग ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से सत्ताईस होते हैं।

शङ्का—ए, ऐ, ओ, औ इनके ह्रस्व भेद नहीं होते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्राकृत में उनमें इनका सद्भाव मानने में कोई विरोध नहीं आता। अयोगवाह अं, अः, ≍ क और ≍ प ये चार ही होते हैं। इस प्रकार सब अक्षर चौंसठ (६४) होते हैं।[2]

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं त्वर्द्धमात्रकम् ॥१२॥[3]

एक मात्रा वाला ह्रस्व है, दो मात्रा वाला दीर्घ, तीन मात्रा वाला प्लुत जानना चाहिए और व्यंजन अर्ध मात्रा वाला होता है।

इन चौंसठ अक्षरों से अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के चौंसठ विकल्प होते हैं। इन अक्षरों की संख्या की राशि प्रमाण '२' का विरलन कर परस्पर गुणा करने पर एकट्ठी अर्थात् १८४४६७४४०७३७०९-५५१६१६ प्राप्त होता है। इस संख्या में से एक कम करने पर पूर्ण श्रुत के समस्त अक्षरों का प्रमाण प्राप्त होता है।[4] इतने ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के विकल्प हैं और इतना ही उत्कृष्ट श्रुतज्ञान का प्रमाण है।

बीस प्रकार के श्रुतज्ञान का कथन

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥३१७॥

---

१. धवल पु. १३ पृ. २६४-२६५। २. धवल पु. १३ पृ. २४७। ३. धवल पु. १३ पृ. २४८। ४. धवल पु. १३ पृ. २४६।

तेसिं च समासेहि य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं ।
आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंति त्ति ।।३१८।।[1]

गाथार्थ—पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत वस्तु और पूर्व ये दस और दस इनके समास जैसे पर्यायसमास आदि, इस प्रकार श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं। श्रुतज्ञानावरण के भी इतने ही भेद होते हैं ।।३१७-३१८।।

विशेषार्थ—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास, ये श्रुतज्ञान के बीस भेद जानने चाहिए।

"समास" शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए, अन्यथा श्रुतज्ञान के बीस भेद नहीं बन सकते।[2]

अक्षर (अविनाशी) संज्ञक-केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण लब्ध्यक्षर ज्ञान में सब जीवों का भाग देने पर सब जीवराशि से अनन्तगुणे ज्ञानाविभागप्रतिच्छेद लब्ध को लब्ध्यक्षरज्ञान में मिलाने पर पर्यायज्ञान उत्पन्न होता है।

शङ्का—पर्याय किसका नाम है ?

समाधान—ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदों के प्रक्षेप (मिलाने) का नाम पर्याय है।

पर्यायज्ञान में सब जीवराशि का (अनन्त का) भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसको उसी पर्यायज्ञान में मिला देने पर पर्यायसमासज्ञान उत्पन्न होता है। (पर्यायज्ञान में अनन्तभाग वृद्धि के होने पर) पर्यायसमासज्ञान उत्पन्न होता है। पुनः इसके ऊपर षट्स्थानपतित वृद्धियों के द्वारा असंख्यात लोकमात्र पर्यायसमासज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पर्यायसमासज्ञान असंख्यात लोक-प्रमाण प्राप्त होते हैं, परन्तु पर्यायज्ञान एक प्रकार का ही होता है। प्रक्षेपों का समास जिन ज्ञान-स्थानों में होता है, उन ज्ञानस्थानों की पर्याय-समास संज्ञा है, परन्तु जहाँ एक ही प्रक्षेप होता है, उस ज्ञान की पर्याय संज्ञा है।[3] पर्यायसमास ज्ञानों को अक्षरज्ञान के पूर्ण होने तक ले जाना चाहिए। अक्षरज्ञान के आगे उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि से जाने वाले ज्ञानों की अक्षरसमास संज्ञा है। यहाँ अक्षरज्ञान से आगे छह वृद्धियाँ नहीं हैं, किन्तु दुगुणे-तिगुणे इत्यादि क्रम से अक्षरवृद्धि ही होती है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, परन्तु कितने ही आचार्य अक्षर-ज्ञान से लेकर आगे सब जगह क्षयोपशम ज्ञान के छह प्रकार की वृद्धि होती है, ऐसा कहते हैं। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि समस्त श्रुतज्ञान के संख्यातवें भागरूप अक्षरज्ञान से ऊपर छह प्रकार की वृद्धियाँ संभव नहीं हैं।[4]

---

१. धवल पु. १३ पृ. २६० पर गाथा न. १ इस प्रकार है—"पज्जय-अक्खर-पद-संघादय पडिवत्ति-जोगदाराइं। पाहुड पाहुड-वत्थू पुव्वसमासा य बोद्धव्वा ।।१।।" २. धवल पु. १३ पृ. २६२। ३. ध.पु. १३ पृ. २६३-२६४। ४. ध.पु. १२ पृ. ४७९-४८० व पु. ६ पृ. २२-२३।

शङ्का—अक्षरश्रुतज्ञान के ऊपर छह प्रकार की वृद्धि द्वारा श्रुतज्ञान की वृद्धि क्यों नहीं होती ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अक्षरज्ञान सकल श्रुतज्ञान के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है; अतः उसके उत्पन्न होने पर संख्यात भाग वृद्धि और संख्यात गुण वृद्धि ही होती है। छह प्रकार की वृद्धियाँ नहीं होतीं, क्योंकि एक अक्षर रूप ज्ञान के द्वारा जिसे बल की प्राप्ति हुई है, उसके छह प्रकार की वृद्धि के मानने में विरोध आता है।[1]

इसके आगे स्वयं ग्रन्थकार पर्याय, पर्यायसमास आदि ज्ञानों का तथा षट्स्थान पतितवृद्धियों का गाथाओं द्वारा कथन करेंगे; इसलिए यहाँ पर उनका कथन नहीं किया गया है।

पर्यायज्ञान का स्वरूप

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणम् ॥३१९॥
सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण ।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे ॥३२०॥
सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
फासिंदिय-मदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥३२१॥
णवरि विसेसं जाणे सुहमजहण्णं तु पज्जयं णाणं ।
पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्हि ॥३२२॥[2]

गाथार्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त अपने ६११ भवों में भ्रमण करके अन्तिम ६१२वें लब्ध्यपर्याप्त भव में तीन मोड़े लेकर उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव के उत्पन्न (उत्पाद) के प्रथम समय में अर्थात् प्रथम मोड़े में सर्व जघन्य नित्य-उद्घाटित निरावरण स्पर्शन-इन्द्रियजन्य-मति-ज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त के इस जघन्यज्ञान से पर्यायज्ञान में इतनी विशेषता है कि पर्यायज्ञानावरण के कारण वह पर्यायज्ञान और उसके आगे के ज्ञानभेद सावरण हैं अर्थात् लब्ध्यक्षर ज्ञान की तरह नित्य-उद्घाटित नहीं हैं ॥३१९-३२२॥

विशेषार्थ—पर्याय श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में धवलग्रन्थ में दो मत पाये जाते हैं। वर्गणा खण्ड में इस प्रकार कथन किया गया है—"नाश के बिना एक स्वरूप से अवस्थित रहने से केवलज्ञान "अक्षर" संज्ञक है। क्योंकि उसमें वृद्धि और हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सूक्ष्म निगोद लब्ध्य-पर्याप्तक का ज्ञान भी वही है, इसलिए यह ज्ञान भी अक्षर है। यह ज्ञान निरावरण है, क्योंकि अक्षर का (केवलज्ञान का) अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित रहता है अथवा इसके आवृत होने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है। इस लब्ध्यक्षर ज्ञान में सब जीवराशि का भाग देने पर सब

---

१. ध.पु. १३ पृ. २६७-२६८। २. मुद्रित पुस्तकों में इस गाथा की क्रम संख्या ३१९ है किन्तु प्रकरण की अपेक्षा यह गाथा ३२२ होनी चाहिए। इस कारण क्रम में परिवर्तन किया गया है।

जीवराशि से अनन्तगुणे ज्ञानाविभागप्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस प्रक्षेप को लब्ध्यक्षर ज्ञान में मिला देने पर पर्यायज्ञान का प्रमाण उत्पन्न होता है (लब्ध्यक्षर ज्ञान में अनन्तवें भाग वृद्धि होने पर पर्यायज्ञान उत्पन्न होता है)। इस पर्यायज्ञान में सब जीवराशि का भाग देने पर, लब्ध को पर्यायज्ञान में मिला देने पर (अनन्तवें भागवृद्धि) पर्यायसमासज्ञान होता है। पुनः इसके आगे अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि के क्रम से असंख्यातलोकमात्र पर्यायसमासज्ञान निरन्तर प्राप्त होते हैं,[1] यहाँ पर मात्र लब्ध्यक्षरज्ञान को नित्य उद्घाटित निरावरण कहा गया है, पर्यायज्ञान को निरावरण नित्य उद्घाटित नहीं कहा गया है।

पर्याय किसका नाम है? ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदों का नाम पर्याय है।[2] उनका समास जिन ज्ञानस्थानों में होता है, उन ज्ञानस्थानों की पर्यायसमास संज्ञा है, परन्तु जहाँ एक ही प्रक्षेप होता है, उस ज्ञान की पर्यायसंज्ञा है।[3]

दूसरा मत इस प्रकार है—क्षरण अर्थात् विनाश का अभाव होने से केवलज्ञान अक्षर है। उसका अनन्तवाँ भाग पर्याय नाम का मतिज्ञान है। वह पर्याय नाम का मतिज्ञान व केवलज्ञान निरावरण और अविनाशी हैं। इस सूक्ष्म-निगोद-लब्धि-अक्षर से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह कार्य में कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है। इस पर्याय श्रुतज्ञानसे जो अनन्तवें भाग अधिक श्रुतज्ञान होता है वह पर्यायसमासज्ञान कहलाता है। अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि इन छहों वृद्धियों के समुदायात्मक यह षड्स्थान वृद्धि होती है।[4]

इस दूसरे मत में सर्वजघन्य मतिज्ञान की पर्याय संज्ञा है। वह मतिज्ञान सर्वजघन्य लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान को कारण है, अतः कार्य में कारण का उपचार करके उस श्रुतज्ञान (लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान) को भी पर्यायज्ञान कहा गया है। अर्थात् पर्याय नामक मतिज्ञान के समान पर्याय श्रुतज्ञान भी निरावरण नित्य उद्घाटित है। किन्तु पूर्वमत में लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान के ऊपर अनन्तभाग वृद्धि होने पर पर्याय ज्ञान की उत्पत्ति है। वहाँ पर लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान निरावरण नित्य-उद्घाटित कहा गया है, पर्यायज्ञान में एक प्रक्षेप की वृद्धि हो जाने से उसको नित्य-उद्घाटित निरावरण नहीं कहा गया है।

इन दोनों मतों को दृष्टि में रखते हुए सम्भवतः उपर्युक्त गाथाओं की रचना हुई है। इन दोनों मतों में से कौनसा मत ठीक है, यह कहीं नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वर्तमान में श्रुतकेवली का अभाव है। अतः दोनों मतों का संकलन कर दिया गया है।

लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोद जीव में नित्य उद्घाटित तथा आवरणरहित ज्ञान कहा गया है, वह भी सूक्ष्म निगोद में ज्ञानावरण कर्म के सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से आवरणरहित है, किन्तु सर्वथा आवरणरहित नहीं है। यदि उस जघन्यज्ञान का भी आवरण हो जाए तो जीव का ही अभाव हो जाएगा। वास्तव में तो उपरिवर्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवलज्ञान की अपेक्षा वह ज्ञान भी आवरणसहित है; क्योंकि संसारी जीवों के क्षायिकज्ञान का अभाव है, इसलिए

---

१. ध.पु. १३ पृ. २६२-२६४। २. ध.पु. १३ पृ. २६४। ३. धवल पु. १३ पृ. २६४। ४. धवल पु. ६ पृ. २१-२२।

निगोदिया का ज्ञान क्षायोपशमिक ही है। यदि आत्मा के एकप्रदेश में भी केवलज्ञान के अंश रूप निरावरण ज्ञान होवे तो उस एकप्रदेश से भी लोकालोक प्रत्यक्ष हो जावे, किन्तु वह निगोदिया का नित्यउद्घाटित ज्ञान सबसे जघन्यज्ञान होने से सबसे थोड़ा जानता है, यह तात्पर्य है।[1]

षट्स्थानवृद्धि का स्वरूप

अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए।
संखमसंखमणंतं गुणवड्ढी होंति हु कमेण ॥३२३॥
जीवाणं च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेज्जं।
भागगुणम्हि य कमसो अवट्ठिदा होंति छट्ठाणा ॥३२४॥
उव्वंकं चउरंकं पणछस्सत्तंक अट्ठ-अंकं च।
छव्वड्ढीणं सण्णा कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं ॥३२५॥
अंगुलअसंखभागे पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी।
एक्कं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिम उड्ढित्ती ॥३२६॥
आदिमछट्ठाणम्हि य पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु।
छव्वड्ढीओ होंति हु सरिसा सव्वत्थ पदसंखा ॥३२७॥
छट्ठाणाणं आदी अट्ठंकं होदि चरिममुव्वंकं।
जम्हा जहण्णणाणं अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं ॥३२८॥
एक्कं खलु अट्ठंकं सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा।
रूवहियकंडएण य गुणिदकमा जावमुव्वंकं ॥३२९॥
सव्वसमासो णियमा रूवाहियकंडयस्स वग्गस्स।
बिंदस्स य संवग्गो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥३३०॥
उक्कस्ससंखमेत्तं तत्तिचउत्थेकदालछप्पण्णं।
सत्तदसमं च भागं गंतूणय लद्धिअक्खरं दुगुणं ॥३३१॥

गाथार्थ—जघन्य के ऊपर क्रम से अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि होती है ॥३२३॥ समस्त जीवराशि, असंख्यात लोकप्रमाण राशि, उत्कृष्ट संख्यात राशि ये तीन राशि, पूर्वोक्त अनन्तभागवृद्धि आदि छह

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की संस्कृत टीका— "यच्च लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं, न च सर्वथा।...............किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यबिम्बवत् निबिडलोचनपटलवद् वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः।" [बृहद्द्रव्यसंग्रह, श्री गणेश वर्णी दि. जैन ग्रंथमाला, पृ. ९६-९७]।

स्थानों में भागाहार अथवा गुणाकार की क्रम से अवस्थित राशि हैं ।।३२४।। संदृष्टि के लिए क्रम से छह वृद्धियों की ये संज्ञा है उर्वङ्क, चतुरङ्क, पंचाङ्क, षड़ङ्क, सप्ताङ्क, अष्टाङ्क ।।३२५।। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण पूर्व वृद्धि होनेपर एक बार उत्तरवृद्धि होती है । पुनः पुनः यह क्रम चरमवृद्धि पर्यन्त होता है ।।३२६।। आदि षट्स्थान में पाँच वृद्धियाँ होती हैं । शेष सर्व षट्स्थानों में छह वृद्धियाँ होती हैं । पदों की संख्या सर्वत्र सदृश है ।।३२७।। षट्स्थानों में आदिस्थान अष्टाङ्क और अन्तिम स्थान उर्वङ्क होता है । क्योंकि जघन्य ज्ञान भी अष्टाङ्क है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है ।।३२८।। एक षट्स्थान में एक ही अष्टाङ्क और सप्ताङ्क काण्डक प्रमाण होते हैं । उसके नीचे उर्वंक तक एक अधिक काण्डक प्रमाण से क्रम से गुणित करते जाना चाहिए ।।३२९।। सर्व वृद्धियों का जोड़ एक अधिक काण्डक के वर्ग को और घन को परस्पर गुणा करने से प्राप्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है ।।३३०।। उत्कृष्ट संख्यातमात्र असंख्यातभाग वृद्धिस्थानों के हो जाने पर अथवा उत्कृष्ट संख्यात के तीन चौथाई स्थानों के होजाने पर अथवा इकतालीस बटा छप्पन से गुणित उत्कृष्ट संख्यात, इतने स्थानों के हो जाने पर अथवा उत्कृष्ट संख्यात के सात बटा दस स्थानों के हो जाने हर लब्ध्यक्षर ज्ञान दुगुणा हो जाता है ।।३३१।।

विशेषार्थ—अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि; इन छहों वृद्धियों के समुदायात्मक यह एक षड्वृद्धिस्थान होता है ।[1] अनन्तभाग वृद्धिस्थान काण्डक प्रमाण जाकर एक बार असंख्यात भागवृद्धि होती है । फिर भी काण्डकप्रमाण अनन्तभागवृद्धि के स्थान जाकर द्वितीय बार असंख्यात भागवृद्धि होती है । इस क्रम से काण्डक प्रमाण असंख्यात भाग वृद्धियों के हो जाने पर पुनः काण्डक प्रमाण अनन्तभाग जाकर संख्यात भाग वृद्धि होती है । पश्चात् पूर्वोद्दिष्ट समस्त अधस्तन अध्वान जाकर द्वितीय बार संख्यातभाग वृद्धि होती है । पुनः उतना मात्र अध्वान जाकर तृतीय बार संख्यात भाग वृद्धि होती है । इस प्रकार काण्डक प्रमाण संख्यात भाग वृद्धियों के हो जाने पर, संख्यात भाग वृद्धि की उत्पत्ति के योग्य एक अन्य अध्वान जाकर एक बार संख्यातगुण वृद्धि होती है। पश्चात पुनः (पूर्वोद्दिष्ट) समस्त अधस्तन अध्वान जाकर द्वितीय बार संख्यातगुण वृद्धि होती है । इस विधि से काण्डक प्रमाण संख्यातगुणवृद्धियों के हो जाने पर, पुनः संख्यातगुणवृद्धि विषयक एक अन्य अध्वान जाकर असंख्यात गुणवृद्धि होती है । फिर अधस्तन समस्त अध्वान जाकर द्वितीय बार असंख्यात गुणवृद्धि होती है । इस प्रकार काण्डक प्रमाण असंख्यात गुणवृद्धियों के हो जाने पर, पुनः असंख्यात गुणवृद्धिविषयक एक अन्य अध्वान जाकर एक बार अनन्तगुणवृद्धि होती है। यह एक षट्स्थान है। ऐसे असंख्यात लोकमात्र षट्स्थान होते हैं ।[2] काण्डक प्ररूपणा में अनन्तभागवृद्धिकाण्डक, असंख्यातभागवृद्धिकाण्डक, संख्यातभाग-वृद्धिकाण्डक, संख्यातगुणवृद्धिकाण्डक, असंख्यातगुणवृद्धिकाण्डक, अनन्तगुणवृद्धिकाण्डक होते हैं ।।२०२।।[3]

षट्स्थान प्ररूपणा में अनन्तभागवृद्धि किस वृद्धि के द्वारा वृद्धिगत हुई है ? अनन्तभागवृद्धि सब जीवों से वृद्धिगत हुई है । इतनी मात्र वृद्धि है ।।२०४।।[4] यहाँ पर सब जीवराशि की संख्या से प्रयोजन है । सब जीवराशि का जघन्य स्थान में भाग देने पर जो लब्ध हो वह वृद्धि का प्रमाण है । जघन्यस्थान को प्रतिराशि करके उसमें वृद्धिप्राप्त प्रक्षेप को मिलाने से अनन्तभागवृद्धि का प्रथमस्थान

---

१. ध.पु. ६ पृ. २२ । २. ध.पु. १२ पृ. १२०-१२१ । ३. ध.पु. १२ पृ. १२८ । ४. ध.पु. १२ पृ. १३५ ।

उत्पन्न होता है।[1]

असंख्यातभागवृद्धि असंख्यातलोकभागवृद्धि द्वारा होती है। इतनी मात्र वृद्धि होती है ।।२०६।।[2] "असंख्यातलोक" ऐसा कहने पर जिन भगवान के द्वारा (श्रुतकेवली के द्वारा) जिनका स्वरूप जाना गया ऐसे असंख्यात लोकों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इस सम्बन्ध में विशिष्ट उपदेश का अभाव है। अनन्तभागवृद्धिकाण्डक के अन्तिम अनन्तभागवृद्धिस्थान में असंख्यातलोक का भाग देने पर जो लब्ध हो उसको उसी में मिला देने पर असंख्यात भागवृद्धि का प्रथम स्थान उत्पन्न होता है। यह स्थानान्तर अधस्तन स्थानान्तर से अनन्तगुणा होता है। गुणाकार असंख्यातलोक से अपवर्तित एक अधिक सब जीवराशि है।[3] इसका स्पष्टीकरण—

माना कि उस विवक्षित स्थान के अविभागप्रतिच्छेद "क" हैं, जिसके कि बाद वाला स्थान अन्तिम अनन्तभागवृद्धिस्थान है; और ठीक तत्पश्चात् असंख्यातभागवृद्धिस्थान आता है। तो—

विवक्षित स्थान के अविभाग प्रतिच्छेद = 'क'

अत: इसके ऊपर होने वाली अनन्तभागवृद्धि = $\frac{\text{क}}{\text{जीवराशि}}$

अत: "क" अविभाग प्रतिच्छेदों में उक्त अनन्तभागवृद्धि को मिलाने पर—

$$= \text{क} + \frac{\text{क}}{\text{जीवराशि}} = \frac{(\text{जीवराशि} \times \text{क}) + \text{क}}{\text{जीवराशि}}$$

यही अन्तिम अनन्तभागवृद्धि स्थान है।

अब इसके ठीक बाद असंख्यातभाग वृद्धिस्थान है। वह इतना होगा :—

= अन्तिम अनन्तभागवृद्धिस्थान + अन्तिम अनन्तभागवृद्धि स्थान का असंख्यातवाँभाग

$$= \frac{(\text{जीवराशि} \times \text{क}) + \text{क}}{\text{जीवराशि}} + \frac{(\text{जीवराशि} \times \text{क}) + \text{क}}{\text{जीवराशि} \times \text{असंख्यातलोक}}$$

$$= \frac{\text{क}(\text{जीवराशि} + १)}{\text{जीवराशि}} + \frac{\text{क}(\text{जीवराशि} + १)}{\text{जीवराशि} \times \text{असं. लोक}}$$

नोट—इस असंख्यातभागवृद्धिस्थान में मात्र वृद्धि = $\frac{\text{क}(\text{जीवराशि} + १)}{\text{जीवराशि} \times \text{असं.लोक}}$ इतनी है।

अब अधस्तन स्थान में वृद्धि थी = $\frac{\text{क}}{\text{जीवराशि}}$ ...... (A)

१. ध.पु. १२ पृ. १३५। २. ध.पु. १२ पृ. १५१। ३. धवल पु. १२ पृ. १५१।

यहाँ असंख्यात भागवृद्धि है $= \dfrac{\text{क (जीवराशि} + १)}{\text{जीवराशि} \times \text{असं. लोक}}$ .... (B)

अब अधस्तन स्थान की वृद्धि (A) से असंख्यातभागवृद्धि (B); कितनी गुणी है ? इसे ज्ञात करने के लिए असंख्यात भागवृद्धि (B) में अधस्तन स्थान की वृद्धि अर्थात् अनन्तभागवृद्धि (A) का भाग देना पड़ेगा ?

$$\text{भाग देने पर} = \frac{\text{क(जीवराशि} + १)}{\text{जीवराशि} \times \text{असं. लोक}} \div \frac{\text{क}}{\text{जीवराशि}}$$

$$= \frac{\text{क(जीवराशि} + १)}{\text{जीवराशि} \times \text{असं.लोक}} \times \frac{\text{जीवराशि}}{\text{क}}$$

ऊपर के क और जीवराशि को नीचे के क और जीवराशि से अपवर्तित करने पर यानी काटने पर, यानी सदृश धन का अपनयन करने पर :—

$$= \frac{(\text{जीवराशि} + १)}{\text{असंख्यात लोक}}$$

= असंख्यात लोक से भक्त एक अधिक जीवराशि ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि गुणकार असंख्यात लोक से अपवर्तित एक अधिक सब जीवराशि प्रमाण है ।

संख्यातभागवृद्धि एक कम जघन्य असंख्यातभागवृद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है ॥२०८॥[1] 'एक कम जघन्य असंख्यात' से उत्कृष्ट संख्यात का ग्रहण होता है । इस उत्कृष्ट संख्यात का एक अधिक काण्डक से गुणित काण्डक प्रमाण वृद्धियों में से अन्तिम अनन्तभाग वृद्धि स्थान में भाग देने पर जो लब्ध हो उसको उसी स्थान में प्रतिराशि करके मिलाने पर संख्यातभागवृद्धि का प्रथम स्थान होता है । इसमें से एक अविभागप्रतिच्छेद कम होने पर स्थानान्तर होता है । यह अधस्तन अनन्तभागवृद्धि स्थानान्तरों से अनन्तगुणा है । असंख्यातभागवृद्धि स्थानान्तरों से असंख्यातगुणा है । उपरिम अनन्तगुणवृद्धि के अधस्तन अनन्तभागवृद्धि स्थानान्तरों से अनन्तगुणा है । असंख्यातगुणवृद्धि के अधस्तन असंख्यात भागवृद्धि स्थानान्तरों से असंख्यातगुणा है । अनन्तगुणवृद्धि के अधस्तनवर्ती संख्यात भागवृद्धि स्थानान्तरों से संख्यातवें भाग से हीन, संख्यातगुणा हीन अथवा असंख्यातगुणाहीन है ।[2]

संख्यात गुणवृद्धि एक कम जघन्य असंख्यात गुणवृद्धि से वृद्धिगत होती है ।[3] काण्डक प्रमाण संख्यातभाग वृद्धियाँ जाकर फिर आगे संख्यात भाग वृद्धि के विषय में स्थित अनन्तभागवृद्धि स्थान को उत्कृष्ट संख्यात से गुणित करने पर संख्यातगुणवृद्धि होती है । अधस्तन स्थान में इस

१. ध.पु. १२ पृ. १५४ । २. ध.पु. १२ पृ. १५४ व १५५ । ३. ध.पु. १२ पृ. १५५ ।

वृद्धि को मिलाने पर संख्यातगुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है। यह स्थान अधस्तन उर्वङ्क स्थानान्तरों की वृद्धि से अनन्तगुण वृद्धि वाला होता है, चतुरंक स्थानान्तरों की वृद्धि से असंख्यातगुण वृद्धि वाला, पंचांक स्थानान्तरों की वृद्धि से असंख्यातगुणवृद्धि वाला होता है।[1] उपरिम अष्टाङ्क के अधस्तन उर्वंक स्थानान्तरों से अनन्तगुणा, प्रथम षट् स्थान में उपरिम प्रथम सप्तांक से अधस्तन चतुरंक स्थानान्तरों से असंख्यात गुणा तथा द्वितीय असंख्यातगुण वृद्धि से अधस्तन संख्यातभाग वृद्धि स्थानान्तरों से संख्यातगुणा, संख्यातभाग हीन, संख्यातगुणा हीन अथवा असंख्यातगुणा हीन है।[2]

असंख्यात गुणवृद्धि असंख्यात लोक गुणाकार से वृद्धिगत है ॥२१२॥[3] काण्डकप्रमाण छह अंकों के हो जाने पर यथाविधि वृद्धि को प्राप्त उपरिम षडंक के विषय (=स्थान) में स्थित अन्तिम उर्वंक को असंख्यात लोकों से गुणित करने पर असंख्यातगुणवृद्धि उत्पन्न होती है। उर्वंक को प्रतिराशि करके उसमें उसे (अर्थात् वृद्धि को) मिलाने पर असंख्यातगुण वृद्धिस्थान होता है। असंख्यात गुणवृद्धि में से एक अविभाग प्रतिच्छेद कम कर देने पर "स्थानान्तर" होता है। यह अधस्तन अनन्तभागवृद्धि स्थानान्तरों से अनन्तगुणा, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि और संख्यातगुण वृद्धि स्थानान्तरों से असंख्यातगुणा, उपरिम गुणवृद्धि स्थान के नीचे स्थित अनन्त भागवृद्धि स्थानान्तरों से अनन्त गुणा, असंख्यात भाग वृद्धि स्थानान्तरों से असंख्यात गुणा, संख्यातभागवृद्धि स्थानान्तरों से संख्यात गुणा, संख्यातभाग हीन, संख्यातगुण हीन अथवा असंख्यातगुण हीन तथा संख्यात गुणवृद्धि व असंख्यात गुणवृद्धि स्थानान्तरों से असंख्यातगुणाहीन है। आगे जानकर लेजाना चाहिए।[4]

अनन्तगुणवृद्धि सब जीवों के गुणाकार से वृद्धिगत है ॥२१४॥[5] अधस्तन उर्वंक को सब जीवराशि से गुणा करने पर अनन्त गुणवृद्धि होती है। उसी को प्रतिराशि करके अनन्तगुणवृद्धि के मिलाने पर अनन्तगुणवृद्धि स्थान होता है। यहाँ पर भी स्थानान्तरों से तुलना करनी चाहिए। इस प्रकार असंख्यात लोक मात्र षट्स्थानों में स्थित वृद्धियों की प्ररूपणा करनी चाहिए।[6]

यहाँ अनन्तभाग वृद्धि की उर्वंक संज्ञा है, असंख्यातभाग वृद्धि की चतुरंक, संख्यातभागवृद्धि की पंचांक, संख्यातगुणवृद्धि की षडंक, असंख्यात गुणवृद्धि की सप्तांक और अनन्तगुणवृद्धि की अष्टांक संज्ञा जाननी चाहिए।[7] उ और ३ का अंक (३) सदृश है इसलिए अनन्तभागवृद्धि की संज्ञा त्र्यंक न रख कर उर्वंक रखदी गई, प्रयोजन तीन के अंक से ही है। क्योंकि तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ ये छह स्थान हो जाते हैं। शेष स्थानों की चतुरंक आदि संज्ञा यथाक्रम संख्या दी गई है।

शङ्का—अष्टांक किसे कहते हैं ?

समाधान—अधस्तन उर्वंक को सब जीवराशि से गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतने मात्र से जो अधस्तन उर्वंक से अधिक स्थान है, वह अष्टांक है।

शङ्का—जघन्य स्थान अष्टांक है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—'जघन्य स्थान से अनन्तभागवृद्धिस्थानों का कांडक जाकर असंख्यातभाग वृद्धि का

---

१. धवल पु. १२ पृ. १५५-१५६। २. धवल पु. १२ पृ. १५६। ३. ध.पु. १२ पृ. १५६। ४. धवल पु. १२ पृ. १५६-१५७। ५. धवल पु. १२ पृ. १५७-१५८। ६. धवल पु. १२ पृ. १७०। ७. धवल पु. १२ पृ. १३१।

स्थान होता है।' यह जो प्ररूपणा की गई है उससे जाना जाता है कि जघन्य स्थान उर्वंक नहीं है क्योंकि उर्वंक होने पर समस्त काण्डक प्रमाण गमन घटित नहीं होता। वह चतुरंक भी सम्भव नहीं है, क्योंकि काण्डक प्रमाण असंख्यातभागवृद्धियाँ जाकर प्रथम संख्यात वृद्धि होती है। ऐसा वहीं कहा गया है। वह पंचांक भी नहीं हो सकता, क्योंकि संख्यातभागवृद्धि काण्डक जाकर संख्यातगुण-वृद्धि होती है, ऐसा कहा गया है। वह षष्ठांक भी सम्भव नहीं है, क्योंकि काण्डक मात्र संख्यात गुणवृद्धि जाकर असंख्यात गुणवृद्धि होती है, ऐसा वचन है। वह सप्तांक भी नहीं हो सकता, क्योंकि काण्डक प्रमाण असंख्यात गुणवृद्धि जाकर अनन्त गुणवृद्धि होती है ऐसा सूत्र वचन है। अतएव परिशेष स्वरूप से वह जघन्य स्थान अष्टांक ही है।[1]

क्योंकि जघन्य स्थान अष्टांक है अतः प्रथम षट्स्थान में अनन्तगुणवृद्धि सम्भव नहीं है। शेष षट्स्थानों में प्रथम स्थान अनन्त गुणवृद्धि का होता है अतः शेष षट् स्थानों में छहों वृद्धियाँ सम्भव हैं किन्तु प्रथम षट् स्थान में पाँच वृद्धियाँ होती हैं।

शङ्का—काण्डक का प्रमाण कितना है ?

समाधान—काण्डक का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है। उसका (अंगुल का) भागहार क्या है, विशिष्ट उपदेश का अभाव होने से उसका परिज्ञान नहीं है।[2]

अनन्तभागवृद्धिकाण्डक प्रमाण जाकर असंख्यात भाग वृद्धि का स्थान होता है ।।२१५।।[3] अनन्तभागवृद्धियों के काण्डक का वर्ग और एक काण्डक जाकर संख्यात भागवृद्धि का स्थान होता है ।।२२०।।[4] एक असंख्यात भाग वृद्धि के नीचे यदि काण्डक प्रमाण अनन्त भाग वृद्धियाँ होती हैं तो एक अधिक काण्डक प्रमाण असंख्यात भाग वृद्धियों के नीचे वे (अनन्तभाग वृद्धियाँ) कितनी होंगी, इस प्रकार प्रमाण से फलगुणित इच्छा को अपवर्तित करने पर [(काण्डक) × (काण्डक + १)] काण्डक सहित काण्डक के वर्ग प्रमाण अनन्तभाग वृद्धियाँ होती हैं। अंक संदृष्टि में काण्डक = ४; ४ × (४ + १) = [(४ × ४) + ४]। इतनी अनन्तभाग वृद्धियाँ बिना संख्यात भागवृद्धि उत्पन्न नहीं हो सकतीं।

शङ्का—संख्यात भाग वृद्धि के नीचे काण्डकप्रमाण ही असंख्यात भाग वृद्धियाँ होती हैं। अब त्रैराशिक करने पर एक अधिक काण्डक से अनन्तभाग वृद्धिस्थानों का उत्पन्न कराना कैसे योग्य है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संख्यातभाग वृद्धि के नीचे असंख्यात भागवृद्धियाँ काण्डक प्रमाण ही होती हैं, किन्तु अन्य एक असंख्यातभाग वृद्धि के विषय (=स्थान) को प्राप्त होकर असंख्यात भाग वृद्धि के योग्य अध्वान में असंख्यात भाग वृद्धि न होकर संख्यात भाग वृद्धि उत्पन्न होती है।[5] इसलिए उक्त कथन दोष को प्राप्त नहीं होता।

असंख्यात भाग वृद्धियों का काण्डक वर्ग व एक काण्डक जाकर (१६ + ४) संख्यात गुणवृद्धि का स्थान होता है ।।२२१।।[6] एक संख्यातभाग वृद्धि के नीचे यदि काण्डकप्रमाण असंख्यात भाग

---

१. धवल पु. १२ पृ. १३०-१३१। २. धवल पु. १२ पृ. १६३। ३. धवल पु. १२ पृ. १६३। ४. धवल पु. १२ पृ. १६६। ५. धवल पु. १२ पृ. १६६-१६७। ६. धवल पु. १२ पृ. १६७।

वृद्धियाँ पायी जाती हैं तो एक अधिक काण्डक प्रमाण संख्यातभाग वृद्धियों के नीचे वे कितनी पायी जावेंगी। इस प्रकार प्रमाण से फलगुणित इच्छा को अपरिवर्तित करने पर काण्डकसहित काण्डक-वर्गप्रमाण असंख्यात भाग वृद्धियाँ होती हैं।[1]

संख्यात भाग वृद्धियों का काण्डक वर्ग और एक काण्डक जाकर (१६+४) असंख्यात गुण-वृद्धि का स्थान होता है ॥२२२॥ एक संख्यात गुण वृद्धि के नीचे संख्यात भाग वृद्धियाँ होती हैं तो एक अधिक काण्डक प्रमाण संख्यात गुणवृद्धियों के नीचे वे कितनी होंगी; इस प्रकार प्रमाण से फलगुणित इच्छा को अपवर्तित करने पर काण्डक सहित काण्डकवर्गप्रमाण संख्यात भाग वृद्धियाँ होती हैं।[2]

संख्यातगुण वृद्धियों का काण्डक-वर्ग और एक काण्डक जाकर (१६+४) अनन्तगुणवृद्धि का स्थान होता है ॥२२३॥ एक असंख्यातगुण वृद्धि के नीचे यदि काण्डक प्रमाण संख्यातगुण-वृद्धियाँ होती हैं तो एक अधिक काण्डक प्रमाण असंख्यात गुणवृद्धियों के नीचे वे कितनी होंगी, इस प्रकार प्रमाण से फलगुणित इच्छा को अपवर्तित करने पर अष्टांक के नीचे काण्डक सहित काण्डक वर्ग प्रमाण संख्यातगुणवृद्धि स्थान होते हैं।[3]

इस प्रकार एक षट्-स्थान-पतित के भीतर अनन्त भाग वृद्धियाँ पाँच काण्डकों की अन्योन्या-भ्यस्त राशि (४×४×४×४×४ अर्थात् ४³×४²=१०२४) व चार काण्डक वर्ग के वर्ग, तथा छह काण्डकघन, व चार काण्डकवर्ग और एक काण्डक प्रमाण हैं। अंक संदृष्टि १०२४ + (२५६+२५६+२५६+२५६) + (६४+६४+६४+६४+६४+६४) + (१६+१६+१६+१६)+४ इतनी बार अनन्तभाग वृद्धि होती है। असंख्यातभागवृद्धियाँ एक काण्डकवर्ग संवर्ग व तीन काण्डकघन तथा तीन काण्डक वर्ग और एक काण्डक प्रमाण होती है २५६ + (६४+६४+६४) + (१६+१६+१६) +४। संख्यात भाग वृद्धियाँ काण्डक घन व दो काण्डक वर्ग और एक काण्डक प्रमाण होती हैं। ६४+(१६+१६) + ४। संख्यात गुण-वृद्धियाँ काण्डकवर्ग व काण्डकप्रमाण है—१६+४। असंख्यात गुणवृद्धियाँ काण्डक प्रमाण-४। अष्टांक एक है जो जघन्य स्थान है।[4] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र भी है—"अनन्तगुणवृद्धि के नीचे अनन्तभाग वृद्धियाँ-पाँच बार गुणित काण्डक, चार काण्डकवर्गावर्ग, छह काण्डकघन, चार काण्डकवर्ग और काण्डक प्रमाण होती है। (४×४×४×४×४=१०२४) + (४ काण्डकवर्गावर्ग = ४×२५६) + (४³×६) + (४²×४) + ४ अथवा १०२४+२५६+२५६+२५६+२५६ ६४+६४+६४+६४। ६४+६४+१६+१६+१६+१६+४ ॥२२६॥[5]

अनन्तगुणवृद्धि के नीचे असंख्यातभाग वृद्धियाँ एक काण्डकवर्गावर्ग, तीन काण्डकघन, तीन काण्डकवर्ग और एक काण्डक होती है ॥२२८॥ [(४×४⁴) + (४³×३) + (४²×३)+ ४] अथवा [२५६+६४+६४+६४+१६+१६+१६+४][6]

अनन्तभाग वृद्धिस्थान के नीचे संख्यात भाग वृद्धियों का प्रमाण एक काण्डक घन, दो काण्डक वर्ग और एक काण्डक होता है [४³+(४²×२)+४] ॥२२६॥ अथवा [६४+१६+१६+ ४][7]

---

१. धवल पु. १२ पृ. १६७। २. धवल पु. १२ पृ. १६७-१६८। ३. धवल पु. १२ पृ. १६८। ४. धवल पु. १२ पृ. १३२-१३३। ५. धवल पु. १२ पृ. २०१। ६. धवल पु. १२ पृ. २०१। ७. ध.पु. १२ पृ. १६६।

संख्यातगुणवृद्धियों का काण्डकवर्ग और काण्डक (१६+४) जाकर अनन्तगुणवृद्धि का स्थान होता है ।।२२३।।[१] यहाँ सर्वत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण काण्डक की अङ्कसंदृष्टि चार (४) का अङ्क है ।

असंख्यात गुणवृद्धि काण्डक प्रमाण जाकर अनन्त गुणवृद्धि का स्थान उत्पन्न होता है ।।११६।।[२]

शङ्का—संख्यात भागवृद्धि क्रम से बढ़ते हुए जघन्य स्थान कितना अध्वान जाकर दुगुणा हो जाता है ?

समाधान—अज्ञानी जनों को बुद्धि उत्पन्न कराने के लिए तीन प्रकार से दुगुणवृद्धि की प्ररूपणा की गई है । वह स्थूल, सूक्ष्म और मध्यम के भेद से तीन प्रकार है । स्थूल प्ररूपणा इस प्रकार है—जघन्य स्थान के आगे उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण संख्यात भाग वृद्धि स्थानों के बीतने पर दुगुण वृद्धि होती है, क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण संख्यात प्रक्षेपों से एक जघन्य स्थान के उत्पन्न होने से वृद्धिजनित जघन्य स्थान के साथ ओघ जघन्य स्थान उससे दुगुणा हो जाता है ।

शङ्का—यह प्ररूपणा स्थूल कैसे है ?

समाधान—क्योंकि इसमें पिशुल आदिकों को छोड़कर प्रक्षेपों से ही उत्पन्न जघन्य स्थान से दुगुणत्व की प्ररूपणा की गई है ।

मध्यम प्ररूपणा इस प्रकार है—अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र संख्यात भाग वृद्धिस्थानों में उत्कृष्ट संख्यात मात्र संख्यात भाग वृद्धिस्थानों के प्रथम स्थान से लेकर रचना करनी चाहिए । उनमें उत्कृष्ट संख्यात का तीन चतुर्थ भाग मात्र ($\frac{3}{4}$) अध्वान आगे जाकर दुगुण वृद्धि होती हैं । उत्कृष्ट संख्या के लिए संदृष्टि में सोलह (१६) अङ्क ग्रहण किये जाते हैं । उत्कृष्ट संख्यात का जघन्य स्थान में भाग देने पर संख्यातभागवृद्धि होती है । उसको जघन्य स्थान में मिलाने पर प्रथम संख्यातभाग-वृद्धि स्थान होता है । दो प्रक्षेपों और एक पिशुल को जघन्य स्थ मिलाने पर द्वितीय संख्यातभाग वृद्धि स्थान उत्पन्न होता है । तीन प्रक्षेपों, तीन पिशुलों और एक पिशुलापिशुल को जघन्यस्थान में मिलाने पर तृतीय संख्यातभाग वृद्धिस्थान होता है । चार प्रक्षेपों, छह पिशुलों, चार पिशुलापिशुलों और एक पिशुलापिशुलपिशुल को जघन्य स्थान में मिलाने पर चतुर्थ संख्यात भाग वृद्धि स्थान होता है । इस प्रकार से आगे भी जानकर लेजाना चाहिए । विशेष इतना है कि प्रक्षेप एकसे लेकर एक अधिक क्रमसे बढ़ते हैं । पिशुल एक कम बीते हुए अध्वान के संकलन स्वरूप से बढ़ते हैं । पिशुलापिशुल दो कम गये हुए अध्वान के द्वितीय बार संकलन के स्वरूप से बढ़ते हैं । पिशुलापिशुलपिशुल तीन कम गये हुए अध्वान के तृतीय बार संकलन स्वरूप से जाते हैं । इस प्रकार से आगे भी कहना चाहिए ।[३] उनकी यह संदृष्टि है—

---

१. धवल पु. १२ पृ. १६८ । २. धवल पु. १२ पृ. १६५ । ३. धवल पु. १२ पृ. १७४-१७५ ।

संदृष्टि में यहाँ प्रक्षेप बारह (१२), पिशुल छासठ (६६) और पिशुलापिशुल दो सौ बीस (२२०) मात्र हैं। इसप्रकार स्थापित करके दुगुणी वृद्धि की प्ररूपणा करते हैं।

```
o
o
o
o o o o o o o o o o o o o
o o o o o o o o o o o o
o o o o o o o o o o o
o o o o o o o o o o
o o o o o o o o o
o o o o o o o o
o o o o o o o
o o o o o o
o o o o o
o o o o
o o o
```

शङ्का—उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग ($१६ \times \frac{३}{४} = १२$) मात्र प्रक्षेप हैं। इनको पृथक् स्थापित करके फिर यहाँ उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थ भाग मात्र सकल प्रक्षेप यदि होते हैं तो दुगुनी वृद्धि का स्थान होता है परन्तु इतना है नहीं। अतएव यहाँ दुगुणी वृद्धि नहीं उत्पन्न होती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि पिशुलों की अपेक्षा उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थ भाग मात्र प्रक्षेप पाये जाते हैं। यथा—उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थभाग मात्र आगे जाकर स्थित संख्यातभागवृद्धिस्थान में उत्कृष्ट संख्यात के एक कम तीन चतुर्थ भाग के संकलन प्रमाण पिशुल हैं। एक को आदि लेकर एक अधिक क्रम से स्थित उनका समीकरण करने में प्रथम स्थान के एक पिशुल को ग्रहण कर अन्तिम पिशुलों में मिलाने पर उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग मात्र पिशुल होते हैं। द्वितीय स्थान में स्थित दो पिशुलों को ग्रहण कर दो कम द्विचरम पिशुलों में मिलाने पर यहाँ भी उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग मात्र पिशुल होते हैं। तृतीय स्थान में स्थित तीन पिशुलों को ग्रहण कर तीन त्रिचरम पिशुलों में मिलाने पर उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग मात्र पिशुल होते हैं। इस प्रकार सबका समीकरण करने पर उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग आयत और एक कम तीन चतुर्थ भाग के अर्धभाग प्रमाण विस्तृत क्षेत्र होकर स्थित होता है। वह यह है।

```
     o o o o o o o o o o o o o
 ११० o o o o o o o o o o o o o
  २० o o o o o o o o o o o o o
     o o o o o o o o o o o o o
→    o o o o o o o o o o o o o
     o o o o o o
            ३
            ४
```

फिर इसमें से उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थ भाग विष्कम्भ और उसके तीन चतुर्थभाग आयाम के प्रमाण से छीलकर पृथक् स्थापित करना चाहिए।

```
     o o o o o o o o o o o o o
     o o o o o o o o o o o o o
  १० o o o o o o o o o o o o o
→ ४० o o o o o o o o o o o o o
            ३
            ४
```

शेष क्षेत्र उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग आयत और उत्कृष्ट संख्यात के ही अर्धअंक से कम आठवें भाग विस्तृत क्षेत्र होकर स्थित होता है।

```
  १२ o o o o o o o o o o o o o
   ८ o o o o o o o o o o o o o
            ३
→           ४
```

फिर इसके तीन खण्ड करके उनमें तृतीय खण्ड में से उत्कृष्ट संख्यात के आठवें भाग मात्र पिशुलों को ग्रहण कर द्वितीय खण्ड की हीन पंक्ति में मिलाने पर प्रथम और द्वितीय खण्ड उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थभाग आयाम और उसके आठवें भाग विष्कम्भ से स्थित होते हैं। फिर उनमें से

द्वितीय खण्ड को ग्रहण कर प्रथम खण्ड के ऊपर स्थापित करने पर उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थ भाग विष्कम्भ और आयामयुक्त समचतुस्र क्षेत्र होता है। इसको उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थ भाग विष्कम्भ → और उसके तीन चतुर्थ भाग आयाम वाले पूर्व के क्षेत्र में मिला देने पर उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण आयाम और उसके चतुर्थ भाग मात्र विष्कम्भ युक्त क्षेत्र होकर स्थित रहता है। उसका प्रमाण यह है—

यहाँ चूंकि उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण पिशुलों को ग्रहण कर एक संख्यातभागवृद्धिप्रक्षेप होता है, अतएव समस्त प्रक्षेप उत्कृष्ट संख्यात के चतुर्थ भाग प्रमाण होते हैं। इन (४) प्रक्षेपों को पहले उत्कृष्ट संख्यात के तीन चतुर्थ भाग प्रमाण (१२) प्रक्षेपों में मिलाने पर उत्कृष्ट संख्यात (१६) प्रमाण संख्यातभागवृद्धिप्रक्षेप होते हैं। ये सब मिलकर एक जघन्य स्थान होता है। इसे एक जघन्य स्थान में मिलाने पर दुगुनी वृद्धि होती है। शेष पिशुल और पिशुला-पिशुल उसी प्रकार से स्थित रहते हैं। यह भी स्थूल अर्थ है।

अब इसकी अपेक्षा सूक्ष्म अर्थ की प्ररूपणा करते हैं—उत्कृष्ट संख्यात के छप्पन खण्ड करके उनमें से इकतालीस खण्ड प्रथम संख्यातभागवृद्धिस्थान से आगे जाकर अथवा उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण संख्यातभागवृद्धिस्थानों के अन्तिम स्थान से पन्द्रह खण्ड नीचे उतर कर वहाँ के स्थान में दुगुणी वृद्धि का स्थान उत्पन्न होता है। यथा—इकतालीस मात्र खण्ड ऊपर चढ़ कर स्थित वहाँ के स्थान में (४१) खण्ड प्रमाण ही सकल प्रक्षेप पाये जाते हैं।

अब यहाँ पन्द्रह खण्ड प्रमाण सकल प्रक्षेपों के होने पर एक जघन्य स्थान उत्पन्न होता है। उनकी उत्पत्ति का विधान बतलाते हैं—वहाँ के स्थान सम्बन्धी पिशुलों का प्रमाण इकतालीस खण्डों के संकलन मात्र है (४१)।

शङ्का—वह एक अंक से कम है, ऐसा क्यों नहीं कहते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि स्तोक स्वरूप होने से यहाँ उसकी प्रधानता नहीं है।

फिर उनका समीकरण करने पर इकतालीस खण्ड प्रमाण आयाम और इकतालीस के द्वितीय भाग प्रमाण विष्कम्भ से युक्त होकर क्षेत्र स्थित होता है—२०½ ४१। इस प्रकार से स्थित क्षेत्र के भीतर पन्द्रह खण्ड विस्तृत और इकतालीस खण्ड आयत क्षेत्र को ग्रहण करने के लिए—पहले आयाम के प्रमाण से पन्द्रह खण्ड मात्र पिशुलों के बराबर विष्कम्भ को छोड़ कर एक खण्ड के द्वितीय भाग से अधिक पाँच खण्ड प्रमाण विस्तृत और इकतालीस खण्ड प्रमाण आयत क्षेत्र को खण्डित करके अलग करके पृथक् स्थापित करना चाहिए ५½ ४१। फिर इसमें से एक खण्ड के अर्ध भाग मात्र विष्कम्भ और इकतालीस खण्ड मात्र आयाम से क्षेत्र को ग्रहण कर पृथक् स्थापित करना चाहिए ½ ४१। फिर इसमें से एक खण्ड के अर्धभाग मात्र विष्कम्भ और एक खण्ड मात्र आयाम से काट कर पृथक् स्थापित करना चाहिए ½ १। इस ग्रहण किये गये क्षेत्र से शेष क्षेत्र इतना होता है। ½ ४०। इस क्षेत्र के

आयाम की ओर से आठ खण्ड करके विष्कम्भ के ऊपर जोड़ देने पर चार खण्ड विष्कम्भ और पाँच खण्ड आयाम युक्त क्षेत्र होता है ४ $\frac{५}{\sqcup}$ । इसको पाँच खण्ड विष्कम्भ और इकतालीस खण्ड आयाम युक्त क्षेत्र के सिर के ऊपर स्थापित करने पर पाँच खण्ड विष्कम्भ और पैंतालीस खण्ड आयाम युक्त क्षेत्र होता है ५ $\frac{४५}{\sqcup}$ । इसके तीन खण्ड करके एक खण्ड के विष्कम्भ के ऊपर शेष दो खण्डों के विष्कम्भ को जोड़ देने पर विष्कम्भ और आयाम से पन्द्रह खण्ड मात्र समचतुष्कोण क्षेत्र होता है १५ $\frac{१५}{\sqcup}$ । इसको ग्रहण कर पन्द्रह खण्ड विष्कम्भ और इकतालीस खण्ड आयाम युक्त क्षेत्र के सिर पर स्थापित करने पर पन्द्रह खण्ड विष्कम्भ और छप्पन खण्ड आयाम युक्त क्षेत्र होता है १५ $\frac{५६}{\sqcup}$ । आयाम के छप्पन खण्डों में उत्कृष्ट संख्यात मात्र पिशुल होते हैं। उत्कृष्ट संख्यात मात्र पिशुलों से भी एक सकल प्रक्षेप होता है क्योंकि एक सकल प्रक्षेप को उत्कृष्ट संख्यात से खण्डित करने पर एक पिशुल पाया जाता है। इसलिए इसमें पन्द्रह खण्ड मात्र सकल प्रक्षेप पाये जाते हैं। इन सकल प्रक्षेपों को इकतालीस खण्ड मात्र सकल प्रक्षेपों में मिलाने पर छप्पन खण्ड मात्र सकल प्रक्षेप होते हैं। वे सब मिलकर एक जघन्यस्थान होता है, क्योंकि छप्पन खण्ड मात्र सकल प्रक्षेपों द्वारा उत्कृष्ट संख्यात मात्र सकल प्रक्षेप उत्पन्न होते हैं।

शङ्का—उत्कृष्ट संख्यात मात्र प्रक्षेपों से जघन्य स्थान होता है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—उसका कारण यह है कि जघन्य स्थान में उत्कृष्ट संख्यात का भाग देने पर उसमें से जो एक भाग प्राप्त होता है, उसको सकल प्रक्षेप स्वीकार किया गया है।

इस जघन्य स्थान को मूल के जघन्य स्थान में मिलाने पर दुगुणी वृद्धि होती है। फिर एक खण्ड के अर्धभाग विष्कम्भ और एक खण्ड आयाम रूप पूर्व में अपनीत करके स्थापित क्षेत्र के विष्कम्भ की ओर से छप्पन खण्ड करके एक खण्ड के ऊपर शेष खण्डों के स्थापित करने पर एक खण्ड को एक सौ बारह से खण्डित करने पर उसमें से एक खण्ड मात्र सकल प्रक्षेप होते हैं। ये सकल प्रक्षेप और शेष पिशुलापिशुल अधिक होते हैं। यह प्ररूपणा भी स्थूल ही है।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का कथन करने की प्रतिज्ञा

एवं असंखलोगा अरणक्खरप्पे हवंति छाट्ठाणा।
ते पज्जायसमासा अक्खरगं उवरि वोच्छामि ।।३३२।।

गाथार्थ—इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान पर्यायसमास है। इनका कथन करके अब अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का कथन करता हूँ ।।३३२।।

विशेषार्थ—अक्षर के तीन भेद हैं—लब्ध्यक्षर, निर्वृ त्यक्षर, संस्थान अक्षर। सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर श्रुतकेवली तक जीवों के जितने क्षयोपशम होते हैं उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जीवों के मुख से निकले हुए शब्द की निर्वृ त्यक्षर संज्ञा है। उस निर्वृ त्यक्षर के व्यक्त और अव्यक्त ये दो भेद हैं। उनमें से व्यक्त निर्वृ त्यक्षर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के होता है। अव्यक्त निर्वृ त्यक्षर द्वीन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तक जीवों के होता है। संस्थानाक्षर

का दूसरा नाम स्थापना अक्षर है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेद रूप से बुद्धि में जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापना अक्षर है।[1]

अक्षर श्रुतज्ञान

चरिमुव्वंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंकं ।
अत्थक्खरं तु णाणं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥३३३॥

गाथार्थ—अन्तिम उर्वंक से अर्थाक्षर को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उससे अन्तिम उर्वंक को गुणित करने पर अर्थाक्षर ज्ञान होता है, ऐसा जिन (श्रुतकेवली) द्वारा कहा गया है ॥३३३॥

विशेषार्थ—असंख्यात लोकप्रमाण षड् वृद्धियाँ ऊपर जाकर पर्यायसमास श्रुतज्ञान का उर्वंक रूप अन्तिम विकल्प होता है। उस अन्तिम विकल्प को अर्थात् उर्वंक को अनन्त रूपों से गुणित करने पर अक्षर नामक श्रुतज्ञान होता है।

शङ्का—उक्त प्रकार के इस श्रुतज्ञान की 'अक्षर' ऐसी संज्ञा क्यों हुई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि द्रव्य श्रुत प्रतिबद्ध एक अक्षर से उत्पन्न श्रुतज्ञान की उपचार से 'अक्षर' ऐसी संज्ञा हुई।[2]

अन्तिम पर्यायसमासज्ञान स्थान में सब जीवराशि का भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसको उसी (अन्तिम पर्यायसमास ज्ञान) में मिलाने पर अक्षरश्रुतज्ञान उत्पन्न होता है।[3]

इस प्रकार अक्षरज्ञान के सम्बन्ध में धवल ग्रन्थ में दो मत पाये जाते हैं। एक मत के अनुसार अन्तिम पर्यायसमासज्ञान में अनन्तगुण वृद्धि होने पर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है। दूसरे मतानुसार अन्तिम पर्याय समास ज्ञान में अनन्तभाग वृद्धि होने पर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है। श्रुतकेवली के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों में से कौनसा ठीक है। इसलिए दोनों मतों का संकलन करदिया गया है।

इन दोनों मतों को दृष्टि में रखते हुए गा. ३३३ में अनन्तगुण वृद्धि व अनन्तभाग वृद्धि न कहकर यह कहा गया है कि अन्तिम पर्यायसमासज्ञान से अक्षरज्ञान को भाजित करके जो लब्ध प्राप्त हो उससे अन्तिम पर्यायसमास को गुणित करने पर अक्षरज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस कथन का उपर्युक्त दोनों मतों में से किसी भी मत से विरोध नहीं होता।

श्रुतनिबद्ध विषय का प्रमाण

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥३३४॥[4]

---

१. धवल पु. १३ पृ. २६४-२६५। २. धवल पु. ६ पृ. २२। ३. धवल पु. १३ पृ. २६४। ४. यह गाथा जयधवल पु. १ पृ. ४२, धवल पु. ६ पृ. ५७ व पु. १२ पृ. १७१ पर भी है।

गाथार्थ—अनभिलाप्य पदार्थों (जो पदार्थ शब्दों द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं) के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय (प्रतिपादन करने योग्य) पदार्थ है। प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवेंभाग प्रमाण श्रुत-निबद्ध पदार्थ हैं ।।३३४।।

विशेषार्थ—इस गाथा में बतलाया गया है कि अनन्तबहुभाग पदार्थ अनभिलाप्य हैं, जिनका ज्ञान बिना उपदेश के होता है। श्रुतज्ञान उपदेशपूर्वक ही होता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

शङ्का—श्रुतज्ञान व केवलज्ञान दोनों सदृश हैं[1] ऐसा कहा जाता है, वह ठीक नहीं है क्योंकि इस गाथा में कहा गया है कि श्रुतज्ञान का विषय समस्त पदार्थ नहीं है, किन्तु प्रज्ञापनीय पदार्थों का अनन्तवाँ भाग है।

समाधान—समस्त पदार्थों का अनन्तवाँ भाग द्रव्य श्रुतज्ञान का विषय भले ही हो, किन्तु भावश्रुतज्ञान का विषय समस्त पदार्थ हैं। क्योंकि ऐसा मानने के बिना तीर्थंकरों के वचनातिशय के अभाव का प्रसंग होगा।[2]

शङ्का—पूर्णश्रुत कैसे उत्पन्न हो सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अनुक्तावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के द्वारा वह उत्पन्न हो सकता है।[3]

इस गाथा में द्रव्यश्रुत का प्रमाण बतलाया गया है। भावश्रुत की अपेक्षा इस गाथा की रचना नहीं हुई है। भावश्रुत की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान सदृश हैं।

अक्षरसमासज्ञान तथा पदज्ञान का स्वरूप

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं ।।३३५।।

गाथार्थ—एक अक्षरज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाय तब पद नामक श्रुतज्ञान होता है ।।३३५।।

विशेषार्थ—अक्षर श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की ही वृद्धि होती है, अन्य वृद्धियाँ नहीं होती हैं, इस प्रकार आचार्य परम्परागत उपदेश पाया जाता है। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि अक्षर श्रुतज्ञान भी छह प्रकार की वृद्धि से बढ़ता है, किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि समस्त श्रुतज्ञान के संख्यातवें भागरूप अक्षरज्ञान से ऊपर छह प्रकार की वृद्धियों का होना सम्भव नहीं है।[4]

अक्षरश्रुतज्ञान से ऊपर और पदश्रुतज्ञान से अधस्तन श्रुतज्ञान के संख्यात विकल्पों की 'अक्षर

---

१. "सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति" [गो. जी. गा. ३६९]। २. धवल पु. ९ पृ. ५७। ३. धवल पु. १२ पृ. १७१। ४. धवल पु. ६ पृ. २२-२३।

समास' यह संज्ञा है। अन्तिम अक्षरसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षरज्ञान के बढ़ने पर पदनामक श्रुतज्ञान होता है।[१]

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद इस प्रकार पद तीन प्रकार का है। उनमें से जितने अक्षरों के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। वह अर्थपद है वह अर्थपद अनवस्थित है, क्योंकि अनियत अक्षरों के द्वारा अर्थ का ज्ञान हो जाता है और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'अ' का अर्थ विष्णु है, 'इ' का अर्थ काम है और 'क' का अर्थ ब्रह्मा है, इस प्रकार इत्यादि स्थलों पर एक-एक अक्षर से ही अर्थ की उपलब्धि होती है। आठ अक्षर से निष्पन्न हुआ प्रमाणपद है। यह अवस्थित है, क्योंकि इस की आठ संख्या नियत है।[२]

अर्थपद—जैसे "सफेद गौ को रस्सी से बाँधो" या 'अग्नि लाओ" या "छात्र को विद्या पढ़ाओ" अथवा "बालक को दूध पिलाओ" इत्यादि।

प्रमाणपद—श्लोक के चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। प्रत्येक पाद की 'प्रमाणपद' संज्ञा है, क्योंकि प्रमाणपद की आठ संख्या नियत है।

यहाँ पर न तो अर्थपद से प्रयोजन है और न प्रमाणपद से प्रयोजन है, किन्तु मध्यमपद से प्रयोजन है।

> **तिविहं पदमुद्दिट्ठं पमाणपदमत्थमज्झिमपदं च।**
> **मज्झिमपदेण वुत्ता पुव्वंगाणं पदविभागा॥१९॥**[३]
> **तिविहं तु पदं भणिदं अत्थपद-पमाण-मज्झिमपदं ति।**
> **मज्झिमपदेण भणिदा पुव्वंगाणं पदविभागा॥६९॥**[४]

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यम पद, इस तरह पद तीन प्रकार का कहा गया है। इनमें मध्यम पद के द्वारा पूर्व अंगों के पदविभाग होते हैं।

मध्यम पद के अक्षरों का प्रमाण

> **सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।**
> **सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदो य पदवण्णा॥३३६॥**

गाथार्थ—सोलहसौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०-७८८८) एक मध्यमपद में अक्षर होते हैं॥३३६॥

विशेषार्थ—सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख, अठहत्तर सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरों को लेकर द्रव्यश्रुत का एक पद होता है। इन अक्षरों से उत्पन्न हुआ भावश्रुत भी उपचार से 'पद' कहा जाता है।[५]

---

१. धवल पु. ६ पृ. २३। २. धवल पु. १३ पृ. २६५-२६६। ३. धवल पु. १३ पृ. २६६। ४. धवल पु. ९ पृ. १९६; जयधवल पु. १ पृ. ९२। ५. धवल पु. ६ पृ. २३।

षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनां त्र्यशीतिमेव लक्षाणि ।
शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टाशीतिं च पदवर्णान् ।।६८।।[1]

सोलससदचोत्तीसं कोडी तेसीदि चेव लक्खाइं ।
सत्तसहस्सट्ठसदा अट्ठासीदा य पदवण्णा ।।१८।।[2]

सोलहसयचोत्तीसं कोडीओ तियप्रसीदिलक्खं च ।
सत्तसहस्सट्ठसदं अठ्ठासीदी य पदवण्णा ।।३७।।[3]

सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी इतने वर्ण (अक्षर) एक मध्यम पद के होते हैं। इतने अक्षरों को ग्रहणकर एक मध्यम पद होता है। यह मध्यम पद भी संयोगी अक्षरों की संख्या की अपेक्षा अवस्थित है, क्योंकि उसमें उक्त प्रमाण से अक्षरों की अपेक्षा वृद्धि और हानि नहीं होती।[4] इन पदों में संयोगी अक्षर ही समान हैं, संयोगी अक्षरों के अवयव अक्षर नहीं, क्योंकि उनकी संख्या का कोई नियम नहीं है।[5] इस मध्यमपद के द्वारा पूर्व और अंगों के पदों की संख्या का प्ररूपण किया जाता है।[6]

संघात श्रुतज्ञान

एयपदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।
संखेज्जसहस्सपदे उड्ढे संघादणाम सुदं ।।३३७।।

गाथार्थ—इस एक मध्यम पद के ऊपर भी एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाने पर संघात नामक श्रुतज्ञान होता है ।।३३७।।

विशेषार्थ—इस पदनामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-प्रमित श्रुतज्ञान के बढ़ने पर पदसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षर आदि के क्रम से पदसमास नामका श्रुत बढ़ता हुआ तब तक जाता है जब तक कि संघात नामका श्रुतज्ञान प्राप्त होता है।[7]

शङ्का—पद के ऊपर अन्य एक पद के बढ़ने पर पदसमास श्रुतज्ञान होता है, ऐसा न कहकर पद के ऊपर एक अक्षर बढ़ने पर पदसमास श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा क्यों कहा गया है जबकि अक्षरपद नहीं हो सकता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पद के अवयवभूत अक्षर की भी पद संज्ञा होने में कोई विरोध नहीं आता। अवयव में अवयवी का व्यवहार अप्रसिद्ध है, यह बात भी नहीं है; क्योंकि 'वस्त्र जल गया, गाँव जल गया' इत्यादि उदाहरणों में वस्त्र या गाँव के एक अवयव में ही अवयवी का व्यवहार पाया जाता है।[8]

शङ्का—अक्षर श्रुतज्ञान के ऊपर छह प्रकार की वृद्धि द्वारा श्रुतज्ञान की षट्स्थान पतित वृद्धि क्यों नहीं होती ?

---

१. धवल पु. ६ पृ. १६५। २. ध. पु. १३ पृ. २६६। ३. जयधवल पु. १ पृ. ९२। ४. ध. पु. १३ पृ. २६६। ५. ध. पु. १३ पृ. २६७। ६. जयधवल पु. १ पृ. ९२। ७. ध. पु. ६ पृ. २३। ८. ध. पु. १३ पृ. २६७।

समाधान – नहीं होती, क्योंकि अक्षरज्ञान सकलश्रुतज्ञान के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है। उसके उत्पन्न होने पर संख्यात भाग वृद्धि और संख्यात गुणवृद्धि ही होती है। छह प्रकार की वृद्धियाँ नहीं होतीं, क्योंकि एक अक्षररूप ज्ञान के द्वारा जिसे बल की प्राप्ति हुई है उसके छह प्रकार की वृद्धि के मानने में विरोध आता है।[1]

संख्यात पदों के द्वारा संघात नामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। चारों गतियों के द्वारा मार्गणा होती है। उनमें जितने पदों के द्वारा नरकगति की एक पृथिवी निरूपित की जाती है उतने पदों की और उनसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान की 'संघात' ऐसी संज्ञा होती है। इसी प्रकार सर्व गतियों का और सर्व मार्गणाओं का आश्रय करके कहना चाहिए।[2] प्रतिपत्ति के जितने अधिकार होते हैं उनमें से एक-एक अधिकार की संघात संज्ञा है।[3]

प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान

एक्कदरगदिणिरूवयसंघादसुदादु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढम्हि पडिवत्ती ॥३३८॥

गाथार्थ—एक गति का निरूपण करने वाले संघात श्रुतज्ञान के ऊपर पूर्व के समान एक-एक अक्षर की क्रम से वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जाय, तब एक प्रतिपत्तिनामक श्रुतज्ञान होता है ॥३३८॥

विशेषार्थ—संघात श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-प्रमित श्रुतज्ञान के बढ़ने पर संघातसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार संघात-समास नामक श्रुतज्ञान तब तक बढ़ता हुआ जाता है जब तक कि एक अक्षर श्रुतज्ञान से कम प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान प्राप्त होता है।[4] यहाँ पर भी संघात के अतीत होने पर वह भी संघात है, ऐसा समझकर संघात-समास बन जाता है।[5] जितने पदों के द्वारा एक गति, इन्द्रिय, काय और योगादि मार्गणा प्ररूपित की जाती है, उतने पदों की प्रतिपत्ति यह संज्ञा है।[6] अनुयोगद्वार के जितने अधिकार होते हैं उनमें से एक-एक अधिकार की प्रतिपत्ति संज्ञा है। संख्यात संघात श्रुतज्ञानों का आश्रय कर एक प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता हैं।[7]

अनुयोग श्रुतज्ञान

चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं ॥३३९॥

गाथार्थ—चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर पूर्व के सदृश एक-एक अक्षर की क्रम से वृद्धि होते-होते जब संख्यात प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है ॥३३९॥

---

१. धवल पु. १३ पृ. २६८। २. धवल पु. ६ पृ. २३। ३. धवल पु. १३ पृ. २६९। ४. धवल पु. ६ पृ. २३-२४। ५. धवल पु. १३ पृ. २६९। ६. धवल पु. ६ पृ. २४। ७. धवल पु. १३ पृ. २६९।

विशेषार्थ—प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान के बढ़ने पर प्रतिपत्ति-समास नामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान ही बढ़ता हुआ तब तक चला जाता है, जब तक एक अक्षर से कम अनुयोगद्वार नामक श्रुतज्ञान प्राप्त होता है।[१] पुनः इसमें एक अक्षर की वृद्धि होने पर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है।

शंका—अनुयोगद्वार यह किसकी संज्ञा है ?

समाधान—प्राभृत के जितने अधिकार होते हैं, उनमें से एक-एक अधिकार की प्राभृतप्राभृत संज्ञा है और प्राभृतप्राभृत जितने अधिकार होते हैं, उनमें से एक-एक अधिकार की अनुयोगद्वार संज्ञा है।[२]

चौदह मार्गणाओं से प्रतिबद्ध जितने पदों के द्वारा जो अर्थ जाना जाता है, उतने पदों की और उनसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान की 'अनुयोग' यह संज्ञा है।[३]

प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान

चोद्दसमग्गणसंजुद–अणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ।।३४०।।
अहियारो पाहुडयं एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो।
पाहुडपाहुडणामं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।३४१।।

गाथार्थ—चौदह मार्गणाओं का कथन करने वाले अनुयोग से उपर पूर्वोक्त क्रमअनुसार एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चतुरादि अनुयोगों की वृद्धि हो जाय तब प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है ।।२४०।। प्राभृत और अधिकार ये दोनों एक अर्थ के वाचक हैं। अत एव प्राभृत के अधिकार की प्राभृतप्राभृत संज्ञा है, ऐसा जिन (श्रुतकेवली) ने कहा है ।।२४१।।

विशेषार्थ—अनुयोग श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान के बढ़ने पर अनुयोग समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार अनुयोग समास नामक श्रुतज्ञान एक-एक अक्षर की उत्तर वृद्धि से बढ़ता हुआ तब तक जाता है जब तक कि एक अक्षर से कम प्राभृतप्राभृत नामक श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। उसके ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान के बढ़ने पर प्राभृतप्राभृत नामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, संख्यात अनुयोगद्वार रूप श्रुतज्ञानों के द्वारा एक प्राभृतप्राभृत नामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है।[४]

शङ्का—प्राभृतप्राभृत यह क्या है ?

समाधान—संख्यात अनुयोग द्वारों को ग्रहण कर एक प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है।[५]

वस्तु नामक श्रुतज्ञान के एक अधिकार को प्राभृत और अधिकार के अधिकार को प्राभृत-प्राभृत कहते हैं।

---

१. धवल पु. ६ पृ. २४। २. धवल पु. १३ पृ. २६९-२७०। ३. धवल पु. ६ पृ. २४। ४. धवल पु. ६ पृ. २४। ५. धवल पु. १३ पृ. २७०।

प्राभृत का स्वरूप

दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं ॥३४२॥

गाथार्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञान के ऊपर क्रम से एक-एक वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत-प्राभृत की वृद्धि होजाय तब एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है ॥३४२॥

विशेषार्थ—एक वस्तु में २० प्राभृत होते हैं और एक प्राभृत में २४ प्राभृतप्राभृत होते हैं। अर्थात् एक वस्तु में बीस अधिकार होते हैं और प्रत्येक अधिकार में चौबीस-चौबीस अवान्तर अधिकार होते हैं।

प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान के बढ़ने पर प्राभृतप्राभृत समास श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। उसके ऊपर एक अक्षर आदि की वृद्धि के क्रम से प्राभृतप्राभृत समास तब तक बढ़ता हुआ जाता है जब तक एक अक्षर कम प्राभृत नामक श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। उसके ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान के बढ़ने पर प्राभृत नामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है।[1] संख्यात (२४) प्राभृतप्राभृतों को ग्रहण कर एक प्राभृतश्रुतज्ञान होता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[2]

वस्तु श्रुतज्ञान

वीसं-वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो।
एक्केक्कवण्णउड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ॥३४३॥

गाथार्थ—बीस-बीस प्राभृतअधिकारों का एक वस्तु अधिकार होता है। सर्वत्र क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है ॥३४३॥

विशेषार्थ—प्राभृत श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर के बढ़ने पर प्राभृत समास नामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रमसे प्राभृत समास नामक श्रुतज्ञान तब तक बढ़ता हुआ जाता है जब तक कि एक अक्षर से कम बीसवाँ प्राभृत प्राप्त होता है। इस पर एक अक्षर की वृद्धि होने पर बीसवाँ प्राभृत हो जाता है अर्थात् वस्तुनामक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है।[3]

एक्केक्कम्हि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिदा।
विसम-समा हि य वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा ॥८६॥[4]

—एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत कहे गये हैं। पूर्वों में वस्तु सम व विषम है किन्तु वे सब वस्तुएँ प्राभृत की अपेक्षा सम हैं।

---

१. धवल पु. ६ पृ. २४-२५। २. धवल पु. १३ पृ. २७०। ३. धवल पु. ६ पृ. २५। ४. धवल पु. ६ पृ. २२६।

चौदह पूर्वों में से प्रत्येक में कितनी वस्तु हैं, इसका कथन

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च।
बीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ।।३४४।।

गाथार्थ--चौदह पूर्वों में से प्रत्येक में क्रम से दस, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दस, दस, दस, दस वस्तु नामक अधिकार हैं ।।३४४।।

विशेषार्थ—चौदह पूर्वों के अधिकारों (वस्तुओं) के प्रमाण को बतलाने वाली गाथायें इस प्रकार हैं—

दस चौद्दस अट्ठट्ठारस बारस य दोसु पुव्वेसु ।
सोलस वीसं तीसं दसमम्मि य पण्णरस वत्थू ।।८४।।
एदेसिं पुव्वाणं एवदिओ वत्थुसंगहो भणिदो ।
सेसाणं पुव्वाणं दस दस वत्थू पणिवयामि ।।८५।।[1]

—दस, चौदह, आठ, अठारह, दो पूर्वों में बारह, सोलह, बीस, तीस और दसवें में पन्द्रह, इस प्रकार क्रम से आदि के इन दस पूर्वों की इतनी मात्र वस्तुओं का संग्रह कहा गया है। शेष चार पूर्वों की दस-दस वस्तु हैं। इनको मैं नमस्कार करता हूँ ।।८४-८५।।

यथाक्रम से इनके अंकों की रचना—

१०	१४	८	१८	१२	१२	१६	२०	३०	१५	१०	१०	१०	१०

[2]

प्रतिपूर्वं च वस्तुनि ज्ञातव्यानि यथाक्रमम् ।।७२।।
दश चतुर्दशाष्टौ चाष्टादशद्वादशद्वयोः ।
दश षड्विंशतिस्त्रिंशत् तत्तत् पंचदशेष तु ।।७३।।
दशैवोत्तरपूर्वाणां चतुर्णां वर्णितानि वै ।।७४।।[3] **पूर्वार्ध**

—प्रत्येक पूर्व में यथाक्रम वस्तुओं का प्रमाण जानना चाहिए—दस, चौदह, आठ, अठारह, दो स्थानों अर्थात् दो पूर्वों में बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, यह दस पूर्वों का प्रमाण है इसके पश्चात् चार पूर्वों में दस-दस जानना चाहिए।

चौदह पूर्वों के नाम

उप्पायपुव्वगाणिय-विरियपवादत्थिणत्थियपवादे ।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ।।३४५।।

---

१. ध.पु. ६ पृ. २२७। २. ध.पु. ६ पृ. २२७। ३. हरिवंशपुराण सर्ग १०।

पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयबिंदुसारे य ।।३४६।।

गाथार्थ—उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व, त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व क्रमशः पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं ।।३४५-३४६।।

विशेषार्थ—बारहवाँ दृष्टिवाद अङ्ग पाँच प्रकार का है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमें से पूर्वगत चौदह प्रकार का है। यथा—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। इन चौदह पूर्वों में क्रमसे दस, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दस, दस, दस और दस, इतनी वस्तुएँ अर्थात् महा-अधिकार होते हैं। प्रत्येक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत अर्थात् अवान्तर अधिकार होते हैं। एक-एक प्राभृत में चौबीस-चौबीस प्राभृतप्राभृत होते हैं।[1]

वस्तुज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृत-प्राभृत आदि की वृद्धि होते-होते जब दस वस्तु की वृद्धि होजाय तब प्रथम उत्पादपूर्व का ज्ञान हो जाता है। इसके आगे क्रम से एक-एक अक्षर आदि की वृद्धि होते-होते चौदह वस्तु की वृद्धि होने में एक अक्षर कम रह जाय वहाँ तक उत्पादपूर्व समास ज्ञान होता है। उसमें एक अक्षर की वृद्धि होजाने पर आग्रायणीयपूर्व का ज्ञान पूर्ण होजाता है। इसके आगे एक अक्षर श्रुतज्ञान की वृद्धि हो जाने पर आग्रायणीय समासज्ञान होता है। इसके आगे क्रमसे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते एक अक्षर से न्यून आठ वस्तु ज्ञान हो तब तक आग्रायणीय समासज्ञान होता है। इस पर एक अक्षरज्ञान की वृद्धि होजाने पर तीसरे वीर्यानुप्रवाद पूर्व का ज्ञान पूर्ण हो जाता है। इसके आगे एक अक्षर श्रुतज्ञान की वृद्धि होजाने पर वीर्यानुप्रवाद समासज्ञान होता है। एक अक्षर कम १८ वस्तु ज्ञान तक वीर्यानुप्रवाद समासज्ञान होता है। इसमें एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर अस्तिनास्ति-प्रवादपूर्व का ज्ञान होता है। इस पर एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर अस्तिनास्ति प्रवाद समास-ज्ञान होता है। क्रमसे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए एक अक्षर कम १२ वस्तुज्ञान तक अस्ति-नास्तिप्रवाद समासज्ञान होता है। इसमें एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर ज्ञानप्रवादपूर्व का ज्ञान हो जाता है। इसके आगे भी एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर ज्ञानप्रवाद समासज्ञान होता है। क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए एक अक्षर कम बारह वस्तु का ज्ञान होने तक ज्ञानप्रवाद समास-ज्ञान होता है। पुनः उसमें एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर सत्यप्रवाद पूर्व का ज्ञान हो जाता है। इसके आगे इसी क्रम से सत्यप्रवादसमास, आत्मप्रवाद, आत्मप्रवादसमास, कर्मप्रवाद, कर्मप्रवादसमास, प्रत्याख्यानप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद समास, विद्यानुवाद, विद्यानुवाद समास, कल्याणवाद, कल्याण-वादसमास, प्राणवाद, प्राणवादसमास, क्रियाविशाल, क्रियाविशाल समास और लोकबिन्दुसार का कथन करना चाहिए।[2]

---

१. जयधवल पु. १ पृ. २६-२७। २. श्रीमदाचार्य अभयनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत टीका के आधार से।

चौदह पूर्वों में समस्त वस्तुओं और प्राभृतों की संख्या

पणणउदिसया वत्थू पाहुडया तियसहस्सणवयसया ।
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ।।३४७।।

गाथार्थ—इन चौदह पूर्वों की सर्व वस्तु मिलकर एक सौ पचानवे [१९५] होती हैं और प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ [३९००] होता है ।।३४७।।

विशेषार्थ—इन चौदह पूर्व में वस्तुओं की संख्या क्रम से १०, १४, ८, १८, १२, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १०, १० होती है । इन सब वस्तुओं का जोड़ १९५ होता है ।

एक्केक्कम्हि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिदा ।
विसम-समा हि य वत्थु सव्वे पुण पाहुडे हि समा ।।८६।।

—एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत कहे गये हैं । पूर्वों में वस्तुएँ सम व विषम हैं, किन्तु प्राभृत सम हैं । पूर्वों के पृथक्-पृथक् प्राभृतों का योग यह है—२००, २८०, १६०, ३६०, २४०, २४०, ३२०, ४००, ६००, ३००, २००, २००, २००, २०० । सब वस्तुओं का योग एक सौ पचानवै (१९५) होता है । सब प्राभृतों का योग (१९५×२०=) तीन हजार नौ सौ मात्र होता है ।[1]

पूर्वकथित बीस प्रकार के श्रुतज्ञान का पुनःकथन

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च ।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ।।३४८।।
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि ।
णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं ।।३४९।।

गाथार्थ—अक्षरश्रुत (द्रव्यश्रुत) के अर्थअक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु और पूर्व तथा इन पर क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि होने पर उनके अर्थ-अक्षर समास आदि ये अठारह भेद होते हैं । इनमें पर्याय और पर्याय समास मिलने से श्रुतज्ञान के बीस भेद हो जाते हैं । ग्रंथरचना की अपेक्षा से अङ्गप्रविष्ट बारह प्रकार का और अङ्गबाह्य सामायिक आदि चौदह प्रकार का है ।

विशेषार्थ—अक्षर, अक्षरसमास आदि अठारह प्रकार के श्रुत का कथन गा. ३३३-३४७ तक तथा पर्याय व पर्यायसमास श्रुतज्ञान का कथन गा. ३१९ से ३३२ तक तथा बीस प्रकार श्रुत के भेद गाथा ३१७-३१८ में कहे जा चुके हैं । अतः पुनरुक्ति के दोष के कारण इन बीस प्रकार के श्रुत का कथन यहाँ नहीं किया गया है । आगे गाथा ३५६ से ३६५ तक द्वादशाङ्ग का तथा गा. ३६६-३६७ में अङ्गबाह्य के १४ भेदों का कथन किया जाएगा । अतः यहाँ पर बारह एवं चौदह भेदों के

---

१. ध.पु. ९ पृ. २२९ ।

नाम मात्र दिये जाते हैं। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, धर्म-कथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवादाङ्ग, ये बारह भेद अङ्ग-प्रविष्ट के हैं। सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषिद्धिका; ये अङ्गबाह्य श्रुत के चौदह भेद हैं।[1] इन बारह अङ्गों और चौदह प्रकीर्णकों का कथन आगे गाथा ३५६-३६८ में किया जाएगा।

द्वादशाङ्ग के समस्त पदों की संख्या

बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तहय होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं ॥३५०॥

गाथार्थ—द्वादशाङ्ग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़ बयासी लाख अट्ठावन हजार पाँच (११२८३५८००५) होते हैं ॥३५०॥

विशेषार्थ—सोलह सौ चौंतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है।[2] इस मध्यम पद के द्वारा अङ्गों और पूर्वों का पदविभाग कहा गया है। उपर्युक्त बारह अंगों में ऐसे मध्यम पदों की संख्या बतलाई गई है।

बारससदकोडीओ तेसीदि हवंति तह य लक्खाइं।
अट्ठावण्णसहस्सं पंचेव पदाणि सुदणाणे ॥२०॥
अट्ठावण्णसहस्सा दोण्णि य छप्पण्णमेत्तकोडीओ।
तेसीदिसदसहस्सं पदसंखा पंच सुदणाणे ॥

[जयधवल पु. १ पृ. ९३ नवीन संस्करण पृ. ८४]

—श्रुतज्ञान एक सौ बारह करोड़ (छप्पन करोड़ के दुगुने) तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पद होते हैं।

श्रुतज्ञान के कुल अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण हैं (१८४४६७,४४०७३७०,९५५१६१५)। इस संख्या को मध्यम पद के अक्षरों (१६३४८३०७८८८) से भाग देने पर एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच पद संख्या प्राप्त होती है और ८०१०८१७५ अक्षर शेष रहते हैं। इन शेष अक्षरों से चौदह प्रकीर्णक रूप अङ्ग बाह्य की रचना होती है। इसे गाथा द्वारा कहते हैं—

अङ्गबाह्य अक्षरों की संख्या

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥३५१॥

---

१. गो. जी. गा. ३५७ व ३६७-३६८। धवल पु. १ पृ. ९९ व ९६। २. गो. जी. गा. ३३६ व धवल पु. १३ पृ. २६६।

गाथार्थ—आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रकीर्णक के अक्षरों का प्रमाण है ॥३५१॥

विशेषार्थ—समस्त संयोगी अक्षरों का प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इस अक्षरसंख्या को पदअक्षरसंख्या १६३४८३०७८८८ से भाग देने पर १८४४६७४४०७३७०९५-५१६१५÷१६३४८३०७८८८=११२८३५८००५ भाज्यफल और ८०१०८१७५ अक्षर शेष रहते हैं। जो एक पद की अक्षर संख्या से न्यून है। इन अक्षरों के द्वारा अङ्गबाह्य चौदह प्रकीर्णकों की रचना होती है। इनका कथन आगे गाथा ३६७-३६८ में किया जाएगा।

समस्त अक्षरों का प्रमाण प्राप्त करने की विधि

तेत्तीस वेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥३५२॥[1]

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥३५३॥

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥३५४॥

गाथार्थ—तेंतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर तथा चार योगवाह ये सब (३३+२७+४) ६४ मूल वर्ण (मूल अक्षर) कहे गये हैं ॥३५२॥ इन चौंसठ अक्षरों का विरलन कर और प्रत्येक के ऊपर दो को देकर परस्पर गुणा करके एक घटाने पर श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण होता है ॥३५३॥ वे अक्षर एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाँच पाँच एक छह एक पाँच हैं ॥३५४॥

विशेषार्थ—वर्गाक्षर पच्चीस, अन्तस्थ चार और उष्माक्षर चार इस प्रकार तेंतीस (३३) व्यंजन होते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ ये नौ स्वर होते हैं। इनमें से प्रत्येक ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से स्वर सत्ताईस (२७) होते हैं। अयोगवाह अं, अः, ≍ क और ≍ प ये चार ही अयोगवाह होते हैं। इस प्रकार सब अक्षर (२७+३३+४) ६४ होते हैं।

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं त्वर्द्धमात्रकम् ॥१२॥[2]

एक मात्रा वाला वर्ण ह्रस्व, दो मात्रा वाला दीर्घ, तीन मात्रा वाला प्लुत जानना चाहिए। और व्यंजन अर्ध मात्रा वाला होता है ॥१२॥ इन चौंसठ अक्षरों के संयोगाक्षर लाने का विधान—

संजोगावरणट्ठं चउसट्ठिं थावए दुवे रासिं।
अण्णोण्णसमब्भासो रूवूणं णिद्दिसे गणिदं ॥४६॥[3]

---

१. धवल पु. १३ पृ. २४८। २-३. धवल पु. १३ पृ २४८।

उसके लिए गणित गाथा—संयोगावरणों को लाने के लिये चौंसठ संख्या प्रमाण दो राशि (दो का अङ्क) स्थापित करे। पश्चात् उनका परस्पर गुणा करके जो लब्ध आवे उसमें से एक कम करने पर कुल संयोग अक्षर होते हैं ॥४६॥

अक्षरों की चौंसठ संख्या का विरलन करें। यहाँ चौंसठ अक्षरों की स्थापना इस प्रकार है—अ आ आ ३, इ ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ॠ ॠ ३, लृ लॄ लॄ ३, ए ए २ ए ३, ऐ ऐ २ ऐ ३, ओ ओ २ ओ ३, औ औ २ औ ३, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह, ≍ क ≍ प अं अः।

शङ्का—इन अक्षरों में कँ खँ गँ घँ ङँ इन पाँच धारणाओं का क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि स्वररहित कवर्ग का अनुसरण करने वाले संयोग में उत्पन्न हुई धारणाओं का संयोगाक्षरों में अन्तर्भाव हो जाता है।[1]

इन अक्षरों की संख्या राशि (६४) प्रमाण '२' अङ्क का विरलन कर–जैसे २ परस्पर गुणा करने से १८४४६७४४०७३७०९-५५१६१६ यह राशि प्राप्त होती है। इस संख्या में से एक कम करने पर संयोगी अक्षरों का प्रमाण प्राप्त होता है।[2]

चौंसठ अक्षरों की संख्या का विरलन कर और उसको द्विगुणित कर वर्गित-संवर्गित करने पर एकसंयोगी और द्विसंयोगी आदि श्रुतज्ञान के विकल्प कैसे उत्पन्न होते हैं और उस उत्पन्न हुई राशि में से एक कम किसलिए किया जाता है, ऐसा पूछने पर कहते हैं—प्रथम अक्षर का एक ही भंग होता है, क्योंकि उसका शेष अक्षरों के साथ संयोग नहीं है। आगे दूसरे अक्षर की विवक्षा करने पर दो भंग होते हैं, क्योंकि स्वस्थान की अपेक्षा एकभंग, पहले व दूसरे अक्षर से दूसरा भंग; इस प्रकार दो ही भंग होते हैं।[3]

शङ्का—संयोग क्या है ? क्या दो अक्षरों की एकता संयोग है ? क्या उनका एक साथ उच्चारण करना संयोग है ? क्या उनकी एकार्थता (एकार्थबोधकता) का नाम संयोग है ?

समाधान—दो अक्षरों की एकता तो संयोग हो नहीं सकती, क्योंकि एकत्व भाव मानने पर द्वित्व का नाश हो जाने के कारण उनका संयोग होने में विरोध आता है। सहोच्चारण का नाम भी संयोग नहीं है, क्योंकि चौंसठ अक्षरों का एक साथ उच्चारण करना बनता नहीं है। इसलिए एकार्थता का नाम संयोग है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—एक अर्थ में विद्यमान बहुत अक्षरों की एक अक्षर संज्ञा कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अर्थ के द्वारा उन सभी का एकत्व पाया जाता है।

---

१. धवल पु. १३ पृ. २४९। २. धवल पु. १३ पृ. २४९। ३. धवल पु. १३ पृ. २५०।

वर्तमान काल में बहुत अक्षरों का एकअक्षरपना नहीं उपलब्ध होता है, ऐसा निश्चय करना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वर्तमान काल में भी 'त्वक्म्य' इत्यादिक बहुत अक्षरों के एक अर्थ में विद्यमान होते हुए एकाक्षरता उपलब्ध होती है। स्वरों से अन्तरित न होकर एक अर्थ में विद्यमान व्यंजनों के ही एकअक्षरपना नहीं है, किन्तु स्वरों के द्वारा अन्तर को प्राप्त हुए बहुत व्यंजनों के भी एकाक्षरपना अविरुद्ध है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न अक्षरों की एक अर्थ में वृत्ति होने की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं है।[1]

प्रथम और द्वितीय अक्षरों के भंगों को एक साथ लाने के लिये प्रथम और द्वितीय अक्षरों की संख्या का विरलन कर और उसको दूना कर परस्पर गुणा करने से चार होते हैं($1^2\ 1^2$) = ४। फिर इसमें से एक अंक के घटा देने पर[(४-१) तीन;]प्रथम और द्वितीय अक्षरों के एकसंयोग और द्विसंयोग रूप से तीन अक्षर होते हैं और श्रुतज्ञान के विकल्प भी उतने ही होते हैं। क्योंकि कारण का भेद कार्यभेद का अविनाभावी होता है। इसी कारण से विरलन कर और विरलित राशि प्रमाण दो अंकों को स्थापित कर परस्पर गुणा करके एक कम किया जाता है।

तीसरे अक्षर के विवक्षित होने पर एकसंयोग से एकअक्षर होता है १। प्रथम और तृतीय अक्षरों के द्विसंयोग से दूसरा भंग होता है २। द्वितीय और तृतीय अक्षरों के द्विसंयोग से तीसरा भंग होता है ३। प्रथम द्वितीय और तृतीय अक्षरों के त्रिसंयोग से चौथा भंग होता है ४। इस प्रकार तृतीय अक्षर के एक दो और तीन संयोगों से चार भंग लब्ध होते हैं ४। अब प्रथम और द्वितीय अक्षरों के भंगों के साथ तृतीय अक्षर के भंग लाना इष्ट है। इसलिए तीन अक्षरों का विरलन कर और तत्प्रमाण दो स्थापित कर परस्पर गुणा करने पर आठ भंग उत्पन्न होते हैं($1^2\ 1^2\ 1^2$ = ८)। इनमें से एक करने पर प्रथम, द्वितीय और तृतीय अक्षरों के सब मिलकर (८ — १ =) सात भंग होते हैं। जितने अक्षर होते हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं, क्योंकि सर्वत्र कारण का अनुसरण करने वाले कार्य होते हैं। इसीलिए अन्योन्य गुणितराशि में से एक कम किया जाता है।[2]

अब इनके उच्चारण का क्रम कहते हैं—अकार के एकसंयोग से एक अक्षर उपलब्ध होता है १। आकार के भी एकसंयोग से एक अक्षरविकल्प उपलब्ध होता है १। आकार३ के भी एकसंयोग से एक अक्षरविकल्प उपलब्ध होता है १। इस प्रकार एकसंयोगी अक्षर तीन होते हैं ३। पुनः अकार और आकार के द्विसंयोग से चौथा अक्षरविकल्प होता है ४। पुनः अकार और आ३कार के द्विसंयोग से पाँचवाँ अक्षरविकल्प होता है ५। पुनः आकार और आ३कार के द्विसंयोग से छठा अक्षरविकल्प होता है ६। पुनः अकार, आकार और आ३कार के त्रिसंयोग से सातवाँ अक्षरविकल्प होता है ७। जितने अक्षर होते हैं उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं, क्योंकि सर्वत्र कारण का अनुकरण करने वाले कार्य उपलब्ध होते हैं। इसलिए अन्योन्य गुणित राशि में से एक कम करते हैं।[3]

अब चतुर्थ अक्षर के विवक्षित होने पर एकसंयोग से एकभंग होता है १। प्रथम और चतुर्थ के संयोग से दूसराअक्षर द्विसंयोगी होता है २। द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों के द्विसंयोग से तीसरा अक्षर होता है ३। तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के द्विसंयोग से चौथा अक्षर होता है ४। प्रथम द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों के त्रिसंयोग से पाँचवाँ अक्षर होता है ५। प्रथम तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के

---

१. धवल पु. १३ पृ. २५०। २. धवल पु. १३ पृ. २५१-२५२। ३. धवल पु. १३ पृ. २५२।

त्रिसंयोग से छठा अक्षर होता है ६। पुनः द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के त्रिसंयोग से सातवाँ अक्षर होता है ७। पुनः प्रथम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के चतुःसंयोग से आठवाँ अक्षर होता है ८। इस प्रकार चौथे अक्षर के आठ भंग होते हैं ८। अब पूर्वोक्त भंगों के साथ चतुर्थ अक्षर के भंगों के लाने पर चार अङ्कों का विरलन और विरलितराशि के प्रत्येक एक को द्विगुणित कर परस्पर गुणित करने पर $(\overset{२}{१},\overset{२}{१},\overset{२}{१},\overset{२}{१})$ सोलह (१६) भंग होते हैं। एक कम करने पर चार अक्षरों के एकसंयोग, द्विसंयोग, त्रिसंयोग और चतुर्थसंयोग रूप अक्षरों के भंग (१६–१) पन्द्रह (१५) होते हैं।[1] यहाँ इनके उच्चारण का क्रम कहते हैं। यथा—अकार का एकसंयोग से एक अक्षर होता है १। आकार का भी एकसंयोग से दूसरा अक्षर होता है २। आकार३ का भी एकसंयोग से तीसरा अक्षर होता है ३। इकार का एकसंयोग से चौथा अक्षर होता है ४। पुनः अकार और आकार के द्विसंयोग से पाँचवाँ अक्षर होता है ५। पुनः अकार और आ३कार के द्विसंयोग से छठा अक्षर होता है ६। पुनः अकार और इकार के द्विसंयोग से सातवाँ अक्षर होता है ७। पुनः आकार और आ३कार के द्विसंयोग से आठवाँ अक्षर होता है ८। पुनः आकार और इकार के द्विसंयोग से नौवाँ अक्षर उत्पन्न होता है ९। पुनः आ३कार और इकार के द्विसंयोग से दसवाँ अक्षर होता है। पुनः अकार, आकार और आ३कार के त्रिसंयोग से ग्यारहवाँ अक्षर होता है ११। पुनः अकार, आकार और इकार के त्रिसंयोग से बारहवाँ अक्षर होता है १२। पुनः अकार, आ३कार और इकार के त्रिसंयोग से तेरहवाँ अक्षर होता है १३। पुनः आकार, आ३कार और इकार के त्रिसंयोग से चौदहवाँ अक्षर होता है १४। पुनः अकार, आकार, आ३कार और इकार के चार संयोग से पन्द्रहवाँ अक्षर होता है १५। इस प्रकार चार अक्षरों के एक, दो, तीन और चार संयोग से पन्द्रह अक्षर उत्पन्न होते हैं। यहाँ पन्द्रह ही श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं और तदावरण के विकल्प भी उतने ही होते हैं। यतः इस विधि से अक्षर उत्पन्न होते हैं अतः अन्योन्याभ्यस्त राशि सर्वत्र एक अंक से कम करनी चाहिए। इस विधि से शेष अक्षरों का कथन समझना चाहिए।[2] इस विधि से चौंसठ अक्षरों के १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने मात्र संयोग अक्षर उत्पन्न होते हैं तथा उनसे इतने ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं। अथवा

एकोत्तरपदवृद्धो रूपाद्यैर्भाजितश्च पदवृद्धैः।
गच्छः संपातफलं समाहतः सन्निपातफलम् ॥[3]

—एक से लेकर एक-एक बढ़ाते हुए पद प्रमाण संख्या स्थापित करो। पुनः उसमें अन्त में स्थापित एक से लेकर पद प्रमाण बढ़ी हुई संख्या का भाग दो। इस क्रिया के करने से सम्पात फल गच्छप्रमाण प्राप्त होता है। उस सम्पातफल अर्थात् एकसंयोगी भंग को त्रेसठ बटे दो ($\frac{६३}{२}$) आदि से गुणा कर देने पर सन्निपातफल (=द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि भंग) प्राप्त होता है।

इस करणगाथा के द्वारा सब संयोगाक्षरों के और श्रुतज्ञान के विकल्प उत्पन्न होते हैं। यथा—

$\frac{१}{६४}$	$\frac{२}{६३}$	$\frac{३}{६२}$	$\frac{४}{६१}$	$\frac{५}{६०}$	$\frac{६}{५९}$	$\frac{७}{५८}$	$\frac{८}{५७}$	$\frac{९}{५६}$	$\frac{१०}{५५}$	$\frac{११}{५४}$	$\frac{१२}{५३}$	$\frac{१३}{५२}$	$\frac{१४}{५१}$	$\frac{१५}{५०}$	$\frac{१६}{४९}$

१. ध. पु. १३ पृ. २५२-२५३। २. ध. पु. १३ पृ. २५४। ३. ध. पु. १३ गा. १४ व पु. ५ पृ. १९३ व पु. १२ पृ. १६२, जयधवल पु. २ पृ. ३००।

१७/४८	१८/४७	१९/४६	२०/४५	२१/४४	२२/४३	२३/४२	२४/४१	२५/४०	२६/३९	२७/३८	२८/३७	२९/३६	३०/३५	३१/३४	३२/३३
३३/३२	३४/३१	३५/३०	३६/२९	३७/२८	३८/२७	३९/२६	४०/२५	४१/२४	४२/२३	४३/२२	४४/२१	४५/२०	४६/१९	४७/१८	४८/१७
४९/१६	५०/१५	५१/१४	५२/१३	५३/१२	५४/११	५५/१०	५६/९	५७/८	५८/७	५९/६	६०/५	६१/४	६२/३	६३/२	६४/१

इनको स्थापित कर अन्तिम चौंसठ में एक का भाग देने पर (६४) चौंसठ सम्पातफल (यानी एक-संयोगी भंग) लब्ध होता है।[1]

शङ्का—सम्पातफल किसे कहते हैं ?

समाधान—एकसंयोग भंग का नाम सम्पात है और उसके फल को सम्पातफल कहते हैं। पुनः त्रेसठ बटे दो (६३/२) से सम्पातफल को गुणित करने से चौंसठ अक्षरों के द्विसंयोग भंग (६३/२ × ६४) २०१६ होते हैं।[2] यथा—अकार के विवक्षित होने पर जब तक शेष त्रेसठ (६३) अक्षरों पर क्रम से अक्ष का संचार होता है तब तक त्रेसठ भंग प्राप्त होते हैं ६३। पुनः आकार के विवक्षित होने पर आ३कार आदि बासठ (६२) अक्षरों पर क्रम से जब तक अक्ष का संचार होता है तब तक बासठ (६२) भंग प्राप्त होते हैं ६२। पुनः आ३कार के विवक्षित होने पर इकार आदि इकसठ अक्षरों पर क्रम से अक्ष का संचार होने पर इकसठ (६१) द्विसंयोगी भंग प्राप्त होते हैं ६१। पुनः इकार के विवक्षित होने पर ईकार आदि साठ अक्षरों पर क्रम से जब तक अक्ष का संचार होता है तब तक इकार के द्विसंयोग से साठ भंग (६०) प्राप्त होते हैं ६०। पुनः ईकार आदि उनसठ अक्षरों के द्विसंयोगी भंग क्रमसे उत्पन्न कराने चाहिए ५९। इस प्रकार उत्पन्न हुए द्विसंयोगी भंगों को एक साथ मिलाने पर दो हजार सोलह मात्र भंग उत्पन्न होते हैं।[3] अथवा

संकलणरासिमिच्छे दोरासिं थावयाहि रूवहियं।
तत्तो एगदरद्धं एगदरगुणं हवे गणिदं ।।१५।।[4]

—यदि संकलनराशि का लाना अभीष्ट हो तो एकराशि वह जिसकी कि संकलन राशि अभीष्ट है तथा दूसरी राशि उससे एक अंक अधिक, इस प्रकार दो राशियों को स्थापित करें। पश्चात् उनमें से किसी एक राशि के अर्धभाग को दूसरी राशि से गुणित करने पर गणित अर्थात् विवक्षित राशि के संकलन का प्रमाण होता है ।।१५।।

इस गाथा के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक तिरेसठ गच्छ की संकलना के ले आने पर चौंसठ अक्षरों के द्विसंयोगभंग दो हजार सोलह होते हैं (६३/२ × ६४=

---

१. धवल पु. १३ पृ. २५४-२५५। ३. धवल पु. १३ पृ. २५५-२५६। ४. धवल पु. १३ पृ. २५६।
२. कारण देखो गो. क. गाथा ७९९ की टीका, पृ. ७६१ सम्पादक-रतनचन्द मुख्तार।

२०१६) अब चौंसठ अक्षरों के त्रिसंयोग भंगों का कथन करने पर पूर्व में उत्पन्न हुए २०१६ द्विसंयोगी भंगों को बासठ बटा तीन ($\frac{६२}{३}$) से गुणित करने पर त्रिसंयोगी भंग ($२०१६ \times \frac{६२}{३}$) ४१६६४ होते हैं। श्रुतज्ञान के एकसंयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि चौंसठ संयोगी तक के कुल भंगों का योग १ कम एकट्ठीप्रमाण होता है जिसका विवरण इस प्रकार है—

— श्रुतज्ञान के ६४ अक्षरों के एक संयोगी, द्विसंयोगी आदि भंग —

एकसंयोगी भंग $$= \frac{६४}{१} = ६४$$

द्विसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३}{१.२} = २०१६$$

त्रिसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२}{१.\ २.\ ३} = ४१६६४$$

चतुःसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१}{१.\ २.\ ३.\ ४} = ६३५३७६$$

पंचसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१.६०}{१.\ २.\ ३.\ ४.\ ५} = ७६२४५१२$$

षट्संयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१.६०.५९}{१.\ २.\ ३.\ ४.\ ५.\ ६} = ७४९७४३६८$$

सप्तसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८}{१.\ २.\ ३.\ ४.\ ५.\ ६.\ ७} = ६२१२१६१९२$$

अष्टसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७}{१.\ २.\ ३.\ ४.\ ५.\ ६.\ ७.\ ८} = ४४२६१६५३६८$$

नवसंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६}{१.\ २.\ ३.\ ४.\ ५.\ ६.\ ७.\ ८.\ ९} = २७५४०५८४५१२$$

दससंयोगी भंग $$= \frac{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६.५५}{१.\ २.\ ३.\ ४.\ ५.\ ६.\ ७.\ ८.\ ९.\ १०} = १५१४७३२१४८१६$$

$$\text{ग्यारह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६.५५.५४}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११}} = \text{७४३५९५७८१८२४}$$

$$\text{बारह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६.५५. ५४. ५३}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२}} = \text{३२८४२१४७०३०५६}$$

$$\text{तेरह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....५६.५५.५४.५३.५२}}{\text{१. २. ३ ... १०.११.१२.१३}} = \text{१३१३६८५८८१२२२४}$$

$$\text{चौदह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....५५.५४.५३.५२.५१}}{\text{१.२.३ .... ११.१२.१३.१४}} = \text{४७८५५६९९९५८८१६}$$

$$\text{पन्द्रह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....५४.५३.५२.५१.५०}}{\text{१.२.३ .... १२.१३.१४.१५}} = \text{१५९५१८९९९८६२७२०}$$

$$\text{सोलह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ ...५३.५२.५१.५०.४९}}{\text{१.२.३ .... १३.१४.१५.१६}} = \text{४८८५२६९३७०७९५८०}$$

$$\text{सत्तरह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....५२.५१.५०.४९.४८}}{\text{१.२.३ .... १४.१५.१६.१७}} = \text{१३७९३७०१७५२८३५२०}$$

$$\text{अठारह संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....५१.५०.४९.४८.४७}}{\text{१.२.३ .... १५.१६.१७.१८}} = \text{३६०१६८८७९१०१८०८०}$$

$$\text{उन्नीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....५०.४९.४८.४७.४६}}{\text{१. २. ३ .... १६.१७.१८.१९}} = \text{८७१९८७८१२५६२२७२०}$$

$$\text{बीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ ...४९.४८.४७.४६.४५}}{\text{१.२.३ .... १७.१८.१९.२०}} = \text{१९६१९७२५७८२६५११२०}$$

$$\text{इक्कीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....४८.४७.४६.४५.४४}}{\text{१.२.३ .... १८.१९.२०.२१}} = \text{४११०७९९६८७७९३५६८०}$$

$$\text{बाईस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....४६.४५.४४.४३}}{\text{१. २. ३ ....१९.२०.२१.२२}} = \text{८०३४७४४८४४३२३७९२०}$$

तेईस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२ ....४५.४४.४३.४२}}{\text{१. २. ३ ... २०.२१.२२.२३}} = \text{१४६७२१४२७५९१९९९६८०}$

चौबीस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....४४.४३.४२.४१}}{\text{१. २. ३ ...२१.२२.२३.२४}} = \text{२५०६४९१०५४६९६६६१२०}$

पच्चीस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२ ...४३.४२.४१.४०}}{\text{१. २. ३ ...२२.२३.२४.२५}} = \text{४०१०३८५६८७५१४६५७९२}$

छब्बीस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२ ४२.४१.४०.३९}}{\text{१. २. ३....२३.२४.२५.२६}} = \text{६०१५५७८५३१२७१९८६८८}$

सत्ताईस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....४१.४०.३९.३८}}{\text{१.२.३ .... २४.२५.२६.२७}} = \text{८४६६३६९७८४७५३१६६७२}$

अट्ठाईस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....४०.३९.३८.३७}}{\text{१. २. ३ ....२५.२६.२७.२८}} = \text{१११८७७०२९२९८५२३९८८८}$

उनतीस संयोमी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....३९.३८.३७.३६}}{\text{१. २. ३ .. २६.२७.२८.२९}} = \text{१३८८८१८२९४७४०२९७७९२}$

तीस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....३८.३७.३६.३५}}{\text{१. २. ३.... २७.२८.२९.३०}} = \text{१६२०२८८०१०५३०३४७४२४}$

इकतीस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....३७.३६.३५.३४}}{\text{१.२.३ ....२८.२९.३०.३१}} = \text{१७७७०९००७६०६५५४२३३६}$

बत्तीस संयोगी भंग $= \dfrac{\text{६४.६३.६२....३६.३५.३४.३३}}{\text{१. २. ३....२९.३०.३१.३२}} = \text{१८३२६२४१४०९४२५९०५३४}$

$$\text{तैंतीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ ...३७.३६.३५.३४}}{\text{१.२.३ ....२८.२९.३०.३१}} = \text{१७७७०९००७६०६५५४२३३६}$$

$$\text{चौंतीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ .. ३८.३७.३६.३५}}{\text{१. २. ३.... २७.२८.२९.३०}} = \text{१६२०२८८०१०५३०३४७४२४}$$

$$\text{पैंतीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....३९.३८.३७.३६}}{\text{१. २. ३ . २६.२७.२८.२९}} = \text{१३८८८१८२९४७४०२९७७९२}$$

$$\text{छत्तीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....४०.३९.३८.३७}}{\text{१. २. ३ ... २५.२६.२७.२८}} = \text{१११८७७०२९२९८५२३९८८८}$$

$$\text{सैंतीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....४१.४०.३९.३८}}{\text{१.२.३ .... २४.२५.२६.२७}} = \text{८४६६३६९७८४७५३१६६७२}$$

$$\text{अड़तीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ . ४२.४१.४०.३९}}{\text{१. २. ३....२३.२४.२५.२६}} = \text{६०१५५७८५३१२७१९८६८८}$$

$$\text{उनचालीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ .. ४३.४२.४१.४०}}{\text{१. २. ३ ...२२.२३.२४.२५}} = \text{४०१०३८५६८७५१४६५७९२}$$

$$\text{चालीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....४४.४३.४२.४१}}{\text{१. २. ३ .. २१.२२.२३.२४}} = \text{२५०६४९१०५४६९६६६१२०}$$

$$\text{इकतालीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२ ... ४५.४४.४३.४२}}{\text{१. २. ३ ... २०.२१.२२.२३}} = \text{१४६७२१४२७५९१९९९६८०}$$

$$\text{बयालीस संयोगी भंग} = \frac{\text{६४.६३.६२....४६.४५.४४.४३}}{\text{१. २. ३ .. १९.२०.२१.२२}} = \text{८०३४७४४८४४३२३७९२०}$$

तैंतालीस संयोगी भंग = (६४.६३.६२....४८.४७.४६.४५.४४) / (१.२.३ .... १८.१९.२०.२१) =४११०७९९६८७७९३५६८०

चवालीस संयोगी भंग = (६४.६३.६२ ...४९.४८.४७.४६.४५) / (१.२.३ .... १७.१८.१९.२०) =१९६१९७२५७८२६५११२०

पैंतालीस संयोगी भंग = (६४.६३.६२....५०.४९.४८.४७.४६) / (१. २. ३ .... १६.१७.१८.१९) =८७१९८७८१२५६२२७२०

छियालीस संयोगी भंग = (६४.६३.६२....५१.५०.४९.४८.४७) / (१.२.३ .... १५.१६.१७.१८) =३६०१६८८७९१०१८०८०

सैंतालीस संयोगी भंग = (६४.६३.६२....५२.५१.५०.४९.४८) / (१.२.३ .... १४.१५.१६.१७) =१३७९३७०१७५२८३५२०

अड़तालीस संयोगी भंग = (६४.६३.६२ ...५३.५२.५१.५०.४९) / (१.२.३ .... १३.१४.१५.१६) =४८८५२६९३७०७९५८०

उनपचास संयोगी भंग = (६४.६३.६२....५४.५३.५२.५१.५०) / (१.२.३ .... १२.१३.१४.१५) =१५९५१८९९९८६२७२०

पचास संयोगी भंग = (६४.६३.६२....५५.५४.५३.५२.५१) / (१.२.३ .... ११.१२.१३.१४) =४७८५५६९९९५८८१६

इकावन संयोगी भंग = (६४.६३.६२....५६.५५.५४.५३.५२) / (१. २. ३ .... १०.११.१२.१३) =१३१३६८५८८१२२२४

बावन संयोगी भंग = (६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६.५५. ५४. ५३) / (१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२) =३२८४२१४७०३०५६

तिरेपन संयोगी भंग = (६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६.५५.५४) / (१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११) =७४३५९५७८१८२४

चौपन संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६.५५}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०}} = \text{१५१४७३२१४८१६}$$

पचपन संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७.५६}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९}} = \text{२७५४०५८४५१२}$$

छप्पन संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८.५७}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८}} = \text{४४२६१६५३६८}$$

सत्तावन संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९.५८}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६. ७}} = \text{६२१२१६१९२}$$

अट्ठावन संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०.५९}}{\text{१. २. ३. ४. ५. ६}} = \text{७४९७४३६८}$$

उनसठ संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१.६०}}{\text{१. २. ३. ४. ५}} = \text{७६२४५१२}$$

साठ संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२.६१}}{\text{१. २. ३. ४}} = \text{६३५३७६}$$

इकसठ संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३.६२}}{\text{१. २. ३}} = \text{४१६६४}$$

बासठ संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४.६३}}{\text{१.२}} = \text{२०१६}$$

त्रेसठ संयोगी भंग $$= \frac{\text{६४}}{\text{१}} = \text{६४}$$

चौंसठ संयोगी भंग = १

= कुलयोग १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ = एक कम एकट्ठी

गच्छकदी मूलजुदा उत्तरगच्छादिएहि संगुणिदा।
छहि भजिदे जं लद्धं संकलणाए हवे कलणा ॥१६॥[1]

—गच्छ का वर्ग करके उसमें मूल को जोड़ दें, पुनः आदि-उत्तर सहित गच्छ से गुणित करके उसमें छह का भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो वह संकलना की कलना होती है ॥१६॥

इस गाथा द्वारा पूर्वोक्त त्रिसंयोगी भंग लाने चाहिए। यहाँ गच्छ बासठ है। उसका वर्ग इतना होता है—६२ × ६२ = ३८४४। पुनः इसमें मूल बासठ को मिला देने पर इतना होता है—३८४४ + ६२ = ३९०६। पुनः इसे आदि-उत्तर सहित गच्छ से गुणित करने पर इतना होता है—३९०६ × (१ + १ + ६२) = २४९९८४। पुनः इसमें छह का भाग देने पर पूर्वलब्ध त्रिसंयोगी भंग इतने होते हैं—२४९९८४ ÷ ६ = ४१६६४।

इसका कारण यह है कि चौंसठ अक्षरों को क्रम से स्थापित कर पुनः अकार के विवक्षित होने पर प्रथम और द्वितीय अक्ष को ध्रुव करके तीसरा अक्ष आ३कार आदि बासठ अक्षरों पर जब तक संचार करता है तब तक बासठ त्रिसंयोगी भंग प्राप्त होते हैं ६२। पुनः प्रथम अक्ष को अकार पर ही स्थापित कर शेष दो अक्षों को आ३कार और इकार पर स्थापित कर पुनः इनमें से प्रारम्भ के दो अक्षों को ध्रुव करके तृतीय अक्ष के क्रम से संचार करने पर इकसठ त्रिसंयोगी भंग प्राप्त होते हैं ६१।

पुनः अकार अक्ष को ध्रुव करके शेष दो अक्षों को इकार और ईकार पर स्थापित कर तृतीय अक्ष के क्रम से संचार करने पर साठ त्रिसंयोगी भंग प्राप्त होते हैं ६०। इस प्रकार अकार अक्ष को ध्रुव करके शेष दो अक्ष क्रम से संचार करते हुए जब तक सब अक्षरों के अन्त को प्राप्त होते हैं तब तक अकार के बासठ संख्या के संकलन मात्र (६२/२ × ६३ = १९५३) = त्रिसंयोगी भंग उत्पन्न होते हैं।

पुनः आकार के विवक्षित होने पर शेष दो अक्ष क्रम से संचार करते हुए जब तक सब अक्षरों के अन्त को प्राप्त होते हैं तब तक इकसठ संख्या के संकलन मात्र (६१/२ × ६२ = १८९१) आकार के त्रिसंयोगी भंग उत्पन्न होते हैं।

पुनः आ३कार के विवक्षित होने पर साठ के संकलनमात्र (६०/२ × ६३ = १९५३) आ३कार के त्रिसंयोगी भंग उत्पन्न होते हैं।

पुनः इकार के विवक्षित होने पर उनसठ के संकलन मात्र (५९/२ × ६० = १७७०) इकार के त्रिसंयोगी भंग उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार ईकार आदि अक्षरों में प्रत्येक-प्रत्येक के यथाक्रम से अट्ठावन, सत्तावन, छप्पन आदि संख्याओं के संकलनमात्र भंग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न हुई सब संकलनाओं को मिलाने पर चौंसठ अक्षरों के सब त्रिसंयोगी भंग उत्पन्न होते हैं। उनका प्रमाण यह है—४१६६४।

---

१. धवल पु. १३ पृ. २५६।

अब चौंसठ अक्षरों के चार संयोगी भंगों का प्रमाण उत्पन्न कराने पर इकसठ बटे चार से ४१६६४ इन त्रिसंयोगी भंगों के गुणित करने पर चौंसठ अक्षरों के सब चार संयोगी भंग उत्पन्न होते हैं। उनका प्रमाण यह है--६३५३७६।

इसी प्रकार पांच संयोगी और छह संयोगी आदि भंग उत्पन्न करा कर सब भंगों को एकत्र करने पर पहले उत्पन्न कराये गये एक कम एकट्ठीमात्र संयोगाक्षर और उनके निमित्त से उत्पन्न हुए उतने मात्र ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं।

शङ्का—एक अर्थ में विद्यमान दो आदि अक्षरों का संयोग भले ही होवे, परन्तु एक अक्षर का संयोग नहीं बन सकता ; क्योंकि संयोग द्विस्थ होता है अतः उसे एक में मानने में विरोध आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक अर्थ में विद्यमान दो अकारों का एक अक्षर रूप से परिणमन देखा जाता है।

'या श्रीः सा गौः' यह असंयोगी एक अक्षर का उदाहरण नहीं है, क्योंकि, यह संयुक्त अनेक अक्षरों से निष्पन्न हुआ है। तथा यह एक संयोगाक्षर का भी उदाहरण नहीं है, क्योंकि भिन्न जाति के अक्षरों के संयोग को एक अक्षरसंयोग मानने में विरोध आता है। तथा 'वीरं देवं नित्यं वन्दे, वृषभं वरदं सततं प्रणमे, वीरजिनं वीतभयं लोकगुरुं नौमि सदा, कनकनिभं शशिवदनं अजितजिनं शरणमिये' इत्यादि के साथ व्यभिचार भी दिखाना चाहिए।

फिर एकसंयोगी भंग कैसे प्राप्त होता है, ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि—

अक्षरों के संयोग की विवक्षा न करके जब अक्षर ही केवल पृथक्-पृथक् विवक्षित होते हैं तब श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण चौंसठ होता है, क्योंकि इनसे पृथग्भूत अक्षरों के संयोग रूप अक्षर नहीं पाये जाते। श्रुतज्ञान भी चौंसठ प्रमाण ही होता है, योंकि संयुक्त और असंयुक्त रूप से स्थित श्रुतज्ञान के कारणभूत अक्षर चौंसठ ही देखे जाते हैं।

शङ्का—अक्षरों के समुदाय से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान एक अक्षर से कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान—कारण कि प्रत्येक अक्षर में श्रुतज्ञान के उत्पादन की शक्ति का अभाव होने पर उनके समुदाय से भी उसके उत्पन्न होने का विरोध है।

बाह्य एक-एक अर्थ को विषय करने वाले विज्ञान की उत्पत्ति में समर्थ अक्षरों के समुदाय को संयोगाक्षर कहते हैं। यथा—'या श्रीः सा गौः' इत्यादि। ये संयोगाक्षर, इनसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान एक कम एकट्ठी प्रमाण होते हैं।

एक कम एकट्ठीप्रमाण अक्षरों का अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य में विभाजन

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि ।
सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ।।३५५।।

गाथार्थ—मध्यमपद के अक्षरों से समस्त अक्षरों को विभाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने पदप्रमाण अक्षर तो अंग व पूर्व सम्बन्धित हैं। शेष अंगबाह्य के अक्षरों की संख्या है ।।३५५।।

विशेषार्थ—अक्षरसंयोग की अपेक्षा द्रव्य श्रुत का प्रमाण एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ाकोड़ी चवालीस लाख तिहत्तर सौ सत्तर करोड़ पंचानवेलाख इक्यावन हजार छह सौ पन्द्रह (१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५) होता है।[1] क्योंकि चौंसठ अक्षरों के एक दो संयोगादि रूप भंगों से इतने संयोगाक्षरों की उत्पत्ति होती है। पद की अपेक्षा अंगश्रुत (द्वादशांग) का प्रमाण एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच (११२८३५८००५) पद प्रमाण है।

शङ्का—इतने पदों का प्रमाण कैसे प्राप्त होता है ?

समाधान—सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख अठत्तर सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) संयोग अक्षरों का एक मध्यमपद होता है।[2] एक मध्यमपद के संयोगाक्षरों का पूर्वोक्त सब अक्षरों में भाग देने पर पूर्वोक्त अंगपदों की उत्पत्ति होती है।

कोटीशतं द्वादश चैव कोटयो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्या एतच्छ्रुतं पंचपदं नमामि ।।६०।।[3]

—एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच (११२८३५८००५) पद संख्या श्रुतज्ञान की है। शेष ८०१०८१७५ अक्षर रहते हैं। इनमें ३२ अक्षरों का भाग देने पर २५०३-३८०$\frac{15}{32}$ प्रमाण पद चौदह प्रकीर्णकरूप अंगबाह्य का प्रमाण है। अर्थात् अंगबाह्य के अक्षरों का प्रमाण ८०१०८१७५[4] तथा प्रमाणपदों का प्रमाण २५०३३८०$\frac{15}{32}$ है।[5]

अर्थपदों से गणना करने पर अंगश्रुत का प्रमाण संख्यात होता है।[6]

बारह अंगों के नाम और उनके पदों की संख्या

आयारे सुद्दयडे ठाणे समवायणामगे अंगे ।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ।।३५६।।

---

१. गो.जी.गा. ३५० । २. गो.जी.गा. ३३६ । ३. ध.पु. ९ पृ. १९५ । ४. गो.जी.गा. ३५१ । ५. ध.पु. ९ पृ. १९६ व ज.ध.पु. १ पृ. ९३ । ६. ध.पु. ९ पृ. १९६ ।

तोवासयअज्झयणे अंतयडे णुत्तरोववादवसे ।
पण्हाणं वायरणे विवायसुत्ते य पदसंखा ॥३५७॥
अट्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडवि छप्पण्णं ।
सत्तरि अट्ठावीसं चउदालं सोलससहस्सा ॥३५८॥
इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउ दिलक्ख तुरियादी ।
चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसुत्तम्हि ॥३५९॥
वापणनरनोनानं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा ॥३६०॥

गाथार्थ— आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र, इन ग्यारह अङ्गों के पदों की संख्या क्रम से अठारह हजार, छत्तीस हजार, बयालीस हजार, एक लाख चौंसठ हजार, दो लाख अट्ठाईस हजार, पाँच लाख छप्पन हजार, ग्यारह लाख सत्तर हजार, तेईस लाख अट्ठाईस हजार, बानवे लाख चवालीस हजार, तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं। विपाकसूत्र में एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं। इन पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार होता है (४१५०२०००)। बारहवें दृष्टिवाद अंग में सम्पूर्ण पद १ अरब ८ करोड़ ६८ लाख ५६ हजार ५ होते हैं। अङ्गबाह्य सम्बन्धी अक्षरों का प्रमाण आठकरोड़, एक लाख, आठ हजार एक सौ पचहत्तर होता है ॥३५६-३६०॥

विशेषार्थ—अंगप्रविष्ट के अर्थाधिकार बारह प्रकार के हैं। वे ये हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथ वा ज्ञातृ धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

आचारांग—अठारह हजार पदों के द्वारा यह बतलाया गया है कि किस प्रकार चलना चाहिए? किस प्रकार खड़े रहना चाहिए, किस प्रकार बैठना चाहिए? किस प्रकार शयन करना चाहिए? किस प्रकार भोजन करना चाहिए? किस प्रकार संभाषण करना चाहिए? जिससे कि पाप का बन्ध न हो?

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए ।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥७०॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झदि ॥७१॥[1]

—यत्नपूर्वक चलना चाहिए, यत्नपूर्वक ठहरना चाहिए, यत्नपूर्वक बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक सोना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए और यत्नपूर्वक भाषण करना चाहिए, इस प्रकार पापबन्ध नहीं होता।

---

१. ध.पु. १ पृ. ९९; पु. ९ पृ. १९७ व ज.ध.पु. १ पृ. १२२।

इस आचाराङ्ग में चर्याविधि, आठ शुद्धियों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों के भेदों की प्ररूपणा की जाती है।[1] इत्यादि रूप से यह मुनियों के आचरण का वर्णन करता है।[2]

सूत्रकृताङ्ग—छत्तीस हजार (३६०००) पद प्रमाण सूत्रकृताङ्ग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्म क्रियाओं की दिगन्तर शुद्धि से प्ररूपणा की जाती है।[3] तथा यह स्वसमय और परसमय का भी निरूपण करता है।[4] यह अंग स्त्री सम्बन्धी परिणाम, क्लीवता, अस्फुटत्व, काम का आवेश, विलास, आस्फालन-सुख और पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री के लक्षणों का प्ररूपण करता है।[5]

स्थानांग—यह अंग बयालीस हजार पदों के द्वारा जीव और पुद्गल आदि के एक को आदि लेकर एकोत्तर क्रम से स्थानों का वर्णन करता है। यथा—

एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिदो।
चदु संकमणाजुत्तो पंचग्गगुणप्पहाणो य ॥६४॥
छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगि सब्भावो।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसट्ठाणिओ भणिओ ॥६५॥[6]

—यह जीव महात्मा अविनश्वर चैतन्य गुण से अथवा सर्वजीव साधारण उपयोगरूप लक्षण से युक्त होने के कारण एक है। वह ज्ञान और दर्शन, संसारी और मुक्त, अथवा भव्य और अभव्य रूप दो भेदों से दो प्रकार का है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की अपेक्षा, उत्पादव्ययध्रौव्य की अपेक्षा, अथवा द्रव्यगुणपर्याय की अपेक्षा तीन प्रकार का है। नरकादि चार गतियों में परिभ्रमण करने के कारण चार संक्रमणों से युक्त है। औपशमिक आदि पाँच भावों से युक्त होने के कारण पाँच भेद रूप है। मरण समय में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व व अधः इन छह दिशाओं में गमन करने रूप छह अपक्रमों से सहित होने के कारण छह प्रकार है। सात भंगों से उसका सद्भाव सिद्ध है, अतः वह सात प्रकार है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के आस्रव से युक्त होने, अथवा आठ कर्मों या सम्यक्त्वादि आठ गुणों का आश्रय होने से आठ प्रकार का है। नौ पदार्थ रूप परिणमन करने की अपेक्षा नौ प्रकार है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक व साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय रूप दस स्थानों में प्राप्त होने से दस प्रकार का है।[7]

समवायांग में एक लाख चौंसठ हजार (१६४०००) पदों द्वारा सर्व पदार्थों की समानता का विचार किया जाता है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है।[8] उनमें से प्रथम द्रव्य समवाय का कथन इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश परस्पर समान हैं।[9]

शङ्का—प्रदेशों को द्रव्यपना कैसे सम्भव है?

---

१. धवल पु. ६ पृ. १६७। २. जयधवल पु. १ पृ. १२२। ३. धवल पु. १ पृ. ९९, पु. ९ पृ. १९८-१९९। ४. धवल पु. १ पृ. ९९। ५. जयधवल पु. १ पृ. १२२। ६. धवल पु. १ पृ. १००, पु. ९ पृ. १९८, जयधवल पु. १ पृ. १२३। ७. धवल पु. ९ पृ. १९८-१९९। ८. धवल पु. ९ पृ. १९९। ९. जयधवल पु. १ पृ. १२४।

समाधान—नहीं, क्योंकि पर्यायार्थिकनय का अवलम्बन करने पर प्रदेशों के भी द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है। प्रदेशकल्पना पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से होती है, इसलिए पर्यायार्थिकनय का अवलम्बन करके प्रदेश में द्रव्य की सिद्धि हुई है।[1] जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक और नन्दीश्वर द्वीपस्थ एक वापी, इनके समान रूप से एक लाख योजन विस्तार की अपेक्षा क्षेत्र समवाय होने से क्षेत्र-समवाय है।[2] अथवा प्रथम नरक का पहला इन्द्रक सीमन्तक बिल, मनुष्यक्षेत्र, सौधर्मकल्प का पहला इन्द्रक ऋतुविमान और सिद्धलोक ये चारों क्षेत्र की अपेक्षा सदृश हैं, यह क्षेत्र समवाय है। समय, आवली, क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, युग, पूर्व, पर्व, पल्य, सागर, अवसर्पिणी, और उत्सर्पिणी ये परस्पर समान हैं। अर्थात् एक समय दूसरे समय के समान है, एक आवली दूसरी आवली के समान है; इसी तरह आगे भी समझना चाहिए। यह काल समवाय है। केवलज्ञान केवलदर्शन के बराबर है यह भाव समवाय है।[3]

व्याख्याप्रज्ञप्ति—यह दो लाख अट्ठाईस हजार पदों द्वारा क्या जीव है, क्या जीव नहीं है, जीव कहाँ उत्पन्न होता है और कहाँ से आता है, इत्यादिक साठ हजार प्रश्नों के उत्तरों का तथा छयानवे हजार छिन्नच्छेदों से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन करता है।[4]

नाथ धर्म कथा अथवा ज्ञातृ धर्म कथा पाँच लाख छप्पन हजार पदों द्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय के प्रस्थापन में भगवान तीर्थंकर की तालु व ओष्ठ पुट के हलन-चलन के बिना प्रवर्तमान समस्त भाषाओं स्वरूप दिव्यध्वनि द्वारा दी गई धर्मदेशना की विधि का, संशययुक्त गणधरदेव के संशय को नष्ट करने की विधि का तथा बहुत प्रकार कथा व उपकथाओं के स्वरूप का कथन करता है।[5]

शङ्का—दिव्यध्वनि कैसी होती है?

समाधान—वह सर्वभाषामयी है, अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनन्तपदार्थ समाविष्ट हैं (अनन्त पदार्थों का वर्णन है), जिसका शरीर बीजपदों से घड़ा गया है, जो प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीन संध्याओं में छह-छह घड़ी तक निरन्तर खिरती रहती है और उक्त समय को छोड़कर इतर समय में गणधरदेव संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को प्राप्त होने उनके प्रवृत्ति करने (उनके संशयादि को दूर करने) का जिसका स्वभाव है, संकर और व्यतिकर दोषों से रहित होने के कारण जिसका स्वरूप विशद है और उन्नीस (अध्ययनों के द्वारा) धर्मकथाओं का प्रतिपादन करना जिसका स्वभाव है; इस प्रकार स्वभाववाली दिव्यध्वनि समझनी चाहिए।[6]

उपासकाध्ययन ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म का निरूपण करता है। यहाँ उपयोगी गाथा इस प्रकार है—

दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रादिभत्ते य।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमणमुद्दिट्ठ-देसविरदी य ॥७॥[7]

---

१. जयधवल पु. १ पृ. १२४। २. धवल पु. ९ पृ. १९९। ३. जयधवल पु. १ पृ. १२४-१२५। ४. धवल पु. ९ पृ. २०० व जयधवल पु. १ पृ. १२५। ५. धवल पु. ९ पृ. २००। ६. जयधवल पु. १ पृ. १२६। ७. धवल पु. १ पृ. १०२ व धवल पु. ९ पृ. २०१।

दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, प्रारम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन करता है।[1]

अन्तकृद्दशांग तेबीस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में नाना-प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर प्रातिहार्य (अतिशय विशेषों) को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए दस-दस अन्तकृतकेवलियों का वर्णन करता है। **तत्त्वार्थभाष्य** में भी कहा है—"जिन्होंने संसार का अन्त किया वे अन्तकृतकेवली हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किबिल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दस अन्तकृतकेवली हुए हैं। इसी प्रकार श्री ऋषभदेव आदि तेबीस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दस-दस अनगार दारुण उपसर्गों को जीत कर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत केवली हुए। इस अंग में उन दस-दस का वर्णन किया जाता है अत एव वह अन्तकृद्दशांग कहलाता है।"[2]

अनुत्तरौपपादिकदशांग नामक अंग में बानवे लाख चवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहकर और प्रातिहार्य प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में गये हुए दस-दस अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है। **तत्त्वार्थभाष्य** में भी कहा है—उपपाद जन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। जो अनुत्तरों में उपपाद जन्म से पैदा होते हैं, वे अनुत्तरौपपादिक हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस अनुत्तरौपपादिक श्री वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में हुए हैं। इसी तरह श्री ऋषभनाथ आदि तेबीस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दस-दस महा साधु दारुण उपसर्गों को जीतकर विजयादिक पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न हुए। इस प्रकार अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दस साधुओं का वर्णन जिसमें किया जाय वह अनुत्तरौपपादिक दशांग नाम का अंग है।[3]

प्रश्नव्याकरण नामका अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं का (तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी धन-धान्य, लाभ-अलाभ, जीवित-मरण, जय और पराजय सम्बन्धी प्रश्नों के पूछने पर उनके उपाय का) वर्णन करता है।

जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का और दूसरे समयों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकार के पदार्थों का प्ररूपण करती है, उसे **आक्षेपणी कथा** कहते हैं। जिसमें पहले परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं, अनन्तर परसमय की आधारभूत अनेक एकान्तदृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह द्रव्य नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है, उसे **विक्षेपणी कथा** कहते हैं। पुण्य के फल का कथन करने वाली कथा को **संवेदनी कथा** कहते हैं।

शङ्का - पुण्य के फल कौनसे हैं ?

---

१. धवल पु. १ पृ. १०२, पु. ६ पृ. २०१, जयधवल पु. १ पृ. १२६-१३०। २. धवल पु. १ पृ. १०२-१०३ व धवल पु. ६ पृ. २०१। ३. धवल पु. १ पृ. १०३-१०४, पु. ६ पृ. २०२, जयधवल पु. १ पृ. १३०।

समाधान—तीर्थङ्कर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को **निर्वेदनी कथा** कहते हैं।

शङ्का—पाप के फल कौनसे हैं?

समाधान—नरक, तिर्यंच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्रच आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।

अथवा, संसार, शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं कहा भी है—

आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम्।
संवेगिनीं धर्मफलप्रपञ्चां निर्वेदिनीं चाह कथां विरागाम्॥[1]

—तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। तत्त्व से दिशान्तर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् परमत की एकान्तदृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली **संवेगिनी** कथा है और वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेदिनी कथा है।

इन कथाओं का प्रतिपादन करते समय जो जिनवचन को नहीं जानता है अर्थात् जिसका जिनवचन में प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है और परसमय की प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे, इसलिए स्वसमय के रहस्य को नहीं जानने वाले पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं का उपदेश देना चाहिए। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को भलीभाँति समझलिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है, उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनवचन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है, ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिए। प्ररूपण करके उत्तम रूप से ज्ञान कराने वाले के लिए, यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिए योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु की कथा का उपदेश देना चाहिए। यह प्रश्नव्याकरण नाम का अंग प्रश्न के अनुसार स्त, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण करता है।

विपाकसूत्र नाम का अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मों के फल का वर्णन करता है।

ग्यारह अंगों के कुल पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है।

---

१. ध. पु. १ पृ. १०६ गा. ७५।

बारहवें अंग दृष्टिवाद के भेद और उनके पदों का प्रमाण

चंदरविजंबुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती ।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥३६१॥
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच ।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥३६२॥
गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा ।
मननन धममननोननंनामं रनधजधराननजलादी ॥३६३॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे ।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥३६४॥
पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं ।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं ॥३६५॥
छस्सय पण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा ।
बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥३६६॥

गाथार्थ—बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्म के पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीप-समुद्र-प्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति। चूलिका के पाँच भेद हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, रूपगता। इनके पदों का प्रमाण क्रम से चन्द्रप्रज्ञप्ति में छत्तीस लाख पाँच हजार, सूर्यप्रज्ञप्ति में पाँच लाख तीन हजार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में तीन लाख पच्चीस हजार, द्वीप-समुद्र-प्रज्ञप्ति में बावन लाख छत्तीस हजार, व्याख्याप्रज्ञप्ति में चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं। सूत्र में अठासी लाख पद हैं। प्रथमानुयोग में पाँच हजार पद हैं। चौदह पूर्व में पचानवे करोड़ पचास लाख पद हैं। पाँचों चूलिकाओं में से प्रत्येक में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं। पाँचों परिकर्म के पदों का जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार है। पाँचों चूलिका के पदों का जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार है। ५०, ४८, ३५, ३०, ५०, ५०, १३००, ६०, ४२, ५५, १३००, ६५०, ४५० तथा ६२५; इन चौदह संख्याओं में से प्रत्येक को दो-दो लाख से गुणित करें। विशेष यह है कि प्राप्त १४ गुणनफलों में से पंचम गुणनफल में एक कम करना चाहिए तथा छठे गुणनफल में ६ जोड़ने चाहिए। इस प्रकार अब प्राप्त अभिनव चौदह ही संख्याएँ चौदहपूर्वों में से प्रत्येक पूर्व के पदों की संख्यारूप है। [सार यह है कि चौदह पूर्वों में क्रम से एक करोड़, छयानवे लाख, सत्तर लाख, साठ लाख, एक कम एक करोड़, एक करोड़ छह, छब्बीस करोड़, एक करोड़ अस्सी लाख, चौरासी लाख, एक करोड़ दस लाख, छब्बीस करोड़, तेरह करोड़, नौ करोड़ और चौदहवें पूर्व में बारह करोड़ पचास लाख पद है] ॥३६१-३६६॥

विशेषार्थ—'दृष्टिवाद अंग' यह गौण्य नाम है, क्योंकि इसमें अनेक दृष्टियों का वर्णन है। यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग आदि की अपेक्षा संख्यात रूप है और अर्थ की अपेक्षा

अनन्त रूप है ।[1] क्योंकि इस दृष्टिवाद के प्रमेय अनन्त हैं ।[2] इसमें तदुभयवक्तव्यता (स्वसमय और पर समय दोनों वक्तव्यता) है ।

इस दृष्टिवाद अंग के पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । उनमें से परिकर्म के पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ।[3]

चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म छत्तीस लाख पाँच हजार पदों के द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है । **सूर्यप्रज्ञप्ति** नामका परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानिवृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है । **जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति** नामका परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है । **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति** नामका परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धारपल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीपसागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है । **व्याख्याप्रज्ञप्ति** नामका परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरुपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव इन सबका वर्णन करता है ।

दृष्टिवाद अंग का **सूत्र** नाम का अर्थाधिकार अठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता भी है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्तिस्वरूप ही है, जीव अस्तिस्वरूप ही है, पृथिवी आदिक पाँच भूतों के समुदायरूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्वपक्षरूप से वर्णन करता है । यह त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है । कहा भी है—

अट्ठासी-अहियारेसु चउण्हमहियाररणमत्थरिणद्देसो ।
पढमो अबंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धव्वो ।।३६।।
तदियो य रिणयइ-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि ।[4]

—इस सूत्र नामक अर्थाधिकार के अठासी अधिकारों में से चार अधिकारों का अर्थनिर्देश मिलता है । उनमें पहला अधिकार अबन्धकों का दूसरा त्रैराशिकवादियों का, तीसरा नियतिवाद का समझना चाहिए तथा चौथा अधिकार स्वसमय का प्ररूपक है ।

दृष्टिवाद अंग का **प्रथमानुयोग** अर्थाधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है । कहा भी है –

---

१. ध.पु. १ पृ. १०९ । २. "अत्थादो अणंतं, पमेयाणंतियादो" [धवल पु. ९ पृ. २१२] । ३. धवल पु. १ पृ. १०९ । ४. धवल पु. १ पृ. ११२ ।

बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ।।७७।।
पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टि-वंसो दु।
विज्जहराणं तदियो चउत्थयो वासुदेवाणं ।।७८।।
चारण-वंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो ।।७९।।
णवमो य इक्खुयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धव्वो।
वाईणेक्कारसमो बारसमो णाह-वंसो दु ।।८०।।[1]

—जिनेन्द्रदेव ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का, छठा प्रज्ञा-श्रमणों का वंश है। सातवाँ कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नवाँ इक्ष्वाकुवंश, दसवाँ काश्यपवंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ नाथवंश है ।।७७-८०।।

दृष्टिवाद अंग का **पूर्वगत** नामका अर्थाधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का वर्णन करता है।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है। उनमें से **जलगता चूलिका** दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों द्वारा जल में गमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन करती है। **स्थलगता चूलिका** उतने ही २०९८९२०० पदों द्वारा पृथिवी के भीतर गमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि-सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है। **मायागता चूलिका** उतने ही २०९८९२०० पदों द्वारा (मायारूप) इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन करती है। **रूपगता चूलिका** उतने ही २०९८९२०० पदों द्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है। **आकाशगता चूलिका** उतने ही २०९८९२०० पदों द्वारा आकाश में गमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार पद है।

जो पूर्वों को प्राप्त हो अथवा जिसने पूर्वों के स्वरूप को प्राप्त कर लिया हो उसे **पूर्वगत** कहते हैं। इस तरह 'पूर्वगत' यह गौण्यनाम है। वह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग-द्वार की अपेक्षा संख्यात और अर्थ की अपेक्षा अनन्तप्रमाण है। तीनों वक्तव्यताओं में से यहाँ स्व-समयवक्तव्यता समझनी चाहिए। अर्थाधिकार के चौदह भेद हैं। वे ये हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व,

---

१. ध. पु. १ पृ. ११२।

प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसार पूर्व ।

उनमें से, **उत्पादपूर्व** दसवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन करता है। [अग्र अर्थात् द्वादशांगों में प्रधानभूत वस्तु के अयन अर्थात् ज्ञान को अग्रायण कहते हैं और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे **अग्रायणीयपूर्व** कहते हैं।] यह पूर्व चौदह वस्तुगत दो सौ अस्सी प्राभृतों के छयानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र अर्थात् परिमाण का कथन करता है। **वीर्यानुप्रवादपूर्व** आठ वस्तुगत एक सौ साठ प्राभृतों के सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भाववीर्य और तपवीर्य का वर्णन करता है। **अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व** अठारह वस्तुगत तीन सौ साठ प्राभृतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव और अजीव के अस्तित्व और नास्तित्वधर्म का वर्णन करता है। जैसे जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है। जिस समय वह स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टय द्वारा अक्रम से युगपत् विवक्षित होता है, उस समय स्यादवक्तव्य रूप है। स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म और परद्रव्यादि रूप द्वितीयधर्म में जिस समय क्रमसे विवक्षित होता है, उस समय कथंचित् अस्ति-नास्ति रूप है। स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्यादवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय विवक्षित होता है, उस समय कथंचित् अस्तिअवक्तव्यरूप है। स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है उस समय कथंचित् नास्ति अवक्तव्यरूप है। स्यादस्ति-रूप प्रथम धर्म, स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है, उस समय कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप जीव है। इसी तरह अजीवादिक का भी कथन करना चाहिए।

ज्ञानप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान तीन अज्ञानों का वर्णन करता है तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्त रूप ज्ञानादि तथा इसी तरह ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है। **सत्यप्रवादपूर्व** बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्यवचन और दस प्रकार के सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है। असत्य नहीं बोलने को अथवा वचनसंयम अर्थात् मौन के धारण करने को वचनगुप्ति कहते हैं। मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वामूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनसंस्कार के कारण हैं। शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचनप्रयोग का स्वरूप सरल है। अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशून्यवचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निकृतिवचन, अप्रणतिवचन, मोषवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शन वचन के भेद से भाषा बारह प्रकार की है। यह इसका कर्ता है इस तरह अनिष्टकथन करने को **अभ्याख्यानभाषा** कहते हैं। परस्पर विरोध बढ़ाने वाले वचनों को **कलहवचन** कहते हैं। पीछे से दोष प्रकट करने को **पैशून्यवचन** कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध से रहित वचनों को **अबद्धप्रलापवचन** कहते हैं। इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग उत्पन्न करने वाले वचनों को **रतिवचन** कहते हैं। इनमें अरति उत्पन्न करने वाले वचनों को **अरति-वचन** कहते हैं। जिस वचन को सुनकर परिग्रह के अर्जन और रक्षण करने में आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे **उपधिवचन** कहते हैं। जिस वचन को अवधारण करके जीव वाणिज्य में ठगने रूप प्रवृत्ति

करने में समर्थ होता है उसे **निकृतिवचन** कहते हैं। जिस वचन को सुनकर तप और ज्ञान से अधिक गुणवाले पुरुषों में भी जीव नम्रीभूत नहीं होता है उसे **अप्रणतिवचन** कहते हैं। जिस वचन को सुनकर चौर्यकर्म में प्रवृत्ति होती है उसे **मोषवचन** कहते हैं। समीचीनमार्ग का उपदेश देनेवाले वचन को **सम्यग्दर्शनवचन** कहते हैं। मिथ्यामार्ग का उपदेश देने वाले वचन को **मिथ्यादर्शन वचन** कहते हैं। जिनमें वक्तृपर्याय प्रकट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रिय से आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत्य अनेक प्रकार का है।

मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्य के व्यवहार के लिए जो संज्ञा की जाती है उसे **नामसत्य** कहते हैं। जैसे—ऐश्वर्यादि गुणों के न होने पर भी किसी का नाम 'इन्द्र' ऐसा रखना नामसत्य है। पदार्थ के नहीं होने पर भी रूप की मुख्यता से जो वचन कहे जाते हैं, उसे **रूपसत्य** कहते हैं। जैसे—चित्रलिखित पुरुष आदि में चैतन्य और उपयोगादिक रूप अर्थ के नहीं रहने पर भी 'पुरुष' इत्यादि कहना रूपसत्य है। मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी कार्य के लिए जो द्यूतसम्बन्धी अक्ष (पासा) आदि में स्थापना की जाती है, उसे **स्थापनासत्य** कहते हैं। सादि और अनादि भावों की अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे **प्रतीत्यसत्य** कहते हैं। लोक में जो वचन संवृति अर्थात् कल्पना के आश्रित बोले जाते हैं, उन्हें **संवृतिसत्य** कहते हैं। जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणों के कहने पर भी जो पंक अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं। धूप के सुगन्धित चूर्ण के अनुलेपन और प्रघर्षण के समय अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंच आदि-रूप व्यूहरचना के समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्यों के विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेष के प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें **संयोजनासत्य** कहते हैं। आर्य और अनार्य के भेद से बत्तीस देशों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्राप्त करानेवाले वचन को **जनपदसत्य** कहते हैं। ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदि धर्मों के उपदेश करने वाले जो वचन हैं उन्हें **देशसत्य** कहते हैं। छद्मस्थों का ज्ञान यद्यपि द्रव्य की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्म के पालन करने के लिए यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है इत्यादि रूप से जो संयत और श्रावक के वचन हैं, उन्हें **भावसत्य** कहते हैं। आगमगम्य प्रतिनियत छह प्रकार की द्रव्य और उनकी पर्यायों की यथार्थता को प्रकट करने वाले जो वचन हैं उन्हें **समयसत्य** कहते हैं।

आत्मप्रवादपूर्व सोलह वस्तुगत तीन सौ बीस प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है। कहा भी है—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ॥८१॥
सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो।
असंकडो य खेत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य ॥८२॥[1]

—जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गल है, वेद है, विष्णु है, स्वयम्भू है, शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है ॥८१-८२॥

---

१. ध.पु. १ पृ. ११८-११९।

जीता है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था, इसलिए जीव है। शुभ और अशुभ कार्य करता है इसलिए कर्त्ता है। सत्य-असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलता है, इसलिए वक्ता है। इसके प्राण पाये जाते हैं इसलिए प्राणी है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी के भेद से चार प्रकार के संसार में पुण्य और पाप का भोग करता है, इसलिए भोक्ता है। छह प्रकार के संस्थान और नाना प्रकार के शरीरों द्वारा पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिए पुद्गल है। सुख और दुःख का वेदन करता है, इसलिए वेद है। अथवा जानता है, इसलिए वेद है। प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करता है इसलिए विष्णु है। स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिए स्वयम्भू है। संसार अवस्था में इसके शरीर पाया जाता है, इसलिए शरीरी है। मनु ज्ञान को कहते हैं, उसमें यह उत्पन्न हुआ है, इसलिए मानव है। स्वजन सम्बन्धी मित्रवर्ग में आसक्त रहता है, इसलिए सक्ता है। चार गति रूप संसार में उत्पन्न होता है और दूसरों को उत्पन्न करता है, इसलिए जन्तु है। इसके मानकषाय पाई जाती है, इसलिए मानी है। इसके माया कषाय पाई जाती है, इसलिए मायी है। इसके तीन योग होते हैं, इसलिए योगी है। अतिसूक्ष्म देह मिलने से संकुचित होता है इसलिए संकुट है। सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है, इसलिए असंकुट है। क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूप को जानता है, इसलिए क्षेत्रज्ञ है। आठ कर्मों के भीतर रहता है इसलिए अन्तरात्मा है।

कर्मप्रवादपूर्व बीस वस्तुगत चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है। **प्रत्याख्यानपूर्व** तीस वस्तुगत छह सौ प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य, भाव आदि की अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमितकालरूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन करता है। **विद्यानुवादपूर्व** पन्द्रह वस्तुगत तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दस लाख पदों द्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है। **कल्याणवादपूर्व** दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चारक्षेत्र, उपपादस्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है। **प्राणावायपूर्व** दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों द्वारा शरीरचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किये गए भस्मलेपन, सूत्रबन्धनादि कर्म, जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेदप्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है। **क्रियाविशालपूर्व** दसवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों द्वारा लेखनकला आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्रीसम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्यसम्बन्धी गुणदोषविधि का और छन्दनिर्माण कला का वर्णन करता है। **लोकबिन्दुसारपूर्व** दसवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्षसुख का वर्णन करता है।

इन चौदह पूर्वों में सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पच्चानवे है और सम्पूर्ण प्राभृतों का जोड़ तीन हजार नौ सौ है।

अङ्गबाह्य श्रुत के भेद

सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥३६७॥

कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं ।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं ।।३६८।।

गाथार्थ—अङ्गबाह्य श्रुत के चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ।।३६७-३६८।।

विशेषार्थ—अंगबाह्य अर्थात् अनंगश्रुत १४ प्रकार का है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका ।[1]

द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक के भेद से सामायिक चार प्रकार की है ।[2]

णामे ठवणा दव्वे खेत्ते काले व तहेव भावे य ।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेवो छव्विहो णेओ ।।१७।। [मूलाचार ७]

अथवा नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक और भावसामायिक इन छह भेदों द्वारा समता भाव के विधान का वर्णन करना सामायिक है ।[3] सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग और द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है । ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मंडव, पट्टन, द्रोणमुख और जनपद आदि में रागद्वेष का निरोध करना अथवा अपने निवासस्थान में साम्पराय (कषाय) का निरोध करना क्षेत्रसामायिक है । बसन्त आदि छह ऋतु-विषयक कषाय का निरोध करना कालसामायिक है । जिसने समस्त कषायों का निरोध कर दिया है, तथा मिथ्यात्व का वमन कर दिया है और जो नयों में निपुण है, ऐसे पुरुष को बाधारहित और अस्खलित जो छह द्रव्यविषयक ज्ञान होता है वह भाव सामायिक है। अथवा तीनों ही संध्याओं में या पक्ष और मास के सन्धि दिनों में, या अपने इच्छित्त समय में बाह्य और अन्तरङ्ग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना सामायिक है । सामायिक नामक प्रकीर्णक इस प्रकार काल का आश्रय करके और भरतादि क्षेत्र, संहनन तथा गुणस्थानों का आश्रय करके परिमित और अपरिमितरूप से सामायिक की प्ररूपणा करता है ।[4] मनुष्यों-तिर्यंचों आदि के शुभ-अशुभ नामों में रागद्वेष का निरोध करना नाम सामायिक है । सुन्दर स्थापना या असुन्दर स्थापना में रागद्वेष का निरोध करना स्थापना सामायिक है ।[5] जैसे कुछ मूर्तियाँ सुस्थित होती हैं, सुप्रमाण तथा सर्व अवयवों से सम्पूर्ण होती हैं, तदाकाररूप तथा मन को आह्लाद करने वाली होती है तो कुछ मूर्तियाँ दुःस्थित प्रमाणरहित, सर्व अवयवों से परिपूर्णता रहित, अतदाकार भी होती हैं [मूर्तिनिर्माता के यहाँ दोनों ही प्रकार की जिनमूर्तियाँ देखी जा सकती हैं] इनमें रागद्वेष का अभाव होना स्थापना सामायिक है।

चतुर्विंशतिस्तव अर्थाधिकार उस-उस काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करने की

---

१. धवल पु. ९ पृ. १८७-१८८ । २. जयधवल पु. १ पृ. ९७ । ३. धवल पु. १ पृ. ९६ । ४. जयधवल पु १ पृ. ९८-९९ एवं नवीन संस्करण पृ. ८९-९० । ५. मूलाचार ७/१७ संस्कृत टीका एवं ज्ञानपीठ प्रकाशन का मूलाचार भाग १ पृ. ३९३ से ३९५ ।

विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थंकरों की वन्दना की सफलता का वर्णन करता है।[1]

शङ्का—छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत श्रावकधर्म का उपदेश करने वाले होने से चौबीसों ही तीर्थंकर सावद्य सदोष हैं। दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं, यह चारों प्रकार का श्रावक धर्म छहकाय के जीवों की विराधना का कारण है, क्योंकि भोजन बनाना, दूसरों से बनवाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूवना और खुववाना आदि व्यापारों से होने वाली जीवविराधना के बिना दान नहीं हो सकता। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंट का गिरना और गिरवाना तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता। तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता।

अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है। इसलिए शील की रक्षा भी सावद्य है। अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता। इसलिए उपवास भी सावद्य है। अथवा 'स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रस जीवों को मत मारो' श्रावकों को इस प्रकार का उपदेश देने से जिनदेव निरवद्य नहीं हो सकते। अथवा अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आतप में और खुले हुए स्थानों में निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य और ध्यान आदि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण भी जिन निरवद्य नहीं हैं इसलिए वे वन्दनीय नहीं हैं।[2]

समाधान—यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीयकर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बन्ध नहीं होता। वेदनीय कर्म में भी स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके कषाय का अभाव है। योग के कारण प्रकृति-बन्ध व प्रदेशबन्ध के अस्तित्व का भी कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्थितिबन्ध के बिना उदय रूप से आने वाले निषेकों में उपचार से बन्ध के व्यवहार का कथन किया गया है। साथ ही असंख्यात गुणी श्रेणीरूप से वे प्रतिसमय पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उनके कर्मों का संचय नहीं बन सकता। तीर्थंकरों के मन वचन काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होतीं जिससे उनके नवीन कर्मों का बन्ध होवे। जिस प्रकार सूर्य व कल्पवृक्ष की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं उसी प्रकार उनके मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक समझना चाहिए।[3]

तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ ॥५४॥[4]

---

१. धवल पु. १ पृ. ९६। २. जयधवल पु. १ पृ. १००-१०१। ३. जयधवल पु. १ पृ. १०१-१०२।
४. जयधवल पु. १ पृ. १०५। नवीन संस्करण पृ. ९६।

तीर्थंकर का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकर को पुण्यरूप फल प्राप्त नहीं होता। तथा दान पूजा आदि आरम्भ के करनेवाले वचन, उन्हें कर्मबन्ध से लिप्त नहीं करते हैं।

संजद-धम्मकहा वि य उवासयाणं सदारसंतोसो।
तसवहविरई सिक्खाथावरघादो त्ति णाणुमदो ॥५५॥[1]

—संयतासंयतों की धर्मकथा से स्वदारसन्तोष और त्रसवधविरति का उपदेश दिया गया है उससे स्थावरघात की अनुमति नहीं दी गई है। संयम के उपदेश द्वारा निवृत्ति ही इष्ट है, उससे फलित होने वाली प्रवृत्ति इष्ट नहीं है।

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइं जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंते कउ सदोसो ॥५७॥[2]

—जीवों में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित हैं, उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार का उद्घाटन करता है (शुभास्रव के कारणभूत कर्मों को करता है) वह सदोष कैसे हो सकता है? ॥५७॥

इसलिए चौबीसों तीर्थंकर निरवद्य हैं और इसीलिए वे विबुधजनों द्वारा वन्दनीय हैं।[3]

यदि कोई ऐसी आशंका करे कि तीर्थंकर सुरदुन्दुभि, ध्वजा, चमर, सिंहासन, धवल और निर्मल छत्र, भेरी, शंख तथा काहल (नगारा) आदि परिग्रह रूपी गुदड़ी के मध्य विद्यमान रहते हैं और वे त्रिभुवन को अवलम्बन देने वाले हैं अर्थात् तीन लोक के सहारे हैं, इसलिए वे निरवद्य नहीं हैं; सो उसकी ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है क्योंकि चार घाती कर्मों के अभाव से प्राप्त हुई नौ केवललब्धियों से वे शोभित हैं। इस कारण उनका पाप के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता है। इत्यादि-रूप से चतुर्विंशति तीर्थंकर विषयक दुर्नयों का निराकरण करके नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव के भेद से भिन्न २४ तीर्थंकरों के स्तवन के विधान का और उसके फल का कथन **चतुर्विंशतिस्तव** करता है।[4]

"चौबीसों तीर्थंकरों के गुणों के अनुसरण द्वारा उनके १००८ नामों का ग्रहण करना अर्थात् पाठ करना **नामस्तव** है। जो सद्भाव और असद्भावरूप स्थापना में स्थापित है और जो बुद्धि के द्वारा तीर्थंकरों से एकत्व अर्थात् अभेद को प्राप्त है अतएव तीर्थंकर के समस्त अनन्त गुणों को धारण करती हैं, ऐसी कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं के स्वरूप का अनुसरण करना अथवा उनका कीर्तन करना **स्थापना-स्तव** है।

"जिनभवन का स्तवन जिनस्थापनास्तव अर्थात् मूर्ति में स्थापित जिनभगवान के स्तवन में अन्तर्भूत है, अतः उसका यहाँ पृथक् प्ररूपण नहीं किया है। जो विष, शस्त्र, अग्नि, पित्त, वात और कफ से उत्पन्न होनेवाली अशेष वेदनाओं से रहित हैं, जिन्होंने अपने प्रभामंडल के तेज से दशों दिशाओं

---

१. ज.ध.पु. १ पृ. १०५। २. ज.ध.पु. १ पृ. १०६। ३. ज.ध.पु. १ पृ. १०८। ४. जयधवल पु. १ पृ. १०८/८४।

में बारह योजन तक अन्धकार को दूर कर दिया है, जो स्वस्तिक, अंकुश आदि चौंसठ लक्षण-चिह्नों से व्याप्त हैं, जिनका शुभ संस्थान अर्थात् समचतुरस्र संस्थान और शुभ संहनन अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन है, सुरभि गंध से जिन्होंने त्रिभुवन को आमोदित कर दिया है, जो रक्तनयन, कटाक्षरूप बाणों का छोड़ना, स्वेद, रज आदि विकार आदि से रहित हैं, जिनके नख और रोम योग्य प्रमाण में स्थित हैं, जो क्षीरसागर के तट के तरंगयुक्त जल के समान शुभ्र तथा सुवर्णदंड से युक्त चौंसठ चामरों से सुशोभित हैं तथा जिनका वर्ण (रंग) शुभ है ऐसे चौबीसों तीर्थंकरों के शरीरों के स्वरूप का अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना द्रव्यस्तव है। उन चौबीस जिनों के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अव्याबाध और विरागता आदि गुणों के अनुसरण करने की प्ररूपणा करना भावस्तव है।[1]

--एक तीर्थंकर को नमस्कार करना वन्दना है।[2]

शङ्का--एक जिन और एक जिनालय की वन्दना कर्मों का क्षय नहीं कर सकती है क्योंकि इससे शेष जिन और जिनालयों की आसादना होती है, इसलिए वह आसादना द्वारा उत्पन्न हुए अशुभ कर्मों के बन्धन का कारण है। तथा एक जिन या जिनालय की वन्दना करने वाले को मोक्ष या जैनत्व नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि वह पक्षपात से दूषित है। इसलिए उसके ज्ञान और चारित्र में कारण सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। अतएव एक जिन या जिनालय को नमस्कार करना नहीं बन सकता है?

समाधान—एक जिन या जिनालय की वन्दना करने से पक्षपात तो होता ही नहीं है, क्योंकि वन्दना करने वाले के 'मैं एक जिन या जिनालय की ही वन्दना करूंगा, अन्य की नहीं' ऐसी प्रतिज्ञारूप नियम नहीं पाया जाता है। तथा इससे वन्दना करने वाले ने शेष जिन और जिनालयों की नियम से वन्दना नहीं की ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख आदि के द्वारा अनन्त जिन एकत्व को प्राप्त हैं, अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुण सभी में समान-रूप से पाये जाते हैं, इसलिए उनमें इन गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है, अतएव एक जिन या जिनालय की वन्दना करने से सभी जिन या जिनालयों की वन्दना हो जाती है। यद्यपि ऐसा है तो भी चतुर्विंशतिस्तव में वन्दना का अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय के एकत्व अर्थात् अभेद मानने में विरोध आता है। तथा सभी पक्षपात अशुभ कर्मबन्ध के हेतु हैं ऐसा नियम भी नहीं है, क्योंकि जिनका मोह क्षीण हो गया है ऐसे जिन भगवान विषयक पक्षपात में अशुभ कर्मों के बन्ध की हेतुता नहीं पाई जाती है अर्थात् जिन भगवान का पक्ष स्वीकार करने से अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होता है। यदि कोई ऐसा आग्रह करे कि एक जिन की वन्दना का जितना फल है, शेष जिनों की वन्दना का भी उतना ही फल होने से शेष जिनों की वन्दना करना सफल नहीं है। अत: शेष जिनों की वन्दना में अधिक फल नहीं पाया जाने के कारण एक जिन की ही वन्दना करनी चाहिए। अथवा अनन्त जिनों में छद्मस्थ के उपयोग की एक साथ विशेषरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए भी एक जिन की वन्दना करनी चाहिए, सो इस प्रकार का यह एकान्त आग्रह भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार सर्वथा एकान्त का निश्चय करना दुर्नय है। इस तरह यहाँ जो प्रकार बताया है उसी प्रकार से विवाद का निराकरण करके वन्दनास्तव एक जिन की वन्दना की

---

१. जयधवल पु. १ पृ. ११०/८५। २. जयधवल पु. १ पृ. १११/८६-८७।

निर्दोषता का ज्ञान कराकर वन्दना के भेद और उनके फलों का प्ररूपण करता है।

[1]दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमस्थानिक इसप्रकार **प्रतिक्रमण** सात प्रकार का है। सर्वातिचारिक और त्रिविधाहारत्यागिक नामके प्रतिक्रमण उत्तम स्थान प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत होते हैं। २८ मूलगुणों के अतिचार विषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथ प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि ईर्यापथ प्रतिक्रमण अवगत अतिचारों को विषय करता है। इस कारण प्रतिक्रमण ७ ही होते हैं।

[2]**शङ्का**—प्रत्याख्यान तथा प्रतिक्रमण में क्या भेद है ?

समाधान—द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के निमित्त से अपने शरीर में लगे हुए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान से अप्रत्याख्यान को प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यान को प्राप्त होना प्रतिक्रमण है।

[अभिप्राय यह है कि मोक्ष के इच्छुक व्रती द्वारा रत्नत्रय के विरोधी नामादिक का मन, वचन और काय से बुद्धिपूर्वक त्याग करना प्रत्याख्यान है। त्याग करने [प्रत्याख्यान करने] के अनन्तर ग्रहण किए हुए व्रतों में लगे हुए दोषों का गर्हा और निन्दा पूर्वक परिमार्जन करना प्रतिक्रमण है। यही इन दोनों में भेद है।]

शङ्का—यदि प्रतिक्रमण का उक्त लक्षण है तो औत्तमस्थानिक नामक प्रतिक्रमण नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें प्रतिक्रमण का लक्षण नहीं पाया जाता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि जो स्वयं प्रतिक्रमण न होकर प्रतिक्रमण के समान होता है वह भी प्रतिक्रमण कहलाता है। इस प्रकार के उपचार से उत्तमस्थानिक में भी प्रतिक्रमणपना स्वीकार किया है।

शङ्का—औत्तमस्थानिक (उत्तमस्थानिक) में प्रतिक्रमणपने के उपचार का क्या निमित्त है ?

समाधान—इसमें प्रत्याख्यान सामान्य ही प्रतिक्रमणपने के उपचार का निमित्त है ?

शङ्का—उत्तम स्थान के निमित्त से किए गए प्रत्याख्यान में प्रतिक्रमण का उपचार किस प्रयोजन से होता है ?

समाधान—मैंने पाँच महाव्रतों का ग्रहण करते समय ही शरीर और कषाय के साथ आहार का त्याग कर दिया था, अन्यथा शुद्धनय के विषयभूत ५ महाव्रतों का ग्रहण नहीं बन सकता है। ऐसा होते हुए भी मैंने शक्तिहीन होने के कारण ५ महाव्रतों का भंग करके इतने काल तक उस आहार का सेवन किया। इस प्रकार अपनी गर्हा करके उत्तम स्थान के काल में प्रतिक्रमण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका ज्ञान कराने के लिए औत्तमस्थानिक प्रत्याख्यान में प्रतिक्रमण का उपचार किया गया है। इस प्रकार प्रतिक्रमण प्रकीर्णक इन प्रतिक्रमणों के लक्षण और भेदों का वर्णन करता है।

१-२. जयधवल पुस्तक १ पृ. ११३ प्रकरण ८८-८९।

विनयप्रकीर्णक– विनय पाँच प्रकार का है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय। जो पुरुष गुणों में अधिक हैं उनमें नम्रवृत्ति का रखना विनय है।[1] भरत, ऐरावत व विदेह में साधने योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का आश्रय कर ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय, उपचारविनय[2] इन पाँचों विनयों के लक्षण, भेद और फल का कथन विनय-प्रकीर्णक में है।

कृतिकर्मप्रकीर्णक—जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, वह कृतिकर्म है। उस कृतिकर्म के आत्माधीन होकर किये गये तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।[3] यहाँ उपयुक्त गाथा है—

दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव वा।
चउसीसं तिसुद्धं च किदियम्मं पउजए।।६४।।[4]

—यथाजात के सदृश क्रोध आदि विकारों से रहित होकर दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धियों से संयुक्त कृतिकर्म का प्रयोग करना चाहिए।।६४।। दोनों हाथ जोड़कर सिर से भूमि-स्पर्श रूप नमस्कार करने का नाम **अवनति है**। यह अवनति एक तो पंचनमस्कार की आदि में की जाती है और दूसरी चतुर्विंशतिस्तव की आदि में की जाती है। मन वचन व काय के संयमन रूप शुभ योगों के वर्तने का नाम **आवर्त** है। पंचनमस्कार मंत्रोच्चारण के आदि व अन्त में तीन-तीन आवर्त तथा चतुर्विंशतिस्तव के आदि व अन्त में तीन-तीन इस प्रकार बारह आवर्त किये जाते हैं। अथवा चारों दिशाओं में घूमते समय प्रत्येक दिशा में एक-एक प्रणाम किया जाता है, इस प्रकार तीन बार घूमने पर वे बारह होते हैं। दोनों हाथ जोड़कर सिर के नमाने का नाम **शिरोनति** है। यह क्रिया पंचनमस्कार और चतुर्विंशतिस्तव के आदि व अन्त में एक-एक बार करने से चार बार की जाती है। यह **कृतिकर्म** जन्मजात बालक के समान निर्विकार होकर मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक किया जाता है।[5]

दशवैकालिक प्रकीर्णक—विशिष्ट काल विकाल है। उसमें जो विशेषता होती है वह वैकालिक है। वे वैकालिक दस हैं। उन दस वैकालिकों का दशवैकालिक नाम का अर्थाधिकार (प्रकीर्णक) है।[6] यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय कर आचारविषयक विधि व भिक्षाटन विधि की प्ररूपणा करता है।[7]

उत्तराध्ययन प्रकीर्णक—जिसमें अनेक प्रकार के उत्तर पढ़ने को मिलते हैं, वह उत्तराध्ययन प्रकीर्णक है।[8] चार प्रकार के उपसर्गों (देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत, अचेतनकृत) और बाईस परीषहों (क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह

---

१. "गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्ति विनयः।" [जयधवल पु. १ पृ. ११७]। २. धवल पु. ६ पृ. १८६। ३. जयधवल पु. १ पृ. ११८। ४. धवल पु. ६ पृ. १८६। ५. मूलाचार ७/१०४ की टीका। ६. धवल पु. १ पृ. ६७। ७. धवल पु. ६ पृ. १६०। ८. धवल पु. १ पृ. ६८।

हैं) के सहन करने के विधान का और उनके सहन करने के फल का तथा इस प्रश्न के अनुसार यह उत्तर होता है; इसका वर्णन करता है।[१]

कल्प्यव्यवहार प्रकीर्णक—कल्प्य नाम योग्य का है और व्यवहार नाम आचार का है।[२] योग्य आचार का नाम कल्प्यव्यवहार है। साधुओं को पीछी, कमण्डलु, कवली (ज्ञानोपकरण विशेष) और पुस्तकादि जो जिस काल में योग्य हो उसकी प्ररूपणा करता है तथा अयोग्य-सेवन और योग्य-सेवन न करने के प्रायश्चित्त की प्ररूपणा करता है।[३]

कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक—द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है, इस तरह इन सबका कथन करता है।[४] साधुओं के जो योग्य है और जो योग्य नहीं है उन दोनों की ही, द्रव्य-क्षेत्र और काल का आश्रय कर, प्ररूपणा करता है। साधुओं के और असाधुओं के जो व्यवहार करने योग्य है और जो व्यवहार करने योग्य नहीं है इन सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय कर कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक कथन करता है।[५]

महाकल्प्य प्रकीर्णक—दीक्षा-ग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमस्थानरूप आराधना को प्राप्त हुए साधुओं के जो करने योग्य है, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्ररूपण करता है।[६] काल और संहनन का आश्रयकर साधुओं के योग्य द्रव्य और क्षेत्र आदि का वर्णन करता है। उत्कृष्ट संहननादि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकालयोग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदि का विशेष वर्णन है।[७] भरत ऐरावत और विदेह तथा वहाँ रहने वाले तिर्यंच व मनुष्यों के, देवों के एवं अन्य द्रव्यों के भी स्वरूप का छह कालों का आश्रय कर निरूपण करता है।[८]

पुण्डरीक प्रकीर्णक—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिक सम्बन्धी इन्द्र और सामानिक आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व, संयम और अकामनिर्जरा का तथा उनके उपपाद स्थान और भवनों का वर्णन करता है।[९] अथवा छह कालों से विशेषित देव, असुर और नारकियों में तिर्यंच व मनुष्यों की उत्पत्ति की प्ररूपणा करता है। इस काल में तिर्यंच और मनुष्य इन कल्पों व इन पृथिवियों में उत्पन्न होते हैं, इसकी यह प्ररूपणा करता है।[१०] यह अभिप्राय है।

महापुण्डरीक प्रकीर्णक—काल का आश्रय कर देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव व वासुदेवों में उत्पत्ति का वर्णन करता है।[११] अथवा समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारणरूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।[१२] अथवा देवों की देवियों में उत्पत्ति के कारणभूत तप, उपवास आदि का प्ररूपण यह प्रकीर्णक करता है।[१३]

---

१. जयधवल पु. १ पृ. १२०-१२१। २. धवल पु. १ पृ. ९८। ३. धवल पु. ९ पृ. १९०। ४. धवल पु. १ पृ. ९८। धवल पु ९ पृ. १९०। ५. जयधवल पु. १ पृ. १२१। ६. जयधवल पु. १ पृ. १२१। ७. धवल पु. १ पृ. ९८। ८. धवल पु. ९ पृ. १९१। ९. जयधवल पु. १ पृ. १२१ व धवल पु. १ पृ. ९८। १०. धवल पु. ९ पृ. १९१। ११. धवल पु. ९ पृ १९१। १२. धवल पु. १ पृ. ९८। १३. ज.ध. १/१२१; नवीन संस्करण पृ. १११।

निषिद्धिका प्रकीर्णक—प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि कहते हैं और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करने वाले प्रकीर्णक को निषिद्धिका कहते हैं।[1] अथवा काल का आश्रय कर प्रायश्चित्त विधि और अन्य आचरण विधि की प्ररूपणा करता है।[2]

श्रुतज्ञान के इकतालीस पर्यायवाची शब्द—

प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसंनिकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय्य, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व; ये श्रुतज्ञान के पर्याय नाम हैं ॥५०॥[3]

'वच्' धातु से वचन शब्द बना है। 'उच्यते भण्यते कथ्यते इति वचनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कहा जाता है वह वचन है। वचन पद से शब्दों का समुदाय लिया जाता है। प्रकृष्ट वचन को प्रवचन कहते हैं।

शङ्का—प्रकृष्टता कैसे है?

समाधान—पूर्वापरविरोधादि दोष से रहित होने के कारण, निरवद्य अर्थ का कथन करने के कारण और विसंवाद रहित होने के कारण प्रकृष्टता है।

प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट शब्दकलाप में होने वाला ज्ञान या द्रव्यश्रुत **प्रावचन** कहलाता है।

शङ्का—जबकि द्रव्यश्रुत वचनात्मक है तब उसकी वचन से ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि श्रुतसंज्ञा को प्राप्त हुई वचनरचना चूंकि वचनों से कथंचित् भिन्न है, अतएव उनसे उसकी उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता। अथवा 'प्रवचनमेव प्रावचनम्' ऐसी व्युत्पत्ति का आश्रय करने से उक्त दोष नहीं आता।

प्रबन्धपूर्वक जो वचनीय अर्थात् व्याख्येय या प्रतिपादनीय होता है, वह **प्रवचनीय** कहलाता है।

शङ्का—इसका सर्वकाल किसलिए व्याख्यान करते हैं?

समाधान—क्योंकि वह व्याख्याता और श्रोता के असंख्यातगुणी श्रेणी रूप से होनेवाली कर्मनिर्जरा का कारण है। कहा भी है—

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
होदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥२१॥

---

१. धवल पु. १ पृ. ९८। २. धवल पु. ९ पृ. १९१। ३. धवल पु. १३ पृ. २८०।

जह जह सुदमोगाहिवि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ।
तह तह पल्हादिज्जदि णव-णवसंवेगसड्ढाए ।।२२।।
जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ।।२३।।

—स्वाध्याय को करने वाला भिक्षु पाँचों इन्द्रियों के व्यापार से रहित और तीन गुप्तियों से सहित होकर एकाग्रमन होता हुआ विनय से संयुक्त होता है ।।२१।। जिसमें अतिशय रस का प्रसार है और जो अश्रुतपूर्व है ऐसे श्रुत का वह जैसे-जैसे अवगाहन करता है वैसे ही वैसे अतिशय नवीन धर्मश्रद्धा से संयुक्त होता हुआ परम आनन्द का अनुभव करता है ।।२२।। अज्ञानी जीव जिस कर्म का लाखों करोड़ों भवों के द्वारा क्षय करता है उसका ज्ञानी जीव तीन गुप्तियों से गुप्त होकर अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है ।।२३।।

द्वादशांग रूप वर्णों का समुदाय वचन है, जो 'अर्यंते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है, वह अर्थ है । यहाँ अर्थ पद से नौ पदार्थ लिये गये हैं । वचन और अर्थ ये दोनों मिल कर वचनार्थ कहलाते हैं । जिस आगम में वचन और अर्थ ये दोनों प्रकृष्ट अर्थात् निर्दोष हैं, उस आगम की **प्रवचनार्थ** संज्ञा है ।

शङ्का—प्रत्यक्ष व अनुमान से अनुमत और परस्पर विरोध से रहित सप्तभंगी रूप वचन सुनयस्वरूप होने से निर्दोष है । अतएव जब वचन की निर्दोषता से ही अर्थ की निर्दोषता जानी जाती है तब फिर अर्थ के ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं रहता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि शब्दानुसारी जनों का अनुग्रह करने के लिए 'अर्थ' पद का कथन किया है ।

अथवा, प्रकृष्ट वचनों के द्वारा जो 'अर्यंते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह प्रवचनार्थ अर्थात् द्वादशांग भावश्रुत है । जो विशिष्ट रचना से आरचित हैं, बहुत अर्थवाले हैं, विशिष्ट उपादान कारणों से सहित हैं और जिनको हृदयंगम करने में विशिष्ट आचार्यों की सहायता लगती है, ऐसे सकल संयोगी अक्षरों से द्वादशांग उत्पन्न किया जाता है; यह उक्त कथन का तात्पर्य है ।

यतः गतिशब्द देशामर्शक है, अतः गति शब्द का ग्रहण करने से चौदहों मार्गणास्थानों का ग्रहण होता है । गतियों में अर्थात् मार्गणास्थानों में चौदह गुणस्थानों से उपलक्षित जीव जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, वह **गतियों में मार्गणता** नामक श्रुति है । द्वादशांग का नाम **आत्मा** है क्योंकि वह आत्मा का परिणाम है । और परिणाम परिणामी से भिन्न होता नहीं है, क्योंकि मिट्टी द्रव्य से पृथग्भूत घटादि पर्यायें पाई नहीं जातीं ।

शङ्का—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दोनों ही आगमसामान्य की अपेक्षा समान हैं । अतएव जिस प्रकार भावस्वरूप द्वादशांग को 'आत्मा' माना है, उसी प्रकार द्रव्यश्रुत के भी आत्मस्वता का प्रसंग प्राप्त होता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह द्रव्यश्रुत आत्मा का धर्म नहीं है। उसे जो आगम संज्ञा प्राप्त है, वह उपचार से प्राप्त है। वास्तव में, वह आगम नहीं है।

मुक्तिपर्यन्त इष्ट वस्तु को प्राप्त कराने वाली अणिमा आदि विक्रियायें लब्धि कही जाती हैं। इन लब्धियों की परम्परा जिस आगम से प्राप्त होती है या जिसमें उनकी प्राप्ति का उपाय कहा जाता है वह **परम्परालब्धि** अर्थात् आगम है। उत्तर प्रतिवचन का दूसरा नाम है। जिस श्रुत का उत्तर नहीं है वह श्रुत अनुत्तर कहलाता है। अथवा उत्तर शब्द का अर्थ अधिक है, इससे अधिक चूंकि अन्य कोई भी सिद्धान्त नहीं पाया जाता, इसीलिए इस श्रुत का नाम **अनुत्तर** है।

यह प्रकर्ष से अर्थात् कुतीर्थ्यों के द्वारा नहीं स्पर्श किये जाने स्वरूप से जीवादि पदार्थों का निरूपण करता है, इसलिए वर्ण-पंक्त्यात्मक द्वादशांग को प्रवचन कहते हैं। अथवा कारणभूत इस ज्ञान के द्वारा प्रमाण आदि के अविरोध रूप से जीवादि अर्थ कहे जाते हैं, इसलिए द्वादशांग भावश्रुत को **प्रवचन** कहते हैं।

शङ्का—ज्ञान को करणपना कैसे प्राप्त है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ज्ञान के बिना अर्थ में अविसंवादी वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस हेतु का सुप्त और मत्त के वचनों के साथ व्यभिचार होगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उनके अविसंवादी होने का कोई नियम नहीं है।

जिसमें प्रकृष्ट वचन होते हैं वह **प्रवचनी** है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार भावागम का नाम प्रवचनी है। अथवा जो कहा जाता है वह प्रवचन है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रवचन अर्थ को कहते हैं। वह इसमें है इसलिए वर्णोपादान कारणक द्वादशांग ग्रन्थ का नाम **प्रवचनी** है। **अद्धा** काल को कहते हैं, प्रकृष्ट अर्थात् शोभन वचनों का काल जिस श्रुति में होता है वह **प्रवचनाद्धा** अर्थात् श्रुतज्ञान है।

शङ्का—श्रुतज्ञानरूप से परिणत हुई अवस्था में शोभन वचनों की ही प्रवृत्ति किसलिए होती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अशोभन वचनों के हेतुभूत रागादित्रिक [राग, द्वेष, मोह] का वहाँ अभाव है।

'जो कहे जाते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वचन शब्द का अर्थ जीवादि पदार्थ है। प्रकर्षरूप से जिसमें वचन सन्निकृष्ट होते हैं, वह **प्रवचन सन्निकर्ष** रूप से प्रसिद्ध द्वादशांग श्रुतज्ञान है।

शङ्का—सन्निकर्ष क्या है ?

समाधान—एक वस्तु में एक धर्म के विवक्षित होने पर उसमें शेष धर्मों के सत्त्वासत्त्व का विचार तथा उसमें रहने वाले उक्त धर्मों में से किसी एक धर्म के उत्कर्ष को प्राप्त होने पर शेष धर्मों के उत्कर्षानुत्कर्ष का विचार करना सन्निकर्ष कहलाता है।

अथवा, प्रकर्षरूप से कहने अर्थात् जीवादि पदार्थ अनेकान्तात्मक रूप से जिसके द्वारा संन्यस्त अर्थात् प्ररूपित किये जाते हैं, वह **प्रवचनसंन्यास** अर्थात् उक्त द्वादशांग श्रुतज्ञान ही है।

नय नैगम आदिक हैं। वे सत् व असत् आदिस्वरूप से जिसमें 'विधीयन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वह **नयविधि** आगम है। अथवा नैगमादि नयों के द्वारा जीवादि पदार्थों का जिसमें विधान किया जाता है वह नयविधि-आगम है। नयान्तर अर्थात् नयों के नैगमादिक सात सौ भेद विषयसांकर्य के निराकरण द्वारा जिसमें विहित अर्थात् निरूपित किये जाते हैं वह **नयान्तरविधि** अर्थात् श्रुतज्ञान है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील, गुण, नय, वचन और द्रव्यादिक के भेद भंग कहलाते हैं। उनका जिसके द्वारा विधान किया जाता है वह **भंगविधि** अर्थात् श्रुतज्ञान है। अथवा, भंग का अर्थ स्थिति और उत्पत्ति का अविनाभावी वस्तुविनाश है। वह जिसके द्वारा विहित अर्थात् निरूपित किया जाता है वह भंगविधि अर्थात् श्रुत है।

विधि का अर्थ विधान है। भंगों की विधि अर्थात् भेद 'विशेष्यते' अर्थात् पृथक् रूप से जिसके द्वारा निरूपित किया जाता है वह **भंगविधिविशेष** अर्थात् श्रुतज्ञान है। द्रव्य, गुण और पर्याय के विधि-निषेध विषयक प्रश्न का नाम पृच्छा है। उसके क्रम और अक्रम का तथा प्रायश्चित्त का जिसमें विधान किया जाता है, वह **पृच्छाविधि** अर्थात् श्रुत है। अथवा पूछा गया अर्थ पृच्छा है, वह जिसमें विहित की जाती है अर्थात् कही जाती है, वह पृच्छाविधि श्रुत है। विधान करना विधि है। पृच्छा की विधि पृच्छाविधि है। वह जिसके द्वारा विशेषित की जाती है वह **पृच्छाविधिविशेष** है। अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु इस प्रकार से पूछे जाने योग्य हैं तथा प्रश्नों के भेद इतने ही हैं; ये सब चूंकि सिद्धान्त में निरूपित किये जाते हैं अतः उसकी पृच्छाविधि विशेष यह संज्ञा है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। 'तत्' इस सर्वनाम से विधि की विवक्षा है, तत् का भाव **तत्त्व** है।

शङ्का—श्रुत की विधि संज्ञा कैसे है ?

समाधान—चूंकि वह सब नयों के विषय के अस्तित्व का विधायक है, इसलिए श्रुत की विधि संज्ञा उचित ही है।

तत्त्व श्रुतज्ञान है। आगम अतीत काल में था, इसलिए उसकी **भूत** संज्ञा है। वर्तमान काल में है इसलिए उसकी **भव्य** संज्ञा है। वह भविष्य काल में रहेगा इसलिए उसकी **भविष्यत्** संज्ञा है। आगम अतीत, अनागत और वर्तमान काल में है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार वह आगम नित्य है।

शङ्का—ऐसा होने पर आगम को अपौरुषेयता का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वाच्य-वाचकभाव से तथा वर्ण, पद व पंक्तियों के द्वारा प्रवाह रूप से चले आने के कारण आगम को अपौरुषेय स्वीकार किया है।

इस कथन से हरि, हर और हिरण्यगर्भ आदि के द्वारा रचे गये वचन आगम हैं; इसका निराकरण जान लेना चाहिए। वितथ और असत्य ये समानार्थक शब्द हैं। जिस श्रुतज्ञान में वितथपना नहीं पाया जाता वह **अवितथ** अर्थात् तथ्य है। मिथ्यादृष्टियों के वचनों द्वारा जो न वर्तमान में हता

जाता है, न भविष्य में हता जा सकेगा और न भूतकाल में हता गया है वह **अविहत**—श्रुतज्ञान है। अशेष पदार्थों को जो वेदता है, वेदेगा और वेद चुका है, वह **वेद** अर्थात् सिद्धान्त है। इससे सूत्रकण्ठों अर्थात् ब्राह्मणों की मिथ्यारूप ग्रन्थकथा वेद है, इसका निराकरण किया गया है। न्याय से युक्त है इसलिए श्रुतज्ञान **न्याय्य** कहलाता है। अथवा ज्ञेय का अनुसरण करने वाला होने से या न्यायरूप होने से सिद्धान्त को न्याय्य कहते हैं।

वचन और अर्थगत दोषों से रहित होने के कारण सिद्धान्त का नाम **शुद्ध** है। इसके द्वारा जीवादि पदार्थ सम्यक् प्रकार से देखे जाते हैं अर्थात् जाने जाते हैं, इसलिए इसका नाम **सम्यग्दृष्टि**-श्रुति है। इसके द्वारा जीवादिक पदार्थ सम्यक् प्रकार से देखे जाते हैं अर्थात् श्रद्धान किये जाते हैं, इसलिए इसका नाम सम्यग्दृष्टि है। अथवा सम्यग्दृष्टि के साथ श्रुति का अविनाभाव होने से उसका नाम सम्यग्दृष्टि है। जो लिंग अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण से उपलक्षित होकर साध्य का अविना-भावी होता है, उसे हेतु कहा जाता है। वह हेतु दो प्रकार का है—साधनहेतु और दूषणहेतु। इनमें स्वपक्ष की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ हेतु साधनहेतु और प्रतिपक्ष का खण्डन करने के लिए प्रयुक्त हुआ दूषण हेतु है। अथवा जो अर्थ और आत्मा का 'हिनोति' अर्थात् ज्ञान कराता है उस प्रमाणपंचक को हेतु कहा जाता है। उक्त हेतु जिसके द्वारा 'उच्यते' अर्थात् कहा जाता है, वह श्रुतज्ञान **हेतुवाद** कहलाता है। ऐहिक और पारलौकिक फल की प्राप्ति का उपाय नय है। उसका वाद अर्थात् कथन इस सिद्धान्त के द्वारा किया जाता है, इसलिए यह **नयवाद** कहलाता है।

स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग होने से रत्नत्रय का नाम प्रवर है। उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिए इस आगम का नाम **प्रवरवाद** है। जिसके द्वारा मार्गण किया जाता है, वह मार्ग अर्थात् पथ कहलाता है। वह पाँच प्रकार का है—नरकगतिमार्ग, तिर्यग्गतिमार्ग, मनुष्यगतिमार्ग, देवगतिमार्ग और मोक्षगतिमार्ग। उनमें से एक-एक मार्ग कृमि व कीट आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। ये मार्ग और मार्गाभास जिसके द्वारा कहे जाते हैं वह सिद्धान्त **मार्गवाद** कह-लाता है। श्रुत दो प्रकार का है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। इसका कथन जिस वचनकलाप के द्वारा किया जाता है, वह द्रव्यश्रुत **श्रुतवाद** कहलाता है। मस्करी, कणभक्ष, अक्षपाद, कपिल, शौद्धोदनि, चार्वाक और जैमिनि आदि तथा उनके दर्शन जिसके द्वारा 'परोद्यन्ते' अर्थात् दूषित किये जाते हैं वह राद्धान्त (सिद्धान्त) परवाद कहलाता है। लौकिक शब्द का अर्थ लोक ही है।

शंका—लोक किसे कहते हैं?

समाधान—जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं, उसे लोक कहते हैं।

वह लोक तीन प्रकार का है—ऊर्ध्वलोक, मध्यम लोक और अधोलोक। जिसके द्वारा इस लोक का कथन किया जाता है, वह सिद्धान्त **लौकिकवाद** कहलाता है। लोकोत्तर पद का अर्थ अलोक है, जिसके द्वारा उसका कथन किया जाता है वह श्रुत **लोकोत्तरवाद** कहा जाता है। चारित्र से श्रुत प्रधान है, इसलिए उसकी **अग्र्य** संज्ञा है।

शङ्का—चारित्र से श्रुत की प्रधानता किस कारण है?

समाधान—क्योंकि श्रुतज्ञान के बिना चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए चारित्र की अपेक्षा श्रुत की प्रधानता है। अथवा, अग्र्य शब्द का अर्थ मोक्ष है। उसके साहचर्य से श्रुत भी

अग्र्य कहलाता है। **मार्ग**, पथ और श्रुत ये एकार्थक नाम हैं। किसका मार्ग? मोक्ष का। ऐसा मानने पर "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं।" इस कथन के साथ विरोध होगा, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अविनाभावी द्वादशांग को मोक्षमार्गरूप से स्वीकार किया है।

यथावस्थित जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा 'अनुमृग्यन्ते' अर्थात् अन्वेषित किये जाते हैं वह श्रुतज्ञान **यथानुमार्ग** कहलाता है। लोक के समान अनादि होने से श्रुत **पूर्व** कहलाता है। यथानुपूर्वी और यथानुपरिपाटी ये एकार्थवाची शब्द हैं। इसमें होने वाला श्रुतज्ञान या द्रव्यश्रुत **यथानुपूर्व** कहलाता है। सब पुरुष व्यक्तियों में स्थित श्रुतज्ञान और द्रव्यश्रुत यथानुपरिपाटी से सर्वकाल अवस्थित है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। बहुत पूर्व वस्तुओं में यह श्रुतज्ञान अतीव पूर्व है, इसलिए श्रुतज्ञान **पूर्वातिपूर्व** कहलाता है।

शङ्का—इसे अतिपूर्वता किस कारण से प्राप्त है?

समाधान—क्योंकि प्रमाण के बिना शेष वस्तु-पूर्वों का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इसे अतिपूर्व कहा है।

श्रुतज्ञान का माहात्म्य

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥३६६॥

गाथार्थ—बोध अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। श्रुत-ज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है ॥३६६॥

विशेषार्थ—'अक्ष' अर्थात् आत्मा से पर (भिन्न) इन्द्रिय व प्रकाश आदि के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न हो वह परोक्ष है। इन्द्रिय, मन व प्रकाश आदि की सहायता के बिना आत्मा के द्वारा जो ज्ञान पदार्थों के विषय में उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। इसका विशद कथन पूर्व में किया जा चुका है।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥[1]

—सम्पूर्ण तत्त्वों के प्रकाशक स्याद्वाद और केवलज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है। जो वस्तु दोनों ज्ञानों में से किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होती है, वह अवस्तु है। यहाँ पर स्याद्वाद श्रुतज्ञान का पर्यायवाची है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों सम्पूर्ण अर्थों को जानते हैं। उनमें अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से अर्थों को जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है। जो सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है, वह श्रुतकेवली है। श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है। श्रुतकेवली में और केवली में ज्ञान की अपेक्षा कोई भेद नहीं है,

---

१. अष्टसहस्री श्लोक १०५ पृ. २८८ (नारायण सागर प्रेस, बम्बई)।

भेद केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानने का है। गाथा में पहले श्रुत शब्द का प्रयोग किया है और बाद में केवलज्ञान शब्द है। इससे प्रतीत होता है कि दोनों में से कोई एक ही पूज्य नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों परस्पर हेतुक हैं। केवलज्ञान से श्रुत की उत्पत्ति होती है और श्रुत से केवलज्ञान की, बीज वृक्ष के समान।

शङ्का—श्रुतज्ञान सर्वतत्त्वों का प्रकाशक कैसे हो सकता है, क्योंकि सर्व पर्यायों को नहीं जानता है।[1]

समाधान—श्रुतज्ञान द्रव्य की अपेक्षा सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा गया है, पर्याय की अपेक्षा नहीं। जीव आदि सप्ततत्त्वों का प्रकाशन केवलज्ञान के समान श्रुतज्ञान भी करता है। केवली दूसरों के लिये जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार आगम भी करता है। उनमें इतनी विशेषता है कि केवली अर्थों को प्रत्यक्ष जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से जानता है। केवली त्रैकालिक द्रव्य की एक समय में होने वाली अनन्त पर्यायों को जानता है और श्रुतज्ञानी उनमें से कुछ पर्यायों को जानता है। केवली भी दिव्यध्वनि के द्वारा सर्व पर्यायों का प्रतिपादन नहीं कर सकते, क्योंकि सर्व पर्यायें वचनों के अगोचर हैं। इसी प्रकार आगम में भी कुछ पर्यायों का कथन है। जो इन दोनों ज्ञानों का विषय नहीं हो, वह अवस्तु है।

।। इति श्रुतज्ञानम् ।।

अवधिज्ञान

अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये ।
भव-गुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं बेंति ।।३७०।।[2]

गाथार्थ—विषय की अपेक्षा सीमित ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। इसीलिए आगम में इसे सीमाज्ञान कहा है। यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के द्वारा उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ।।३७०।।

विशेषार्थ—"**अवाग्धानात् अवधिः**' जो अधोगत पुद्गल को अधिकता से ग्रहण करे वह अवधि है।[3] अथवा अवधि, मर्यादा और सीमा ये शब्द एकार्थवाची हैं। अवधि से सहचरित ज्ञान भी अवधि कहलाता है।

शंका—अवधिज्ञान का इस प्रकार लक्षण करने पर मर्यादारूप मतिज्ञान आदि अलक्ष्यों में यह लक्षण चला जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोष प्राप्त होता है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रूढ़ि की मुख्यता से किसी एक ही ज्ञान में अवधि शब्द की प्रवृत्ति होती है।[4] मति व श्रुतज्ञान परोक्ष हैं पर अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है, इसलिए भी भेद है।

---

१. 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।" [त. सू. अ. १ सूत्र २६]। २. प्रा. पं. सं. पृ. २६ गा. १२३, ध. पु. १ पृ. ३५९ गा. १८४। ३. ध.पु. ९ पृ. १३। ४. जयधवल पु. १ पृ. १६; ध. पु. ६ पृ. २५।

शङ्का—अवधिज्ञान में अवधि शब्द का प्रयोग किसलिए किया गया है ?

समाधान—इससे नीचे के सभी ज्ञान सावधि हैं और ऊपर का केवलज्ञान निरवधि है। इसका ज्ञान कराने के लिये अवधिज्ञान में अवधि शब्द का प्रयोग किया गया है।

शङ्का—इस कथन का मनःपर्ययज्ञान से व्यभिचार दोष आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान भी अवधिज्ञान से अल्प विषय वाला है, इसलिए विषय की अपेक्षा उसे अवधिज्ञान से नीचे स्वीकार किया है। फिर भी संयम के साथ रहने के कारण मनःपर्ययज्ञान में जो विशेषता आती है, उस विशेषता को दिखलाने के लिए मनःपर्ययज्ञान को अवधिज्ञान से नीचे न रखकर ऊपर रखा है इसलिए कोई दोष नहीं है।[1]

शङ्का—मर्यादा अर्थ में रूढ़ अवधि शब्द ज्ञान के अर्थ में कैसे रहता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार असि से सहचरित पुरुष के लिए उपचार से असि कहने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार अवधि से सहचरित ज्ञान को अवधि कहने में कोई विरोध नहीं है।[2] मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं इसलिए अवधि शब्द से उनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है।

शङ्का—मतिज्ञान भी तो प्रत्यक्ष देखता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मतिज्ञान से वस्तु का प्रत्यक्ष उपलम्भ नहीं होता है। मतिज्ञान से वस्तु का एकदेश प्रत्यक्ष जाना जाता है। एकदेश सम्पूर्ण वस्तु नहीं हो सकता। जो भी वस्तु है वह भी मतिज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षरूप से नहीं जानी जाती, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप परोक्ष मतिज्ञान का विषय है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है।[3]

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवधिज्ञान भी प्रत्यक्ष-परोक्षात्मकता को प्राप्त होता है, क्योंकि वस्तु त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों से उपचित है, किन्तु अवधि ज्ञान के प्रत्यक्ष द्वारा उस प्रकार की वस्तु के जानने की शक्ति का अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान समस्त पर्यायों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान पाया जाता है तथा भूत और भावी असंख्यात पर्यायों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान देखा जाता है।

शङ्का—ऐसा मानने पर भी अवधिज्ञान से पूर्ण वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिए अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष परोक्षात्मकता प्राप्त होती है।

समाधान—नहीं, क्योंकि व्यवहार के योग्य एवं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के समूह रूप वस्तु में अवधिज्ञान के प्रत्यक्षता पाई जाती है।

---

१. जयधवल पु. १ पृ. १७ व ध. पु. ९ पृ. १३। २. धवल पु. ९ पृ. १२-१३। ३. ध. पु. ६ पृ. २६।

शङ्का—अवधिज्ञान अनन्त व्यंजन पर्यायों को नहीं ग्रहण करता है, इसलिए वह वस्तु के एकदेश को जानने वाला है।

समाधान—नहीं, क्योंकि व्यवहारनय के योग्य व्यंजनपर्यायों की अपेक्षा यहाँ पर वस्तुत्व माना गया है।

शंका—मतिज्ञान में भी यही क्रम क्यों न माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मतिज्ञान के वर्तमान अशेष पर्याय विशिष्ट वस्तु के जानने का अभाव है, तथा मतिज्ञान के प्रत्यक्ष रूप से अर्थग्रहण करने के नियम का अभाव है।[1]

वह अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भवप्रत्यय अवधिज्ञान और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान।[2] भव, उत्पत्ति और प्रादुर्भाव ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस अवधिज्ञान का प्रत्यय (कारण) भव है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है।

शङ्का—यदि भव मात्र ही अवधिज्ञान का कारण है तो देव व नारकियों की उत्पत्ति के प्रथम समय में ही अवधिज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि छह पर्याप्तियों से पर्याप्त भव को ही यहाँ अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण माना गया है।[3]

सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं, वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

शङ्का—यदि सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रत के निमित्त से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो सब असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतों के अवधिज्ञान क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम रूप परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें से अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्तभूत परिणाम अतिशय स्तोक हैं और वे सबके सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उनके प्रतिपक्षभूत परिणाम बहुत हैं। इसलिए उनकी उपलब्धि क्वचित् ही होती है।[4]

दोनों प्रकार के अवधिज्ञान के स्वामी

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।
गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्नभवो ॥३७१॥

गाथार्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है तथा तीर्थंकरों के भी होता

---

१. धवल पु. ६ पृ. २७-२८। २. "तं च ओहिणाणं दुविहं भव पच्चइयं चेव गुणपच्चइयं चेव ॥५३॥" धवल पु. १३ पृ. २९०। ३. धवल पु. १३ पृ. २९०। ४. ध. पु. १३ पृ. २९१-२९२।

है और यह सम्पूर्ण अङ्ग से उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य व तिर्यंचों के होता है और संखादि चिह्नों से होता है ॥३७१॥

विशेषार्थ--जो भवप्रत्यय अवधिज्ञान है, वह देव और नारकियों के होता है।[1]

शङ्का—जो अवधिज्ञान भवप्रत्यय होता है वह देव और नारकियों के ही होता है, यह किसलिए कहा गया है?

समाधान—नहीं, क्योंकि देवों और नारकों के भवों को छोड़कर अन्य भव उसके कारण नहीं हैं।[2]

'धवल' ग्रंथ में तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' में भवप्रत्यय अवधिज्ञान मात्र देव और नारकियों के कहा गया है, किन्तु गाथा में तीर्थंकरों के भी भवप्रत्यय कहा गया है। यद्यपि तीर्थंकर कोई भव नहीं है तथापि तीर्थंकर नरक या स्वर्ग से आकर ही उत्पन्न होते हैं। नरक व स्वर्ग में भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और वह भवप्रत्यय-अवधिज्ञान उनके साथ आता है, इस अपेक्षा से पंचकल्याणकतीर्थंकरों के अवधिज्ञान को भव-प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है।

मिथ्यादृष्टियों के अवधिज्ञान नहीं होता, ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि मिथ्यासहचरित अवधिज्ञान की ही विभंगज्ञान संज्ञा है।[3]

शङ्का—देव और नारकी सम्यग्दृष्टियों में उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान भवप्रत्यय नहीं है, क्योंकि उनमें सम्यक्त्व के बिना एक मात्र भव के निमित्त से ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति उपलब्ध नहीं होती है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना भी पर्याप्त मिथ्यादृष्टियों के अवधिज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसलिए वहाँ उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय ही है।

शङ्का--देव और नारकियों का अवधिज्ञान भवप्रत्यय होता है, ऐसा सामान्य निर्देश होने पर सम्यग्दृष्टियों और मिथ्यादृष्टियों का अवधिज्ञान पर्याप्तभव के निमित्त से ही होता है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—क्योंकि अपर्याप्त देव और नारकियों के विभंगज्ञान का प्रतिषेध अन्यथा बन नहीं सकता।[4] इसीसे जाना जाता है कि उनके अवधिज्ञान पर्याप्त भव के निमित्त से ही होता है।

शङ्का—विभंगज्ञान के समान अपर्याप्तकाल में अवधिज्ञान का भी निषेध क्यों नहीं करते?

समाधान—नहीं, क्योंकि उत्पत्ति की अपेक्षा उसका भी वहाँ विभंगज्ञान के समान ही निषेध देखा जाता है। सम्यग्दृष्टियों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही अवधिज्ञान होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर विभंगज्ञान के भी उसी प्रकार की उत्पत्ति का प्रसंग आता है। सम्यक्त्व से इतनी विशेषता हो जाती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भवप्रत्ययपना नष्ट

---

१. "जं तं भव-पंच्चइयं तं देव-णेरइयाणं ॥५४॥" [ध. पु. १३ पृ. १९२] "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥" [त. सू. १]। २. ध. पु. १३ पृ. २९२। ३. ध. पु. १३ पृ. २९०। ४. ध. पु. १३ पृ. २९०-२९१।

होकर उसके गुणप्रत्ययपने का प्रसंग आता है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं है कि देवों और नारकियों के अपर्याप्त अवस्था में अवधिज्ञान का अत्यन्त अभाव है, क्योंकि तिर्यंचों और मनुष्यों में सम्यक्त्व गुण के निमित्त से उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान देव और नारकियों के अपर्याप्त अवस्था में भी पाया जाता है। विभंग में भी यह क्रम लागू हो जाएगा, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अवधिज्ञान के कारणभूत अनुकम्पादि का अभाव होने से [देवों में] अपर्याप्त अवस्था में उसका अवस्थान नहीं रहता।[1]

जो गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है, वह तिर्यंचों और मनुष्यों के होता है।[2] क्योंकि तिर्यंच और मनुष्य भवों को छोड़कर अन्यत्र अणुव्रत और महाव्रत नहीं पाये जाते।

शङ्का—देव और नारक सम्बन्धी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों में अवधिज्ञान का सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होते हैं। उसी प्रकार देशविरति आदि ऊपर के गुणस्थानों में भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत गुणों का वहाँ पर सद्भाव पाया जाता है। परन्तु असंयत सम्यग्दृष्टिमनुष्य व तिर्यंचों में उसका सद्भाव नहीं पाया जाता, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत भव और गुण असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच व मनुष्यों में नहीं पाये जाते?

समाधान—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणरूप सम्यग्दर्शन का असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में सद्भाव पाया जाता है।

शङ्का—चूंकि सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियों में अवधिज्ञान की अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती इससे ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है।

प्रतिशङ्का—यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण संयतों में अवधिज्ञान की अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती, इसलिए संयम भी अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है, ऐसा क्यों न मान लिया जाये?

प्रतिशङ्का का उत्तर—विशिष्ट संयम ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए समस्त संयतों के अवधिज्ञान नहीं होता।[3]

शङ्का का समाधान—यदि ऐसा है तो यहाँ पर भी यही मान लेना चाहिए कि असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में अवधिज्ञान नहीं होता है, किन्तु कुछ के ही होता है, ऐसा मान लेने में क्या विरोध आता है? अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं आता।

शङ्का—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक; इन तीनों ही प्रकार के विशेष सम्यग्दर्शनों में अवधिज्ञान की उत्पत्ति में व्यभिचार देखा जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन विशेष अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, यह नहीं कहा जा सकता है।

---

१. धवल पु. १३ पृ. २९१। २. "जं तं गुणपच्चइयं तं तिरिक्ख मणुस्साणं ॥५५॥" [धवल पु. १३ पृ. २९२]।
३. धवल पु. १ पृ. ३६५।

प्रतिशङ्का—यदि ऐसा है तो संयम में भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन पाँच प्रकार के विशेष संयमों के साथ और देशविरति के साथ भी अवधिज्ञान की उत्पत्ति का व्यभिचार देखा जाता है, इसलिए अवधिज्ञान की उत्पत्ति संयम विशेष के निमित्त से होती है, यह भी तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्यग्दर्शन और संयम इन दोनों को अवधिज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान हैं।

प्रतिशङ्का का उत्तर—असंख्यात लोकप्रमाण संयमरूप परिणामों में कितने ही विशेष जाति के परिणाम अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण होते हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

शङ्का का समाधान—यदि ऐसा है तो असंख्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शन रूप परिणामों में दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा से युक्त होते हुए कितने ही विशेष जाति के सम्यक्त्व रूप परिणाम (ही) अवधिज्ञान की उत्पत्ति में कारण हो जाते हैं, यह बात निश्चित हो जाती है।[1]

जिस अवधिज्ञान का करण [चिह्न, जिन चिह्नों से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।] जीव-शरीर का एकदेश होता है वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र के बिना शरीर के सब अवयवों से होता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है। तीर्थंकर, देवों और नारकियों के अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान ही होता है। क्योंकि वे शरीर के सब अवयवों द्वारा अपने विषयभूत अर्थ को ग्रहण करते हैं। कहा भी है—

णेरइय-देव-तित्थयरोहिक्खेत्तस्सऽबाहिरं एदे।
जाणंति सव्वदो खलु सेसा देसेण जाणंति ॥२४॥[2]

नारकी, देव और तीर्थंकर अपने अवधिक्षेत्र के भीतर सर्वांग से जानते हैं और शेष जीव शरीर के एकदेश से जानते हैं॥२४॥ शेष जीव शरीर के एकदेश से ही जानते हैं, यह नियम नहीं करना चाहिए, क्योंकि परमावधिज्ञानी और सर्वावधिज्ञानी गणधरादिक अपने शरीर के सब अवयवों से अपने विषयभूत अर्थ को ग्रहण करते हैं। इसलिए शेष जीव शरीर के एकदेश से और सर्वांग से जानते हैं, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।[3]

शङ्का—अवधिज्ञान अनेकक्षेत्र ही होता है, क्योंकि सब जीवप्रदेशों के युगपत् क्षयोपशम को प्राप्त होने पर शरीर के एकदेश से ही बाह्य अर्थ का ज्ञान नहीं बन सकता?

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्य देशों में करण-स्वरूपता नहीं है, अतएव करणस्वरूप से परिणत हुए शरीर के एकदेश से ज्ञान मानने में कोई विरोध नहीं आता। सकरण क्षयोपशम उसके बिना जानता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस मान्यता का विरोध है। जीवप्रदेशों के एकदेश में ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर एकक्षेत्र अवधिज्ञान बन जाता है, ऐसा निश्चय करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उदय को प्राप्त हुई गोपुच्छा सब जीवप्रदेशों को विषय करती है, इसलिए उसका देशस्थायिनी होकर जीव के एकदेश में ही क्षयोपशम मानने में विरोध आता है। इससे अर्थात् उत्पत्ति करणों (चिह्नों) के पराधीन होने से अवधिज्ञान की प्रत्यक्षता विनष्ट हो जाती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अनेकक्षेत्र में उसके (करणों के) पराधीन न होने पर उसमें प्रत्यक्ष का

---

१. ध.पु. १ पृ. ३६५-३६६। २. ध.पु. १३ पृ. २९५। ३. ध.पु. १३ पृ. २९५-२९६।

लक्षण पाया जाता है।[1]

एकक्षेत्र अवधिज्ञान की अपेक्षा शरीरप्रदेश अनेक संस्थान संस्थित होते हैं ॥५७॥[2] जिस प्रकार शरीरों का और इन्द्रियों का प्रतिनियत आकार होता है, उस प्रकार अवधिज्ञान के करण अर्थात् उत्पत्ति चिह्न रूप शरीरप्रदेशों का नहीं होता, किन्तु अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को प्राप्त हुए जीवप्रदेशों के करणरूप शरीरप्रदेश अनेक संस्थानों से संस्थित होते हैं। अर्थात् अनेक आकार के होते हैं। गा. २०१ में पृथिवीकाय आदि के शरीरों के आकार और गा. १७१ में इन्द्रियों के प्रतिनियत आकारों का कथन हो चुका है। अवधिज्ञान के करणरूप अर्थात् उत्पत्ति-स्थान स्वरूप शरीरप्रदेशों का आकार श्रीवत्स, कलश, शंख, साथिया और नन्दावर्त आदि होते हैं ॥५८॥[3] यहाँ आदि शब्द से अन्य भी शुभ संस्थानों का ग्रहण करना चाहिए। एक जीव के एक ही स्थान में अवधिज्ञान का करण होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि किसी भी जीव के एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह आदि क्षेत्ररूप शंखादि शुभ संस्थान सम्भव हैं। ये संस्थान तिर्यंचों और मनुष्यों के नाभि के उपरिम भाग में होते हैं, नीचे के भाग में नहीं होते, क्योंकि शुभ संस्थानों का अधोभाग के साथ विरोध है। तथा तिर्यंच और मनुष्य विभंगज्ञानियों के नाभि से नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं, ऐसा गुरु का उपदेश है, इस विषय में कोई सूत्रवचन नहीं है। विभंगज्ञानियों के कालान्तर में सम्यक्त्व आदि की उत्पत्ति के फलस्वरूप अवधिज्ञान के उत्पन्न होने पर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते हैं, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

कितने ही आचार्य अवधिज्ञान और विभंगज्ञान का क्षेत्र-संस्थान-भेद तथा नाभि के नीचे-ऊपर का नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अवधिज्ञानसामान्य की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की संगति से किये गये नाम-भेद के होने पर भी अवधिज्ञान की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसी अर्थ को यहाँ प्रधान करना चाहिए।[4]

अवधिज्ञान के भेद

गुणपच्चइगो छद्धा, अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा।
देसोही परमोही सव्वोहित्ति य तिधा ओही ॥३७२॥

गाथार्थ—गुणप्रत्यय अवधिज्ञान छह प्रकार का है, अनुगामी, अवस्थित, वर्धमान ये तीन और तीन इनके इतर अर्थात् उलटे देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से अवधिज्ञान तीन प्रकार का है ॥३७२॥

विशेषार्थ—वह अवधिज्ञान अनेक प्रकार का होता है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि,

---

१. विवक्षित प्रकरण में राजवार्तिककार ने ऐसा कहा है कि करणों के आधीन अवधिज्ञानोपयोग होने पर भी अवधिज्ञान पराधीन या परोक्ष नहीं कहा जा सकता। यत: इन्द्रियों में ही "पर" शब्द देखा जाता है। अर्थात् इन्द्रियों को ही पर कहा गया है; करणों (चिह्नों) को नहीं। रा.वा. १/२२/४/८३। २. "खेत्तदो ताव अणेयसंठाण संठिदा ॥५७॥" [ध.पु. १३ पृ. २९६]। ३. "सिरिवच्छ-कलस-संख-सोत्थिय-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवंति ॥५८॥" [ध.पु. १३ पृ. २९७]। ४. ध.पु. १३ पृ. २९७-९८।

हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र ।।५६।।[1] इनमें से एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र का कथन गा. ३७१ की टीका में किया जा चुका है अतः इन दो का कथन यहाँ पर नहीं किया जाएगा। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि का कथन आगे किया जाएगा।

यद्यपि गाथा में गुणप्रत्यय अवधिज्ञान छह प्रकार का है, ऐसा निर्देश किया गया है तथापि गुणप्रत्यय शब्द से यहाँ पर सामान्य अवधिज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनेक प्रकार का होता है, ऐसा क्यों न ग्रहण किया जावे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी और अननुगामी भेद उपलब्ध होते हैं।

कृष्णपक्ष के चन्द्रमण्डल के समान जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर वृद्धि और अवस्थान बिना निःशेष विनष्ट होने तक घटता ही जाता है वह **हीयमान अवधिज्ञान** है। इसका देशावधि में अन्तर्भाव होता है, परमावधि और सर्वावधि में नहीं, क्योंकि परमावधि और सर्वावधि में हानि नहीं होती। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमण्डल के समान, प्रतिसमय अवस्थान के बिना जब तक अपने उत्कृष्ट विकल्प को प्राप्त होकर अगले समय में केवलज्ञान को उत्पन्न कर विनष्ट नहीं हो जाता तब तक बढ़ता ही रहता है वह **वर्धमान अवधिज्ञान** है। इसका देशावधि, परमावधि और सर्वावधि में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि वह तीनों ही ज्ञानों का सहारा लेकर अवस्थित है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कदाचित् बढ़ता है, कदाचित् घटता है और कदाचित् अवस्थित रहता है वह **अनवस्थित अवधिज्ञान** है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर वृद्धि व हानि के बिना दिनकरमण्डल के समान केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक अवस्थित रहता है वह **अवस्थित अवधिज्ञान** है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीव के साथ जाता है वह **अनुगामी अवधिज्ञान** है। वह तीन प्रकार का है—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्र-भवानुगामी।[2] उनमें से जो अवधिज्ञान एकक्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वतः या परप्रयोग से जीव के स्वक्षेत्र या परक्षेत्र में विहार करने पर विनष्ट नहीं होता है वह **क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान** है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीव के साथ अन्य भव में जाता है वह **भवानुगामी अवधिज्ञान** है। जो भरत, ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रों में तथा देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच भवों में भी साथ जाता है वह **क्षेत्र-भवानुगामी** अवधिज्ञान है। जो अननुगामी अवधिज्ञान है—क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और क्षेत्र-भवाननुगामी। जो क्षेत्रान्तर में साथ नहीं जाता है, पर भवान्तर में साथ जाता है वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान है। जो भवान्तर में साथ नहीं जाता है, पर क्षेत्रान्तर में साथ जाता है वह भवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनों में साथ नहीं जाता, किन्तु एक ही क्षेत्र और भव के साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्र-भवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाश को प्राप्त होता है वह **सप्रतिपाती अवधिज्ञान** है[3] इसका पूर्वोक्त अवधिज्ञानमें प्रवेश नहीं होता है, क्योंकि हीयमान, वर्धमान, अनवस्थित, अवस्थित, अनुगामी और अननुगामी इन छहों ही

---

१. "तं च अणेयविहं देसोही परमोही सव्वोही हायमाणयं वड्ढमाणयं अवट्ठिदं अणुगामी अणणुगामी सप्पडिवादी अप्पडिवादी एयक्खेत्तमणेयक्खेतं ।।५६।।" [धवल पु. १३ पृ. २९२]। २. धवल पु. १३ पृ. २९३-२९४।
३. बिजली की चमक की तरह विनाशशील अवधि प्रतिपाती है। रा.वा. १/२२/४/पृ. ८२।

अवधिज्ञान से भिन्न स्वरूप होने के कारण उनमें से किसी एक में उसका प्रवेश मानने में विरोध आता है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर विनष्ट होता है, अन्यथा विनष्ट नहीं होता, वह **अप्रतिपाती अवधिज्ञान** है। यह भी उन विशेष स्वरूप पहले के अवधिज्ञानों में अन्तर्भूत नहीं होता। क्योंकि यह सामान्य स्वरूप है।[1]

यद्यपि प्रकृत गाथा में तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रतिपाती और अप्रतिपाती ये दो भेद नहीं कहे गये हैं तथापि छह भेदों से भिन्न ये दो भेद भी कहने योग्य हैं। इसीलिए धवल ग्रन्थ में इनका भी कथन पाया जाता है। अतः यहाँ भी प्ररूपणीय जान कर उनका स्वरूपाख्यान किया है। इनका कथन षट्खण्डागम के मूल सूत्र ५६ में है।

भवपच्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वोही।
गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणे होदि ॥३७३॥

गाथार्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि ही होता है। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही होते हैं। देशावधि भी गुणप्रत्यय होता है ॥३७३॥

विशेषार्थ—परमावधि ज्ञान में परम शब्द का अर्थ ज्येष्ठ है। परम ऐसा जो अवधि वह परमावधि है।

शङ्का—इस परमावधि ज्ञान के ज्येष्ठपना कैसे है ?

समाधान—चूंकि यह परमावधि ज्ञान देशावधि की अपेक्षा महाविषयवाला है, मनःपर्ययज्ञान के समान संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, अपने उत्पन्न होनेवाले भव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है और अप्रतिपाती है, इसलिए ज्येष्ठ है।[2] परमावधि ज्ञान के उत्पन्न होने पर वह जीव न कभी मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और न कभी असंयम को प्राप्त होता है। इसलिए उसका मरण सम्भव न होने से देवों में उत्पाद नहीं होता।[3]

सर्वावधि ज्ञान—विश्व और कृत्स्न ये 'सर्व' शब्द के समानार्थक शब्द हैं। सर्व है मर्यादा जिस ज्ञान की वह सर्वावधि है। यहाँ सर्व शब्द समस्त द्रव्य का वाचक नहीं है, क्योंकि जिसके परे अन्य द्रव्य न हो उसके अवधिपना नहीं बनता, किन्तु सर्व शब्द सबके एकदेशरूप रूपी द्रव्य में वर्तमान ग्रहण करना चाहिए। इसलिए सर्वरूपगत है अवधि जिसकी; इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए। अथवा जो आकुंचन और विसर्पणादि को प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है। वही जिसकी मर्यादा है वह सर्वावधि है।[4] यह सर्वावधिज्ञान भी चरमशरीरी संयत के होता है। अथवा 'सर्व' का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो-जो अर्थ होता है वह भी उपचार से सर्व कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञान की होती है (केवलज्ञान से ज्ञात अर्थ है मर्यादा जिसकी) वह सर्वावधिज्ञान है। यह भी निर्ग्रन्थों के ही होता है।[5]

---

१. धवल पु. १३ पृ. २९४-२९५। २. धवल पु. ९ पृ. ४१। ३. धवल पु. १३ पृ. ३२३। ४. धवल पु. ९ पृ. ४७। ५. धवल पु. १३ पृ. ३२३।

देशावधि—'देश' का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है। वह जिस ज्ञान की अवधि (मर्यादा) है वह देशावधि ज्ञान है। उसके होने पर जीव मिथ्यात्व को भी प्राप्त होता है और असंयम को भी प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है।[1]

परमावधि ज्ञान और सर्वावधि ज्ञान चरमशरीरी संयतों के ही होता है; देव व नारकियों के संयम सम्भव नहीं है अत: देव व नारकियों के परमावधि व सर्वावधि ज्ञान नहीं होता। परिशेष न्याय से उनके देशावधिज्ञान ही होता है। इसीलिए देव व नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान को देशावधि कहा गया है। सर्वावधि व परमावधि ज्ञान संयतों के ही होता है, अत: वे गुण-प्रत्यय ही होते हैं। मनुष्य व तिर्यंचों के जो देशावधि ज्ञान होता है वह गुणप्रत्यय ही है क्योंकि मनुष्य और तिर्यंचों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं होता, वह देव व नारकियों के होता है।[2]

देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं।
परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स ।।३७४।।

गाथार्थ—जघन्य देशावधि ज्ञान मनुष्य व तिर्यंचों के होता है। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयत के ही होता है। परमावधि और सर्वावधि ज्ञान चरमशरीरी विरत (संयत) के होता है ।।३७४।।

विशेषार्थ—"उक्कस्सं माणुसेसु य माणुस-तेरिच्छए जहण्णोही।"[3] उत्कृष्ट अवधिज्ञान तिर्यंच, देव और नारकियों के नहीं होता, क्योंकि उनके संयम नहीं हो सकता, मात्र मनुष्यों के होता है, उनमें भी संयमी मनुष्य के होता है अन्य के नहीं। अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान महा ऋषियों के ही होता है। जघन्य अवधिज्ञान देव व नारकियों के नहीं होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य व तिर्यंचों के ही होता है।[4] आगे गाथा ३७८ में जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना प्रमाण और काल आवली का असंख्यातवाँ भाग (गाथा ३८३ में) कहा जाएगा। किन्तु नरक में जघन्य क्षेत्र एक कोस (गाथा ४२४) और देवों में जघन्य पच्चीस योजन (गाथा ४२६) कहा जावेगा; इससे जाना जाता है कि जघन्य अवधिज्ञान देव व नारकियों के नहीं होता। परमावधि और सर्वावधि का कथन ३७३ के विशेषार्थ में किया जा चुका है।

पडिवादी देसोही अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ।
मिच्छत्तं अविरमणं ण य पडिवज्जंति चरिमदुगे ।।३७५।।

गाथार्थ—देशावधि प्रतिपाती है और शेष दो अप्रतिपाती हैं। अन्तिम दो अवधिज्ञान मिथ्यात्व व असंयम को प्राप्त नहीं होते ।।३७५।।

विशेषार्थ—देशावधिज्ञान के होने पर जीव गिरकर मिथ्यात्व को भी प्राप्त होता है और असंयम को भी प्राप्त होता है।[5] इससे सिद्ध होता है कि देशावधि प्रतिपाती है। परमावधिज्ञान

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३२३। २. धवल पु. १३ पृ. २९२ सूत्र ५४ व ५५। ३. धवल पु. १३ पृ. ३२७ गाथा १७ का पूर्वार्ध। ४. धवल पु. १३ पृ. ३२७। ५. "तत्थ मिच्छत्तं पि गच्छेज्ज असंजमं पि गच्छेज्ज, अविरोहादो।"[धवल पु. १३ पृ. ३२३]

अपने उत्पन्न होने के भव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है और अप्रतिपाती है।[1] परमावधिज्ञान की उत्पत्ति संयतों के ही होती है। परमावधिज्ञान के उत्पन्न होने पर यह जीव न कभी मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और न कभी असंयम को प्राप्त होता है।

शङ्का—परमावधि ज्ञानी के मरकर देवों में उत्पन्न होने पर असंयम की प्राप्ति कैसे नहीं होती?

समाधान—नहीं, क्योंकि परमावधिज्ञानियों का प्रतिपात नहीं होने से देवों में उनका उत्पाद सम्भव नहीं है।[2]

सर्व का अर्थ केवलज्ञान है। सर्व अवधि अर्थात् सर्व है मर्यादा जिस ज्ञान की, वह सर्वावधि ज्ञान है।[3]

हीयमान अवधिज्ञान का परमावधि और सर्वावधि में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि परमावधि और सर्वावधि में हानि नहीं होती। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमण्डल के समान, जब तक अपने उत्कृष्ट विकल्प को प्राप्त होकर केवलज्ञान को उत्पन्न कर विनष्ट नहीं हो जाता, तब तक प्रतिसमय बढ़ता ही रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है उसका परमावधि सर्वावधि में अन्तर्भाव होता है।[4] इससे सिद्ध है कि परमावधि व सर्वावधि अप्रतिपाती हैं और मिथ्यात्व व असंयम को प्राप्त नहीं होते।

परमावधिज्ञान और सर्वावधिज्ञान अप्रतिपाती, अविनश्वर हैं, केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक रहते हैं।[5]

द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवधिज्ञान का विषय

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि रूवि जाणदे ओही।
अवरादुक्कस्सोत्ति य वियप्परहिदो दु सव्वोही ॥३७६॥

गाथार्थ—जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद तक सर्व ही अवधिज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भाव से रूपी द्रव्य को जानते हैं। सर्वावधि ज्ञान में जघन्य उत्कृष्ट का विकल्प नहीं है ॥३७६॥

महास्कन्ध से लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्यों को असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र, काल और भावों को तथा कर्म के सम्बन्ध पुद्गल भाव (मूर्तपने) को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है।[6] अरूपी (अमूर्त) द्रव्य का प्रतिषेध करने के लिए रूपगत विशेषण दिया है।

शङ्का—यदि इस (अवधिज्ञान) के द्वारा केवल रूपी द्रव्य ही ग्रहण किया जाता है तो फिर

---

१. "सगुप्पण्णभवे चेव केवलणाणुप्पत्तिकारणत्तादो, अप्पडिवादित्तादो वा। "[धवल पु. ९ पृ. ४१]। २. परमोहिणाणे सो जीवो मिच्छत्तं ण कयावि गच्छदि, असंजमं पि णो गच्छदि त्ति भणिद होदि।" [धवल पु. १३ पृ. ३२३]। ३. "सव्वं केवलणाणं। सव्वमोही मज्जाया जस्स णाणस्स त सव्वोहिणाणं।" [धवल पु. १३ पृ. ३२३] ४. धवल पु. १३ पृ. २९३। ५. ध. पु. १३ पृ. ३२८। ६. ज.ध.पु. १ पृ. ४३।

इससे अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे रूपी नहीं हैं। रूपीपने का अभाव भी उनमें द्रव्यत्व के अभाव से है ?

समाधान--यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उन पुद्गल पर्यायों के कथंचित् रूपी द्रव्यत्व सिद्ध है।[1] "**रूपिष्ववधेः**"[2] सूत्र द्वारा भी अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ कहा गया है। और "**रूपिणः पुद्गलाः**" ।।५।।[3] सूत्र द्वारा पुद्गल द्रव्य को रूपी कहा गया है। जीव अनादिकाल से कर्मबन्ध से बँधा हुआ होने के कारण मूर्त (रूपी) पने को प्राप्त है।[4] इसलिए संसारी जीव भी अवधिज्ञान का विषय हो जाता है।[5]

सर्वावधि एकविकल्परूप है; उसमें जघन्य, उत्कृष्ट और तद्व्यतिरिक्त विकल्प नहीं है।[6]

अवधिज्ञान के विषयभूत जघन्य प्रमाण

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ।।३७७।।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ।।३७८।।

अवरोहिखेत्तदीहं वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो।
अण्णं पुण समकरणे अवरोगाहणपमाणं तु ।।३७९।।

अवरोगाहणमाणं उस्सेहंगुल-असंखभागस्स।
सूइस्स य घणपदरं होदि हु तक्खेत्तसमकरणे ।।३८०।।

अवरं तु ओहिखेत्तं उस्सेहं अंगुलं हवे जम्हा।
सुहमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं ।।३८१।।

अवरोहिखेत्तमज्झे अवरोही अवरदव्वमवगमदि।
तद्दव्वस्सवगाहो उस्सेहासंखघणपदरा ।।३८२।।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ।।३८३।।

गाथार्थ—मध्यम योग के द्वारा अर्जित, विस्रसोपचय सहित नोकर्म औदारिक वर्गणाओं में लोक का भाग देने से प्राप्त द्रव्य को नियम से जघन्य अवधिज्ञान जानता है।।३७७।। सूक्ष्म लब्ध्य-पर्याप्तक निगोदिया की, उत्पन्न होने से तीसरे समय में जो जघन्य अवगाहना होती है, जितना उसका

---

१. ध.पु. ९ पृ. ४४। २. तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र २७। ३. तत्त्वार्थसूत्र अ. ५। ४. "अणादि बंधणबद्धत्तादो।" [ज.ध.पु. १ पृ. २८८। ५. त. रा. वा.। ६. "एत्थ जहण्णुक्कस्स तव्वदिरित्तवियप्पा णत्थि, सव्वोहीए एयवियप्पत्तादो।" [ध.पु. ९ पृ. ४८]।

प्रमाण है उतना जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है ॥३७८॥ जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र की ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई के भिन्न-भिन्न प्रमाण का इस समय ज्ञान नहीं है किन्तु समीकरण करने पर जितना जघन्य अवगाहना का प्रमाण होता है उतना ही जघन्य अवधि का क्षेत्र है ॥३७९॥ जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का समीकरण करने पर उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग उत्सेध, विष्कम्भ आयामरूप घनप्रतर प्रमाण जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है ॥३८०॥ जघन्य अवधिक्षेत्र का प्रमाण (माप) उत्सेधांगुल से है क्योंकि सूक्ष्म अवगाहना से ऊपर की अवगाहनायें प्रमाणांगुल से हैं ॥३८१॥ जघन्य अवधिज्ञान के जघन्य अवधिक्षेत्र में जितने जघन्य द्रव्य समा जाते हैं, उन द्रव्यों की अवगाहना उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग के घनप्रतरप्रमाण है ॥३८२॥ जघन्य अवधिज्ञान आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण अतीत व अनागत काल को जानता है। भाव की अपेक्षा काल के असंख्यातवें भाग को जानता है ॥३८३॥

विशेषार्थ—देशावधि तीन प्रकार है—जघन्य, उत्कृष्ट, अजघन्यानुत्कृष्ट। जघन्य अवधि विषय की प्रमाणप्ररूपणा के बिना जघन्य देशावधि की प्रमाणप्ररूपणा का कोई उपाय है नहीं, अतः जघन्य विषय की प्ररूपणा के द्वारा जघन्य अवधि के प्रमाण की प्ररूपणा की जाती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से विषय चार प्रकार है।

जघन्य द्रव्य का प्रमाण—कर्म से रहित व अपने विस्रसोपचय सहित औदारिक शरीर नोकर्म द्रव्य में घनलोक का भाग देने पर एकभागप्रमाण जघन्य अवधि द्रव्य होता है।

शङ्का—विस्रसोपचयसहित औदारिकशरीर जघन्य, उत्कृष्ट और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार है; उनमें से किसको घनलोक से भाजित किया जाता है?

समाधान—न तो जघन्य द्रव्य को और न उत्कृष्ट द्रव्य को घनलोक से भाजित किया जाता है, किन्तु जिन भगवान से देखा गया है स्वरूप जिसका ऐसा तद्व्यतिरिक्त द्रव्य घनलोक से भाजित किया जाता है। कारण कि क्षपित व गुणित विशेषण से विशिष्ट द्रव्य के निर्देश का अभाव है। संख्या में ही यह नियम है ऐसा प्रत्यवस्थान (समाधान) करना भी उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ भी संख्या का अधिकार है।[1]

शङ्का—जघन्य अवधिज्ञान क्या इसी द्रव्य को जानता है अथवा अन्य को भी? यदि इसे ही जानता है तो अपने अवधिक्षेत्र के भीतर स्थित जघन्यद्रव्य स्कन्ध से एक परमाणु अधिक, दो परमाणु अधिक इत्यादि क्रम से स्थित स्कन्धों के ग्रहण का अभाव हो जाएगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि अपने क्षेत्र के भीतर स्थित अनन्त भेदों से भिन्न स्कन्धों के ग्रहण न होने का विरोध है और यदि [अपने अवधिक्षेत्र के भीतर स्थित जघन्य द्रव्य से] परमाणु अधिक स्कन्धों को भी वह जानता है तो यही जघन्य अवधि-द्रव्य न होगा, क्योंकि अन्य भी जघन्य अवधिद्रव्य देखे जाते हैं?

समाधान—जघन्य अवधिद्रव्य एक प्रकार है ऐसा नहीं कहा गया है, किन्तु वह अनन्त विकल्प रूप है। उन अनन्त विकल्परूप जघन्य अवधिज्ञान विषयक स्कन्धों में से यह गाथोक्त स्कन्ध अतिजघन्य कहा गया है। इस स्कन्ध से एक, दो तीन आदि परमाणुओं से न्यून स्कन्ध जघन्य

---

१. ध.पु. ९ पृ. १४-१५।

देशावधि के विषय नहीं हैं, क्योंकि वे जघन्य के विषयभूत द्रव्यस्कन्ध के बाहर अवस्थित हैं।

शङ्का—जघन्यअवधि के विषयभूत उत्कृष्ट स्कन्ध का प्रमाण क्या है ?

समाधान—जघन्य अवधिक्षेत्र के भीतर जो पुद्गल स्कन्ध समाता है वह उसका उत्कृष्ट द्रव्य है। उससे एक, दो तीन आदि अनन्त परमाणु तक अपने उत्कृष्ट द्रव्य से सम्बद्ध होते हुए भी जघन्य अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य नहीं है। क्योंकि वे जघन्य अवधिज्ञान के उद्योत से बाह्यक्षेत्र में स्थित हैं।

जघन्यदेशावधि का जघन्य क्षेत्र—उत्सेध घनांगुल में पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर एकभाग प्रमाण देशावधि का जघन्य क्षेत्र होता है।[1]

शङ्का—यह कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान—**ओगाहणा णियमा दु सुहुम-णिगोद-जीवस्स।**
जद्देही तद्देही जहण्णिया खेत्तदो ओही ॥४॥[2]

—नियम से सूक्ष्म निगोद जीव की जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतने क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अवधि है। अर्थात् एक उत्सेध घनांगुल को स्थापित कर उसमें पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो एक खण्डप्रमाण लब्ध आता है उतनी तीसरे समय में आहार को ग्रहण करने वाले और तीसरे समय में तद्भवस्थ हुए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना होती है। जितनी यह अवगाहना होती है, उतने ही क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञान होता है।[3]

शङ्का—सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की अवगाहना की एक आकाशपंक्ति की भी अवगाहना संज्ञा है, इसलिए क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञान तत्प्रमाण क्यों नहीं ग्रहण करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जघन्य विशेषण से युक्त अवगाहना का निर्देश किया है। एक आकाशपंक्ति जघन्य अवगाहना होती है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि समुदाय रूप अर्थ में वाक्य की परिसमाप्ति इष्ट है। इसलिए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की अवगाहना में स्थित सब आकाशप्रदेशों का ग्रहण किया है।

शङ्का—यहाँ पर अवयवरूप अर्थ में वाक्य की परिसमाप्ति ग्रहण नहीं की गई है, यह किस प्रमाण से जानते हो ?

समाधान—आचार्य परम्परा से आए हुए अविरुद्ध उपदेश से जानते हैं।

अतः जितनी जघन्य अवगाहना होती है, क्षेत्र की अपेक्षा उतना जघन्य अवधिज्ञान है। यह सिद्ध होता है।

---

१. ध. पु. ९ पृ. १५-१६। २. ध. पु. ९ पृ. १६; ध. पु. १३ पृ. ३०१; महाबंध पु. १ पृ. २१। ३. ध. पु. १३ पृ. ३०१-३०२।

शङ्का—इस जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र को एक आकाशप्रदेशपंक्तिरूप से स्थापित करके उसके भीतर स्थित जघन्य द्रव्य को जानता है, ऐसा यहाँ क्यों नहीं ग्रहण करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा ग्रहण करने पर जघन्य अवगाहना से असंख्यातगुणे जघन्य-अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रसंग प्राप्त होता है। जो जघन्य-अवधिज्ञान से अवरुद्ध क्षेत्र है, वह जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र कहलाता है। किन्तु यहाँ पर वह जघन्य अवगाहना से असंख्यातगुणा दिखाई देता है। यथा—जितना जघन्य अवगाहना के क्षेत्र का आयाम है तत्प्रमाण जघन्य द्रव्य के विष्कम्भ और उत्सेध रूप से स्थित अवधिज्ञान के क्षेत्र का क्षेत्रफल लाने पर जघन्य अवगाहना को जघन्य द्रव्य के विष्कम्भ और उत्सेध से गुणित करने पर जघन्य अवगाहना से असंख्यात गुणा क्षेत्र उपलब्ध होता है। परन्तु यह क्षेत्र इसी प्रकार होता है, यह कहना भी योग्य नहीं है। क्योंकि "जितनी जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है।" ऐसा प्रतिपादन करने वाले सूत्र के साथ उक्त कथन का विरोध होता है। और इस तरह से स्थापित जघन्यक्षेत्र के अन्तिम आकाशप्रदेश में जघन्य द्रव्य समा जाता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि एक जीव से सम्बन्ध रखने वाले, विस्रसोपचय-सहित नोकर्म के पिण्डरूप और घनलोक का भाग देने पर प्राप्त हुए एक खण्डमात्र जघन्य द्रव्य की एक वर्गणा की भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहना उपलब्ध होती है। अवधिज्ञानी एक आकाशप्रदेशसूची रूप से जानता है, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर वह जघन्य मतिज्ञान से भी जघन्य प्राप्त होता है और जघन्य द्रव्य के जानने का अन्य उपाय भी नहीं रहता। इसलिए जघन्य अवधिज्ञान के द्वारा अवरुद्ध हुए सब क्षेत्र को उठाकर घनप्रतर के आकाररूप से स्थापित करने पर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना प्रमाण होता है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। जघन्य अवधिज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले क्षेत्र का क्या विष्कम्भ है, क्या उत्सेध है और क्या आयाम है; ऐसा पूछने पर कहते हैं कि इस सम्बन्ध में कोई उपदेश उपलब्ध नहीं होता। किन्तु घनप्रतराकाररूप से स्थापित अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्र का प्रमाण उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग है, यह उपदेश अवश्य ही उपलब्ध होता है।

इस पल्योपम के असंख्यातवें भाग का घनांगुल में भाग देनेपर घनांगुल के असंख्यातवें भाग सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र उत्सेध, विष्कम्भ व आयाम रूप क्षेत्र आता है। यह जघन्य अवधिक्षेत्र अर्थात् जघन्य अवधिज्ञान से विषय किया गया सम्पूर्ण क्षेत्र है और घनप्रतराकार से ही सब अवधिक्षेत्र अवस्थित हैं, ऐसा नियम नहीं है; किन्तु सूक्ष्म निगोद जीव के अवगाहनाक्षेत्र के समान अनियत आकारवाले अवधिक्षेत्रों का समीकरण कर घनप्रतराकार से करके प्रमाणप्ररूपणा की जाती है, ऐसा करने के बिना उसका कोई उपाय नहीं है।

सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना मात्र यह सब ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र अवधि-ज्ञानी जीव और उसके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले द्रव्य का अन्तर है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करने से सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना से जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र के असंख्यातगुणे होने का प्रसंग आएगा।

शङ्का—असंख्यातगुणा कैसे होगा ?

समाधान—क्योंकि, जघन्य अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र के विस्तार और उत्सेध से आयाम को गुणा करनेपर उससे असंख्यातगुणत्व सिद्ध होता है और असंख्यातगुणत्व सम्भव है नहीं, क्योंकि,

'जितनी सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधि का क्षेत्र है' ऐसा कहनेवाले गाथासूत्र के साथ विरोध होगा। चूंकि अवधिज्ञानी एक श्रेणी में ही जानता है, अतएव सूत्रविरोध नहीं होगा, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर चक्षु-इन्द्रियजन्य ज्ञान की अपेक्षा भी उसके जघन्यता का प्रसंग आएगा। कारण कि चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञान से संख्यात सूच्यंगुल विस्तार, उत्सेध और आयाम रूप क्षेत्र के भीतर स्थित वस्तु का ग्रहण देखा जाता है। तथा वैसा मानने पर इस जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का आयाम असंख्यात योजन प्रमाण प्राप्त होगा।

शङ्का—यदि उक्त अवधिक्षेत्र का आयाम असंख्यातगुणा प्राप्त होता है तो होने दीजिए, क्योंकि, वह इष्ट ही है?

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके काल से असंख्यातगुणे अर्ध मास काल से अनुमित असंख्यातगुणे भरत रूप अवधिक्षेत्र में भी असंख्यात योजन प्रमाण आयाम नहीं पाया जाता। दूसरे, उत्कृष्ट देशावधिज्ञानी संयत अपने उत्कृष्ट द्रव्य को आदि करके एक परमाणु आदि अधिक क्रम से स्थित घनलोक के भीतर रहनेवाले सब पुद्गलस्कन्धों को क्या युगपत् जानता है या नहीं जानता? यदि नहीं जानता है तो उसका अवधिक्षेत्र लोक नहीं हो सकता, क्योंकि, वह एक आकाश-श्रेणी में स्थित पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण करता है और यह एक आकाशपंक्ति घनलोक प्रमाण हो नहीं सकती, क्योंकि, घनलोक के असंख्यातवें भाग रूप उसमें घनलोकप्रमाणत्व का विरोध है। इसके अतिरिक्त वह कुलाचल, मेरुपर्वत, भवनविमान, आठ पृथिवियों, देव, विद्याधर, गिरगिट और सरीसृपादिकों को भी नहीं जान सकेगा, क्योंकि, इनका एक आकाश में अवस्थान नहीं है। और वह उनके अवयव को भी नहीं जानेगा, क्योंकि, अवयवी के अज्ञात होनेपर 'यह इसका अवयव है' इस प्रकार जानने की शक्ति नहीं हो सकती। यदि वह युगपत् सब घनलोक को जानता है तो हमारा पक्ष सिद्ध है, क्योंकि वह प्रतिपक्ष से रहित है।

सूक्ष्म निगोद जीव की अवगाहना को घनप्रतराकार से स्थापित करनेपर एक आकाश विस्तार रूप अनेक श्रेणीको ही जानता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा होनेपर 'जितनी सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधि का क्षेत्र है', ऐसा कहने वाले गाथासूत्र के साथ विरोध होगा और छद्मस्थों के अनेक श्रेणियों का ग्रहण विरुद्ध नहीं है, क्योंकि, चक्षु-इन्द्रियजन्य ज्ञान से अनेक श्रेणियों में स्थित पुद्गलस्कन्धों का ग्रहण पाया जाता है।

अवधिज्ञान के जघन्यक्षेत्र का प्रमाण सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्त निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना के सदृश है अतः उसका क्षेत्र उत्सेधांगुल से कहा गया। उससे आगे क्षेत्र का कथन प्रमाण घनांगुल से है, क्योंकि देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्यों के उत्सेध के कथन के सिवा अन्यत्र प्रमाणांगुल की अपेक्षा कथन होता है।[1]

जघन्य काल—अंगुल के असंख्यात खण्डों में से एक खण्ड मात्र जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र

---

१. ध. पु. १३ पृ. ३०४।

होता है वह काल की अपेक्षा आवली के असंख्यातवें भाग को जानता है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल के भीतर अतीत और अनागत द्रव्य को जानता है।[1] यह अभिप्राय है। आवली के असंख्यातवें भाग का आवली में भाग देने पर जघन्य अवधि का काल आवली के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। इतने मात्र काल में जो कार्य हो चुका हो और जो होनेवाला हो उसे जघन्य अवधिज्ञानी जानता है।

शङ्का—इसका काल इतना ही है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—जघन्य क्षेत्र व काल क्रमशः घनांगुल और आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है (गा. ४०४)। इस गाथा सूत्र के कथन से जाना जाता है।[2]

जघन्य भाव—अपना जो जाना हुआ द्रव्य है उसकी अनन्त वर्तमान पर्यायों में से जघन्य अवधिज्ञान के द्वारा विषयीकृत आवली के असंख्यातवें भाग पर्यायें जघन्य भाव है। कितने ही जघन्य द्रव्य के ऊपर स्थित रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि रूप सब पर्यायों को उक्त अवधिज्ञान जानता है, ऐसा कहते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि वे अनन्त हैं। और उत्कृष्ट भी अवधिज्ञान अनन्त संख्या के जानने में समर्थ नहीं है। क्योंकि आगम में वैसे उपदेश का अभाव है।

शङ्का—द्रव्य में स्थित अनन्त पर्यायों को प्रत्यक्ष से न जानता हुआ अवधिज्ञान प्रत्यक्ष से द्रव्य को कैसे जानेगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि उक्त अवधिज्ञान पर्याय के अवयवों में रहनेवाली अनन्त संख्या को छोड़कर असंख्यात पर्यायावयवों से विशिष्ट द्रव्य का ग्राहक है।

शङ्का—अतीत व अनागत पर्यायों की 'भाव' संज्ञा क्यों नहीं की गई?

समाधान—नहीं की गई, क्योंकि उनको काल स्वीकार किया गया है।[3]

द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा देशावधि ज्ञान के विकल्प

अवरद्दव्वादुवरिमदव्ववियप्पाय होदि धुवहारो।
सिद्धाणंतिमभागो अभव्वसिद्धादणंतगुणो ॥३८४॥

धुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिदे।
समयपबद्धपमाणं जाणिज्जो ओहिविसयम्हि ॥३८५॥

मणदव्ववग्गणाण वियप्पाणंतिमसमं खु धुवहारो।
अवरुक्कस्सविसेसा रूवहिया तव्वियप्पा हु ॥३८६॥

अवरं होदि अणंतं अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं।
इदि मणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि धुवहारो ॥३८७॥

---

१. ध. पु. १३ पृ. ३०५। २. ध. पु. ६ पृ. २६-२७। ३. ध. पु. ६ पृ. २७-२८।

धुवहारस्स पमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।
समयपबद्धणिमित्तं कम्मणवग्गणगुणादो दु ॥३८८॥
होदि अणंतिमभागो तग्गुणगारो वि देसओहिस्स ।
दोऊणदव्वभेद-पमाणद्धुवहार-संवग्गो ॥३८९॥

गाथार्थ—अवधिज्ञान के जघन्यद्रव्य के ऊपर दूसरा द्रव्य विकल्प प्राप्त करने के लिये जघन्य-द्रव्य को ध्रुवहार से खण्डित कर एक खण्डप्रमाण द्रव्य का दूसरा भेद होता है। वह ध्रुवहार सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यों से अनन्तगुणा होता है ॥३८४॥ यह ध्रुवहार कर्मवर्गणा की संख्या प्राप्त करने के लिए गुणाकार है, कर्मवर्गणा को इस ध्रुवहार से गुणा करने पर समयप्रबद्ध प्रमाण प्राप्त होता है जो अवधिज्ञान का विषय है और अवधिज्ञान इस समयप्रबद्ध को जानता है ॥३८५॥ जघन्यद्रव्य मनोवर्गणा से उत्कृष्टद्रव्य मनोवर्गणा जितनी अधिक हैं उसमें एक मिलाने पर मनोवर्गणा के विकल्प (भेदों) का प्रमाण प्राप्त होता है। उसका अनन्तवाँ भाग ध्रुवहार है ॥३८६॥ जघन्य मनोवर्गणा अनन्त प्रमाण रूप है और उसका अनन्तवाँ भाग अधिक उत्कृष्ट मनोवर्गणा है। इस प्रकार मनोवर्गणा के भेदों का अनन्तवाँ भाग द्रव्य के लिए ध्रुवहार है ॥३८७॥ सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण मात्र ध्रुवहार का प्रमाण है। अथवा समयप्रबद्ध के निमित्त कर्मवर्गणा का जो गुणाकार है उसका अनन्तवाँ भाग है। वह गुणाकार भी दो कम देशावधि के द्रव्य विकल्प मात्र ध्रुवहार को परस्पर संवर्ग करने से प्राप्त होता है ॥३८८-३८९॥

विशेषार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों में विस्रसोपचय सहित औदारिक शरीर को घनलोक से भाजित करने पर जो एकभाग लब्ध प्राप्त होता है, वह जघन्य अवधिज्ञान का द्रव्य है। मनोद्रव्य-वर्गणा के अनन्तवें भागरूप अवस्थित विरलन राशि (ध्रुवहार) का विरलन करके उसपर जघन्य अवधिज्ञान के द्रव्य को समान खण्ड करके देने पर (यानी ध्रुवहार से भाजित करने पर) जो एक विरलन के प्रति द्रव्य प्राप्त होता है (जो लब्ध प्राप्त होता है) वह दूसरे देशावधिज्ञान का द्रव्य होता है।[1] क्योंकि पूर्वोक्त जघन्यद्रव्य की अपेक्षा करके एक दो परमाणु आदिकों से हीन पुद्गलस्कन्धों के ग्रहण करने में समर्थ, ऐसे ज्ञान के निमित्तभूत अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम का अभाव है।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—'अवधिज्ञानावरण की असंख्यात लोकप्रमाण प्रकृतियाँ हैं।[2] इस वर्गणासूत्र से जाना जाता है।

भाव का द्वितीय विकल्प लाने के लिए जिन (श्रुतकेवली) द्वारा देखा गया है स्वरूप जिस का, ऐसे असंख्यात से गुणा करना चाहिए, अर्थात् भाव की अपेक्षा देशावधि का द्वितीय विकल्प प्रथम विकल्प से असंख्यात गुणा है। क्षेत्र और काल जघन्य ही रहते हैं, क्योंकि उनकी वृद्धि का अभाव है।[3]

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३२२; धवल पु. ९ पृ. २८। २. "ओहिणाणावरणीयस्स कम्मस्स असंखेज्जाओ पयडीओ ॥५२॥" [ध. पु. १३ पृ. २८९]। ३. ध. पु. ९ पृ. २८।

उपर्युक्त गाथाओं में जिसको ध्रुवहार कहा गया है उसको धवल ग्रन्थ में अवस्थित-विरलन राशि कहा गया है। उपर्युक्त गाथाओं में ध्रुवहार का प्रमाण दो प्रकार से बतलाया गया है, मनोवर्गणा का अनन्तवाँ भाग, दूसरा सिद्धों का अनन्तवाँ भाग। यद्यपि समयप्रबद्ध प्राप्त करने के लिये भी कार्मण वर्गणाओं को सिद्धों के अनन्तवें भाग से गुणा करना पड़ता है और एक कार्मणवर्गणा में सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण कर्मवर्ग होता है तथापि ध्रुवहार प्रमाण सम्बन्धी सिद्धों का अनन्तवाँ भाग इस अनन्तवें भाग से भिन्न है। उपर्युक्त छह गाथाओं में ध्रुवहार (अवस्थित विरलनराशि) के प्रमाण को नाना प्रकार से सिद्ध किया गया है किन्तु उन सब का निष्कर्ष यह है कि वह प्रमाण मनोवर्गणा के अनन्तवेंभाग अथवा सिद्धों के अनन्तवें भाग है।

देशावधि ज्ञान के द्वितीय आदि विकल्पों का कथन गाथा ३९४ आदि में किया जाएगा। इन विकल्पों को प्राप्त करने के लिए इस ध्रुवहार से ही भाग दिया गया है। समयप्रबद्ध के लिए जो सिद्धराशि का अनन्तवाँ भाग है उसका भी अनन्तवाँ भाग ध्रुवहार का प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि समयप्रबद्ध = कार्मणवर्गणा × सिद्धों का अनन्तवाँ भाग प्रमाण अनन्त। अब यहाँ इस समीकरण में जो "सिद्धों का अनन्तवाँ भाग" कहा है उसका भी अनन्तवाँ भाग स्वरूप ध्रुवहार है। देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा जितने भेद हैं, उनमें से दो कम करके जो शेष बचे उतनी बार ध्रुवहार को परस्पर गुणा करने से कार्मण वर्गणा का गुणाकार सिद्धों का अनन्तवाँ भाग प्राप्त होता है। देशावधि का द्रव्य-अपेक्षा द्विचरमभेद का विषय कार्मणवर्गणा है। अतः चरमभेद कम करने से द्विचरम भेद प्राप्त होता है और जघन्यभेद गुणाकार से प्राप्त हुआ नहीं। अतः देशावधि का जघन्य भेद और चरमभेद इन दो को द्रव्य सम्बन्धी विकल्पों में से कम किया गया है।

कार्मण वर्गणा का गुणाकार तथा देशावधि के क्षेत्रविकल्पों का प्रमाण

अंगुल-असंखगुणिदा खेत्तवियप्पा य दव्वभेदा हु।
खेत्तवियप्पा अवरुक्कस्सविसेसं हवे एत्थ ॥३९०॥
अंगुलअसंखभागं अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो।
इदि वग्गणगुणगारो असंखधुवहारसंवग्गो ॥३९१॥

गाथार्थ—अंगुल का असंख्यातवाँ भाग देशावधि का जघन्य क्षेत्र है और लोकाकाश उत्कृष्ट क्षेत्र है। जघन्यक्षेत्र से उत्कृष्टक्षेत्र जितना विशेष अधिक है, यहाँ पर उतने क्षेत्र विकल्प हैं। उन क्षेत्रविकल्पों को अंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर देशावधि के द्रव्य विकल्पों का प्रमाण प्राप्त होता है। इस प्रकार असंख्यात ध्रुवहारों का संवर्ग करने पर कार्मणवर्गणा का गुणाकार होता है ॥३९०-३९१॥

विशेषार्थ—यहाँ पर देशावधि के क्षेत्रविकल्पों के आधार से देशावधि के द्रव्यविकल्पों का प्रमाण बतलाया गया है। देशावधि का जघन्य क्षेत्र गा. ३७८ में कहा जा चुका है। तत्सम्बन्धी निम्नलिखित उपयोगी गाथा है—

ओगाहणा जहण्णा णियमा दु सुहुमणिगोदजीवस्स।
जद्देही तद्देही जहण्णिया खेत्तदो ओही ॥३॥[1]

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३०१ व पु. ९ पृ. १६, महाबंध पु. १ पृ. २१।

एक उत्सेध घनांगुल में पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो एक खण्ड प्रमाण क्षेत्र आता है, उतनी तीसरे समय में आहार को ग्रहण करने वाले और तीसरे समय में तद्भवस्थ हुए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना होती है। जितनी वह अवगाहना होती है, उतना देशावधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र होता है।[1] देशावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र लोकप्रमाण है।[2] इस उत्कृष्ट क्षेत्र में से जघन्य क्षेत्र को घटाने पर $\left(\text{लोक}-\frac{\text{उत्सेधघनांगुल}}{\text{पल्य असंख्यात}}\right)$ क्षेत्रविशेष प्राप्त होता है जो असंख्यात प्रमाण है, क्योंकि समस्त लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं।

पूर्व-पूर्व के द्रव्यविकल्प को ध्रुवहार से भाजित करने पर उत्तरद्रव्य विकल्प उत्पन्न होता है। अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य विकल्प हो जाने के पश्चात् देशावधि के क्षेत्रसम्बन्धी विकल्प में एक आकाशप्रदेश की वृद्धि होती है।[3] क्षेत्र के एक विकल्प होने के लिए अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य विकल्प होते हैं तो समस्त क्षेत्रविकल्प होने के लिए अंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित क्षेत्रविकल्प प्रमाण द्रव्यविकल्प होते हैं। इस प्रकार "क्षेत्रविकल्प गुणित अंगुल के असंख्यातवें भाग" प्रमाण द्रव्य विकल्प होते हैं।

इस प्रकार गाथा ३८९ के अनुसार दो कम असंख्यातप्रमाण द्रव्यविकल्प मात्र ध्रुवहारों को परस्पर गुणा करने से कर्मवर्गणा गुणाकार प्राप्त होता है।

कर्मवर्गणा गुणाकार का प्रमाण

वग्गणरासिपमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।
दुगसहियपरमभेद-पमाणवहाराण संवग्गो ॥३९२॥
परमावहिस्स भेदा सगओगाहणवियप्पहदतेऊ।
इदि धुवहारं वग्गणगुणगारं वग्गणं जाणे ॥३९३॥

गाथार्थ—कार्मणवर्गणा राशि का प्रमाण सिद्धों के अनन्तवें भाग मात्र है तथापि दो अधिक परमावधि के भेद प्रमाण ध्रुवहार को संवर्ग करने पर भी कार्मणवर्गणा का प्रमाण प्राप्त हो जाता है ॥३९३॥ तेजस्कायिक जीवों की अवगाहना के जितने विकल्प हैं उनसे तेजस्कायिक जीवराशि को गुणा करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो उतने परमावधि के द्रव्य विकल्प हैं। इस प्रकार ध्रुवहार वर्गणा गुणाकार व वर्ग का प्रमाण जाना जाता है ॥३९२-३९३॥

विशेषार्थ—सूक्ष्म तेजस्कायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग

---

१. "जद्देही जावद्धा एसा ओगाहणा तद्देही तावद्धा चेव जहण्णिया ओही खेत्तदो होदी।" [धवल पु. १३ पृ. ३०२]। २. "देसोहिउक्कस्सखेत्तं लोगमेत्तं।" [धवल पु. १३ पृ. २८] "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥ लोकाकाशे अवगाहः ॥१२॥ धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥" [तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५] ३. "अंगुलस्स असंखेज्जदि भागमेत्ता दव्व-वियप्पा उप्पाएयव्वा। तदो जहण्णखेत्तस्सुवरिएगो आगासपदेसो वड्ढावेदव्वो। एवं वड्ढाविदे खेत्तस्स विदियवियप्पो होदि।" [धवल पु. ९ पृ. २९]।

है। उससे असंख्यातगुणी बादरतेजस्कायिक पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना में से जघन्य अवगाहना को कम करके शेष में जघन्य अवगाहना सम्बन्धी एक रूप का प्रक्षेप करके सामान्य तेजस्कायिक राशि को गुणित करने पर, परमावधि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शलाकाराशि उत्पन्न होती है। उसको पृथक् स्थापित करना चाहिए। देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य को अवस्थित विरलन से (ध्रुवहार से) समखण्ड करके देने पर उनमें एकरूपधरित परमावधि का जघन्य द्रव्य होता है। शलाकाओं में एक रूप कम करना चाहिए। पुनः परमावधि के जघन्य द्रव्य को अवस्थित विरलना से (ध्रुवहार से) समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्ड परमावधि का द्वितीय द्रव्य विकल्प होता है शलाकाओं में से एक रूप कम करना चाहिए। पुनः द्वितीय विकल्प के जघन्य द्रव्य को अवस्थित विरलना से (ध्रुवहार से) समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्ड तृतीय विकल्प रूप द्रव्य होता है। शलाकाओं में से अन्य एक रूप कम करना चाहिए। चतुर्थ, पंचम, छठे और सातवें आदि विकल्पों को इसी प्रकार ले जाना चाहिए, क्योंकि यहाँ कोई विशेषता नहीं है। परमावधि के द्विचरम द्रव्य को अवस्थित विरलना (ध्रुवहार) से समखण्ड करके देने पर अन्तिम द्रव्यविकल्प होता है। परमावधि के उत्कृष्ट (अन्तिम) द्रव्य को अवस्थित विरलना से (ध्रुवहार) समखण्ड करके देने पर एक परमाणु प्राप्त होता है, वही सर्वावधि का विषय है। सर्वावधि एकविकल्प रूप है।[1]

जितनी परमावधि की शलाकाराशि है उतने ही परमावधि के विकल्प हैं और उतनी ही बार ध्रुवहार से द्रव्य खण्डित किया गया। परमावधि के विकल्प के अतिरिक्त एक बार परमाणु प्राप्त करने के लिये ध्रुवहार का भाग दिया गया। देशावधि का द्विचरम विकल्प कार्मण वर्गणा है अतः कार्मण वर्गणा को देशावधि का चरम अर्थात् उत्कृष्ट विकल्प प्राप्त करने के लिए ध्रुवहार का भाग दिया गया। देशावधि का चरम ध्रुवहार और सर्वावधि का ध्रुवहार ये दो ध्रुवहार परमावधि के विकल्पों में मिलाने पर दो अधिक परमावधि के विकल्प प्रमाण ध्रुवहार हुए। इन ध्रुवहारों को परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण (संख्या) प्राप्त हो उससे परमाणु अर्थात् वर्ग को गुणा करने से कर्मवर्गणा प्राप्त होती है। कार्मणवर्गणा को इस संख्या से भाजित करने पर परमाणु अर्थात् वर्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार वर्गगुणाकार, वर्गणा व वर्ग का प्रमाण कहा गया।

देशावधि के द्रव्य-विकल्प

देसोहिअवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे विदियं।
तदियादिवियप्पेसु वि असंखवारोत्ति एस कमो ।।३९४।।

देसोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं।
तेजोभासमणाणं वग्गणयं केवलं जत्थ ।।३९५।।

पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही।
वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदकमा ।।३९६।।

तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपबद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारस्स विभज्जं सव्वोही जाव ताव हवे ।।३९७।।

१. धवल पु. ९ पृ. ४४-४८।

एदम्हि विभज्जंते दुचरिमदेसावहिम्मि वग्गणयं ।
चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु ।।३६८।।

गाथार्थ—देशावधि के जघन्य द्रव्य में एक बार ध्रुवहार का भाग देने पर देशावधि के द्वितीय विकल्प का द्रव्य प्राप्त होता है। द्वितीय विकल्प में ध्रुवहार का भाग देने पर तृतीय विकल्प का द्रव्य प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रम से ध्रुवहार का भाग देने पर असंख्यात विकल्प उत्पन्न करने चाहिए ।।३६४।। देशावधि के मध्यभेदों का विषय जहाँ पर विस्रसोपचय सहित तैजस शरीर, विस्रसोपचय सहित कार्मण शरीर, विस्रसोपचय रहित तैजसवर्गणा, विस्रसोपचय रहित भाषावर्गणा तथा विस्रसोपचय रहित मनोवर्गणा होता है वहाँ पर देशावधि का क्षेत्र असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल असंख्यात वर्ष होता है किन्तु पूर्व-पूर्व की अपेक्षा क्षेत्र व काल क्रम से असंख्यात गुणा असंख्यात गुणा होता है ।।३६५-३६६।। इसके आगे अवधिज्ञान का विषय विस्रसोपचय रहित कार्मण का एक समयप्रबद्ध होता है। इस प्रकार जब तक सर्वावधि का द्रव्य (एक परमाणु) प्राप्त न हो तब तक ध्रुवहार का भाग देते जाना चाहिए ।।३६७।। इस समयप्रबद्ध को ध्रुवहार से भाग देने पर द्विचरम देशावधि की कार्मणवर्गणा प्राप्त होती है। इसमें ध्रुवहार का भाग देने पर देशावधि के चरम भेद का द्रव्य प्राप्त होता है ।।३६८।।

विशेषार्थ—देशावधि और परमावधि के द्रव्य की प्ररूपणा में मेरु पर्वत के समान अवस्थित मनोद्रव्यवर्गणा के अनन्तवें भाग (ध्रुवहार) का विरलन करके उसके ऊपर देशावधि के जघन्य द्रव्य को समखण्ड करके देने पर उसमें एकरूपधरित खण्ड का द्वितीय विकल्प होता है; क्योंकि पूर्वोक्त जघन्य द्रव्य की अपेक्षा करके एक, दो परमाणु आदिकों से हीन पुद्गल स्कन्ध के ग्रहण करने में समर्थ ऐसे देशावधि ज्ञान के निमित्तभूत अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम का अभाव है, क्योंकि 'अवधि ज्ञानावरण कर्म की असख्यात लोकप्रमाण ही प्रकृतियाँ हैं' ऐसा वर्गणासूत्र (**"ओहिणाणावरणस्स असंखेज्जलोग-मेत्तीओ चेव पयडीओ।" धवल पु. १३ पृ. २८६**) है। पश्चात् बहुरूपधरित खण्डों को छोड़कर एकरूपधरित द्वितीय विकल्प रूप द्रव्य को अवस्थित भागहार (ध्रुवहार) के प्रत्येक रूप के ऊपर समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्ड तृतीय विकल्प रूप द्रव्य होता है। क्षेत्र और काल जघन्य ही रहते हैं। पुनः शेष खण्डों को छोड़ करके एकरूपधरित तृतीय विकल्परूप द्रव्य को अवस्थित विरलना (ध्रुवहार) पर समखंड करके देने पर उनमें से एक खण्ड पर प्राप्त द्रव्य चतुर्थ विकल्प रूप द्रव्य होता है। इस प्रकार अभ्रान्त होकर, पाँच, छह, सात आदि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य के विकल्प हो जाने पर क्षेत्र का द्वितीय विकल्प होता है। परन्तु काल जघन्य ही रहता है।[1] इसके आगे मध्य विकल्पों अर्थात् देशावधि के मध्य विकल्पों में अवधिज्ञान का विषय क्रम से इस प्रकार है—

तेया कम्मइय सरीरं तेया दव्वं च भासदव्वं च ।
बोद्धव्वमसंखेज्जा दीव-समुद्दा य वासा य ।।[2]

तेजस शरीर, कार्मण शरीर, तेजोद्रव्य (विस्रसोपचयरहित तैजस वर्गणा), भाषाद्रव्य (विस्रसोपचय रहित भाषावर्गणा) और मनोवर्गणा को जानता है। वहाँ क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र और काल असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है।

---

१. ध. पु. ६ पृ. २८-२९। २. महाबंध पु. १ पृ. २२; ध. पु. १३ पृ. ३१०।

तैजस नोकर्म के संचित हुए प्रदेशपिण्ड को तैजसशरीर कहते हैं। उसे जानता हुआ क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात द्वीप-समुद्रों को जानता है और काल की अपेक्षा असंख्यात वर्ष सम्बन्धी अतीत और अनागत द्रव्य को जानता है। आठ कर्मों सम्बन्धी कर्मस्थिति के संचय को कार्मणशरीर कहते हैं। उसे जानता हुआ भी अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात द्वीपसमुद्रों को और काल की अपेक्षा असंख्यात कर्मों को जानता है। इतनी विशेषता है कि तैजसशरीर सम्बन्धी क्षेत्र और काल से इसका क्षेत्र और काल असंख्यातगुणा होता है।

शङ्का—तैजसशरीर नोकर्म के संचय से कार्मणशरीर का संचय अनन्तगुणा होता है, इसलिए क्षेत्र और काल असंख्यातगुणे नहीं बनते ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रदेशों की अपेक्षा अनन्तगुणे होने पर भी तैजस स्कन्धों से कार्मण स्कन्ध अतिसूक्ष्म होते हैं, इसलिए इसके क्षेत्र और काल के असंख्यातगुणे होने में कोई विरोध नहीं आता। दूसरे ग्राह्यता (ग्रहणयोग्यता) कुछ परमाणुप्रचय के विस्तार की अपेक्षा नहीं करती है, क्योंकि, चक्षु के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य भिण्डी और रजगिरा के कणों की अपेक्षा बहुत परमाणुओं के द्वारा निर्मित पवन में वह (ग्राह्यता) नहीं पाई जाती। चूंकि तैजसशरीर की अवगाहना से कार्मण शरीर की अवगाहना एक जीवद्रव्य सम्बन्धी होने से समान होती है, इसलिए अवधिज्ञान के द्वारा ग्राह्य गुण (ग्रहणयोग्यता) भी दोनों के सदृश हों, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि समान अवगाहनारूप से स्थित औदारिकशरीर और कार्मणशरीर के साथ तथा दूध और पानी के साथ इस कथन का व्यभिचार आता है।

तैजस द्रव्य का अर्थ विस्रसोपचय से रहित एक तैजसवर्गणा है। उसे जो अवधिज्ञान ग्रहण करता है, उस अवधिज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले क्षेत्र का प्रमाण असंख्यात द्वीप-समुद्र होता है और काल असंख्यात वर्ष होता है। इतनी विशेषता है कि कार्मणशरीर के क्षेत्र और काल से इसका क्षेत्र और काल असंख्यातगुणा होता है, क्योंकि कार्मणशरीर के कर्मपुंज से तैजस की एक वर्गणा के प्रदेश अनन्त-गुणे हीन उपलब्ध होते हैं या उससे सूक्ष्म होते हैं।

शङ्का—'तैजस द्रव्य' ऐसा कहने पर उसका एक समयप्रबद्ध क्यों नहीं ग्रहण किया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आगे कहे जाने वाले द्रव्यार्थता नामक अनुयोगद्वार में द्रव्य शब्द की रूढ़िवश वर्गणा अर्थ में ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

भाषा द्रव्य का अर्थ भाषावर्गणा का एक स्कन्ध है। उसे जो अवधिज्ञान जानता है उस अवधिज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले क्षेत्र का प्रमाण असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल का प्रमाण असंख्यात वर्ष है। किन्तु तैजसवर्गणा सम्बन्धी क्षेत्र और काल से भाषावर्गणा सम्बन्धी क्षेत्र और काल असंख्यातगुणा होता है।

शङ्का—तैजस की एक वर्गणा के प्रदेशों से अनन्तगुणे प्रदेशों द्वारा एक भाषावर्गणा निष्पन्न होती है। अतः ऐसे अत्यन्त भारी स्कन्ध को विषय करने वाला अवधिज्ञान बड़ा कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तैजस की एक वर्गणा की अवगाहना से असंख्यातगुणी हीन, अवगाहना को धारण करने वाली भाषावर्गणा यद्यपि प्रदेशों की अपेक्षा अनन्तगुणी होती है, फिर भी उसे विषय करने वाले अवधिज्ञान के बड़े होने में कोई विरोध नहीं आता।

शङ्का—भाषावर्गणा की अवगाहना तैजसवर्गणा की अवगाहना से असंख्यातगुणी हीन होती है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—वह "कार्मणशरीरद्रव्यवर्गणा की अवगाहना सबसे स्तोक होती है। उससे मनोद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी होती है। उससे भाषाद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी होती है। उससे तैजसशरीरद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी होती है। उससे आहारकशरीरद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी होती है। उससे वैक्रियिक शरीर द्रव्य वर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी होती है। उससे औदारिकशरीरद्रव्यवर्गणा की अवगाहना असंख्यातगुणी होती है।" इस अल्पबहुत्व से जाना जाता है।

किन्तु, इसकी प्रधानता नहीं है, क्योंकि अवगाहना की अल्पता ज्ञान के बड़ेपन का कारण नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए सूक्ष्मता ही भाषाज्ञान के बड़ेपन का कारण है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—यहाँ सूक्ष्म शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—जिसका ग्रहण करना कठिन हो, वह सूक्ष्म कहलाता है।

यह अर्थ अन्यत्र भी कहना चाहिए।

शङ्का—गाथासूत्र में 'च' शब्द किसलिए आया है ?

समाधान—वह अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने के लिए आया है।

इसलिए मनोद्रव्य सम्बन्धी एक वर्गणा को जानने वाला क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात द्वीप-समुद्रों को और काल की अपेक्षा असंख्यात वर्षों को जानता है, इस अर्थ का यहाँ ग्रहण होता है। इतनी विशेषता है कि यह भाषावर्गणा सम्बन्धी क्षेत्र और काल की अपेक्षा असंख्यातगुणे क्षेत्र और काल को जानता है। यद्यपि भाषा की एकवर्गणा के प्रदेशों से अनन्तगुणे प्रदेशों द्वारा एक मनोद्रव्यवर्गणा निष्पन्न होती है, तो भी मनोद्रव्यवर्गणा की अवगाहना भाषावर्गणा की अवगाहना से असंख्यातगुणी हीन होती है, इसलिए मनोद्रव्यवर्गणा को विषय करने वाला अवधिज्ञान बड़ा होता है, यह कहा है। कार्मणद्रव्यवर्गणा को जानने वाला क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात द्वीपसमुद्रों को और काल की अपेक्षा असंख्यातवर्षों को जानता है। इतनी विशेषता है कि एक मनोद्रव्यवर्गणा को विषय करने वाले अवधिज्ञान के क्षेत्र और काल की अपेक्षा एक कार्मणद्रव्यवर्गणा को विषय करने वाले अवधिज्ञान का क्षेत्र और काल असंख्यातगुणा होता है।

कार्मणवर्गणा द्रव्य को अवस्थित विरलन (ध्रुवहार) पर समखण्ड करके देने पर देशावधि का उत्कृष्ट द्रव्य होता है।[1]

द्रव्य आदि विकल्पों की संख्या का प्रमाण

अंगुलअसंखभागे दव्ववियप्पे गदे दु खेत्तम्हि।
एगागासपदेसो वड्ढदि संपुण्णलोगोत्ति ॥३९९॥

---

१. कम्मइय वग्गणादव्वमवट्ठिदविरलाए समखंडं करियदिण्णे देसोहि उक्कस्स दव्वं होदि। ध. ९ पृ. ३५ पंक्ति १०।

आवलिअसंखभागो जहण्णकालो कमेण समयेण।
वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव ॥४००॥
अंगुलअसंखभागं धुवरूवेण य असंखवारं तु ।
असंखसंखं भागं असंखवारं तु अद्धुवगे ॥४०१॥
धुवअद्धुवरूवेण य अवरे खेत्तम्हि वड्ढिदे खेत्ते ।
अवरे, कालम्हि पुणो एक्केक्कं वड्ढदे समयं ॥४०२॥
संखातीदा समया पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी ।
संखा कालं अस्सिय पढमादी कंडये वोच्छं ॥४०३॥

गाथार्थ—अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण द्रव्य विकल्प हो जाने पर क्षेत्र में एक आकाश-प्रदेश बढ़ता है। जब तक सम्पूर्ण लोक न हो जावे तब तक इसी क्रम से वृद्धि करनी चाहिए।।३९९।। आवली का असंख्यातवाँ भाग जघन्य काल का प्रमाण है, वह क्रम से एक-एक समय बढ़ता है जब तक देशावधि का उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य न हो जावे ॥४००॥ अंगुल के असंख्यातवें भाग असंख्यातबार ध्रुव वृद्धि होती है। अंगुल के असंख्यातवें भाग व संख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात बार अध्रुववृद्धि होती है ॥४०१॥ जघन्य क्षेत्र में ध्रुव व अध्रुव रूप से क्षेत्रवृद्धि होने पर जघन्य काल में एक-एक समय की वृद्धि होती है ॥४०२॥ प्रथम पर्व में (ध्रुव व अध्रुव) उभय रूप से असंख्यात समयों की वृद्धि होती है। क्षेत्र और काल के आश्रय से प्रथमादि काण्डकों का कथन किया जाएगा ॥४०३॥

विशेषार्थ—अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य और भाव के विकल्प हो जाने के पश्चात् जघन्य क्षेत्र के ऊपर एक आकाशप्रदेश बढ़ता है। इसप्रकार बढ़ने पर क्षेत्र का द्वितीय विकल्प होता है, परन्तु काल जघन्य ही रहता है।[1] पश्चात् पूर्व के द्रव्यविकल्प को अवस्थित भागहार के ऊपर समखण्ड करके देनेपर उनमें एक खण्ड उपरिम द्रव्यविकल्प होता है। पूर्व के भावविकल्प को तत्प्रा-योग्य असंख्यात रूपों से गुणा करने पर अवधि का उपरिम भावविकल्प होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः करके अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य और भाव के विकल्प उत्पन्न कराने चाहिए। इस प्रकार उक्त विकल्पों को उत्पन्न कराने पर द्वितीय क्षेत्रविकल्प के ऊपर एक आकाशप्रदेश को बढ़ाना चाहिए। तब क्षेत्र का तृतीय विकल्प होता है। काल जघन्य ही रहता है। धीरे-धीरे भ्रान्ति से रहित, निराकुल, समचित्त व श्रोताओं को सम्बोधित करनेवाला व्याख्यानाचार्य अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र द्रव्य और भाव के विकल्पों को उत्पन्न कराके क्षेत्र के चतुर्थ, पंचम, छठे एवं सातवें आदि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र तक अवधि के क्षेत्रविकल्पों को उत्पन्न कराके पश्चात् जघन्य काल के ऊपर एक समय बढ़ावें। इस प्रकार बढ़ानेपर काल का द्वितीय विकल्प होता है। फिरसे भी अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य और भाव के विकल्पों के बीत जानेपर क्षेत्र में एक आकाशप्रदेश बढ़ाना चाहिए। इस क्रमसे अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जानेपर काल में एक समय बढ़ाकर काल का तृतीय विकल्प उत्पन्न कराना चाहिए।

---

१. धवल पु. ९ पृ. २९।

शङ्का—यहाँ शंकाकार कहता है कि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जाने पर काल में एक समय बढ़ता है, यह घटित नहीं होता; क्योंकि, इस प्रकार बढ़ाने पर देशावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र नहीं उत्पन्न हो सकता, व अपने उत्कृष्ट काल से असंख्यातगुणा काल उत्पन्न होगा। वह इस प्रकार से—देशावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र लोक है। उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य है। ऐसी स्थिति में एक समय के यदि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्प प्राप्त होते हैं तो आवली के असंख्यातवें भाग से कम पल्य में कितने क्षेत्रविकल्प प्राप्त होंगे, इस प्रकार इच्छाराशि से गुणित फलराशि में प्रमाणराशि का भाग देनेपर असंख्यात घनांगुल ही उत्पन्न होते हैं, न कि उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र लोक। अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जाने पर यदि काल का एक समय बढ़ता है तो अंगुल के असंख्यातवें भाग से हीन लोक में कितनी समय-वृद्धि होगी, इस प्रकार फलराशि से गुणित इच्छाराशि को यदि प्रमाणराशि से अपवर्तित किया जाय तो लोक का असंख्यातवाँ भाग आता है, न कि देशावधि का उत्कृष्ट काल समय कम पल्य। इसलिए आवली के असंख्यातवें भाग से हीन समय कम पल्य का जघन्य अवधिक्षेत्र से रहित लोक में भाग देने पर लोक का असंख्यातवाँ भाग आता है। इतने क्षेत्रविकल्पों के बीतने पर काल में एक समय वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि, अन्यथा पूर्वोक्त दोषों का प्रसंग आएगा?

समाधान—यह घटित नहीं होता, क्योंकि, एकान्ततः ऐसा स्वीकार करने पर वर्गणा के गाथासूत्र में कहे हुए क्षेत्रों की अनुत्पत्ति का प्रसंग आएगा। वह इस प्रकारसे—काल की अपेक्षा आवली के संख्यातवें भाग को जाननेवाला क्षेत्र से अंगुल के संख्यातवें भाग को जानता है, इस प्रकार सूत्र में कहा गया है। काल से कुछ कम आवली को जाननेवाला क्षेत्र से घनांगुल को जानता है। काल की अपेक्षा आवली को जाननेवाला क्षेत्र से अंगुलपृथक्त्व को जानता है। काल की अपेक्षा अर्ध मास को जाननेवाला क्षेत्र की अपेक्षा भरत क्षेत्र को जानता है। काल की अपेक्षा साधिक एक मास को जाननेवाला क्षेत्र से जम्बूद्वीप को जानता है। काल की अपेक्षा एक वर्ष को जाननेवाला क्षेत्र से मनुष्यलोक को जानता है, इस प्रकार इत्यादि क्षेत्र नहीं उत्पन्न होंगे, क्योंकि, लोक के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र की वृद्धि होनेपर काल में एक समयकी वृद्धि स्वीकार की है और सूत्रविरुद्ध युक्ति होती नहीं है, क्योंकि, वह युक्त्याभास रूप होगी।

शङ्का—यदि यह नहीं घटित होता है तो न हो। परन्तु फिर उत्कृष्ट क्षेत्र और काल की उत्पत्ति कैसे सम्भव है?

समाधान—वृद्धि के नियम का अभाव होने से उनकी उत्पत्ति घटित होती है। प्रथमतः अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जानेपर काल में एक समय बढ़ता है। वह इस प्रकार है—आवली के संख्यातवें भाग में से जघन्य काल को कम कर देने पर शेष आवली के संख्यातवें भाग मात्र कालवृद्धि होती है। इसे विरलित कर जघन्य अवधिक्षेत्र से कम अंगुल के संख्यातवें भाग मात्र अवधि की क्षेत्रवृद्धि को समखण्ड करके देने पर प्रत्येक समय में अंगुल का असंख्यातवाँ भाग प्राप्त होता है। यहाँ यदि अवस्थित क्षेत्रवृद्धि है तो एक-एक रूपधरित क्षेत्रों के बढ़नेपर काल में भी उस ही क्षेत्र का अधस्तन समय एक-एक बढ़ाना चाहिए। अथवा, यदि अनवस्थित वृद्धि है तो भी प्रथम विकल्प से लेकर अंगुल के असंख्यातवें भाग वृद्धि के असंख्यात विकल्प ले जाने चाहिए, क्योंकि प्रथम अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जाने पर काल में एक समय बढ़ता है, ऐसा गुरु का उपदेश है। पुनः उपरिम अंगुल के असंख्यातवें भाग अथवा उसके ही संख्यातवें भाग

प्रमाण क्षेत्रविकल्पों के बीतने पर काल में एक समय बढ़ता है, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि, दोनों ही प्रकारों से वृद्धि होने का कोई विरोध नहीं है।

जघन्य काल को कुछ कम आवली में से कम कर के शेष का विरलन कर जघन्य क्षेत्र से हीन घनांगुल को समखण्ड करके प्रत्येक समय के ऊपर देकर अवस्थित व अनवस्थित वृद्धि के विकल्पों में अंगुल के असंख्यातवें भाग व संख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीतनेपर काल में एक समय बढ़ता है, ऐसी पूर्व के समान प्ररूपणा करनी चाहिए। इस प्रकार जाकर अनुत्तर विमानवासी देव काल की अपेक्षा पल्योपम के असंख्यातवें भाग और क्षेत्र की अपेक्षा समस्त लोकनाली को जानते हैं, अतएव जघन्य काल से रहित पल्योपम के असंख्यातवें भाग का विरलन कर जघन्य क्षेत्र से हीन जघन्य आदि अध्वान को समखण्ड करके देनेपर प्रत्येक रूप के प्रति असंख्यात जगत्प्रतर मात्र लोक का असंख्यातवाँ भाग प्राप्त होता है। यहाँ एकरूपधरित मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जानेपर काल में एक समय बढ़ता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि, इस प्रकार अधस्तन क्षेत्र और काल के अभाव का प्रसंग आएगा। इसलिए घनांगुल के असंख्यातवें भाग, कहीं पर घनांगुल के संख्यातवें भाग, कहीं घनांगुल, कहीं घनांगुल के वर्ग, इस प्रकार जाकर कहीं पर जगश्रेणी, कहीं जगत्प्रतर और कहीं पर असंख्यात जगत्प्रतरों के बीतनेपर एक समय बढ़ता है; ऐसा कहना चाहिए। इसलिए उत्कृष्ट क्षेत्र और काल की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

अब इस प्रकार तब तक ले जाना चाहिए जब तक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की द्विचरम समान वृद्धि नहीं प्राप्त होती।

शङ्का—द्विचरम समानवृद्धि किसे कहते हैं?

समाधान—जिस स्थान में चारों की युगपत् वृद्धि होती है उसकी समानवृद्धि ऐसी संज्ञा है। उसमें चरम समानवृद्धि को छोड़कर उससे नीचे की वृद्धि द्विचरम समानवृद्धि है।

उतना अध्वान जाकर वहाँ जो कुछ भी भेद है उसे कहते हैं—वहाँ द्विचरम समानवृद्धिसे ऊपर कितने कालविकल्प हैं? एक समय रूप एक विकल्प। किन्तु क्षेत्रविकल्प असंख्यात श्रेणी मात्र, अथवा संख्यात श्रेणी मात्र, अथवा जगश्रेणी मात्र, अथवा श्रेणी के प्रथम वर्गमूल मात्र, अथवा द्वितीय वर्गमूल मात्र, अथवा घनांगुल मात्र, अथवा घनांगुल के [संख्यातवें भाग मात्र, अथवा घनांगुल के] असंख्यातवें भाग मात्र क्या होते हैं या नहीं होते, ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि वे अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं: कारण कि ऐसा आचार्यपरम्परागत-उपदेश है। अथवा, उक्त क्षेत्रविकल्पों के विषय में ज्ञान नहीं है, क्योंकि तत्सम्बन्धी युक्ति व सूत्र का अभाव है। क्षेत्रविकल्पों से द्रव्य और भाव के विकल्प असंख्यातगुणे हैं। गुणकार अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है, क्योंकि, अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य और भाव के विकल्पों के बीत जानेपर क्षेत्र में एक आकाशप्रदेश की वृद्धि होती है। इस प्रकार द्विचरम समानवृद्धि की प्ररूपणा की गई है।

पुन: द्विचरम समानवृद्धि के औदारिक द्रव्य को अवस्थित विरलना से समखण्ड करके देनेपर उससे आगे का द्रव्यविकल्प होता है। द्विचरम समानवृद्धि के भाव को उसके योग्य असंख्यात रूपों से गुणित करनेपर तदनन्तर भावविकल्प होता है। इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य व भाव के विकल्पों के बीत जानेपर क्षेत्रमें एक आकाशप्रदेश बढ़ता है। इस प्रकार इस क्रमसे द्रव्य और

भाव के द्विचरम विकल्प तक ले जाना चाहिए। पुनः अन्तिम देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य को उत्पन्न करते समय द्विचरम औदारिक द्रव्य को छोड़कर एक समय बन्ध के योग्य कार्मण वर्गणा द्रव्य को अवस्थित विरलना से समखण्ड करके देने पर देशावधि का उत्कृष्ट द्रव्य होता है। देशावधि के द्विचरम भाव को तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से गुणित करने पर देशावधि का उत्कृष्ट भाव होता है। क्षेत्र के ऊपर एक आकाशप्रदेश बढ़ने पर देशावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र लोक होता है, क्योंकि, वर्गणा में 'जब तक लोक है तब तक प्रतिपाती है, ऊपर अप्रतिपाती है' ऐसा कथन है, अर्थात् **क्षेत्र की अपेक्षा उत्कर्ष से लोक को विषय करनेवाला देशावधि प्रतिपाती है और इससे आगे के परमावधि व सर्वावधि अप्रतिपाती हैं।** द्विचरम काल के ऊपर एक समय का प्रक्षेप करने पर देशावधि का उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य होता है।

ऐसी जो अन्य आचार्यों के व्याख्यानक्रम की प्ररूपणा है वह युक्ति से घटित नहीं होती, क्योंकि, वैसा मानने पर सर्वार्थसिद्धि-विमानवासी देवों के उत्कृष्ट अवधिद्रव्य से उत्कृष्ट देशावधिद्रव्य के अनन्तगुणत्व का प्रसंग आएगा। वह इस प्रकार से—लोक के संख्यातवें भाग को शलाका रूप से स्थापित करके मनोद्रव्यवर्गणा के अनन्तवें भाग का विस्रसोपचय रहित अपने अवधिज्ञानावरणकर्म-प्रदेशों में आगमानुसार भाग देने पर अन्तिम एक खण्ड को सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव जानता है, परन्तु **उत्कृष्ट देशावधिज्ञानी एक बार खण्डित एक समयप्रबद्ध को जानता है।** और एक समयप्रबद्ध और नाना समयप्रबद्ध कृत भेद भी नहीं है, क्योंकि यहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र उसके गुणाकार की प्रधानता का अभाव है। यह देवों के उत्कृष्ट द्रव्य की उत्पादनविधि असिद्ध नहीं है, क्योंकि, वह 'अपने क्षेत्र में से एक प्रदेश उत्तरोत्तर कम करते हुए अपने अवधिज्ञानावरणकर्म का अनन्तवाँ भाग है' इस सूत्र से सिद्ध है। इस कारण जघन्य द्रव्य से आगे उसके योग्य विकल्पों के बीत जाने पर विस्रसोपचय सहित औदारिक द्रव्य को छोड़कर विस्रसोपचय रहित कार्मण समयप्रबद्ध देना चाहिए, क्योंकि, औदारिक विस्रसोपचयों से कार्मण विस्रसोपचय अनन्तगुणे हैं और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, "औदारिक शरीर का विस्रसोपचय सबसे स्तोक है, उससे वैक्रियिक शरीर का विस्रसोपचय अनन्तगुणा है, उससे आहारक शरीर का विस्रसोपचय अनन्तगुणा है, उससे तैजस शरीर का विस्रसोपचय अनन्तगुणा है, उससे कार्मण शरीर का विस्रसोपचय अनन्तगुणा है," इस प्रकार वर्गणासूत्र से उसे अनन्तगुणत्व सिद्ध है।

शङ्का—विस्रसोपचयों को छोड़कर औदारिक परमाणुओं को ही अवस्थित विरलना से क्यों नहीं देते?

समाधान—नहीं देते, क्योंकि, वे विरलन राशि से अनन्तगुणे हीन हैं, ऐसा गुरु का उपदेश है।

शङ्का—विरलन राशि से कार्मण द्रव्य अनन्तगुणा है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—'आहार वर्गणा के द्रव्य स्तोक हैं, तैजस वर्गणा के द्रव्य उससे अनन्तगुणे हैं, भाषा वर्गणा के द्रव्य उससे अनन्तगुणे हैं, मनोवर्गणा के द्रव्य अनन्तगुणे हैं, कार्मण वर्गणा के द्रव्य अनन्तगुणे हैं,' इस वर्गणासूत्र से वह जाना जाता है।

पूर्व के समान असंख्यात द्रव्य और भाव के विकल्पों के बीत जाने पर जब जघन्य अवधिक्षेत्र

को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा किया जाता है तब क्षेत्र का द्वितीय विकल्प होता है। इसी प्रकार असंख्यात क्षेत्रविकल्पों के बीत जाने पर जब जघन्य काल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित किया जाता है तब काल का द्वितीय विकल्प होता है। इस प्रकार देशावधि के उत्कृष्ट विकल्प तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार कितने ही आचार्य देशावधि का प्ररूपण करते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता है, क्योंकि, यहाँ हम पूछते हैं कि पूर्व व्याख्यान में कहे हुए अध्वान के सदृश ही इस व्याख्यान का अध्वान है अथवा विसदृश ? उक्त दो पक्षों में समान पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर क्षेत्र और काल को असंख्यात लोकपने का प्रसंग होगा। वह इस प्रकार से—आवली के असंख्यातवें भाग अर्धच्छेदों से लोक के अर्धच्छेदों को अपवर्तित करके प्राप्त राशि का विरलन कर प्रत्येक रूप के प्रति गुणकारभूत आवली का असंख्यातवाँ भाग देना चाहिए। विरलन मात्र क्षेत्र-विकल्पों के बीत जाने पर अवधि का क्षेत्र असंख्यात लोकप्रमाण होता है, क्योंकि, विरलन मात्र आवली के असंख्यात भागों को परस्पर गुणित करने पर लोक की उत्पत्ति होती है। यहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग अध्वान में ही अवधिक्षेत्र असंख्यात लोकमात्र हो गया है। इससे ऊपर जाने पर स्वयमेव क्षेत्र को असंख्यात लोकपने का प्रसंग आएगा और यह इष्ट नहीं है, क्योंकि, उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र लोक मात्र है, ऐसा स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार काल के भी असंख्यात लोकपने के प्रसंग की प्ररूपणा करनी चाहिए। और देशावधि का उत्कृष्ट काल असंख्यात लोक प्रमाण है, ऐसा अभीष्ट नहीं है, क्योंकि, आचार्यपरम्परागत उपदेश से देशावधि का उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य-प्रमाण सिद्ध है।

द्वितीय (असमान) पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि, पूर्वोक्त अध्वान से अधिक अध्वान स्वीकार करने पर पूर्वोक्त दोष का प्रसंग आएगा। यदि पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रविकल्पों को स्वीकार करें तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करने पर देशावधि के असंख्यात लोक मात्र क्षयोपशमविकल्पों के अभाव का प्रसंग होगा, तथा काल के आवली के असंख्यातवें भागत्व का प्रसंग भी होगा। दूसरी बात यह है कि क्षेत्र और काल के क्षयोपशम असंख्यातगुणित क्रम से देशावधि में अवस्थित नहीं हैं।

देशावधि के १९ काण्डक

अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्जदोवि संखेज्जो।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं ॥४०४॥[1]

गाथार्थ—जहाँ अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है वहाँ काल आवली के असंख्यातवें भाग मात्र है। जहाँ क्षेत्र अंगुल के संख्यातवें भाग है वहाँ काल आवली का संख्यातवाँ भाग है। जहाँ क्षेत्र अंगुल प्रमाण है वहाँ काल अंतरावलीय (देशोन आवली) है। जहाँ काल आवलीप्रमाण है वहाँ क्षेत्र अंगुल-पृथक्त्व है ॥४०४॥

विशेषार्थ—'अंगुल' से प्रमाणघनांगुल ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि देव, नारकी, तिर्यंच और

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३०४, पु. ९ पृ. २४, म. बं. पु. १ पृ. २१।

मनुष्यों के उत्सेध के कथन के सिवा अन्यत्र प्रमाणांगुल आदि का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा गुरु का उपदेश है। इस अंगुल के असंख्यात खण्ड करने चाहिए। उनमें से एक खण्डमात्र जिस अवधिज्ञान का अवधि से सम्बन्ध रखनेवाला क्षेत्र घनप्रतर आकाररूप से स्थापित करने पर होता है वह काल की अपेक्षा आवली के असंख्यातवें भाग को जानता है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। आवली के असंख्यातवें भाग काल के भीतर अतीत और अनागत द्रव्य को जानता है।

शंका—अवधिज्ञान क्षेत्र और काल का क्या एक ही विकल्प होता है या अन्य भी विकल्प है?

समाधान—गाथा में 'दो वि संखेज्जा' ऐसा कहा है अर्थात् क्षेत्र और काल ये दोनों ही संख्यातवें भाग प्रमाण भी होते हैं।

शङ्का—किनके संख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं?

समाधान—अंगुल के और आवली के।

क्षेत्र की अपेक्षा अंगुल के संख्यातवें भाग को जानने वाला काल की अपेक्षा आवली के संख्यातव भाग को ही जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा एक अंगुल प्रमाणक्षेत्र को जानने वाला काल की अपेक्षा आवली के भीतर जानता है। यहाँ पर 'अंगुल' से प्रमाणघनांगुल का और 'आवलियंतो' से कुछ कम आवली का ग्रहण होता है। जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र घनप्रतराकार रूप से स्थापित करने पर अंगुल पृथक्त्व प्रमाण होता है वह काल की अपेक्षा एक सम्पूर्ण आवली को जानता है।[1]

आवलियपुधत्तं घणहत्थो तह गाउग्रं मुहुत्तंतो।
जोयणभिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णवीसं तु ॥४०५॥[2]

गाथार्थ—जहाँ काल आवली पृथक्त्व प्रमाण है वहाँ क्षेत्र घनहाथ है। जहाँ क्षेत्र घनकोस है वहाँ काल अन्तर्मुहूर्त है। जहाँ क्षेत्र घनयोजन है वहाँ काल भिन्नमुहूर्त है। जहाँ काल कुछ कम एक दिवस प्रमाण है वहाँ क्षेत्र पच्चीस घन योजन है ॥४०५॥

विशेषार्थ—जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र घनप्रतराकार रूप से स्थापित करने पर घनहस्त प्रमाण होता है वह काल की अपेक्षा आवली पृथक्त्व है। जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र घनप्रतराकाररूप से स्थापित करने पर घनकोस प्रमाण होता है वह काल की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है। जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र घनप्रतराकार रूप से स्थापित करने पर घनयोजन प्रमाण होता है वह काल की अपेक्षा भिन्न मुहूर्त अर्थात् एक समय कम मुहूर्त है।

शङ्का—अवधिज्ञान निबद्ध क्षेत्र का घनाकार रूप से स्थापित करके किसलिए निर्देश किया गया है?

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्यथा काल प्रमाणों से पृथग्भूत क्षेत्र के कथन करने का अन्य

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३०४-३०५। २. धवल पु. १३ पृ. ३०६, पु. ९ पृ. २५, म.बं. पु. १ पृ. २१। मुद्रित पुस्तकों में पाठ अशुद्ध है।

कोई उपाय नहीं है। इसलिए अवधिज्ञान निरुद्ध क्षेत्र को घनाकार रूप से स्थापित कर उसका निर्देश किया गया है।

शङ्का—यहाँ सूचीयोजन व प्रतरयोजन क्षेत्र का ग्रहण क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर जघन्य क्षेत्र की अपेक्षा यह असंख्यातगुणा हीन प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि काल का भिन्नमुहूर्त प्रमाण उपदेश अन्यथा बन नहीं सकता। कथनाभिप्राय यह है कि अवधि का जघन्य काल आवली का असंख्यातवाँ भाग है और उससे यहाँ प्रकृत में आकर काल "भिन्नमुहूर्त" प्रमित हो गया। और इस तरह जघन्य काल से यहाँ का काल तो असंख्यातगुणा हो गया। तो जघन्य क्षेत्र [घनांगुल के असंख्यातवें भाग] से भी यहाँ का क्षेत्र (घनयोजन) नियम से असंख्यातगुणा होना ही चाहिए। इसी से जाना जाता है कि यह योजन घनयोजन ही है। अन्यथा सूची योजन तथा प्रतर योजन ही यहाँ का क्षेत्र मानने पर यहाँ का क्षेत्र उत्सेध घनांगुल के असंख्यातवें भाग रूप जघन्यावधि क्षेत्र से भी असंख्यातगुणाहीन हो जाएगा।

जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र घनाकार रूप से स्थापित करने पर पच्चीस घनयोजन होता है, वह काल की अपेक्षा 'दिवसंतो' यानी कुछ एक दिवस है।[1]

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जंबुदीवम्मि।
वासं च मणुअलोए वासपुधत्तं च रुचगम्मि ॥४०६॥[2]

गाथार्थ—जहाँ घनरूप भरतवर्ष क्षेत्र है, वहाँ काल आधा महीना है। जहाँ घनरूप जम्बूद्वीप क्षेत्र है वहाँ काल साधिक एक महीना है। जहाँ मनुष्यलोक क्षेत्र है वहाँ काल एक वर्ष है। जहाँ रुचकवर द्वीप क्षेत्र प्रमाण है वहाँ काल वर्ष पृथक्त्व है ॥४०६॥

विशेषार्थ—भरतक्षेत्र पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस ($५२६\frac{६}{१९}$) योजन प्रमाण है, क्योंकि समुदाय में प्रवृत्त हुए शब्द अवयवों में भी रहते हैं, ऐसा न्याय है, यहाँ इसका घनरूप भरतक्षेत्र लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया गया है।[3]

यहाँ काल अर्ध मास होता है। जिस अवधिज्ञान का क्षेत्र घनाकार रूप से स्थापित करने पर भरतक्षेत्र के घनप्रमाण होता है, वह काल की अपेक्षा अर्धमास की बात जानता है यह अभिप्राय है। यहाँ जम्बूद्वीप पद से एक लाख योजन के घनप्रमाण जम्बूद्वीप से प्रयोजन है। इतना क्षेत्र होने पर काल साधिक एक महीना होता है। पैंतालीस लाख योजन के घनप्रमाण मनुष्यलोक होता है। उस मनुष्यलोकप्रमाण क्षेत्र के होने पर काल एक वर्ष प्रमाण होता है। रुचकवर द्वीप के बाह्य दोनों पार्श्वों तक मध्यमयोजनों की रुचकवर संज्ञा है, क्योंकि अवयवों में प्रवृत्त हुए शब्द समुदाय में भी रहते हैं, ऐसा न्याय है। उसका घन भी रुचकवर कहलाता है, क्योंकि यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया गया है। इतना क्षेत्र होने पर काल वर्ष पृथक्त्व प्रमाण होता है।

---

१. ध. पु. १३ पृ. ३०६। २. ध. पु. १३ पृ. ३०७, पु. ९ पृ. २५, म. बं. पु. १ पृ. २१। ३. ध. पु. १३ पृ. ३०७।

शङ्का—अर्ध और पूर्ण चन्द्र के आकार रूप से स्थित भरत, जम्बूद्वीप, मनुष्यलोक और रुचकवर द्वीप आदि क्यों नहीं ग्रहण किये जाते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अंगुल आदि में भी उस प्रकार के ग्रहण का प्रसंग आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर अव्यवस्था का प्रसंग आता है।[1] (अतः इनके घनात्मक ही क्षेत्र गृहीत किए जाते हैं।)

संखेज्जपमे काले दीव-समुद्दा हवंति संखेज्जा ।
कालम्मि असंखेज्जे दीव-समुद्दा असंखेज्जा ॥४०७॥[2]

गाथार्थ—जहाँ काल संख्यात वर्ष प्रमाण होता है, वहाँ क्षेत्र संख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण होता है और जहाँ काल असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है, वहाँ क्षेत्र असंख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण होता है। ॥४०७॥

विशेषार्थ—काल के प्रमाण की अपेक्षा अवधिज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले क्षेत्र के प्रमाण का कथन करने के लिए यह गाथा आई है। 'संखेज्जदिमे काले' अर्थात् संख्यात काल के होने पर। यहाँ 'काल' शब्द वर्षवाची है, सामान्यवाची नहीं है, अन्यथा जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र भी असंख्यात द्वीप-समुद्रों के घनयोजन प्रमाण प्राप्त होगा।

शङ्का—काल शब्द वर्षवाची है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि काल-सामान्य में विशेष काल का ग्रहण सम्भव है और समय, आवली, मुहूर्त, दिवस, अर्धमास और मास से सम्बन्ध रखने वाले अवधिज्ञान के क्षेत्र का निरूपण पहले हो चुका है।[3]

अवधिज्ञान द्वारा संख्यात वर्षों सम्बन्धी अतीत और अनागत द्रव्यों को जानता हुआ क्षेत्र की अपेक्षा संख्यात द्वीप-समुद्रों को जानता है। उस अवधिज्ञान के क्षेत्र को घनाकार रूप से स्थापित करने पर वह संख्यात द्वीप-समुद्र के आयाम घनप्रमाण होता है। काल के असंख्यात वर्ष प्रमाण होने पर अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्र घनरूप से स्थापित करने पर असंख्यात द्वीप-समुद्रों का आयाम घनप्रमाण होता है।[4]

गाथा ४०४ में प्रथम तीन काण्डकों का, गा. ४०५ में चौथे काण्डक से लेकर सातवें काण्डक तक चार काण्डकों तक चार काण्डकों का, गाथा ४०६ में आठवें काण्डक से ग्यारहवें काण्डक तक चार काण्डकों का तथा गा. ४०७ में बारहवें काण्डक का व शेष सात काण्डकों का कथन है।

[तालिका पृष्ठ ४६७ पर देखें]

---

१. ध. पु. १३ पृ. ३०७-३०८। २. ध. पु. १३ पृ. ३०८, म. बं पु. १ पृ. २१। ३. ध. पु. १३ पृ. ३०८। ४. धवल पु. १३ पृ. ३०८-३०९।

काण्डक	क्षेत्र	काल
प्रथम	जघन्य—अंगुल के असंख्यातवें भाग	आवली का असंख्यातवाँ भाग
	उत्कृष्ट—अंगुल के संख्यातवें भाग	आवली का संख्यातवाँ भाग
द्वितीय	घनांगुल	कुछ कम एक आवली
तृतीय	पृथक्त्व घनांगुल	आवली
चतुर्थ	हस्तप्रमाण	आवली पृथक्त्व
पञ्चम	एक कोस	अन्तर्मुहूर्त
षष्ठ	एक योजन	भिन्न मुहूर्त
सप्तम	पच्चीस योजन	कुछ कम एक दिन
अष्टम	भरतक्षेत्र	अर्ध मास
नवम	जम्बूद्वीप	साधिक एक मास
दसवाँ	मनुष्यलोक	एक वर्ष
ग्यारहवाँ	रुचक द्वीप	वर्ष पृथक्त्व
बारहवाँ	संख्यात द्वीपसमुद्र	संख्यात वर्ष
१३वें से १९ वें तक	असंख्यात द्वीपसमुद्र	असंख्यात वर्ष।

काण्डकों में ध्रुव व अध्रुव वृद्धि

कालविसेसेणवहिद-खेत्तविसेसो धुवा हवे वड्ढी ।
अद्धुववड्ढीवि पुणो अविरुद्धं इट्ठकंडम्मि ॥४०८॥
अंगुलअसंखभागं संखं वा अंगुलं च तस्सेव ।
संखमसंखं एवं सेढीपदरस्स अद्धुवगे ॥४०९॥

गाथार्थ—कालविशेष से क्षेत्रविशेष को भाजित करने पर ध्रुववृद्धियों का प्रमाण आता है। इष्टकाण्डक में अध्रुव वृद्धि का भी विरोध नहीं है। घनांगुल के असंख्यातवें भाग वा घनांगुल के संख्यातवें भाग, व अंगुलमात्र, वा संख्यात घनांगुल मात्र वा असंख्यात घनांगुलप्रमाण क्षेत्र की वृद्धि होने पर एक समय की वृद्धि होती है, इसी प्रकार से श्रेणी व जगत्प्रतर के आश्रय से अध्रुव वृद्धियों का कथन करना चाहिए ॥४०८-४०९॥

विशेषार्थ—जघन्य काल (आवली का असंख्यातवाँ भाग) को कुछ कम आवली में से घटाकर शेष का विरलन कर जघन्यक्षेत्र (अंगुल का असंख्यातवाँ भाग) से हीन घनांगुल को समखण्ड करके प्रत्येक समय के ऊपर देकर अवस्थित व अनवस्थित वृद्धि के विकल्पों में अंगुल के असंख्यातवें भाग व संख्यातवें मात्र क्षेत्रविकल्पों के बढ़ने पर (बीतने पर) काल में एक समय बढ़ना है, पूर्व के (गा. ४०१ के) समान ऐसी प्ररूपणा करनी चाहिए। इस प्रकार जाकर अनुत्तर विमानवासी देव काल की अपेक्षा पल्योपम के असंख्यातवें भाग और क्षेत्र की अपेक्षा समस्त लोकनाली को जानते हैं। अतएव जघन्य काल से रहित पल्योपम के असंख्यातवें भाग का विरलन कर जघन्य क्षेत्र से हीन जघन्य आदि अध्वान को समखण्ड करके देने पर प्रत्येक रूप के प्रति असंख्यात जगत्प्रतर मात्र लोक का असंख्यातवाँ भाग प्राप्त होता है। यहाँ एकरूपधरित मात्र क्षेत्रविकल्पों के बीत जाने पर काल में एक समय बढ़ता है,

ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार अधस्तन क्षेत्र और काल के अभाव का प्रसंग आएगा। इसलिए घनांगुल के असंख्यातवें भाग, कहीं पर घनांगुल के संख्यातवें भाग, कहीं पर घनांगुल, कहीं पर घनांगुल के वर्ग (संख्यात व असंख्यात घनांगुल) इस प्रकार जाकर कहीं पर जगच्छ्रेणी कहीं पर जगत्प्रतर और कहीं पर असंख्यात जगत्प्रतरों के बीतने पर एक समय बढ़ता है, ऐसा कहना चाहिए, इसलिए उत्कृष्ट क्षेत्र और काल की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है।[1]

अवस्थित विरलन व अनवस्थित विरलन का अभिप्राय ध्रुवहार व अध्रुवहार से है। 'गोम्मटसार' में जिसे ध्रुवहार व अध्रुवहार कहा गया है उसी को धवल ग्रन्थ में अवस्थित विरलन व अनवस्थित विरलन कहा है।

उत्कृष्ट देशावधि के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का प्रमाण

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं।
उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ॥४१०॥
पल्लसमऊण काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु।
दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु ॥४११॥

गाथार्थ—कार्मण वर्गणा में एक बार ध्रुवहार का भाग देने से देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण आता है। तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है। एक समय कम एक पल्योपम उत्कृष्ट काल है। असंख्यात लोक प्रमाण द्रव्य की वर्तमान पर्यायें उत्कृष्ट भाव का प्रमाण है ॥४१०-४११॥

विशेषार्थ—कार्मणवर्गणा द्रव्य को अवस्थित विरलना (ध्रुवहार) से समखण्ड करके देने पर देशावधि का उत्कृष्ट द्रव्य होता है।[2] देशावधि के द्विचरम भाव को तत्प्रायोग्य असंख्यात रूपों से गुणित करने पर देशावधि का उत्कृष्ट भाव होता है।[3] क्षेत्र के ऊपर एक आकाशप्रदेश बढ़ने पर देशावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र लोक होता है।[4] द्विचरम काल के ऊपर एक समय का प्रक्षेप करने पर देशावधि का उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य होता है।[5] देशावधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र लोकप्रमाण है और उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य प्रमाण है।[6]

विभंगज्ञान का जघन्य क्षेत्र तिर्यंचों और मनुष्यों में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट क्षेत्र सात आठ द्वीप समुद्र है। (धवल पु. १३ पृ. ३२८)।

---

१. ध. पु. ९ पृ. ३३-३४। २. "कम्मइयवग्गणा दव्वमवट्ठिदविरलणाए समखंडं करिय दिण्णे देसोहिउक्कस्सदव्वं होदि।" [ध.पु. ९ पृ. ३५]। ३. "देसोहि दुचरिम-भावं तप्पाओग्गासंखेज्जरूवेहि गुणिदे देसोहिउक्कस्सभावो होदि।" [ध.पु. ९ पृ. ३५]। ४. "खेत्तस्सुवरि एगागासपदेसे वड्ढिदे लोगो देसोहीए उक्कस्स खेत्तं होदि।" [ध.पु. ९ पृ. ३५]। ५. "दुचरिमकालस्सुवरि एगसमए पक्खित्ते देसोहीए उक्कस्सकालो होदि।" [ध.पु. ९ पृ. ३६]। ६. "देसोहिउक्कस्सखेत्तं लोगमेत्तं, कालो समऊण पल्लं।" [ध.पु. १३ पृ. ३२८]।

काले चदुण्ण वुड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढी य ।
वुड्ढीए दव्व-पज्जय भजिदव्वा खेत्त-काला हु ।।४१२।।[1]

गाथार्थ—'काल' चारों (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की वृद्धि के लिए होता है [काल की वृद्धि होने पर चारों की वृद्धि होती है]। क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल की वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती। तथा द्रव्य और पर्याय (भाव) की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती ।।४१२।।

विशेषार्थ—"कालो चदुण्ण वुड्ढी' अर्थात् काल चारों की वृद्धि के लिए होता है। किन चारों की? काल, क्षेत्र, द्रव्य और भावों की। काल की वृद्धि होने पर द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी नियम से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। 'कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए' क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल कदाचित् वृद्धि को प्राप्त होता है और कदाचित् वृद्धि को नहीं भी प्राप्त होता है। परन्तु द्रव्य और भाव नियम से वृद्धि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि द्रव्य और भाव की वृद्धि हुए बिना क्षेत्र की वृद्धि नहीं बन सकती। 'वुड्ढीए दव्वपज्जय' अर्थात् द्रव्य और पर्यायों की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। परन्तु द्रव्य की वृद्धि होने पर पर्याय (भाव) की वृद्धि नियम से होती है। क्योंकि पर्याय (भाव) के बिना द्रव्य नहीं पाया जाता है। इसी तरह पर्याय की वृद्धि होने पर भी द्रव्य की वृद्धि नियम से होती है, क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय होना असम्भव है। इस गाथा के अर्थ की देशावधि ज्ञान में योजना करनी चाहिए, परमावधि ज्ञान में नहीं।

शङ्का—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—यह आचार्य परम्परा से आये हुए सूत्राविरुद्ध व्याख्यान से जाना जाता है। परमावधिज्ञान में तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की युगपत् वृद्धि होती है, ऐसा यहाँ व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि सूत्र के अविरुद्ध व्याख्यान करने वाले आचार्यों का ऐसा उपदेश है।[2]

परमावधि का निरूपण

देसावहिवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा ।
परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठम् ।।४१३।।
परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ ।
चरमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु ।।४१४।।

गाथार्थ—देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य में ध्रुवहार (अवस्थित विरलना) का भाग देने से परमावधि के जघन्य द्रव्य का प्रमाण प्राप्त होता है ऐसा जिन (श्रुतकेवली) ने कहा है ।।४१३।। तेजस्कायिक जीवराशि में उस ही की अवगाहना के विकल्पों से गुणा करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो, जघन्य द्रव्य में उतनी बार ध्रुवहार का भाग देने से अन्तिम भागाहार के द्वारा उत्कृष्ट द्रव्य प्राप्त होता है ।।४१४।।

---

१. ध.पु. ९ पृ. २९ व पु. १३ पृ. ३०९, म.बं.पु. १ पृ. २२। २. धवल पु. १३ पृ. ३०९-३१०।

विशेषार्थ—सूक्ष्म तेजस्कायिक अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है। उससे असंख्यातगुणी बादर तेजस्कायिक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना में से जघन्य अवगाहना को घटाकर और एक मिलाने से तेजस्कायिक जीवों की अवगाहना के विकल्पों का प्रमाण प्राप्त होता है। उससे तेजस्कायिक जीवराशि को गुणित करने पर परमावधि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शलाकाराशि उत्पन्न होती है।[1] शलाकाओं में से एक रूप कम करना चाहिए। पुनः परमावधि के जघन्य द्रव्य को अवस्थित विरलन से सम खण्ड करके देने पर उनमें एकखण्ड परमावधि का द्वितीय द्रव्यविकल्प होता है। पुनः द्वितीय विकल्प द्रव्य को अवस्थित विरलना (ध्रुवहार) से समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्ड तृतीय विकल्प रूप द्रव्य होता है। शलाका में से अन्य एक रूप कम करना चाहिए। चतुर्थ, पंचम, छठे और सातवें आदि विकल्पों को इसी प्रकार ले जाना चाहिए, क्योंकि यहाँ कोई भी विशेषता नहीं है। इस प्रकार परमावधि के द्विचरम विकल्प तक अथवा एक कम शलाका राशि के समाप्त होने तक ले जाना चाहिए। परमावधि के द्विचरम द्रव्य को अवस्थित विरलना (ध्रुवहार) से समखण्ड करके देने पर अन्तिम द्रव्य विकल्प है उसकी रूपगत संज्ञा है। वह परमावधि का उत्कृष्ट विषय है। शलाकाओं में से एक-एक रूप कम करते-करते सब शलाकायें समाप्त हो जाती हैं।[2] शलाकारूप उन अग्निकायिक जीवों के द्वारा परिच्छिन्न किये गये ऐसे अनन्त परमाणुओं से आरब्ध रूपगत द्रव्यों को परमावधिज्ञान उपलब्ध करता है (जानता है) (यह अभिप्राय है)। इसके द्वारा परमावधिज्ञान के उत्कृष्ट द्रव्य का कथन किया गया है।[3]

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो ।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ।।४१५।।

गाथार्थ—सर्वावधि का विषय एक परमाणु मात्र है, वह निर्विकल्प रूप है। भागहार गंगा महानदी के प्रवाह के समान ध्रुव है ।।४१५।।

विशेषार्थ—परमावधि के उत्कृष्ट द्रव्य को अवस्थित विरलना (ध्रुवहार) से समखण्ड करके देने पर रूप के प्रति जो एक-एक परमाणु प्राप्त होता है वह सर्वावधि का विषय है। यहाँ जघन्य उत्कृष्ट और तद्व्यतिरिक्त विकल्प नहीं है, क्योंकि सर्वावधि एक विकल्प रूप है, अर्थात् अन्य विकल्प न होने से वह निर्विकल्प है।[4]

देशावधि ज्ञान के जघन्य द्रव्य को ध्रुवहार से खण्डित करने से देशावधि को द्वितीय द्रव्य-विकल्प होता है (गा. ३६४)। इस प्रकार देशावधि के जघन्यद्रव्य से लेकर सर्वावधि तक अथवा अवधिज्ञान के उत्कृष्ट द्रव्य परमाणु मात्र प्राप्त होने तक ध्रुवहार या अवस्थित विरलना रूप भागाहार प्रवाह रूप से चला जाता है इसलिए गाथा में 'गंगा महानदी के प्रवाह' का दृष्टान्त दिया गया है।

---

१. धवल पु. ६ पृ. ४४-४५, धवल पु. १३ पृ. ३२५। २. धवल पु. ६ पृ. ४४ व ४५, धवल पु. १३ पृ. ३२४ व ३२५। ३. धवल पु. १३ पृ. ३२४। ४. धवल पु. ६ पृ. ४८।

परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति ।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ।।४१६।।

गाथार्थ—द्रव्य की अपेक्षा परमावधि के जितने भेद हैं, उतने ही भेद क्षेत्र और काल की अपेक्षा हैं, परन्तु उनका विषय असंख्यात गुणित क्रम से है ।।४१६।।

विशेषार्थ—परमावधि ज्ञान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की युगपत् वृद्धि होती है।[1] इसीलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी विकल्पों के लिए एक ही शलाकाराशि है, भिन्न-भिन्न शलाकाराशि नहीं है। तेजस्कायिक के अवगाहना विकल्पों से तेजस्कायिक जीवराशि को गुणा करने से वह शलाकाराशि उत्पन्न होती है।[2] क्षेत्रोपम अग्नि जीवों से देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की खण्डन और गुणन रूप वार शलाका से शोधित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को उत्कृष्ट परमावधि जानता है।[3] इस सब कथन से सिद्ध होता है कि परमावधि में जितने भेद द्रव्य के हैं उतने ही भेद क्षेत्र, काल और भाव के हैं। उनमें कोई विभिन्नता नहीं है।

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ।।४१७।।
गच्छसमा तक्कालियतीदे रूऊणगच्छधणमेत्ता ।
उभये वि य गच्छस्स य धणमेत्ता होंति गुणगारा ।।४१८।।

गाथार्थ—इच्छित गच्छ के संकलन धन प्रमाण मात्र आवली के असंख्यातवें भागों का संवर्ग करने पर देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र व काल का गुणाकार होता है। इच्छित गच्छसंख्या को इच्छित गच्छ से अन्यवहित पूर्व के गच्छ के संकलित धन में, अर्थात् विवक्षित गच्छप्रमाण में से एक कम करके जो संख्या उत्पन्न हो उसके संकलित धन में, मिलाने से विवक्षित गच्छ के संकलित धन का प्रमाण होता है, उतने प्रमाण आवली के असंख्यातवें भागों को संवर्ग (परस्पर गुणा) करने से गुणाकार का प्रमाण होता है ।।४१७-४१८।।

विशेषार्थ—जिस नम्बर के भेद की विवक्षा हो, एक से लगाकर उस विवक्षित भेद पर्यन्त एक-एक अधिक अंकों को जोड़ने से जो प्रमाण आवे उतना ही उसका संकलित धन होता है। जैसे प्रथम भेद में १ ही अंक है अतएव उसका संकलित धन 'एक' जानना चाहिए। दूसरे भेद में संकलित धन का प्रमाण = १ + २ = ३ है। तीसरे भेद में संकलित धन का प्रमाण १ + २ + ३ = ६ होता है। चतुर्थ भेद में संकलित धन का प्रमाण १ + २ + ३ + ४ = १० होता है। पंचम भेद में संकलित धन का प्रमाण = १ + २ + ३ + ४ + ५ = १५ होता है। छठे भेद में संकलित धन का प्रमाण = १ + २ + ३ + ४ + ५ + ६ = २१ होता है। इस तरह से जिस स्थान में जितना भी संकलित धन का प्रमाण आता है उतनी बार आवली के असंख्यातवें भागों को रखकर परस्पर गुणित करने पर जो प्रमाण आवे

---

१. "परमोहीए पुण दव्व-खेत्त-काल-भावाणमक्कमेण वुड्ढी होदि त्ति वत्तव्वं।" [धवल पु. १३ पृ. ३१०]।
२. धवल पु. १३ पृ. ३२५। ३. धवल पु. ६ पृ. ४७।

वही उस विवक्षित भेद का गुणकार होता है। जैसे छठे स्थान का संकलित धन २१ है तो २१ बार आवली के असंख्यातवें भागों को रखकर परस्पर गुणित करने पर जो गुणनफल आवे वह छठे स्थान का गुणकार हुआ। इसी तरह अन्य स्थानों के भी गुणकार निकाल लेने चाहिए। फिर प्राप्त अपने-अपने गुणकारों से देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र लोक को गुणा करने पर जो प्रमाण आवे वह परमावधि के उस नम्बर के भेद का क्षेत्र प्रमाण होगा। तथा उसी गुणकार से देशावधि के उत्कृष्ट काल (एक समय कम पल्य) को गुणित करने पर परमावधि के उस विवक्षित भेद के काल का प्रमाण आता है। जैसे छठे स्थान का संकलित धन=२१ है। अतः इक्कीस बार आवली के असंख्यातवें भागों को रखकर परस्पर गुणित करने पर जो गुणनफल आवे उससे लोक को गुणित करने पर तो परमावधि के छठे भेद का क्षेत्रप्रमाण आएगा। तथा यदि उसी विवक्षित गुणनफल को १ कम पल्य से गुणा करें तो परमावधि के छठे भेद का काल प्रमाण होगा।

धवला में परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र का गुणकार उत्पन्न करके बताया है कि:— तेजस्कायिक जीवों के अवगाहना-स्थानों से गुणित तेजस्कायिक जीवों की राशि को गच्छ करके क्योंकि इतने ही परमावधि के भेद हैं, एक-एक को आदि लेकर एक-एक अधिक संकलन के [जैसे-- प्रथम स्थान १, द्वि. १+२=३, तृ. १+२+३=६, चतुर्थस्थान १+२+३+४=१० अथवा $\frac{४\times५}{२}$=१० अथवा एक कम चार अर्थात् ३ की संकलना ६+४=१० इत्यादि] लाने पर तेजस्कायिकराशि के वर्ग को लाँघ कर उससे उपरिम वर्ग के नीचे यह राशि उत्पन्न होती है। इस शलाका संकलनराशि का विरलन करके आवली के असंख्यातवें भाग को प्रत्येक रूप के प्रति देकर परस्पर गुणित करके उससे देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र घनलोक को गुणित करने पर परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र होता है।[1]

प्रकारान्तर से उन्हीं गुणकारों की उत्पादनविधि यह है कि जैसे छठे भेद का संकलित धन लाना है तो ६ रख दो। फिर ६ से एक स्थान पूर्व अर्थात् ५ है, उस ५ का गच्छ धन १५ है अतः १५ में ६ को जोड़ दो तो २१ हुए। यही विवक्षित स्थान का संकलित धन होगा। इतनी आवली के असंख्यातवें भागों को रख कर परस्पर गुणित करने पर विवक्षित स्थान का गुणकार होता है।

परमावहिवरखेत्तेणवहिदउक्कस्स ओहिखेत्तं तु।
सव्वावहिगुणगारो काले वि असंखलोगो दु ।।४१९।।

गाथार्थ—उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र में परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र का भाग देने से जो लब्ध प्राप्त हो वह सर्वावधि क्षेत्र के लिए गुणकार है। तथा सर्वावधि काल का प्रमाण लाने के लिये असंख्यात लोक गुणकार है ।।४१९।।

विशेषार्थ—परमावधि के क्षेत्र का, तेजस्कायिकों की कायस्थिति और अवधिनिबद्ध क्षेत्र के परस्पर गुणकार के वर्ग की अर्धच्छेद-शलाकाओं के ऊपर असंख्यात लोकमात्र वर्गस्थान जाकर

१. धवल पु. ९ पृ. ४८-४९।

स्थित अवधिनिबद्ध क्षेत्र में भाग देने पर जो लब्ध हो उतने मात्र गुणकार होता है, अन्य नहीं ।[1]

परमावधिकाल को उसके योग्य असंख्यात रूपों से गुणा करने पर सर्वावधि का काल अर्थात् उत्कृष्टकाल होता है ।[2]

शङ्का—यह एक ही लोक है, परमावधि और सर्वावधि असंख्यात लोकों को जानते हैं, यह कैसे घटित होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यदि सब पुद्गल राशि असंख्यात लोकों को पूर्ण करके स्थित हो तो भी वे जान लेंगे । इस प्रकार उनकी शक्ति का प्रदर्शन किया गया है ।[3]

इच्छिदरासिच्छेदं दिण्णच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ ।
लद्धमिददिण्णरासीणब्भासे इच्छिदो रासी ।।४२०।।
दिण्णच्छेदेणवहिदलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे ।
लद्धमिदलोगगुणणं परमावहिचरिमगुणगारो ।।४२१।।

गाथार्थ—देयराशि के अर्धच्छेदों द्वारा इच्छित राशि के अर्धच्छेदों को विभाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी बार देयराशि को परस्पर गुणा करने से इच्छित राशि उत्पन्न होती है ।।४२०।। देयराशि के अर्धच्छेदों से विभक्त लोक के अर्धच्छेद, उनका विवक्षित पद के (संकलित) धन में भाग देने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण बार लोक को परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो वह परमावधि के विवक्षित भेद में गुणाकार होता है । इसी तरह परमावधि के चरम भेद में भी गुणाकार निकालना चाहिए ।।४२१।।

विशेषार्थ—देयराशि यदि चार हो तो उसके अर्धच्छेद दो, यदि इच्छित राशि २५६ हो तो उसके अर्धच्छेद ८ । दो से आठ को विभक्त करने पर लब्ध चार ($\frac{८}{२}=४$) प्राप्त होते हैं । उतनी बार अर्थात् चार बार देयराशि (४) को परस्पर गुणा करने से (४×४×४×४) इच्छित राशि २५६) उत्पन्न हो जाती है । यह गाथास्वरूप प्रथम करण सूत्र का अभिप्राय है ।

द्वितीय गाथा की अंक संदृष्टि– देयराशि (४) के अर्धच्छेद (२) ।

लोक (२५६) के अर्धच्छेद (८) । परमावधि के अन्तिम पद की क्रमसंख्या (६४) का संकलन धन (२०८०) ।

देयराशि के अर्धच्छेद (२) से विभक्त लोक के अर्धच्छेद (८) ($\frac{८}{२}=४$) चार है । इस चार से अन्तिम पद (६४) के संकलन धन (२०८०) को भाग देने से ($\frac{२०८०}{४}=५२०$) प्राप्त होते हैं । ५२० बार लोक (२५६) को परस्पर गुणा करने से अन्तिम पद का गुणकार होता है । परमार्थतः यहाँ देयराशि आवली का असंख्यातवाँ भाग है उसके अर्द्धच्छेदों का भाग लोक के अर्धच्छेदों में देने पर

१-२. धवल पु. ६ पृ. ५० । ३. धवल पु. ६ पृ. ५०-५१ ।

जो प्रमाण आवे, उसका भाग परमावधि के विवक्षित भेद के संकलित धन में देने से जो प्रमाण आवे; उतनी जगह लोक को स्थापित करके परस्पर में गुणित करने पर जो प्रमाण आवे वह उस विवक्षित भेद में गुणकार होता है। उस गुणकार से देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र लोक को गुणा करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के उस विवक्षित भेद में क्षेत्र का प्रमाण होता है। तथा उसी गुणकार से देशावधि के उत्कृष्ट काय (समय कम पल्य) को गुणित करने पर परमावधि के उसी विवक्षित भेद संबंधी काय का प्रमाण आता है। इस करणसूत्र के अनुसार किसी भी पद का गुणकार प्राप्त किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में धवलकार ने निम्न प्रकार से कथन किया है—

देयराशि के अर्धच्छेदों से युक्त विरलन राशि के अर्धच्छेद उत्पन्न राशि की वर्गशलाका होते हैं। विरलन राशि के अर्धच्छेद यहाँ तेजकायिक जीवों के अर्धच्छेदों से कुछ अधिक दूने है, क्योंकि वे तेजकायिक राशि के वर्ग से नीचे स्थित राशि के अर्धच्छेद करने पर उत्पन्न होते हैं। इनका प्रक्षेप करने पर आदि के वर्ग से लेकर परमावधि के चढ़ित अध्वान होता है। तेजकायिक राशि के अर्धच्छेदों से कुछ अधिक दुगुणे मात्र इस चढ़ित अध्वान को तेजकायिक राशि की वर्गशलाकाओं से खण्डित कर अर्धरूप कम। इससे तेजकायिक राशि की वर्गशलाकाओं को गुणित करने पर तेजकायिक राशि से ऊपर चढ़ित अध्वान होता है। यह परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र होता है।[1]

आवलिअसंखभागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया।
कालस्स जहण्णादो असंखगुणहीणमेत्ता हु ।।४२२।।
सव्वोहित्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा।
दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ।।४२३।।

गाथार्थ—आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य द्रव्य की पर्यायें अवधिज्ञान का जघन्य भाव विषय हैं। वे पर्यायें जघन्य-काल से असंख्यातगुणहीन हैं ।।४२२।। जघन्य देशावधि से लेकर सर्वावधि पर्यंत द्रव्य तो क्रम से खण्डित होता जाता है और भाव आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित होता जाता है। अतः द्रव्य व भाव के पदों की संख्या सदृश है ।।४२३।।

विशेषार्थ—आवली के असंख्यातवें भाग का आवली में भाग देने पर जघन्य अवधि का काल आवली के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। अपने विषयभूत जघन्यद्रव्य की अनन्त वर्तमान पर्यायों में से जघन्य अवधिज्ञान के द्वारा विषयीकृत आवली के असंख्यातवें भाग मात्र पर्यायें जघन्य भाव है[2] किन्तु काल की अपेक्षा इन वर्तमान पर्यायों का प्रमाण असंख्यात गुणहीन है। अर्थात् काल के असंख्यातवें भाग प्रमाण भावों की (वर्तमान पर्यायों की) संख्या है।

देशावधिज्ञान के द्वितीय विकल्प में द्रव्य तो हीन और भाव अधिक होता जाता है किन्तु क्षेत्र और काल जघन्य ही रहते हैं, क्योंकि यहाँ उनकी वृद्धि का अभाव है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ

१. धवल पु. ६ पृ. ४६। २. ध.पु. ६ पृ. २६-२७।

आदि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य और भाव विकल्प उत्पन्न हो जाने पर तत्पश्चात् जघन्य क्षेत्र के ऊपर एक आकाश प्रदेश बढ़ता है परन्तु काल जघन्य ही रहता है।[1] इससे जाना जाता है कि द्रव्य व भाव की अपेक्षा अवधिज्ञान की पद-संख्या सदृश है। किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा पद-संख्या हीन है। इस प्रकार क्षेत्र पद-संख्या से काल पद-संख्या अल्प है।

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव।
जाव य पढमे णिरये जोयणमेक्कं हवे पुण्णं[2] ॥४२४॥

गाथार्थ—सातवीं पृथिवी (सातवें नरक) में अवधिज्ञान का क्षेत्र एक कोस है। इसके ऊपर अर्ध-अर्ध कोस की वृद्धि तब तक होती गई जब तक प्रथम नरक में अवधिज्ञान का क्षेत्र सम्पूर्ण एक योजन (४ कोस) हो जाता है ॥४२४॥

विशेषार्थ—नारकियों में जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र गव्यूति (एक कोस) और उत्कृष्ट क्षेत्र एक योजन प्रमाण है। सातवीं पृथिवी में नारकियों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र गव्यूति प्रमाण और अवधिज्ञान का काल विषय उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त है। छठी पृथिवी में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र डेढ़ गव्यूति (कोस) प्रमाण है और काल अन्तर्मुहूर्त है। पाँचवीं पृथिवी में उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र दो गव्यूति (कोस) प्रमाण और काल अन्तर्मुहूर्त है। चौथी पृथिवी में नारकियों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र अढ़ाई गव्यूति प्रमाण और वहाँ उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तीसरी पृथिवी में उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र तीन गव्यूति (कोस) प्रमाण है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। दूसरी पृथिवी में नारकियों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र साढ़े तीन गव्यूति प्रमाण और वहाँ उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। पहली पृथिवी में नारकियों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र चार गव्यूति (एक योजन) प्रमाण है और वहाँ उत्कृष्ट काल एक समय कम मुहूर्त प्रमाण है।

शङ्का—गाथा में काल नहीं कहा गया फिर वह किस प्रमाण से जाना जाता है।

समाधान—वह "गाउअं मुहुत्तंतो। जोयणभिण्णमुहुत्तं" इस गाथा ४०५ से जाना जाता है।[3]

मनुष्य व तिर्यंचों में जघन्य व उत्कृष्ट अवधिज्ञान

तिरिये अवरं ओघो तेजोयंते य होदि उक्कस्सं।
मणुए ओघं देवे जहाकमं सुणह वोच्छामि[4] ॥४२५॥

गाथार्थ—तिर्यंचों में अवधिज्ञान जघन्य देशावधि से लेकर तैजस शरीर को विषय करने वाले

---

१. ध.पु. ९ पृ. २८-२९। २. "गाउअ जहण्ण ओही णिरएसु अ जोयणुक्कस्सं।" [ध.पु. १३ पृ. ३२६ गा. १६; म.बं.पु. १ पृ. २३]। मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा. १११। ३. ध.पु. १३ पृ. ३२६-३२७। ४. "तेयासरीरलंबो उक्कस्सेण दु तिरिक्खजोणिणिसु ॥१६ पूर्वार्ध॥ उक्कस्स माणुसेसु य माणुस-तेरिच्छए जहण्णोही। उक्कस्स लोगमेत्तं पडिवादी तेण परमपडिवादी ॥१७॥" [ध.पु. १३ पृ. ३२५ व ३२७; म.बं. पु. १ पृ. २३]।

भेद पर्यंत होता है। मनुष्यों में (जघन्य देशावधि से लेकर सर्वावधि पर्यंत) ओघ के समान है, देवों में अवधिज्ञान का कथन आगे की गाथाओं में यथाक्रम किया जाएगा, सो सुनो ।।४२५।।

विशेषार्थ—'तिरिये' अर्थात् पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रियतिर्यंच पर्याप्त और पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी जीवों को ग्रहण करना चाहिए। जघन्य अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों के होता है, देव और नारकियों के नहीं होता। एक घनलोक का औदारिक शरीर में भाग देने पर जो भागफल अर्थात् लब्ध प्राप्त होता है वह जघन्य अवधिज्ञान का विषयभूत द्रव्य होता है। क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग होकर भी सबसे जघन्य अवगाहना प्रमाण होता है। जघन्य अवधिज्ञान का काल आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। यह मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के ही होता है। तिर्यंचों में उत्कृष्ट द्रव्य तैजस शरीर प्रमाण, उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात योजन और उत्कृष्ट काल असंख्यात वर्ष मात्र है। मनुष्यों में उत्कृष्ट द्रव्य एक परमाणु, उत्कृष्ट क्षेत्र व काल असंख्यात लोक है।[1] अथवा तिर्यंचों में उत्कृष्ट द्रव्य तैजस शरीर के संचयभूत प्रदेशों के प्रमाण होता है। उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण और काल असंख्यात वर्ष होता है।[2]

भवनत्रिक में अवधिज्ञान

पणुवीसजोयणाइं दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं।
संखेज्जगुणं खेत्तं बहुगं कालं तु जोइसिगे ।।४२६।।[3]

असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोइसंताणं।
संखातीदसहस्सा उक्कस्सोहीण विसओ दु ।।४२७।।[4]

असुराणमसंखेज्जा वस्सा पुण सेसजोइसंताणं।
तस्संखेज्जदिभागं कालेण य होदि णियमेण ।।४२८।।

भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु।
उड्ढेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्संति ।।४२९।।

गाथार्थ—कुमार अर्थात् भवनवासी तथा भोम (व्यन्तरों) का [जघन्य] क्षेत्र पच्चीस योजन और काल अंतःदिवस (कुछ कम एक दिन) है। ज्योतिषी देवों की अवधि का क्षेत्र संख्यात गुणा और काल बहुत अधिक है ।।४२६।। असुर कुमारों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात करोड़ योजन तथा ज्योतिषी देवों तक शेष देवों का उत्कृष्ट अवधि का क्षेत्र असंख्यात हजार योजन है ।।४२७।। असुरकुमारों की उत्कृष्ट अवधि का काल असंख्यात वर्ष है। ज्योतिषी पर्यन्त शेष देवों की उत्कृष्ट अवधि का काल नियम से असंख्यातवाँ भाग है ।।४२८।। भवनत्रिक के अवधिज्ञान का क्षेत्र नीचे की ओर स्तोक होता है किन्तु तिर्यग रूप से अधिक होता है। भवनवासी ऊपर की सुरगिरि (मेरु) के शिखर पर्यंत देखते (जानते) हैं ।।४२९।।

---

१. ध.पु. १३ पृ. ३२७-३२८। २. ध.पु. १३ पृ. ३२५-३२६। ३. ध.पु. ९ पृ. २५, पु. १३ पृ. ३१४; म.बं.पु.१ पृ २२; मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा १०९। ४. ध.पु. ९ पृ. २५, पु. १३ पृ. ३१५; मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा. ११०। म.बं. पु. १ पृ. २२।

विशेषार्थ—'कुमार' अर्थात् दस प्रकार के भवनवासी, 'भोम' अर्थात् आठ प्रकार के वानव्यंतर देवों का क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञान पच्चीस योजन होता है। क्योंकि उनके अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्र को घनाकार रूप से स्थापित करने पर पच्चीस योजन घन प्रमाण क्षेत्र उपलब्ध होता है। काल की अपेक्षा तो ये कुछ कम एक दिन की बात जानते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधिज्ञान का प्रमाण संख्यात घनयोजन होता है। इतनी विशेषता है कि व्यन्तरों के जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र से ज्योतिषियों के जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र संख्यातगुणा है। इनका काल यद्यपि भवनवासियों के काल से बहुत होता है, किन्तु वह उसमें विशेष अधिक होता है, या संख्यातगुणा होता है, यह नहीं जाना जाता क्योंकि इस प्रकार का कोई उपदेश इस समय नहीं पाया जाता है। असुर पद से यहाँ असुर नाम के भवनवासी देव लिये गये हैं। उनके उत्कृष्ट क्षेत्र को घनाकार रूप से स्थापित करने पर यह असंख्यात करोड़ योजन होता है। इतनी विशेषता है कि शेष भवनवासी, वानव्यंतर और ज्योतिषी देवों का अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्र असंख्यात हजार योजन होता है। नौ प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यंतर और पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असुरकुमारों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र से संख्यातगुणा हीन है। क्योंकि हजार की अपेक्षा करोड़ संख्यात गुणा होता है। असुरकुमारों का उत्कृष्ट काल असंख्यात वर्ष है तथा ज्योतिषियों तक शेष देवों का (नौ प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यंतर और पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों का) भी उत्कृष्ट अवधिज्ञान काल असंख्यात वर्ष होता है तथापि वह असुरकुमारों के उत्कृष्ट काल की अपेक्षा संख्यातगुणा हीन होता है। भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवों का अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्र नीचे की ओर अल्प होता है किन्तु तिरछा बहुत होता है। इसके अतिरिक्त भवनवासी देव ऊपर देखते हुए उत्कृष्ट रूप से मेरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक देखते हैं।[1]

कल्पवासी देवों के अवधिज्ञान का कथन

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा।
तदियं तु बम्हलांतव सुक्कसहस्सारया तुरियं ॥४३०॥[2]

आणदपाणदवासी आरण तह अच्चुदा य पस्संति।
पंचमखिदिपेरंतं छट्ठिं गेवेज्जगा देवा ॥४३१॥[3]

सव्वं च लोयणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च ॥४३२॥[4]

कप्पसुराणं सगसगओहीखेत्तं विविस्ससोवचयं।
ओहीदव्वपमाणं संठाविय धुवहरेण हरे ॥४३३॥

सगसगखेत्तपदेससलायपमाणं समप्पदे जाव।
तत्थतणचरिमखंडं तत्थतणोहिस्स दव्वं तु ॥४३४॥

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३१४-३१६ तक। २. धवल पु. ६ पृ. २६: पु. १३ पृ. ३१६; म.बं. १ पृ. २२; मूलाचार अधिकार १२ गा. १०७। ३. धवल पु. ६ पृ २६, पु. १३ पृ. ३१८; म. बं. पु. १ पृ. २३, मू. चार १२ गा. १०८। ४. धवल पु. ६ पृ. २६, पु. १३ पृ. ३१६; म. बं. १ पृ. २३।

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जाश्रो हु वस्सकोडीश्रो ।
उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो दु ।।४३५।।
तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं ।
किंचूण-पल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गं ।।४३६।।

गाथार्थ—'**सक्कीसाणा**' सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देव अवधिज्ञान के द्वारा पृथिवी (नरक) पर्यन्त देखते (जानते) हैं। सानत्कुमार माहेन्द्र के देव दूसरी पृथिवी तक जानते हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग के देव तीसरी पृथिवी तक जानते हैं। शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रार स्वर्ग के देव चौथी पृथिवी (नरक) तक जानते हैं ।।४३०।। आनत-प्राणतवासी तथा आरण-अच्युतनिवासी देव पाँचवीं पृथिवी (नरक) तक जानते हैं और ग्रैवेयकवासी देव छठी पृथिवी नरक तक जानते हैं।।४३१।। अनुत्तर के देव अवधिज्ञान द्वारा सर्व लोकनाली को जानते हैं। कल्पवासी सब देव अपने-अपने क्षेत्र के जितने प्रदेश हों उतनी बार अपने-अपने विस्रसोपचय सहित अवधि ज्ञानावरण कर्म के द्रव्य में ध्रुवहार का भाग देने पर जो अन्तिम एक भाग लब्ध आता है, उसको जानते हैं ।।४३२-४३३-४३४।। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की अवधि का काल असंख्यात कोटि वर्ष है। इसके ऊपर चार कल्पों में अवधिकाल पल्य का असंख्यातवाँ भाग है। उसके आगे लान्तव स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक अवधि विषयक काल यथायोग्य कुछ पल्य मात्र है ।।४३५-४३६।।

विशेषार्थ—सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अपने विमान के उपरिम तल-मण्डल से लेकर प्रथम पृथिवी (नरक) के नीचे के तल तक डेढ़ राजू लम्बे और एक राजू विस्तारवाले क्षेत्र को देखते हैं। सानतकुमार और माहेन्द्र कल्पवासी देव अपने विमान के ध्वजादण्ड से लेकर नीचे दूसरी पृथिवी के नीचे के तल भाग तक चार राजू लम्बे और एक राजू विस्तारवाले क्षेत्र को जानते हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्पवासी देव अपने विमान शिखर से लेकर नीचे तीसरी पृथिवी के तल भाग तक साढ़े पाँच राजू लम्बे और एक राजू विस्तारवाले क्षेत्र को जानते हैं। लान्तव और कापिष्ठ विमानवासी देव अपने विमान शिखर से तीसरी पृथिवी के नीचे के तल तक छह राजू लम्बे और एक राजू विस्तार वाले क्षेत्र को जानते हैं।

शङ्का—ये क्षेत्र एक राजू विस्तारवाले हैं, यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—आगे के गाथा सूत्र (४३२)में प्रयुक्त 'सव्वं च लोयणालिं' पदों की अनुवृत्ति आने से यहाँ सिंहावलोकन न्याय से 'छह राजू आयत सब लोकनाली को देखते हैं' यह इस सूत्र का अर्थ सिद्ध है। इसीसे उक्त क्षेत्रों का विस्तार एक राजू जाना जाता है।[1]

शुक्र और महाशुक्र कल्पवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर चौथी पृथिवी के तलभाग तक साढ़े सात राजू लम्बी और एक राजू विस्तार वाली लोकनाली को देखते हैं। शतार और सहस्रार कल्पवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे चौथी पृथिवी के नीचे के तलभाग तक आठ राजू

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३१६-३१७।

लम्बी और एक राजू विस्तारवाली लोकनाली को देखते हैं।[1] आनत और प्राणत कल्पवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे पाँचवीं पृथिवी के नीचे के तलभाग तक साढ़े नौ राजू लम्बी और एक राजू विस्तारवाली लोकनाली को देखते हैं। आरण और अच्युत कल्पवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे पाँचवीं पृथिवी के नीचे के तलभाग तक दस राजू लम्बी और एक राजू विस्तारवाली लोकनाली को देखते हैं। नौ ग्रैवेयक विमानवासी देव अपने-अपने विमानों के शिखर से लेकर नीचे छठी पृथिवी के नीचे के तलभाग तक साधिक ग्यारह राजू लम्बी और एक राजू विस्तार वाली लोकनाली को देखते हैं। नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देव अपने-अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे निगोदस्थान से बाहर के वातवलय तक कुछ कम चौदह राजू लम्बी और एक राजू विस्तारवाली सब लोकनाली को देखते हैं।

शङ्का—गाथा में नौ अनुदिश का नामोल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—गाथा में 'सव्वंच' पद है। यहाँ जो 'च' शब्द है वह अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने के लिए है। इससे गाथासूत्र में अनिर्दिष्ट नौ अनुदिशवासी देवों का ग्रहण किया है।[2] लोकनाली शब्द अन्तदीपक है, ऐसा जानकर उसकी सर्वत्र योजना करनी चाहिए। यथा—सौधर्म कल्पवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर पहली पृथिवी तक सब लोकनाली को देखते हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पवासी देव दूसरी पृथिवी तक सबलोकनाली को देखते हैं। इसी प्रकार आगे सर्वत्र कथन करना चाहिए, कारण कि इसके बिना नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवों के सब लोकनाली विषयक अवधिज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि प्रथम तो अपने-अपने विमानों के शिखर से ऊपर के विषय का ग्रहण किसी को नहीं होता। दूसरे, नौ अनुदिश और चार अनुत्तर विमानवासी देवों के सातवीं पृथिवी के अधस्तन तल से नीचे का ग्रहण नहीं होता। तीसरे, सर्वार्थसिद्धिविमानवासी देव भी सब लोकनाली को नहीं देखते हैं, क्योंकि उनके अपने विमानशिखर से ऊपर का कुछ कम इक्कीस योजन [१२ + ८ + (१ -- ४२५)] बाहल्यवाले एक राजू प्रतररूपक्षेत्र के अतिरिक्त सब लोकनाली क्षेत्र का ग्रहण होता है।

शङ्का—नौ अनुदिश और चार अनुत्तर विमानवासी देव सातवीं पृथिवी के अधस्तन तल से नीचे नहीं देखते हैं, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—यह सूत्राविरुद्ध आचार्य के वचन से जाना जाता है।[3]

नौ अनुदिश और चार अनुत्तर विमानवासी देव तथा सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव अपने विमानशिखर से लेकर अन्तिम वातवलय तक एक राजू प्रतर विस्ताररूप सब लोकनाली को देखते हैं ऐसा कितने ही आचार्य उक्त गाथा सूत्र (४३२) का व्याख्यान करते हैं, सो उसको जानकर कथन करना चाहिए।[4]

अपने-अपने क्षेत्र को शलाकारूप से स्थापित करके अपने-अपने कर्म में मनोद्रव्यवर्गणा के

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३१८। २. धवल पु. १३ पृ. ३१९। ३. धवल पु. १३ पृ. ३२०। ४. धवल पु. १३ पृ. ३२०।

अनन्तवें भाग की, जितनी शलाकायें स्थापित की हैं, उतनी बार भाग देने पर जो अन्तिम रूपगत पुद्गल प्राप्त होता है, वह उस-उस देव के अवधिज्ञान का विषय होता है। यहाँ पर 'च' शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने के लिए आया है। इससे मनोद्रव्यवर्गणा के अनन्तवें भाग रूप भागाहार तदवस्थित रहता है, यह सिद्ध होता है।

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों के अवधिज्ञान का विषयभूत द्रव्य—लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण अपने क्षेत्र को शलाकारूप से स्थापित करके और मनोद्रव्यवर्गणा के अनन्तवें भाग का विरलन करके विरलित राशि के प्रत्येक एक के प्रति सब द्रव्य को समान खण्ड करके देने पर शलाका राशि में से एक आकाशप्रदेश कम कर देना चाहिए। पुनः यहाँ विरलित राशि के एक अंक के प्रति जो राशि प्राप्त होती है उसे उक्त विरलन राशि के ऊपर समान खण्ड करके स्थापित करें और शलाकाराशि में से दूसरी शलाका कम करें। यह क्रिया सब शलाकाओं के समाप्त होने तक करें। यहाँ सबसे अन्तिम क्रिया के करने पर जो एक अंक के प्रति प्राप्त पुद्गल द्रव्य निष्पन्न होता है उसकी संज्ञा रूपगत है। उसे सौधर्म और ऐशान कल्प के देव अपने अवधिज्ञान द्वारा देखते हैं। इसी प्रकार सब देवों में अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य के प्रमाण का कथन करना चाहिए। इतनी विशेषता है कि अपने-अपने क्षेत्र को शलाका रूप से स्थापित कर यह क्रिया करनी चाहिए।

शङ्का - यह द्रव्य देवों में क्या उत्कृष्ट है या अनुत्कृष्ट है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि देव जाति विशेष के कारण ज्ञान के प्रति समान भाव को प्राप्त होते हैं, अतएव उनमें अवधिज्ञान के द्रव्य का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद नहीं होता।[1]

शङ्का—यह सूत्र कल्पवासी देवों की ही अपेक्षा से है, शेष जीवों की अपेक्षा से नहीं है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—यह तिर्यंच और मनुष्यों में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का कथन करने वाले सूत्र (गाथा सूत्र ३७८) से जाना जाता है और कार्मण शरीर को जाननेवाले जीवों के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस कथन का **'असंखेज्जा दीव-समुद्दा'** इस गाथा सूत्र (४०७) के साथ विरोध आता है।[2]

सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देवों के काल की अपेक्षा अवधिज्ञान का विषय असंख्यात करोड़ वर्ष है। सानतकुमार-माहेन्द्र का काल की अपेक्षा अवधिज्ञान विषय पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर के अवधिज्ञान का विषय काल की अपेक्षा पल्योपम के असंख्यातवें भाग है लान्तव से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक के देवों का काल विषय कुछ कम पल्योपम प्रमाण होता है।

शङ्का—ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्पों में काल पल्य का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है। फिर यहाँ उनसे कुछ अधिक क्षेत्र को देखनेवाले लान्तव और कापिष्ठ के देवों में उक्त काल कुछ कम पल्य प्रमाण कैसे हो सकता है ?[3]

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३२१। २. धवल पु. १३ पृ. ३२२। ३. धवल पु. १३ पृ. ३१७।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भिन्न स्वभाव वाले विविध कल्पों में अपने कल्प के भेद से अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम भिन्न होने में कोई विरोध नहीं है। परन्तु क्षेत्र की अपेक्षा काल के लाने पर सौधर्म कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवों तक उक्त काल पल्योपम का संख्यातवाँ भाग होना चाहिए, क्योंकि एक घनलोक के प्रति यदि एक पल्यकाल प्राप्त होता है तो घनलोक के संख्यातवें भाग के प्रति क्या लब्ध होगा? इस प्रकार त्रैराशिक करके फलराशि से गुणित इच्छाराशि में प्रमाणराशि का भाग देने पर पल्योपम का संख्यातवाँ भाग काल उपलब्ध होता है। परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा गुरु का उपदेश नहीं पाया जाता। अतः क्षेत्र की अपेक्षा किये बिना जहाँ जो काल कहा है, उसका ग्रहण करना चाहिए।[1]

अथवा ये सभी देव काल की अपेक्षा कुछ कम एक पल्य के भीतर अतीत-अनागत द्रव्य को जानते हैं। यह भी गुरु का ही उपदेश है, इस विषय का कथन करने वाला वर्तमान काल में कोई सूत्र नहीं है।[2]

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा।
कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि ॥४३७॥

गाथार्थ—विशेषार्थ सहित—भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का अवधिविषयक क्षेत्र घन व प्रतर रूप नहीं है, क्योंकि गोलाकार तिर्यक् रूप क्षेत्र अधिक है और ऊर्ध्व अधः अल्प है। कल्पवासी देवों का अवधिक्षेत्र आयत की अपेक्षा विसदृश है तिर्यग् रूप से सभी विमानवासी देवों का क्षेत्र राजूप्रतर है। अर्थात् तिर्यग् रूप अल्प है और ऊपर नीचे की तरफ अधिक है। जैसे सौधर्म से ईशान का क्षेत्र ऊपर से नीचे डेढ़ राजू तथा सानतकुमार माहेन्द्र ऊपर से नीचे चार राजू इत्यादि जानते हैं। अर्थात् आयत विसदृश है। किन्तु तिर्यग् रूप सदृश है क्योंकि सबका तिर्यग् क्षेत्र एक राजू प्रतर प्रमाण है ॥४३७॥

॥ इति अवधिज्ञानम् ॥

मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेय-भेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए ॥४३८॥[3]

मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदित्ति उजुमदी तिविहा।
उजुमणवयणे काए गदत्थविसयात्ति णियमेण ॥४३९॥

विउलमदीवि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं।
अत्थं जाणदि जम्हा सद्दत्थगया हु ताणत्था ॥४४०॥

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३१८। २. धवल पु. १३ पृ. ३२०। ३. धवल पु. १ पृ. ३६०, प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १२५।

गाथार्थ—चिन्तित-अचिन्तित, व अर्धचिन्तित इत्यादि अनेक भेदयुक्त द्रव्य को मनुष्यलोक में जो जानता है, वह मनःपर्यय ज्ञान कहा गया है ।।४३८।। मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है—ऋजुमति व विपुलमति। उनमें से ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान तीन प्रकार का है—ऋजुमनगत, ऋजुवचनगत, ऋजुकायगत ज्ञेय (अर्थ) को नियम से विषय करता है ।।४३९।। विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान छह प्रकार है। ऋजुमनगत, ऋजुवचनगत व ऋजुकायगत चिन्तन किये जा रहे अर्थ (ज्ञेय) को विषय करने वाले तथा कुटिल मन वचन काय के द्वारा चिन्तन किये जाने वाले ज्ञान की अपेक्षा विपुलमति के छह भेद हो जाते हैं। मनःपर्यय ज्ञान के विषय शब्दगत व अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं ।।४४०।।

विशेषार्थ—परकीय मनोगत अर्थ मन कहलाता है।[1] 'पर्यय' में परि शब्द का अर्थ सब ओर, और अय शब्द का अर्थ विशेष है। मन का पर्यय मनःपर्यय है।[2] उस मन की पर्यायों अर्थात् विशेषों को मनःपर्यय कहते हैं।[3] मन की पर्याय को मनः पर्यय कहते हैं। तथा उसके साहचर्य से ज्ञान भी मनःपर्यय कहलाता है। इस प्रकार मनःपर्यय रूप जो ज्ञान है वह मनःपर्ययज्ञान है।[4] मन की पर्यायों अर्थात् विशेषों को जो ज्ञान जानता है वह मनःपर्यय ज्ञान है।[5] मनःपर्यय का ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास है।[6]

शङ्का—सामान्य को छोड़कर केवल विशेष का ग्रहण करना सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय केवल विशेष नहीं होता, इसलिए सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को ग्रहण करनेवाला मनःपर्यय-ज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह हम को इष्ट है।

शङ्का—तो मनःपर्ययज्ञान के विषयरूप से सामान्य का भी ग्रहण होना चाहिए।

समाधान—नहीं, क्योंकि सामर्थ्य से उसका ग्रहण हो जाता है।[7]

अथवा मनःपर्यय यह संज्ञा रूढ़िजन्य है, इसलिए चिन्तित और अचिन्तित दोनों प्रकार के अर्थों में (ज्ञेय में) विद्यमान ज्ञान को विषय करने वाली यह संज्ञा है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। अवधिज्ञान के समान यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। क्योंकि यह इन्द्रियों से नहीं उत्पन्न होता है।[8]

अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान नियम से अल्प है, किन्तु यह मनःपर्यय क्योंकि संयम के निमित्त से उत्पन्न होता है, इसलिए अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान महान् है, यह बतलाने के लिये इसका अवधिज्ञान के बाद निर्देश किया है।[9]

शङ्का—यदि संयममात्र मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण है तो समस्त संयमियों के मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता ?

---

१. स. सि. १/९; धवल पु. ६ पृ. २८, पु. १३ पृ. २१२ व ३२८। २. धवल पु. १३ पृ. ३२८। ३. धवल पु. ६ पृ. २८। ४. जयधवल पु. १ पृ. १९-२०। ५. धवल पु. ९ पृ. २८। ६. धवल पु. १३ पृ. ३२८। ७. धवल पु. १३ पृ. २१२। ८. धवल पु. १३ पृ. २१२। ९. धवल पु. १३ पृ. २१३।

समाधान—यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता तो ऐसा भी होता, किन्तु मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति के अन्य भी कारण हैं, इसलिए उन दूसरे हेतुओं के न रहने से समस्त संयतों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

शङ्का—वे दूसरे कारण कौन से हैं ?

समाधान—विशेष जाति के द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं, जिनके बिना सभी संयमियों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता।[१]

शङ्का—देशविरति आदि नीचे के गुणस्थानवर्ती जीवों के मनःपर्यय ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संयमासंयम और असंयम के साथ मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।[२]

वह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।[३] तथा ऋजुमति और विपुलमति विशेषणों के द्वारा विशेषता को प्राप्त हुए मनःपर्ययज्ञान के एकत्व का अभाव है।[४] जो ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान तीन प्रकार का है वह ऋजुमनोगत को जानता है, ऋजु वचनगत को जानता है और ऋजु कायगत को जानता है ॥६२॥[५]

शङ्का—मन को ऋजुपना कैसे आता है ?

समाधान—जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उसका उस प्रकार से चिन्तन करने वाला मन ऋजु है और उससे विपरीत चिन्तन करने वाला मन अनृजु है।

शङ्का—वचन में ऋजुपना कैसे आता है ?

समाधान—जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उस-उस प्रकार से ज्ञापन करने वाला वचन ऋजु है तद् विपरीत वचन अनृजु है।[६]

शङ्का—काय में ऋजुपना कैसे आता है ?

समाधान—जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उस को उसी प्रकार से अभिनय द्वारा दिखलाने वाला काय ऋजु है और उससे विपरीत काय अनृजु है।

उनमें से जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर मनोगत अर्थ को जानता है, वह ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान है। वह मन में चिन्तवन किये गये पदार्थ को ही जानता है। वह अचिन्तित, अर्धचिन्तित और विपरीतरूप से चिन्तित अर्थ को नहीं जानता है।

---

१. धवल पु. १ पृ. ३६७। २. धवल पु. १पृ. ३६६। ३. जयधवल पु. १ पृ. २०; धवल पु. ६ पृ. २८।
४. "उजु-विउलमदि विसेसणेहि विसेसिदमण-पज्जवणाणस्स एयत्ताभावेण" [धवल पु. १३ पृ. ३२९]।
५. धवल पु. १३ पृ. ३२९ सूत्र ६२। ६. धवल पु. १३ पृ. ३३०।

जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गये व सरल रूप से ही कहे गये अर्थ को जानता है वह भी ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान है। यह नहीं बोले गये, आधे बोले गये और विपरीत रूप से बोले गये अर्थ को नहीं जानता है, क्योंकि जिस मनःपर्यय ज्ञान में मतिऋजु है वह ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान है, ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है।[1]

शङ्का—ऋजुवचनगत मनःपर्ययज्ञान को ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान संज्ञा नहीं प्राप्त होती ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ पर भी ऋजुमन के बिना ऋजु वचन की प्रवृत्ति नहीं होती।

शङ्का—चिन्तित अर्थ को कहने पर यदि जाना जाता है तो मनःपर्यय ज्ञान को श्रुतज्ञान प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यह राज्य या यह राजा कितने दिन तक समृद्ध रहेगा ? ऐसा चिन्तन करके ऐसा ही कथन करने पर यह ज्ञान चूंकि प्रत्यक्ष से राज्यपरम्परा की मर्यादा और राजा की आयुस्थिति को जानता है, इसलिए इस ज्ञान को श्रुतज्ञान मानने में विरोध आता है।

जो ऋजुभाव से विचार कर एवं ऋजुरूप से अभिनय करके दिखाये गये अर्थ को जानता है वह भी ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है, क्योंकि ऋजुमति के बिना काय की क्रिया के ऋजु होने में विरोध आता है।

शङ्का—यदि मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय, नोइन्द्रिय और योग आदि की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता है तो वह दूसरों के मन, वचन और काय के व्यापार की अपेक्षा किये बिना ही क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान की उस प्रकार से उत्पत्ति देखी जाती है।

शङ्का—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान उसकी अपेक्षा किये बिना क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की यह विचित्रता है।[2]

शङ्का—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी मन से अचिन्तित, वचन से अनुक्त और अनभिनीत अर्थात् शारीरिक चेष्टा के अविषयभूत अर्थ को क्यों नहीं जानते हैं ?

समाधान—नहीं जानते, क्योंकि उसके विशिष्ट क्षयोपशम का अभाव है।

दूसरे की मति में स्थित पदार्थ मति कहा जाता है। विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है। विपुल है मति जिसकी वह विपुलमति कहा जाता है।[3]

जो विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञान है वह छह प्रकार का है—ऋजुमनोगत को जानता है, अनृजुमनोगत को जानता है, ऋजुवचनगत को जानता है, अनृजुवचनगत को जानता है, ऋजुकायगत को जानता है और अनृजुकायगत को जानता है।

---

१. धवल पु. १३ पृ. ३३०। २. धवल पु. १३ पृ. ३३१। ३. ध. पु. ६ पृ. ६६।

यथार्थ मन, वचन और काय का व्यापार ऋजु कहलाता है। तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मन, वचन और काय का व्यापार अनृजु कहलाता है। अर्धचिन्तन या अचिन्तन का नाम अनध्यवसाय है। दोलायमान ज्ञान का नाम संशय है। अयथार्थ चिंता का नाम विपर्यय है। विचार करके जो भूल गये हैं उसे भी वह ज्ञान जानता है। जिसका भविष्य में चिन्तवन करेंगे उसे जानता है, क्योंकि अतीत और अनागत पर्यायों का अपने स्वरूप से जीव में पाया जाना सम्भव है।[1]

मनःपर्यय ज्ञान संयतों के ही होता है और संयत मनुष्य ही होते हैं अतः मनःपर्यय ज्ञानी मनुष्यलोक में ही होते हैं। मनुष्य नरलोक में ही होते हैं, बाहर नहीं होते, क्योंकि अतीत काल में भी पूर्व के वैरी देवों के सम्बन्ध से भी मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्यों का गमन नहीं है।[2] मनः पर्यय ज्ञान के विषयक्षेत्र का कथन गा. ४५५—४५६ में किया जाएगा।

मनःपर्यय ज्ञान तो मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, किन्तु अवधिज्ञान अवधिदर्शन पूर्वक होता। है[3]

तियकालविसयरूविं चिंतितं वट्टमाणजीवेण।
उजुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ॥४४१॥

गाथार्थ—वर्तमान जीव के द्वारा चिन्त्यमान त्रिकालविषयक रूपी द्रव्य को ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी जानता है, किन्तु विपुल-मति मनःपर्ययज्ञानी भूत और भविष्यत् द्रव्य को भी जानता है ॥४४१॥

विशेषार्थ—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान मन में चिन्तवन किये गये पदार्थ को ही जानता है, अचिन्तित पदार्थ को नहीं, किन्तु विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान चिन्तित व अचिन्तित (जिसका भूत में चिन्तवन हो चुका या भविष्य में चिन्तवन होगा) ऐसे त्रैकालवर्ती रूपी द्रव्य (पुद्गल व संसारीजीव)[4] को भी जानता है।[5] इसका विशेष कथन गा. ४४८, ४४९ व ४५० में किया जाएगा।

मनःपर्ययज्ञान किन प्रदेशों से उत्पन्न होता है तथा द्रव्य मन के आकार आदि का कथन

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥४४२॥
हिदि होदि हु दव्वमणं वियसिय अट्ठच्छदारविंदं वा।
अङ्गोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा ॥४४३॥
णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।
वत्तत्ताभावादो मणमणपज्जं च तत्थ हवे ॥४४४॥

---

१. ध.पु. १३ पृ. ३४०। २. "तीदे काले पुव्ववइरिपदेव संबंधेण वि माणुसुत्तरमेलादो परदो मणुसाणं गमणाभावादो।" [ध.पु. ७ पृ. ३८०]। ३. "मणपज्जवणाणं मदि-पुव्वं चेव, ओहीणाणं पुण ओहिदंसणपुव्वं" [ध.पु. ६ पृ. २९]। ४. "संसारी जीव मूर्त है" [ध.पु. १३ पृ. ३३३। ५. ध.पु. ६ पृ. २८।

गाथार्थ—जिस प्रकार अवधिज्ञान शंखादि शुभ चिह्नों से युक्त समस्त अङ्ग से उत्पन्न होता है, उस प्रकार मनःपर्ययज्ञान जहाँ पर द्रव्य मन होता है उन्हीं प्रदेशों से उत्पन्न होता है ।।४४२।। आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पांखडी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है ।।४४३।। उस द्रव्यमन की नोइन्द्रिय संज्ञा भी है। क्योंकि शेष इन्द्रियों के समान द्रव्यमन व्यक्त नहीं है। द्रव्यमन के होने पर ही भावमन तथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है ।।४४४।।

विशेषार्थ—**शङ्का**—जिस प्रकार अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशमगत जीवप्रदेशों के संस्थान का (शंख आदि चिह्नों का) कथन किया है, उसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमगत जीवप्रदेशों के संस्थान का कथन क्यों नहीं करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम विकसित आठ पांखुडी युक्त कमल जैसे आकार वाले द्रव्यमन प्रदेशों में उत्पन्न होता है, उससे इसका पृथग्भूत संस्थान नहीं होता।[1]

मन अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा मानस को अर्थात् मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न हुई नोइन्द्रिय को ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जानता है।

शंका—नोइन्द्रिय अतीन्द्रिय है, उसका मतिज्ञान के द्वारा कैसे ग्रहण होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ईहारूप लिंग के अवलम्बन के बल से अतीन्द्रिय अर्थों में भी मतिज्ञान की प्रवृत्ति देखी जाती है। अथवा मन अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा मानस अर्थात् मतिज्ञान के विषय को ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान प्रवृत्त होता है।[2]

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान संज्ञी जीवों के ही होता है। मन सहित जीव संज्ञी हैं। मन दो प्रकार का है, द्रव्यमन व भावमन। उनमें पुद्गलविपाकी अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्यमन है। तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण (मतिज्ञानावरण) कर्म के क्षयोपशम रूप आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह भावमन है।[3]

शङ्का—जीव के नवीनभव को धारण करने के समय ही भावेन्द्रियों की तरह भाव मन का भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिए जिस प्रकार अपर्याप्तिकाल में भावेन्द्रियों का सद्भाव कहा जाता है, उसी प्रकार वहाँ पर भावमन का सद्भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जिसके द्रव्यमन ग्रहण नहीं होता, ऐसे भाव मन का अपर्याप्ति रूप अवस्था में अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है, ऐसे द्रव्यमन के असत्त्व का प्रसंग आजाएगा।

इससे जाना जाता है कि द्रव्य मन के सद्भाव में ही भावमन उत्पन्न होता है और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो सकता है। किन्तु द्रव्यमन के अभाव में न तो भावमन होता है और न मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

---

१. ध.पु. १३ पृ. ३३१-३३२। २. ध.पु. १३ पृ. ३४१। ३. ध.पु. १ पृ. २५९।

शङ्का—मन को इन्द्रिय संज्ञा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार शेष इन्द्रियों का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है उस प्रकार मन का नहीं होता, इसलिए मन को इन्द्र (आत्मा) का लिंग (चिह्न) नहीं कह सकते ।[1]

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं ।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ।।४४५।।
इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि ।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ।।४४६।।
पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हु ।
सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो बिदियबोहो दु ।।४४७।।

गाथार्थ—सात गुणस्थान वाले संयमी के, सात ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि से युक्त या एकाधिक ऋद्धि से युक्त तथा वर्धमान व विशिष्ट चारित्र को धारण करने वाले के मनःपर्ययज्ञान होता है ।।४४५।। इन्द्रिय, मन और योग की अपेक्षा करके ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान होता है। अवधिज्ञान की तरह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान इनकी अपेक्षा के बिना नियम से होता है ।।४४६।। प्रथम अर्थात् ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान प्रतिपाती है। द्वितीय अर्थात् विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अप्रतिपाती है। प्रथमबोध (ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान) शुद्ध है। द्वितीय बोध अर्थात् विपुलमति मनःपर्ययज्ञान शुद्धतर होता है ।।४४७।।

विशेषार्थ—**"मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडिजाव खीणकसायवीदराग-छदुमत्था त्ति ।।१२१।।"**[2] मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ।।१२१।। पर्याय और पर्यायी में अभेद की अपेक्षा से मनःपर्ययज्ञान का ही मनःपर्ययज्ञानी रूप से उल्लेख किया है। प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्म साम्पराय संयत, उपशान्त मोह और क्षीणमोह अर्थात् छठे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक इन सात गुणस्थानों में मनःपर्यय ज्ञानी जीव होते हैं। सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान में और अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थान इन दो गुणस्थानों में मात्र केवलज्ञान होता है, वहाँ पर क्षायोपशमिक मनःपर्ययज्ञान नहीं होता।

शङ्का—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय, नोइन्द्रिय और मन, वचन, काय के व्यापार की अपेक्षा किये बिना क्यों नहीं उत्पन्न होता ? विपुलमति तो उक्त सभी की अपेक्षा किए बिना ही होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की यह विचित्रता है ।[3] अतः ऋजुमति मनःपर्यय तो इन्द्रियादि की अपेक्षा करके ही होता है।

---

१. ध. पु. १ पृ. २६०-२६१। २. ध. पु. १ पृ. ३६६। ३. ध. पु. १३ पृ. ३३१।

शङ्का—ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी मन से अचिन्तित, वचन से अनुक्त और अनभिनीत (शारीरिक चेष्टा के अविषयभूत) अर्थ को क्यों नहीं जानता ?

समाधान—नहीं जानता, क्योंकि उसके विशिष्ट क्षयोपशम का अभाव है।[1]

ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी अचिन्तित, अनुक्त और अनभिनीत अर्थ को नहीं जान सकता, इसलिए ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान को मन, वचन व काय के व्यापार की अपेक्षा करनी पड़ती है। किन्तु विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी अचिन्तित अर्थ को भी जानता है (गो. जी. गा. ४३८) अतः उसे इन्द्रिय, नो इन्द्रिय और योग की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।

शंका—यह ज्ञान मन के सम्बन्ध से होता है अतः इसे मतिज्ञान होने का प्रसङ्ग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मन:पर्यय ज्ञान में मन की अपेक्षा मात्र है। यद्यपि वह केवल क्षयोपशम शक्ति से अपना कार्य करता है, तो भी केवल स्व और पर के मन की अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है। जैसे—'आकाश में चन्द्रमा को देखो' यहाँ आकाश की अपेक्षा मात्र होने से ऐसा व्यवहार किया गया है।[2] अर्थात् यहाँ मन की अपेक्षा मात्र है। दूसरों के मन में अवस्थित अर्थ को यह जानता है, इतनी मात्र यहाँ मन की अपेक्षा है।

"विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः[3]॥२४॥" विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति इन दोनों मन:पर्ययज्ञानों में अन्तर है। अतः ऋजुमति कम विशुद्ध और प्रतिपाती है, किन्तु विपुलमति मन:पर्ययज्ञान विशुद्धतर और अप्रतिपाती है।

मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा में जो निर्मलता आती है, वह विशुद्धि है। गिरने का नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात है। उपशान्तकषाय जीव का चारित्रमोहनीय के उदय से संयम-शिखर छूट जाता है जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीव के पतन का कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता। इन दोनों की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में भेद है। ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है। उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य को विषय करनेवाला होने से ही विशुद्धि जान लेनी चाहिए, क्योंकि इनका उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है, इसलिए ऋजुमति से विपुलमति में विशुद्धि अधिक है।[4]

अप्रतिपात की अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है, क्योंकि इसके स्वामियों के प्रवर्द्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि इसके स्वामियों के कषाय के उदय से घटता हुआ (हीयमान) चारित्र पाया जाता है।[5]

ऐसा नियम है कि विपुलमति मन:पर्ययज्ञान उसी के होता है जो तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है, किन्तु ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। वह तद्भवमोक्षगामी के भी हो सकता है और अन्य के भी हो सकता है। इसी प्रकार जो क्षपकश्रेणी

---

१. ध. पु. ९ पृ. ६३। २. सर्वार्थसिद्धि अ. १ सू. ९। ३. त.सू.अ. १। ४. व ५. सर्वार्थसिद्धि अ. १ सू. २४।

पर चढ़ता है उसके भी हो सकता है और जो क्षपकश्रेणी पर नहीं चढ़कर उपशमश्रेणी पर चढ़ता है या नहीं भी चढ़ता है उसके भी हो सकता है। इस प्रकार ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का परस्पर विशुद्धि व प्रतिपात की अपेक्षा कथन किया गया।

परमणसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ।।४४८।।
चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।
ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा ।।४४९।।

गाथार्थ—दूसरे के मन में ऋजु स्थित अर्थ को ईहा मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण करके पीछे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान के द्वारा नियम से प्रत्यक्ष जानता है ।।४४८।। चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित इत्यादि अनेक भेदों से युक्त पदार्थ को ग्रहण करके पश्चात् विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानवत् प्रत्यक्ष जानता है ।।४४९।।

विशेषार्थ—मतिज्ञान के द्वारा दूसरों के मानस (मन में उत्पन्न हुए चिह्न) को ग्रहण करके ही मनःपर्ययज्ञान के द्वारा मन में स्थित अर्थ को जानता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[1] मन अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा मानस को अर्थात् मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न हुई नोइन्द्रिय को ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जानता है।

शङ्का—नोइन्द्रिय अतीन्द्रिय है, उसका मतिज्ञान के द्वारा कैसे ग्रहण होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ईहारूप लिंग के अवलम्बन के बल से अतीन्द्रिय अर्थों में भी मतिज्ञान की प्रवृत्ति देखी जाती है। अथवा मन अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा मानस अर्थात् मतिज्ञान के विषय को ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है, ऐसा कथन करना चाहिए।[2]

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान चिन्तित अर्थ को भी जानता है, किन्तु विपुलमति ज्ञान चिन्तित, अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थ को भी जानता है।[3] पैंतालीस लाख योजन के भीतर विद्यमान चिन्तित, अर्धचिन्तित व अचिन्तित अर्थ को प्रत्यक्ष जानता है।[4]

इसका विशेष कथन गाथा ४३८ के विशेषार्थ में किया जा चुका है।

---

१. "मदिणाणेण परेसिं मणं घेत्तूण चेव मणपज्जवणाणेण मणम्मिट्ठिदअत्थे जाणदि त्ति भणिदं होदि।" [ध.पु.१३ पृ. ३३२]। २. "मणेण मदिणाणेण, माणसं णोइंदियमणोवग्गणखंधणिव्वत्तिदं, पडिविदइत्ता घेत्तूण पच्छा मणपज्जवणाणेण जाणदि। णोइंदियमदिंदियं कधं मदिणाणेण घेप्पदे? ण, ईहालिंगावट्ठंभबलेण अदिंदिएसु वि अत्थेसु वुत्तिदंसणादो। अथवा मणेण मदिणाणेण माणसं मदिणाणविसयं पडिविदइत्ता उवलंभिय पच्छा मणपज्जवणाणं पयट्टदि त्ति वत्तव्वं।" [ध.पु. १३ पृ. ३४१]। ३. "किंतु चिंतियमचिंतियमद्धचिंतियं च जाणदि" [ध.पु.१३ पृ ३२९]। ४. "चिंतिय-अद्धचिंतिय-अचिंतियअत्थाणं पणदालीस जोयणलक्खब्भंतरे वट्टमाणाण जं पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ" [ज.ध.पु. १ पृ. ४३]।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूवि ।
उजुविउलमदी जाणदि अवरवरं मज्झिमं च तहा ।।४५०।।

गाथार्थ—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान व विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जीव के द्वारा लक्षित किये गये जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट रूपी (संसारी जीव पुद्गल) को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार जानता है ।।४५०।।

विशेषार्थ—यह ज्ञान मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। क्षायोपशमिक भाव में देशघातिया स्पर्धकों का उदय रहता है। देशघातिया स्पर्धकों के अनुभाग के कारण ही ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान व विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान जीव के द्वारा चिन्तित रूपी पदार्थ को द्रव्य, क्षेत्र काल व भाव की मर्यादा लेकर जानता है। जितना क्षयोपशम होगा उसके अनुसार ही स्थूल या सूक्ष्म द्रव्य को निकटवर्ती या दूरस्थित अर्थ को, हीनाधिक काल की मर्यादा के अन्दर के द्रव्य को तथा अल्प व बहुत भावों को जानता है।

मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञान से मन, वचन व काय के भेदों को जानकर पीछे वहाँ स्थित अर्थ को प्रत्यक्ष से जानने वाले मनःपर्यय ज्ञानी का विषय द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव के भेद से चार प्रकार का है।[1]

शङ्का—जीव अमूर्त है अतः वह मूर्त अर्थ को जाननेवाले अवधिज्ञान से नीचे के मनःपर्ययज्ञान के द्वारा कैसे जाना जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मों के द्वारा अनादिकालीन बन्धन से बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता।[2]

"**रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।**"[3] इस सूत्र से पुद्गल द्रव्य का मूर्त होना सिद्ध है। अतः मनःपर्यय ज्ञानी संसारी जीव और पुद्गल दोनों रूपी द्रव्यों को जानता है। मनःपर्ययज्ञान का विषय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से प्रत्येक जघन्य, उत्कृष्ट व अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम या तद्व्यतिरिक्त) प्रमाण वाला है।

'जीव लक्खिय' गाथा में इस पद के द्वारा यह कहा गया है कि मनःपर्ययज्ञान का विषय वही रूपी द्रव्य हो सकता है जो जीव के द्वारा चिन्तित हो।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान का जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य प्रमाण

अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु ।
चक्खिदियणिज्जण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ।।४५१।।

---

१. "मदिणाणेण वा सुदणाणेण वा मण-वचि-काय भेदं णादूण पच्छातत्थट्ठिदमत्थं पच्चक्खेण जाणंतस्स मणपज्जवणाणस्स दव्व-खेत्त-काल-भावभेएण विसओ चउव्विहो।" [धवल पु. ६ पृ. ६३] २. धवल पु. १३ पृ. ३३३। ३. त. सू. अ. ५।

गाथार्थ—औदारिक शरीर की एक समय संबंधी निर्जरा का प्रमाण ऋजुमति का जघन्य द्रव्य है तथा उत्कृष्ट चक्षुरिन्द्रिय की निर्जराप्रमाण द्रव्य है ।।४५१।।

विशेषार्थ—द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य से अनन्तानन्त विस्रसोपचय से सम्बन्ध रखनेवाले औदारिक शरीर के एक समय में निर्जरा को प्राप्त होने वाले द्रव्य को जानता है और उत्कृष्ट रूप से एक समय में होने वाले इन्द्रिय के निर्जरा को प्राप्त होने वाले द्रव्य को जानता है। इन उत्कृष्ट और जघन्य के मध्यम के जितने द्रव्य विकल्प हैं उन्हें अजघन्यानुत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी जानता है।[1]

ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान जघन्य से एक समय सम्बन्धी औदारिक शरीर की निर्जरा को जानता है।

शङ्का—वह औदारिक शरीर की निर्जरा जघन्य, उत्कृष्ट और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार की है। उनमें से किस निर्जरा को वह जानता है?

समाधान—तद्व्यतिरिक्त औदारिक शरीर की निर्जरा को जानता है, क्योंकि यहाँ सामान्य निर्देश है।

उक्त ज्ञान उत्कर्ष से एक समय सम्बन्धी इन्द्रियनिर्जरा को जानता है।[2]

शङ्का—औदारिक-शरीर-निर्जरा और इन्द्रिय-निर्जरा के बीच कोई भेद नहीं है, क्योंकि, इन्द्रियों से भिन्न औदारिक शरीर का अभाव है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ सब इन्द्रियों का ग्रहण नहीं है।

शङ्का—फिर कौनसी इन्द्रिय का ग्रहण है?

समाधान—चक्षुरिन्द्रिय का ग्रहण है, क्योंकि वह शेष इन्द्रियों की अपेक्षा अल्प प्रमाण रूप है व अपने आरम्भक पुद्गलों की श्लक्ष्णता अर्थात् सूक्ष्मता से भी युक्त है।

शङ्का—घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय के विशालता देखी जाती है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि चक्षुगोलक के मध्य में स्थित मसूर के आकार वाले तारा को चक्षुरिन्द्रिय स्वीकार किया है।

शङ्का—चक्षुरिन्द्रिय निर्जरा भी जघन्य, उत्कृष्ट और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार है, उनमें कौनसी निर्जरा का ग्रहण है?

समाधान—तद्व्यतिरिक्त निर्जरा का ग्रहण है, क्योंकि उसका सामान्य निर्देश है।

जघन्य व उत्कृष्ट द्रव्य के मध्यम द्रव्यविकल्पों को तद्व्यतिरिक्त ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है।[3]

---

१. ध. पु. १३ पृ. ३३७। २. ध.पु. ९ पृ. ६३। ३. ध.पु. ९ पृ. ६४।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के द्रव्य का प्रमाण

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं ।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ।।४५२।।
अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयम् ।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं ।।४५३।।
तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं ।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ।।४५४।।

गाथार्थ—मनोद्रव्य वर्गणा के अनन्तवें भाग से ऋजुमतिज्ञान के उत्कृष्ट द्रव्य को खण्डित करने पर विपुलमति ज्ञान के जघन्य द्रव्य का प्रमाण प्राप्त होता है ।।४५२।। विस्रसोपचयरहित अष्टकर्मों के समयप्रबद्ध को एक बार ध्रुवहार का भाग देने पर द्वितीय द्रव्य विकल्प होता है ।।४५३।। विपुलमति के द्वितीय द्रव्य में असंख्यातकल्पों के समय प्रमाण बार ध्रुवभागाहार का भाग देने से उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण होता है ।।४५४।।

विशेषार्थ—विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य द्रव्य की अपेक्षा एकसमयरूप इन्द्रियनिर्जरा को जानता है।

शङ्का—ऋजुमतिज्ञान का उत्कृष्ट द्रव्य ही उससे बहुत श्रेष्ठ विपुलमति का विषय कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनन्त विकल्परूप चक्षुरिन्द्रिय की अजघन्यानुत्कृष्ट निर्जरा के ऋजुमति द्वारा विषय किये गए उत्कृष्ट द्रव्य की अपेक्षा उसके योग्य हानि को प्राप्त एक समयरूप इन्द्रियनिर्जरा का द्रव्य विपुलमति का [जघन्य या प्रथम] विषय माना गया है। अर्थात् विपुलमति के जघन्य द्रव्य का प्रमाण होता है।[1] [विपुलमतिज्ञान के विषयभूत] उत्कृष्ट द्रव्य के ज्ञापनार्थ उसके योग्य असंख्यात कल्पों के समयों को शलाकारूप से स्थापित करके; मनोद्रव्य वर्गणा के अनन्तवें भाग का विरलन कर विस्रसोपचय रहित व आठकर्मों से सम्बद्ध अजघन्यानुत्कृष्ट एकसमयप्रबद्ध को समखण्ड करके देने पर उनमें एकखण्ड द्रव्य का द्वितीय विकल्प होता है। इस समय शलाकाराशि में से एक कम करना चाहिए। इस प्रकार इस विधान से शलाकाराशि समाप्त होने तक लेजाना चाहिए। इनमें अन्तिम द्रव्यविकल्प को उत्कृष्ट विपुलमति जानता है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य के मध्यमविकल्पों को तद्व्यतिरिक्त विपुलमति जानता है।[2] यहाँ 'मनोद्रव्य वर्गणा का अनन्तवाँ भाग' ध्रुवहार है।

ऋजुमति व विपुलमति ज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं ।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ।।४५५।।

---

१. ध.पु. ९ पृ. ६६-६७। २. ध.पु. ९ पृ. ६७।

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स ।
जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं ।।४५६।।

गाथार्थ—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान विषयक जघन्य क्षेत्र कोस पृथक्त्व और उत्कृष्ट क्षेत्र योजन-पृथक्त्व है। विपुलमति का जघन्यक्षेत्र योजन पृथक्त्व तथा उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण है ।।४५५।। 'नरलोक' यह वचन विष्कम्भ अर्थात् सूचिव्यास का नियायक है न कि वृत्ताकार (परिधिरूप) नरलोक का। क्योंकि मनःपर्ययज्ञान का वह घनप्रतर रूप क्षेत्र कहा गया है ।।४५६।।

विशेषार्थ—क्षेत्र की अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य से गव्यूति पृथक्त्व प्रमाण क्षेत्र को और उत्कर्ष से योजन पृथक्त्व के भीतर की बात जानता है, बाहर की नहीं।[1] जघन्य व उत्कृष्ट क्षेत्र के मध्यम विकल्पों को तद्व्यतिरिक्त-ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है।

दो हजार धनुष की एक गव्यूति (कोस) होती है। उसको आठ से गुणित करने पर गव्यूति पृथक्त्व होता है। इसके घनप्रमाण क्षेत्र को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य से जानता है।

शङ्का—अवधिज्ञान का जघन्यक्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा है और उसका काल आवली का असंख्यातवाँ भाग है। परन्तु अवधिज्ञान से अल्पतर इस ज्ञान का जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व कहा है और काल दो-तीन भवग्रहण प्रमाण कहा है, यह कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न जाति वाले हैं। अवधिज्ञान संयत व असंयत सम्बन्धी है, परन्तु मनःपर्ययज्ञान संयत सम्बन्धी ही है। इससे इनकी पृथक्-पृथक् जाति जानी जाती है। इसलिए दोनों ज्ञानों में विषय की अपेक्षा समानता नहीं है। दूसरे, जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय रसादि को छोड़ कर रूप को ही जानती है, उसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी भवविषयक समस्त अर्थपर्यायों के बिना यतः भव-संज्ञक दो-तीन व्यञ्जन पर्यायों को ही जानता है, इसलिए वह अवधि-ज्ञान के समान नहीं है। बहुत काल के द्वारा निष्पन्न हुए सात-आठ भवग्रहण का यह अपरिच्छेदक है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अशेष अर्थपर्यायों को नहीं विषय करनेवाले और भवसंज्ञक व्यञ्जन पर्यायों को विषय करनेवाले उस ज्ञान की बहुत समयों से निष्पन्न हुए भवों में प्रवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता।

आठहजार धनुषों का एक योजन होता है। उसे आठ से गुणित करने पर योजन पृथक्त्व के भीतर धनुषों का प्रमाण होता है। इनका घन ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र होता है।[2]

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजन पृथक्त्व प्रमाण क्षेत्र को जानता है। ऋजुमति का उत्कृष्ट क्षेत्र और विपुलमति का जघन्य क्षेत्र समान नहीं है, क्योंकि योजन पृथक्त्व में अनेक भेद देखे जाते हैं।[3] उत्कर्ष से मानुषोत्तर शैल के भीतर जानता है बाहर नहीं जानता।[4]

---

१. ध.पु. १३ पृ. ३३८; म.बं.पु. १ पृ. २५, सर्वार्थसिद्धि १/२३। ध.पु. ६ पृ. ६५। २. ध.पु. १३ पृ. ३३६। ३. ध.पु. १३ पृ. ३४३ सूत्र ७६-७७; म.बं.पु. १ पृ. २६। ४. ध.पु. ६ पृ. ६७।

मानुषोत्तर शैल यहाँ उपलक्षणभूत है, वास्तविक नहीं है। इसलिए पैंतालीस लाख योजन क्षेत्र के भीतर स्थित जीवों की चिन्ता के विषयभूत त्रिकालगोचर पदार्थ को वह जानता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इससे मानुषोत्तर शैल के बाहर भी अपने विषयभूत क्षेत्र के भीतर स्थित होकर विचार करने वाले देवों और तिर्यंचों की चिन्ता के विषयभूत अर्थ को भी विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है।[1]

कितने ही आचार्य मानुषोत्तर शैल के भीतर ही जानता है, ऐसा कहते हैं। उनके अभिप्रायानुसार मानुषोत्तर शैल से बाहर के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। मानुषोत्तर शैल के भीतर स्थित होकर चिन्तित अर्थ को जानता है, ऐसा भी कितने ही आचार्य कहते हैं। उनके अभिप्रायानुसार लोक के अन्त में स्थित अर्थ को भी प्रत्यक्ष जानता है। किन्तु दोनों ही अर्थ ठीक नहीं हैं, क्योंकि तदनुसार अपने ज्ञानरूपी पुष्पदल के भीतर आये हुए द्रव्य का अनवगम बन नहीं सकता। मनःपर्ययज्ञान मानुषोत्तर शैल के द्वारा रोक दिया जाता है, यह तो कुछ सम्भव है नहीं, क्योंकि स्वतंत्र होने से व्यवधान से रहित उक्त ज्ञान की प्रवृत्ति में बाधा का होना सम्भव नहीं है। दूसरे, लोक के अन्त में स्थित अर्थ को जानने वाला यह ज्ञान वहाँ स्थित चित्त को नहीं जाने, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि अपने क्षेत्र के भीतर स्थित अपने विषयभूत अर्थ का अनवगम बन नहीं सकता। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर क्षेत्र के प्रमाण की प्ररूपणा निष्फल ठहरती है। इसलिए पैंतालीस लाख योजन के भीतर स्थित होकर चिन्तवन करने वाले जीवों के द्वारा विचार्यमाण द्रव्य यदि मनःपर्ययज्ञान की प्रभा से अवष्टब्ध क्षेत्र के भीतर होता है तो जानता है, अन्यथा नहीं जानता।[2]

उत्कर्ष से विपुलमति मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता है बाहर की नहीं। तात्पर्य यह कि पैंतालीस लाख योजन घनप्रतर को जानता है।

आकाशश्रेणी की एक श्रेणी क्रम से ही जानता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर देव, मनुष्य एवं विद्याधरादिकों में विपुलमति मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति न हो सकने का प्रसंग आजाएगा। मानुषक्षेत्र के भीतर स्थित सब मूर्त द्रव्यों को जानता है, उससे बाह्यक्षेत्र में नहीं, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। किन्तु वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर मानुषोत्तर पर्वत के समीप स्थित होकर बाह्य दिशा में उपयोग करने वाले के ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग होगा। यदि कहा जाय कि उक्त प्रसंग आता है तो आने दीजिये, सो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके उत्पन्न न हो सकने का कोई कारण नहीं है। क्षयोपशम का अभाव, सो कारण तो है नहीं, क्योंकि उसके बिना मानुषोत्तर पर्वत के अभ्यन्तर दिशाविषयक ज्ञान की उत्पत्ति भी घटित नहीं होती। अतः क्षयोपशम का अस्तित्व सिद्ध है। मानुषोत्तर पर्वत से व्यवहित होने के कारण परभाग में स्थित पदार्थों में ज्ञान की उत्पत्ति न हो, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि असंख्यात अतीत व अनागत पर्यायों में व्यापार करनेवाले तथा अभ्यन्तर दिशा में पर्वतादिकों से व्यवहित पदार्थों को भी जाननेवाले मनःपर्ययज्ञानी के अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष का मानुषोत्तर पर्वत से प्रतिघात हो नहीं सकता। 'मानुषोत्तर पर्वत

---

१. ध.पु. १३ पृ. ३४३। २. ध. पु. १३ पृ. ३४३-३४४।

के भीतर' यह वचन क्षेत्र का नियामक नहीं है, किन्तु मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पैंतालीस लाख योजनों का नियामक है, क्योंकि, विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के उद्योत सहित क्षेत्र को घनाकार से स्थापित करने पर पैंतालीस लाख योजन ही होता है।[1]

ऋजुमति व विपुलमति विषयक काल का कथन

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।
अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥४५७॥

गाथार्थ—ऋजुमति विषयक जघन्य काल दो तीन भव और उत्कृष्ट सात आठ भव प्रमाण है। विपुलमति विषयक आठ नौ भव जघन्य काल है और उत्कृष्ट काल असंख्यात भव हैं ॥४५७॥

विशेषार्थ—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से दो तीन भवों को जानता है ॥६५॥

शंका—यदि दो ही भवों को जानता है तो तीन भवों को नहीं जान सकता, और यदि तीन को जानता है तो दो को नहीं जानता, क्योंकि तीन को दो रूप मानने में विरोध आता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह वर्तमान भव के बिना दो भवों को और वर्तमान के साथ तीन भवों को जानता है, इसलिए दो और तीन भव कहे गए हैं।

प्रकृति-अनुयोगद्वार में कहा है कि उत्कर्ष से सात और आठ भवों को जानता है ॥६६॥ यहाँ पर भी वर्तमान भव के बिना सात भवों को, अन्यथा आठ भवों को जानता है। अनियतकाल रूप भव-ग्रहण का निर्देश होने से यहाँ काल का नियम नहीं है, ऐसा जानना चाहिये[2] जघन्य और उत्कृष्ट काल के मध्यम विकल्पों को तद् व्यतिरिक्त ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है।[3]

कृति एवं प्रकृति अनुयोगद्वार में भी कहा है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से सात-आठ भवग्रहण को और उत्कर्ष से असंख्यात भवग्रहण को जानता है।[4] इतने काल के जीवों की गति, आगति, मुक्त, कृत और प्रतिसेवित अर्थ को प्रत्यक्ष जानता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[5] परन्तु विपुलमति के जघन्य काल के विषय में इन दोनों (कृति एवं प्रकृति) अनुयोग-द्वारों से भिन्न कथन इस गाथा में किया गया है।

मनः पर्ययज्ञान के विषयभूत भावों का कथन

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥४५८॥

गाथार्थ—भाव की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य व उत्कृष्ट विषय आवली के भाग प्रमाण

---

१. ध. पु ६ पृ. ६७-६८। २. ध. पु. १३ पृ. ३३८; ध. पु. ६ पृ. ६५। ३. ध. पु. ६ पृ. ६५।
४. ध. पु ६ पृ. ६८-६६, पु. १३ पृ. ३४२ सूत्र ७४। ५. ध. पु. १३ पृ. ३४२ सूत्र ७५।

भावों की संख्या है, जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यात गुणा है। विपुलमति का जघन्य भाव विषयक प्रमाण, ऋजुमति के उत्कृष्ट से असंख्यातगुणी है। और उत्कृष्ट असंख्यात लोक प्रमाण है ।।४५८।।

विशेषार्थ—जघन्य व उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान भाव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट द्रव्यों में अपने-अपने योग्य असंख्यात वर्तमान पर्यायों को जानता है।[1] विपुलमति ज्ञान भाव की अपेक्षा जो-जो द्रव्यज्ञाता हैं उन-उनकी वर्तमान असंख्यात पदार्थों को जानता है।[2]

मज्झिमदव्वं खेत्तं कालं भावं च मज्झिमं णाणं।
जाणदि इदि मणपज्जवणाणं कहिदं समासेण ।।४५९।।

गाथार्थ—मध्यम द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को मध्यम मनःपर्यय ज्ञान जानता है। इस प्रकार मनःपर्यय ज्ञान का संक्षेप से कथन किया गया ।।४५९।।

विशेषार्थ—जघन्य से अधिक और उत्कृष्ट से कम वह मध्यम होता है उसको ही अजघन्य अनुत्कृष्ट अथवा तद्व्यतिरिक्त भी कहते हैं। जघन्य और उत्कृष्ट तो एक-एक ही प्रकार का होता है, किन्तु मध्यम के अनेक भेद होते हैं। ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान व विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का, द्रव्य-क्षेत्र व काल की अपेक्षा कथन करते हुए मध्यम द्रव्य क्षेत्र-काल का भी कथन हो चुका है। वहाँ पर देख लेना चाहिए।

केवलज्ञान

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ।।४६०।।[3]

गाथार्थ—जो ज्ञान सम्पूर्ण, है समग्र है, केवल है, सपत्नरहित है, सर्वपदार्थगत है, लोकालोक में अन्धकार-रहित है, उसको केवलज्ञान जानना चाहिए ।।४६०।।

विशेषार्थ—"**तं च केवलणाणं सगलं, संपुण्णं असवत्तं**"[4] ।।८१।। अर्थात् वह केवलज्ञान सकल है, सम्पूर्ण है और असपत्न है। अखण्ड होने से वह सकल है।

शङ्का—यह अखण्ड कैसे है?

समाधान—समस्त बाह्य अर्थों में प्रवृत्ति नहीं होने पर ज्ञान में खण्डपना आता है, वह इस ज्ञान में संभव नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान के विषय त्रिकालगोचर अशेष बाह्य पदार्थ हैं।[5]

अथवा द्रव्य, गुण और पर्यायों के भेद का ज्ञान अन्यथा नहीं बन सकने के कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है, ऐसे ज्ञान के अवयवों का नाम कला है; इन कलाओं के साथ वह अवस्थित रहता है इसलिए सकल है। 'सम्' का अर्थ सम्यक् है, सम्यक् अर्थात् परस्पर परिहार लक्षण विरोध के

---

१. ध. पु. ९ पृ. ६५। २. ध. पु. ९ पृ. ६६। ३. ध. पु. १ पृ. ३६० गा. १८६; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १२६।
४. ध. पु. १३ पृ. ३४५। ५. ध. पु. १३ पृ. ३४५।

होने पर भी, सहानवस्थान लक्षण विरोध के न होने से चूंकि यह अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, विरति (चारित्र) एवं क्षायिक सम्यक्त्व आदि अनन्त गुणों से पूर्ण है, इसलिए इसे सम्पूर्ण कहा जाता है। वह सकल गुणों का निधान है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। 'सपत्न' का अर्थ शत्रु है, केवलज्ञान के शत्रु घातिया कर्म हैं। वे इसके नहीं रहे हैं, इसलिए केवलज्ञान असपत्न है। उसने अपने प्रतिपक्षी घातिचतुष्क का समूल नाश कर दिया है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।[1]

केवलज्ञान असहाय है, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार की अपेक्षा से रहित है।

शङ्का—केवलज्ञान आत्मा की सहायता से होता है, इसलिए उसे केवल (असहाय) नहीं कह सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता इसलिए केवलज्ञान को केवल (असहाय) कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का—केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है इसलिए उसको केवल (असहाय) नहीं कह सकते हैं।

समाधान—नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत अर्थों में और अनुत्पन्न हुए अनागत अर्थों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिए केवलज्ञान अर्थ की सहायता से होता है, यह नहीं कहा जा सकता है।

शङ्का—यदि विनष्ट और अनुत्पन्न रूप से असत् पदार्थों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खरविषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होओ?

समाधान—नहीं, क्योंकि खरविषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है, उसी प्रकार उसका वर्तमान में भूतशक्ति और भविष्यत्शक्ति रूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता है अर्थात् जैसे वर्तमान पदार्थ में उसकी अतीत पर्यायें, जो पहले हो चुकी हैं, भूतशक्तिरूप से विद्यमान हैं और अनागत पर्यायें, जो आगे होने वाली हैं भविष्यत्शक्ति रूप से विद्यमान हैं, उस तरह खर-विषाण (गधे का सींग) यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूतशक्तिरूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान होती, तथैव वह आगे होने वाला होता तो भविष्यत्शक्तिरूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान रहती, किन्तु खरविषाण न तो कभी हुआ और न कभी होगा। अतः उसमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

ज्ञानमार्गणा में जीवसंख्या का निरूपण

चदुगदिमदिसुदबोहा पल्लासंखेज्जया हु मणपज्जा।
संखेज्जा केवलिणो सिद्धादो होंति अतिरित्ता ॥४६१॥

ओहिरहिदा तिरिक्खा मदिणाणिअसंखभागगा मणुगा।
संखेज्जा हु तदूणा मदिणाणी ओहिपरिमाणं ॥४६२॥

---

1. ध. पु. १३ पृ. ३४५-३४६।

पल्लासंखघणंगुलहदसेढितिरिक्ख-गदिविभङ्गजुदा ।
णरसहिदा किंचूणा चदुगदिवेभङ्ग-परिमाणम् ॥४६३॥
सण्णाणरासि-पंचय-परिहीणो सव्वजीवरासी हु ।
मदिसुदअण्णाणीणं पत्तेयं होदि परिमाणं ॥४६४॥

गाथार्थ—चारों (नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव) गति सम्बन्धी मतिज्ञानियों और श्रुतज्ञानियों का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग है। मनःपर्यय ज्ञानवाले संख्यात हैं, केवली (केवलज्ञानी) सिद्धों से कुछ अधिक हैं ॥४६१॥ अवधिज्ञान रहित तिर्यंच, तथा मतिज्ञानियों की संख्या के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवधिज्ञान रहित संख्यात मनुष्य, इन दोनों राशियों को मतिज्ञानियों की संख्या में से कम करने पर शेष अवधिज्ञानियों का प्रमाण है।।४६२।। पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित घनांगुल प्रमाण जगश्रेणियां; इतने विभंगज्ञानी तिर्यंच हैं; तथा विभंगज्ञानी मनुष्य तथा देव नारकी सम्यग्दृष्टियों से रहित शेष सब देव व नारकी; यह चतुर्गति सम्बन्धी सब विभंगज्ञानियों की संख्या है ॥४६३॥ सर्व जीवराशि में से पाँच सम्यग्ज्ञानियों की संख्या कम करने पर कुमति व कुश्रुत ज्ञानियों का प्रमाण होता है ॥४६४॥

विशेषार्थ—आवली के असंख्यातवें भाग का आवली में भाग देने पर जो लब्ध आवे वह अर्थात् आवली का असंख्यातवाँ भाग असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों के प्रमाण के निकालने के विषय में अवहारकाल का प्रमाण होता है। यह काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।[1] यह असंयत सम्यग्दृष्टियों का ओघ अवहारकाल ही मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीवों का अवहार काल है।[2] इस अवहार काल (आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त) से पल्य को भाग देने पर मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानियों का प्रमाण प्राप्त होता है। इस अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध आवे उसे उसी अवहार काल में मिला देने पर अवधिज्ञानियों का अवहार काल होता है।[3] इस अवहार काल से पल्योपम को भाजित करने पर अवधिज्ञानियों-असंयत सम्यक्त्वी का प्रमाण प्राप्त होता हैं।[4] अवधिज्ञानी संयतासंयत अवधिज्ञानी असंयत सम्यक्त्वियों के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही हैं। [क्योंकि अवधिज्ञानी असंयत सम्यक्त्वी के अवहार काल से अवधिज्ञानी संयतासंयत का अवहार काल असंख्यातगुणा बताया है। (ध. ३/३३९-४०)] अवधिज्ञानी प्रमत्त-संयत और अप्रमत्तसंयत जीव अपनी-अपनी राशि के संख्यातवें भाग मात्र हैं, किन्तु वे इतने ही होते हैं यह स्पष्ट नहीं जाना जाता है, क्योंकि वर्तमान काल में इस प्रकार का गुरु का उपदेश नहीं पाया जाता है। इतना विशेष है कि अवधिज्ञानी उपशामक चौदह और क्षपक अट्ठाईस होते हैं।[5]

मनःपर्ययज्ञानी संख्यात हैं। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में मनःपर्ययज्ञानी जीव वहाँ स्थित दो ज्ञान वाले जीवों के संख्यातवें भाग मात्र होते हैं, क्योंकि लब्धिसम्पन्न ऋषि बहुत नहीं हो सकते। फिर भी वे इतने ही होते हैं, यह ठीक नहीं जाना जाता है, क्योंकि वर्तमान काल में इस

---

१. ध. पु. ३ पृ. ६८। २. ध. पु. ३ पृ. ४३९। ३. ध. पु. ३ पृ. ४३९। ४. ध. पु. ३ पृ. ४४१। ५. ध. पु. ३ पृ. ४४१।

प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। इतना विशेष है कि मनःपर्ययज्ञानी उपशामक दस और क्षपक बीस होते हैं।[१]

केवलज्ञानी जीवों में सयोगी जिन लक्षपृथक्त्व है।[२] इनसे अधिक सिद्ध प्रमाण केवलज्ञानियों की संख्या है। केवलज्ञानियों में सिद्ध-राशि की मुख्यता है, क्योंकि वे अनन्त हैं। सयोगकेवली और अयोगकेवली संख्यात हैं। सयोगकेवली और अयोगकेवली से अधिक सिद्धराशि केवलज्ञानियों की संख्या होती है।

मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव अनन्त हैं, क्योंकि जितने भी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे सब मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी हैं। क्योंकि दोनों प्रकार के अज्ञानों से रहित मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं पाये जाते हैं।[३] मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं।[४] अनन्त होते हुए भी वे मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि पल्य के असंख्यातवें भाग हैं।[५]

शङ्का—विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीव हैं, इसलिये ओघमिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टियों के प्रमाण से मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव कम-कम हो जाते हैं।

समाधान—नहीं, क्योंकि मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी को छोड़कर विभंग ज्ञानी जीव पृथक् नहीं पाये जाते हैं इसलिये इनका प्रमाण मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टियों के समान है।[६]

सर्व जीवराशि के अनन्त खण्ड करने पर उनमें से बहुभाग मत्यज्ञानी और श्रुतअज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव हैं। शेष एक भाग के अनन्त खण्ड करने पर उनमें से बहुभाग केवलज्ञानी जीव हैं। शेष एक भाग के असंख्यात खण्ड करने पर बहुभाग विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव हैं। शेष एक भाग के असंख्यात खण्ड करने पर बहुभाग प्रमाण मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव हैं। इन्हीं मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी असंयत सम्यग्दृष्टियों की प्रतिराशि करके और उसे आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसको उसी प्रतिराशि में से घटा देने पर अवधिज्ञानी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवराशि होती है।[७] अंक संदृष्टि अनुसार ज्ञानमार्गणा में विभिन्न ज्ञानियों की संख्या इस प्रकार है[८]—

मत्यज्ञानी श्रुताज्ञानी	विभंगज्ञानी	मति-श्रुतज्ञानी	अवधिज्ञानी	मनःपर्ययज्ञानी	केवलज्ञानी	सर्वजीवराशि
अनन्त	असंख्यात	असंख्यात	असंख्यात	संख्यात	अनन्त	अनन्त
$\frac{८३२}{६४} = १३$	$\frac{३६}{६४}$	$\frac{२०}{६४}$	$\frac{४}{६४}$	$\frac{१}{६४}$	$\frac{१२८}{६४}$	१६

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **ज्ञानमार्गणा** नामक बारहवाँ अधिकार सम्पूर्ण हुआ।

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४४२-४४३। २. धवल पु. ३ पृ. ९५ सूत्र १४। ३. धवल पु. ३ पृ. ४३६। ४. धवल पु. ३ पृ. १० सू. २। ५. धवल पु. ३ पृ. ६३ सूत्र ६। ६. धवल पु. ३ पृ. ४३७। ७. धवल पु. ३ पृ. ४४२। ८. इयं संदृष्टिः धवलायां तृतीये पुस्तके प्रस्तावनायाः सप्तविंशतितमे पृष्ठांके आगताऽस्ति। तत्र सर्वासां मार्गणाणां सन्दृष्टयः प्रदत्ताः सन्ति।

१३. संयममार्गणाधिकार

संयम का लक्षण

वदसमिदि-कसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालण-णिग्गह-चाग-जओ संजमो भणिओ[1] ।।४६५।।

गाथार्थ—व्रतों का धारण करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, (मन-वचन-काय रूप) दण्डों का त्याग करना तथा पाँच इन्द्रियों का जीतना संयम कहा गया है ।।४६५।।

विशेषार्थ—संयमन करने को संयम कहते हैं। इस प्रकार का लक्षण करने पर मात्र द्रव्य-यम (भावचारित्र शून्य द्रव्यचारित्र) संयम नहीं हो सकता, क्योंकि संयम शब्द में ग्रहण किये गये 'सं' शब्द से उसका निराकरण हो जाता है।

शङ्का—यहाँ पर यम से सभी समितियों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि समितियों के न होने पर संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान - ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि संयम में दिये गये 'सं' शब्द से सम्पूर्ण समितियों का ग्रहण हो जाता है ।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों महाव्रतों का धारण करना, ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण-उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालन, क्रोध, मान, माया व लोभ इन चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन और काय रूप इन तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र) के विषयों का जीतना संयम है।[2]

शङ्का—कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[3] संयम में 'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थ का वाची है, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यता:' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत हैं वे संयत हैं।[4] क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, तथा जिसका चित्त तीन मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[5]

संयम की उत्पत्ति का कारण

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।
संजमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।४६६।।

---

१. धवल पु. १ पृ. १४५ गाथा ९२; प्रा. पं. सं. अ. १ गाथा १२७ पृ. २७। २. धवल पु. १ पृ. १४४।
३. धवल पु. १ पृ. ३७८। ४. धवल पु. १ पृ. ३६९। ५. धवल पु. १ पृ. १७७।

गाथार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर बादर संज्वलन या सूक्ष्म साम्पराय के उदय के रहते हुए भी नियम से संयमभाव उत्पन्न होता है, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ।।४६६।।

विशेषार्थ—वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय (उदय के अभाव रूप क्षय) होने से और आगामी काल में उदय में आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आने रूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के बादर देशघाती या सूक्ष्म देशघाती स्पर्धकों के उदय में आने पर संयम उत्पन्न होता है, इसलिए संयम क्षायोपशमिक है।

शङ्का—संज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिए उसको (संयम को) औदयिक क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शङ्का—तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है ?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और सदवस्थारूप उपशम से उत्पन्न हुए संयम में मल उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है।[1]

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक लब्धि से जीव संयत होता है।[2]

चारित्रावरण कर्म के सर्वोपशम से जिस जीव की कषायें उपशान्त हो गई हैं उसके संयम होता है। इस प्रकार औपशमिक लब्धि से संयम की उत्पत्ति होती है।

चारित्रावरण कर्म के क्षय से भी संयम की उत्पत्ति होती है, इससे क्षायिक लब्धि द्वारा जीव संयत होता है।

चारों संज्वलन कषायों और नौ नोकषायों के देशघाती स्पर्धकों के उदय से संयम की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार संयत के क्षायोपशमिक लब्धि भी पाई जाती है।

शङ्का—देशघाती स्पर्धकों के उदय को क्षयोपशम नाम क्यों दिया गया ?

समाधान—सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणेहीन होकर और देशघाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकों की अनन्तगुणहीनता ही क्षय है और उनका देशघाती स्पर्धकों के रूप से अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है। उसी क्षयोपशम से उत्पन्न संयम भी इसी कारण क्षायोपशमिक होता है।[3]

बादरसंजलणुदये बादरसंजमतियं खु परिहारो ।
पमविदरे सुहुमुदये सुहुमो संजमगुणो होदि ।।४६७।।

---

१. धवल पु. १ पृ. १७६-१७७। २. धवल पु. ७ पृ. ९२ सूत्र ४९। ३. धवल पु. ७ पृ. ९२।

जहखादसंजमो पुण उवसमदो होदि मोहणीयस्स ।
खयदो वि य सो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।४६८।।

गाथार्थ—मात्र बादर संज्वलन कषाय के उदित होते हुए भी तीन बादर संयम (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि) होते हैं। किन्तु परिहारविशुद्धिसंयम प्रमत्त और अप्रमत्त संयत इन दो गुणस्थानों में होता है। सूक्ष्म लोभ के उदय होने पर भी सूक्ष्मसाम्पराय संयम होता है ।।४६७।। मोहनीयकर्म का उपशम होने पर तथा क्षय होने पर नियम से यथाख्यात संयम होता है। ऐसा जिन (श्रुतकेवली) ने कहा है ।।४६८।।

विशेषार्थ—'मैं सर्व प्रकार के सावद्ययोग से विरत हूँ।' इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सकल सावद्ययोग के त्याग को सामायिकशुद्धि-संयत कहते हैं।

शङ्का—इस प्रकार एक व्रत के नियमवाला मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जाएगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिसमें सम्पूर्ण चारित्र के भेदों का संग्रह होता है, ऐसे सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नय को समीचीन दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—यह सामान्य संयम अपने-अपने सम्पूर्ण भेदों का संग्रह करनेवाला है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—'सर्वसावद्ययोग' पद के ग्रहण करने से ही, यहाँ पर अपने सम्पूर्ण भेदों का संग्रह कर लिया गया है, यदि यहाँ पर संयम के किसी एक भेद की ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्द का प्रयोग करने में विरोध आता है।[1]

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जिसने सम्पूर्ण संयम के भेदों को अपने अन्तर्गत कर लिया है, ऐसे अभेद रूप से एक यम को धारण करने वाला जीव सामायिकशुद्धि संयत कहलाता है।

उस एक व्रत का छेद अर्थात् दो तीन आदि के भेद से उपस्थापन करने को अर्थात् व्रतों के आरोपण करने को छेदोपस्थापना शुद्धि संयम कहते हैं। सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करनेवाला होने से सामायिकशुद्धि संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। और उसी एक व्रत को पाँच अथवा अनेक प्रकार के भेद करके धारण करने वाला होने से छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम पर्यायार्थिक नय रूप है। यहाँ पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्यों के अनुग्रह के लिए द्रव्यार्थिकनय का उपदेश है और मन्दबुद्धि जनों के लिए पर्यायार्थिक नय का उपदेश है। इसलिए इन दोनों संयमों में अनुष्ठानकृत कोई भेद नहीं है।

शङ्का—उपदेश की अपेक्षा संयम भले ही दो प्रकार का हो, वास्तव में तो वह एक ही है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यह कथन हमें इष्ट ही है।[2]

शङ्का—जबकि इन दोनों की अपेक्षा अनुष्ठानकृत संयम के दो भेद नहीं हो सकते हैं तो संयम

१. धवल पु. १ पृ. ३६९। २. धवल पु. १ पृ. ३७०।

के (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात) इन पाँच भेदों का उपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान—यदि पाँच प्रकार का संयम घटित नहीं होता है, तो मत होओ।

शङ्का—संयम कितने प्रकार का है ?

समाधान—संयम चार प्रकार का है, क्योंकि पाँचवा संयम पाया ही नहीं जाता।[1]

जिसके हिंसा का परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिप्राप्त संयतों को **परिहार शुद्धिसंयत** कहते हैं। तीस वर्ष तक अपनी इच्छानुसार भोगों को भोग कर सामान्य रूप से अर्थात् सामायिक संयम को और विशेष रूप से अर्थात् छेदोपस्थापना संयम को धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यान के प्रतिपादन करने वाले प्रत्याख्यान पूर्व रूपी महार्णव में अच्छी तरह प्रवेश करके जिसका सम्पूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने तपोविशेष से परिहारऋद्धि को प्राप्त कर लिया है, ऐसा जीव तीर्थंकर के पादमूल में परिहारशुद्धिसंयम को ग्रहण करता है।[2]

परिहार-शुद्धि-संयम प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में होता है।[3]

शङ्का—ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार-शुद्धि-संयम क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी अमृत के सागर में निमग्न हैं, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने-जाने रूप शरीर सम्बन्धी सम्पूर्ण शरीर व्यापार को संकुचित कर लिया है, ऐसे जीवों के शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार बन ही नहीं सकता है, क्योंकि गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करने वाला नहीं। इसलिए ऊपर के आठवें आदि ध्यान अवस्था को प्राप्त गुणस्थानों में परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है।[4]

शङ्का—परिहार ऋद्धि की आगे के आठवें आदि गुणस्थानों में भी सत्ता पाई जाती है, अतः एव वहाँ पर भी इस संयम का सद्भाव मान लेना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार ऋद्धि पाई जाती है, किन्तु वहाँ पर परिहार करने रूप उसका कार्य नहीं पाया जाता। इसलिए आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार-विशुद्धि-संयम का अभाव कहा गया है।[5]

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक लब्धि से जीव सामायिक-छेदोपस्थापन शुद्धि संयत होता है।[6]

शङ्का—सामायिक और छेदोपस्थापन संयम क्षयोपशम लब्धि से भले ही हो, किन्तु उनके औपशमिक और क्षायिक लब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से ऊपर इन संयतों

---

१. धवल पु १ पृ. ३७७। २. धवल पु. १ पृ. ३७०-३७१। ३. धवल पु. १ पृ. ३७५ सूत्र १२६।
४. धवल पु. १ पृ. ३७५। ५. धवल पु. १ पृ. ३७६। ६. धवल पु. ७ पृ. ९२ सूत्र ४९।

का अभाव पाया जाता है। नीचे के अर्थात् अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दो क्षपक व उपशामक गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय की क्षपणा व उपशमना होती नहीं है, जिससे उक्त संयतों के क्षायिक व औपशमिक लब्धि सम्भव हो सके ?

समाधान- ऐसा नहीं है, क्योंकि क्षपक व उपशामक सम्बन्धी अनिवृत्ति गुणस्थान में भी लोभ संज्वलन को छोड़कर अशेष चारित्रमोहनीय के क्षपण व उपशमन के पाए जाने से वहाँ क्षायिक और औपशमिक लब्धियों की सम्भावना पाई जाती है। अथवा क्षपक और उपशामक सम्बन्धी अपूर्वकरण के प्रथम समय से लगाकर ऊपर सर्वत्र क्षायिक और औपशमिक संयम लब्धियाँ हैं ही, क्योंकि उक्त गुणस्थानों के प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लेकर थोड़े-थोड़े क्षपण और उपशामन रूप कार्य की निष्पत्ति देखी जाती है। यदि प्रत्येक समय कार्य की निष्पत्ति न हो तो अन्तिम समय में भी कार्य पूरा होना सम्भव नहीं है।

शङ्का-एक ही चारित्र के औपशमिक आदि तीन भाव कैसे होते हैं ?

समाधान—जिस प्रकार एक ही चित्र पतंग अर्थात् बहुवर्ण पक्षी के बहुत से वर्ण देखे जाते हैं, उसी प्रकार एक ही चारित्र नाना भावों से युक्त हो सकता है।[१]

क्षायोपशमिक लब्धि से जीव परिहारशुद्धिसंयत होता है।[२]

चार संज्वलन और नव नोकषायों के सर्वघाती स्पर्धकों के अनन्तगुणी हानि द्वारा क्षय को प्राप्त होकर देशघाती रूप से उपशान्त हुए स्पर्धकों के उदय के सद्भाव में परिहारविशुद्धिसंयम की उत्पत्ति होती है, इसलिए क्षायोपशमिक लब्धि से परिहारशुद्धिसंयम होता है, ऐसा कहा गया है।

शङ्का—चार संज्वलन और नव नोकषाय इन तेरह प्रकृतियों के देशघाती स्पर्धकों का उदय यदि संयम की उत्पत्ति में निमित्त होता है तो वह संयमासंयम का निमित्त कैसे स्वीकार किया गया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से जिन चार संज्वलनादि के देशघाती स्पर्धकों का उदय प्रतिहत हो गया है, उस उदय के संयमासंयम को छोड़ संयम को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता। अर्थात् प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय का अभाव संयमोत्पत्ति में निमित्त कारण है।[३]

साम्पराय कषाय को कहते हैं। जिन संयतों की कषाय सूक्ष्म हो गई है, वे सूक्ष्म साम्पराय-संयत हैं। सामायिक व छेदोपस्थापना संयम को धारण करने वाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म कषाय वाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं।[४]

औपशमिक और क्षायिक लब्धि से सूक्ष्म-साम्परायिक-संयत होते हैं।[५] उपशामक और क्षपक दोनों प्रकार के सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानों में सूक्ष्मसाम्परायसंयम की प्राप्ति होती है, इसीलिए औपशमिक व क्षायिक लब्धि से सूक्ष्मसाम्पराय-संयम होता है।[६]

---

१. धवल पु. ७ पृ. ९३। २. धवल पु. ७ पृ. ९४ सूत्र ५१। ३. धवल पु. ७ पृ. ९४। ४. धवल पु. १ पृ. ३७१। ५. धवल पु. ७ पृ. ९५। ६. धवल पु. ७ पृ. ९५।

चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम से उपशान्तकषाय गुणस्थान होता है और क्षय से क्षीणमोह आदि गुणस्थान होते हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय आदि गुणस्थानों में यथाख्यात विहारशुद्धिसंयम की प्राप्ति होने से औपशमिक व क्षायिक लब्धि से यथाख्यात संयम होता है।[1] ऐसा कहा गया है।

तदिय कसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण ॥४६६॥

गाथार्थ---तीसरी कषाय के उदय से विरताविरत गुणस्थान होता है। दूसरी कषाय के उदय से नियम से असंयम होता है ॥४६६॥

विशेषार्थ—कषायें चार प्रकार की हैं। उनमें से प्रथम कषाय अनन्तानुबन्धी है, द्वितीय कषाय अप्रत्याख्यानावरण है, तृतीय कषाय प्रत्याख्यानावरण है और चतुर्थ कषाय संज्वलन है। इनमें से प्रथम अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का घात करती है अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषायोदय के अभाव में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। अप्रत्याख्यानावरण नामक द्वितीय कषाय देशसंयम का घात करती है। देशसंयम को विरताविरत, संयमासंयम, देशव्रत एवं अणुव्रत भी कहते हैं। इसके उदय के अभाव में देशसंयम उत्पन्न होता है। तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में देशसंयम हो सकता है, किन्तु संयम नहीं हो सकता, क्योंकि तृतीय कषाय सकलसंयम की घातक है। संज्वलन चतुर्थ कषाय के उदय में सकल संयम तो हो सकता है, किन्तु यथाख्यातशुद्धि संयम नहीं हो सकता, क्योंकि संज्वलनकषाय यथाख्यात संयम की घातक है।[2]

'तीसरी कषाय का उदय' इसका अभिप्राय यह है कि जिसके प्रथम दो कषाय का उदय नहीं है, किन्तु तृतीय कषाय का उदय है, क्योंकि कषायों के उदय का अभाव प्रथम आदि के क्रम से होता है। तृतीय कषाय का उदय सकलसंयम का तो घात करता है किन्तु विरताविरत, (संयमासंयम या देशसंयम) का घात नहीं करता। जिसके प्रथमादि दो कषायों के उदयाभाव होने से विरताविरत उत्पन्न हो गया है, किन्तु तृतीय कषायोदय के कारण सकलसंयम उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु विरताविरत का घात भी नहीं हुआ है, इस अपेक्षा से तृतीय कषाय के उदय को विरताविरत पंचम गुणस्थान का कारण कहा है। 'तृतीय कषायोदय' में प्रथम व द्वितीय कषायोदय का अभाव गर्भित है। वास्तव में प्रथम व द्वितीय कषायोदय का अभाव विरताविरत गुणस्थान का कारण है। अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय होने पर एकदेशसंयम भी नहीं हो सकता है अतः अप्रत्याख्यानावरण के उदय में जीव असंयमी रहता है। जिसके अप्रत्याख्यानावरण का उदय है उसके ऊपर की कषाय प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषाय का उदय अवश्य होता है।

जीव क्षायोपशमिक लब्धि से संयतासंयत होता है।[3] चार संज्वलन और नव नोकषायों के क्षयोपशम संज्ञावाले देशघाती स्पर्धकों के उदय से संयमासंयम की उत्पत्ति होती है। प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से जिन चार संज्वलनादिक देशघाती स्पर्धकों का उदय प्रतिहत हो गया है उस उदय के संयमासंयम को छोड़कर संयम उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है।[4] अर्थात् प्रत्याख्या-

---

१. धवल पु. ७ पृ. ९५। २. गो. क. गा. ४५; गो. जी. गा. २८२। ३. धवल पु. ७ पृ. ९४ सूत्र ५१। ४. धवल पु. ७ पृ. ९४।

नावरण कषाय का उदय संयम का घातक है, संयमासंयम का घातक नहीं है। प्रत्याख्यानावरण कषायोदय में संयमासंयम गुणस्थान के होने में कोई बाधा नहीं आती।

संयम के घाती कर्मों के उदय से जीव असंयत होता है।[1]

शङ्का—एक अप्रत्याख्यानावरण का उदय ही असंयम का हेतु माना गया है, क्योंकि वही संयमासंयम के प्रतिषेध से आरम्भ कर समस्त संयम का घाती होता है। तब फिर 'संयमघाती कर्मों के उदय से असंयत होता है' ऐसा कहना कैसे घटित होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि दूसरे भी चारित्रावरण कर्मों के उदय के बिना केवल अप्रत्याख्यानावरण के देशसंयम को घात करने का सामर्थ्य नहीं है।[2]

शङ्का—संयम तो जीव का स्वभाव है, इसलिए वह अन्य के द्वारा विनष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका विनाश होने पर जीवद्रव्य के भी विनाश का प्रसंग आ जायेगा?

समाधान—नहीं आएगा, क्योंकि जिस प्रकार उपयोग जीव का लक्षण माना गया है, उस प्रकार संयम जीव का लक्षण नहीं होता।

शङ्का—लक्षण किसे कहते हैं?

समाधान—जिसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाता है वही उस द्रव्य का लक्षण है जैसे-पुद्गल का लक्षण रूप-रस-गन्ध-स्पर्श है तथा जीव का लक्षण उपयोग है।

अतएव संयम के अभाव में जीव द्रव्य का अभाव नहीं होता।[3]

सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि संयम

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि ॥४७०॥[4]
छेत्तूण य परियासं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ॥४७१॥[5]
पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥४७२॥[6]
तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउयविहारो ॥४७३॥

---

१. धवल पु. ७ पृ. ९५ सूत्र ५५। २. धवल पु. ७ पृ. ९५। ३. धवल पु. ७ पृ. ९६। ४. धवल पु. १ पृ. ३७२ गा १८७; प्रा. पं. सं. गा. १२९ पृ. २८। ५. धवल पु. १ पृ. ३७२ गा. १८८, प्रा.पं.सं.गा. १३० पृ. २८। ६. धवल पु. १ पृ. ३७२ गा १८९; प्रा.पं.सं.गा. १३१ पृ. २८।

गाथार्थ—जिसमें समस्त संयमों का संग्रह कर लिया गया है, ऐसे लोकोत्तर और दुरधिगम्य अभेदरूप एक यम को धारण करने वाला जीव **सामायिक संयत** होता है ।।४७०।। जो पुरानी सावद्य-व्यापाररूप पर्याय को छेदकर पाँच यम रूप धर्म में अपने को स्थापित करता है, वह जीव **छेदोपस्थापक संयमी है** ।।४७१।। जो पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोग का परिहार करता है तथा पाँच यम रूप छेदोपस्थापना संयम को और एक यम रूप सामायिक संयम को धारण करता है, वह **परिहारशुद्धि संयत** होता है ।।४७२।। जन्म से तीस वर्ष के पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में वर्षपृथक्त्व तक प्रत्याख्यान पूर्व पढ़ने वाले के परिहारविशुद्धि संयम होता है। इस संयमवाला संध्या कालों को छोड़कर दो कोस गमन करने वाला होता है ।।४७३।।

विशेषार्थ– मूल शब्द 'समय' है। उससे 'सामायिक' शब्द की उत्पत्ति हुई है। 'समय' शब्द के दो अवयव हैं 'सम्' और 'अय'। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ 'एक रूप' है अथवा 'एकीभूत' है। 'अय' का अर्थ 'गमन' है। समुदायार्थ एकरूप हो जाना समय है। और समय ही सामायिक है।[1] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, संयम और तप से जो जीव का ऐक्य होना वह समय है। यह समय ही सामायिक है।[2] वह सामायिक दो प्रकार की है—नियतकाल और अनियतकाल। स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक है और ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है।[3] सामायिक को गुप्ति नहीं कह सकते, क्योंकि गुप्ति में तो मन के व्यापार का भी निग्रह किया जाता है, जबकि सामायिक में मानस प्रवृत्ति होती है। इसे प्रवृत्तिरूप होने से समिति भी नहीं कह सकते, क्योंकि सामायिक संयम में समर्थ व्यक्ति को समितियों में प्रवृत्ति का उपदेश है। सामायिक कारण है और समिति कार्य है।[4] जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग में, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख में समता परिणाम सामायिक है।[5] सर्व प्राणियों में मैं समता और रागद्वेषरहितता धारण करता हूँ। मेरा किसी के साथ वैर नहीं है, मैं सम्पूर्ण अभिलाषाओं का त्याग करता हूँ और निर्लोभता स्वीकार करता हूँ। यह सामायिक का स्वरूप है।[6] वह सामायिक छह प्रकार की है—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विहो णेयो ।।१७।। [मूलाचार अधि. ७]

सामायिक छह प्रकार की है—नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक। अथवा सामायिक में यह छह प्रकार का निक्षेप है।

नामसामायिक—वस्तु के शुभ नाम और अशुभ नाम सुनकर उनमें रागद्वेष का त्याग करना नामसामायिक है।

स्थापना सामायिक—कोई स्थापना शुभाकार युक्त, प्रमाणयुक्त, सर्व अवयवों से परिपूर्ण, साकार, मन को आह्लादित करने वाली होती है और कोई स्थापना अशुभआकार युक्त, प्रमाणरहित, सर्व अवयवों से अपरिपूर्ण और अतदाकार होती है। उन पर रागद्वेष नहीं करना स्थापनासामायिक है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७/२१। २. मूलाचार ७/१८ पृ. ४०४। ३. स. सि. ६।१८। ४. रा. वा. ६।१८।३-४।
५. मूलाचार गा. २३ पृ. २६। ६. मूलाचार गा. ४२ पृ. ५२।

द्रव्यसामायिक---सोना, चाँदी, मोती, रत्न, मृतिका, लकड़ी, मिट्टी का ढेला, कण्टकादिकों में समदर्शन अर्थात् रागद्वेष का अभाव रखना द्रव्यसामायिक है।

क्षेत्रसामायिक---कोई क्षेत्र रम्य होता है जैसे उपवन, नगर, नदी, कुआ, सरोवर आदि और कोई क्षेत्र अप्रिय होता है जैसे रूक्ष, कण्टक से भरा हुआ, विषम, रसहीन-शुष्क, अस्थि-पाषाणों से सहित ऐसे प्रदेश तथा जीर्ण उपवन, शुष्क नदी, रेतीला [जल रहित] प्रदेश, बालुका प्रदेश इनके ऊपर रागद्वेष का त्याग करना क्षेत्रसामायिक है।

कालसामायिक—वसन्त ग्रीष्मादिक छह ऋतु, रात्रि, दिवस, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष इत्यादिक काल पर रागद्वेष रहित होना काल सामायिक है।

भावसामायिक—सर्व जीवों में मैत्री भाव रखना तथा अशुभ परिणामों का त्याग करना भाव सामायिक है।[1]

सर्व सावद्ययोग का त्याग रूप एकसंयम अथवा अभेदसंयम सोही सामायिक संयम है इसका सविस्तार कथन गाथा ४६७-४६८ की टीका में धवलादि के आधार पर किया जा चुका है। यह सामायिक संयम अनुत्तर अर्थात् अनुपम है और दुर्लभ है। जिन्होंने पिच्छी लेकर अंजुलि जोड़ली है तथा जो सावधान बुद्धिवाले हैं वे मुनि व्याक्षिप्त-चित्त न होकर, खड़े होकर एकाग्र मन होते हुए आगमोक्त विधि से सामायिक करते हैं। अथवा पिच्छी से प्रतिलेखन करके शुद्ध होकर; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि करके प्रकृष्टरूप से अंजुलि को मुकुलित कमलाकार बनाकर; अथवा प्रतिलेखन (पिच्छिका) सहित अंजुलि जोड़कर सामायिक करते हैं।

छेदोपस्थापना संयम—सामायिक संयम ग्रहण करने के पश्चात् प्रमादवश यदि सावद्य क्रिया हो जाय तो प्रायश्चित्त विधान से दोष का छेद करके अपनी आत्मा को पंच प्रकार के संयम रूप धर्म में स्थापना करना **छेदोपस्थापना संयम** है। छेद का अर्थ प्रायश्चित्त है अर्थात् प्रायश्चित्त के द्वारा उपस्थापना (अपनी आत्मा को धर्म में स्थापना करना) छेदोपस्थापना संयम है। अथवा दोष लगने पर तप या दीक्षाकाल का छेद करके उपस्थापना अर्थात् निर्दोष संयम में आत्मा की स्थापना करना छेदोपस्थापना संयम है।[3]

त्रस-स्थावर आदि जीवों की उत्पत्ति और हिंसा के स्थान छद्मस्थ के अप्रत्यक्ष होने के कारण प्रमादवश स्वीकृत निरवद्य क्रियाओं में दूषण लगजाने पर उसका सम्यक् प्रतिकार करना छेदोपस्थापना है। अथवा सावद्य कर्म हिंसादि के छेदों से पाँच प्रकार के हैं, इत्यादि विकल्पों का होना छेदोपस्थापना है।[4]

श्री अजितनाथ से श्री पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था। श्री वृषभनाथ और श्री महावीर प्रभु ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया है। कथन करने में, पृथक्-पृथक् चिन्तन करने में और समझ लेने में सुगम होने से पाँच महाव्रतों का वर्णन किया है।

---

१. मूलाचार पृ. ४०२-४०३ अधिकार ७ गाथा १७ की टीका। २. मूलाचार अधिकार ७ गा. ३९ पृ. ४१५।
३. संस्कृत टीका के आधार से। ४. रा वा.९-१८।६-७।

श्री आदिप्रभु के तीर्थ में शिष्य सरल स्वभावी और जड़बुद्धि थे, अतः सामायिक संयम का उन्होंने व्रत, समिति और गुप्ति आदि प्रकार से भेदप्रतिपादन किया। श्री महावीर के तीर्थ में शिष्य जड़-बुद्धि और वक्र थे, उनको व्रतों में स्थिर करना कठिन था, अतः उनके लिए व्रत, समिति, गुप्ति आदि प्रकार से भेद प्रतिपादन किया। श्री अजितनाथ से श्री पार्श्वनाथ पर्यन्त शिष्य व्युत्पन्न और वक्रतारहित थे अतः उनके लिए अभेद रूप सामायिक संयम का कथन है।[1]

जिसमें प्राणिवध के परिहार के साथ-साथ विशिष्ट शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि संयम है। जिसने तीस वर्ष की आयु तक अपनी इच्छानुसार भोगों को भोग कर सामान्य से एकरूप सामायिक संयम को और विशेष रूप से पाँच समिति व तीन गुप्ति सहित छेदोपस्थापना संयम को धारण कर पृथक्त्व वर्ष तक तीर्थंकर के पादमूल की सेवा की हो और जो प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व का पारङ्गत होकर, जन्तुओं की उत्पत्ति विनाश के देशकाल द्रव्य आदि स्वभावों को जानकर अप्रमादी, महावीर्य, उत्कृष्ट निर्जराशील, अतिदुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने वाला हो वह परिहारशुद्धि संयम को धारण करता है। वह तीनों संध्या काल के सिवाय प्रतिदिन दो कोस गमन करता है किन्तु रात्रि में गमन नहीं करता है।

परिहारर्धिसमेतः षड्जीवनिकायसंकुले विहरन्।
पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन॥[2]

परिहारविशुद्धि ऋद्धि सहित मुनि छह काय के जीवसमूह वाले स्थान में विहार करने पर भी पाप से लिप्त नहीं होते जैसे कमलपत्र जलसमूह में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता। परिहार-विशुद्धि का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त होकर जघन्यकाल तक रहकर अन्य गुणस्थान को प्राप्त हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त काल होता है।[3] उत्कृष्ट से कुछ कम पूर्व कोटि काल है। सर्व सुखी होकर तीस वर्ष बिताकर, पश्चात् वर्षपृथक्त्व से तीर्थंकर के पादमूल में प्रत्याख्यान नामक पूर्व को पढ़ कर तत्पश्चात् परिहारशुद्धिसंयम को प्राप्तकर और कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक रहकर देवों में उत्पन्न हुए जीव के यह काल होता है। इस प्रकार अड़तीस वर्षों से कम पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण परिहारशुद्धि संयम का काल होता है। कोई आचार्य सोलह वर्षों से और कोई बाईस वर्षों से कम पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण कहते हैं।[4]

सामायिक संयम, छेदोपस्थापना संयम और परिहारविशुद्धि संयम इन तीनों संयमों का स्वरूप धवल ग्रन्थ के आधार पर सविस्तार गा. ४६४-४६८ की टीका में कहा गया है। वहाँ पर भी देखना चाहिए।

सूक्ष्म-साम्पराय-संयम का स्वरूप

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि॥४७४॥[5]

---

१. मूलाचार अधिकार ७ गा. ३६-३८ पृ. ४१४-४१५। २. संस्कृत टीका से उद्धृत। ३. ध. पु. ७ पृ. १६७ सूत्र १४८। ४. ज. ध. २ पृ. १२०, ध. पु ७ पृ. १६७ सूत्र १४६। ५. ध.पु. १ पृ. ३७३, प्रा.प. सं. अ. १ गा. १३२।

गाथार्थ—उपशमश्रेणी आरोहक या क्षपकश्रेणी आरोहक सूक्ष्म लोभ का अनुभव करनेवाला जीव सूक्ष्मसाम्पराय संयत है। किन्तु यह संयम यथाख्यात संयम से कुछ न्यून है ।।४७४।।

विशेषार्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना संयम को धारण करने वाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म कषाय वाले हो जाते हैं अर्थात् लोभ की सूक्ष्म कृष्टि के उदय का वेदन करने वाले साधु के सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है। यह संयम यथाख्यात संयम से कुछ न्यून होता है, क्योंकि अभी तक अत्यन्त सूक्ष्म लोभ का उदय है, पूर्णतः अकषायी नहीं हुआ। यथाख्यात संयम अकषायी जीवों के होता है।[1]

सूक्ष्म-स्थूल प्राणियों के वध के परिहार में जो पूर्ण रूप से अप्रमत्त हैं, अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील, अखण्डित चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी महापवन से धोंकी गई प्रशस्त अध्यवसाय रूपी अग्नि की ज्वालाओं से जिसने मोह कर्म रूपी ईंधन को जला दिया है या उपशम करदिया है, ध्यान विशेष से जिसने कषाय के विषांकुरों को खोंट दिया है, सूक्ष्म मोहनीय कर्म के बीज को भी जिसने नाश के मुख में धकेल दिया है, उस परम सूक्ष्म लोभ कषायवाले साधु के सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। यह संयम(चारित्र) प्रवृत्ति निरोध या सम्यक् प्रवृत्ति रूप होने पर भी गुप्ति और समिति से भी आगे और बढ़कर है। यह दसवें गुणस्थान में, जहाँ मात्र सूक्ष्मलोभ टिमटिमाता है, होता है। अतः पृथक् रूप से निर्दिष्ट किया गया है।[2]

इस सूक्ष्म साम्पराय संयम का कथन गा. ६६७-६६८ के विशेषार्थ में भी है।

यथाख्यात संयम का स्वरूप

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि ।
छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ।।४७५।।[3]

गाथार्थ—अशुभ मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षय हो जाने पर छद्मस्थ व अर्हन्त जिन के यथाख्यात शुद्धि संयम होता है ।।४७५।।

विशेषार्थ—परमागम में विहार अर्थात् 'कषाय के अभावरूप अनुष्ठान' का जैसा प्रतिपादन किया गया है, तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यात विहार संयत कहते हैं।[4] उपशान्तकषाय व क्षीणकषाय अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान वाले छद्मस्थ वीतराग अथवा छद्मस्थ अकषायी हैं। सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती और अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन हैं। इन चारों गुणस्थानों में कषाय का अभाव हो जाने से, आत्मस्वभाव की यथावस्थित अवस्था लक्षणवाला यथाख्यात संयम होता है।[5]

चारित्रमोह के सम्पूर्ण उपशम या क्षय से आत्मस्वभाव-स्थिति रूप परम उपेक्षा परिणति अथाख्यात संयम है। पूर्व संयम का अनुष्ठान करने वाले साधुओं ने जिसे कहा और समझा तो है, पर

१. ध. पु. १ पृ. ३७१। २. रा. वा. ९।१८।९-१०। ३. धवल पु. १ पृ. ३७३ गा. १९१; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १३३। ४. धवल पु. १ पृ. ३७१। ५. संस्कृत टीका के आधार से।

मोह के उपशम या क्षय के बिना प्राप्त नहीं किया, वह अथाख्यात संयम है। अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ है, अर्थात् जो मोह के उपशम या क्षय के अनन्तर प्रकट होता है। अथवा इस संयम को यथाख्यात इसलिए कहते हैं कि जैसा परिपूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप है, वैसा ही इसमें आख्यात [प्राप्त] होता है।[1]

शङ्का—मोहनीयकर्म को अशुभ क्यों कहा गया है ?

समाधान—मोहनीयकर्म ही संसार की जड़ है। मोहनीय कर्मोदय से रागद्वेष होते हैं जिनके कारण कर्मबन्ध होता है इसलिए मोहनीय कर्म को अशुभ कहा गया है।

"**रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो**" ।।१५० पूर्वार्ध ।। [समयसार]

रागीजीव कर्म को बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ कर्मों से छूटता है।

"**रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा** ।।पूर्वार्ध २।८७।। [प्रवचनसार]

रागी जीव कर्मों को बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है।

शङ्का--योग भी तो बन्ध का कारण है ?

समाधान— जो अकषायी जीव हैं उनके योग से मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है।

"**सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः**" ।।४।। [त. सू. अध्याय ६]

कषाय सहित के साम्परायिक आस्रव होता है और कषाय रहित के ईर्यापथ आस्रव होता है अर्थात् अगले समय में अकर्म भाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिये योग बन्ध का कारण नहीं है, योग के साथ जो कषाय है वही बन्ध का कारण है।

"**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः**" ।।२।। [त. सू. अ. ८]

जीव कषायसहित होने से जो कर्मों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है। इस सूत्र से भी स्पष्ट है कि कषाय बन्ध का कारण है।

देशविरत का स्वरूप

पंचतिहिचहुविहेहिं य अणुगुणसिक्खावएहिं संजुत्ता ।
उच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झलियकम्मा ।।४७६।।[2]
दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तरायभत्ते य ।
बह्मारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे ।।४७७।।[3]

---

१. रा. वा. ९।१८।११-१२। २. ध.पु १ पृ. ३७३ गाथा १९२; प्रा. पं. सं. अ. १ गाथा १३५; चारित्र प्राभृत गाथा २२। ३. ध.पु १ पृ. ३७३ गाथा १९३; पु. ६ पृ. २०१ गाथा ७४; प्रा. प. सं. अध्याय १ गाथा १३६; चारित्र पाहुड गाथा २१, बारस अणुवेक्खा गाथा ६९; वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा ४।

गाथार्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों से सहित सम्यग्दृष्टि देशविरत कहे जाते हैं। संयमासंयम के कारण वे निरन्तर कर्मनिर्जरा वाले होते हैं ॥४७६॥ दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्त विरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरत के ग्यारह भेद हैं ॥४७७॥

विशेषार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों से एकदेशविरति पाँच अणुव्रत हैं। **श्री तत्त्वार्थसूत्र** में कहा भी है—**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥ देश-सर्वतोऽणुमहती ॥२॥**"

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्खथूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२३"[चारित्रपाहुड़]

—स्थूल त्रसवध, स्थूल असत्य कथन, स्थूल चोरी, परस्त्री का परिहार तथा परिग्रह और आरम्भ का परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं।

शङ्का—हिंसा किसे कहते हैं?

समाधान—**"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"** ॥७।१३॥ [तत्त्वार्थसूत्र]। प्रमाद अर्थात् कषाय सहित अवस्था से युक्त जो आत्मा का परिणाम होता है वह प्रमत्त कहलाता है। तथा प्रमत्त का योग प्रमत्तयोग है। इसके सम्बन्ध से इन्द्रियादि दस प्राणों का यथासंभव व्यपरोपण अर्थात् वियोग करना हिंसा है। इससे प्राणियों को दुःख होता है इसलिए अधर्म है। केवल प्राणों का वियोग करने से अधर्म नहीं होता, यह बतलाने के लिये सूत्र में **'प्रमत्तयोगात्'** अर्थात् 'प्रमत्तयोग से' यह पद दिया है। प्राणों का विनाश न होने पर भी केवल प्रमत्तयोग से हिंसा हो जाती है। कहा भी है—

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥३।१७॥ [प्रवचनसार]

—जीव मर जाय या जीता रहे तो भी यत्नाचार से रहित पुरुष के नियम से हिंसा होती है। समिति सहित यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के प्राणव्यपरोपण हो जाने पर भी संकल्पी हिंसा निमित्तिक बन्ध नहीं होता।[1] वास्तव में राग आदि भाव हिंसा है, कहा भी है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥ [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

—निश्चय करके रागादि (राग-द्वेष) भावों का उत्पन्न न होना अहिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति हिंसा है। ऐसा जैन आगम में निश्चय से कथन किया गया है।

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।१३।

—प्रमाद से युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है, इसके बाद दूसरे प्राणियों का वध होवे या न होवे ।[1]

"थूले तसकायवहे" अस्य अर्थः—स्थूले त्रसकायवधे परिहारः । [चारित्र पाहुड़ गा. २३ टीका]—

—स्थूल रूप से त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना **अहिंसाणुव्रत है ।**

शङ्का—असत्य किसे कहते हैं ?

समाधान—**"असदभिधानमनृतम्"**॥७।१४॥ असत् बोलना अनृत है ।

'सत्' शब्द प्रशंसावाची है । जो सत् नहीं वह असत् है । असत् का अर्थ अप्रशस्त है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ नहीं है, उसका कथन करना अनृत (असत्य) है । ऋत का अर्थ सत्य है और जो ऋत (सत्य) नहीं है वह अनृत है ।

शङ्का—अप्रशस्त किसे कहते हैं ?

समाधान—जिससे प्राणियों को पीड़ा होती है, वह अप्रशस्त है । चाहे वह विद्यमान अर्थ को विषय करता हो चाहे अविद्यमान अर्थ को । जिस वचन से हिंसा हो वह वचन अनृत है ।[2] अनृत वचन का एकदेशत्याग सत्य अणुव्रत है ।

"थूले मोसे-स्थूलमृषावादे परिहारः ।" [चारित्र पाहुड गा. २३ टीका] स्थूल रूप से असत्य कथन का त्याग करना **सत्याणुव्रत** है ।

शङ्का—चोरी किसे कहते हैं ?

समाधान—**"अदत्तादानं स्तेयम् ।"** बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय (चोरी) है । 'आदान' शब्द का अर्थ ग्रहण है । बिना दी हुई वस्तु का लेना अदत्तादान है और यही स्तेय (चोरी) है ।

शङ्का—यदि स्तेय का पूर्वोक्त अर्थ किया जाता है तो कर्म और नोकर्म का ग्रहण भी स्तेय है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ देना और लेना सम्भव है वहीं स्तेय का व्यवहार होता है ।

शङ्का—स्तेय का उक्त अर्थ करने पर भी भिक्षु के ग्राम-नगरादिक में भ्रमण करते समय गली, कूचा, दरवाजा आदि में प्रवेश करने पर बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण प्राप्त होता है ?[3]

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे गली, कूचा और दरवाजा आदि सब के लिए खुले हैं । ये भिक्षु जिनमें किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजे आदि में प्रवेश नहीं करते, क्योंकि वे

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।१३ । २. सर्वार्थसिद्धि ७।१४ । ३. सर्वार्थसिद्धि ७।१५ ।

सब के लिए खुले नहीं हैं। अथवा '**प्रमत्तयोगात्**' इस पद की अनुवृत्ति होती है, जिससे यह अर्थ होता है कि प्रमत्तयोग से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना स्तेय है। गली कूचा आदि में प्रवेश करने वाले भिक्षु के प्रमत्तयोग तो है नहीं, इसलिए वैसा करते हुए भिक्षु के स्तेय का दोष नहीं लगता।[1]

स्तेय का एकदेशत्याग **अचौर्याणुव्रत है।**

"**तितिक्खथूले य— तितिक्षा-स्थूले चौर्यस्थूले परिहारः।**" [चारित्र पाहुड गा. २३ टीका] स्थूल रूप से चोरी का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है।

शङ्का—अब्रह्म किसे कहते हैं?

समाधान—"**मैथुनमब्रह्म**" ॥१६॥ चारित्रमोहनीय का उदय होने पर राग परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन है और इसका कार्य मैथुन है। '**प्रमत्तयोगात्**' इस पद की अनुवृत्ति होती है। इसलिए रतिजन्यसुख के लिए स्त्री-पुरुष की मिथुन विषयक जो चेष्टा होती हैं वही मैथुन रूप से ग्रहण की जाती है। अहिंसादिक गुण जिसके पालन करने पर बढ़ते हैं वह ब्रह्म है और जो इससे रहित है वह अब्रह्म है। मैथुन में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, क्योंकि जो मैथुन के सेवन में दक्ष है, वह चराचर सब प्राणियों की हिंसा करता है।[2]

मैथुनाचरणे मूढ ! म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिता: ॥२१॥ [ज्ञानार्णव मैथुन अधिकार १३]

—अरे मूढ़! स्त्रियों के साथ मैथुन करने से, उनके योनिरूप छिद्र में उत्पन्न हुए करोड़ों जीव लिङ्ग के आघात से पीड़ित होकर मरते हैं। "**घाए घाए असंखेज्जा**" लिङ्ग के प्रत्येक-प्रत्येक आघात में असंख्यात करोड़ जीव मरते हैं।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥ [पुरुषार्थ सिद्धच्युपाय]

—जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लोहे का सरिया डालने से तिल नष्ट होते हैं उसी प्रकार मैथुन के समय योनि में भी बहुत जीव मरते हैं।

"**परिहारो परपिम्मे-परिहारः क्रियते परप्रेम्णि परदारे।**" [चारित्र पाहुड गा. २३ टीका]

पर-प्रिया का त्याग अर्थात् स्वदारा के अतिरिक्त सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग **ब्रह्मचर्याणुव्रत है।**

शङ्का—परिग्रह किसे कहते हैं?

समाधान—"**मूर्च्छा परिग्रहः**" ॥१७॥ मूर्च्छा परिग्रह है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।१५। २. सर्वार्थसिद्धि ७।१६।

शङ्का—मूर्च्छा क्या है ?

समाधान—गाय भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादि रूप अभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार मूर्च्छा है। मूर्च्छा धातु का सामान्य अर्थ मोह है। और सामान्य शब्द तद्गत विशेषों में ही रहते हैं। ऐसा मानलेने पर यहाँ मूर्च्छा का विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रह का प्रकरण है।[1]

शंका—मूर्च्छा का यह अर्थ ग्रहण करने पर भी बाह्य वस्तु को परिग्रहपना प्राप्त नहीं होता, क्योंकि मूर्च्छा इस शब्द से आभ्यन्तर परिग्रह का संग्रह होता है ?

समाधान—यह कहना सत्य है; क्योंकि प्रधान होने से आभ्यन्तर का ही संग्रह किया गया है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रह न रहने पर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प वाला पुरुष परिग्रहवान ही है।

शङ्का—यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं हैं और मूर्च्छा का कारण होने से 'यह मेरा है'। इस प्रकार का संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि के समान ज्ञानादिक में भी 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि '**प्रमत्तयोगात्**' इस पद की अनुवृत्ति होती है। इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र वाला होकर प्रमादरहित है, उसके मोह का अभाव होने से मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रहरहितपना सिद्ध होता है। दूसरे, वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्मा के स्वभाव हैं, इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता। परन्तु रागादिक तो कर्मोदय से होते हैं, अतः वे आत्मा का स्वभाव न होने से हेय हैं, इसलिए उनमें होनेवाला संकल्प परिग्रह है। सब दोष परिग्रहमूलक होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं। और इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है तथा नरकादिक में जितने दुःख हैं वे सब परिग्रह से उत्पन्न होते हैं।[2] इस प्रकार जो परिग्रह से तृष्णा घटाकर परिग्रह का परिमाण कर लेता है वह अपरिग्रह अणुव्रत का धारक है।

"**परिग्गहारम्भपरिमाणं—परिग्रहाणां सुवर्णादीनामारम्भाणां सेवाकृषिवाणिज्यादीनां परिमाणं क्रियते।**" [चारित्रपाहुड गा. २३ टीका]। सुवर्णादि परिग्रह तथा खेती, व्यापार आदि आरंभों का परिमाण करना **परिग्रहपरिमाणाणुव्रत** है।

'अणु' शब्द अल्पवाची है जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं, वह अणुव्रतवाला है।

शङ्का—गृहस्थ के व्रत अल्प कैसे होते हैं ?

समाधान—गृहस्थ के पूर्ण रूप से हिंसादि दोषों का त्याग सम्भव नहीं है, इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं। यह त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुव्रत होता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।१७। २. सर्वार्थसिद्धि ७।१७।

गृहस्थ स्नेह और मोहादिक के वश से गृहविनाश और ग्रामविनाश के कारण असत्य वचन से निवृत है, इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजा के भय आदि के कारण तथा दूसरे को पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तु को लेना छोड़ देता है। साथ ही बिना दी हुई वस्तु के लेने से उसकी प्रीति घट जाने के कारण उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का संग करने से जिसकी रति हट जाती है उसके परस्त्रीत्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है। गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है।[1]

तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत[2] अथवा दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग-परिमाण व्रत।[3]

शङ्का—इनको गुणव्रत क्यों कहा गया है?

समाधान—क्योंकि ये आठ मूलगुणों की अथवा पूर्वोक्त पाँच अणुव्रतों की वृद्धि करते हुए उनमें उत्कर्षता लाते हैं।

दिग्व्रत—पूर्वादि दिशाओं में प्रसिद्ध चिह्नों के द्वारा मर्यादा करके नियम करना दिग्विरतिव्रत है। उस मर्यादा के बाहर त्रस-स्थावर हिंसा का त्याग हो जाने से उतने अंश में महाव्रत होता है। मर्यादा के बाहर लाभ होते हुए भी उसमें परिणाम न रहने के कारण लोभ का त्याग हो जाता है।[4]

> **प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।**
> **प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥** [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

—सुप्रसिद्ध ग्राम नदी पर्वतादि नाना चिह्नों से सब ओर मर्यादा को करके पूर्वादि दिशाओं से गमन न करने की प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है।

"**दिसिविदिसिमाण पढमं**"[5] अर्थात् दिशाओं और विदिशाओं का परिमाण करना प्रथम गुणव्रत है। अर्थात् पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार दिशाएँ हैं तथा ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व और अधो ये छह विदिशाएँ हैं। इनमें आने-जाने की सीमा करना **पहला दिग्व्रत नामक गुणव्रत** है।

> **दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि।**
> **इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपाप— विनिवृत्यै ॥६८॥** [रत्नकरण्डश्रावकाचार]
>
> **अवधेर्बहिरणुपापं-प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।**
> **पंचमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥** [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

दशों दिशाओं को मर्यादित करके जो सूक्ष्म पाप की निवृत्ति के अर्थ मरणपर्यन्त के लिए यह संकल्प करता है कि 'मैं दिशाओं की इस मर्यादा से बाहर नहीं जाऊंगा' वह दिशाओं से विरतिरूप 'दिग्व्रत' कहा जाता है। दिशाओं के व्रत धारण करने वाले के अणुव्रत, मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापों

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।२०। २. त. सू. ७।२१; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गा. १३७-१४७। ३. चारित्रपाहुड गा. २४; रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो. ६७ टीका। ४. स. सि ७।२१। ५. चारित्रपाहुड गा. २४।

की भी निवृत्ति हो जाने के कारण, पंच महाव्रतों की परिणति को (महाव्रतों जैसी अवस्था को) प्राप्त होते हैं।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥ [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

—इस प्रकार जो मर्यादाकृत दिग्विभाग में प्रवृत्ति करता है, उसके उस क्षेत्र से बाहर समस्त असंयम के त्याग के कारण, अहिंसाव्रत पूर्ण हो जाता है अथवा परिपूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

अनर्थदण्ड—उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है वह अनर्थदण्ड है। इससे विरत होना अनर्थदण्डविरति है।[1]

अभ्यंतरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराऽग्रण्यः ॥७४॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—दिशाओं की मर्यादा के भीतर निष्प्रयोजन पापयोगों से (पापमय मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों से) जो विरक्त होना है, व्रतधारियों में अग्रणी गणधरदेव उसे अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का है—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचरित, हिंसाप्रदान और अशुभ श्रुति। दूसरों का जयपराजय, मारना, बाँधना, अंगों का छेदना और धन का अपहरण आदि कैसे किया जाय? इस प्रकार मन से विचार करना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।[2]

वध-बन्ध-च्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७८॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—द्वेषभाव से किसी को मारने-पीटने-बांधने या उसके अंगच्छेदनादि का तथा किसी की हार अर्थात् पराजय का और रागभावों से परस्त्री आदि का अर्थात् दूसरों की जय व पुत्र-धन-धान्य आदि की वृद्धि का जो निरन्तर चिन्तन है अर्थात् व्यर्थ का मानसिक व्यापार है, उसे जिनशासन में गणधर देव ने अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहा है। उससे विरति **अपध्यान नामक अनर्थदण्डव्रत** है।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः, पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥ [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्री-गमन, चोरी आदिक का किसी समय में भी नहीं चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि इन अपध्यानों का फल केवल पाप ही है। यह अपध्यान नामक अनर्थ दण्ड है। इससे विरतिभाव व्रत है।

तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने वाले वणिज का प्रसार करने वाले और प्राणियों की हिंसा के कारणभूत आरम्भ आदि के विषय में पापबहुल वचन बोलना पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है।[3]

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७/२१। २. सर्वार्थसिद्धि ७/२१। ३. सर्वार्थसिद्धि ७/२१।

तिर्यक् क्लेश-वणिज्या-हिंसाऽऽरम्भ-प्रलम्भनादीनाम् ।
कथा-प्रसंग-प्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ।।७६।। [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

—तिर्यंचों के वाणिज्य की तथा क्लेशात्मक वाणिज्य की या तिर्यंचों के क्लेश तथा क्रय-विक्रयादि रूप वाणिज्य की अथवा तिर्यंचों को क्लेशकारी वाणिज्य की, प्राणियों के वध रूप हिंसा की, कृष्यादि सावद्य आरम्भ की, ठगने रूप विषयों की कथाओं के प्रसंग छेड़ने को **पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड** है। इसका त्याग अनर्थदण्डव्रत है।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ।।१४२।। [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

—विद्या, व्यापार, लेखनकला (मुनीम, क्लर्क), खेती, नौकरी और कारीगरी से जीविका करने वाले पुरुष को पाप का उपदेश मिले ऐसा वचन किसी समय नहीं बोलना चाहिए।

बिना प्रयोजन वृक्ष आदि को छेदना, भूमि को कूटना, पानी सींचना आदि पापकार्य **प्रमादचरित** नाम का अनर्थदण्ड है।[1] इसका दूसरा नाम प्रमादचर्या भी है।

क्षिति-सलिल-दहन-पवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ।।८०।। [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—पृथ्वी, जल, अग्नि तथा पवन के व्यर्थ आरम्भ को अर्थात् बिना प्रयोजन पृथ्वी के खोदने को, जल के छिड़कने, अग्नि जलाने-बुझाने को, पंखे से पवन ताड़ने को, व्यर्थ के वनस्पतिच्छेद को और व्यर्थ के पर्यटन को प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं। इसका त्याग अनर्थदण्डव्रत है।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफल-कुसुमोच्चयानपि च ।।१४३।।

—पृथ्वी खोदना, वृक्ष या घास उखाड़ना, अतिशय घासवाली जगह रोंदना, पानी सींचना आदि और पत्र, फल-फूल तोड़ना भी बिना प्रयोजन न करें। यह तीसरा **प्रमादचर्या-अनर्थदण्ड व्रत** है।

विष, कांच, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकड़ी आदि हिंसा के उपकरणों का प्रदान करना हिंसाप्रदान नाम का अनर्थदण्ड है।

परशु-कृपाण-खनित्र-ज्वलनायुध-शृङ्गि-शृङ्खलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवंति बुधाः ।।७७।। [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—फरसा, तलवार, गेंती, कुदाली, अग्नि, आयुध (छुरी, कटारी, लाठी, तलवार आदि) विष, सांकल, इत्यादि वध के कारणों का अर्थात् हिंसा के उपकरणों का जो निरर्थक दान है उसको ज्ञानीजन हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं। इसका त्याग अनर्थदण्डव्रत है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।२१।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ।।१४४।। [पुरुषार्थसिद्धयुपाय]

—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, आदि हिंसा के उपकरणों का वितरण करना यत्न से छोड़ दे। इसका नाम **हिंसादान अनर्थदण्ड व्रत** है।

हिंसा और रागादि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं को सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभ श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।[1]

आरम्भ-संग-साहस-मिथ्यात्व-राग-द्वेष-मद-मदनैः ।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ।।७९।। [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—व्यर्थ के आरम्भ (कृष्यादि सावद्यकर्म), परिग्रह (धन, धान्यादि की इच्छा), साहस (शक्ति तथा नीति का विचार न करके एकदम किये जाने वाले भारी असत्कर्म), मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और मदन (रति-काम) के प्रतिपादनादि द्वारा चित्त को कलुषित-मलिन करने वाले शास्त्रों को सुनना, (नाविल पढ़ना, सिनेमा देखना, टेलीविजन देखना, रेडियो सुनना, आदि) दुःश्रुति अशुभ श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है। इसका त्याग अनर्थदण्ड व्रत है।

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथा-नामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ।।१४५।। [पुरुषार्थसिद्धयुपाय]

—रागद्वेष को बढ़ाने वाली तथा बहुत करके अज्ञानता से भरी हुई दुष्ट कथाओं का सुनना, संग्रह करना, सिखाना किसी भी समय न करे। यह **दुःश्रुति नामक पाँचवाँ अनर्थदण्ड है।** इसका न करना अनर्थदण्ड व्रत है।

अब **तत्त्वार्थसूत्र** के अनुसार देशव्रत नामक तीसरे गुणव्रत का कथन किया जाता है। भोगोपभोग परिमाण व्रत का कथन शिक्षाव्रतों में किया जाएगा।

ग्रामादिक की निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जाने का त्याग कर देना देशविरति व्रत है। यहाँ भी दिग्विरति व्रत के समान मर्यादा के बाहर महाव्रत है।[2]

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ।।१३९।।
इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ।।१४०।। [पुरुषार्थसिद्धयुपाय]

—उस दिग्व्रत में भी ग्राम, बाजार, मन्दिर, मुहल्लादिकों का परिमाण करके मर्यादाकृत क्षेत्र से बाहर किसी नियत समय पर्यन्त त्याग करना चाहिए। इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्यागी

१-२. सर्वार्थसिद्धि ७।२१।

निर्मल बुद्धिवाला श्रावक उस नियमित काल में मर्यादाकृत क्षेत्र से बाहर हिंसा के त्याग से विशेषता सहित अहिंसा व्रत को अपने आश्रय करता है।

देशावकाशिकं स्यात्काल-परिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ।।९२।। [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—दिग्व्रत में ग्रहण किये हुए विशाल देश का काल की मर्यादा को लिए हुए जो प्रतिदिन घटाना है, वह अणुव्रतधारी श्रावकों का देशावकाशिक (देशनिवृत्ति परक) व्रत है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में देशव्रत को यद्यपि गुणव्रत कहा गया है, किन्तु उसका स्वरूप भिन्न प्रकार कहा गया है—

वय-भंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं ।।२१५।। [वसुनन्दिश्रावकाचार]

—जिस देश में रहते हुए व्रतभंग का कारण उपस्थित हो, उस देश में नियम से जो गमन-निवृत्ति की जाती है, उसको दूसरा देशव्रत नाम का गुणव्रत जानना चाहिए।

यत्र व्रतस्य भंगः स्याद्देशे तत्र प्रयत्नतः।
गमनस्य निवृत्तिःया सा देशविरतिर्मता ।।१४१।। [गुणभूषण श्रावकाचार]

—जिस देश में व्रतभंग की सम्भावना हो उस देश में प्रयत्नपूर्वक गमन का त्याग करने से देशव्रत होता है।

शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत—जिन व्रतों के पालन करने से मुनिव्रत धारण करने की या मुनि बनने की शिक्षा मिलती है, वे शिक्षाव्रत हैं। यद्यपि उनकी संख्या चार है तथापि उनके नामों में आचार्यों के अनेक मतभेद हैं। वे मतभेद इस प्रकार हैं—

आचार्य या ग्रन्थ का नाम	प्रथम शिक्षाव्रत	द्वितीय शिक्षाव्रत	तृतीय शिक्षाव्रत	चतुर्थ शिक्षाव्रत
१	२	३	४	५
१ श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र सं. १	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथिपूजा	सल्लेखना
२ आ. कुन्दकुन्द	,,	,,	,,	,,
३ आ. स्वामिकार्तिकेय	,,	,,	,,	देशव्रत
४ आ. उमास्वामी	,,	,,	भोगोपभोग-परिमाण	अतिथि-संविभाग
५ आ. समन्तभद्र	देशव्रत	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य

१	२	३	४	५
६ आ. सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोगपरिमाण	दान
७ आ. देवसेन	देवस्तवन	,,	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना
८ श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र सं. २	भोगपरिमाण	परिभोगपरिमाण	,,	,,
९ श्री वसुनन्दि आचार्य	भोगविरति	परिभोग विरति	,,	,,
१० श्री अमृतचन्द्राचार्य	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोगपरिमाण	वैयावृत्य

सामायिक तृतीय प्रतिमा है और प्रोषधोपवास चतुर्थ प्रतिमा, अतः श्री वसुनन्दि आचार्य ने तथा श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र सं. २ में सामायिक व प्रोषधोपवास को शिक्षाव्रत में गर्भित नहीं किया। शिक्षाव्रतों की उत्तरोत्तर उन्नति आगामी की प्रतिमाएँ हैं, इस दृष्टि से किन्हीं आचार्यों द्वारा सामायिक व प्रोषधोपवास को शिक्षाव्रत में सम्मिलित कर लिया गया। तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप इस प्रकार है—

सामायिक—इसके स्वरूप का विस्तृत कथन सामायिक संयम में किया जा चुका है। शिक्षाव्रत की दृष्टि से कथन इस प्रकार है—सामायिक के लिए की गई क्षेत्र व काल की अवधि, सामायिक स्थित श्रावक के उतने काल के लिए उस क्षेत्र से बाहर पूर्ववत् महाव्रत होता है।[1] चारित्रपाहुड गाथा २५ की टीका में इस प्रकार कहा गया है-"**सामायिकं च प्रथमं शिक्षाव्रतं। चैत्यपञ्चगुरुभक्तिसमाधिलक्षणं दिनं प्रति एकवारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रत-प्रतिमायां सामायिकं भवति।**" सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत है। इसमें चैत्यभक्ति, पञ्च परमेष्ठी भक्ति और समाधि भक्ति करनी चाहिए। व्रतप्रतिमा में जो सामायिक होती है वह दिन में एक बार, दोबार अथवा तीन बार होती है। परन्तु सामायिक प्रतिमा में जो सामायिक कहा गया है वह नियम से तीन बार करना चाहिए।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनियमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥ [पुरुषार्थसिद्धयुपाय]

रागद्वेष के त्याग से समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में साम्यभाव को अंगीकार कर आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण सामायिक रूप कार्य है। वह सामायिक रात्रि और दिन के अन्त में एकाग्रता पूर्वक अवश्य ही करना चाहिए। फिर यदि अन्य समय में किया जाय तो वह सामायिककार्य दोष के हेतु नहीं किन्तु गुण के लिए होता है। इन सामायिक दशा को प्राप्त हुए श्रावकों के चारित्रमोह के उदय होते भी, समस्त पाप के योगों के त्याग से महाव्रत होता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।२१।

आसमयमुक्तिमुक्तं पंचाऽघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ।।९७।।

मूर्ध्वरुह-मुष्टि-वासो-बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चाऽपि ।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ।।९८।।

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वाऽपि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।।९९।।

व्यापार—वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या ।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ।।१००।।

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् ।
व्रतपंचक-परिपूरण-कारणमवधान-युक्तेन ।।१०१।।

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ।।१०२।।

—समय की (केशबन्धनादि रूप से गृहीत आचार की) मुक्तिपर्यन्त (उसे तोड़ने की अवधि तक) जो हिंसा आदि पाँच पापों का पूर्ण रूप से सर्वत्र त्याग करना है, उसका नाम आगम के ज्ञाता '**सामायिक**' कहते हैं। केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन, पर्यङ्कबन्धन (पद्मासन) और खड़े होकर कायोत्सर्ग करना, तथा बैठकर कायोत्सर्ग करना, इनको आगम के ज्ञाता अथवा सामायिक सिद्धान्त के जानकार पुरुष सामायिक का अनुष्ठान कहते हैं। वनों में, मकान में तथा चैत्यालयों में अथवा अन्य गिरि-गुहादिकों में, निरुपद्रव-निराकुल एकान्त स्थान में प्रसन्नचित्त से स्थिर होकर सामायिक को बढ़ाना चाहिए। उपवास तथा एकाशन के दिन व्यापार और वैमनस्य से विनिवृत्ति धारण कर अन्तर्जल्पादि रूप संकल्प-विकल्प के त्याग द्वारा सामायिक को दृढ़ करना चाहिए। प्रतिदिन भी निरालसी और एकाग्रचित्त गृहस्थ श्रावकों को चाहिए कि वे यथाविधि सामायिक को बढ़ावें, क्योंकि यह सामायिक अहिंसादि पाँच व्रतों की पूर्णता का कारण है। सामायिक में कृष्यादि आरम्भ के साथ-साथ सम्पूर्ण बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होता है। इसलिए सामायिक की अवस्था में गृहस्थ श्रावक की दशा चेलोपसृष्ट मुनि (वस्त्र के उपसर्ग से युक्त मुनि) जैसी होती है अतः यह शिक्षाव्रत है।

प्रोषधोपवास—प्रोषध का अर्थ पर्व है और पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के त्यागपूर्वक उसमें निवास करना उपवास है। अर्थात् चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। तथा प्रोषध के दिनों में जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवासी श्रावक को अपने शरीर के संस्कार के कारण स्नान, गन्ध, माला और आभरण आदि का त्याग करके किसी पवित्र स्थान में, साधुओं के रहने के स्थान में, चैत्यालय में या प्रोषध के लिए नियत किये गये अपने घर में धर्म-कथा सुनने, सुनाने और चिन्तन करने में मन को लगाकर उपवास करना चाहिए। और सब प्रकार का आरम्भ छोड देना चाहिए।[1] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को यह व्रत किया जाता है। प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।२१।

अन्न-पान-खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है। जिसमें पर्व के दिन जल लिया जाता है वह मध्यम प्रोषधोपवास है और जिसमें आचाम्लाहार किया जाता है, वह जघन्य प्रोषधोपवास है।[1]

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ।।१५१।।
मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ।।१५२।। [पुरुषार्थसिद्धय् पाय]

—प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक संस्कार को स्थिर करने के लिए दोनों पक्षों के अर्द्धभाग में अर्थात् अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए। समस्त आरम्भ से मुक्त होकर शरीरादिकों में आत्मबुद्धि को त्यागकर उपवास के पूर्वदिन के आधे भाग में उपवास को अंगीकार करना चाहिए।

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधःसकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ।।१०६।। [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—चार प्रकार के आहारत्याग का नाम उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध या एकाशन है। प्रोषधसहित उपवास प्रोषधोपवास। जो उपवास धारण करके धारणा और पारणा के दिन एकाशन करना है वह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहा जाता है।

भोगोपभोगपरिमाण—भोगोपभोग का लक्षण—

भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ।।८३।।[2]

—जो पाँच इन्द्रिय विषय एक बार भोगने पर त्याज्य हो जाता है वह **'भोग'** है। जैसे भोजन पान विलेपनादिक। और जो पंचेन्द्रिय विषय एक बार भोगने पर पुनः भोगने के योग्य रहता है वह **'उपभोग'** है। जैसे वस्त्र, आभरण आदिक।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ।।१६१।।[पुरुषार्थसिद्धय् पाय]

—संयतासंयत श्रावक के भोग और उपभोग के निमित्त से हिंसा होती है, अन्य प्रकार से नहीं, अतएव भोग और उपभोग भी, वस्तुस्वरूप जानकर और अपनी शक्ति अनुसार छोड़ने योग्य अथवा परिमाण करने योग्य है।

भोजन, पान, गन्ध और माला आदिक भोग कहलाते हैं तथा ओढ़ना-बिछाना, अलंकार

---

१. चारित्रपाहुड गा. २५ की टीका। २. रत्नकरण्डश्रावकाचार।

(आभूषण), शयन, आसन, घर, यान और वाहन आदि उपभोग कहलाते हैं। इनका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण अथवा उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।[1]

जं परिमाणं कीरइ मंडल-तंबोल-गंध-पुप्फाणं।
तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते ।।२१७।।

सगसत्तीए महिलावत्थाहरणाण जं तु परिमाणं।
तं परिभोयणिवुत्ती विदियं सिक्खावयं जाण ।।२१८।।[वसुनन्दिश्रावकाचार]

—मंडन अर्थात् उबटन आदि शारीरिक शृङ्गार, ताम्बूल, गंध और पुष्पादिक का जो परिमाण किया जाता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्र में भोगविरति नामका प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है ।।२१७।। अपनी शक्ति के अनुसार स्त्रीसेवन और वस्त्र-आभूषणों का जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोगनिवृत्ति नामका द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए।

त्रसघात, मादक, बहुघात, अनिष्ट और अनुपसेव्य ये पाँच प्रकार के अभक्ष्य हैं, इनका त्याग यावज्जीवन करना चाहिए। इससे सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार हैं--

त्रसहति-परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ।।८४।।

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्ग-वेराणि ।
नवनीत-निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ।।८५।।

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चाऽनपुसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ।।८६।। [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

जिन-चरण की शरण में रहने वालों को त्रसहिंसा टालने के लिए 'मधु' और मांस का त्याग करना चाहिए और प्रमाद अर्थात् चित्त की असावधानता-अविवेकता को दूर करने के लिए मद्य आदि मादक पदार्थों (भांग, तम्बाकू आदि) का त्याग करना चाहिए। अल्पफल और बहु विघात के कारणभूत मूली आदिक (गाजर-शलजमादि) तथा अप्रासुक अदरक आदि (आलू, सराल, शकरकन्द, अरबी, हल्दी, जमीकन्द आदि, मक्खन, नीम के फूल,केतकी के फूल ये सब और इसी प्रकार की अनन्तकायात्मक दूसरी वस्तुएँ भी त्याज्य हैं। जो पदार्थ अनिष्ट हो अर्थात् प्रकृति के प्रतिकूल हो तथा शरीर को हानिकारक हो वह भी त्याज्य है और जो अनुपसेव्य हो (जैसे गौमूत्र, जूठन आदि) उसे भी छोड़ देना चाहिए। योग्य विषयों से भी जो संकल्पपूर्वक विरक्ति होती है वह **भोगोपभोग परिमाण व्रत है।**

शङ्का—शरीर तो पर द्रव्य है, इसकी दृष्टि से अनन्तकायात्मक पदार्थों (सौंठ, हल्दी आदि) को सुखाकर ग्रहण करना हिंसा का कारण है?

समाधान—यद्यपि शरीर परद्रव्य है तथापि मोक्षमार्ग में सहायक है, क्योंकि जब तक वज्रर्षभनाराचसंहनन वाला शक्तिशाली शरीर नहीं होगा, उस समय तक मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। यही

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।२१।

कारण है कि कर्मभूमिया महिलाओं के तीन हीन संहनन होने से[1] उनके मोक्ष का निषेध किया गया है।[2]

शङ्का—अभक्ष्य बाईस हैं। फिर यहाँ पाँच ही अभक्ष्य क्यों कहे गये ?

समाधान—पाँच अभक्ष्य नहीं कहे गये। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचार में पाँच प्रकार के अभक्ष्य कहे गये हैं। अभक्ष्य पदार्थ बहुत हैं किन्तु वे सब इन पाँच प्रकार के अभक्ष्यों में गर्भित हो जाते हैं। जिनवाणीसंग्रह आदि पुस्तकों में जिन बाईस अभक्ष्यों का नामोल्लेख है, उनके अतिरिक्त भी अभक्ष्य हैं। इनमें अनिष्ट और अनुपसेव्य अभक्ष्यों का नाम ही नहीं है। किसी भी दिगम्बर जैन आर्ष ग्रन्थ में इन बाईस अभक्ष्यों का कथन नहीं मिलता। सम्भवतः अन्य सम्प्रदाय में इन बाईस अभक्ष्यों का कथन हो।

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत—संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो आता है वह अतिथि है। या जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं हो, वह अतिथि है। अनियतकाल में जिसका आगमन हो वह अतिथि है। इस अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि-संविभाग है। वह चार प्रकार का है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय (रहने का स्थान)। जो मोक्ष के लिए बद्धकक्ष है, संयम पालन करने में तत्पर है और शुद्ध है, उस अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। सम्यग्दर्शन आदि के बढ़ानेवाले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषधि की योजना करनी चाहिए तथा परम धर्म में श्रद्धा रखते हुए अतिथि को निवासस्थान भी देना चाहिए।[3]

सल्लेखना—श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने सल्लेखना को भी शिक्षाव्रत कहा है और तत्त्वार्थसूत्र में भी **'सल्लेखनां जोषिता'** द्वारा सल्लेखना का उपदेश दिया है अतः सल्लेखना का कथन किया जाता है—भले प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना (कृशकरना) सल्लेखना है। अर्थात् बाह्य शरीर का और आभ्यन्तर कषायों का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। बाह्य शरीर का और आभ्यन्तर कषाय का काय और कषाय को उत्तरोत्तर पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए, भले प्रकार से लेखन करना कृश करना सल्लेखना है। मरण के अन्त में होने वाली इस सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला गृहस्थ होता है।

शङ्का—सल्लेखना में अपने अभिप्रायपूर्वक आयु आदि का त्याग किया जाता है, इसलिए सल्लेखना आत्मघात है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है। रागद्वेष-मोह से युक्त प्रमाद के वश होकर जो कोई विष, शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके अपना घात करता है, वह आत्मघाती है। परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं इसलिए उसे आत्मघात का दोष नहीं प्राप्त होता। दूसरे, मरण किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे नाना प्रकार की विक्रेय वस्तुओं के देन, लेन और संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं है। फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाश के कारण उपस्थित होने पर यथाशक्ति उनको दूर करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो विक्रेय वस्तुओं की नाश से रक्षा करता है।

---

१. गो. क. गा. ३२। २. प्रवचनसार (शान्तिवीरनगर) पृ. ५३४-३५-३६। ३. सर्वार्थसिद्धि ७।२१।

उसी प्रकार पण्य [=वस्तुएँ] स्थानीय व्रत और शील के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदि का पतन नहीं चाहता। यदा कदाचित् उनके विनाश के कारण उत्पन्न हो जायें तो जिससे अपने गुणों में बाधा नहीं पड़े इस प्रकार उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हों तो जिससे अपने गुणों का नाश न हो, इस प्रकार प्रयत्न करता है। इसलिए इसके आत्मघात का दोष नहीं हो सकता।[1]

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं।
सगिहे जिणालए वा तिविहाहारस्स वोसरणं ॥२७१॥
जं कुणइ गुरुसयासम्मि सम्ममालोइऊण तिविहेण।
सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं ॥२७२॥ [वसुनन्दिश्रावकाचार]

—वस्त्र मात्र परिग्रह को रख कर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप में मन-वचन-काय से अपनी भले प्रकार आलोचना करके पान के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है उसे उपासकाध्ययन सूत्र में सल्लेखना नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा है। 'यह सल्लेखना ही मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है', ऐसी भावना निरन्तर भानी चाहिए [पु. सि. उ. श्लोक १७५]।

देशविरत के ग्यारह भेदों का स्वरूप—

दर्शनिक देशविरत का लक्षण संक्षेप में इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पंचगुरु-चरण-शरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१३७॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है तथा संसार, शरीर तथा भोगों से विरक्त है, पंच-गुरुओं के चरणों की शरण को प्राप्त है अर्थात् अर्हन्तादि पंच परमेष्ठियों की भक्ति में लीन है और जो सन्मार्ग में आकर्षित है, वह दर्शनिक श्रावक है। यह प्रथम प्रतिमा का स्वरूप द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से कहा गया है। चरणानुयोग की दृष्टि से प्रथम प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार है—सामान्यरूप से दर्शन-प्रतिमा वाला श्रावक अष्टमूलगुणधारी, सप्तव्यसन-त्यागी और सम्यग्दर्शन की रक्षा करने वाला होता है।

शङ्का—आठ मूलगुण कौन से हैं?

समाधान—एक मत के अनुसार बड़, पीपल, पाकर (पिलखन), ऊमर (गूलर) और अंजीर इन पाँच फलों का (इनके सदृश अन्य फलों का) तथा मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारों का त्याग करना आठ मूलगुण है। दूसरे मत के अनुसार मद्यत्याग १, मांसत्याग २, मधुत्याग ३, रात्रि-भोजन त्याग ४, पञ्चफली त्याग ५, पञ्चपरमेष्ठी की नुति (देव-दर्शन) ६, जीवदया ७,

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।२२।

पानी छानना ८;[1] अन्य मतानुसार मद्यत्याग १, मांसत्याग २, मधुत्याग ३ और पाँच अणुव्रत इस प्रकार आठ मूलगुण[2] हैं।

शङ्का—सात व्यसन कौन से हैं ?

समाधान—जुआ, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री-सेवन ये महापाप रूप सात व्यसन हैं। इनका त्याग करना चाहिए। इनका विस्तार पूर्वक कथन **वसुनन्दिश्रावकाचार** आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

सम्यक्त्व की रक्षा करने के लिए अन्य मत-मतान्तरों के शास्त्रों का श्रवण न करके अपनी बुद्धि को विशुद्ध-निर्मल रखना चाहिए।

इस सामान्य आचरण के अतिरिक्त दर्शनप्रतिमाधारी को निम्नलिखित बातों का भी ध्यान रखना आवश्यक है—मूली, नाली, मृणाल, लहसुन, तुम्बी फल, कुसुम्भ की शाक, तरबूज और सूरण-कन्द का भी त्याग करना चाहिए। अरणी, वरण, सोहजना और करीर, काञ्चनार इन पाँच प्रकार के फूलों का त्याग होता है। दो मुहूर्त के बाद नमक, तेल या घृत में रखे हुए फल, आचार, मुरब्बा का त्याग और मक्खन तथा मांसादि का सेवन करने वाले मनुष्यों के बर्तनों का इन सबका त्याग, चमड़े के भाण्ड में रखे हुए जल, तैल और हींग का त्याग होता है। भोजन करते समय हड्डी (अस्थि), मदिरा, चमड़ा, मांस, खून, पीव, मल, मूत्र और मृत प्राणी के देखने से, त्यागी हुई वस्तु के सेवन से, चाण्डालादि के देखने और उनके शब्द सुनने से भोजन का त्याग करना चाहिए। घुने, भँकूड़े (फूलन से युक्त) और चलित स्वाद वाले अन्न का त्याग करना चाहिए। सोलह प्रहर के बाद के तक्र और दही का त्याग करना चाहिए। पान, औषध और पानी का भी रात्रि में त्याग करना चाहिए। यह सभी दर्शनप्रतिमा का आचार है।[3]

दूसरी प्रतिमा का नाम **व्रत प्रतिमा** है। इसमें बारह व्रतों का पालन होता है।[4]

> **निरतिक्रमणमणुव्रत-पंचकमपि शीलसप्तकं चापि।**
> **धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३८॥** [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—जो श्रावक निःशल्य (माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित) होकर निरतिचार पाँच अणुव्रतों को और साथ ही सातों शीलव्रतों को (तीन गुण और चार शिक्षाव्रतों को) भी धारण करता है वह गणधर देवों के द्वारा व्रतिक पद का धारक (द्वितीय श्रावक) कहा जाता है। बारह व्रतों का स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है। पुनरुक्त दोष के कारण उनका यहाँ पर कथन नहीं किया जाता।

शङ्का—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को शीलव्रत क्यों कहा गया है ?

---

१. चारित्रपाहुड़ गा. २१ टीका। २. रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ६६। ३. चारित्रपाहुड़ गाथा २१ की टीका।
४. चारित्रपाहुड़ गाथा २१ की टीका।

समाधान—व्रतों के रक्षण को 'शील' कहते हैं। शील का लक्षण इस प्रकार है—

संसारारातिभीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम्।
गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥४१॥[अमि. श्रावका. परि. १२]
यद् गृहीतं व्रतं पूर्वं साक्षीकृत्य जिनान् गुरून्।
तद् व्रताखंडनं शीलमिति प्राहुर्मुनीश्वराः ॥७८॥ [पूज्यपाद श्रावकाचार]

—गुरु को साक्षीपूर्वक पहले ग्रहण किये गये व्रतों का खण्डन नहीं करना अथवा रक्षण करना शील कहलाता है।

शङ्का—शल्य किसे कहते हैं?

समाधान—'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्द की व्युत्पत्ति है। शल्य का अर्थ है पीड़ा देने वाली वस्तु। जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीड़ाकर भाव है, वह शल्य शब्द से लिया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियों को बाधाकर होता है, उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधा का कारण होने से कर्मोदयजनित विकार में भी शल्य का उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं। यह शल्य तीन प्रकार की है—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। माया, निकृति और वंचना अर्थात् ठगने की वृत्ति यह **माया शल्य** है। भोगों की लालसा **निदान शल्य** है और अतत्त्वों का श्रद्धान **मिथ्यादर्शन शल्य** है। इन तीनों शल्यों से जो रहित है वही **निःशल्य व्रती** कहा जाता है।

शङ्का—शल्य न होने से निःशल्य होता है और व्रतों को धारण करने से व्रती होता है। शल्यरहित होने से व्रती नहीं हो सकता। जैसे देवदत्त के हाथ में लाठी होने से वह छत्री नहीं हो सकता?

समाधान—व्रती होने के लिए दोनों विशेषणों से युक्त होना आवश्यक है। यदि किसी ने शल्यों का त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषों को छोड़ दिया तो वह व्रती नहीं हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्यों का त्याग करके व्रतों को स्वीकार किया हो। जैसे जिसके यहाँ बहुत घी-दूध होता है वह गायवाला कहा जाता है। यदि उसके घी-दूध नहीं होता और गायें हैं तो वह गायवाला नहीं कहलाता। उसी प्रकार जो सशल्य है, व्रतों के होने पर भी वह व्रती नहीं हो सकता, किन्तु जो निःशल्य है, वह व्रती है।[1]

शरीरमानसीं बाधां कुर्वन्कर्मोदयादि यत्।
मायामिथ्यानिदानादिभेदतस्तत्त्रिधा मतम् ॥५॥[सिद्धान्तसारसंग्रह अ. ४]

—कर्मों के उदय आदि के कारण शारीरिक और मानसिक पीड़ा देने वाली माया, मिथ्या और निदान तीन प्रकार की शल्य है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।१८।

न्यच्चित्ते करोत्यन्यच्चेष्टायामन्यदेव हि।
मायावी तस्य किं शोचमुच्यते दुष्टदुर्मतेः ॥८॥ [सिद्धान्तसारसंग्रह अ. ४]

—मायावी कपटी मनुष्य मन में अन्य विचार करता है तथा शरीर से और वाणी से अन्य चेष्टा करता है। इसलिए वह दुष्ट दुर्बुद्धि क्या पवित्रता धारण कर सकता है? मायावी महान् अपवित्र है। मायावी पुरुष को माया शल्य नित्य पीड़ा देती रहती है। अतः वह अहिंसादि व्रतों का पालन नहीं कर सकता।

धर्मजिघृक्षुभिः हेयं मिथ्यात्वं सर्वथा तपोः।
सहानवस्थितिर्नित्यं विरोधो यावता महान् ॥४/११॥
मिथ्याशल्यमिदं दुष्टं यस्य देहादनिःसृतम्।
तस्यापदाभिभूतस्य निर्वृत्तिर्न कदाचन ॥४/१२॥ [सिद्धान्तसारसंग्रह]

—धर्मग्रहण के इच्छुक पुरुषों को मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करना चाहिए। क्योंकि धर्म और मिथ्यात्व इन दोनों में सहानवस्थिति नामका महान् विरोध हमेशा से है। एक स्थान में एकाश्रय में दो विरोधी पदार्थ न रहना सहानवस्था दोष है। जैसे शीत और उष्ण, सर्प और नकुल। जहाँ धर्म रहता है वहाँ मिथ्यात्व नहीं रहता। जहाँ मिथ्यात्व रहता है वहाँ धर्म नहीं रहता। यह मिथ्यात्व शल्य जिसकी देह से नहीं निकल गया ऐसे मिथ्यात्व से प्राप्त हुए दुःखों से पीड़ित पुरुष को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

निदान शल्य भी प्राणियों को दुःखद होने से त्याज्य है। व्रती पुरुषों को यह शल्य धारण करने योग्य नहीं है, क्योंकि यह सब व्रतों का नाश करती है। प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से निदान दो प्रकार का है। प्रशस्त निदान के भी दो भेद हैं उनमें से एक संसार निमित्तक प्रशस्त निदान और दूसरा मोक्षनिमित्तक प्रशस्त निदान। कर्मों का नाश, बोधि (रत्नत्रय प्राप्ति), समाधि (धर्मध्यान, शुक्लध्यान) संसार-दुखों का नाश आदि को चाहने वालों के यह प्रशस्त निदान मुक्ति का कारण है। जिनधर्म की प्राप्ति के लिए योग्य देश (आर्य खण्ड), योग्यकाल (दुःखमासुखमा काल), भव (जैन का उच्चकुल) क्षेत्र योग्य (जैनधर्मी श्रावकों का नगर) और शुभ-भाव व वैभव चाहने वालों को यह संसार का कारण प्रशस्त निदान होता है, क्योंकि संसार बिना ये देश, काल, क्षेत्र, भव, भाव और ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होते। प्रथम प्रशस्त निदान पवित्र-अद्वितीय-अनन्त सुखस्थान देने वाला अर्थात् मोक्षप्राप्ति कराने वाला है। द्वितीय प्रशस्त निदान किंचिद् दुःख देने वाला है, क्योंकि अन्य भव में जिनधर्म की प्राप्ति के लिए योग्य देश-काल-क्षेत्र-भव-भाव और ऐश्वर्य चाहने से वह प्रशस्त निदान किंचित् हेय है। अप्रशस्त निदान भी भोगहेतुक और मानहेतुक होने से संसार का कारण है, निन्द्य है और सिद्धिमन्दिर में प्रवेश होने में बाधक है।[1] इस प्रकार माया शल्य, मिथ्याशल्य और अप्रशस्त निदान शल्य रहित पुरुष ही व्रती हो सकता है। प्रशस्तनिदान साक्षात् व परम्परया मोक्ष का कारण होने से त्याज्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि देव के निरन्तर यह वांछा रहती है कि कब मरकर मनुष्य बनूँ और संयम धारण करके मोक्षसुख प्राप्त करूँ। संयम के योग्य देश-काल-क्षेत्र-भव और भाव-प्राप्ति की वांछा भी संयमवांछा में निहित है अर्थात् अन्तर्लीन है।

---

१. सिद्धान्तसार संग्रह ४।२४५-२५२।

तीसरी सामायिक प्रतिमा में प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न और सायंकाल एक मुहूर्ततक सामायिक करना चाहिए।[1]

चतुरावर्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी ॥१३९॥

—जो श्रावक तीन-तीन आवर्तों के चार बार किये जाने की, चार प्रणामों की, ऊर्ध्व कायोत्सर्ग की तथा दो निषद्याओं की व्यवस्था से व्यवस्थित और यथाजात रूप में स्थित हुआ, मन वचन काय रूप तीनों योगों की शुद्धिपूर्वक तीनों संध्याओं (पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न) के समय वन्दनाक्रिया करता है, वह सामायिक नामका तृतीय प्रतिमाधारी श्रावक है।

चौथी प्रोषधप्रतिमा में प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को शक्ति अनुसार उपवास करना चाहिए।[3]

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध-नियम-विधायी प्रणधिपरः प्रोषधाऽनशनः ॥१४०॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

—प्रत्येक मास के चारों ही पर्व दिनों में अर्थात् प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी को, अपनी शक्ति को न छिपाकर, शुभ भावों (ध्यान, स्वाध्याय, पूजन आदि) में रत हुआ एकाग्रता के साथ प्रोषध के नियम का विधान करता है अथवा नियम से प्रोषधोपवास धारण करता है, वह प्रोषधोपवास का धारक चतुर्थश्रावक होता है।[4]

पाँचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में सचित्त-वस्तुओं के भक्षण का त्याग होता है।

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

—जो दयालु (गृहस्थ) मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल), करीर (गांठ), कन्द, फूल और बीज इनको कच्चे नहीं खाता वह 'सचित्तविरत' पद का अर्थात् पाँचवीं प्रतिमा का धारक श्रावक है। छठी रात्रिभुक्ति-विरति प्रतिमा में रात्रि के भोजन करने-कराने का त्याग अथवा दिन में ब्रह्मचर्य की रक्षा करना होता है।[5]

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाऽश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥१४२॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—जो श्रावक रात्रि के समय अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों को नहीं खाता है वह प्राणियों में दया भाव रखने वाला रात्रिभुक्ति विरत नाम के छठे पद का धारक होता है।

यदि उसका छोटा पुत्र भूख से रोता रहे तो भी छठी प्रतिमाधारी रात्रि में न तो स्वयं भोजन

---

१. चारित्रपाहुड़ गाथा २१ टीका। २. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १३९। ३. चारित्रपाहुड़ गाथा २१ टीका। ४. चारित्रपाहुड़ गाथा २१ टीका। ५. चारित्रपाहुड़ गाथा २१ टीका।

कराएगा, न किसी अन्य को उसे भोजन कराने की प्रेरणा करेगा और न कहेगा।[1]

जो चउ-विहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी।
ण य भुंजावदि अण्णं णिसि-विरओ सो हवे भोज्जो ॥३८२॥
जो णिसि-भुत्ति वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि रयणीए ॥३८३॥[2] [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

—जो रात्रि में चारों प्रकार के भोजन को नहीं करता है और न दूसरे को रात्रि में भोजन कराता है वह रात्रिभोजन का त्यागी होता है। जो पुरुष रात्रिभोजन को छोड़ देता है वह एक वर्ष में छह महीने उपवास करता है और रात्रि में आरम्भ का त्याग करता है।

मण-वयण-काय-कय-कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥२९६॥[3]

—जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का त्याग करता है वह छठी प्रतिमाधारी श्रावक है।

—इस प्रकार छठी प्रतिमा में मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना (३ × ३) इन नव कोटि से रात्रिभोजनत्याग होता है।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा में स्त्री मात्र का त्याग होता है।

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

—जो व्रती शरीर को रजोवीर्य से उत्पन्न, अपवित्रता का कारण, नव द्वारों से मल को बहाने वाला तथा दुर्गन्ध और ग्लानि युक्त जानकर कामसेवन का सर्वथा त्याग कर देता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक है।

[4]**आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमा** में सेवा, कृषि तथा व्यापार आदि का परित्याग होता है।

सेवा-कृषि-वाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपरमति।
प्राणातिपात–हेतोर्योऽसावारम्भ-विनिवृत्तः ॥१४४॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—जो श्रावक कृषि, सेवा और वाणिज्यादि रूप आरम्भ प्रवृत्ति से विरक्त होता है, क्योंकि आरम्भ प्राणपीड़ा का हेतु है, वह आरम्भत्यागी श्रावक है।

[5]**नौवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा** में वस्त्र मात्र परिग्रह रखा जाता है तथा सुवर्णादिक धातुं का त्याग होता है।

---

१. शास्त्रसार समुच्चय पृ. १८७। २. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा। ३. वसुनन्दि श्रावकाचार। ४-५. चारित्रपाहुड़ गा. २१ टीका।

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

—जो दस प्रकार की बाह्य वस्तुओं में (क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य आदि में) ममत्व को छोड़कर निर्ममभाव में रत रहता है, स्वात्मस्थ है और परिग्रह की आकांक्षा से निवृत्त हुआ सन्तोषधारण में तत्पर है वह परिग्रह से विरक्त नौवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।

दसवीं अनुमतित्याग प्रतिमा में विवाह आदि कार्यों की अनुमति का त्याग होता है।

अनुमतिरराम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

—जिसकी निश्चय से आरम्भ में व परिग्रह में और बाह्य कार्यों में अनुमति नहीं होती वह रागादि रहित बुद्धि का धारक अनुमतिविरत नामक दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।

[1]**ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा** में अपने उद्देश्य से बनाये हुए आहार का परित्याग होता है।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

—जो श्रावक घर से मुनिवन को जाकर और गुरु के निकट व्रतों को ग्रहण करके तपस्या करता हुआ भैक्ष्य भोजन करता है और वस्त्रखण्ड का धारक होता है, वह उद्दिष्टत्याग नाम की ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

असंयत का स्वरूप

जीवा चोद्दसभेया इंदियविसया तहट्ठवीसं तु।
जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेदव्वा ॥४७८॥[2]
पंचरसपंच-वण्णा दो-गंधा अट्ठ-फास सत्त-सरा।
मणसहिदट्ठावीसा इंदिय-विसया मुणेदव्वा ॥४७९॥

गाथार्थ—जीव समास चौदह प्रकार के हैं और इन्द्रियों के विषय अट्ठाईस प्रकार के होते हैं। जो जीव इनसे विरत नहीं हैं, उनको असंयत जानना चाहिए ॥४७८॥ पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, मन का एक; इस प्रकार इन्द्रियों के विषय अट्ठाईस जानने चाहिए ॥४७९॥

विशेषार्थ—सूक्ष्मैकेन्द्रिय, बादरैकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त व अपर्याप्त इस प्रकार चौदह जीवसमास होते हैं। इनका विशद कथन जीवसमास अधिकार में किया जा चुका है। वहाँ से देख लेना चाहिए। इन चौदह जीवसमासों की रक्षा करना संयम है। मीठा, खट्टा, कषायला, कडुआ, चरपरा यह पाँच प्रकार का रस; सफेद,

---

१. चारित्र पाहुड़ गाथा २१ की टीका। २. धवल पु. १ गाथा ११४ पृ. ३७३; प्रा.पं.सं.अ. १ गाथा १३७।

पीला, हरा, लाल, काला ये पाँच प्रकार के वर्ण, सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से गन्ध दो प्रकार की; स्वर सात प्रकार के—षड़ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद; स्पर्श के आठ भेद—कोमल-कठोर, हलका-भारी, शीत-उष्ण, रूखा-चिकना, मन का विषय एक; इस प्रकार अट्ठाईस इन्द्रियविषय होते हैं (५+५+२+७+८+१= २८)।

संयममार्गणा में जीवसंख्या

पमदादिचउण्हजुदी सामयियदुगं कमेण सेसतियं ।
सत्तसहस्साणवसय णवलक्खा तीहिं परिहीणा ।।४८०।।
पल्लासंखेज्जदिमं विरदाविरदाण दव्वपरिमाणं ।
पुव्वुत्तरासिहीणा संसारी अविरदाण पमा ।।४८१।।

गाथार्थ—प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जीवों का जितना प्रमाण है उतना ही प्रमाण सामायिक संयत जीवों का है और उतना ही प्रमाण छेदोपस्थापना संयत जीवों का है। और शेष तीन संयमी जीवों का प्रमाण क्रम से तीन कम सात हजार (६९९७) व तीन कम नौ सौ (८९७) और तीन कम नौ लाख है ।।४८०।। विरताविरत का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग है। संसारी जीवों में से पूर्वोक्त राशियों को कम कर देने से असंयतों का प्रमाण आता है ।।४८१।।

विशेषार्थ—सामायिक-छेदोपस्थापना संयत कोटि पृथक्त्व प्रमाण है।[1] यहाँ पर पृथक्त्व का प्रमाण नहीं बतलाया गया क्योंकि दक्षिण मान्यता के अनुसार कुल संयतों की संख्या आठ करोड़ निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे है।[2] किन्तु उत्तर मान्यता के अनुसार कुल संयतों की संख्या छह करोड़ निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ छयानवे है।[3] ये दोनों संख्या कोटि पृथक्त्व के अन्तर्गत हैं। सर्व संयतों की संख्या में से सूक्ष्म साम्परायिक संयत और यथाख्यात संयतों की संख्या कम कर देने पर सामायिक-छेदोपस्थापना संयतों की संख्या शेष रह जाती है। परिहारशुद्धि संयतों के सामायिक-छेदोपस्थापना संयम अवश्य होता है, अतः परिहारशुद्धि संयतों की संख्या कम नहीं की गई। परिहारशुद्धिसंयत तीन कम सात हजार (६९९७) होते हैं और सूक्ष्म-साम्पराय संयत तीन कम नौ सौ (८९७) होते हैं।[4] और यथाख्यात संयमी जीव आठ लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे हैं।[5] सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात संयतों की दोनों की संख्या (८९७ + ८९९९९७) नौ लाख आठ सौ चौरानवे (९००८९४) होती है। इसको सर्व संयतों की संख्या आठ करोड़ निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे में से कम करने पर शेष (८९९९९९९७—९००८९४) आठ करोड नब्बे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन (८९०९९१०३) सामायिक छेदोपस्थापना संयतों की संख्या है।

संयतासंयत द्रव्य प्रमाण से पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं ।।१३७।। यहाँ पर अन्तर्मुहूर्त द्वारा पल्योपम अपहृत होता है ।।१३८।। "अन्तर्मुहूर्त" कहने से असंख्याता आवलियों का ग्रहण

---

१. "संजमाणुवादेण संजदा सामाइयच्छेदो वट्ठावण सुद्धि संजदा दव्वपमाणेण केवडिया ? ।।१२८।। कोडि-पुधत्तं ।।१२९।।" [ध.पु. ७ पृ. १८८]। २. ध.पु. ३ पृ. ९८। ३. ध.पु. ३ पृ. १०१। ४. ध.पु. ३ पृ. ४४९। ५. ध.पु. ३ पृ. ९७।

होता है। क्योंकि वैपुल्यवाची अन्तर्मुहूर्त का यहाँ ग्रहण है।[1] अङ्क संदृष्टि की अपेक्षा कथन इस प्रकार है—

बत्तीस सोलस चत्तारि जाण सदसहिदमट्ठवीसं च।
एदे अवहारत्था हवंति संविट्ठिणा विट्ठा ।।३७।।[2]
पण्णट्ठी च सहस्सा पंचसया खलु छउत्तरा तीसं।
पलिदोवमं तु एवं वियाण संविट्ठिणा विट्ठं ।।३८।।
पंचसय वारसुत्तरमुद्दिट्ठाइं तु लद्धदव्वाइं ।[3]

संयतासंयत सम्बन्धी अवहारकाल का प्रमाण १२८ जानना चाहिए। पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस (६५५३६) को पल्योपम माना गया है। संयतासंयत जीवराशि का प्रमाण (६५५३६ ÷ १२८) = ५१२ जानना चाहिए।

समस्त संयतों की संख्या ८९९९९९९७ है और संयतासंयतों की संख्या पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। इन दोनों को मिलाने से ८९९९९९९७ अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग होता है। इस संख्या को अनन्त संसारी जीवराशि में से घटाने पर असंयतों का प्रमाण प्राप्त होता है, जो अनन्त है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **संयममार्गणा** नाम का तेरहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१४. दर्शनमार्गणाधिकार

दर्शन सामान्य का लक्षण

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ।।४८२।।[4]
भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं ।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि ।।४८३।।

गाथार्थ—वस्तुओं का आकार न करके व पदार्थों में विशेषता न करके जो सामान्य का ग्रहण किया जाता है, उसे शास्त्रों में दर्शन कहा है ।।४८२।। सामान्य विशेषात्मक निज स्वरूप पदार्थ का जीव के द्वारा जो वर्णन रहित ग्रहण है, वह दर्शन है ।।४८३।।

विशेषार्थ—'जं सामण्णं गहणं' इस सूत्र में 'सामान्य' शब्द का प्रयोग आत्म-पदार्थ के लिए

---

१. "संजदासंजदा दव्वपमाणेण केवडिया ? १३६।। पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागो ।।१३७।। एदेहि पलिदोवमम वहिरदि अंतोमुहुत्तेण ।।१३८।। एत्थ अंतोमुहुत्तमिदि वुत्ते "असंखेज्जावलिया त्ति घेत्तव्वं।" [ध. ७ पृ. २८९] २. ध.पु. ३ पृ. ८७। ३. ध.पु. ३ पृ. ८८। ४. धवल पु. १ पृ. १४९, जयधवल पु. १ पृ. ३६०; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १३८; वृहद् द्रव्य संग्रह गा. ४३; धवल पु. ७ पृ. १००।

ही किया गया है। यहाँ जीव सामान्य रूप है, इसलिए उसका ग्रहण दर्शन है। यहाँ पर सामान्य विशेषात्मक आत्मा का सामान्य शब्द के वाच्य रूप से ग्रहण किया है।[1]

शङ्का— जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय वह दर्शन है। यदि दर्शन का इस प्रकार लक्षण किया जाय तो ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रह जाती, दोनों एक हो जाते हैं ?

समाधान—नहीं क्योंकि अन्तर्मुख चित्प्रकाश (चैतन्य स्वरूपसंवेदन) को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है। इसलिए दोनों के एक होने में विरोध आता है।

शङ्का—अपने से भिन्न बाह्य पदार्थों के ज्ञान को प्रकाश कहते हैं इसलिए अन्तर्मुख चैतन्य प्रकाश और बहिर्मुख चैतन्य प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप को और पर-पदार्थों को जानता है, वह ज्ञान है। इस प्रकार की व्याख्या के सिद्ध हो जाने पर ज्ञान और दर्शन में एकता आ जाती है, इसलिए उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस तरह ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेष रूप से प्रतिनियत कर्म की व्यवस्था होती है, उस तरह दर्शन के द्वारा नहीं होती है, इसलिए इन दोनों में भेद है।[2]

अथवा अन्तरंगोपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। कारण यह है कि आकार का अर्थ कर्म (object) कर्तृत्व है, उसके बिना जो अर्थोपलब्धि होती है, उसे अनाकार उपयोग कहा जाता है।[3]

शङ्का—अंतरंग उपयोग में भी कर्मकर्तृत्व होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें कर्ता से भिन्न द्रव्य व क्षेत्र से स्पष्ट कर्म का अभाव है।[4]

शङ्का—आकार किसे कहते हैं ?

समाधान—प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं। अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है, वह आकार है। वह आकार जिस उपयोग में नहीं पाया जाता है वह उपयोग अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग कहलाता है।[5] सकल पदार्थों के समुदाय से अलग होकर बुद्धि के विषयभाव को प्राप्त हुआ कर्मकारक आकार कहलाता है।[6]

शङ्का—बाह्य अर्थ के ग्रहण के उन्मुख होने रूप जो अवस्था होती है, वही दर्शन है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, किन्तु बाह्यार्थ ग्रहण के उपसंहार के प्रथम समय से लेकर,

---

१. "अप्पत्थम्मि पउत्तसामण्णसद्दग्गहणादो।" [धवल पु. ७ पृ. १००] "जीवो सामण्णं णाम, तस्स गहणं दंसणं" [धवल पु. १३ पृ. ३५४] "सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्" [धवल पु. १ पृ. ३८०] ज. ध. १ पृ. ३। २. धवल पु. १ पृ. १४६। ३. धवल पु. ११ पृ. ३३३; धवल पु. १३ पृ. २०७। ४. धवल पु. ११ पृ. ३३३ व १३ पृ. २०७-२०८। ५. जयधवल पु. १ पृ. ३३१। ६. जयधवल पु. १ पृ. ३३८।

बाह्यार्थ के अग्रहण के अन्तिम समय तक दर्शनोपयोग होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना दर्शन व ज्ञानोपयोग से भिन्न भी जीव के अस्तित्व का प्रसंग आता है।[1]

आत्मविषयक उपयोग 'दर्शन' है। यह दर्शन ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि ज्ञान बाह्य अर्थ को विषय करता है। तथा बाह्य और अन्तरंग विषय वाले ज्ञान और दर्शन के एकता नहीं है, क्योंकि वैसा मानने में विरोध आता है। और न ज्ञान को ही दो शक्तियों से युक्त माना जासकता है, क्योंकि पर्याय के अन्य पर्याय का अभाव माना गया है।[2]

शङ्का—बाह्य पदार्थ को सामान्य रूप से ग्रहण करना दर्शन और विशेष ग्रहण का नाम ज्ञान है, ऐसा क्यों नहीं ग्रहण करते, क्योंकि कितने ही आचार्यों ने ऐसा कहा है ?

समाधान—यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि सामान्य ग्रहण के बिना विशेष के ग्रहण का अभाव होने से संसार अवस्था में अर्थात् छद्मस्थों के भी, केवली के समान, ज्ञान और दर्शन की अक्रम अर्थात् युगपत् प्रवृत्ति का प्रसंग आता है।[3] तथा 'सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन' ऐसी परिभाषा मान लेने पर ज्ञान और दर्शन की छद्मस्थ अवस्था में क्रमशः प्रवृत्ति भी नहीं बनती है, क्योंकि सामान्य से रहित विशेष कोई वस्तु नहीं है और अवस्तु में ज्ञान की प्रवृत्ति होने का विरोध है। यदि अवस्तु में ज्ञान की प्रवृत्ति मानी जाएगी तो ज्ञान के प्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह वस्तु का अपरिच्छेदक है। केवल विशेष कोई वस्तु भी नहीं है, क्योंकि उसके अर्थक्रिया की कर्तृता का अभाव है। इसलिए "सामान्य नाम आत्मा का है," क्योंकि वह सकल पदार्थों में (ज्ञान के द्वारा) साधारण रूप से व्याप्त है। इस प्रकार के सामान्य रूप आत्मा को विषय करने वाला उपयोग दर्शन है।[4]

केवलज्ञान ही अपने आप का और अन्य पदार्थों का जानने वाला है, इस प्रकार मानकर कितने ही लोग केवलदर्शन के अभाव को कहते हैं। किन्तु उनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान स्वयं पर्याय है। पर्याय के दूसरी पर्याय होती नहीं है, इसलिए केवलज्ञान के स्व और पर को जाननेवाली दो प्रकार की शक्तियों का अभाव है। यदि एक पर्याय के दूसरी पर्याय का सद्भाव माना जाएगा तो आनेवाला अनवस्था दोष किसी के द्वारा भी नहीं रोका जा सकता है, इसलिए आत्मा ही स्व और पर का जाननेवाला है। उनमें स्वप्रतिभास को केवलदर्शन और पर-प्रतिभास को केवलज्ञान कहते हैं।[5]

केवल सामान्य तो है नहीं, क्योंकि अपने विशेष को छोड़ कर केवल तद्भाव सामान्य और सादृश्यलक्षण सामान्य नहीं पाये जाते। यदि कहा जाय कि सामान्य के बिना सर्वत्र समान प्रत्यय और एक प्रत्यय की उत्पत्ति बन नहीं सकती है, इसलिए सामान्य नाम का स्वतन्त्र पदार्थ है, सो ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि एक का ग्रहण अनेकानुविद्ध होता है और समान का ग्रहण असमानानुविद्ध होता है। अतः सामान्यविशेषात्मक वस्तु को विषय करनेवाले जात्यन्तरभूत ज्ञानों की ही उत्पत्ति देखी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि सामान्य नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। तथा सामान्य से सर्वथा भिन्न विशेष नाम का भी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि सामान्य से अनुविद्ध

---

१. ध. पु. ११ पृ. ३३३। २. ध.पु. ६ पृ. ६. पु. १३ पृ. २०७-२०८। ३. ध.पु. ६ पृ. ३३ व पु. १३ पृ. २०८। ४. ध. पु. ६ पृ. ३३-३४। ५. ध. पु. ६ पृ. ३४।

होकर ही विशेष की उपलब्धि होती है। यदि सामान्य और विशेष का सर्वथा स्वतंत्र सद्भाव मान लिया जाये तो समस्त ज्ञान या तो संकर रूप हो जायेंगे या आलम्बन रहित हो जायेंगे। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर उनका ग्रहण ही नहीं हो सकता।[1]

अतः जबकि सामान्यविशेषात्मक वस्तु है तो केवलदर्शन को केवल सामान्य का विषय करने वाला मानने पर और केवलज्ञान को केवल विशेष का विषय करनेवाला मानने पर दोनों उपयोगों का अभाव प्राप्त होता है। केवल सामान्य और केवल विशेष रूप पदार्थ नहीं पाये जाते हैं। कहा भी है—

अद्दिट्ठं अण्णादं केवलि एसो हु भासइ सया वि।
एय समयम्मि हंदि हु वयणविसेसो ण संभवइ ॥१४०॥
अण्णादं पासंतो अविट्ठमरहा सया वियाणंतो।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्हु त्ति वा होइ ॥१४१॥[2]

यदि दर्शन का विषय केवल सामान्य और ज्ञान का विषय केवल विशेष माना जाय तो केवली जिन जो अदृष्ट हैं ऐसे ज्ञात पदार्थ को तथा जो अज्ञात है ऐसे दृष्ट पदार्थ को ही सदा कहते हैं, यह आपत्ति प्राप्त होती है। इसलिए एक समय में ज्ञात और दृष्ट पदार्थ को केवली जिन कहते हैं यह वचन विशेष नहीं बन सकता है। अज्ञात पदार्थ को देखते हुए और अदृष्ट पदार्थ को जानते हुए अरहन्त देव क्या जानते हैं और क्या देखते हैं? तथा उनके सर्वज्ञता भी कैसे बन सकती है।

उपर्युक्त दोष प्राप्त न हो, इसलिए अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है और बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाला प्रकाश केवलज्ञान है। ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। दोनों उपयोगों की एक साथ प्रवृत्ति मानने में विरोध भी नहीं आता, क्योंकि उपयोगों की क्रमवृत्ति कर्म का कार्य है और कर्म का अभाव हो जाने से उपयोग की क्रमवृत्ति का अभाव हो जाता है। इसलिए निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन की क्रमवृत्ति के मानने में विरोध आता है।[3]

शङ्का—आत्मा को विषय करने वाले उपयोग को दर्शन स्वीकार कर लेने पर आत्मा में कोई विशेषता नहीं होने से चारों (चक्षु-अचक्षु-अवधि और केवल) दर्शनों में भी कोई भेद नहीं रह जाएगा।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो दर्शन जिस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला स्वरूप-संवेदन है, उसे उसी नाम का दर्शन कहा जाता है। चक्षु इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए ज्ञान के विषय भाव को प्राप्त जितने पदार्थ हैं, उतने ही आत्मा में स्थित क्षयोपशम उन-उन संज्ञाओं को प्राप्त होते हैं। और उनके निमित्त से आत्मा भी उतने प्रकार का हो जाता है। अतः इस प्रकार की शक्तियों से युक्त आत्मा के संवेदन करने को दर्शन कहते हैं।[4] ज्ञान का उत्पादन करने वाले प्रयत्न से सम्बद्ध स्वसंवेदन, अर्थात् आत्मविषयक उपयोग को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन में ज्ञान

---

१. जयधवल पु. १ पृ. ३५३ द्वितीयावृत्ति के पृष्ठ ३२१-२२। २. जयधवल पु. १ पृ. ३५६ गा. १४०-४१।
३. जयधवल पु. १ पृ. २५६-२५७। ४. धवल पु. १ पृ. ३८१-३८२।

के उत्पादक प्रयत्न की पराधीनता नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रयत्न रहित क्षीणावरण और अन्तरंग उपयोग वाले केवली के अदर्शनत्व का प्रसंग आता है।[1]

आगे होने वाले ज्ञान की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न, उस रूप अथवा निज आत्मा का जो परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन, वह दर्शन है। उसके अनन्तर बाह्य विषय में विकल्प रूप से जो पदार्थ का ग्रहण है, वह ज्ञान है। जैसे कोई पुरुष पहले घटविषयक विकल्प करता हुआ स्थित है, पश्चात् उसका चित्त पट को जानने के लिए होता है। तब वह पुरुष घट के विकल्प से हटकर स्वरूप में जो प्रयत्न अवलोकन-परिच्छेदन करता है, वह दर्शन है। उसके अनन्तर 'यह पट है' ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषय रूप से पदार्थ के ग्रहण रूप जो विकल्प होता है, वह ज्ञान है।[2]

शिष्य **प्रश्न** करता है—यदि अपने को ग्रहण करने वाला दर्शन और पर-पदार्थों को ग्रहण करने वाला ज्ञान है, तो नैयायिक के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है, वैसे ही जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा दूषण आता है?

समाधान—नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन पृथक्-पृथक् दो गुण नहीं हैं। इस कारण उन नैयायिकों के मत में 'आत्मा को जानने के अभाव रूप' दूषण आता है, किन्तु जैन सिद्धान्त में आत्मा ज्ञान गुण से पर-पदार्थ को जानता है तथा दर्शन गुण से आत्मा स्व को जानता है, इस कारण जैनमत में 'आत्मा को न जानने का' दूषण नहीं आता है।[3]

शङ्का—यह दूषण क्यों नहीं आता?

समाधान—जैसे एक ही अग्नि जलाती है अतः वह दाहक है और पकाती है, इस कारण वह पाचक है, विषय के भेद से दाहक व पाचक रूप अग्नि दो प्रकार की है। उसी प्रकार अभेद नय से चैतन्य एक ही है, भेद नय की विवक्षा में, जब आत्मा को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है तब उसका नाम 'दर्शन' है; और फिर जब वह पर-पदार्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उस चैतन्य का नाम 'ज्ञान' है। इस प्रकार विषयभेद से चैतन्य दो प्रकार का होता है।

तर्क के अभिप्राय से (पर-मतों की अर्थात् पर-मत वालों को समझाने की दृष्टि से) सत्तावलोकन रूप दर्शन है, ऐसा व्याख्यान है। सिद्धान्त के अभिप्राय से आत्मावलोकन रूप दर्शन है।[4]

यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जानकर, एकान्त दुराग्रह का त्याग करके, नयों के विभाग से मध्यस्थता को धारण करके व्याख्यान करता है, तो तर्क-अर्थ व सिद्धान्त-अर्थ दोनों ही सिद्ध होते हैं। तर्क में मुख्यता से अन्य मतों का व्याख्यान है। अन्य मत वाले 'आत्मा को ग्रहण करनेवाला दर्शन है' इस बात को नहीं समझते। तब आचार्यों ने प्रतीति कराने के लिए स्थूल व्याख्यान से 'बाह्य विषय में जो सामान्य का ग्रहण है' उसका नाम दर्शन स्थापित किया। बाह्य विषय में जो विशेष का जानना है उसका नाम ज्ञान स्थापित किया। अतः दोष नहीं है, सिद्धान्त में मुख्यता से निजसमय का व्याख्यान है, इसलिए सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यों ने 'जो आत्मा का ग्राहक है' उसे दर्शन कहा है। अतः इसमें भी दोष नहीं है।[5]

---

१. धवल पु. ६ पृ. ३२-३३। २. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ४४ की टीका। ३. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ४४ की टीका। ४. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ४४ की टीका। ५. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ४४ की टीका।

शङ्का—द्वादशाङ्ग के समवाय नामक चौथे अङ्ग में 'भाव की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है ज्ञेय प्रमाण है" ऐसा कहा गया है।[1] किन्तु त्रिकालगोचर अनन्त बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति करने वाला केवलज्ञान और त्रिकालगोचर अपनी आत्मा में प्रवृत्ति करने वाला केवलदर्शन, इन दोनों में समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान—आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालगोचर अनन्त द्रव्य-पर्याय प्रमाण है, इसलिए ज्ञान और दर्शन में समानता है।[2] विशेष यह है कि जब दर्शन से आत्मा का ग्रहण होता है तब आत्मा में व्याप्त ज्ञान का भी दर्शन द्वारा ग्रहण हो जाता है। ज्ञान के ग्रहण हो जाने पर ज्ञान की विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है।[3] इस प्रकार ज्ञान व दर्शन का विषय एक हो जाने से दोनों समान हैं।

शङ्का—तो फिर जीव में रहने वाली स्वकीय पर्यायों की अपेक्षा ज्ञान से दर्शन अधिक है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यह बात इष्ट ही है।

शङ्का—फिर ज्ञान के साथ दर्शन की समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान—समानता नहीं हो सकती, यह बात नहीं है क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा करने वाले उन दोनों में समानता स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता[4]। कहा भी है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोअालोअं तम्हा णाणं तु सव्व-गयं ॥१६८॥[5]

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है इसलिए ज्ञान सर्वगत है। ज्ञान के बराबर आत्मा है। दर्शन का विषय आत्मा होने से दर्शन आत्मप्रमाण है। इस प्रकार ज्ञान और दर्शन समान सिद्ध हो जाते हैं। जितने अविभाग प्रतिच्छेद केवलज्ञान के हैं उतने ही अविभाग-प्रतिच्छेद केवलदर्शन के हैं, इस अपेक्षा भी केवलज्ञान केवलदर्शन समान हैं। ज्ञान सर्वगत है और आत्मा ज्ञानप्रमाण है अतः आत्मा भी सर्वगत है। जो सर्वगत है वह सामान्य है। इस प्रकार सामान्य शब्द से आत्मा का ग्रहण हो जाता है।

चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शन का स्वरूप

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं बेंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति ॥४८४॥[6]

परमाणुआदियाइं अंतिमखंधत्ति मुत्तिदव्वाइं।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥४८५॥[7]

---

१. ध. पु. १ पृ. १०१। २. ध. पु. १ पृ. १८५। ३. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ४४ की टीका। ४. धवल पु. १ पृ. ३८५। ५. धवल पु. १ पृ. ३८६; प्रवचनसार १/२३। ६. धवल पु. १ पृ. ३८२, पु. ७ पृ. १००; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १३९। ७. धवल पु. १ पृ. ३८२, पु. ७ पृ. १००; जयधवल पु. १ पृ. ३५७; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १४०।

गाथार्थ—जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है वह चक्षुदर्शन है। शेष इन्द्रियों से जो प्रतिभास होता है वह अचक्षुदर्शन है ॥४८४॥ परमाणु को आदि लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त मूर्त पदार्थों को जो प्रत्यक्ष देखता है वह अवधिदर्शन है ॥४८५॥

विशेषार्थ—शङ्का—इन सूत्र वचनों में दर्शन की प्ररूपणा बाह्यार्थ रूप से की गई है।[1] अत: दर्शन का विषय अन्तरंग पदार्थ (आत्मा) है, इसका इन सूत्रवचनों द्वारा खंडन हो जाता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि तुमने इन गाथाओं का परमार्थ नहीं समझा।

शङ्का—वह परमार्थ कौनसा है?

समाधान—'जो चक्षुओं को प्रकाशित होता है अर्थात् दिखता है अथवा आँख द्वारा देखा जाता है, वह चक्षुदर्शन है। इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान के पूर्व ही जो सामान्य स्वशक्ति का अनुभव होता है और जो चक्षु ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त रूप है, वह चक्षुदर्शन है।[2]

शङ्का—उस चक्षुइन्द्रिय के विषय से प्रतिबद्ध अन्तरंग शक्ति में चक्षुइन्द्रिय की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं, बालजनों को ज्ञान कराने के लिए अन्तरंग में बहिरंग पदार्थों के उपचार से चक्षुओं को दिखता है, वही चक्षुदर्शन है; ऐसा प्ररूपण किया गया है।

शङ्का—गाथा का गला न घोंटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते?

समाधान—नहीं करते, क्योंकि वैसा करने में तो पूर्वोक्त समस्त दोषों का प्रसंग आता है।

गाथा ४८४ के उत्तरार्ध का शब्दार्थ इस प्रकार है—'जो देखा गया है, अर्थात् जो पदार्थ शेष इन्द्रियों के द्वारा जाना गया है उससे जो ज्ञान होता है उसे चक्षुदर्शन जानना चाहिए। इसका परमार्थ चक्षुइन्द्रिय के अतिरिक्त शेष इन्द्रियज्ञानों की उत्पत्ति से पूर्व ही अपने विषय में प्रतिबद्ध स्वशक्ति का अचक्षुदर्शन की उत्पत्ति का निमित्तभूत जो सामान्य से संवेद या अनुभव होता है वह अचक्षुदर्शन है ऐसा कहा गया है।[3]

द्वितीय गाथा (४८५) का अर्थ इस प्रकार है—'परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जितने मूर्तिक द्रव्य हैं उनको जिसके द्वारा साक्षात् देखता है या जानता है, वह अवधिदर्शन है, ऐसा जानना चाहिए।' इसका परमार्थ—परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जो पुद्गल द्रव्य स्थित है, उनके प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्व ही जो अवधिज्ञान की उत्पत्ति का निमित्तभूत स्वशक्तिविषयक उपयोग होता है, वही अवधिदर्शन है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं रहता।[4]

---

१. धवल पु. ७ पृ. १००। २. धवल पु. ७ पृ. १००-१०१। ३. धवल पु. ७ पृ. १०१। ४. धवल पु. ७ पृ. १०२।

"परमाणुआदियाइं" इत्यादि ४८५ गाथा में विषय के निर्देश द्वारा विषयी का निर्देश किया है, क्योंकि अन्तरंग विषय का निरूपण अन्य प्रकार से किया नहीं जा सकता है। अर्थात् अवधिज्ञान का विषय मूर्तिक पदार्थ है, अतः अवधिदर्शन के विषयभूत अन्तरंग पदार्थ को बतलाने का अन्य कोई प्रकार न होने के कारण मूर्तिक पदार्थ का अवलम्बन लेकर उसका निर्देश किया गया है।[1]

चाक्षुष विज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो स्वसंवेदन है वह चक्षुदर्शन है। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्शन और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के कारणभूत स्वसंवेदन का नाम अचक्षुदर्शन है। परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गल द्रव्य को विषय करने वाले अवधिज्ञान के कारणभूत स्वसंवेदन का नाम अवधिदर्शन है।[2]

केवलदर्शन का स्वरूप

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।
लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥४८६॥[3]

गाथार्थ—अपने-अपने अनेक प्रकार के भेदों से युक्त बहुत प्रकार के उद्योत इस परिमित क्षेत्र में ही पाये जाते हैं। परन्तु जो केवलदर्शन रूपी उद्योत है, वह लोक और अलोक को भी तिमिर-रहित कर देता है॥४८६॥

विशेषार्थ—अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है और बहिरंग पदार्थों को विषय करनेवाला प्रकाश केवलज्ञान है।

शङ्का—चूंकि केवलज्ञान स्व और पर दोनों का प्रकाशक है, इसलिए केवलदर्शन नहीं है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। इस विषय की गाथा भी है—

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दंसणस्स य विसेसो।
केवलियं णाणं पुण णाणं त्ति य दंसणं ति य समाणं ॥१४३॥[4]

—मनःपर्यय ज्ञान पर्यन्त ज्ञान और दर्शन दोनों में भेद है। परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा तो ज्ञान और दर्शन समान हैं।

समाधान—उन आचार्यों का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान स्वयं पर्याय है, इसलिए उसकी दूसरी पर्याय हो नहीं सकती। अर्थात् यदि केवलज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक माना जाएगा तो उसकी एक काल में स्वप्रकाश रूप और परप्रकाशरूप दो पर्यायें माननी पड़ेंगी। किन्तु केवलज्ञान स्वयं परप्रकाश रूप एक पर्याय है। अतः उसकी स्वप्रकाशक रूप दूसरी पर्याय नहीं हो सकती। पर्याय की पर्याय होती है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो पहली पर्याय की दूसरी पर्याय, उसकी तीसरी पर्याय इस प्रकार उत्तरोत्तर पर्याय संतति प्राप्त होती है, इसलिए

१. जयधवल पु. १ पृ. ३५७। २. धवल पु. १३ पृ. ३५५। ३. ध.पु. १ पृ. ३८२; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १४१।
४. जयधवल पु. १ पृ. ३५७-३५८।

अनवस्थादोष आता है। दूसरे, पर्याय की पर्याय मानने से पर्याय द्रव्य हो जाती है। इस प्रकार पर्याय की पर्याय मान कर भी 'केवलदर्शन' केवलज्ञान रूप नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि केवलदर्शन अव्यक्त है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो आवरण से रहित है और सामान्य विशेषात्मक अन्तरंग पदार्थ के अवलोकन में लगा हुआ है ऐसे केवलदर्शन को अव्यक्त रूप स्वीकार करने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि केवलदर्शन को व्यक्त स्वीकार करने से केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनों की समानता (एकता) नष्ट हो जाएगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि परस्पर के भेद से इन दोनों में भेद है। दूसरे, यदि दर्शन का सद्भाव न मानाजाय तो दर्शनावरण के बिना सात ही कर्म होंगे, क्योंकि आवरण करने योग्य दर्शन का अभाव मानने पर उसके आवारक कर्म का सद्भाव मानने में विरोध आता है।[1]

चक्षुदर्शनी आदि जीवों की संख्या

जोगे चउरक्खाणं पंचक्खाणं च खीणचरिमाणं।
चक्खूणमोहिकेवलपरिमाणं ताण णाणं च ॥४८७॥
एइंदियपहुदीणं खीणकसायंतणंतरासीणं।
जोगो अचक्खुदंसणजीवाणं होदि परिमाणं ॥४८८॥

गाथार्थ—क्षीणकषाय गुणस्थान तक जितने चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीव हैं उनका जोड़ रूप चक्षुदर्शनी जीवों की संख्या है। जितनी अवधिज्ञानियों की संख्या है उतने ही अवधिदर्शनी जीव हैं और जितने केवलज्ञानी हैं उतने ही केवलदर्शनी जीव हैं ॥४८७॥ एकेन्द्रिय से लेकर क्षीणकषाय तक जितने जीव हैं उनके जोड़ स्वरूप अचक्षुदर्शनियों की संख्या है ॥४८८॥

विशेषार्थ—चक्षुदर्शनी द्रव्यप्रमाण से असंख्यात हैं, कालप्रमाण की अपेक्षा असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं, क्षेत्र की अपेक्षा सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग का वर्ग करके उसका जगत्प्रतर में भाग देने पर चक्षुदर्शनी जीवों की संख्या प्राप्त होती है।[2]

यदि चक्षुदर्शनावरण क्षयोपशम से उपलक्षित चतुरिन्द्रियादि अपर्याप्त राशि का ग्रहण किया जाय तो प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग से जगत्प्रतर अपहृत होता है, परन्तु उसे यहाँ नहीं ग्रहण किया।[3] क्योंकि चक्षु-इन्द्रिय के प्रतिघात के नहीं रहने पर चक्षुदर्शनोपयोग के योग्य चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम वाले जीव चक्षुदर्शनी कहे जाते हैं, इसलिए यहाँ पर लब्ध्यपर्याप्त जीवों का ग्रहण नहीं होता है। लब्ध्यपर्याप्त जीव चक्षुइन्द्रिय की निष्पत्ति से रहित होते हैं, इसलिए उनमें चक्षुदर्शनोपयोग से युक्त चक्षुदर्शनरूप क्षयोपशम नहीं पाया जाता है। तथा चक्षुदर्शन वाले जीवों की स्थिति संख्यात सागरोपम मात्र होती है, यह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर क्षयोपशम की प्रधानता स्वीकार की है। इसलिए चक्षुदर्शनी जीवों का अवहारकाल (भागाहार) प्रतरांगुल का संख्यातवाँ भाग मात्र होता है, यह कथन सिद्ध होता है। क्योंकि यहाँ पर चक्षुदर्शनी जीवों के

---

१. जयधवल पु. १ पृ. ३५८-३५९। २. ध.पु. ७ पृ. २९०-२९१ सूत्र १४०-१४३। ३. ध.पु. ७ पृ. २९१।

प्रमाण के कथन में चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की प्रधानता स्वीकार की है।[1]

अचक्षुदर्शनी जीव मिथ्यादृष्टि (एकेन्द्रिय) से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं, क्योंकि अचक्षुदर्शन के क्षयोपशम से रहित छद्मस्थ जीव नहीं पाये जाते हैं।[2] इन बारह गुणस्थानवर्ती जीवों की जितनी संख्या है, वही अचक्षुदर्शनियों का प्रमाण है, जो अनन्तानन्त है।

अवधिदर्शनियों का प्रमाण अवधिज्ञानियों के समान है, क्योंकि अवधिदर्शन को छोड़कर अवधिज्ञानी जीव नहीं पाये जाते हैं, इसलिए दोनों का प्रमाण समान है।[3]

केवलदर्शनी जीव केवलज्ञानियों के समान है, क्योंकि केवलज्ञान से रहित केवलदर्शनी जीव नहीं पाये जाते हैं।[4]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **दर्शनमार्गणा** नामका चौदहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१५. लेश्यामार्गणाधिकार

लेश्या का लक्षण

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥४८९॥[5]
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४९०॥

गाथार्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके अधीन करता है वह लेश्या है, ऐसा लेश्या के स्वरूप को जानने वाले गणधरदेवादि ने कहा है ॥४८९॥ योगप्रवृत्ति लेश्या है। जब योगप्रवृत्ति कषायोदय से अनुरंजित होती है तब योग-प्रवृत्ति और कषायोदय इन दोनों का कार्य बंधचतुष्करूप परमागम में कहा गया है ॥४९०॥

विशेषार्थ—जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है वह लेश्या है। जो आत्मा और प्रवृत्ति (कर्म) का संश्लेष सम्बन्ध कराने वाली है, वह लेश्या है। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता, क्योंकि यहाँ पर प्रवृत्ति शब्द कर्म का पर्यायवाची ग्रहण किया है।[6] यदि केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्पत्ति मानी जाती तो क्षीणकषाय जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आता, किन्तु शरीर नाम कर्मोदय से योग भी तो लेश्या है क्योंकि वह भी कर्मबन्ध में निमित्त होता है। कषाय के नष्ट हो जाने पर भी योग रहता है इसलिए क्षीणकषाय जीवों के लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता।[7] अथवा कषाय से अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोग की

---

१. ध.पु. ३ पृ. ४५४। २. ध.पु. ३ पृ. ४५४। ३. ध.पु. ३ पृ. ४५५-४५६ सूत्र १६०। ४. ध.पु. ३ पृ. ४५६ सूत्र १६१। ५. धवल पु. १ पृ. १५०; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १४२। ६. धवल पु. १ पृ. १४९; पु.७ पृ. ७, पु. ८ पृ. ३५६। ७. धवल पु.७ पृ.१०५।

प्रवृत्ति को लेश्या कहते है।[1] इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय और केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इससे वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं, ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषायप्रधान नहीं है, क्योंकि वह योग-प्रवृत्ति का विशेषण है।[2]

शङ्का—लेश्या अनुवाद अर्थात् लेश्यामार्गणा अनुवाद में 'लेश्या' शब्द से क्या कहा गया है?

समाधान—जो कर्मस्कन्ध से आत्मा को लिप्त करती है, वह लेश्या है। यहाँ पर 'कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं' यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इस अर्थ को ग्रहण करने पर सयोगकेवली को लेश्यारहितपने की आपत्ति प्राप्त होती है।

शङ्का—यदि सयोगकेवली को लेश्यारहित मान लिया जावे तो क्या हानि है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर सयोगकेवली के शुक्ल लेश्या होती है, इस वचन का व्याघात हो जाता है।[3]

शङ्का—'लेश्या' योग को कहते हैं, अथवा कषाय को, या योग और कषाय दोनों को कहते हैं? इनमें से आदि के दो विकल्प अर्थात् योग या कषाय रूप तो लेश्या मानी नहीं जा सकती, क्योंकि वैसा मानने पर योगमार्गणा और कषायमार्गणा में ही उसका अन्तर्भाव हो जाएगा। तीसरा विकल्प भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह भी आदि के दो विकल्पों के समान है।

समाधान—शंकाकार ने जो तीन विकल्प उठाये हैं, उनमें से पहले और दूसरे विकल्प में दिये गये दोष तो प्राप्त नहीं होते, क्योंकि लेश्या को केवल योगरूप और केवल कषाय रूप माना ही नहीं। उसी प्रकार तृतीय विकल्प में दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि योग और कषाय इन दोनों का किसी एक में अन्तर्भाव मान लेने पर विरोध आता है (दो का किसी एक में अन्तर्भाव नहीं हो सकता)। यदि कहा जाय कि लेश्या को दो रूप मान लिया जाये जिससे उसका योग और कषाय इन दोनों मार्गणाओं में अन्तर्भाव हो जाए, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मलेपरूप एक कार्य को करने वाले होने की अपेक्षा एकपने को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या माना है। यदि कहा जाए कि एकता को प्राप्त हुए योग और कषाय रूप लेश्या होने से उन दोनों में लेश्या का अन्तर्भाव हो जाएगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए द्वयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त हुई लेश्या की, केवल किसी एक के साथ समानता मान लेने में विरोध आता है।

शङ्का—योग और कषाय के कार्य से भिन्न लेश्या का कार्य नहीं पाया जाता, इसलिए उन दोनों से भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती?

समाधान—नहीं, क्योंकि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदि के आलम्बन-रूप आचार्यादि बाह्य पदार्थ के सम्पर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायों से केवल

---

१. धवल पु. १ पृ. १४९, पु. १६ पृ. ४८५, स. सि. २/६; रा.वा. २/६/८; पंचास्तिकाय गा. ११९ टीका।
२. धवल पु. १ पृ. १४९-१५०। ३. धवल पु. १ पृ. ३८६।

योग और केवल कषाय के कार्य से भिन्न संसार की वृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि होती है जो केवल योग और केवल कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए लेश्या उन दोनों से भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—संसार की वृद्धि का हेतु लेश्या है, ऐसी प्रतिज्ञा करने पर 'जो लिप्त करती है वह लेश्या है' इस वचन के साथ विरोध आता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि कर्मलेप की अविनाभावी होने रूप से संसार की वृद्धि को भी लेश्या ऐसी संज्ञा देने से कोई विरोध नहीं आता है। अतः इन दोनों से पृथग्भूत लेश्या है, यह बात निश्चित हो जाती है।[1]

शङ्का—यदि बन्ध के कारणों को ही लेश्या कहा जाता है तो प्रमाद को भी लेश्या भाव क्यों न मान लिया जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रमाद का कषाय में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

शङ्का—असंयम को भी लेश्या भाव क्यों नहीं मानते?[2]

समाधान—नहीं, क्योंकि असंयम का भी तो लेश्याकर्म में अन्तर्भाव हो जाता है।

शङ्का—मिथ्यात्व को लेश्या भाव क्यों नहीं मानते?

समाधान—मिथ्यात्व को लेश्या कह सकते हैं, क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं आता। किन्तु यहाँ कषायों का ही प्राधान्य है। क्योंकि कषाय ही हिंसादि रूप लेश्या कर्म के कारण हैं और अन्य बन्ध-कारणों में उनका अभाव है।[3]

अथवा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग लेश्या हैं।[4] अथवा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से उत्पन्न हुए जीव के संस्कार भावलेश्या हैं।[5] कर्मपुद्गल के ग्रहण में कारणभूत मिथ्यात्व असंयम और कषाय से अनुरंजित योग-प्रवृत्ति नोआगमभाव लेश्या है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, कषाय और असंयम से उत्पन्न संस्कार का नाम नोआगमभाव लेश्या है।[6]

लेश्यामार्गणा के अधिकार

णिद्देसवण्णपरिणामसंकमो कम्मलक्खणगदी य।
सामी साहणसंखा खेत्तं फासं तदो कालो ॥४६१॥
अंतरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंति त्ति।
लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि ॥४६२॥

---

१. ध. पु. १ पृ. ३८७-३८८। २. ध. पु. ७ पृ. १०५। ३. ध.पु. ७ पृ. १०५। ४. ध.पु ८ पृ. ३५६। ५. ध.पु. १६ पृ. ४८८। ६. ध.पु. १६ पृ. ४८५।

गाथार्थ—निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, लेश्यासाधन के लिए ये सोलह अधिकार हैं। उनके द्वारा यथाक्रम, कथन किया जाएगा ।।४९१-४९२।।

विशेषार्थ—[1]लेश्या का निक्षेप करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना प्रकृतलेश्या का अवगम नहीं हो सकता। उसका निक्षेप इस प्रकार है—नामलेश्या, स्थापनालेश्या, द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। इस तरह लेश्या चार प्रकार की है। उनमें 'लेश्या' यह शब्द नामलेश्या है। सद्भावस्थापना (जैसे वृक्ष के फल खाने वाले छह व्यक्तियों का चित्र) और असद्भावस्थापना रूप से जो लेश्या की स्थापना की जाती है वह स्थापना लेश्या है। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का आगे वर्णन किया जाएगा। निर्देशादि का स्वयं ग्रंथकार ने गाथाओं द्वारा कथन किया है। अतः यहाँ पर उसका कथन नहीं किया गया है। कुछ यहाँ भी कहा जाता है।

किसी वस्तु के स्वरूप का कथन करना **निर्देश** है।[2] जो देखा जाता है वह **वर्ण** है।[3] कषायोदय से होने वाले जीव के भाव **परिणाम** कहलाते हैं। एक लेश्या से पलट कर दूसरी लेश्या का होना **संक्रम** है, इत्यादि।

निर्देश के द्वारा लेश्या का निरूपण

किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ।।४९३।।

गाथार्थ—लेश्या के नियम से ये छह निर्देश हैं— कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या (पीत लेश्या), पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या ।।४९३।।

विशेषार्थ—उदय में आये हुए कषायानुभाग के स्पर्धकों के जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक स्थापित करके उनको छह भागों में विभक्त करने पर प्रथम भाग मन्दतम कषायानुभाग का है और उस के उदय से जो कषाय उत्पन्न होती है, उसी का नाम **शुक्ल लेश्या** है। दूसरा भाग मन्दतर कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न हुई कषाय का नाम **पद्म लेश्या** है। तृतीय भाग मन्द कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय **तेजोलेश्या** है। चतुर्थभाग तीव्र कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय **कापोत लेश्या** है। पाँचवाँ भाग तीव्रतर कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय को **नील लेश्या** कहते हैं। छठा भाग तीव्रतम कषायानुभाग का है और उससे उत्पन्न कषाय का नाम **कृष्ण लेश्या** है।[4]

लेश्या छह ही होती हैं, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से लेश्यायें असंख्यात लोकमात्र हैं, परन्तु द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वे लेश्यायें छह ही होती हैं।[5]
इन छहों लेश्याओं में से प्रत्येक अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि के क्रम से छह स्थानों में पतित है।[6] इस

---

१. ध.पु. १६ पृ. ४८४। २. सर्वार्थसिद्धि १/७। ३. सर्वार्थसिद्धि २/२०। ४. ध.पु. ७ पृ. १०४। ५. "पज्जवणयप्पणाए लेस्साओ असंखे. लोगमेत्ताओ, दव्वट्ठियणयप्पणाए पुण लेस्साओ छच्चेव होंति।" [ध.पु. १६ पृ. ४८५]। ६. एदाओ छप्पि लेस्साओ अणंतभागवड्ढि-असंखे.भागवड्ढि-संखे.भागवड्ढि-संखे. गुणवड्ढि-असंखे. गुणवड्ढि-अणंतगुणवड्ढि कमेण पदिक्कं छट्ठाणपदिदाओ।" [ध.पु. १६ पृ. ४८८]।

प्रकार षट्स्थानपतितहानिवृद्धि के कारण लेश्याओं के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हो जाते हैं।

गाथा में द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से "नियम से छह लेश्या होती हैं" ऐसा कहा गया है। पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से छह लेश्या का नियम नहीं है।

वर्ण की अपेक्षा लेश्या का वर्णन

वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ।।४६४।।
छप्पयणीलकवोद-सुहेमंबुजसंखसण्णिहा वण्णे।
संखेज्जासंखेज्जाणंत-वियप्पा य पत्तेयं ।।४६५।।

गाथार्थ—वर्ण नाम कर्मोदय-जनित शरीर का वर्ण द्रव्य लेश्या है। वह कृष्ण आदि के भेद से ६ प्रकार की है। तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक हैं। षट्पद अर्थात् भ्रमर, नीलमणि, कबूतर, सुवर्ण, अम्बुज (कमल) और शंख के समान इन छह लेश्याओं के वर्ण होते हैं। इनमें से प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं ।।४६४-४६५।।

विशेषार्थ—चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल स्कन्धों के वर्ण को तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यलेश्या कहते हैं। वह छह प्रकार की है—कृष्णलेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या। उनमें कृष्ण लेश्या भ्रमर, अंगार (कोयला) और कज्जल आदि के होती है। नीम, कदली और दाव के पत्तों आदि के नील लेश्या होती है। छार, खर और कबूतर आदि के कापोत लेश्या है। कुंकुम, जपाकुसुम और कसूम कुसुम आदि की तेजोलेश्या है। तडवडा और पद्मपुष्पादिकों के पद्मलेश्या होती है। हंस और वलाका आदि की शुक्ल लेश्या होती है।[1] कहा भी है—

किण्णं भमरसवण्णा णीला पुण णीलिगुणियसंकासा।
काऊ कवोदवण्णा तेऊ तवणिज्जवण्णाभा ।।१।।
पम्मा पउमसवण्णा सुक्का पुण कासकुसुम संकासा।
किण्णादिदव्वलेस्सावण्णविसेसा मुणेयव्वा ।।२।।[2]

कृष्णलेश्या भ्रमर के सदृश, नीललेश्या नील गुण वाले के सदृश, कापोत लेश्या कबूतर जैसे वर्णवाली, तेजलेश्या सुवर्ण जैसी प्रभावाली, पद्मलेश्या पद्म के वर्ण समान और शुक्ललेश्या कांस के फूल समान होती है। इन कृष्ण आदि द्रव्यलेश्याओं को क्रम से उक्त वर्ण विशेषों रूप जानना चाहिए।

द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा होने पर द्रव्यलेश्या छह प्रकार की है। पर्यायार्थिक नय की विवक्षा होने पर तरतमता की अपेक्षा संख्यात व असंख्यात प्रकार की है। अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनन्त प्रकार की है। जैसे प्रत्येक लेश्या के उत्कृष्ट, जघन्य व मध्य ये तीन भेद होते हैं;

---

१. ध.पु. १६ पृ. ४८४। २. ध.पु. १६ पृ. ४८५; प्रा.पं.सं.अ. १ गा. १८३-१८४ पृ. ३८।

इसी प्रकार संख्यात व असंख्यात भेद प्रत्येक लेश्या के सिद्ध कर लेना चाहिए। जघन्य में भी अविभागप्रतिच्छेद अनन्त होते हैं अतः अविभाग प्रतिच्छेद की अपेक्षा अनन्त विकल्प हो जाते हैं।

गति में शरीर की अपेक्षा लेश्या का कथन

णिरया किण्हा कप्पा भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये।
उत्तरदेहे छक्कं भोगे-रविचंदहरिदंगा ॥४९६॥

बादर-आऊतेऊ सुक्कातेऊय वाउकायाणं।
गोमुत्तमुग्गवण्णा कमसो अव्वत्तवण्णो य ॥४९७॥

सव्वेसिं सुहुमाणं कावोदा सव्व विग्गहे सुक्का।
सव्वो मिस्सो देहो कवोदवण्णो हवे णियमा ॥४९८॥

गाथार्थ—सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण हैं। कल्पवासी देवों में भावलेश्या के अनुसार द्रव्यलेश्या होती है। भवनत्रिक, मनुष्य व तिर्यंचों में छहों द्रव्यलेश्या होती हैं और उत्तरशरीर की अपेक्षा भी छहों द्रव्यलेश्या होती हैं। उत्तमभोगभूमिया का, मध्यमभोगभूमिया का और जघन्यभोगभूमिया का शरीर क्रम से सूर्य, चन्द्रमा और हरित वर्ण वाला होता है ॥४९६॥ बादर जलकायिक व बादर तैजसकायिक की द्रव्यलेश्या क्रम से शुक्ल व तैजस (पीत) लेश्या होती है। वायुकायिक में घनोदधिवात, घनवात व तनुवात का वर्ण क्रम से गोमूत्र, मूंग सदृश वर्ण और तीसरे तनुवात का वर्ण अव्यक्त है ॥४९७॥ सर्व सूक्ष्मों की द्रव्यलेश्या कापोत है, विग्रहगति में सबकी द्रव्यलेश्या शुक्ल है। अपर्याप्त अवस्था में विद्यमान सभी जीवों की मिश्रदेह का वर्ण कापोत है ॥४९८॥

विशेषार्थ—शरीर के आश्रय से छहों लेश्याओं की प्ररूपणा इस प्रकार है—तिर्यंचयोनिवालों के शरीर छहों लेश्या वाले होते हैं। कितने ही शरीर कृष्णलेश्या वाले, कितने ही नीललेश्या वाले, कितने ही कापोतलेश्या वाले, कितने ही तेज (पीत) लेश्या वाले, कितने ही पद्मलेश्या वाले और कितने ही शुक्ललेश्या वाले होते हैं। तिर्यंचयोनिनियों, मनुष्यों और मनुष्यिनियों के भी छहों लेश्यायें होती हैं। देवों (वैमानिक देवों) के शरीर मूल निर्वर्तना की अपेक्षा तेज, पद्म और शुक्ल इन तीन लेश्याओं से युक्त होते हैं। परन्तु उत्तर निर्वर्तना की अपेक्षा उनके शरीर छहों लेश्याओं से संयुक्त होते हैं। देवियों के शरीर मूल निर्वर्तना की अपेक्षा तेजलेश्या से संयुक्त होते हैं, परन्तु उत्तर निर्वर्तना की अपेक्षा वे छहों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या से संयुक्त होते हैं। नारकियों के शरीर कृष्णलेश्या से संयुक्त होते हैं। पृथिवीकायिकों के शरीर छहों लेश्याओं में किसी भी लेश्या से संयुक्त होते हैं। अप्कायिक जीवों के शरीर शुक्ललेश्या वाले होते हैं। अग्निकायिक जीवों के शरीर तेजोलेश्या से युक्त होते हैं। वायुकायिकों के शरीर कापोत लेश्या वाले तथा वनस्पतिकायिकों के शरीर छहों लेश्या वाले होते हैं। सब सूक्ष्म जीवों के शरीर कापोतलेश्या से संयुक्त होते हैं। बादर अपर्याप्तकों का कथन बादर पर्याप्तकों के समान है। (किन्तु शुक्ल व कापोत दो द्रव्यलेश्या होती हैं धवल पु. २ पृ. ४२२)। औदारिक शरीर छह लेश्या से युक्त होते हैं। वैक्रियिक शरीर मूल निर्वर्तना की अपेक्षा कृष्णलेश्या, तेजलेश्या, पद्मलेश्या व शुक्ललेश्या से संयुक्त होता है (अथवा भवनत्रिक की अपेक्षा छहों

लेश्या होती है।[1]) तैजस शरीर तेजलेश्यावाला तथा कार्मण शरीर शुक्ललेश्या वाला होता है।[2]

शङ्का—शरीर तो सब वर्णवाले पुद्गलों से संयुक्त होते हैं, फिर इस शरीर की यही लेश्या होती है, ऐसा नियम कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट वर्ण की अपेक्षा वैसा निर्देश किया गया है। यथा-जिस शरीर में श्याम वर्ण की उत्कृष्टता है, वह कृष्ण लेश्या युक्त कहा जाता है। जिसमें नील वर्ण की प्रधानता है वह नील लेश्यावाला, लोहित वर्ण की प्रधानता युक्त जो शरीर है वह तेजलेश्या वाला, हरिद्रा वर्ण की उत्कर्षता युक्त शरीर पद्म लेश्यावाला तथा शुक्ल वर्ण की प्रधानता युक्त शरीर शुक्ललेश्यावाला कहा जाता है। इन वर्णों को छोड़कर वर्णान्तर को प्राप्त हुए शरीर को कापोतलेश्या वाला समझना चाहिए।[3] इसका विशेष इस प्रकार है—

कृष्णलेश्या युक्त द्रव्य के शुक्लगुण स्तोक, हारिद्रगुण अनन्तगुणे, लोहितगुण अनन्तगुणे, नीलगुण अनन्तगुणे और श्यामगुण अनन्तगुणे होते हैं। नीललेश्या युक्त द्रव्य के शुक्लगुण स्तोक, हारिद्रगुण अनन्तगुणे, लोहितगुण अनन्तगुणे, श्यामगुण अनन्तगुणे और नीलगुण अनन्तगुणे होते हैं। कापोतलेश्यावाले के विषय में तीन विकल्प हैं **प्रथमविकल्प**— शुक्लगुण स्तोक हैं, हारिद्रगुण अनन्तगुणे, श्यामगुण अनन्त गुणे, लोहितगुण अनन्तगुणे और नीलगुण अनन्त गुणे हैं। **द्वितीयविकल्प**—शुक्लगुण स्तोक, श्यामगुण अनन्तगुणा, हारिद्रगुण अनन्तगुणा, नीलगुण अनन्तगुणा और लोहितगुण अनन्तगुणा है। **तृतीय विकल्प**— श्यामगुण स्तोक, शुक्लगुण अनन्तगुणे, नीलगुण अनन्तगुणे, हारिद्रगुण अनन्तगुणे और लोहितगुण अनन्तगुणे हैं। तेजोलेश्या वालों में श्यामगुण स्तोक, नीलगुण अनन्तगुणे, शुक्लगुण अनन्तगुणे, हारिद्रगुण अनन्तगुणे और लोहितगुण अनन्तगुणे होते हैं। पद्मलेश्यावालों के विषय में तीन विकल्प हैं। **प्रथमविकल्प**—श्यामगुण स्तोक, नीलगुण अनन्तगुणे, शुक्लगुण अनन्तगुणे, लोहित गुण अनन्तगुणे और हारिद्रगुण अनन्तगुणे होते हैं। **द्वितीय विकल्प**—श्यामगुण स्तोक, नीलगुण अनन्तगुणे, लोहितगुण अनन्तगुणे, शुक्लगुण अनन्तगुणे और हारिद्रगुण अनन्तगुणे हैं। **तृतीय विकल्प** श्यामगुण स्तोक, नीलगुण अनन्तगुणे, लोहितगुण अनन्तगुणे, हारिद्रगुण अनन्तगुणे और शुक्लगुण अनन्तगुणे होते हैं। शुक्ल लेश्यावाले के श्यामगुण स्तोक, नीलगुण अनन्तगुणे, लोहितगुण अनन्तगुणे, हारिद्रगुण अनन्तगुणे और शुक्ल उत्कटगुण अनन्तगुणे हैं।

कापोत लेश्या नियम से द्विस्थानिक तथा शेष लेश्यायें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक व चतुःस्थानिक हैं।[4]

शङ्का—भवनत्रिक देवों में पर्याप्त काल में छहों लेश्या होती हैं यह वचन घटित नहीं होता, क्योंकि उनके पर्याप्तकाल में छहो लेश्याओं का अभाव है। यदि कहा जाय कि देवों के भाव से छहों लेश्या न होवें, किन्तु द्रव्य से छहों लेश्या होती है, क्योंकि द्रव्य और भाव में एकता का अभाव है। सो ऐसा कथन भी नहीं बनता, क्योंकि जो भावलेश्या होती हैं, उसी लेश्या वाले औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर सम्बन्धी नोकर्म परमाणु आते हैं। यदि यह कहा जाय कि उक्त बात कैसे जानी

---

१. "तदो वण्णणामकम्मोदयदो भवणवसिय-वाणवेंतर-जोइसियाणं छलेस्सा भो भवंति।" [ध.पु. २ पृ. ५३५]।
२. ध.पु. १६ पृ. ४८५-४८६। ३. धवल पु. १६ पृ. ४८६-४८७। ४. धवल पु. १६ पृ. ४८७-४८८।

जाती है तो उसका उत्तर यह है कि सौधर्म आदि देवों के भावलेश्या के अनुरूप ही द्रव्यलेश्या का प्ररूपण किये जाने से उक्त बात जानी जाती है। तथा देवों के पर्याप्त काल में तेज, पद्म और शुक्ल इन तीन लेश्याओं के अतिरिक्त अन्य लेश्याएँ नहीं होती हैं इसलिए देवों के पर्याप्त काल में द्रव्य की अपेक्षा तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या होनी चाहिए ?

समाधान शंकाकार द्वारा कही गई युक्ति घटित नहीं होती। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—द्रव्य लेश्या अपर्याप्त काल में होने वाली भाव लेश्या का तो अनुकरण करती नहीं है, अन्यथा अपर्याप्त काल में अशुभ तीन लेश्यावाले उत्तम भोगभूमिया मनुष्यों के धवलवर्ण के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा तथा तीन अशुभ लेश्या वाले कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टि जीव के भी अपर्याप्त काल में गौरवर्ण का अभाव प्राप्त हो जाएगा। इसी प्रकार पर्याप्त काल में भी पर्याप्त जीव सम्बन्धी द्रव्य लेश्या भावलेश्या का नियम से अनुकरण नहीं करती है क्योंकि वैसा मानने पर छह प्रकार की भाव लेश्याओं में निरन्तर परिवर्तन करने वाले पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्यों के द्रव्यलेश्या के अनियमपने का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। यदि द्रव्यलेश्या के अनुरूप ही भावलेश्या मानी जाय तो धवल वर्ण वाले बगुले के भी भाव से शुक्ल लेश्या का प्रसंग प्राप्त होगा। तथा धवल वर्ण वाले आहारक शरीरों के और धवल वर्ण वाले विग्रह गति में विद्यमान सभी जीवों के भाव की अपेक्षा शुक्ल लेश्या की आपत्ति प्राप्त होगी। दूसरी बात यह भी है कि द्रव्यलेश्या वर्ण-नामा नामकर्म के उदय से होती है, भावलेश्या से नहीं। इसलिए दोनों लेश्याओं को एक नहीं कह सकते, क्योंकि अघातिया और पुद्गलविपाकी वर्ण नामा नामकर्म, तथा घातिया और जीवविपाकी चारित्रमोहनीय कर्म, इन दानों की एकता में विरोध है। इसलिए यह बात सिद्ध होती है कि भावलेश्या द्रव्यलेश्या के होने में कारण नहीं है। इस प्रकार उक्त विवेचन से यह फलितार्थ निकला कि वर्ण नामा नाम कर्म के उदय से भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवों के द्रव्य की अपेक्षा छहों लेश्याएँ होती हैं तथा भवनत्रिक से ऊपर के देवों के तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं।[1]

जैसे पाँच वर्णवाले रसों से युक्त काक के कृष्ण व्यपदेश देखा जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में द्रव्य से छहों लेश्याओं के होने पर भी एक वर्णवाली लेश्या के व्यवहार करने में कोई विरोध नहीं आता है।[2]

सम्पूर्ण कर्मों का विस्रसोपचय शुक्ल ही होता है, इसलिए विग्रहगति में विद्यमान सभी जीवों के शरीर की शुक्ललेश्या होती है अर्थात् द्रव्यलेश्या शुक्ल होती है। शरीर को ग्रहण करके जब तक पर्याप्तियों को पूर्ण करता है तब तक छह वर्ण वाले परमाणुओं के पुंजों से शरीर की उत्पत्ति होती है, इसलिए उस शरीर की कापोत लेश्या है।[3]

अब वर्णाधिकार के अनन्तर आठ गाथाओं में परिणामाधिकार व संक्रमण अधिकार कहा जाएगा—

---

१. धवल पु. २ पृ. ५३२-५३५। २. धवल पु. २ पृ. ५३५। ३. धवल पु. २ पृ. ४२२।

लोगाणमसंखेज्जा उदयट्ठाणा कसायगा होंति ।
तत्थ किलिट्ठा असुहा सुहा विसुद्धा तदालावा ॥४६६॥

तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा।
मंदतरा मंदतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥५००॥

असुहाणं वरमज्झिमग्रवरंसे किण्हणीलकाउतिए ।
परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स ॥५०१॥

काऊ णीलं किण्हं परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा।
एवं किलेसहाणीवड्ढीदो होदि असुहतियं ॥५०२॥

तेऊ पउमे सुक्के सुहाणमवरादिअंसगे अप्पा ।
सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णदा होदि ॥५०३॥

संकमणं सट्ठाणपरट्ठाणं होदि किण्हसुक्काणं ।
वड्ढीसु हि सट्ठाणं उभयं हाणिम्मि सेस उभयेवि ॥५०४॥

लेस्साणुक्कस्सादोवरहाणी अवरगादवरवड्ढी ।
सट्ठाणे अवरादो हाणी णियमा परट्ठाणे ॥५०५॥

संकमणे छट्ठाणा हाणिसु वड्ढीसु होंति तण्णामा ।
परिमाणं च य पुव्वं उत्तकमं होदि सुदणाणे ॥५०६॥

गाथार्थ—कषायों के उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें संक्लेश रूप परिणाम अशुभ लेश्या हैं, विशुद्धपरिणाम शुभ लेश्या हैं। ऐसा कहना चाहिए ॥४६६॥ तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषाय रूप परिणाम अशुभ लेश्या है, मन्द, मन्दतर और मन्दतम कषायरूप परिणाम शुभ लेश्या है। प्रत्येक में षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि होती है ॥५००॥ कृष्ण-नील-कापोत इन तीन अशुभ लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मध्यम अंश रूप और मध्यम अंश से जघन्य अंश रूप संक्लेश की हानि होने पर जीव क्रम से परिणमन करता है ॥५०१॥ संक्लेश परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर यह आत्मा कापोत, नील और कृष्ण लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशों में क्रम से परिणमता है। इस प्रकार संक्लेश की हानि-वृद्धि से तीन अशुभ लेश्याओं में परिणमन होता है ॥५०२॥ विशुद्ध परिणामों में उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर यह आत्मा पीत, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशों में परिणमन करता है। विशुद्ध परिणामों में उत्तरोत्तर हानि होने पर यह आत्मा क्रम से शुक्ल, पद्म, पीत के उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य अंशों में क्रमसे परिणमन करता है ॥५०३॥ स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण के भेद से संक्रमण दो प्रकार का है। कृष्ण लेश्या और शुक्ल लेश्या में वृद्धि होने पर स्वस्थान संक्रमण होता है किन्तु हानि होने पर स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण सम्भव हैं। शेष चार लेश्याओं में वृद्धि व हानि होने पर स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण सम्भव हैं ॥५०४॥ उत्कृष्ट से

जघन्य हानि होने पर तथा जघन्य लेश्या स्थान के ऊपर जघन्य वृद्धि होने पर स्वस्थान संक्रमण होता है। लेश्याओं के जघन्य-स्थान में हानि होने पर नियम से परस्थान संक्रमण ही होता है ।।५०५।। संक्रमण षट्स्थानवृद्धिरूप होता है। उन छह स्थानों के नाम व परिमाण श्रुतज्ञान का कथन करते हुए पूर्व में कहे जाचुके हैं ।।५०६।।

विशेषार्थ—कषायों के उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं अर्थात् असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हैं उतने ही उदयस्थान हैं, जो असंख्यात हैं। इनमें से असंख्यात बहुभाग अशुभ लेश्या रूप संक्लेश परिणाम हैं और असंख्यातवें भाग शुभ लेश्या रूप विशुद्ध परिणाम हैं। किन्तु सामान्य से संक्लेश व विशुद्ध दोनों ही परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इन छहों लेश्याओं में उत्कृष्ट से जघन्य पर्यन्त और जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त षट्स्थानहानि व षट्स्थान वृद्धि होती है। अशुभ लेश्याओं में संक्लेश की हानि-वृद्धि होती है और तीन शुभ लेश्याओं में विशुद्धि की हानि-वृद्धि होती है। अर्थात् संक्लेश की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर कापोत लेश्या के जघन्य अंश से मध्यम अंश में और मध्यम अंश से उत्कृष्ट अंश रूप, पुनः नील लेश्या के जघन्य-मध्यम व उत्कृष्ट अंशरूप, पुनः कृष्णलेश्या के जघन्य-मध्यम व उत्कृष्ट अंश रूप, परिणमन होता है। इसी प्रकार विशुद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर पीत लेश्या के जघन्य अंश से मध्यम अंशरूप और फिर मध्यम अंश से उत्कृष्ट अंश रूप, पुनः पद्म लेश्या के जघन्य-मध्यम व उत्कृष्ट अंश रूप, पुनः शुक्ल लेश्या के जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट अंशरूप परिणमन होता है। विशुद्धि की उत्तरोत्तर हानि होने पर शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश से पीत लेश्या के जघन्य अंश तक परिणमन होता है।

परिणमन व संक्रमण का यह कथन मरण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मध्यम शुक्ल लेश्या वाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के क्षीण होने पर जघन्य शुक्ल लेश्यादिक से परिणमन न करके अशुभ तीन लेश्याओं में गिरता है। (धवल पु. ८ पृ. ३२२)।

कौन लेश्या किस स्वरूप से और वृद्धि अथवा हानि के द्वारा परिणमन करती है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'लेश्या परिणाम' अधिकार प्राप्त हुआ है। परिणामों की पलटन संक्रमण है उनमें पहले कृष्णलेश्या के परिणमन विधान का कथन करते हैं। कृष्ण लेश्या वाला जीव संक्लेश को प्राप्त होता हुआ अन्य लेश्या में परिणत नहीं होता है, किन्तु षट्स्थानपतित स्थानसंक्रमण द्वारा स्वस्थान में ही वृद्धि को प्राप्त होता है।

शङ्का—षट्स्थानपतित वृद्धि का क्या स्वरूप है?

समाधान—जिस स्थान से संक्लेश को प्राप्त हुआ है, उस स्थान से अनन्तभाग अधिक, असंख्यात भाग अधिक, संख्यात भाग अधिक, संख्यातगुणी अधिक, असंख्यातगुणी अधिक और अनन्तगुणी अधिक लेश्या का होना, इसका नाम षट्स्थानपतित वृद्धि है।[1]

उक्त कृष्णलेश्यावाला जीव विशुद्धि को (संक्लेश की हानि को) प्राप्त होता हुआ अनन्त-भागहीन, असंख्यातभागहीन, संख्यातभागहीन, संख्यातगुणीहीन, असंख्यातगुणीहीन, अनन्तगुणीहीन

---

१. ध. पु. १६ पृ. ४८३।

लेश्या वाला होता है। इस प्रकार षट्स्थान पतित स्वरूप से स्वस्थान में हानि को प्राप्त होता है। वही अनन्तगुणी हानि के द्वारा नील लेश्या रूप से परिणत होता है। इस प्रकार संक्लेश को प्राप्त होने वाले कृष्ण लेश्या युक्त जीव कृष्ण लेश्या की वृद्धि द्वारा एक विकल्प होता है। उसीके विशुद्धि (संक्लेश की हानि) को प्राप्त होने पर दो विकल्प होते हैं। कृष्णलेश्या की हानि से एक और नीललेश्या में संक्रम से दूसरा विकल्प होता हैं। यह **कृष्णलेश्या का परिणमन विधान** है।[1]

नीललेश्या का परिणमन विधान—नीललेश्या से संक्लेश को प्राप्त होता हुआ षट्स्थानपतित-वृद्धि संक्रम स्थान के द्वारा नीललेश्या में ही संक्रमण करता है अथवा वह अनन्तगुण वृद्धि के क्रम से कृश्णलेश्या में परिणत होता है। इस प्रकार संक्लेश को प्राप्त होने पर दो विकल्प होते हैं। नील लेश्या से विशुद्धि को प्राप्त होने वाला षट्स्थान पतित हानि के द्वारा नीललेश्या की हानि को प्राप्त होता है। वही अनन्तगुणी हानि के द्वारा हानि को प्राप्त होता हुआ कापोतलेश्या रूप से भी परिणत होता है। इस प्रकार नीललेश्या से विशुद्धि को प्राप्त होने वाले के (संक्लेश की हानि को प्राप्त होने वाले के) दो विकल्प हैं। यह नीललेश्या वाले का परिणमन विधान है।[2]

कापोत लेश्या का परिणमन विधान—कापोत लेश्या में संक्लेश को प्राप्त होता हुआ अनियम से षट्स्थान पतित वृद्धि के द्वारा स्वस्थान में वृद्धिगत होता है। वही अनन्तगुणी वृद्धि के द्वारा नियम से नील लेश्या में परिणत होता है। इस प्रकार संक्लेश की वृद्धि के कारण कापोतलेश्या में दो विकल्प हैं। विशुद्धि (संक्लेश की हानि) के कारण षट्स्थान पतित हानि के द्वारा स्वस्थान में हानि को प्राप्त होता है। वही अनन्तगुणहानि द्वारा तेजलेश्या में परिणत होता है। इस प्रकार संक्लेश की हानि के कारण कापोतलेश्या में दो विकल्प होते हैं। यह कापोत लेश्या का परिणमन विधान है।[3]

पीतलेश्या का परिणमन विधान—पीत लेश्या शुभ है। इसमें षट् स्थान पतित संक्लेश वृद्धि के द्वारा स्वस्थान में हीनता होती है। अनन्तगुणी हीनता के द्वारा 'पीतलेश्या' कापोत लेश्या में परिणत हो जाती है। इस प्रकार संक्लेशवृद्धि के कारण पीतलेश्या में दो विकल्प होते हैं। विशुद्धि में षट्स्थान पतित वृद्धि के द्वारा स्वस्थान में वृद्धि को प्राप्त होता है। अनन्तगुणी वृद्धि के द्वारा पद्मलेश्या रूप भी परिणत हो जाता है। इस प्रकार विशुद्धि के कारण पीत (तेज) लेश्या में दो विकल्प है।[4]

पद्मलेश्या का परिणमन विधान—पद्म शुभलेश्या में षट्स्थानपतितवृद्धिगत विशुद्धि के द्वारा स्वस्थान में वृद्धि होती है विशुद्धि में अनन्तगुणी वृद्धि से शुक्ललेश्या रूप परिणत हो जाता है। विशुद्धि में षट्स्थान पतित हानि के द्वारा अथवा संक्लेश के कारण स्वस्थान में हीनता होती है वही अनन्तगुण हानि के द्वारा तेजोलेश्या में संक्रमण को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पद्मलेश्या के परिणमन का विधान है।[5]

शुक्ललेश्या का परिणमन विधान—शुक्ल लेश्या में विशुद्धि की हानि (संक्लेश) को प्राप्त होता हुआ षट्स्थानपतित हानि के द्वारा स्वस्थान में हानि को प्राप्त होता है। वही अनन्तगुणहानि

---

१. धवल पु. १६ पृ. ४६३-४६४। २. धवल पु. १६ पृ. ४६४। ३. धवल पु. १६ पृ. ४६४। ४. धवल पु. १६ पृ. ४६४-४६५। ५. धवल पु. १६ पृ. ४६५।

के द्वारा पद्म लेश्या से परिणत होता है। इस प्रकार विशुद्धि की हानि (संक्लेश) के द्वारा शुक्ल लेश्या में दो विकल्प होते हैं। शुक्ललेश्या में षट् स्थान पतित वृद्धि के द्वारा स्वस्थान में विशुद्धि की वृद्धि होती है, अन्य लेश्या में संक्रमण नहीं होता। विशुद्धि की वृद्धि के द्वारा शुक्ल लेश्या में एक ही विकल्प है।[1]

कृष्णलेश्या में संक्लेशवृद्धि को प्राप्त हुआ जीव अन्य लेश्या में संक्रमण नहीं करता। संक्लेश की हानि (विशुद्धि) को प्राप्त हुआ जीव, स्वस्थान में छह स्थानों में पड़ता है, अथवा अनन्तगुणे हीन नील लेश्या में पड़ता है। अर्थात् संक्रमण करता है। नीललेश्या में संक्लेशवृद्धि को प्राप्त होकर स्वस्थान में परिणमन करता है अथवा अनन्तगुणे परस्थान स्वरूप कृष्णलेश्या में संक्रमण करता है। नीललेश्यावाला संक्लेश की हीनता (विशुद्धि) को प्राप्त होता हुआ स्वस्थान में छह स्थानों में परिणमन करता है, अथवा अनन्तगुणी हीन परस्थानभूत कापोतलेश्या में संक्रमण करता है। कापोत लेश्या में संक्लेशवृद्धि को प्राप्त होकर स्वस्थान में छह स्थानों में परिणमन करता है, अथवा अनन्तगुणे परस्थान नीललेश्या में संक्रमण करता है। वही कापोत लेश्या वाला संक्लेश की हीनता (विशुद्धि) को प्राप्त होता हुआ स्वस्थान में छह स्थानों में परिणमन करता है, अथवा अनन्तगुणी हीन परस्थानभूत तेजोलेश्या में संक्रमण करता है।

तेज (पीत) लेश्या में विशुद्धि की हीनता (संक्लेश) को प्राप्त होकर स्वस्थान में छह स्थान में परिणमन करता है, अनन्तगुणे ऐसे परस्थान स्वरूप कापोतलेश्या में संक्रमण करता है। उसमें विशुद्धि की वृद्धि को प्राप्त होता हुआ स्वस्थान में परिणमन करता है, अथवा अनन्तगुणे परस्थान पद्मलेश्या में संक्रमण करता है। पद्मलेश्या में विशुद्धि की हानि को (संक्लेश को) प्राप्त होकर स्वस्थान में छह स्थानों में नीचे गिरता है अथवा अनन्तगुणी हीन परस्थानभूत तेजलेश्या में संक्रमण करता है। वही पद्म लेश्या वाला विशुद्धि की वृद्धि को प्राप्त होता हुआ स्वस्थान में छह स्थानों में ऊपर जाता है, अथवा अनन्तगुणी विशुद्धि, परस्थानभूत शुक्ल लेश्या में संक्रमण करता है। शुक्ललेश्या में विशुद्धि की हीनता (संक्लेश) को प्राप्त होकर स्वस्थान में छह स्थानों में नीचे गिरता है, अथवा अनन्तगुणी हीन परस्थान स्वरूप पद्मलेश्या में संक्रमण करता है। विशुद्धि की वृद्धि को प्राप्त होता हुआ स्वस्थान में परिणमन करता है, परस्थान में संक्रमण नहीं करता।[2]

तीव्र-मन्दता की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट और प्रतिग्रह-स्थानों के अल्पबहुत्व इस प्रकार हैं—**कृष्ण व नील लेश्या के आश्रय से कथन** इस प्रकार है—नीललेश्या का जघन्यस्थान स्तोक है। नीललेश्या के जिस स्थान में कृष्णलेश्या से प्रतिग्रहण होता है वह नीललेश्या का जघन्य प्रतिग्रह स्थान उससे अनन्तगुणा है। कृष्ण का जघन्य संक्रम स्थान और जघन्य कृष्णस्थान दोनों ही तुल्य व अनन्तगुणे हैं। नील का जघन्य संक्रम स्थान अनन्तगुणा है। कृष्ण का जघन्य प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। नील का उत्कृष्ट प्रतिग्रह स्थान अनन्तगुणा है। कृष्ण का उत्कृष्ट संक्रम स्थान अनन्त गुणा है। नील का उत्कृष्ट संक्रम स्थान और उत्कृष्ट नील स्थान दोनों ही तुल्य व अनन्तगुणे हैं। कृष्ण का उत्कृष्ट प्रतिग्रह स्थान अनन्तगुणा है। उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या स्थान अनन्तगुणा है।[3]

नील व कापोत लेश्याओं के आश्रय से संक्रम व प्रतिग्रह स्थानों का अल्पबहुत्व—जैसा कृष्ण

---

१. धवल पु. १६ पृ. ४९५। २. धवल पु. १६ पृ. ५७२-५७३। ३. धवल पु. १६ पृ. ४९६।

श्रौर नील लेश्याओं के सम्बन्ध में कथन है वैसे ही कापोत और नील लेश्याओं के सम्बन्ध में जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि कापोतलेश्या को आदि करके यह कथन करना चाहिए।[1]

कापोत और तेजोलेश्या के आश्रय से अल्पबहुत्व का कथन—कापोतलेश्या का जघन्य संक्रम और जघन्य स्थान दोनों ही तुल्य व स्तोक हैं। तेजोलेश्या का जघन्य स्थान और जघन्य संक्रम दोनों तुल्य व उनसे अनन्तगुणे हैं। कापोत का जघन्य प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। तेज का जघन्य प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। कापोत का उत्कृष्ट संक्रमस्थान अनन्तगुणा है। तेज का उत्कृष्ट संक्रमस्थान अनन्तगुणा है। कापोत का उत्कृष्ट प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। तेज का उत्कृष्ट प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। कापोत का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है। तेज का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है।[2]

तेज व पद्म लेश्याओं के आश्रय से संक्रम व प्रतिग्रह स्थानों के अल्पबहुत्व का कथन—तेज का जघन्य स्थान स्तोक है। तेज का जघन्य प्रतिग्रहस्थान अनन्तगुणा है। पद्म का जघन्यस्थान और संक्रमण दोनों ही तुल्य व अनन्तगुणे हैं। तेज का जघन्य संक्रमस्थान अनन्तगुणा है। पद्म का जघन्य प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। तेज का उत्कृष्ट प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। पद्म का उत्कृष्ट संक्रम अनन्तगुणा है। तेज का उत्कृष्ट संक्रम और उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है। पद्म का उत्कृष्ट प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। पद्म का उत्कृष्ट स्थान अनन्तगुणा है।[3]

पद्म और शुक्ल लेश्याओं के आश्रय से संक्रम व प्रतिग्रह स्थानों का अल्पबहुत्व—पद्म का जघन्य-स्थान स्तोक है। पद्म का जघन्य प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। शुक्ल का जघन्य संक्रम और जघन्यस्थान दोनों ही तुल्य व अनन्तगुणे हैं। पद्म का जघन्य संक्रम अनन्तगुणा है। शुक्ल का जघन्य प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। पद्म का उत्कृष्ट प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। शुक्ल का उत्कृष्ट संक्रम अनन्तगुणा है। पद्म का उत्कृष्ट स्थान और संक्रम अनन्तगुणा है। शुक्ल का उत्कृष्ट प्रतिग्रह अनन्तगुणा है। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या स्थान अनन्तगुणा है। इस प्रकार तीन, चार, पाँच और छह संयोगों के भी अल्पबहुत्व का कथन करना चाहिए।[4] इससे तथा गा. ५१८ की टीका से यह ज्ञात होता है कि कुछ मध्यम अंश ऐसे हैं जो छहों लेश्याओं में पाये जाते हैं।[5]

षट्स्थानपतित लेश्यास्थानों का प्रमाण असंख्यात लोक है। उनमें कापोतलेश्या के स्थान स्तोक हैं। नीललेश्या के स्थान असंख्यातगुणे हैं। कृष्णलेश्या के स्थान असंख्यातगुणे हैं। तेजोलेश्या के स्थान असंख्यात गुणे हैं। पद्मलेश्या के स्थान असंख्यात गुणे हैं। शुक्ललेश्या के स्थान असंख्यातगुणे है।[6]

इन छह स्थानों के नाम व परिमाण यद्यपि श्रुतज्ञान के कथन में विस्तारपूर्वक कहे गए हैं तथापि संक्षेप में यहाँ पर भी कहे जाते हैं—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि हैं; इसी प्रकार छह हानि होती हैं। अनन्त का परिमाण समस्त जीवराशि है। असंख्यात का परिमाण असंख्यात लोक है। संख्यात का

---

१. धवल पु. १६ पृ. ४६६। २. धवल पु. १६ पृ ४६६-४६७। ३. धवल पु. १६ पृ. ४६७। ४. धवल पु. १६ पृ. ४६७। ५. देखो इसी ग्रन्थ की गाथा २८८ तथा २६२-६५ की टीका। ६. धवल पु. १६ पृ. ५७३।

परिमाण उत्कृष्ट संख्यात राशि है। अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि में भागाहार और गुणाकार समस्त जीवराशि प्रमाण है। असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यात गुणवृद्धि में भागाहार व गुणाकार असंख्यात लोकप्रमाण है। संख्यातभागवृद्धि और संख्यातगुणवृद्धि इनका भागाहार व गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है। संदृष्टि करने के लिए इन छह की ये छह संज्ञा हैं—अनन्तभागवृद्धि की उर्वङ्क (३), असंख्यातभागवृद्धि की चतुरङ्क (४), संख्यातभाग वृद्धि की पञ्चाङ्क (५), संख्यातगुण-वृद्धि की षडङ्क (६), असंख्यातगुणवृद्धि की सप्ताङ्क (७), अनन्तगुणवृद्धि की अष्टाङ्क (८) संज्ञा है। सूच्यङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अनन्तभागवृद्धियों के होने पर एक बार असंख्यात भागवृद्धि होती है। पुनः सूच्यङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार अनन्तभागवृद्धियों के होने पर एक बार असंख्यातवेंभागवृद्धि होती है। इस क्रम से असंख्यातभागवृद्धि भी सूच्यङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हो जाय तब पूर्वोक्त प्रमाण अनन्तभागवृद्धि हो जाने पर संख्यात भाग वृद्धि होती है। इसी क्रम से अनन्तगुणवृद्धि तक ले जाना चाहिए।[1]

दृष्टान्त द्वारा छहों लेश्याओं के कर्म का कथन

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ।।५०७।।
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ।।५०८।।[2]

गाथार्थ—छह पथिक वन के मध्य में मार्ग से भ्रष्ट होकर फलों से भरे हुए वृक्ष को देखकर विचार करते हैं और कहते हैं—जड़मूल से वृक्ष को काटो, स्कन्ध से काटो, शाखाओं से काटो, उपशाखाओं से काटो, फलों को तोड़ कर खाओ, गिरे हुए फलों को खाओ, इस प्रकार के विचार व वचन लेश्या कर्म को प्रकट करते हैं।।५०७-५०८।।

विशेषार्थ—फलों से लदे हुए वृक्ष को देखकर कृष्णलेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष को जड़मूल से उखाड़कर फल खाने चाहिए। नील लेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष के स्कन्ध (तने) को काटकर फल खाने चाहिए। कापोत लेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की शाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए, तेजोलेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की उपशाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए। पद्म लेश्यावाला विचार करता है कि फल तोड़कर खाने चाहिए। शुक्ल लेश्यावाला विचार करता है कि पक कर नीचे गिरे हुए फल खाने चाहिए। इन भावों के अनुसार वे वचन भी कहते हैं। उनके मानसिक विचारों तथा वचनों से लेश्या के तारतम्य का ज्ञान हो जाता है।

कृष्णलेश्या के कर्म व लक्षण का कथन

चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ।।५०९।।[3]

---

१. गो. जी. गाथा ३२३ से ३२६ तक। २. यह गाथा कुछ शब्दभेद के साथ धवल पु. २ पृ. ५३३; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १९२ पृ. ४० पर भी है। ३. धवल पु. १ पृ. ३८८, पु. १६ पृ. ४९०; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १४४ पृ. ३१।

गाथार्थ—कृष्णलेश्या से संयुक्त जीव तीव्र क्रोधी, वैर को न छोड़नेवाला, गाली देने रूप स्वभाव से युक्त, दयाधर्म से रहित, दुष्ट और वश में नहीं आने वाला, यह कृष्णलेश्या का लक्षण है ।।५०८।।

विशेषार्थ—कृष्णलेश्या का कर्म—कृष्णलेश्या से परिणत जीव निर्दय, झगड़ालू, रौद्र, वैर की परम्परा से संयुक्त, चोर, असत्यभाषी, परदारा का अभिलाषी, मधुमांस व मद्य में आसक्त, जिन-शासन के श्रवण में कान न देनेवाला और असंयम में मेरु के समान स्थिर स्वभाव वाला होता है।[1]

नील लेश्या : कर्म व लक्षण

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ।।५१०।।[2]
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ।।५११।।[3]

गाथार्थ—कार्य करने में मन्द, बुद्धिविहीन, विवेक से रहित, विषयलोलुपता, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, अभेद्य, निद्रा व धोखा देने में अधिक, धन-धान्य में तीव्र लालसा, ये नीललेश्या के लक्षण हैं ।।५१०-५११।।

विशेषार्थ—'नीललेश्या' जीव को विवेकरहित, बुद्धिविहीन, मान व माया की अधिकता से सहित, निद्रालु, लोभसंयुक्त और हिंसा आदि कार्यों में अथवा कर्मों में मध्यम अध्यवसाय से युक्त करती है।[4] जो काम करने में मन्द हो अथवा स्वच्छन्द हो, जिसे कार्य व अकार्य की खबर न हो, जो कला व चातुर्य से रहित हो, इन्द्रियविषयों का लम्पटी हो, तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभ वाला हो, आलसी हो, कार्य करने में उद्यम रहित हो, दूसरे व्यक्ति जिसके अभिप्राय को सहसा न जान सकें, अतिनिद्रालु हो, दूसरों को ठगने में अतिदक्ष हो, वह नीललेश्या वाला है, ऐसा जाना जाता है।

कापोत लेश्या : कर्म व लक्षण

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ।।५१२।।
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो ।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढि वा ।।५१३।।
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ।।५१४।।[5]

---

१. धवल पु. १६ पृ. ४९० । २. धवल पु. १ पृ. ३८८, पु. १६ पृ. ४९०; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १४५ पृ. ३१ । ३. धवल पु. १ पृ. ३८९, पु. १६ पृ. ४९१; प्रा. पं. सं. अ. १ गा १४६ पृ. ३१ । ४. धवल पु. १६ पृ. ४९७ । ५. ये तीनों धवल पु. १ पृ. ३८९, धवल पु. १६ पृ. ४९१; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १४७-१४९ हैं ।

गाथार्थ—रुष्ट होना, निन्दा करना, अन्य को बहुत प्रकार से दोष लगाना, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त होना, ईर्षा करना, पर का तिरस्कार करना, अपनी अनेक प्रकार प्रशंसा करना, दूसरों को भी अपने समान समझ कर उनका कभी विश्वास नहीं करना, अपनी प्रशंसा करने वालों से सन्तुष्ट होना, हानि-लाभ को नहीं जानना, युद्ध में मरण की प्रार्थना करना, स्तुति करने वालों को बहुतसा पारितोषिक देना, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से हीन होना ये सब कापोतलेश्या के लक्षण हैं।।५१२-५१४।।

विशेषार्थ—दूसरों पर क्रोध करना, उनकी निन्दा करना, उनको अनेक प्रकार से दुःख देना अथवा वैर रखना, शोकातुर होना, भयभीत रहना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, उनका तिरस्कार करना, नाना प्रकार से अपनी प्रशंसा करना, दूसरों पर विश्वास न करना, दूसरों को भी अपने जैसा धोखेबाज मानना, स्तुति करने वाले पर सन्तुष्ट हो जाना और बहुत धन दे देना, अपनी हानि-वृद्धि को कुछ भी न समझना, रण में मरण की इच्छा रखना, कार्य व अकार्य में अविवेक इत्यादि ये सब कापोतलेश्या के कर्म हैं। अथवा 'कापोत लेश्या' जीव को कृष्णलेश्या से सम्बन्धित सर्व कार्यों में जघन्य उद्यमशील करती है।[1]

पीतलेश्या कर्म

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्व-समपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स।।५१५।।[2]

गाथार्थ—'तेजोलेश्या' जीव को कर्तव्य-अकर्तव्य तथा सेव्य-असेव्य का जानकार, समस्त जीवों को समान समझने वाला, दया-दान में लवलीन और सरल करती है।

विशेषार्थ—तेजोलेश्या वाला जीव अहिंसक, मधु-मांस व मद्य का असेवी, सत्यबुद्धि, तथा चोरी व परद्वारा का त्यागी होता है।[3] अथवा अपने कार्य-अकार्य सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सब के विषय में समदर्शी हो, दया और दान में तत्पर हो, कोमल परिणामी हो, ये सब पीतलेश्या के कर्म अथवा चिह्न हैं।

पद्मलेश्या वाले के लक्षण

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स।।५१६।।[4]

गाथार्थ—पद्मलेश्या में परिणत जीव त्यागी, भद्र, चोक्खा, ऋजुकर्मा, भारी अपराध को भी क्षमा करने वाला तथा साधुपूजा व गुरुपूजा में तत्पर रहता है।

विशेषार्थ—दान देने वाला हो, भद्र-परिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, इष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनि-गुरु आदि की पूजा में प्रीतियुक्त हो। ये सब पद्मलेश्या वाले के चिह्न अथवा कर्म हैं।

---

१. धवल पु. १६ पृ. ४९१। २. धवल पु. १ पृ. ३८९; पु. १६ पृ. ४९१; प्रा पं. सं. अ. १ गा. १५०।
३. धवल पु. १६ पृ. ४९१। ४. धवल पु. १ पृ. ३९०, पु. १६ पृ. ४९२; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५१।

शुक्ललेश्या वाले के लक्षण

ण य कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स ।।५१७।।[1]

गाथार्थ—शुक्ल लेश्या के होने पर जीव न पक्षपात करता है और न निदान करता है, वह सब जीवों में समान रहकर रागद्वेष व स्नेह से रहित होता है ।।५१७।।

विशेषार्थ—पक्षपात न करना, निदान को न बाँधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट से राग तथा अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि में स्नेहरहित होना, ये सब शुक्ललेश्या वाले के कर्म अथवा चिह्न हैं।

यह सब कथन उत्कृष्ट भाव लेश्याओं की अपेक्षा से किया गया है। इसी प्रकार द्रव्यलेश्या के कार्यों की भी प्ररूपणा करनी चाहिए।

अब ग्यारह गाथाओं द्वारा **गति अधिकार** का कथन किया जाता है। सर्व प्रथम एक गाथा द्वारा लेश्याओं के २६ अंश और उनमें से मध्य के आठ अंश आयु बन्ध योग्य होते हैं, इसका कथन किया जाएगा। उसके पश्चात् किस लेश्या से मरकर जीव किस गति में उत्पन्न होता है, इसका कथन दस गाथाओं द्वारा किया जाएगा।

लेस्साणं खलु अंसा छब्बीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा अट्ठट्ठवगरिस-कालभवा ।।५१८।।

गाथार्थ—लेश्याओं के निश्चय से छब्बीस अंश हैं। उनमें से मध्य के आठ अंश, जो आठ अपकर्षकाल में होते हैं, आयु बन्ध के योग्य हैं ।।५१८।।

विशेषार्थ—यह अधिकार धवल ग्रन्थ में नहीं है अतः इसका विशेषार्थ संस्कृत टीका के आधार पर लिखा जाएगा।

शङ्का—अपकर्ष का क्या स्वरूप है?

समाधान—वर्तमान अर्थात् भुज्यमान आयु को अपकृष्य-अपकृष्य अर्थात् घटा-घटा कर परभव आयु के बन्ध योग्य होना सो अपकर्ष है। यदि किसी की आयु ८१ वर्ष की है, उस आयु के दो तिहाई भाग अर्थात ५४ वर्ष बीत जाने पर, ठीक तत्पश्चात् प्रथम समय से लगाकर एक अन्तर्मुहूर्त काल परभव सम्बन्धी आयु बंध योग्य प्रथम अपकर्ष होता है। २७ वर्ष जो शेष रह गये थे उसका भी दो तिहाई भाग अर्थात् १८ वर्ष बीत जाने पर यानी (५४ + १८) ७२ वर्ष की आयु बीत जाने पर और ९ वर्ष आयु शेष रह जाने पर प्रथम अन्तर्मुहूर्त द्वितीय अपकर्ष होता है। ९ वर्ष का दो तिहाई भाग (६ वर्ष) बीत जाने पर और तीन वर्ष आयु शेष रह जाने पर प्रथम अन्तर्मुहूर्त तृतीय अपकर्ष होता है इसी प्रकार चतुर्थ आदि अपकर्षों को सिद्ध कर लेना चाहिए। यदि इन आठ अपकर्षों में आयुबन्ध

---

१. धवल पु. १ पृ. ३९०, पु. १६ पृ. ४९२ ; प्रा. पं. सं. अ. १ गा १५२।

न हो तो असंक्षेपाद्धा काल प्रमाण आयु शेष रह जाने पर परभविक आयु का अवश्य बन्ध होता है। क्योंकि परभव की आयु बन्ध हुए बिना मरण नहीं होता।

जघन्य विश्रमणकाल युक्त जघन्य आयुबन्ध काल असंक्षेपाद्धा कहलाता है। वह यवमध्य के अन्तिम समय से लेकर जघन्य आयुबन्धकाल के अन्तिम समय तक होता है। यह असंक्षेपाद्धा तृतीय त्रिभाग में ही होता है, क्योंकि अभी भी ऊपर क्षुल्लकभवग्रहण सम्भव है। आयुबन्ध के होने पर ऊपर जो सबसे जघन्य विश्रमण काल है उसकी क्षुल्लकभवग्रहण संज्ञा है। वह आयुबन्ध काल के ऊपर होता है। (धवल पु. १४ पृ. ५०३-५०४। धवल पु. ११ पृ. २६६, २७३ आदि।)

छहों लेश्याओं के छब्बीस अंश हैं। प्रत्येक लेश्या के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंश के भेद से (६ × ३) १८ अंश हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त कापोतलेश्या के उत्कृष्ट से आगे और तेज (पीत) लेश्या के उत्कृष्ट अंश से पूर्व कषायोदय स्थान में आठ मध्यम अंश हैं जो आयु-बन्ध के कारण हैं। इस प्रकार छहों लेश्याओं के २६ अंश होते हैं।

卐

	शिलारेखा	पृथ्वीरेखा	धूलिरेखा	जलरेखा
	उ. ० ० ० ० ० ० ० ज.	उ. ० ० ० ० ० ० ० ज.	उ. ० ० ० ० ० ० ० ज.	उ. ० ० ० ० ० ० ० ज.
लेश्या	कृ. १	१ २ ३ ४ ५ ६	६ ५ ४ ३ २ १	शु. १
आयु बन्ध		१ ४ ४ ४	४ १ १ १ ० ०	०
		२	३	
		३	२	
		० ० ० ०	० ० ० ०	
		आठ मध्यम अंश		

गो. जी. गाथा ५१८ का नक्शा [अपने शुद्ध रूप में]

卐

शिलारेखा	पृथ्वीरेखा	धूलिरेखा	जलरेखा
उ ० ० ० ० ० ० ज	उ ० ० ० ० ० ० ज	उ ० ० ० ० ० ० ज	उ ० ० ० ० ० ० ज
कृ. १	क उ १ २ ३ ४ ५ ६	तेउ ६ ५ ४ ३ २ १	शु. १
० १	१ १ १ ४ ४ ४	४ १ १ १ ० ०	०
	२	३ ०	
	३	२	
	० ० ० ०	० ० ० ०	
	←मध्यमांशाः→		

उक्त नक्शे का विशेष स्पष्टीकरण

कषाय शक्ति		लेश्या स्थान १४	आयु बंध स्थान २०		आठ मध्यमांश
जल	उ.से ० ० ० ० ० ० ज.तक	कृ. १ मध्यम शुक्ल तथा उत्कृष्ट शुक्ल	० = अबन्ध		
धूलि	० ज.तक	मध्यम शुक्ल लेश्या			
		१	० = अबन्ध		
		२	० = अबन्ध		
	०	उत्कृष्ट पद्म; जघन्य शुक्ल			
	०	३ उत्कृष्ट पीत तथा मध्यम पद्म-शुक्ल	१ देवायु ० अबन्ध	०	८
	०	४ जघन्य कापोत तथा मध्यम तीन शुभ	१ देवायु	०	७
	०	५ ज.नील तथा कृष्णरहित शेष ४ मध्यम	१ देवायु	०	६
	० उ.से	६ ज. कृष्ण तथा शेष ५ लेश्या मध्यम	४ चारों आयु ३ न.बिना ३ आ. २ म.दे.आ.	०	५
पृथ्वी	० ज.तक	६ कृष्णादि ५ मध्यम तथा जघन्य शुक्ल	४ चारों आयु	०	४
	०	५ कृ.नी.का.पी मध्यम; जघन्य पद्म	४ चारों आयु	०	३
	०	४ कृ.नी.का. मध्यम; जघन्य पीत	४ चारों आयु	०	२
	०	३ कृष्ण, नील, मध्यम उत्कृष्ट कापोत	१ नरकायु २ न ति आयु ३ न.ति.म.आयु	०	१
	०	२ मध्यम कृष्ण उत्कृष्ट नील	१ नरकायु ❀		
	० उ.से	१ मध्यमकृष्ण	१ नरकायु ❀		
शिला	ज ० ० ० ० ० ० उ	कृष्ण १ मध्यम कृष्ण	१ = नरकायु ❀		
		उत्कृष्ट कृष्ण	० = अबन्ध		

(A) **नोट**—उक्त नक्शे के अनुसार ८ मध्यम अंशों के नाम इस प्रकार हैं—**१. उत्कृष्ट कापोत**, कृष्ण नील मध्यम । २. कृष्ण नील कापोत मध्यम, जघन्य पीत । ३. कृष्ण नील कापोत पीत मध्यम जघन्य पद्म । ४. कृष्णादि पाँच मध्यम; जघन्य शुक्ल । ५. जघन्य कृष्ण तथा शेष ५ लेश्या मध्यम । ६. जघन्य नील तथा ४ लेश्या (कृष्ण बिना) मध्यम । ७. जघन्य कापोत तथा तीन शुभ लेश्या मध्यम । ८. मध्यम पद्म शुक्ल तथा **उत्कृष्ट पीत** । **विशेष**—इन उक्त आयुबन्ध योग्य ८ अपकर्षों में आदिनाम **उत्कृष्ट कापोत से प्रारम्भ हुआ** तथा अन्तिम नाम **का अन्त उत्कृष्ट पीत से है** । अतः ऐसा कहा जाता है कि उत्कृष्ट कापोत से उत्कृष्ट पीत (तेजो) के बीच-२ ही ८ अपकर्ष होते हैं । (**देखें—गो. जी. गा. ५१८**)

(B) लेश्याओं के क्रम को देखकर [यथा-कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल (**गो. जी. ४९३**)] ऐसा भ्रम प्रायः सभी विद्वानों को भी हुआ है कि कापोत के उत्कृष्ट से तेजो. के उत्कृष्ट अंश के पूर्व तक की अवधि में तो दो (कापोत व तेज) लेश्याएँ ही आएंगी । किन्तु परमार्थतः ऐसा नहीं है । क्योंकि गो. जी. गा. ५१८ का नक्शा बड़ी टीका; महाधवल २ । पृष्ठ २७८ से २८१; धवल ८ पृष्ठ ३२० से ३५८ तथा गो. जी. गाथा २९० से २९५ इन सर्व स्थलों में एक मत से सभी लेश्याओं में आयुबन्ध कहा है ।

(C) यह गो. जी. से सम्बद्ध कथन कर्मकाण्ड (बड़ी टीका) ज्ञानपीठ प्रकाशन में पृ. ८६१ (गा. ५४९) पर भी आया है । वहाँ ८ मध्यमांश का प्ररूपण भिन्न मत से किया हुआ भासित होता है । उसके अनुसार तो ८ मध्यमांशों द्वारा १४ लेश्यास्थानों में से ठीक मध्य के ४ लेश्यास्थान ही गृहीत होते हैं । ऊपर बिन्दु A में लिखित ८ मध्यमांशों में से तृतीय से छठे तक के ४ मध्यमांश ही गृहीत होते हैं । उन्हें ही भेदविवक्षा से वहाँ ८ रूप से गिनाया है । यथा—पद्म शुक्ल कृष्ण व नील इन ४ लेश्याओं के जघन्य अंश रूप ४ स्थान तथा ४ गति सम्बन्धी आयुबंध के कारण, नरक बिना ३ आयुबंध के कारण, मनुष्य-देवायु-बंध के कारण, देवायु-बंध के कारण; ये ४ स्थान । इस तरह कुल ८ मध्यमांश हुए । यह कथन चिन्त्य है ।

(D) प्रकरण (A) में लिखित ८ अपकर्षों के नामों से यह भी स्पष्ट हो ही जाता है कि आठ अपकर्षों में मात्र दो ही नहीं, छहों लेश्याएँ आ जाती हैं ।

(E) **श्लोकवार्तिक भाग ५ पृष्ठ** ६३४ में तो ८ अपकर्ष ऐसे बताए हैं—कृष्ण तथा कापोत के मध्यवर्ती तथा पीत और शुक्ल के मध्यवर्ती = ८ मध्यम अंश हैं । मध्यवर्ती इसलिए कहा है कि कृष्णलेश्या के कतिपय तीव्र अंशों में और कापोतलेश्या के कतिपय जघन्य अंशो में आयु नहीं बँधती है । इसी प्रकार शुभ लेश्याओं पीत के कतिपय जघन्य अंशों और शुक्ल लेश्या के कुछ उत्कृष्ट अंशों में आयुष्य कर्म को बँधवाने की योग्यता नहीं है । इसलिए अशुभ लेश्याओं के मध्य पड़े हुए चार अंश और तीनों शुभ लेश्याओं के बीच पड़े हुए चार अंश; इस तरह ८ मध्यम अंश कहे जाते हैं । [भाषा टीका]

(F) तीन ["❀" ऐसे चिह्न से अंकित, देखो नक्शा] आयुबन्ध स्थान फिर भी ८ मध्यम अंशों में छूट जाते हैं । सो "❀" सम्बन्धी तीनों नरकायु के ही बन्धस्थान हैं जो कि मध्यमकृष्ण लेश्या से बँधते हैं तथा इस मध्यम कृष्णलेश्या रूप अंशत्रय का "८ मध्यम लेश्यांश में परिवर्णित मध्यम कृष्ण लेश्या शब्द" द्वारा उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है । ऐसा हमारी बुद्धि में आता है ।

—जवाहरलाल जैन

शेष अठारह अंशों का कार्य

सेसट्ठारस अंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति।
सुक्कुक्कस्संसमुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा ।।५१९।।

गाथार्थ—आठ मध्य अंशों के अतिरिक्त शेष अठारह अंश चारों गतियों में गमन के कारण होते हैं। शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अंश सहित मरने वाला मनुष्य नियम से सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—यदि मरण समय किसी दिगम्बर जैन साधु के यथायोग्य उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या रूप परिणाम हों तो वह साधु नियम से सर्वार्थसिद्धि में जाकर अहम्-इन्द्र होता है। इतनी विशेषता है कि उस साधु ने ३३ सागर स्थिति वाली देवायु का बन्ध किया हो, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि में ३३ सागर से हीन या अधिक आयु नहीं होती।[1]

अवरंसमुदा होंति सदारदुगे मज्झिमंसगेण मुदा।
आणदकप्पादुवरिं सवट्ठाइल्लगे होंति ।।५२०।।
पम्मुक्कस्संसमुदा जीवा उवजांति खलु सहस्सारं।
अवरंसमुदा जीवा सणक्कुमारं च माहिंदं ।।५२१।।
मज्झिम अंसेण मुदा तम्मज्झं जांति तेउजेट्ठमुदा।
साणक्कुमार - माहिंदंतिमचक्किंदसेढिम्मि ।।५२२।।
अवरंसमुदा सोहम्मीसाणादिमउडम्मि सेढिम्मि।
मज्झिमअंसेण मुदा विमलविमाणादिबलभद्दे ।।५२३।।

गाथार्थ—शुक्ललेश्या के जघन्य अंश सहित मरकर शतारद्विक (शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत) स्वर्गों में उत्पन्न होता है। शुक्ल लेश्या के मध्यम अंश सहित मरकर आनत प्राणत से ऊपर और सर्वार्थसिद्धि से पूर्व के विमानों में उत्पन्न होता है ।।५२०।। पद्मलेश्या के उत्कृष्ट अंश सहित मरकर नियम से सहस्रार युगल में उत्पन्न होता है और जघन्य अंश से मरकर सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में उत्पन्न होता है ।।५२१।। पद्मलेश्या के मध्यम अंश सहित मरकर सानत्कुमार माहेन्द्र के ऊपर और सहस्रार स्वर्ग के नीचे के मध्य के विमानों में उत्पन्न होता है। पीत लेश्या के

---

१. सर्वार्थसिद्धि की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर है। जघन्य पल्य के असंख्यातवें भाग कम ३३ सागर है, ऐसा भी कितने ही आचार्य स्वीकार करते हैं। लोकविभाग १०/२३४ सिंहसूरर्षि विरचित एवं ति. प. (महासभा प्रकाशन) ८/५१४, भाग ३ पृ. ५६६; परन्तु सर्वार्थसिद्धिकार (४/३२/१९२), तत्त्वार्थसूत्रकार (४/३२), राजवार्तिककार (४/३४/१-२/ पृ. २४८) तथा श्लोकवार्तिककार (भाग ६/६५२) आदि सर्वार्थसिद्धि विमान में जघन्य व उत्कृष्ट आयु ३३ सागर ही बताते हैं।

उत्कृष्ट अंशों के साथ मरकर सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम पटल में चक्रनामक इन्द्रक विमान सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों में उत्पन्न होता है ।।५२२।। पीतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरकर सौधर्म ईशान के ऋतु नामक प्रथम इन्द्रक विमान में अथवा तत्सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों में उत्पन्न होता है। पीतलेश्या के मध्यम अंश सहित मरकर विमल नामक द्वितीय इन्द्रक विमान से लेकर सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के द्विचरम पटल के बलभद्र नामक इन्द्रक विमान पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ।।५३३।।

विशेषार्थ—लेश्या के २६ भेदों अर्थात् २६ अंशों में से मध्य के अष्ट अंश आयु बंध के कारण हैं।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—"**अष्टाभिः अपकर्षैः मध्यमेन परिणामेनाऽऽयुर्बध्नाति**' अर्थात् आठ अपकर्षों के द्वारा मध्यम परिणामों से आयु का बन्ध करता है ऐसा आर्ष का उपदेश है। शेष १८ अंश गति-विशेष के अथवा पुण्य-पाप विशेष उपचय के हेतु हैं। इस अपेक्षा से भी जाना जाता है कि मध्यम परिणाम अपने-अपने योग्य आयुबन्ध के कारण होते हैं। आयु कर्मोदय से गतिविशेष प्राप्त होती है। इसलिए गति प्राप्ति में लेश्या कारण है।

उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या अंश परिणामों से मरण करके आत्मा सर्वार्थसिद्धि में जाती है जघन्य शुक्ल लेश्या अंश रूप परिणामों से मरण करके शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार स्वर्ग में जाती है। मध्यम शुक्ल लेश्या रूप परिणामों से मरण करके सर्वार्थसिद्धि से पूर्व आनतादि स्वर्गों में उत्पन्न होती है। उत्कृष्ट पद्मलेश्या अंश रूप परिणाम से जीव सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न होता है। जघन्य पद्मलेश्या अंश रूप परिणाम से सानत्कुमार माहेन्द्र में उत्पन्न होता है। मध्यम पद्मलेश्या अंश रूप परिणाम से ब्रह्मलोक स्वर्ग को आदि करके शतार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट तेजो लेश्या अंश परिणाम से सानत्कुमार माहेन्द्र कल्प के अन्तिम चक्र-इन्द्रक विमान और तत्सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों में उत्पन्न होता है। जघन्य तेजोलेश्या अंश रूप परिणामों से सौधर्मेशान कल्प के प्रथम विमान तथा तत्सम्बन्धी श्रेणी विमानों में उत्पन्न होता है। तेजोलेश्या के मध्यम-अंश रूप परिणामों से चन्द्रादि इन्द्रक विमान से तथा तत्सम्बन्धी श्रेणी विमानों से लेकर बलभद्र इन्द्रक विमान व तत्सम्बन्धी श्रेणी विमानों तक उत्पन्न होता है।[1]

किण्हवरंसेण मुदा अवधिट्ठाणम्मि अवरअंसमुदा।
पंचमचरिमतिमिस्से मज्झे मज्झेण जायंते ।।५२४।।
नीलुक्कस्संसमुदा पंचम अंधिंदयम्मि अवरमुदा।
वालुकसंपज्जलिदे मज्झे मज्झेण जायंते ।।५२५।।
वरकाओदंसमुदा संजलिदं जांति तदियणिरयस्स।
सोमंतं अवरमुदा मज्झे मज्झेण जायंते ।।५२६।।

---

१. रा. वा. ४/२२/१० पृ. २४०।

गाथार्थ—कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट अंश के साथ मरकर (सातवें नरक के) अवधिस्थान (अप्रतिष्ठित स्थान इन्द्रक बिल) में, जघन्य अंश के साथ मरकर पाँचवें नरक के तिमिस्र नामक अन्तिम इन्द्रक बिल में और मध्यम अंश के साथ मरकर इन दोनों के मध्य में उत्पन्न होते हैं ।।५२४।। नील लेश्या के उत्कृष्ट अंश के साथ मरकर पाँचवें नरक के अंधेन्द्रा (द्विचरम इन्द्रक बिल) में, जघन्य अंश के साथ मरकर बालुका पृथ्वी के सम्प्रज्वलित (तीसरे नरक के अन्तिम इन्द्रक बिल) में और मध्यम अंश के साथ मरकर इन दोनों के मध्य में उत्पन्न होते हैं ।।५२५।। कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अंश के साथ मरकर तीसरे नरक के (द्विचरम इन्द्रक बिल) संज्वलित में उत्पन्न होता है। जघन्य अंश के साथ मरकर (प्रथम नरक का प्रथम इन्द्रक बिल) सीमन्त में और मध्यम अंश के साथ मरकर इन दोनों के मध्य में उत्पन्न होते हैं ।।५२६।।

विशेषार्थ—सातवीं पृथ्वी के इन्द्रक बिल के दो नाम हैं—अवधिस्थान, अप्रतिष्ठित स्थान।[1] कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट अंश रूप परिणामों से मरकर सातवें नरक के अप्रतिष्ठित नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होता है। अर्थात् सातवें नरक में उत्पन्न होता है। कृष्ण लेश्या के जघन्य अंश रूप परिणामों से मरकर पाँचवें नरक के तिमिस्र नामक अधः (अन्तिम) इन्द्रक बिल में उत्पन्न होता है। कृष्ण लेश्या के मध्यम अंश रूप परिणाम से मरकर हिमेन्द्रक बिल से लेकर महारौरव नामक नरक तक उत्पन्न होता है। नील लेश्या के उत्कृष्ट अंश रूप परिणाम से पाँचवें नरक के अंध इन्द्रक बिल को प्राप्त होता है। नील लेश्या के जघन्य अंश रूप परिणाम से बालुका नामक पृथ्वी के तप्त इन्द्रक बिल में जाता है। नील लेश्या के मध्यम अंश रूप परिणाम से बालुका पृथिवी में त्रस्त इन्द्रक विमान से लेकर भ्रषक इन्द्रक विमान तक उत्पन्न होते हैं। कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अंश रूप परिणाम से बालुका प्रभा पृथिवी में संप्रज्वलित (इन्द्रक बिल) नरक में जाता है। कापोत लेश्या के जघन्य अंश रूप परिणाम से रत्नप्रभा पृथ्वी (प्रथम नरक) के सीमन्तक इन्द्रक बिल में जाता है। कापोतलेश्या के मध्यम अंश रूप परिणाम से रौरुक इन्द्रक बिल से लेकर संज्वलित इन्द्रक बिल तक उत्पन्न होते हैं।[2]

किण्हचउक्काणं पुण मज्झंसमुदा हु भवणगादितिये ।
पुढवीआउवणप्फदिजीवेसु हवंति खलु जीवा ।।५२७।।
किण्हतियाणं मज्झिमअंसमुदा तेउवाउवियलेसु ।
सुरणिरया सगलेस्सहिं णरतिरियं जांति सगजोग्गं ।।५२८।।

गाथार्थ—कृष्ण आदि (कृष्ण, नील, कापोत व पीत) चार लेश्याओं के मध्यम अंश से मरा हुआ जीव भवनत्रिक, पृथ्वी, जल और वनस्पति जीवों में उत्पन्न होता है ।।५२७।। कृष्ण त्रय लेश्या के मध्यम अंश से मरे हुए अग्निकायिक, वायुकायिक, विकलेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं। देव और नारकी अपनी-अपनी लेश्या से मरकर अपने योग्य मनुष्य व तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं ।।५२८।।

विशेषार्थ—कृष्ण, नील, कापोत व तेज (पीत) लेश्या के मध्यम अंश रूप परिणामों से

---

१. "अवधिस्थानं अप्रतिष्ठितस्थानं वा" [त्रिलोकसार गा. १५६ की टीका] २. रा. वा. ४/२२/१०।

मरकर भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी देवों में, पृथ्वी, जल, वनस्पति जीवों में उत्पन्न होता है। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के मध्यम अंश रूप परिणाम से अग्निकायिक, वायुकायिकों में उत्पन्न होते हैं। देव और नारकी अपनी-अपनी लेश्याओं के साथ मरण करके अपने-अपने योग्य मनुष्य व तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं।[1]

शङ्का—भवनत्रिक (भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी) देवों के अपर्याप्त काल में तीन अशुभ (कृष्ण, नील, कापोत) लेश्या ही होती हैं।[2] और पृथिवीकायिक जलकायिक व वनस्पतिकायिक जीवों के पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं। इनमें पीत लेश्या से मरकर जीव कैसे उत्पन्न होता है?

समाधान—कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यंच यदि भवनत्रिक या पृथ्वी-जल व वनस्पति में उत्पन्न होते हैं तो तीन अशुभ लेश्या के साथ मरण करते है। किन्तु जिन जीवों के पर्याप्त काल में लेश्यान्तर संक्रमण नहीं होता अर्थात् अन्य लेश्या रूप संक्रमण नहीं होता वे तो अपनी नियत लेश्या के साथ ही मरण करते हैं। मरण के अनन्तर समय में अन्य लेश्या रूप संक्रमण हो जाता है। मिथ्यादृष्टि भोगभूमिया के तीन शुभ लेश्या ही होती है और वह नियम से देवगति में जाता है। ऐसा जीव मरकर भवनत्रिक में उत्पन्न होता है तो उसके मरण समय अशुभ लेश्या तो हो नहीं सकती अतः वह पीत लेश्या में मरण कर (अर्थात् अन्तिम समय तक पीत लेश्या के साथ रह कर) भवनत्रिक में उत्पन्न होता है। और वहाँ प्रथमसमयवर्ती भवनत्रिक के नियम से अशुभत्रिक लेश्या हो जाती है।[3]

भवनत्रिक देवों के और सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों के पर्याप्त अवस्था में नियम से पीत लेश्या होती है। ऐसे मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रियों में अर्थात् बादर जलकायिक पर्याप्त व बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त व प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त जीवों में उत्पन्न हो सकते हैं। कहा भी है—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः ।।पूर्वार्ध १६६।।
भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः प्रत्येकाङ्गवनस्पतिः ।
तिर्यग्मानुषदेवानां जन्मैषां परिकीर्तितम् ।।१५६।।[तत्त्वार्थसार अधिकार २]

मिथ्यादृष्टि और सासादन भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी तथा सौधर्म और ईशान देव एकेन्द्रियों में आते हुए बादर पृथिवीकायिक, बादर जलकायिक और बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर इनके पर्याप्तक जीवों में आते हैं।[4]

इस प्रकार पीत लेश्या में मरण करने वाले जीव भवनत्रिक व बादर पर्याप्त जलकायिक बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक व बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति जीवों में उत्पन्न हो सकते हैं।

शङ्का—बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त, बादर जलकायिक अपर्याप्त, प्रत्येक वनस्पति अपर्याप्त

---

१. रा. वा. ४/२२।१० । २. धवल पु. २ पृ. ५४४। ३. ध. २/५४६। ४. ध. पु. ६ पृ. ४८१ सूत्र १६० व पृ. ४७८ सूत्र १७६।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक जीवों में कौन लेश्यावाले जीव उत्पन्न होते हैं ? इसका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—इनका कथन अव्यक्त रूप से गाथा ५२८ में किया गया है। जिन एकेन्द्रियों का कथन गाथा ५२७ में किया गया है उनके अतिरिक्त सब एकेन्द्रिय जीवों का ग्रहण गाथा ५२८ में होता है। अतः तीन अशुभ लेश्याओं के मध्यम अंश के साथ मरने वाले कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंच उक्त एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं।

शङ्का—किस लेश्या के साथ मरण करनेवाले जीव पर्याप्त-अपर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रिय व अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं। इनका कथन क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—इनका कथन भी गाथा ५२८ में किया गया है। 'वियलेसु' से इनका ग्रहण हो जाता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के अतिरिक्त सब विकल हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन न होने से विकल है। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के मन तथा चक्षुदर्शनोपयोग न होने से विकल हैं।

किस जीव के कौनसी लेश्या होती है, इसका कथन

काऊ काऊ काऊ णीला णीला य णीलकिण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा पढमादिपुढवीणं ॥५२९॥

णरतिरियाणं ओघो इगिविगले तिण्णि चउ असण्णिस्स।
सण्णि--अपुण्णग--मिच्छे सासणसम्मेवि असुहतियं ॥५३०॥

भोगापुण्णगसम्मे काउस्स जहण्णियं हवे णियमा।
सम्मे वा मिच्छे वा पज्जत्ते तिण्णि सुहलेस्सा ॥५३१॥

अयदोत्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।
तत्तो सुक्का-लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३२॥

णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया।
अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा ॥५३३॥

तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च।
एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥५३४॥

तेऊ तेऊ तेऊ पम्मा पम्मा य पम्मसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का भवणतिया पुण्णगे असुहा ॥५३५॥

गाथार्थ—प्रथम पृथ्वी में कापोत लेश्या, दूसरी पृथ्वी में कापोत लेश्या, तीसरी पृथ्वी में कापोत लेश्या व नील लेश्या; चौथी पृथ्वी में नील लेश्या, पाँचवीं पृथ्वी में नील व कृष्ण लेश्या,

छठी पृथ्वी में कृष्णलेश्या, सातवीं पृथ्वी में परम कृष्ण लेश्या है ।।५२६।। मनुष्य व तिर्यंचों में ओघ भंग है अर्थात् छहों लेश्याएँ हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के तीन (अशुभ) लेश्या हैं। असंज्ञी (पंचेन्द्रिय) के चार लेश्या और संज्ञी अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि के तीन अशुभ लेश्या होती हैं ।।५३०।। भोगभूमिया अपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि के नियम से जघन्य कापोत लेश्या होती है, किन्तु पर्याप्त अवस्था में सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों के तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं ।।५३१।। असंयतों के छहों लेश्याएँ होती हैं। देशविरत आदि तीन (देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत) के तीन शुभ लेश्या होती हैं। उसके आगे शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगकेवली (चौदहवाँ) गुणस्थान अलेश्या अर्थात् लेश्या रहित है ।।५३२।। नष्ट कषायवालों (क्षीणकषाय अथवा अकषायी) के भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा लेश्या कही गई है। अथवा योगप्रवृत्ति की मुख्यता से वहाँ लेश्या होती है ।।५३३।। भवन आदि देवों में तीन (भवनत्रिक) के तेज (पीत) लेश्या, दो (सौधर्म व ऐशान) के पीत लेश्या, दो (सानत्कुमार-माहेन्द्र) के पीत व पद्म, छह (ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र) के पद्म लेश्या, दो (शतार, सहस्रार) के पद्म व शुक्ललेश्या, तेरह (आनत, प्राणत, आरण, अच्युत तथा नव ग्रैवेयक) के शुक्ल लेश्या तथा चौदह (नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर) के परम शुक्ल लेश्या होती है ।।५३४-५३५।।

विशेषार्थ – नारकी जीवों के अशुभतर लेश्या होती है।[1] तिर्यंचों के जो अशुभ कापोतलेश्या होती है उससे भी अशुभतर कापोत लेश्या प्रथम नरक में होती है।[2] उससे भी अशुभतर कापोत लेश्या दूसरे नरक में होती है। तीसरे नरक के उपरिभाग में कापोत लेश्या और नीचे के भाग में नील लेश्या होती है। चौथे नरक में नील लेश्या होती है। पाँचवें नरक के उपरिभाग में नीललेश्या और अधोभाग में कृष्णलेश्या होती है। छठे नरक में कृष्ण लेश्या और सातवें नरक में परम कृष्ण लेश्या होती है। ये लेश्याएँ उत्तरोत्तर अशुभतर अशुभतर होती गई हैं।[3] भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषी देवों के अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्या अर्थात् कृष्ण-नील व कापोत लेश्या, पर्याप्त अवस्था में तेजो (पीत) लेश्या इस प्रकार चार लेश्याएँ होती हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के संक्लेश परिणामों के कारण तीन (कृष्ण-नील-कापोत) अशुभ लेश्याएँ होती हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के कृष्ण, नील, कापोत और पीत लेश्या होती हैं, क्योंकि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच के देवायु का बंध संभव है। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्यों में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों के छहों ही लेश्याएँ होती हैं। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन तीन के पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। व्रत ग्रहण करते ही अशुभ लेश्याओं का अभाव हो जाता है, क्योंकि पापों का क्रमशः एकदेश व सर्वदेशत्याग हो जाता है। अपूर्वकरण [आठवें] गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ललेश्या ही होती है, किन्तु विशुद्धि की उत्तरोत्तर-वृद्धि के कारण शुक्ल लेश्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अयोगकेवली के योग का भी अभाव हो जाने के कारण लेश्या का भी अभाव हो जाता है इसलिए अयोगकेवली अलेश्य अर्थात् लेश्यारहित है।[4]

शङ्का—चौथे गुणस्थान तक ही आदि की तीन लेश्याएँ (कृष्ण, नील, कापोत) क्यों होती हैं?

---

१. "नारका नित्याऽशुभतरलेश्या...." [त. सू. अ ३ सू. ३]। २. "तिर्यग्व्यपेक्षोऽतिशयनिर्देशः।" [रा. वा. ३/३/२]। ३. त. रा. ३/३/४। ४. रा. वा. ४/२२/१०।

समाधान—तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषाय के उदय का सद्भाव चौथे गुणस्थान तक ही पाया जाता है, इसलिए चौथे गुणस्थान तक ही तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं।[1]

शङ्का—जिन जीवों की कषाय क्षीण (नष्ट) अथवा उपशान्त हो गई है उनके शुक्ल लेश्या का होना कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनमें कर्मलेप का कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से उनके शुक्ल लेश्या मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।[2] अकषाय वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते, ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है; क्योंकि वह योग प्रवृत्ति का विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती।[3] सचमुच क्षीणकषाय जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आता, यदि केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्पत्ति मानी जाती। किन्तु शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि यह भी कर्मबन्ध में निमित्त होता है। इस कारण कषायों के नष्ट हो जाने पर भी योग रहता है, इसलिए क्षीणकषाय जीवों के लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता।[4]

सौधर्मैशान देवों के मध्यम पीत लेश्या होती है। सानत्कुमार माहेन्द्र देवों के प्रकृष्ट पीत लेश्या और जघन्य पद्म लेश्या होती है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ स्वर्गों में मध्यम पद्म लेश्या होती है। शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रार स्वर्ग के देवों में प्रकृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ल लेश्या होती है। आनत आदि (आनत प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्ग तथा नव ग्रैवेयक) में मध्यम शुक्ल लेश्या जाननी चाहिए। नवानुदिश तथा पंचानुत्तर विमानों में परम शुक्ल लेश्या होती है।[5]

इस प्रकार किस जीव में कौनसी लेश्या होती है अथवा किस लेश्या का कौन-कौन स्वामी है, यह कथन कर के एक गाथा द्वारा साधन का कथन किया जाता है—

वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
मोहुदय-खओवसमोवसमखजजीवफंदणं भावो ॥५३६॥

गाथार्थ—वर्ण नाम कर्मोदय से जो शरीर का वर्ण (रंग) होता है वह द्रव्य लेश्या है। मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम या क्षय सहित जो जीवप्रदेशों की चंचलता अथवा परिस्पन्द अथवा संकोच-विकोच है (योग है) वह भावलेश्या है ॥५३६॥

विशेषार्थ—नाम कर्म (वर्ण नाम कर्म) के उदय के निमित्त से द्रव्य लेश्या होती है। कषाय के उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय होने पर आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द रूप जो योग है वह भाव लेश्या है।[6] गाथा ४९६-४९८ के विशेषार्थ में द्रव्य लेश्या का कथन विस्तार पूर्वक किया जा चुका है और

---

१. धवल पु. १ पृ. ३९१। २. धवल पु. १ पृ. १९१। ३. धवल पु. १ पृ. १५०। ४. धवल पु. ७ पृ. १०५
५. रा. वा. ४।२२।२-६ टिप्पण सहित। ६. रा. वा. ४।२२।१०।

लेश्या मार्गणा की शेष गाथाओं के विशेषार्थ में भाव लेश्या का कथन हो चुका है अतः पुनरुक्त दोष के कारण यहाँ पर कथन नहीं किया गया है।

तीन अशुभ लेश्याओं में जीवों का प्रमाण

किण्हादिरासिमावलि-असंखभागेण भजिय पविभत्ते।
हीणकमा कालं वा अस्सिय दव्वा दु भजिदव्वा ॥५३७॥
खेत्तादो असुहतिया अणंतलोगा कमेण परिहीणा।
कालादोतीदादो अणंतगुणिदा कमा हीणा ॥५३८॥
केवलणाणणंतिमभागा भावादु किण्हतियजीवा ॥५३९ पूर्वार्द्ध॥

गाथार्थ—कृष्ण आदि अर्थात् कृष्ण नील कापोत लेश्या वालों की जितनी राशि है उसको आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर पुनः भाग देना चाहिए। अथवा काल के आश्रय से भाग देकर कृष्ण नील कापोत का पृथक्-पृथक् **द्रव्य** प्राप्त कर लेना चाहिए, जो हीन क्रम लिये हुए है ॥५३७॥ **क्षेत्र** प्रमाण की अपेक्षा तीन अशुभ लेश्या वाले जीव अनन्त लोक प्रमाण हैं किन्तु उत्तरोत्तर क्रम से हीन-हीन हैं। **काल** की अपेक्षा तीन अशुभ लेश्या वाले जीव अतीत काल से अनन्तगुणे हैं जो उत्तरोत्तर हीन क्रम से हैं ॥४३८॥ कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले जीव **भाव** की अपेक्षा केवलज्ञान के अनन्तवें भाग हैं ॥५३९ पूर्वार्द्ध॥

विशेषार्थ—सर्व जीवराशि के अनन्तखण्ड करने पर बहुभाग प्रमाण तीन अशुभ लेश्या वाले जीव हैं अथवा संसारी जीवों के प्रमाण में से तीन शुभ लेश्या वालों की संख्या, जो असंख्यात है, घटा देने पर किंचित् ऊन संसारी जीवराशि प्रमाण अथवा कुछ अधिक एकेन्द्रिय जीवराशिप्रमाण तीन अशुभ लेश्या वालों की जीवराशि है। इस राशि को आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को पृथक् रखकर शेष बहुभाग के तीन समान खण्ड करके, शेष एक भाग, जो पृथक् रखा गया था, उसे आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करके, बहुभाग को उन तीन समान खण्डों में से एक-एक खण्ड में मिलाने पर कृष्णलेश्या वालों का प्रमाण प्राप्त होता है। पृथक् रखे हुए एक भाग के शेष भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग देने से लब्ध बहुभाग को दूसरे समान खण्ड में मिलाने पर नीललेश्या वाले जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। शेषभाग को तीसरे समान खण्ड में मिलाने पर कापोतलेश्या वाले जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। कापोतलेश्या वाली जीवराशि, नीललेश्या-जीवराशि से हीन है। नीललेश्या-जीवराशि कृष्णलेश्या-जीवराशि से हीन है। इस प्रकार ये जीव-राशियाँ हीन क्रम लिये हुए हैं।

कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं का सामूहिक काल, कर्मभूमिया जीवों में, अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उस अन्तर्मुहूर्त काल में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को पृथक् रखकर बहुभाग के तीन समान खण्ड करने चाहिए। पृथक् रखे हुए एक भाग को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर बहु भाग को तीन समान खण्डों में से एक खण्ड में मिलाने पर कृष्ण लेश्या के काल की शलाका प्राप्त होती है। उस पृथक् रखे हुए एक भाग के अवशिष्ट भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करके बहुभाग को दूसरे समखण्ड में मिलाने पर नील

लेश्या के काल की शलाका प्राप्त होती है। शेष को तीसरे समखण्ड में मिलाने पर कापोतलेश्या के काल की शलाका प्राप्त होती है। अशुभ लेश्या वाली जीवराशि को सामूहिक काल अन्तर्मुहूर्त से भाजित करके और अपनी-अपनी काल शलाका से गुणा करने पर अपनी-अपनी लेश्या का जीव द्रव्य-प्रमाण प्राप्त हो जाता है, जो उपर्युक्त हीन क्रम वाला है। अर्थात् कृष्ण लेश्या के द्रव्य प्रमाण से हीन नील लेश्या का जीव द्रव्य प्रमाण है और उससे भी हीन कापोत लेश्या का द्रव्य प्रमाण है।[1]

शङ्का—अशुभ लेश्या वाले जीव एकेन्द्रिय जीवों से कुछ अधिक कैसे हैं ?

समाधान—संसारी जीवराशि में एकेन्द्रिय जीव अनन्त हैं। द्वीन्द्रियादि जीव असंख्यात हैं। सब ही एकेन्द्रिय जीवों के अशुभ लेश्या होती है। इसलिए अशुभ लेश्या वाले जीवों का प्रमाण एकेन्द्रियों से कुछ अधिक है, यह सिद्ध हो जाता है।

एकेन्द्रिय जीव क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तानन्त लोक प्रमाण हैं।[2] अतः अशुभ लेश्या वाले जीव भी अनन्तानन्त लोक प्रमाण हैं। अनन्तानन्त लोकों के जितने प्रदेश हैं उतने अशुभ लेश्या वाले जीव हैं। अथवा एक लोक के प्रदेश असंख्यात हैं उनको अनन्तानन्त से गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने अशुभ लेश्या वाले जीव हैं। वे उत्तरोत्तर हीन-हीन हैं।

काल की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होते हैं।[3] कहा भी है—

एगणिगोदसरीरे दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१६६॥ [गो. जी.]

—द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा सिद्धराशि से और सम्पूर्ण अतीतकाल के समयों से अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं।

अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलङ्कसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१६७॥ [गो. जी.]

—ऐसे भी अनन्त जीव हैं जिन्होंने दुर्लेश्या रूप परिणामों के कारण अभी तक त्रस पर्याय नहीं पाई।

इन आर्षप्रमाणों से सिद्ध है कि एकेन्द्रिय जीव अर्थात् अशुभ लेश्या वाले जीव अतीत काल से अथवा अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अनन्तगुणे हैं।

सर्वोत्कृष्ट संख्या केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की है जो उत्कृष्ट अनन्तानन्त हैं। संसार में जितने भी द्रव्य-गुण-पर्यायें व शक्ति अंश हैं, वे सब मिलकर भी केवलज्ञान के अनन्तवें भाग ही होते

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४६६। २. "खेत्तेण अणंताणंतलोगा ॥६०॥" [धवल पु. ७ पृ. २३८]। ३. "अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ॥५६॥" [धवल पु. ७ पृ. २६८]।

हैं। सर्व जीवराशि भी केवलज्ञान के अनन्तवें भाग है तो अशुभ लेश्या वाले जीव भी केवलज्ञान के अनन्तवें भाग ही हैं। इसीलिए भाव की अपेक्षा केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण अशुभ लेश्या वाले जीव हैं।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाले जीवों में से प्रत्येक का द्रव्य प्रमाण अनन्त है। वे अनन्तानन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों के द्वारा अपहृत नहीं होते। अर्थात् एक ओर तो अनन्तानन्त कल्प के समयों की राशि हो और दूसरी ओर अशुभ लेश्या जीवराशि हो। दोनों राशियों में एक-एक निकालने पर कालसमयराशि तो समाप्त हो जाएगी, किन्तु अशुभ लेश्या वाली जीवराशि समाप्त नहीं होगी; यह अभिप्राय है।

क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तानन्त क्षेत्र प्रमाण हैं।[1]

तेजस्त्रिक अर्थात् तीन शुभ लेश्याओं के जीवों का प्रमाण

तेउतिया संखेज्जा संखासंखेज्जभागकमा ॥५३९ उत्तरार्ध॥

जोइसियादो अहिया तिरिक्खसण्णिस्स संखभागो दु।
सूइस्स अंगुलस्स य असंखभागं तु तेउतियं ॥५४०॥

बेसदछप्पण्णंगुलकदि-हिद-पदरं तु जोइसियमाणं।
तस्स य संखेज्जदिमं तिरिक्खसण्णीण परिमाणं ॥५४१॥

तेउदु असंखकप्पा पल्लासंखेज्जभागया सुक्का।
ओहिअसंखेज्जदिमा तेउतिया भावदो होंति ॥५४२॥

गाथार्थ—तेज आदि तीन शुभ लेश्या वाले असंख्यात हैं। तेजो लेश्या के संख्यातवें भाग पद्मलेश्या वाले और पद्मलेश्या के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुक्ललेश्या वाले जीव हैं ॥५३९॥ ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक तेज लेश्या वाले व संज्ञी तिर्यंचों के संख्यातवें भाग पद्मलेश्या वाले हैं। सूच्यङ्गुल के असंख्यातवें भाग शुक्ल लेश्या वाले जीव हैं। यह तेजत्रिक लेश्या का प्रमाण है ॥५४०॥ दो सौ छप्पन अङ्गुल के (कदि) वर्ग से जगत्प्रतर को भाग देने से ज्योतिषी देवों का प्रमाण प्राप्त होता है। इसके संख्यातवें भाग प्रमाण संज्ञी तिर्यंच हैं। ।५४१॥ असंख्यात कल्पकाल प्रमाण तेजोलेश्या वाले और पद्मलेश्या वाले जीव हैं। पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुक्ललेश्या वाले जीव हैं। अवधिज्ञान के असंख्यातवें भाग प्रमाण तेजत्रिक लेश्या वाले जीव हैं ॥५४२॥

विशेषार्थ—तेजो लेश्यावाले द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक हैं।[2] पर्याप्त काल में सभी ज्योतिषी देव तेजो लेश्या से युक्त होते हैं। तथा अपर्याप्त काल में वे ही देव कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से युक्त होते हैं। वे अपर्याप्त ज्योतिषी देव अपनी पर्याप्त राशि के

---

१. रा. वा. ४/२२/१०। २. तेउलेस्सिया दव्वपमाणेण केवडिया ?॥१४८॥ जोदिसियदेवेहि सादिरेयं ॥१४९॥ [धवल पु. ७ पृ. २९२]।

असंख्यातवें भाग मात्र होते हैं। वाणव्यन्तर देव भी पर्याप्त काल में तेजोलेश्या से युक्त होते हैं। वे वाणव्यन्तर पर्याप्त जीव ज्योतिषियों के संख्यातवें भाग मात्र होते हैं। इन्हीं वाणव्यन्तरों में अपर्याप्त जीव कृष्ण नील और कापोत लेश्या से युक्त होते हैं। और वे अपर्याप्त वाणव्यन्तर देव अपनी पर्याप्त राशि के संख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों में भी तेजोलेश्या से युक्त जीव जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, जो पद्म लेश्या से युक्त तिर्यंचराशि से संख्यात गुणी है। इन तीनों राशियों को भवनवासी और सौधर्म-ऐशान राशि के साथ एकत्र कर देने पर यह राशि ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक हो जाती है।[1]

शङ्का—भवनवासी देवों का कितना प्रमाण है?

समाधान—भवनवासी देव असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण हैं ॥३७॥ ये असंख्यात जगश्रेणियाँ जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ॥३८॥ उन असंख्यात जगश्रेणियों की विष्कम्भ सूची सूच्यंगुल को सूच्यंगुल के वर्गमूल से गुणित करने पर जो लब्ध हो, उतनी है ॥३९॥[2] अर्थात् सूच्यंगुल × सूच्यंगुल का वर्गमूल × जगश्रेणी—घनांगुल का वर्गमूल गुणित जगश्रेणी। इतने भवनवासी देव हैं।

शङ्का—वानव्यन्तर देवों का कितना प्रमाण है?

समाधान—वानव्यन्तर देवों का प्रमाण जगत्प्रतर के संख्यात सौ योजन के वर्ग रूप प्रतिभाग से प्राप्त होता है ॥४३॥[3] सूत्र में 'संख्यात सौ योजन' ऐसा कहने पर तीन सौ योजनों के अंगुल करके वर्गित करने पर पाँच सौ तीस कोड़ाकोड़ी, चौरासी लाख सोलह हजार कोडी (५३०८४१६०००००००००००) है।[4] अर्थात् तीन सौ योजन के अंगुल का वर्ग करके जगत्प्रतर में भाग देने से जो लब्ध प्राप्त हो उतने वानव्यन्तर देव हैं।

शङ्का—सौधर्म-ऐशान देव कितने हैं?

समाधान—सौधर्म-ऐशान देव असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण हैं ॥४८॥ ये असंख्यात जगश्रेणियाँ जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ॥४९॥ उन असंख्यात जगश्रेणी की विष्कम्भ सूची सूच्यंगुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित सूच्यंगुल के द्वितीय वर्गमूल प्रमाण है ॥५०॥ घनांगुल के तृतीय वर्गमूल मात्र जगश्रेणी प्रमाण सौधर्म-ऐशान कल्पों में देव है।[5]

शङ्का—ज्योतिषी देवों की संख्या कितनी है?

समाधान—ज्योतिषी देव असंख्यात हैं, जो जगत्प्रतर को २५६ अंगुल के वर्ग ७ से भाग देने पर प्राप्त होता है।[6]

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४६१। २. "खेत्तेण असंखेज्जाओ सेडी ओ ॥३७॥ पदरस्स असंखेज्जदिभागो ॥३८॥ तासिं सेडीणं विक्खंभ सूची अंगुलं अंगुलवग्गमूलगुणिदेण ॥३९॥" [धवल पु. ७ पृ. २६१-२६२]। ३. "खेत्तेण पदरस्स संखेज्जजोयणसदवग्गपडिभाएण ॥४३॥" [धवल पु. ७ पृ २६३]। ४. "संखेज्जजोयणेत्ति वुत्ते तिण्णिजोयणसयमंगुलं काऊण वग्गिदे जो उप्पज्जदि सो छेत्तव्वो।" [धवल पु ३ पृ. २७३]। ५. धवल पु. ७ पृ. २६५। ६. "बे सद छप्पणंगुल कदि हिद पदरस्स" [त्रिलोकसार गा. ३०२], धवल पु. ७ पृ. २९२।

तेजोलेश्यावाले तिर्यंच भी जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं जो पद्मलेश्या से युक्त तिर्यंच राशि से संख्यात गुणे हैं।[1] यहाँ पर जगत्प्रतर को भागाहार के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है इसलिए भागाहार का कथन नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में धवल पु. ३ पृ. २३० से २३२ तक देखना चाहिए।

मनुष्यों में तेजोलेश्या पर्याप्तकों में ही सम्भव है, क्योंकि लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों में तो तीन अशुभ लेश्या होती है। मनुष्य पर्याप्त संख्यात हैं। अतः तेजोलेश्या वाले मनुष्य संख्यात हैं। इस प्रकार तेजो लेश्या वाले "देव, तिर्यंच व मनुष्यों" को जोड़ने पर साधिक ज्योतिष देवराशि प्राप्त होती है।[2]

पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं ॥१५१॥[3] पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों के अवहारकाल को संख्यात से गुणित करने पर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों का अवहार काल होता है। इसे संख्यात से गुणित करने पर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तेजो लेश्या वालों का अवहार काल होता है। इसे संख्यात से गुणित करने पर पद्मलेश्या वालों का अवहार काल होता है।[4] अथवा तत्प्रायोग्य संख्यात प्रतरांगुलों का जगत्प्रतर में भाग देने पर पद्मलेश्या वालों का प्रमाण होता है।[5]

शुक्ललेश्यावाले जीव द्रव्यप्रमाण से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ॥१५३॥[6] शुक्ल लेश्यावाले जीवों के द्वारा अन्तर्मुहूर्त से पल्योपम अपहृत होता है ॥१५४॥[7] यहाँ अवहार काल असंख्यात आवली मात्र है। इसका पल्योपम में भाग देने पर शुक्ललेश्यावाले जीवों का प्रमाण होता है।[8] इसका सारांश यह है—

तेजो लेश्यावाले, ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक हैं। पद्मलेश्यावाले संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंचनी के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं। शुक्ललेश्यावाले पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं।[9]

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

शुक्ललेश्यावाले जीव सबसे स्तोक हैं ॥१७९॥ क्योंकि अतिशय शुभ लेश्याओं का समुदाय कहीं पर किन्हीं के ही सम्भव है॥ शुक्ल लेश्या वालों से पद्मलेश्या वाले असंख्यातगुणे हैं ॥१८०॥ गुणाकार जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग यानी असंख्यात जगश्रेणी हैं, क्योंकि वह गुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित प्रतरांगुल से अपवर्तित जगत्प्रतर प्रमाण हैं। पद्मलेश्यावालों से तेजो लेश्यावाले संख्यातगुणे हैं ॥१८१॥ क्योंकि पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनियों के संख्यातवें भाग प्रमाण पद्मलेश्यावालों के द्रव्य का तेजो लेश्यावालों के द्रव्य में भाग देने पर संख्यात रूप उपलब्ध होते हैं।[10]

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४६१। २. धवल पुस्तक ७ पृ. २९२-२९३। ३. "पम्मलेस्सिया दव्वपमाणेण केवडिया? ॥१५०॥ सण्णि पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिणीणं संखेज्जदि भागो ॥१५१॥" [धवल पु. ७ पृ. २९३] व [धवल पु. ३ सूत्र १६६ पृ. ४६२] ४. धवल पु. ३ पृ. ४६३। ५. धवल पु. ७ पृ. २९३ सूत्र १५१ की टीका। ६. सुक्कलेस्सिया दव्वपमाणेण केवडिया ॥१५१॥ पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागो ॥१५३॥" [धवल पु. ७ पृ. २९३]। ७. "एदेहि पलिदोवममवहिरदि अंतोमुहुत्तेण ॥१५४॥" [धवल पु. ७ पृ. २९४]। ८. धवल पु. ७ पृ. २९४। ९. रा. वा. ४/२२/१०। १०. धवल पु. ७ पृ. ५६९-५७०।

काल की अपेक्षा पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणियों से अपहृत होते हैं ।।२०।।[1] अर्थात् योनिनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की संख्या असंख्यात कल्प काल है । इसके संख्यातवें भाग पद्मलेश्यावाले जीव हैं अतः वे भी असंख्यात कल्प काल प्रमाण हैं । पद्मलेश्या वालों से संख्यातगुणे तेजो लेश्यावाले जीव हैं अतः उनका प्रमाण भी असंख्यात कल्प काल है । शुक्ल लेश्यावाले जीव पल्य के असंख्यातवें भाग हैं ।

अवधिज्ञान के जितने विकल्प हैं उसके असंख्यातवें भाग प्रत्येक शुभ लेश्या वाले जीव हैं । असंख्यात के भी असंख्यात भेद हैं । अतः इनमें हीन अधिकता अल्पबहुत्व के अनुसार जाननी चाहिए ।

लेश्याओं का क्षेत्र

सट्ठाणसमुग्घादे उववादे सव्वलोयमसुहाणं ।
लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेत्तं तु तेउतिये ।।५४३।।
सुक्कस्स समुग्घादे असंखलोगा य सव्वलोगो य ।।५४५ का पूर्वार्ध ।।

गाथार्थ—अशुभ लेश्या में स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक प्रमाण क्षेत्र है । तेजत्रिक अर्थात् तीन शुभ लेश्याओं का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है ।।५४३।। शुक्ल लेश्या का समुद्घात की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, संख्यात बहुभाग अथवा सर्वलोक है ।।५४५ पूर्वार्ध ।।

विशेषार्थ—कृष्ण, नील व कापोत लेश्या का क्षेत्र स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक है । तेज और पद्मलेश्या का क्षेत्र स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग है । शुक्ल लेश्या का क्षेत्र स्वस्थान और उपपाद की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग है, समुद्घात की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यात बहुभाग व सर्वलोक है ।[2] अब धवल ग्रन्थ के आधार से क्षेत्र का कथन किया जाता है—

शङ्का—क्षेत्र किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसमें जीव 'क्षियन्ति' अर्थात् निवास करते हैं, वह क्षेत्र है । यह निरुक्ति अर्थ है । आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यक चरित (यक्षों के विचरण स्थान) ये समानार्थक हैं । अवगाहन लक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये द्रव्य क्षेत्र के एकार्थक नाम हैं । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा क्षेत्र एक प्रकार का है । अथवा प्रयोजन के आश्रय से क्षेत्र दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश । जिसमें जीवादि द्रव्य अवलोकन किये जाते हैं, पाये जाते हैं वह लोक है । इसके विपरीत जहाँ जीवादि द्रव्य नहीं देखे जाते वह अलोक है ।[3] अथवा देश के भेद से क्षेत्र तीन प्रकार का है । मन्दराचल (सुमेरु पर्वत) की चूलिका से ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक, मन्दराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक, मन्दराचल से परिच्छिन्न क्षेत्र अर्थात् तत्प्रमाण क्षेत्र मध्य लोक है । "**एत्थ लोगे त्ति वुत्ते सत्त रज्जूणं**

---

१. धवल पु. ७ पृ. २५२ । २. रा. वा. ४/२२/१० । ३. "धम्माऽधम्मा कालो पुग्गल जीवा य संति जावदिये । आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति ।।२०।।" [वृहद् द्रव्य संग्रह]।

घणो घेतव्वो।" यहाँ सात राजुओं का घनात्मक लोक ग्रहण करना चाहिए।[1] अन्य आचार्यों के द्वारा प्ररूपित मृदंगाकार लोक को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका घनफल १६४ $\frac{३२८}{१३५६}$ राजू होता है, जो सात राजुओं के घनात्मक (७×७×७) ३४३ घन राजू के संख्यातवें भाग है।[2] सात राजू के घनात्मक लोक के सिवा अन्य कोई क्षेत्र नहीं है जिसे 'लोक संज्ञा' दी जा सके।[3]

शङ्का—असंख्यातप्रदेशी लोक में असंख्यातप्रदेशी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल लोकाकाशप्रमाण असंख्यात कालाणु, लोकाकाशप्रमाण धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्य कैसे रहते हैं?

समाधान—एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, अथवा एक गूढ़ रस विशेष से भरे सीसे के बर्तन में बहुत सा सुवर्ण समा जाता है, अथवा भस्म से भरे हुए घट में सुई और ऊँटनी का दूध आदि समा जाते हैं, इत्यादि दृष्टान्तों के अनुसार विशिष्ट अवगाहना शक्ति के कारण असंख्यातप्रदेश वाले लोक में पूर्वोक्त जीव, पुद्गल आदि के भी समा जाने में विरोध नहीं आता।[4]

क्षेत्र व स्पर्शन का कथन स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा तीन प्रकार का है। उनमें स्वस्थान दो प्रकार का है— स्वस्थान स्वस्थान और विहारवत्स्वस्थान। उनमें से अपने उत्पन्न होने के ग्राम में, नगर में अथवा अरण्य में सोना, बैठना, चलना आदि व्यापार से युक्त होकर रहने का नाम स्वस्थानस्वस्थान है। अपने उत्पन्न होने के ग्राम, नगर अथवा अरण्य आदि को छोड़कर अन्यत्र शयन, निषीदन (अर्थात् बैठना) और परिभ्रमण आदि व्यापार से युक्त होकर रहने का नाम विहारवत्स्वस्थान है। समुद्घात सात प्रकार का है—१. वेदना समुद्घात, २. कषाय समुद्घात, ३. वैक्रियिक समुद्घात, ४. मारणान्तिक समुद्घात, ५. तैजसकशरीर समुद्घात ६. आहारकशरीर समुद्घात और ७. केवली समुद्घात।[5]

उनमें से नेत्रवेदना, शिरोवेदना आदि के द्वारा अपने शरीर के बाहर एक प्रदेश को आदि करके उत्कर्षतः जीवप्रदेशों के विष्कम्भ और उत्सेध की अपेक्षा तिगुणे प्रमाण में फैलने का नाम वेदना समुद्घात है।[6] उत्सेध की अपेक्षा और विष्कम्भ की अपेक्षा तिगुणा फैलने से अवगाहना (३×३) नौ गुणी हो जाती है।[7] क्रोध, भय आदि कषाय की तीव्रता से जीवप्रदेशों का तिगुणे प्रमाण फैलना कषाय समुद्घात है।[8] इसमें भी अवगाहना ९ गुणी हो जाती है।[9] विविध ऋद्धियों के माहात्म्य से अथवा वैक्रियिक शरीर के उदयवाले देव व नारकी जीवों का संख्यात व असंख्यात योजनों को शरीर से व्याप्त करके अथवा अपने स्वभाविक आकार को छोड़कर अन्य आकार से जीव-प्रदेशों के अवस्थान का नाम वैक्रियिक समुद्घात है।[10] अपने वर्तमान शरीर को नहीं छोड़कर आयाम की अपेक्षा अधिष्ठित प्रदेश से लेकर उत्पन्न होने के क्षेत्र तक, तथा बाहल्य से एक प्रदेश को आदि

---

१. धवल पु. ४ पृ. ७-८-९-१०। २. धवल पु. ४ पृ. ११-१८। ३. "ण च एदव्वदिरित्तमण्णं सत्तरज्जुघण पमाणं लोगसण्णिदं खेत्तमत्थि।" [धवल ३४ पृ. १८]। ४. वृहद् द्रव्य संग्रह गाथा २० की टीका। ५. ध. पु. ४ पृ. २६; गो. जी. गा. ६६७। ६. धवल पु. ४ पृ. २६, पु. ७ पृ. २९९; पु. ११ पृ. १८। ७. धवल पु. ७ पृ. ३०१, पु. ४ पृ. ६३। ८. धवल पु. ४ पृ. २६, पु. ७ पृ. २९९। ९. धवल पु. ४ पृ. ६३, पु. ७ पृ. ३०१। १०. धवल पु. ४ पृ. २६, पु. ७ पृ. २९९।

करके उत्कर्षतः शरीर से तिगुणे प्रमाण जीवप्रदेशों के काण्ड, एक खम्भ स्थित तोरण, हल व गोमूत्र के आकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।[1] तैजस्क शरीर के विसर्पण का नाम तैजस्क शरीर समुद्घात है। वह दो प्रकार का होता है—निस्सरणात्मक और अनिस्सरणात्मक। उनमें जो निस्सरणात्मक तैजस्कशरीर विसर्पण है वह प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। उनमें अप्रशस्त निस्सरणात्मक तैजस्कशरीर समुद्घात बारह योजन लम्बा, नौ योजन विस्तार वाला सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग मोटाई वाला, जपाकुसुम के सदृश लालवर्णवाला, भूमि और पर्वतादि के जलाने में समर्थ, प्रतिपक्षरहित, रोष रूप ईंधनवाला, बायें कन्धे से उत्पन्न होने वाला और इच्छित क्षेत्र प्रमाण विसर्पण करने वाला होता है। तथा जो प्रशस्त निस्सरणात्मक तैजस शरीर समुद्घात है, वह भी विस्तारादि में तो अप्रशस्त तैजस के समान है, किन्तु इतनी विशेषता है कि वह हंस के समान धवलवर्णवाला, दाहिने कन्धे से उत्पन्न होकर प्राणियों की अनुकम्पा के निमित्त से उत्पन्न होकर राष्ट्रविप्लव, मारी, रोग आदि के प्रशमन करने में समर्थ होता है। अनिस्सरणात्मक तैजस शरीर समुद्घात का यहाँ अधिकार नहीं है।[2]

जिनको ऋद्धि प्राप्त हुई है, ऐसे महर्षि के आहारक समुद्घात होता है।[3] इसका विस्तार पूर्वक कथन गाथा २३५-२३९ में किया जा चुका है।

दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से केवली समुद्घात चार प्रकार का है। उनमें जिसकी अपने विष्कम्भ से तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्व शरीर के बाहल्यरूप अथवा पूर्वशरीर से तिगुने बाहल्य रूप दण्डाकार से केवली के जीवप्रदेशों का कुछ कम चौदह राजू फैलने का नाम दण्डसमुद्घात है। दण्डसमुद्घात में कहे गये बाहल्य और आयाम के द्वारा वातवलय से रहित सम्पूर्ण क्षेत्र के व्याप्त करने का नाम कपाटसमुद्घात है। वातवलय अविरुद्ध क्षेत्र के अतिरिक्त सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर केवली भगवान के जीवप्रदेशों का फैलना प्रतर समुद्घात है। घनलोक प्रमाण केवली भगवान के जीव प्रदेशों का सर्वलोक को व्याप्त करने का नाम लोकपूरण समुद्घात है।[4]

आगे गाथा ६६८ में समुद्घात का लक्षण कहा जाएगा, अतः यहाँ पर उसका कथन नहीं किया गया।

उपपाद दो प्रकार है—ऋजुगतिपूर्वक और विग्रहगतिपूर्वक। इनमें प्रत्येक मारणान्तिकसमुद्घात पूर्वक और तद्विपरीत के भेद से दो प्रकार है।[5] उपपाद उत्पन्न होने के पहले समय में ही होता है। ऋजुगति से उत्पन्न हुए जीवों का क्षेत्र बहुत नहीं पाया जाता है, क्योंकि इसमें जीवों के समस्त प्रदेशों का संकोच हो जाता है। विग्रह तीन प्रकार का है—पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिक। इनमें से पाणिमुक्ता गति एक विग्रह वाली होती है। विग्रह, वक्र और कुटिल ये सब एकार्थवाची हैं। लांगलिका गति दो विग्रहवाली होती है और गोमूत्रिका गति तीन विग्रहवाली होती है। इनमें मारणान्तिक समुद्घात के बिना विग्रहगति से उत्पन्न हुए जीवों के और ऋजुगति से उत्पन्न जीवों के प्रथम समय में होने वाली अवगाहनाएँ समान ही होती हैं। विशेषता केवल इतनी

---

१. धवल पु. ४ पृ. २७ व पु. ७ पृ. ३००। २. धवल पु. ४ पृ. २७-२८। ३. धवल पु. ४ पृ. २८। ४. धवल पु. ४ पृ. २८-२९। ५. धवल पु. ७ पृ. ३००।

है कि दोनों अवगाहनाओं के आकार में समानता का नियम नहीं है, क्योंकि आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले और संस्थान नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले संस्थानों के एकत्व का विरोध है। मारणान्तिक समुद्घात करके विग्रह गति से उत्पन्न हुए जीवों के पहले समय में असंख्यात योजन-प्रमाण अवगाहना होती है, क्योंकि पहले फैलाये गये एक, दो और तीन दण्डों का प्रथम समय में संकोच नहीं होता।[1]

इस प्रकार स्वस्थान के दो भेद, समुद्घात के सात भेद और एक उपपाद, इन दस विशेषणों से यथासम्भव क्षेत्र की निरूपणा करते हैं।

कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावाले और कापोतलेश्यावाले जीवों का स्वस्थान-स्वस्थान, वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद इन पदों की अपेक्षा सर्वलोक में अवस्थान है।[2] क्योंकि तीन अशुभ लेश्या वाले जीव अनन्त हैं। अथवा एकेन्द्रियों की प्रधानता है।

शङ्का—स्वस्थान-स्वस्थान के साथ-साथ विहारवत् स्वस्थान का कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—तीन अशुभ लेश्याओं में एकेन्द्रिय जीवों की प्रधानता है, क्योंकि उनकी संख्या अनन्त है। एकेन्द्रिय जीवों में विहारवत्स्वस्थान है नहीं,[3] इसलिए उसका कथन स्वस्थान-स्वस्थान के साथ नहीं किया गया।

शङ्का—वैक्रियिक समुद्घात का कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— एकेन्द्रियों में वैक्रियिक समुद्घात मात्र बादर पर्याप्त अग्निकायिक व वायुकायिक जीवों में होता है, जिनकी संख्या असंख्यात है। अतः इनका क्षेत्र सर्वलोक सम्भव नहीं है।

विहारवत्स्वस्थान और वैक्रियिक समुद्घात की अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीवों का तीनों लोकों के असंख्यातवें भाग में, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र में अवस्थान है। किन्तु वैक्रियिक समुद्घात की अपेक्षा उक्त जीव तिर्यग्लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं।[4] तीन अशुभ लेश्या में अन्य पद सम्भव नहीं हैं।

शङ्का—अशुभ लेश्या में अन्य पद क्यों सम्भव नहीं हैं ?

समाधान—आहारक समुद्घात व तैजस समुद्घात संयमियों के होता है। संयम के साथ तीन अशुभ लेश्याओं का निषेध है। केवली-समुद्घात केवलियों के होता है जिनके मात्र शुक्ल लेश्या होती है। अतः ये तीन समुद्घात अशुभ लेश्या के साथ नहीं होते हैं।

तेजो लेश्या वालों का और पद्मलेश्या वालों का क्षेत्र—स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना समुद्घात, कषायसमुद्घात और वैक्रियिक समुद्घात पदों से तेजोलेश्यावाले जीव तीन लोकों

---

१. धवल पु. ४ पृ. २९-३०। २. धवल पु. ७ पृ. ३५७। ३. "एइंदिएसु विहारवदिसत्थाणं णत्थि" [धवल पु. ४ पृ. ३२]। ४. धवल पु. ७ पृ. ३५७।

के (सामान्य लोक, ऊर्ध्वलोक व अधोलोक) असंख्यातवें भाग में, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र में रहते हैं, क्योंकि यहाँ देवराशि की प्रधानता है। मारणान्तिक समुद्घात पद की अपेक्षा भी इसी प्रकार क्षेत्र है विशेष इतना है कि। तिर्यग्लोक से असंख्यात गुणाक्षेत्र है। इसी प्रकार उपपाद पद की अपेक्षा भी क्षेत्र का निरूपण जानना चाहिए। स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात पदों से पद्मलेश्यावाले जीव तीन लोकों के असंख्यातवें भाग में तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र में रहते हैं। क्योंकि यहाँ पर तिर्यंच राशि प्रधान है। वैक्रियिक-समुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात और उपपदों की अपेक्षा चार लोकों के असंख्यातवें भाग में और अढ़ाईद्वीप से असंख्यात गुणे क्षेत्र में अवस्थान है। क्योंकि यहाँ सनत्कुमार माहेन्द्र कल्प के देवों की प्रधानता है।[1]

स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान और उपपाद पदों से शुक्ललेश्या वाले जीव चार लोक के असंख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यात गुणे क्षेत्र में रहते हैं। यहाँ उपपादगत जीव संख्यात ही हैं, क्योंकि मनुष्यों में से यहाँ आगमन है। वेदना समुद्घात, कषायसमुद्घात, वैक्रियिक समुद्घात,दण्डसमुद्घात और मारणान्तिक समुद्घात पदों की अपेक्षा चारलोक के असंख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र में रहते हैं। इसी प्रकार तैजस समुद्घात व आहारक समुद्घात पदों का भी (तीनों शुभ लेश्याओं में) क्षेत्र निरूपण करना चाहिए, विशेष इतना है कि इन पदों की अपेक्षा उक्त जीव मानुष क्षेत्र के संख्यातवें भाग में रहते हैं।[2] शुक्ल लेश्या में दण्ड समुद्घातगत केवलज्ञानी चार लोकों के असंख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र में रहते हैं। कपाट समुद्घात गत केवलज्ञानी तीन लोक के असंख्यातवें भाग में, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग में और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र में रहते हैं। प्रतर समुद्घातगत केवली लोक के असंख्यात बहुभाग में रहते हैं। लोकपूरण समुद्घात की अपेक्षा सर्वलोक में रहते हैं।[3]

उपपादक्षेत्र निकालने के लिए गाथा सूत्र

मरदि असंखेज्जदिमं तस्सासंखा य विग्गहे होंति।
तस्सासंखं दूरे उववादे तस्स खु असंखं ॥५४४॥

गाथार्थ—सौधर्म-ईशान स्वर्ग में प्रति समय असंख्यात जीव मरते हैं और उसका असंख्यात बहुभाग विग्रह गति करने वाले हैं। और उसके भी असंख्यात बहुभाग उत्पन्न होने वाले होते हैं। और उसका असंख्यातवाँ भाग दूसरे दण्ड से उत्पन्न होने वाले जीव हैं ॥५४४॥

विशेषार्थ—धवल में इस विषय का कथन इस प्रकार है—उपपाद क्षेत्र स्थापित करते समय सौधर्मऐशान देवों की विष्कम्भसूची (घनांगुल के तृतीय वर्गमूल)से गुणित जगश्रेणी को स्थापित करके पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप सौधर्म-ऐशान सम्बन्धी उपक्रमण काल से अपवर्तित करने पर उत्पन्न होने वाले जीवों का प्रमाण होता है। पुनः असंख्यात योजन रूप दूसरे दण्ड से उत्पन्न होने वाले जीवों का प्रमाण इष्ट है, ऐसा समझकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण एक दूसरा भागहार स्थापित करना चाहिए। तथा एक प्रतरांगुल प्रमाण विष्कम्भ से और जगश्रेणी के

---

१. धवल पु. ७ पृ. ३५८-३५६। २. धवल पु. ७ पृ. ३५६-३६०। ३. धवल पु. ७ पृ. ३५३।

संख्यातवें भाग प्रमाण आयाम से क्षेत्र को स्पर्श करते हैं। सर्वत्र ऋजुगति से उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा विग्रहगति से उत्पन्न होने वाले जीव असंख्यातगुणे होते हैं क्योंकि श्रेणी की अपेक्षा उच्छ्रेणियाँ बहुत पाई जाती हैं।[1]

उपपाद पदगत तेजोलेश्या वाले जीवों का क्षेत्र प्राप्त करने के लिए अपवर्तना के स्थापित करते समय सौधर्म कल्प की जीवराशि को स्थापित कर उसमें पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण अपने उपक्रमणकाल से भाग देने पर एक समय में उत्पन्न होने वाले जीव होते हैं। पुनः एक दूसरा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग भागाहार स्वरूप से स्थापित कर एक राजू प्रमाण आयाम वाली उपपाद पद को प्राप्त जीवराशि का प्रमाण होता है। पुनः उसे संख्यात प्रतरांगुल प्रमाण राजुओं से गुणित करने पर उपपाद क्षेत्र का प्रमाण होता है।[2]

अथवा, उपपाद पद की अपेक्षा निम्नलिखित प्रकार से भी क्षेत्र का निरूपण जानना चाहिए। यहाँ अपवर्तन के स्थापित करते समय सौधर्म राशि को स्थापित कर अपने उपक्रमण कालरूप पल्योपम के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर एक समय में वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवों का प्रमाण होता है। पुनः प्रभापटल (सौधर्म स्वर्ग का चरम पटल ति. प. ८/१६१) में उत्पन्न होने वाले जीवों के प्रमाण के आगमनार्थ एक अन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग को भागाहार रूप से स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार उक्त भागाहार के स्थापित करने पर डेढ़ राजू प्रमाण (प्रभापटलतक ति. प. ८/११८-१३१-१३५, ध. ७/४४०) आयाम से उपपाद को प्राप्त जीवों का प्रमाण होता है। पुनः उसे संख्यात प्रतरांगुल मात्र राजुओं से गुणित करने पर उपपाद क्षेत्र का प्रमाण होता है।[3]

तीन अशुभलेश्याओं के स्पर्श का कथन

फासं सव्वं लोयं तिट्ठाणे असुहलेस्साणं ॥५४५ उत्तरार्ध॥

गाथार्थ—तीन अशुभलेश्याओं का तीन स्थान में स्पर्श सर्वलोक है ॥५४५ उत्तरार्ध ॥

विशेषार्थ—क्षेत्र के कथन में सर्व मार्गणास्थानों का आश्रय लेकर सभी वर्तमानकाल विशिष्ट क्षेत्र का प्रतिपादन कर दिया गया है। अब पुनः इस स्पर्शनानुयोगद्वार से क्या प्ररूपण किया जाता है? ऐसा प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि स्पर्शनानुयोग द्वार में भूत काल विशिष्ट क्षेत्र का स्पर्शन कहा गया है।[4]

कृष्ण लेश्या वाले, नील लेश्या वाले व कापोत लेश्या वाले जीवों ने स्वस्थान, वेदना-कषाय-मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदों से अतीत व वर्तमानकाल की अपेक्षा सर्वलोक का स्पर्श किया है। विहारवत्स्वस्थान और वैक्रियिक समुद्घात पदों से अतीत काल में तीन लोकों के असंख्यातवें भाग, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यात गुणे क्षेत्र का स्पर्शन किया है। विशेषता इतनी है कि वैक्रियिक पद से तीन लोकों के संख्यातवें भाग तथा मनुष्यलोक

१. धवल पु. ४ पृ. ८०। २. धवल पु. ४ पृ १२६-१३०। ३. धवल पु. ७ पृ. ३५८। ४. "अदीद-कालविसेसिदखेत्तं फोसणं वुच्चदे।" [धवल पु. ४ पृ. १४५]। "फोसणमदीदकालविसेसिदखेत्ते पदुप्पाइयमेवेत्ति सिद्धं।" [धवल पु. ४ पृ. १४६]।

और तिर्यग्लोक से असंख्यात गुणे क्षेत्र का स्पर्श किया है, क्योंकि विक्रिया करने वाले वायुकायिक जीवों के पाँच बटे चौदह भाग प्रमाण स्पर्शन पाया जाता है। तैजस व आहारक व केवली समुद्घात अशुभ लेश्या वालों के नहीं होते।[1]

अकलंकदेव ने भी कहा है कि कृष्ण, नील व कापोत लेश्यावालों ने स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद पद से सर्वलोक का स्पर्श किया है।[2]

पीत लेश्या के स्पर्शन का कथन

तेउस्स य सट्ठाणे लोगस्स असंखभागमेत्तं तु।
अडचोद्दसभागा वा देसूणा होंति णियमेण ॥५४६॥
एवं तु समुग्घादे णव चोद्दसभागयं च किंचूणं।
उववादे पढमपदं दिवड्ढचोद्दस य किंचूणं ॥५४७॥

गाथार्थ—पीतलेश्या का स्वस्थानस्वस्थान की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श है और विहारवत्स्वस्थान की अपेक्षा कुछ कम आठ बटा- चौदह भाग ($\frac{8}{14}$) स्पर्श है ॥५४६॥ उसी प्रकार समुद्घात में कुछ कम नव बटा चौदह ($\frac{9}{14}$) भाग स्पर्श किया है और उपपाद पद में कुछ कम डेढ़ बटा चौदह भाग स्पर्श किया है ॥५४६॥

विशेषार्थ—तेजोलेश्यावाले जीवों द्वारा स्वस्थान पदों से लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पृष्ट है ॥१६५॥ यहाँ क्षेत्र प्ररूपणा करनी चाहिए, क्योंकि वर्तमान काल की विवक्षा है।[3] अतीत काल की अपेक्षा कुछ कम आठ बटे चौदह भाग स्पृष्ट किया है ॥१६६॥ स्वस्थान की अपेक्षा तीन लोकों का असंख्यातवाँ भाग, तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यात गुणा क्षेत्र स्पृष्ट है। विहारवत्स्वस्थान अपेक्षा कुछ कम आठ बटे चौदह भाग स्पृष्ट है। क्योंकि तीसरे नरक तक विहार करते हुए तेजो लेश्या वाले देवों का नीचे दो राजू और ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक छह राजू इस प्रकार आठ राजू क्षेत्र का स्पर्श पाया जाता है।[4]

शङ्का—ऊपर सोलहवें स्वर्ग में तो पीत लेश्या नहीं है, मात्र शुक्ल लेश्या है। फिर ऊपर छह राजू स्पर्श कैसे सम्भव है?

समाधान—सोलहवें स्वर्ग के देवों की नियोगिनी देवियाँ सौधर्म युगल में उत्पन्न होती हैं।[5] और उनके पीत लेश्या ही होती है। सोलहवें स्वर्ग तक देव अपनी नियोगिनी देवियों को अपने विमानों में ले जाते हैं।

वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदों से परिणत तेजो लेश्या वाले जीवों द्वारा आठ बटे चौदह भाग ($\frac{8}{14}$) स्पृष्ट है। क्योंकि विहार करते हुए देवों के ये तीनों पद सर्वत्र पाये जाते हैं।

---

१. धवल पु. ७ सूत्र १६३ पृ. ४३८, सूत्र १७७ पृ. ४३४, सूत्र १३६ पृ. ४२३। २. रा. वा. ४/२२/१०।
३. धवल पु. ७ पृ. ४३८। ४. धवल पु. ७ पृ ३८३। ५. "तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः।" [ध. पु. १ पृ. ३३८]।

मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा नौ बटे चौदह ($\frac{9}{14}$) भाग स्पृष्ट है क्योंकि मेरुतल से नीचे दो राजुओं के साथ ऊपर सात राजू स्पर्शन पाया जाता है।[1]

उपपाद की अपेक्षा तेजो लेश्यावाले जीवों द्वारा अतीत काल में कुछ कम डेढ़ बटे चौदह ($\frac{1\frac{1}{2}}{14}$) भाग स्पृष्ट है ।।२०२।।[2] क्योंकि मेरुमूल से डेढ़ राजू मात्र ऊपर चढ़कर प्रभा पटल का अवस्थान है।

शंका—सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पों के प्रथम इन्द्रक विमान में स्थित तेजो लेश्यावाले देवों में उत्पन्न कराने पर डेढ़ राजू से अधिक क्षेत्र क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सौधर्म कल्प से थोड़ा ही स्थान ऊपर जाकर सानत्कुमार कल्प का प्रथम पटल अवस्थित है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि, ऐसा न मानने पर उपर्युक्त डेढ़ राजू क्षेत्र में जो कुछ न्यूनता बतलाई है वह नहीं हो सकती।[3]

पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या का स्पर्शन

पम्मस्स य सट्ठाणसमुग्घाददुगेसु होदि पढमपदं ।
अड चोद्दस भागा वा देसूणा होंति णियमेण ।।५४८।।
उववादे पढमपदं पणचोद्दसभागयं च देसूणं ।
सुक्कस्स य तिट्ठाणे पढमो छच्चोदसा हीणा ।।५४९।।

गाथार्थ—पद्मलेश्या वाले जीवों ने स्वस्थान की अपेक्षा प्रथम पद (लोक का असंख्यातवाँ भाग) स्पर्शन किया है। समुद्घात की अपेक्षा कुछ कम आठ बटे चौदह ($\frac{8}{14}$) भाग स्पर्श किया है ।।५४८।। उपपाद पदगत जीवों ने प्रथमपद (लोक का असंख्यातवाँ भाग) अथवा कुछ कम पाँच बटा चौदह भाग ($\frac{5}{14}$) स्पर्श किया है। शुक्ललेश्यावालों ने तीन स्थानों में प्रथम पद व कुछ कम छह बटा चौदह ($\frac{6}{14}$) भाग स्पर्श किया है ।।५४९।।

विशेषार्थ—पद्मलेश्यावाले जीवों ने स्वस्थान और समुद्घात पदों से लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया है अथवा अतीत काल की अपेक्षा कुछ कम आठ बटे चौदह ($\frac{8}{14}$) भाग स्पर्श किया है ।।२०३-२०५।।[4]

खुलासा इस प्रकार है—स्वस्थान स्वस्थान पद की अपेक्षा तीन लोकों के असंख्यातवें भाग, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र का स्पर्श किया है।

१. धवल पु. ७ पृ. ४३९-४४०। २. धवल पु. ७ पृ. ४४०। ३. धवल पु. ७ पृ. ४४०। ४. धवल पु. ७ पृ. ४४१।

विहारवत्स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात वैक्रियिक समुद्घात और मारणान्तिक पदों से परिणत उन्हीं पद्मलेश्यावाले देवों के द्वारा कुछ कम आठ बटे चौदह ($\frac{८}{१४}$) भाग स्पृष्ट है, क्योंकि पद्मलेश्या वाले देवों के एकेन्द्रिय जीवों में मारणान्तिक समुद्घात का अभाव है।[१] उपपाद की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पृष्ट है अथवा अतीत काल की अपेक्षा कुछ कम पाँच बटे चौदह ($\frac{५}{१४}$) भाग स्पृष्ट है ।।२०७-२०८।। क्योंकि मेरुमूल से पाँच राजूमात्र मार्ग जाकर सहस्रार कल्प का अवस्थान है।[२]

शुक्ललेश्या वाले जीवों ने स्वस्थान और उपपाद पदों से लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया है अथवा अतीतकाल की अपेक्षा कुछ कम छह बटे चौदह $\frac{६}{१४}$ भागों का स्पर्श किया है ।।२०९-२११।।[३]

खुलासा इस प्रकार है—स्वस्थान पद से तीन लोकों के असंख्यातवें भाग, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणे क्षेत्र का स्पर्श किया है। विहारवत् स्वस्थान और उपपाद पदों से छह बटे चौदह ($\frac{६}{१४}$) भागों का स्पर्श किया है, क्योंकि तिर्यग्लोक से आरण-अच्युत कल्पों में उत्पन्न होने वाले और छह राजू के भीतर विहार करने वाले उक्त जीवों के इतना मात्र स्पर्शन पाया जाता है।[४]

समुद्घात की अपेक्षा शुक्ल लेश्या वालों का स्पर्श

णवरि समुग्घादम्मि य संखातीदा हवंति भागा वा ।
सव्वो वा खलु लोगो फासो होदित्ति णिद्दिट्ठो ।।५५०।।

गाथार्थ—किन्तु (शुक्ल लेश्या वाले जीवों ने) समुद्घात की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग अथवा सर्व लोक स्पर्श किया है ।।५५०।।

विशेषार्थ—इतनी विशेषता है कि शुक्ल लेश्या वाले जीवों के द्वारा समुद्घात पदों से लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पृष्ट है अथवा अतीत काल की अपेक्षा कुछ कम छह बटे चौदह भाग स्पृष्ट है ।।२१३-२१४।।[५] क्योंकि आरण-अच्युत कल्पवासी देवों में मारणान्तिक समुद्घात को करने वाले तिर्यंच और मनुष्य पाये जाते हैं। वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घातों की अपेक्षा स्पर्शन का निरूपण विहारवत्स्वस्थान के समान है। अथवा केवलीसमुद्घात की अपेक्षा असंख्यात बहुभाग अथवा सर्व लोक स्पृष्ट है ।।२१५-२१६।।[६] दण्डसमुद्घातगत जीवों द्वारा चारों लोकों का असंख्यातवाँ भाग और अढ़ाई द्वीप से असंख्यातगुणा क्षेत्र स्पृष्ट है। इसी प्रकार कपाट समुद्घातगत जीवों द्वारा भी स्पृष्ट है। विशेष इतना है कि तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग अथवा उससे संख्यात गुणा क्षेत्र स्पृष्ट है।[७]

शङ्का—दण्ड समुद्घात को प्राप्त हुए केवलियों का उक्त क्षेत्र कैसे सम्भव है?

समाधान—उत्कृष्ट अवगाहना से युक्त केवलियों का उत्सेध एक सौ आठ प्रमाणांगुल होता है

---

१. धवल पु. ७ पृ. ४४१। २. धवल पु. ७ पृ. ४४२। ३. धवल पु. ७ पृ. ४४२ ४. धवल पु. ७ पृ. ४४३।
५. धवल पु. ७ पृ. ४४३। ६. धवल पु. ७ पृ. ४४३-४४४। ७. धवल पु. ७ पृ. ४४४।

और उसका नौवाँ भाग ($\frac{१०८}{९}$) अर्थात् बारह १२ प्रमाणांगुल विष्कम्भ होता है। इसकी परिधि $\left(\frac{१२ \times १६ + १६}{११३} + \frac{३६}{१}\right)$ सैंतीस अंगुल और एक अंगुल के एक सौ तेरह भागों में से पंचानवे भाग प्रमाण ३७$\frac{९५}{११३}$ होती है।[1] परिधि प्राप्त करने का करणसूत्र—

व्यासं षोडशगुणितं षोडश-सहितं त्रिरूपरूपैर्भक्तम्।
व्यासं त्रिगुणितसहितं सूक्ष्मादपि तद्भवेत्सूक्ष्मम्॥१४॥[2]

—व्यास को सोलह १६ से गुणा करके पुनः सोलह जोड़ें, पुनः तीन एक और एक अर्थात् ११३ का भाग देकर व्यास का तिगुणा जोड़ देवें तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परिधि का प्रमाण आ जाता है।

इस परिधि को विष्कम्भ बारह १२ अंगुल के चौड़े भाग अर्थात् तीन अंगुल से गुणित करने पर मुखरूप बारह अंगुल लम्बे और बारह अंगुल चौड़े गोल क्षेत्र के प्रतरांगुल होते हैं। इन्हें कुछ कम चौदह राजुओं से गुणित करने पर दण्ड क्षेत्र का प्रमाण $\left(३७\frac{९५}{११३} \times \frac{१२}{४} \times १४ \text{ राजू}\right)$ आता है। यह एक केवली दण्ड समुद्घात का प्रमाण है। इसको संख्यात से गुणित करने पर एक साथ समुद्घात करने वाले संख्यात केवलियों के दण्डक्षेत्र का प्रमाण आ जाता है।[3]

इस प्रकार जो क्षेत्र उत्पन्न हो उसे सामान्य लोक आदि चार लोकों से भाजित करने पर उन चार लोकों में से प्रत्येक लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण दण्डक्षेत्र आता है। तथा उक्त दण्डक्षेत्र को मानुषलोक से भाजित करने पर असंख्यात मानुषक्षेत्र लब्ध आते हैं। इतनी विशेषता है कि पल्यंकासन से दण्डसमुद्घात को प्राप्त हुए केवली का विष्कम्भ पहले कहे हुए बारह १२ अंगुल प्रमाण विष्कम्भ से तिगुणा होता है। उसका प्रमाण ३६ अंगुल है। इसकी परिधि $\left(\frac{३६ \times १६ + १६}{११३} + \frac{१०८}{१}\right)$ एक सौ तेरह अंगुल और एक अंगुल के एक सौ तेरह भागों में से सत्ताईस भाग (११३$\frac{२७}{११३}$) प्रमाण है।[4]

कपाट समुद्घात को प्राप्त हुए केवली का क्षेत्र लाने का विधान इस प्रकार है—केवलीजिन पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर समुद्घात को करते हुए यदि पल्यंकासन से समुद्घात को करते हैं तो कपाट क्षेत्र का बाहल्य छत्तीस अंगुल होता है। यदि कायोत्सर्ग से कपाट समुद्घात करते हैं तो बारह १२ अंगुल प्रमाण बाहल्य वाला कपाट समुद्घात होता है। इनमें से पहले पूर्वाभिमुख केवली के कपाटक्षेत्र के लाने की विधि का कथन करने पर चौदह राजू लम्बे, सात राजू चौड़े और छत्तीस ३६ अंगुल मोटे क्षेत्र को स्थापित करके, उसे चौदह राजू लम्बाई में से बीच में सात राजू के ऊपर छिन्न करके एक क्षेत्र के ऊपर दूसरे क्षेत्र को स्थापित कर देने पर बहत्तर अंगुल मोटा जगत्प्रतर हो जाता है। कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित हुए केवली कपाट क्षेत्र चौबीस अंगुल मोटा जगत्प्रतर होता है। उत्तराभिमुख होकर पल्यंकासन से समुद्घात को प्राप्त केवली का कपाटक्षेत्र ३६ अंगुल

---

१. धवल पु. ४ पृ. ४८। २. धवल पु. ४ पृ. ४२। ३. धवल पु. ४ पृ. ४८-४९। ४. धवल पु. ४ पृ. ४९।

मोटा जगत्प्रतर प्रमाण होता है। तथा इतर का अर्थात् उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग से समुद्घात को करने वाले केवली का कपाटक्षेत्र बारह १२ अंगुल मोटा जगत्प्रतर प्रमाण लम्बा चौड़ा होता है। क्योंकि वेदना समुद्घात को छोड़कर जीव के प्रदेश तिगुणे नहीं होते हैं। यह उपर्युक्त कपाटसमुद्घातगत केवली का क्षेत्र सामान्य लोक आदि तीन लोकों के प्रमाणरूप से करने पर उन तीन लोकों में से प्रत्येक लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण है और अढ़ाई द्वीप से असंख्यात गुणा है।[1]

प्रतर समुद्घात को प्राप्त केवली जिन लोक के असंख्यात बहुभाग प्रमाण क्षेत्र में रहते हैं। लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण वातवलय से रुके हुए क्षेत्र को छोड़कर लोक के शेष बहुभाग में रहते हैं। घनलोक का प्रमाण ३४३ घन राजू है।[2] एक हजार चौबीस करोड़, उन्नीस लाख तेरासी हजार चार सौ सत्तासी योजनों में एक लाख नौ हजार सात सौ साठ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने योजन प्रमाण बाहल्य रूप जगत्प्रतर लोक के चारों ओर वातरुद्धक्षेत्र का घनफल होता है।[3] इस वातरुद्ध क्षेत्र को घनलोक में से घटा देने पर प्रतर समुद्घात का क्षेत्र कुछ कम लोक प्रमाण होता है। प्रतर समुद्घात को प्राप्त केवली का यह क्षेत्र अधोलोक के प्रमाण रूप से करने पर कुछ अधिक अधोलोक के चौथे भाग से कम दो अधोलोक प्रमाण होता है। तथा इसे ही ऊर्ध्वलोक के प्रमाणरूप से करने पर ऊर्ध्वलोक के कुछ कम तीसरे भाग से अधिक दो ऊर्ध्वलोक प्रमाण होता है। लोकपूरणसमुद्घात को प्राप्त केवली भगवान् सर्वलोक में रहते हैं।[4]

लेश्याओं की जघन्य व उत्कृष्ट कालप्ररूपणा

कालो छल्लेस्साणं णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा।
अंतोमुहुत्तमवरं एवं जीवं पडुच्च हवे ।।५५१।।
अवहीणं तेत्तीसं सत्तर सत्तेव होंति दो चेव।
अट्ठारस तेत्तीसा उक्कस्सा होंति अदिरेया ।।५५२।।

गाथार्थ--छहों लेश्याओं का नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है ।।५५१।। और उत्कृष्ट काल क्रमशः साधिक तेंतीस सागर, सत्तरह (१७) सागर, सात (७) सागर, दो (२) सागर, अठारह (१८) सागर व तेंतीस (३३) सागर है ।।५५२।।

विशेषार्थ--नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम से लेश्यामार्गणा के अनुसार कृष्ण लेश्या वाले, नील लेश्यावाले, कापोतलेश्यावाले, तेजोलेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले और शुक्ल लेश्यावाले जीव सर्व काल रहते हैं ।।४०-४१।।[5] एक जीव की अपेक्षा तीनों अशुभ लेश्यावाले जीवों का जघन्य काल

१. धवल पु. ४ पृ. ५०। २. धवल पु. ४ पृ. ५०। ३. धवल पु. ४ पृ. ५५ "सत्तासीदिचदुस्सदसहस्सतेसीदिलक्ख उणवीसं। चउवीसहियं कोडिसहस्सगुणियं तु जगपदरं। सट्ठी सत्तसएहिं णवयसहस्सेगलक्खभजियं तु। सव्वं वादारुद्धं गणियं भणियं समासेण ।।१३९-१४०।।" [त्रि.सा.] ४. धवल पु. ४ पृ. ५६।
५. "णाणाजीवेण कालाणुगमेण लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय-णीललेस्सिय-काउलेस्सिय-तेउलेस्सिय-पम्मलेस्सिय-सुक्कलेस्सिया केवचिरंकालादो होंति ?।।४०।। सव्वद्धा ।।४१।।" [धवल पु. ७ पृ. ४६२ व ४७४]

अन्तर्मुहूर्त है ।।२८४।।[1]

जैसे—नीललेश्या में वर्तमान किसी जीव के उस लेश्या का काल क्षय हो जाने से कृष्णलेश्या हो गई, और वह उसमें सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त काल रहकर पुनः नील लेश्या वाला हो गया।

शङ्का—कृष्णलेश्या के पश्चात् कापोत लेश्या वाला क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कृष्णलेश्या से परिणत जीव के तदनन्तर ही कापोतलेश्यारूप परिणमन शक्ति का होना असम्भव है।

हीयमान कृष्णलेश्या में अथवा वर्धमान कापोत लेश्या में विद्यमान किसी जीव के नीललेश्या आ गई। तब वह जीव नीललेश्या में सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त काल रह करके जघन्य काल के अविरोध से यथासम्भव कापोत लेश्या को अथवा कृष्णलेश्या को प्राप्त हुआ; क्योंकि इन दोनों लेश्याओं के सिवाय उसके अन्य किसी लेश्या का आगमन असम्भव है। कितने ही आचार्य हीयमान लेश्या में ही जघन्य काल होता है, ऐसा कहते हैं।[2] इस प्रकार नील लेश्या का काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है।

हीयमान नीललेश्या में अथवा तेजोलेश्या में विद्यमान जीव के कापोत लेश्या आगई। वह जीव कापोत लेश्या में सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त काल रह करके, यदि तेजोलेश्या से आया है तो नील लेश्या में और यदि नीललेश्या से आया है तो तेजोलेश्या में जाना चाहिए। अन्यथा संक्लेश और विशुद्धि को आपूरण करने वाले जीव के जघन्य काल नहीं बन सकता है।

शङ्का—यहाँ पर योग परिवर्तन के समान एक समय जघन्य काल क्यों नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि योग और कषायों के समान लेश्या में लेश्या का परिवर्तन, अथवा गुणस्थान का परिवर्तन, अथवा मरण और व्याघात से एक समय काल का पाया जाना असम्भव है। इसका कारण यह है कि न तो लेश्यापरिवर्तन के द्वारा एक समय पाया जाता है, क्योंकि विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीव के द्वितीय समय में उस लेश्या के विनाश का अभाव है। तथा इसी प्रकार विवक्षित लेश्या के साथ अन्य गुणस्थान को गये हुए जीव के द्वितीय समय में अन्य लेश्या में जाने का भी अभाव है। न गुणस्थान परिवर्तन की अपेक्षा एक समय सम्भव है, क्योंकि विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीव के द्वितीय समय में अन्यगुणस्थान के गमन का अभाव है। न व्याघात की अपेक्षा ही एक समय सम्भव है, क्योंकि एक समय में वर्तमान लेश्या के व्याघात का अभाव है। और न मरण की अपेक्षा एक समय सम्भव है, क्योंकि विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीव के द्वितीय समय में मरण का अभाव है।[3]

कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट काल साधिक तेंतीस सागरोपम, नील लेश्या का साधिक सत्तरह सागरोपम और कापोत लेश्या का साधिक सात सागरोपम प्रमाण है ।।२८५।।[4]

---

१. "एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्त ।।२८४।।" [धवल पु. ४ पृ. ४५५]। २. धवल पु. ४ पृ. ४५६। ३. धवल पु. ४ पृ. ४५६-४५७, कारण देखो धवल पु. ४ पृ. ४६८ का प्रथम शंका-समाधान। ४. "उक्कस्सेण तेत्तीस सत्तारस सत्त सागरोवमाणि सादिरेयाणि ।।२८५।।[धवल पु. ४ पृ. ४५७]।

नीललेश्या में विद्यमान किसी जीव के कृष्ण लेश्या आगई। उस कृष्ण लेश्या में सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल तक रह करके मरण कर नीचे सातवीं पृथिवी (नरक) में उत्पन्न हुआ। वहाँ तैंतीस सागरोपम काल बिताकर निकला। पीछे भी अन्तर्मुहूर्त काल तक भावना के वश से वही लेश्या होती है। इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्त से अधिक तैंतीस सागरोपम कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट काल होता है।[1]

कापोत लेश्या में वर्तमान जीव के नीललेश्या आगई। उसमें उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त रहकर मरा और पाँचवीं पृथिवी में (नरक में) उत्पन्न हुआ। वहाँ पर सत्तरह १७ सागरोपम काल नील लेश्या के साथ बिताकर निकला। निकलने पर भी अन्तर्मुहूर्त तक वही लेश्या रहती है। इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्तों से अधिक सत्तरह सागरोपम नील लेश्या का उत्कृष्ट काल होता है।[2]

तेजो लेश्या में विद्यमान किसी जीव के लेश्या काल क्षीण हो जाने पर कापोतलेश्या आगई। कापोतलेश्या में अन्तर्मुहूर्त काल रहकर मरण करके तृतीय पृथिवी (नरक) में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर कापोत लेश्या के साथ सात सागरोपम बिताकर निकला। निकलने के पश्चात् भी वही लेश्या अन्तर्मुहूर्त तक रहती है। इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्त से अधिक सात सागरोपम कापोत लेश्या का उत्कृष्ट काल होता है।[3]

कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव तेज (पीत) पद्म व शुक्ल लेश्या वाला रहता है ।।१८०-१८१।।[4]

खुलासा इस प्रकार है—हीयमान पद्मलेश्या में विद्यमान किसी जीव के अपनी लेश्या का काल क्षय हो जाने से तेजो (पीत) लेश्या आगई। पीत लेश्या में सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्तकाल रह करके कापोत लेश्या को प्राप्त हो गया।[5]

हीयमान शुक्ललेश्या में विद्यमान किसी जीव के लेश्या-काल क्षय हो जाने से पद्मलेश्या होगई। सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल तक पद्मलेश्या में रहकर के तेजो (पीत) लेश्या को प्राप्त हो गया।[6]

वर्धमान पद्मलेश्या वाला कोई जीव अपनी लेश्या का काल समाप्त हो जाने से शुक्ललेश्या वाला हो गया। वहाँ सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल रहकर पुनः पद्मलेश्या को प्राप्त हुआ, क्योंकि पद्मलेश्या के अतिरिक्त अन्य किसी लेश्या में जाना सम्भव नहीं है।[7]

इस प्रकार तीनों के जघन्य कहे गये।

उत्कृष्ट काल पीत लेश्या का साधिक दो सागर, पद्म लेश्या का साधिक अठारह सागर और शुक्ललेश्या का साधिक तैंतीस सागर प्रमाण है ।।१८२।।[8]

---

१. धवल पु. ४ पृ. ४५७। २. धवल पु. ४ पृ. ४५८। ३. धवल पु. ४ पृ. ४५८। ४. "तेउलेस्सिया-पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया केवचिरं कालादो होंति? ।।१८०।। जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ।।१८१।।" [धवल पु. ७ पृ. १७५]। ५. धवल पु. ४ पृ. ४६२। ६. धवल पु. ४ पृ. ४६२। ७. धवल पु. ४ पृ. ४७२। ८. धवल पु. ७ पृ. १७५।

कापोतलेश्या में विद्यमान जीव के लेश्याकाल क्षय हो जाने से पीतलेश्या हो गई। उसमें अन्तर्मुहूर्त रहकर मरा और सौधर्म कल्प में उत्पन्न हुआ अढ़ाई सागरोपम काल तक जीवित रहकर च्युत हुआ। अन्तर्मुहूर्त काल तक पीत लेश्या सहित रहकर अन्य अविरुद्ध लेश्या में चला गया। इसी प्रकार पद्म व शुक्ल लेश्याओं सहित सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः साढ़े अठारह व तेंतीस सागरोपम आयु स्थिति वाले देवों में उत्पन्न होकर अपनी-अपनी आयु स्थिति को पूरी करके वहाँ से निकलकर अन्तर्मुहूर्त काल तक पद्म व शुक्ल लेश्या सहित रहकर अन्य अविरुद्ध लेश्या में गये हुए जीव के अपना-अपना उत्कृष्ट काल प्राप्त हो जाता है।[1]

लेश्याओं में जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर

अंतरमवरुक्कस्सं किण्हतियाणं मुहुत्तअंतं तु।
उवहीणं तेत्तीसं अहियं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥५५३॥
तेउतियाणं एवं णवरि य उक्कस्स विरहकालो दु।
पोग्गलपरिवट्टा हु असंखेज्जा होंति णियमेण ॥५५४॥

गाथार्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक तेंतीस सागर है। पीत आदि तीन शुभ लेश्याओं का अन्तर भी इसी प्रकार है किन्तु उत्कृष्ट अन्तर नियम से असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है ॥५५३-५५४॥

कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवों का जघन्य अन्तर काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि कृष्ण लेश्यावाले जीव के नीललेश्या में, नीललेश्या वाले जीव के कापोत लेश्या में व कापोतलेश्या वाले जीव के तेजोलेश्या में जाकर अपनी पूर्व लेश्या में जघन्य काल के द्वारा पुनः वापिस आने से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तर पाया जाता है।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक तेंतीस सागरोपम प्रमाण होता है, क्योंकि एक पूर्व कोटि की आयु वाला मनुष्य गर्भ से आदि लेकर आठ वर्ष के भीतर छह अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर कृष्ण लेश्या रूप परिणाम को प्राप्त हुआ। इस प्रकार कृष्ण लेश्या का प्रारम्भ कर पुनः नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में परिपाटी क्रम से जाकर अन्तर करता हुआ, संयम ग्रहण कर तीन शुभ लेश्याओं में कुछ कम पूर्व कोटी काल प्रमाण रहा और फिर तेंतीस सागरोपम आयुस्थिति वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से आकर मनुष्यों में उत्पन्न होकर शुक्ल पद्म तेज कापोत और नील लेश्या रूप क्रम से परिणमित हुआ और अन्त में कृष्ण लेश्या में आ गया। ऐसे जीव के दश अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्ष से हीन पूर्व कोटि अधिक तेंतीस सागरोपम प्रमाण कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट अन्तरकाल प्राप्त होता है। इसी प्रकार नील लेश्या और कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अन्तर काल का प्ररूपण करना चाहिए। विशेषता केवल इतनी है कि नील लेश्या का अन्तर कहते समय आठ और कापोत लेश्या का अन्तर कहते समय छह अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्ष से हीन पूर्व कोटि अधिक तेंतीस सागरोपम प्रमाण अन्तर काल बतलाना चाहिए।[2]

---

१. धवल पु. ७ पृ. १७६। २. धवल पु. ७ पृ. २२८-२२६।

तेज लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या वाले जीवों का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है, क्योंकि तेज, पद्म व शुक्ल लेश्या से अपनी अविरोधी अन्य लेश्या में जाकर व जघन्य काल से लौटकर पुनः अपनी-अपनी पूर्व लेश्या में आनेवाले जीव के अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य अन्तर काल पाया जाता है ।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट अन्तर काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनन्त काल होता है, क्योंकि विवक्षित शुभ लेश्या से अविरुद्ध अविवक्षित लेश्या को प्राप्त हो अन्तर को प्राप्त हुआ । पुनः आवली के असंख्यातवें भाग मात्र पुद्गल परिवर्तनों के कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं के साथ बीतने पर विवक्षित शुभ लेश्या को प्राप्त हुए जीव के उक्त शुभ लेश्याओं का उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त होता है ।[1]

लेश्या मार्गणा में भाव व अल्पबहुत्व का कथन

भावादो छल्लेस्सा ओदयिया होंति अप्पबहुगं तु ।
दव्वपमाणे सिद्धं इदि लेस्सा वण्णिदा होंति ।।५५५।।

गाथार्थ– छहों लेश्या भाव की अपेक्षा औदयिक हैं । द्रव्य प्रमाण से लेश्या का अल्पबहुत्व सिद्ध कर लेना चाहिए । इस प्रकार लेश्या का वर्णन हुआ ।।५५५।।

विशेषार्थ—औदयिक भाव से जीव कृष्ण आदि छह लेश्या वाला होता है ।।६१।।[2] उदय में आये हुए कषायानुभाग के स्पर्धकों के जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त स्थापित करके उनको छह भागों में विभक्त करने पर प्रथम भाग मन्दतम कषायानुभाग का होता है और उसके उदय से जो कषाय उत्पन्न होती है, उसका नाम शुक्ल लेश्या है । दूसरा भाग मन्दतर कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न हुई कषाय का नाम पद्मलेश्या है । तृतीय भाग मन्द कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय तेजो लेश्या है । चतुर्थभाग तीव्र कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय कापोत लेश्या है । पाँचवाँ भाग तीव्रतर कषायानुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय को नील लेश्या कहते हैं । छठा भाग तीव्रतम कषायानुभाग का है और उससे उत्पन्न कषाय का नाम कृष्ण लेश्या है । चूंकि ये छहों ही लेश्याएँ कषायों के उदय से होती हैं, इसलिए ये औदयिक हैं ।

शङ्का—यदि कषायोदय से लेश्या की उत्पत्ति होती है तो बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणकषाय जीव के लेश्या के अभाव का प्रसंग आता है ?

समाधान—सचमुच ही क्षीणकषाय जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आता यदि केवल कषायोदय से लेश्या की उत्पत्ति मानी जाती । किन्तु शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न योग भी तो लेश्या है, क्योंकि यह भी कर्मबन्ध में निमित्त है अतः लेश्या औदयिक भाव है ।[3]

---

१. धवल पु. ७ पृ. २३० । २. "ओदइए भावेण ।।६१।।" [धवल पु. ७ पृ. १०४] । ३. धवल पु. ७ पृ. १०४-१०५ ।

लेश्या मार्गणा के अनुसार शुक्ललेश्यावाले सबसे स्तोक हैं। वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, क्योंकि अतिशय शुभ लेश्याओं का समुदाय कहीं पर किन्हीं के ही सम्भव है। शुक्ल लेश्या वालों से पद्म लेश्यावाले असंख्यात गुणे हैं। गुणाकार जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग अर्थात् असंख्यात जगश्रेणी हैं, क्योंकि वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित प्रतरांगुल से अपवर्तित जगत्प्रतर प्रमाण है। पद्मलेश्यावालों से तेजो लेश्यावाले संख्यात गुणे हैं, क्योंकि पंचेन्द्रियतिर्यंच-योनिनियों के संख्यातवें भाग प्रमाण पद्मलेश्यावालों के द्रव्य का तेजो लेश्यावालों के द्रव्य में भाग देने पर संख्यात रूप उपलब्ध होते हैं। तेजो लेश्यावालों से लेश्यारहित अनन्तगुणे हैं, गुणाकार अभव्य सिद्धों से अनन्त-गुणा है। अलेश्यिकों से कापोत लेश्या वाले अनन्तगुणे हैं। गुणाकार अभव्य सिद्धकों से, सिद्धों से और सर्व जीवों के प्रथम वर्गमूल से भी अनन्तगुणा है।[1] कापोतलेश्या वालों से नीललेश्या वाले विशेष अधिक हैं। कापोतलेश्या के असंख्यातवें भाग विशेष अधिक हैं। अधिक का प्रमाण अनन्त है। नीललेश्या वालों से कृष्ण लेश्या वाले विशेष अधिक हैं। विशेष अनन्त हैं जो नीललेश्या के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।[2]

लेश्यारहित जीवों का स्वरूप

किण्हादिलेस्सरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा।
सिद्धिपुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुणेयव्वा ॥५५६॥[3]

गाथार्थ—जो कृष्णादि लेश्याओं से रहित हैं, (पंचपरिवर्तन रूप) संसार से पार हो गये हैं, जो अनन्त सुख को प्राप्त हैं और सिद्धिपुरी को प्राप्त हो गये हैं, उन्हें लेश्या रहित जानना चाहिए ॥५५६॥

विशेषार्थ--कषाय के उदय-स्थान व योग-प्रवृत्ति का अभाव हो जाने के कारण कृष्ण आदि छह लेश्याओं से रहित जीव भी होते हैं। ऐसे परम पुरुष परमात्मा हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव इन पंच प्रकार के परिवर्तन रूप संसार-समुद्र से निकल कर पार हो गये हैं और जो अनन्त अर्थात् जिसका अन्त नहीं है सदा काल एक सा बना रहता है ऐसे स्वाधीन अमूर्तिक सुख को प्राप्त हो गये हैं। सांसारिक सुख इन्द्रियजनित होने से पराधीन है, विषम है, कभी घटता कभी बढ़ता है, बाधा सहित है, बीच में नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण है, इसलिए सांसारिक सुख वास्तव में दुःख रूप ही है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसयं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥७६॥ [प्रवचनसार]

इस सुख से विपरीत लेश्यारहित जीवों का सुख होता है। कहा भी है—

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७८॥

---

१. ध. पु. ७ पृ. ५६९-५७०। २. ध. पु. ७ पृ. ५७०। ३. ध. पु. १ पृ. ३९०, प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५३।

णवि इंदिय-उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य ।
णय तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१७६।।[नियमसार]

—जहाँ न दुःख है, न सांसारिक सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है, न जन्म है, न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग हैं, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृषा है और न क्षुधा है, वही निर्वाण-सुख है अथवा लेश्या रहित जीवों का सुख है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **लेश्या मार्गणा** नाम का पन्द्रहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१६. भव्यमार्गणाधिकार

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ।।५५७।।[1]
भव्वत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा ।
ण हु मलविगमे णियमा ताणं कणगोवलाणमिव ।।५५८।।[2]

गाथार्थ—जिन जीवों की सिद्धि होने वाली हो अथवा जो जीव सिद्धत्व अवस्था पाने के योग्य हों वे भव्य-सिद्ध हैं, किन्तु उनके कनकोपल (स्वर्णपाषाण) के समान मल-नाश होने का नियम नहीं है। भव्य-सिद्ध से विपरीत अभव्यसिद्ध हैं जो संसार से कभी नहीं निकलते ।।५५७-५५८।।

विशेषार्थ—जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है वह भव्य है।[3] जो आगे सिद्धि को प्राप्त होंगे वे भव्यसिद्ध जीव हैं।[4]

शङ्का—इस प्रकार तो भव्य जीवों की सन्तति का उच्छेद हो जाएगा ?

समाधान—नहीं,क्योंकि भव्य जीव अनन्त हैं। परन्तु जो राशि सान्त होती है उसमें अनन्तपना नहीं बन सकता है, क्योंकि सान्त को अनन्त मानने में विरोध आता है।

शङ्का—जिस राशि का निरन्तर व्यय चालू है, परन्तु उसमें आय नहीं होती है तो उसके अनन्तपना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि सव्यय और निराय-आयरहित राशि को भी अनन्त न माना जाय तो एक को भी अनन्त मानने का प्रसंग आ जाएगा। व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नहीं होता है। दूसरे, व्यय सहित अनन्त के सर्वथा क्षय मान लेने पर काल का भी सर्वथा क्षय हो जाएगा क्योंकि व्यय सहित होने के प्रति दोनों समान हैं।

---

१. धवल पु. १ पृ. ३९४; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५६। २. धवल पु. १ पृ. १५०, पु. ४ पृ. ४७८; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५४। ३. "निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः।" [धवल पु. १ पृ. १५०]। ४. 'भव्या भविष्यन्तीति सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः।"[धवल पु. १ पृ. ३९२]।

शङ्का—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर काल की समस्त पर्यायों के क्षय हो जाने से दूसरे द्रव्यों की स्वलक्षणरूप पर्यायों का भी अभाव हो जाएगा और इसलिए समस्त वस्तुओं के अभाव की आपत्ति आ जाएगी ।[1]

स्वर्णपाषाण के समान भव्य जीवों के मल का नाश होने में अर्थात् निर्वाण प्राप्त होने का नियम नहीं है ।[2]

शङ्का—मुक्ति को नहीं जाने वाले जीवों के भव्यपना कैसे बन सकता है ?

समाधान नहीं, क्योंकि मुक्ति जाने की योग्यता की अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा बन जाती है । जितने भी जीव मुक्ति जाने के योग्य होते हैं, वे सब नियम से कलंकरहित होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाण से व्यभिचार आ जाएगा ।[3] जिस प्रकार स्वर्णपाषाण में सोना रहते हुए भी उसका खदान से निकलना तथा स्वर्ण का अलग होना निश्चित नहीं है, उसी प्रकार सिद्ध अवस्था की योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्री नहीं मिलने से सिद्धपद की प्राप्ति नहीं होती है । मात्र उपादान की योग्यता से कार्य नहीं होता । कार्य के लिए तदनुकूल बाह्य सामग्री अर्थात् निमित्तों की भी आवश्यकता होती है ।

भव्यों से विपरीत अर्थात् मुक्तिगमन की योग्यता न रखने वाले अभव्य जीव होते हैं ।[4]

जीव अनादि सान्त भव्यसिद्धिक होते हैं ।।१८४।।[5] क्योंकि अनादि स्वरूप से आये हुए भव्यभाव का अयोगिकेवली के अन्तिम समय में विनाश पाया जाता है ।

शंका—अभव्यों के समान भी तो भव्य जीव होते हैं, तब भव्य भाव को अनादि-अनन्त क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भव्यत्व में अविनाश शक्ति का अभाव है । यद्यपि अनादि से अनन्त-काल तक रहनेवाले (नित्य निगोदिया) भव्य जीव हैं तो सही, किन्तु उनमें शक्ति रूप से तो संसारविनाश की सम्भावना है, अविनाशत्व की नहीं ।[6]

जीव सादि सान्त भव्यसिद्धिक भी होते हैं ।।१८५।।[7]

शंका—अभव्य भव्यत्व को प्राप्त हो नहीं सकता, क्योंकि भव्य और अभव्य भाव एक दूसरे के अत्यन्ताभाव को धारण करने वाले होने से एक ही जीव में क्रम से भी उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है । सिद्ध भी भव्य होता नहीं है, क्योंकि जिन जीवों के समस्त कर्मास्रव नष्ट हो गये हैं उनके पुनः उन कर्मास्रवों की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है । अतः भव्यत्व सादि नहीं हो सकता ?

---

१. धवल पु. १ पृ. २६२-२६३ । २. धवल पु. १ पृ. १५० । ३. धवल पु. १ पृ. ३९३-३९४ । ४. "तद्विपरीतः अभव्यः ।" [धवल पु. १ पृ. ३९४] । ५. "अणादिओ सपज्जवसिदो ।।१८४।।" [धवल पु. ७ पृ. १७६ । ६. धवल पु. ७ पृ. १७६ । ७. "सादिओ सपज्जवसिदो ।।१८५।।" [धवल पु. ७ पृ. १७७] ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व अनादि अनन्त रूप है, क्योंकि तब तक उसका संसार अन्तरहित है, किन्तु सम्यक्त्व के ग्रहण कर लेने पर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर केवल अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक संसार में स्थिति रहती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भव्य जीव सादि-सान्त भी होते हैं।[1]

जीव अनादि-अनन्त काल तक अभव्यसिद्धिक रहते हैं ॥१८७॥[2]

शंका—अभव्य भाव जीव की एक व्यंजन पर्याय का नाम है, इसलिए उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अभव्यत्व के द्रव्य होने का प्रसंग आ जाएगा?

समाधान—अभव्यत्व जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजन पर्याय का अवश्य नाश होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं (जैसे मेरु आदि), क्योंकि ऐसा मानने पर एकान्तवाद का प्रसंग आ जाएगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होनी चाहिए, क्योंकि जिसमें उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय पाये जाते हैं, उसे द्रव्य स्वीकार किया गया है।[3]

भव्य-अभव्य भाव से रहित जीवों का स्वरूप

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहातीदणंतसंसारा।
ते जीवा णायव्वा णेव य भव्वा अभव्वा य ॥५५९॥[4]

गाथार्थ—जो भव्य-अभव्य भाव से रहित हैं, किन्तु जिन्होंने मुक्ति-सुख को प्राप्त कर लिया है और जो संसारातीत हैं उन जीवों को न भव्य और न अभव्य जानना चाहिए ॥५५९॥

विशेषार्थ—सिद्ध जीव भव्य-सिद्धिक तो हो नहीं सकते, क्योंकि भव्य भाव का अयोगिकेवली के अन्तिम समय में विनाश पाया जाता है।[5] सिद्ध अभव्य भी नहीं हो सकते क्योंकि उनमें संसार अविनाश शक्ति का अभाव है। जो संसार का विनाश नहीं कर सकते वे अभव्य-सिद्धिक हैं, किन्तु सिद्ध जीवों ने तो संसार का विनाश करके सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली है। इसलिए सिद्ध अभव्य भी नहीं हो सकते। सिद्ध जीव न तो भव्य हैं और न अभव्य हैं, क्योंकि उनका स्वरूप भव्य और अभव्य दोनों से विपरीत है।[6]

भव्य मार्गणा में जीवों की संख्या

अवरो जुत्ताणंतो अभव्वरासिस्स होदि परिमाणं।
तेण विहीणो सव्वो संसारी भव्वरासिस्स ॥५६०॥

---

१. धवल पु. ७ पृ. १७७। २. अणादिओ अपज्जवसिदो ॥१८७॥" [धवल पु. ७ पृ. १७८]। ३. धवल पु. ७ पृ. १७८। ४. प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५७ पृ. ३३, पृ. ५८२ गा. १४८। ५. "भविय भावस्स अजोगिचरिमसमए विणासुवलंभादो। [धवल पु. ७ पृ. १७६]। ६. "सिद्धा पुण ण भविया ण च अभविया, तव्विवरीय सरूवत्तादो।" [धवल पु. ७ पृ. २४२]।

गाथार्थ—ग्रभव्य राशि का परिमाण जघन्य-युक्तानन्त है। सर्व संसारी जीवों में से ग्रभव्य राशि को कम कर देने पर शेष भव्य राशि का प्रमाण है ॥५६०॥

विशेषार्थ—भव्यसिद्धिक जीव द्रव्य प्रमाण से ग्रनन्त हैं। काल की ग्रपेक्षा भव्यसिद्धिक जीव ग्रनन्तानन्त ग्रवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से ग्रपहृत नहीं होते। ग्रपहृत न होने का कारण यह है कि यहाँ ग्रनन्तानन्त ग्रवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से केवल ग्रतीत काल का ग्रहण किया गया है।[1] जिस प्रकार लोक में प्रस्थ तीन प्रकार से विभक्त है ग्रनागत, वर्तमान ग्रौर ग्रतीत। उनमें से जो निष्पन्न नहीं हुग्रा, वह ग्रनागत प्रस्थ है, जो बनाया जा रहा है वह वर्तमान प्रस्थ है ग्रौर जो निष्पन्न हो चुका है तथा व्यवहार के योग्य है, वह ग्रतीत प्रस्थ है। उनमें से ग्रतीत प्रस्थ के द्वारा सम्पूर्ण बीज मापे जाते हैं। इससे सम्बन्धित गाथा इस प्रकार है—

पत्थो तिहा विहत्तो ग्रणागदो वट्टमाण तीदो य।
एदेसु ग्रदीदेण दु मिणिज्जदे सव्व बीजं तु॥

इसका ग्रर्थ ऊपर कहा जा चुका है। उसी प्रकार काल भी तीन प्रकार का है ग्रनागत, वर्तमान ग्रौर ग्रतीत। उनमें से ग्रतीत काल के द्वारा सम्पूर्ण जीवराशि का प्रमाण जाना जाता है।[2] इस सम्बन्ध में उपसंहार रूप गाथा—

कालो तिहा विहत्तो ग्रणागदो वट्टमाणतीदो य।
एदेसु ग्रदीदेण दु मिणिज्जदे जीवरासी दु॥

काल तीन प्रकार का है, ग्रनागत काल, वर्तमानकाल ग्रौर ग्रतीत काल। उनमें से ग्रतीत काल के द्वारा सम्पूर्ण जीवराशि का प्रमाण जाना जाता है। इसलिए भव्य जीवराशि का प्रमाण समाप्त नहीं होता, परन्तु ग्रतीत काल के सम्पूर्ण समय समाप्त हो जाते हैं।[3]

शंका—ग्रतीत काल की ग्रपेक्षा भव्य जीवों का प्रमाण कैसे निकाला जाता है?

समाधान—एक ग्रोर ग्रनन्तानन्त ग्रवसर्पिणियों ग्रौर उत्सर्पिणियों के समयों को स्थापित करना चाहिए ग्रौर दूसरी ग्रोर भव्य जीवराशि को स्थापित करना चाहिए। फिर काल के समयों में से एक-एक समय ग्रौर उसी के साथ भव्य जीवराशि के प्रमाण में से एक-एक जीव कम करते जाना चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर काल के समय ग्रौर जीवराशि के प्रमाण को कम करते हुए चले जाने पर ग्रनन्तानन्त ग्रवसर्पिणियों ग्रौर उत्सर्पिणियों के सब समय समाप्त हो जाते हैं, परन्तु भव्य जीवराशि का प्रमाण समाप्त नहीं होता।[4]

ग्रभव्यसिद्धिक द्रव्यप्रमाण से ग्रनन्त हैं। यहाँ ग्रनन्त से जघन्ययुक्तानन्त का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इसी प्रकार ग्राचार्यपरम्परागत उपदेश है।

---

१. धवल पु. ७ पृ. २६४-२६५। २. धवल पु. ३ पृ. २६। ३. धवल पु. ३ पृ. २६-३०। ४. धवल पु. ३ पृ. २८।

शंका—व्यय के न होने से व्युच्छित्ति को प्राप्त न होने वाली अभव्य राशि की 'अनन्त' यह संज्ञा कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनन्तरूप केवलज्ञान के ही विषय में अवस्थित संख्याओं के उपचार से अनन्तपना मानने में कोई विरोध नहीं आता ।[1]

जावदियं पच्चक्खं जुगवं सुदओहिकेवलाण हवे ।
तावदियं संखेज्जमसंखमणंतं कमा जाणे ॥५२॥[2]

जितने विषयों को श्रुतज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, वह संख्यात है। जितने विषयों को अवधिज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, वह असंख्यात है। तथा जितने विषयों को केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है वह अनन्त है। जो विषय श्रुतज्ञान से बाहर हो किन्तु अवधिज्ञान का विषय हो वह असंख्यात है। जो विषय अवधिज्ञान से बाह्य हो, किन्तु मात्र केवलज्ञान का विषय हो वह अनन्त है। इस परिभाषा के अनुसार 'अर्धपुद्गल परिवर्तन काल' भी अनन्त है, क्योंकि वह अवधिज्ञान के विषय से बाहर है, किन्तु वह परमार्थ अनन्त नहीं है, क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल व्यय होते-होते अन्त को प्राप्त हो जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। आय के बिना व्यय होते रहने पर भी जिस राशि का अन्त न हो वह राशि अक्षय अनन्त या परमार्थ अनन्त है।[3]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **भव्य मार्गणा** नामक सोलहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१७. सम्यक्त्वमार्गणाधिकार

सम्यक्त्व का लक्षण

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥५६१॥[4]

गाथार्थ—जिनेन्द्र के उपदिष्ट छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नव प्रकार के पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥५६१॥

विशेषार्थ—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक ऐसे जिनेन्द्र के द्वारा छह द्रव्य आदि का उपदेश दिया गया है, उसका उसी रूप से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। जो रागी-द्वेषी होता है वह यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह जिससे राग होगा उसके अनुकूल और जिससे द्वेष होगा उसके प्रतिकूल कथन करेगा। इसलिए यथार्थ वक्तव्य के लिए वीतराग होना अत्यन्त आवश्यक है। जिसे सर्व पदार्थों का ज्ञान नहीं है, वह भी यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता क्योंकि अज्ञानता के कारण अयथार्थ कहा जाना सम्भव है। आत्मा अर्थात् जीव का हित सुख है।

---

१. धवल पु. ७ पृ. २६५-२६६। २. त्रिलोकसार। ३. त्रिलोकसार पृ. ४६। ४. धवल पु. १ पृ. १५२, ३६५, पु. ४ पृ. ३१५; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १५६।

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥२॥ [आत्मानुशासन]

—हे आत्मन् ! तू दुःखों से अत्यन्त भयभीत होता है और सब प्रकार से सुख की कामना करता है अतः मैं भी दुःखहारी और सुखकार—ऐसे तेरे अभीप्सित अर्थ (प्रयोजन) का ही उपदेश करता हूँ ।

"सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात् ।"[आत्मानुशासन श्लोक ६]

—सर्व जीव सुख की शीघ्र-प्राप्ति की इच्छा करते हैं । सुख की प्राप्ति सर्वकर्म के क्षय से होती है अर्थात् मोक्ष में होती है, क्योंकि मोक्षसुख स्वाधीन और निराकुल है । जिस उपदेश में कर्मक्षय (मोक्ष) और कर्मक्षय के कारणों (मोक्षमार्ग) का कथन हो वही उपदेश हितोपदेश है । जिनेन्द्र ने मोक्ष अवस्था व मोक्षमार्ग इन दोनों पर्यायों सम्बन्धी उपदेश दिया है अतः जिनेन्द्र हितोपदेशक हैं ।

इस प्रकार जिनेन्द्र वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक होने के कारण यथार्थ वक्ता हैं अतः उनके द्वारा उपदिष्ट जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल ये छह द्रव्य भी यथार्थ हैं । काल के अतिरिक्त जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश ये पाँचों बहुप्रदेशी होने से कायवान हैं और सत् रूप होने से ये पाँचों अस्तिकाय हैं । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नव पदार्थों का भी जिनेन्द्र ने उपदेश दिया है । जिस प्रकार जिनेन्द्र ने इन छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थ का कथन किया है, जिस रूप से कथन किया है उसी रूप से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ।तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है । आप्त, आगम और पदार्थ ये तत्त्वार्थ हैं और इनके विषय में श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति सम्यग्दर्शन है ।[1] तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है अथवा तत्त्व में रुचि होना सम्यक्त्व है । अथवा प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति ही जिसका लक्षण है वह सम्यक्त्व है ।[2] वह सम्यक्त्व दो प्रकार से होता है । आज्ञा के द्वारा श्रद्धान करना अथवा अधिगम के द्वारा श्रद्धान करना । सर्व प्रथम आज्ञा सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार है—

"आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव ।" पूर्वार्धश्लोक १२॥[3]

वीतराग की आज्ञा ही करि जो श्रद्धान होई सो आज्ञा सम्यक्त्व है ।

पंचत्थिया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णेया ।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥३९९॥[मूलाचार]

—पाँच अस्तिकाय, छह जीव निकाय, काल द्रव्य व अन्य पदार्थ मात्र आज्ञा से ही ग्राह्य हैं, उनका जो आज्ञा के विचार से श्रद्धान करता है, वह आज्ञा सम्यग्दृष्टि है ।

---

१. "तत्त्वार्थश्रद्धाने सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति-लक्ष्यनिर्देशः ।" [धवल पु. १ पृ. १५१] । २. "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् अथवाप्रशम संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम् ।" [धवल पु. ७ पृ. ७] । ३. आत्मानुशासन ।

जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं ।
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥३२४॥
[स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

—जो तत्त्वों को नहीं जानता किन्तु जिनवचन में श्रद्धान करता है, 'जो जिनवर ने कहा है उस सब की मैं इच्छा (पसंद) करता हूँ, ऐसा मानने वाला भी आज्ञा सम्यक्त्वी है।

शङ्का—तत्त्वों को क्यों नहीं जानता ?

समाधान—ज्ञानावरण आदि कर्म के प्रबल उदय के कारण जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये जीवादि वस्तु को नहीं जानता है।[1]

"**अधिगमोऽर्थावबोधः**।"[2] पदार्थ का ज्ञान 'अधिगम' है।

यद्यपि दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप अंतरंग कारण दोनों सम्यक्त्व में समान है किन्तु बाह्य निमित्त में अन्तर है। बाह्य उपदेशपूर्वक जीवादि पदार्थों के ज्ञान के निमित्त से जो सम्यग्दर्शन होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।[3]

अथवा, यह गाथा सूत्र 'ताल-प्रलम्ब' सूत्र के समान देशामर्शक होने से सम्यग्दर्शन के दस भेदों का सूचक है। ये दस भेद बाह्य निमित्तों की अपेक्षा से हैं—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥११॥ [आत्मानुशासन]

—आज्ञा से उत्पन्न, मार्ग से उत्पन्न, उपदेश से उत्पन्न, सूत्र से उत्पन्न, बीज से उत्पन्न, संक्षेप से उत्पन्न, विस्तार से उत्पन्न, अर्थ से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, ये आठ भेद बाह्य निमित्तों से उत्पन्न होने की अपेक्षा हैं। अवगाढ़ और परमावगाढ़ ये दो भेद ज्ञान की सहचरता के कारण श्रद्धान की अपेक्षा से हैं।

शङ्का—क्षायिक सम्यग्दर्शन परमावगाढ़ है, व उपशम व क्षयोपशम अवगाढ़ सम्यक्त्व हैं ?

समाधान—अंग और अंगबाह्य प्रवचन (शास्त्र) के अवगाहन से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अवगाढ़ दृष्टि है और केवलज्ञान में समस्त पदार्थों के प्रत्यक्ष झलकने से जो श्रद्धा होती है वह परमावगाढ़ दृष्टि है। छद्मस्थों के परमावगाढ़ सम्यक्त्व नहीं हो सकता। कहा भी है—

"दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा ।
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥२४॥"
[आत्मानुशासन]

---

१. "यः पुमान् तत्त्वं जिनोदितं जीवादिवस्तु ज्ञानावरणादिकर्मप्रबलोदयात् न विजानाति न च वेत्ति।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ३२४ पर श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित टीका]। २. स. सि. १/३। ३. स. सि. १/३।

इस आर्ष वाक्य से सिद्ध है कि श्रुतकेवली या केवली के अतिरिक्त अन्य जीवों के क्षायिक सम्यक्त्व तो हो सकता है किन्तु अवगाढ़ या परमावगाढ़ सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र में "**तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।१।३।।**" इस सूत्र के द्वारा 'सम्यग्दर्शन निसर्ग से और अधिगम से उत्पन्न होता है।' ऐसा कहा गया है।

जो बाह्य उपदेश के बिना होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है और जो बाह्य उपदेश पूर्वक होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।[1] इस प्रकार बाह्य निमित्तों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के नाना भेद हो जाते हैं। दस प्रकार के सम्यग्दर्शन में से आज्ञा, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व का स्वरूप कहा जा चुका है; शेष सात का स्वरूप इस प्रकार है---दूसरा मार्ग सम्यग्दर्शन है--इसमें रत्नत्रय मोक्षमार्ग को कल्याणकारी समझ कर उस पर श्रद्धान करता है। प्रथमानुयोग में वर्णित तीर्थंकर आदि महापुरुषों के चरित्र को सुन कर श्रद्धान करना तीसरा उपदेश सम्यग्दर्शन है। चरणानुयोग में वर्णित मुनियों के चारित्र को सुन कर तत्त्वरुचि का होना चौथा सूत्र सम्यग्दर्शन है। करणानुयोग से सम्बद्ध गणित आदि की प्रधानता से दुर्गम तत्त्वों का ज्ञान बीजपदों के निमित्त से प्राप्त करके तत्त्वार्थ श्रद्धान करना पाँचवाँ बीज सम्यग्दर्शन है। द्रव्यानुयोग में तर्क की प्रधानता से वर्णित जीवादि पदार्थों को संक्षेप में जानकर तत्त्वरुचि का होना छठा संक्षेप सम्यग्दर्शन है। द्वादशांग श्रुत को सुन कर तत्त्व श्रद्धान होना सातवाँ विस्तार सम्यग्दर्शन है। विशिष्ट क्षयोपशम से सम्पन्न जीव के श्रुत के सुने बिना ही उसमें प्ररूपित किसी अर्थविशेष से तत्त्वश्रद्धान होना आठवाँ अर्थ सम्यग्दर्शन है।[2]

छह द्रव्य सम्बन्धी अधिकारों के नाम

छद्दव्वेसु य णामं उवलक्खणुवाय अत्थणे कालो ।
अत्थणखेत्तं संखाठाणसरूवं फलं च हवे ।।५६२।।

गाथार्थ--छह द्रव्यों के निरूपण में सात अधिकार हैं। वे ये हैं--१. नाम, २. उपलक्षणानुवाद, ३. स्थिति, ४. क्षेत्र, ५. संख्या, ६. स्थान-स्वरूप, ७. फल ।।५६२।।

विशेषार्थ--छहों द्रव्यों के नामनिर्देश व भेद का कथन, नाम अधिकार है। जिसमें छहों द्रव्यों के लक्षणों का कथन है, वह उपलक्षणानुवाद अधिकार है। जिसमें पर्याय व द्रव्य की अपेक्षा स्थिति का कथन हो वह स्थिति अधिकार है। द्रव्य जितने क्षेत्र को व्याप्त कर रहता है वह क्षेत्र अधिकार है। जिसमें द्रव्यों की संख्या का वर्णन हो वह संख्या अधिकार है। जिसमें द्रव्यप्रदेशों के चल व अचल या चलाचल का कथन हो वह स्थान स्वरूप अधिकार है। जिसमें द्रव्यों के उपकार का कथन हो वह फल अधिकार है। इन सात अधिकारों द्वारा जीवादि द्रव्यों का विस्तारपूर्वक कथन किया जाएगा जिससे द्रव्य सम्बन्धी विशेष ज्ञान होकर सम्यग्दर्शन निर्मल हो जावे।

---

१. "यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्। यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्।" [स. सि. १।३]। २. आत्मानुशासन श्लोक १२, १३, १४ की संस्कृत टीका के आधार से।

नाम अधिकार (प्रथम अधिकार) का कथन

जीवाजीवं दव्वं रूवारूवित्ति होदि पत्तेयं ।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ।।५६३।।
अज्जीवेसु य रूवी पुग्गलदव्वाणि धम्म इदरोवि ।
आगासं कालोवि य चत्तारि अरूविणो होंति ।।५६४।।

गाथार्थ—द्रव्य दो प्रकार का है जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य । इनमें से प्रत्येक रूपी और अरूपी दो-दो प्रकार के हैं। संसारस्थित जीव (संसारी जीव) रूपी है। कर्म से विमुक्त (सिद्ध) जीव अरूपी है।।५६३।। अजीव द्रव्य में पुद्गल रूपी है, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य ये चार अरूपी हैं ।।५६४।।

विशेषार्थ—मूर्त और रूप एकार्थवाची हैं। (रूपं मूर्तिरित्यर्थः स. सि. ५।५) इसी प्रकार अमूर्त व अरूपी एकार्थवाची हैं। '**मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्** ।।१०३।।" [आलापपद्धति]। मूर्त के भाव को अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्श युक्तता को मूर्तत्व कहते हैं। अमूर्त का भाव अर्थात् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श से रहितपना अमूर्तत्व है।[1] स्पर्श रस गन्ध वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है, स्पर्श रस गन्ध वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त है।[2] जीव यद्यपि स्वभाव से अमूर्त है तथापि पर रूप के आवेश से (अनादि द्रव्य कर्म-बन्ध की अपेक्षा से) मूर्त भी है।[3]

अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है।[4] कर्मबन्ध के कारण संसारी जीव भी पुद्गल भाव अर्थात् रूपी भाव को प्राप्त हो जाने से अवधिज्ञान का प्रत्यक्ष विषय बन जाता है।[5]

जीव के प्रदेश अनादिकालीन बन्धन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं, अतः उनका मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं आता है।[6]

कर्म और नोकर्म के अनादि सम्बन्ध से जीव मूर्तपने को प्राप्त होता है।[7] अनादि कालीन कर्मबन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव के संसार अवस्था में अमूर्तत्व का अभाव है।[8]

---

१. "मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् ।।१०३।। अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् ।।१०४।। "[आ. प.] २. स्पर्शरसगंधवर्णसद्भावस्वभावं मूर्तं । स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावममूर्तं । स्पर्शरसगंधवर्णवत्या मूर्त्या रहितत्वादमूर्ता भवन्ति ।" [पंचास्तिकाय गा. ६७ टीका]। ३. "अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोपि [पंचास्तिकाय गा. ६७ टीका] बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं । तम्हा अमुत्ति भावोऽणेयंतो होइ जीवस्स ।" [स. सि. २।७]। ४. "रूपिष्ववधेः" ।।२७।। [त. सू. अ. १]। ५. "कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगयजीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं ।" [जयधवल पु. १ पृ. ४३]। ६. अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः ।"[ध. १ पृ. २९२]। "तस्स बंधण मुत्तभावमुवगयस्स जीवस्स सरीरेण सह संबंधस्स विरोहाभावादो ।" [धवल पु. १६ पृ. ५१२]। ७. "कम्मणोकम्माणमणादि संबंधेण मुत्तत्तमुवगयस्स जीवस्स" [धवल पु. १४ पृ. ४५]। "कर्मस्कन्धसम्बन्धतो मूर्तीभूतमात्मानं ।"[धवल पु. १ पृ. २५४]। ८. अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स संसारावत्थाए अमुत्तत्ताभावादो। [ध. १५ पृ. ३२]।

अजीव द्रव्य भी रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का है।

शंका—जीव और अजीव किसे कहते हैं ?

समाधान—जीव का लक्षण चेतना है। वह चेतना ज्ञानादि के भेद से अनेक प्रकार की है और उससे विपरीत लक्षण वाला अर्थात् अचेतना लक्षण जिसका है वह अजीव है।[1]

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गलमुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ।।१५।।[2]

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये पाँच अजीव द्रव्य जानने चाहिए। इनमें रूप आदि गुणों का धारक पुद्गल मूर्तिमान है और शेष (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। पूरण-गलन स्वभाव सहित होने से पुद्गल कहा जाता है। पुद्गल द्रव्य मूर्त है, क्योंकि रूप आदि गुणों से सहित है। पुद्गल के अतिरिक्त शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अमूर्त हैं, क्योंकि इनमें रूपादि गुण नहीं हैं।[3]

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ।।९७।। [पंचास्तिकाय]

आकाश, काल, शुद्ध जीव, धर्म और अधर्म ये द्रव्य अमूर्त हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त है। इन सब में जीव ही चेतन है। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त है। आकाश अमूर्त है, काल अमूर्त है, धर्म अमूर्त है, और अधर्म भी अमूर्त है। जीव स्वरूप से अमूर्त है, किन्तु पर रूप आवेश से मूर्त भी है। पुद्गल मूर्त ही है। आकाश अचेतन है, धर्म अचेतन है, अधर्म अचेतन है, पुद्गल अचेतन है। जीव ही एक चेतन है।[4]

पुद्गल रूपी है ।।५।।[5] रूपादि के आकार से परिणमन होने को मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप पाया जाता है वे रूपी हैं अर्थात् मूर्तिमान हैं। अथवा रूप यह गुणविशेष का वाची है वह जिनके पाया जाता है वे रूपी हैं रसादिक रूप के अविनाभावी हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव रूप में हो जाता है।[6]

पुग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।।पूर्वार्ध गा. ३७ ।।[नियमसार]

पुद्गल द्रव्य मूर्त है और शेष द्रव्य अमूर्त हैं।

१."तत्र चेतनालक्षणो जीवः। सा च ज्ञानादिभेदादनेकधा भिद्यते। तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः।" [स. सि. १।४] २. बृहद्द्रव्यसंग्रह। ३. "पूरणगलनस्वभावत्वात्पुद्गल इत्युच्यते। पुद्गलो मूर्त्तः रूपादिगुणसहितो यतः रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्ति पुद्गलाच्छेषाश्चत्वार इति।" [बृहद् द्रव्यसंग्रह गा. १५ की टीका]। ४. "स्पर्श-रस गंध वर्ण सद्भाव स्वभावं मूर्तं। स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावममूर्तं। तत्रामूर्तमाकाशं, अमूर्तः कालः, अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोऽपि, अमूर्तो धर्मः, अमूर्तोऽधर्मः, मूर्तः पुद्गल एवैक इति। अचेतनम् आकाशं, अचेतनः कालः, अचेतनो धर्मः, अचेतनोऽधर्मः, अचेतनः पुद्गलः, चेतनो जीव एवैक इति।" पं. का. गा. ९७ टीका]। ५. त. सू. अ. ५। ६. स. सि. ५।५।

उपलक्षणानुवाद

उवजोगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गह-वत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ।।५६५।।
गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे ।
धम्मतिये णहि किरिया मुक्खा पुण साधका होंति ।।५६६।।
जत्तस्स पहं ठत्तस्स आसणं णिवसगस्स वसदी वा ।
गदिठाणोग्गहकरणे धम्मतियं साधगं होदि ।।५६७।।

गाथार्थ— जीव का लक्षण उपयोग है। पुद्गल का लक्षण वर्णचतुष्क है। धर्मादि चार द्रव्यों का लक्षण गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व और वर्तनाहेतुत्व है।।५६५।। गतिक्रिया, स्थितिक्रिया, अवगाहनक्रिया ये तीन क्रिया जीव व पुद्गलों में ही होती हैं। धर्मादि में ये क्रियाएं नहीं होतीं किन्तु वे साधक होते हैं।।५६६।। पथिक को मार्ग, तिष्ठने वाले (ठहरने वाले) को आसन और निवास करने वाले को मकान जिस प्रकार साधक होते हैं, उसी प्रकार गति, स्थिति और अवगाह में धर्मादि तीन द्रव्य साधक होते हैं।।५६७।।

विशेषार्थ—उपयोग जीव का लक्षण है।[1]

शंका—उपयोग किसे कहते हैं?

समाधान—जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चतन्य का अन्वयी है, चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग है।[2] जो चैतन्यगुण के साथ-साथ अन्वय रूप से परिणमन करे, सो उपयोग है।[3]

शंका— अन्तरंग और बहिरंग निमित्त कौन-कौन से हैं?

समाधान— ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग निमित्त है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ और प्रदीप आदि बाह्य निमित्त हैं।

शंका— लक्षण किसे कहते हैं?

समाधान—परस्पर सम्मिलित वस्तुओं में से जिसके द्वारा किसी वस्तु का पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है। जैसे सोना और चांदी की मिली हुई डली में पीला रंग, भारीपन आदि उन सोने-चांदी का भेदक होता है, उसी प्रकार शरीर और आत्मा में बन्ध की दृष्टि से परस्पर एकत्व होने पर भी ज्ञानादि उपयोग उसके भेदक लक्षण होते हैं।

१. "उपयोगो लक्षणम् ।।२।८।।" [त. सू.]। २. "उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः।" [सर्वार्थसिद्धि २।८]। ३. "चैतन्यमनुविदधात्यन्वयरूपेण परिणमति।" [पंचास्तिकाय गाथा ४० तात्पर्यवृत्ति टीका]

शंका—उपयोग अस्थिर है अतः वह आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता। अस्थिर पदार्थ को लक्षण बनाने पर वही दशा होगी, जैसे किसी ने देवदत्त के घर की पहचान बतलाई कि "जिस पर कौआ बैठा है वह देवदत्त का घर है।" जब कौआ उड़ जाता है तो देवदत्त के घर की पहचान समाप्त हो जाती है।

समाधान— नहीं, क्योंकि एक उपयोग-क्षण के नष्ट हो जाने पर भी दूसरा उसका स्थान ले लेता है, कभी भी उपयोग की धारा टूटती नहीं है। पर्यायदृष्टि से अमुक पदार्थ विषयक उपयोग का नाश होने पर भी द्रव्यदृष्टि से उपयोग सामान्य बना ही रहता है। यदि उपयोग का सर्वथा विनाश माना जाय तो उत्तर काल में स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं हो सकेंगे, क्योंकि स्वयं अनुभूत पदार्थ का स्मरण स्वयं को ही होता है अन्य के द्वारा अनुभूत का अन्य को नहीं। स्मरण के अभाव में समस्त लोकव्यवहार का लोप ही हो जाएगा।[1]

वर्ण चतुष्क अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों पुद्गल के लक्षण हैं।[2]

शंका— स्पर्श, रस, गन्ध का नामोल्लेख गाथा में क्यों नहीं किया?

समाधान— नहीं, क्योंकि स्पर्श-रस-गन्ध, वर्ण के अविनाभावी हैं, इसलिए वर्ण में उनका अन्तर्भाव हो जाता है।[3] अथवा 'चऊ' शब्द के द्वारा उनका ग्रहण हो जाता है।

जो स्पर्श किया जाता है, उसे या स्पर्शनमात्र को स्पर्श कहते हैं। कोमल, कठोर, भारी, हल्का, ठण्डा, गरम, स्निग्ध और रूक्ष के भेद से स्पर्श आठ प्रकार का है। जो स्वाद रूप होता है या स्वाद मात्र को रस कहते हैं। तीता, खट्टा, कडुआ, मीठा और कसैला के भेद से रस पांच प्रकार का है। जो सूंघा जाता है या सूंघनेमात्र को गन्ध कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से वह दो प्रकार का है। जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्र को वर्ण कहते हैं। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वह पाँच प्रकार का है। ये स्पर्श आदि के मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार ये स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनमें पाये जाते हैं, वे पुद्गल हैं। इनका पुद्गल द्रव्य के साथ सदा सम्बन्ध है।[4]

जं इंदिएहि गिज्झं रूवं-रस-गन्ध-फास-परिणामं।
तं चिय पुग्गल-दव्वं अणंत-गुणं जीवरासीदो ॥२०७॥
[स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

—जो रूप रस गन्ध और स्पर्श परिणाम वाला होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है, वह सब पुद्गल द्रव्य है।[5] उनकी संख्या जीवराशि से अनन्तगुणी है क्योंकि प्रत्येक जीवप्रदेश पर अनन्त पुद्गल वर्गणा स्थित हैं।

---

१. राजवार्तिक २/८/२१-२२-२३। २. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥" [तै. सू. अ. ५]। ३. रसाद्यग्रहणमिति चेत्‌न, तदविनाभावात्तदन्तर्भावः "[स. सि ५/५]। ४. स सि. ५/२३। ५. "पुद्गलद्रव्यम् इन्द्रियग्राह्यं रूपरसगन्धस्पर्शपरिणामत्वात् पुद्गलपर्यायत्वात्।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २०७ की टीका]।

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ।।४०।।

[प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्वाधिकार]

—सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथिवी पर्यन्त पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय अक्षर-अनक्षर आदि के भेद से विविध प्रकार का जो शब्द है, वह भी पुद्गल है अर्थात् पुद्गल की पर्यात् है।

गमन करते हुए जीव और पुद्गल की गति में निष्क्रिय धर्म द्रव्य सहकारी कारण होता है, जैसे गमन करते हुए पथिक को मार्ग सहकारी कारण होता है अर्थात् जीव और पुद्गलों की गति में सहकारी होना यह धर्म द्रव्य का उपकार है।

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ।।१७।।

[बृहद् द्रव्यसंग्रह]

—क्रियारहित, अमूर्त, प्रेरणारहित धर्म द्रव्य गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी होता है। जैसे—मत्स्य आदि के गमन में जल सहायक कारण होता है।[1]

गदि किरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ।।उत्तरार्ध ८४।।[पंचास्तिकाय]

—यद्यपि धर्म गमन करते हुए जीव और पुद्गलों की तरफ उदासीन है तथापि उनकी गति के लिए सहकारी कारण है।[2]

"धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्त।" [प्रवचनसार गा. ४१ ज्ञेयतत्त्वाधिकार]

—जीव और पुद्गलों के गमन में हेतु (सहायक कारण) होना धर्म द्रव्य का गुण है।[3]

शंका—धर्म द्रव्य को निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित कहा गया है। यहाँ क्रिया से क्या अभिप्राय है?

समाधान—अंतरंग और बहिरंग निमित्त से द्रव्य का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त होना क्रिया है।[4] अथवा प्रदेशान्तर प्राप्ति का हेतु ऐसी जो परिस्पन्द रूप पर्याय वह क्रिया है।[5] जो इस प्रकार की क्रिया से रहित है वह निष्क्रिय है।

शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बनता। अतः सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं, इस सिद्धान्त का व्याघात हो जाता है।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. १४ की टीका। २. "धर्मोपि स्वभावेनैव गतिपरिणतजीवपुद्गलानामुदासीनोपि गति-सहकारिकारणं भवति।" [पंचास्तिकाय गा. ८४ तात्पर्यवृत्ति]। ३. "गमणणिमित्तं धम्मम्।" [नियमसार गा. ३०]। ४. "उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। [स. सि. ५/७]। ५. "प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया।" [पंचास्तिकाय गा. ९८ समयव्याख्या]।

समाधान—नहीं, क्योंकि इनमें उत्पाद आदि तीनों अन्य प्रकार से बन जाते हैं। यथा–ये धर्मादि द्रव्य क्रम से अश्व आदि की गति, स्थिति और अवगाहन में कारण हैं। चूंकि इन गति आदिक में क्षण-क्षण में अन्तर पड़ता है इसलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, इस प्रकार इन धर्मादि तीन (धर्म, अधर्म, आकाश) द्रव्यों में पर-प्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बन जाते हैं।

शंका—धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो ये जीव और पुद्गल की गति आदिक के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि जलादिक क्रियावान होकर ही मछली आदि की गति आदि में निमित्त देखे जाते हैं, अन्यथा नहीं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय के समान ये बलाधान निमित्तमात्र हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप के ग्रहण करने में निमित्त मात्र है, इसलिए जिसका मन व्याक्षिप्त है उसके चक्षु इन्द्रिय के रहते हुए भी रूप का ग्रहण नहीं होता। उसी प्रकार प्रकृत में समझ लेना चाहिए। इस प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य को निष्क्रिय मान लेने पर जीव व पुद्गल की क्रिया में ये सहकारी कारण होते हैं।[1]

जिस प्रकार धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है उसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति में अधर्म द्रव्य सहकारी कारण है। जैसे—आसन स्थिति में सहकारी कारण है।

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥ [बृहद्द्रव्यसंग्रह]

—लोक व्यवहार में जैसे छाया अथवा पृथिवी ठहरते हुए यात्रियों आदि को ठहरने में सहकारी होती है उसी तरह स्वयं ठहरते हुए जीव-पुद्गलों को ठहरने में अधर्म द्रव्य सहकारी कारण होता है किन्तु गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरिया जुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥ [पंचास्तिकाय]

—जैसा धर्म द्रव्य है, वैसा ही अधर्म द्रव्य है, जो पृथिवी के समान, स्थिति क्रिया करते हुए जीव-पुद्गलों को निमित्त कारण होता है। जैसे पृथिवी स्वयं पहले से ठहरी हुई दूसरों को न ठहराती हुई घोड़े आदिकों के ठहरने में बाहरी सहकारी कारण है, वैसे स्वयं पहले से ठहरा हुआ अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को न ठहराता हुआ उनके ठहरने में सहकारी कारण होता है।[2]

गति और स्थिति में निमित्त होना यह क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।[3]

शङ्का—उपकार क्या है ?

---

१. सर्वार्थसिद्धि ५/७। २. पंचास्तिकाय गा. ८६ की टीका। ३. "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥५/१७॥" [त. सू.]।

समाधान—गति उपग्रह और स्थिति उपग्रह (गति में निमित्त होना और स्थिति में निमित्त होना) यही उपकार है।

शंका—धर्म और अधर्म द्रव्य का जो उपकार उसे आकाश का मान लेना युक्त है, क्योंकि आकाश सर्वगत है ?

समाधान—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश का अन्य उपकार है। सब द्रव्यों को अवगाहन देना आकाश का प्रयोजन है।[1] जिस प्रकार आकाश अवगाह हेतु है उसी प्रकार यदि गति-स्थिति हेतु भी हो तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से परिणत सिद्ध भगवान, बहिरंग-अंतरंग साधन रूप सामग्री होने पर भी, क्यों लोकाकाश के अन्त में स्थिर हों। चूंकि सिद्ध भगवान गमन करके लोक के ऊपर स्थिर होते हैं अतः गति-स्थिति-हेतुत्व आकाश में नहीं है, ऐसा निश्चय है। लोक और अलोक का विभाग करने वाले धर्म तथा अधर्म द्रव्य ही गति तथा स्थिति के हेतु हैं। आकाश गति-स्थिति का हेतु नहीं है, क्योंकि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था इसी प्रकार बन सकती है। यदि आकाश को ही गति-स्थिति का निमित्त माना जावे, तो आकाश का सद्भाव सर्वत्र होने के कारण जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति की कोई सीमा न रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी तथा पूर्व-पूर्व व्यवस्थित लोक का अन्त उत्तरोत्तर वृद्धि होने से टूट जाएगा, इसलिए आकाश गति-स्थिति हेतु नहीं है। धर्म और अधर्म ही गति स्थिति के कारण हैं, आकाश नहीं।[2]

आगासं अवगासं गमणट्ठिदि कारणेहि देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥९२॥
जह्मा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थित्ति ॥९३॥
जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंत परिवुड्ढी ॥९४॥
तह्मा धम्माधम्मा गमणट्ठिदि कारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥९५॥[3]

इन गाथाओं का भाव ऊपर कहा जा चुका है।

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥[4]

—जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है वह आकाश द्रव्य है। लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से आकाश दो प्रकार का है।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥९०॥[5]

---

१. सर्वार्थसिद्धि ५/१७। २. पंचास्तिकाय गा. ९२-९५ तक की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका। ३. पंचास्तिकाय। ४. बृहद् द्रव्यसंग्रह। ५. पंचास्तिकाय।

—लोक में जीवों को और पुद्गलों को और शेष धर्म अधर्म और काल द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है वह आकाश है।

"**आकाशस्यावगाहः ॥१८॥**"[1] अवकाश देना आकाश का उपकार है।

शङ्का—अवगाहन स्वभाव वाले जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं, इसलिए इनको अवकाश देना युक्त है, परन्तु धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय और सदा सम्बन्ध वाले हैं इसलिए उनका अवगाह कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपचार से इसकी सिद्धि होती है। जैसे गमन नहीं करने पर भी आकाश सर्वगत कहा जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है; इसी प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह रूप क्रिया नहीं पायी जाती तो भी लोकाकाश में वे सर्वत्र व्याप्त हैं अतः वे अवगाही हैं ऐसा उपचार कर लिया जाता है ।

शङ्का—यदि अवकाश देना आकाश का स्वभाव है तो वज्रादिक से लोढ़ा आदिक का और भीतादिक से गाय आदिक का व्याघात नहीं प्राप्त होता है, किन्तु व्याघात तो देखा जाता है इससे ज्ञात होता है कि अवकाश देना आकाश का स्वभाव नहीं ठहरता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वज्र और लोढ़ा आदिक स्थूल पदार्थ हैंइसलिए उनका आपस में व्याघात होता है, अतः आकाश का अवकाश देने रूप सामर्थ्य नहीं नष्ट होता। वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्पर अवकाश नहीं देते, यह आकाश का दोष नहीं है। जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं।

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे पदार्थों में भी इसका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आकाश द्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है, यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

शङ्का—अलोकाकाश में अवकाशदान रूप स्वभाव नहीं पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाश का स्वभाव नहीं है ?

समाधान—नहीं, कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता है।[2]

शङ्का—यह लोक तो असंख्यातप्रदेशी है। परन्तु इस लोक में अनन्तानन्त जीव हैं उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल हैं। लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण भिन्न-भिन्न कालाणु हैं तथा एक धर्म और एक अधर्म द्रव्य है, ये सब किस तरह इस लोक में अवकाश पाते हैं ?

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५। २. सर्वार्थसिद्धि ५/१८।

समाधान—जैसे एक कोठरी में अनेक दीपकों का प्रकाश व एक गूढ़ नागरस के गुटके में बहुतसा सुवर्ण व ऊँटनी के दूध के भरे एक घट में मधु का भरा घट, व एक तहखाने में जयजयकार शब्द व घंटा आदि का शब्द विशेष अवगाहना गुण के कारण अवकाश पाते हैं, वैसे ही असंख्यात-प्रदेशी लोक में अनन्तानन्त जीवादि भी अवकाश पा सकते हैं।[1]

अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३०॥[नियमसार]

—जो जीवादि समस्त द्रव्यों के अवगाहन का निमित्त है वह आकाश द्रव्य है।

सयलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं।
तं आयासं दुविहं लोयालोयाण भेएण ॥२१३॥
[स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

—जो समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ है वह आकाश द्रव्य है, जो लोक व अलोक के भेद से दो प्रकार का है। कालद्रव्य के स्वरूप का विशेष कथन स्वयं ग्रन्थकार आगे गाथा ५६८ में कर रहे हैं, अतः यहाँ पर नहीं किया गया।

काल द्रव्य

वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु।
कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥५६८॥

गाथार्थ—जिसका वर्तना हेतु है, वह काल है। द्रव्यों में परिवर्तनगुण होते हुए भी काल के आधार से सर्व द्रव्य वर्तते हैं अर्थात् अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा परिणमन करते हैं॥५६८॥

विशेषार्थ—परिणमन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। उस परिणमन में बाह्य निमित्त कारण काल द्रव्य है।

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारण हव कालो ॥पूर्वार्ध गाथा ३३॥[2]

—जीवादिक द्रव्यों में जो प्रतिसमय वर्तना रूप परिणमन होता है उसका निमित्त कारण काल द्रव्य है। छहों द्रव्यों के वर्तन में जो कारण है वह प्रवर्तन लक्षण वाला मुख्य काल है।

सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो ॥पूर्वार्ध गाथा २१६॥[3]

—जीव, पुद्गल आदि सब द्रव्यों में परिणमन अर्थात् पर्याय होती है। पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होती है। इन पर्यायों को जो करता है अथवा उत्पन्न करता है वह निश्चय काल अर्थात् काल द्रव्य है।[4] छहों द्रव्यों के वर्तना का कारण प्रवर्तन लक्षण वाला मुख्य काल है।[5] जो वर्तना लक्षण

---

१. पंचास्तिकाय गा. ९० तात्पर्यवृत्तिः टीका। २. नियमसार। ३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा। ४. "पर्यायं करेदि कारयति उत्पादयतीत्यर्थः स च निश्चयकालः।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१६ की श्री शुभचन्द्राचार्य कृत टीका]। ५. "षड्द्रव्याणां वर्तनाकारणं वर्तयिता प्रवर्तनलक्षण-मुख्यकालः।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१६ टीका]।

वाला है वह परमार्थ (मुख्य, निश्चय) काल है।[1]

णिजन्त 'वर्त' धातु से कर्म या भाव में 'युट्' प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग में वर्तना शब्द बनता है; जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते' या 'वर्तनमात्रम्' होती है। यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह पर्याय बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती है, इसलिए पर्याय को प्रवर्तानेवाला काल है, ऐसा मान कर वर्तना काल का उपकार है।

शङ्का—णिजर्थ क्या है ?

समाधान—द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलाने वाला काल है। यह यहाँ णिच् प्रत्यय का अर्थ है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है, जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है; यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्त्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे शीत ऋतु में कण्डे की अग्नि पढ़ाती है, यहाँ कण्डे की अग्नि निमित्त मात्र है, उसी प्रकार काल भी हेतुकर्त्ता है।

शंका—वह काल है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—समयादिक क्रियाविशेषों की और समयादिक के द्वारा होने वाले पाक आदिक के समय, पाक इत्यादिक रूप से अपनी-अपनी रौढ़िक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें जो समय-काल ओदनपाककाल इत्यादि रूप से कालसंज्ञा का अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञा के निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण व्यवहार मुख्य की अपेक्षा रखता है।[2]

धर्मादि अमूर्त द्रव्यों में काल द्रव्य का उपकार किस प्रकार है ?

धम्माधम्मादीणं अगुरुलहुगं तु छहिं वि वड्ढीहिं ।
हाणीहिं वि वड्ढंतो हायंतो वट्टदे जह्मा ।।५६६।।[3]

गाथार्थ—धर्म-अधर्म आदि (शुद्ध) द्रव्यों में अगुरुलघु गुण में छह वृद्धि व छह हानि के द्वारा वृद्धि व हानि रूप वर्तन होता है ।।५६६।।

विशेषार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और सिद्धजीव इनमें स्वाभाविक अगुरुलघु गुण होता है।

शंका—धर्म, अधर्म, आकाश और काल में अगुरुलघुत्व किस प्रकार है ?

---

१. "वट्टणलक्खो य परमट्ठो" [बृहद् द्रव्य संग्रह गा. २१ टीका] २. सर्वार्थसिद्धि ५/२२। ३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा.२१६ की टीका में उद्धृत।

समाधान—अनादि पारिणामिक अगुरुलघु गुण के योग से।

शंका—मुक्त (सिद्ध) जीवों के अगुरुलघुत्व किस प्रकार है?

समाधान— अनादि कर्म-नोकर्म के सम्बन्ध के कारण जो कर्मोदय कृत अगुरुलघु होता था, उससे मुक्त जीव अत्यन्त निवृत्त (रहित) हो जाने से उनके स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का आविर्भाव हो जाता है।[1]

धर्माधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेदों में छह वृद्धियों द्वारा वृद्धि और छह हानियों द्वारा हानि रूप परिणमन होता है। उस परिणमन में भी मुख्यकाल अर्थात् काल द्रव्य कारण होता है।[2] धर्म, अधर्म, आकाश में अगुरुलघुगुण की हानि व वृद्धि से परिणाम होता है।[3]

काल द्रव्य वर्तना का कारण किस प्रकार होता है

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥५७०॥[4]

गाथार्थ—काल द्रव्य स्वयं अन्य रूप परिणमन नहीं करता और न अन्य द्रव्य को अन्य रूप परिणमाता है। विविध परिणमन करने वाले द्रव्यों के परिणमन में हेतु (कारण) होता है ॥५७०॥

विशेषार्थ-संक्रमविधान से काल द्रव्य अपने गुणों के द्वारा अन्य द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता और न अन्य द्रव्यों को या उनके गुणों को अपने रूप परिणमाता है। काल द्रव्य हेतुकर्ता होते हुए भी अन्य द्रव्य या अन्य गुण-रूप नहीं परिणमता। परिणमन करते हुए नाना प्रकार के द्रव्यों के परिणमन में स्वयं उदासीन निमित्त कारण होता है। जैसे काल द्रव्य उदासीन कारण है वैसे ही धर्मादि द्रव्य भी उदासीन निमित्त हैं। सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणमन (परिणमन गुण) से युक्त होने पर भी कालादि (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) सहकारी द्रव्यों के मिलने पर ही अपनी-अपनी पर्यायों को उत्पन्न करते हैं।[5]

कालं अस्सिय दव्वं सगसगपज्जायपरिणदं होदि।
पज्जायावट्ठाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं ॥५७१॥

गाथार्थ—काल के आश्रय से ही द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों से परिणत होता है। पर्याय की स्थिति शुद्धनय की अपेक्षा क्षण मात्र होती है ॥५७१॥

विशेषार्थ— पर्याय से प्रयोजन अर्थ पर्याय से है, क्योंकि अर्थपर्याय एक समय मात्र रहती

---

१. "अनादिकर्म-नोकर्म-संबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यंतविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति।" [रा. वा. ८/११/१२]। २. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१६ की टीका। ३. 'धर्माधर्माकाशानामगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः।" [स. सि. ५/२२]। ४. धवल पु.४ पृ. ३१५, पु. ११ पृ. ७६, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१७ की टीका। ५. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१७ की टीका।

हैं।[1] और क्षण से प्रयोजन समय से है।[2] शुद्ध नय से अभिप्राय सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय से है।[3] इस प्रकार ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा अर्थपर्याय की स्थिति समय मात्र होती है। इन पर्यायों की उत्पत्ति कालद्रव्य के आश्रय से होती है।

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥२३॥ [पंचास्तिकाय]

— सत्ता रूप स्वभाव वाले जीव के तथैव पुद्गलों के और च शब्द से धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के परिवर्तन में जो निमित्त कारण हो, वह नियम से काल द्रव्य है।

शंका— कालद्रव्य के परिणमन में कौन सहकारी कारण है?

समाधान— काल द्रव्य अपने परिणमन में स्वयं सहकारी कारण है।[4] जिस प्रकार आकाश द्रव्य शेष सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है।[5] अथवा जैसे दीपक घट पट आदि अन्य पदार्थों का प्रकाशक होने पर भी स्वयं अपने आपका प्रकाशक होता है, उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक आदि की आवश्यकता नहीं हुआ करती, इसी प्रकार से काल द्रव्य भी अन्य जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिवर्तन का निमित्त कारण होते हुए भी अपने आपका परिवर्तन स्वयं ही करता है, उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की आवश्कता नहीं पड़ती [धवल पु. ४ पृ. ३२०-३२१]।

शंका— जैसे काल द्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है, वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने-अपने परिणमन के सहकारी कारण क्यों नहीं हैं? उनके परिणमन में काल से क्या प्रयोजन?

समाधान— ऐसा नहीं है, यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति, स्थिति, अवगाहन के लिए सहकारी कारणभूत धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। काल का कार्य घड़ी, दिन आदि प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम से ही जाना जाता है। यदि काल द्रव्य का अभाव माना जाएगा तो धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य व आकाश द्रव्य के अभाव का प्रसंग भी उसी प्रकार आजाएगा और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे, जो आगमविरुद्ध है।[6]

शंका— अलोकाकाश में काल द्रव्य का अभाव होने से अलोकाकाश में परिणमन कैसे हो सकता है?

---

१. "एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते।" [पंचास्तिकाय गा. १६ तात्पर्यवृत्ति टीका]। २. "खणमेत्तं तं च समओत्ति।" [गो. जी. गा. ५७३]। ३. "तच्च वर्तमानं समयमात्रं तद्विषयपर्यायमात्रं ग्राह्यमृजुसूत्रः" [स. सि. १३३]। ४. "कालद्रव्यं परेषां द्रव्याणां परिणतिपर्यायत्वेन सहकारीकारणं स्वस्यापि।" [स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१८ टीका]। ५. ६. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २२ की टीका।

समाधान— जैसे चाक के एक भाग में डंडे की प्रेरणा से सर्व चाक घूमने लगता है, वैसे ही आकाश अखण्ड द्रव्य होने से आकाश के एक भाग लोकाकाश में स्थित काल द्रव्य के कारण समस्त आकाश में परिणमन होने से कोई बाधा नहीं आती है ।[1]

व्यवहार काल

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।
ववहारअवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु ।।५७२।।
अवरा पज्जायठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति ।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु ।।५७३।।[2]

गाथार्थ—व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय, ये एकार्थवाची शब्द हैं । व्यवहार का अवस्थान या स्थिति वह व्यवहार काल है ।।५७२।। जघन्य पर्याय स्थिति क्षण मात्र होती है, वही समय है । दो परमाणुओं के अतिक्रमकाल प्रमाण समय है ।।५७३।।

विशेषार्थ—जो व्यवहार के योग्य हो वह व्यवहार है। व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय इन शब्दों का एक ही अर्थ है ।[3] भेद से कथन करना या पर्याय की अपेक्षा कथन करना यह सब व्यवहार नय का विषय है । व्यवहार अर्थात् पर्याय का जो अवस्थान अर्थात् स्थिति वह व्यवहार काल है, क्योंकि जो स्थिति है वह काल संज्ञक है ।[4] जैसे नाड़ी की जो स्थिति है वह उच्छ्वास नामक व्यवहार काल है । द्रव्यों की जघन्य पर्याय-स्थिति क्षण मात्र होती है और जघन्यस्थितिरूप क्षण मात्र को ही समय कहते हैं । गमनपरिणत दो परमाणुओं का परस्पर-अतिक्रम काल प्रमाण ही समय रूप व्यवहार काल होता है ।[5] एक परमाणु का दूसरे परमाणु को व्यतिक्रम करने में जितना काल लगता है, उस काल को समय कहते हैं ।[6]

तत्प्रायोग्य वेग से एक परमाणु के ऊपर की ओर और दूसरे परमाणु के नीचे की ओर जाने वाले इन दो परमाणुओं के शरीर द्वारा स्पर्शन होने में लगने वाला काल समय कहलाता है।[7]

गयणयपयेसत्थो परमाणु-मंदगइपवट्टंतो ।
बीयमणंतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालो ।।
[स्वा. का. अ. गा. २२० टीका]

—आकाश के एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणु योग्य मन्द गति के द्वारा गमन करके दूसरे अनन्तर प्रदेश पर जितने काल में प्राप्त हो, उतने काल को एक समय कहते हैं ।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. २२ की टीका । २. स्वा. का. अ. गा. २२० की टीका । ३. "व्यवहर्तुं योग्यो व्यवहारः विकल्पः भेदः पर्याय इत्येकार्थः ।।" [स्वा. का. अ. गा. २२० टीका] । ४. "स्थितिः कालसंज्ञका" [बृहद् द्रव्य संग्रह गा. २१ टीका] । ५. स्वा. का. अ. गा. २२० टीका । ६. "अणोरण्वंतर व्यतिक्रमकालः समयः ।" [धवल पु. ४ पृ. ३१८] । ७. "दोण्णं परमाणूणं तप्पाओग्गवेगेण उड्ढमधो च गच्छंताणं सरीरेहि अण्णोण्णफोसणकालो समओ णाम ।"[धवल पु. १३ पृ. २९८] ।

शङ्का—आकाश तो अखण्ड द्रव्य है उसमें प्रदेश का कथन उचित नहीं है ?

समाधान—यद्यपि आकाश अखण्ड द्रव्य है तथापि धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य के कारण लोकाकाश, अलोकाकाश ऐसे दो खण्ड अनादि काल से हैं। लोकाकाश के भी मनुष्य लोक, तिर्यग्लोक, नरक लोक, स्वर्ग लोक आदि खण्ड पाये जाते हैं। जितने आकाश में एक पुद्गल परमाणु आजाय वह प्रदेश है।[1]

शंका—जितने काल में आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम संयम है तो परमाणु के चौदह राजू गमन करने पर जितने चौदह राजू आकाश के प्रदेश हैं उतने समय लगने चाहिए, एक समय में चौदह राजू गमन कैसे सम्भव है ?

समाधान—परमाणु एक समय में एक आकाशप्रदेश से दूसरे साथवाले प्रदेश पर गमन करता है। उसको यथायोग्य मन्द गति से गमन करने में एक समय लगता है। यदि परमाणु शीघ्र (तीव्र) गति से गमन करे तो एक समय में चौदह राजू गमन कर सकता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे देवदत्त नामक पुरुष धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है। मन्द गति व शीघ्र गति की अपेक्षा एक समय में एक प्रदेश व चौदह राजू गमन में कोई बाधा नहीं आती।[2]

आवलिअसंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो ।
सत्तुस्सासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥५७४॥[3]
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वेनालिया मुहुत्तं तु ।
एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥५७५॥[4]
दिवसो पक्खो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु ।
संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो ॥५७६॥[5]
ववहारो पुण कालो माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु ।
जोइसियाणं चारे ववहारो खलु समाणोत्ति ॥५७७॥[6]

गाथार्थ—असंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्वास (नाड़ी), सात उच्छ्वास का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव होता है ॥५७४॥ साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली (घड़ी), दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक समय कम मुहूर्त भिन्न

---

१. "जेत्तीवि खेत्तमेत्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च। तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स ॥" जितने आकाश द्रव्य में पुद्गल का एक परमाणु आजाय उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेश के निमित्त से दूर व निकट का व्यवहार होता है [स्वा. का. अ. गा. २२० की टीका]। २. वृहद्द्रव्य संग्रह गा. २२ की टीका। ३.४.५. धवल पु. ३ पृ. ६६ व स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २२० की टीका। ६. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २२१ की टीका।

समाधान— जैसे चाक के एक भाग में डंडे की प्रेरणा से सर्व चाक घूमने लगता है, वैसे ही आकाश अखण्ड द्रव्य होने से आकाश के एक भाग लोकाकाश में स्थित काल द्रव्य के कारण समस्त आकाश में परिणमन होने से कोई बाधा नहीं आती है।[1]

व्यवहार काल

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।
ववहारअवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु ॥५७२॥
अवरा पज्जायठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति ।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु ॥५७३॥[2]

गाथार्थ—व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय, ये एकार्थवाची शब्द हैं। व्यवहार का अवस्थान या स्थिति वह व्यवहार काल है ॥५७२॥ जघन्य पर्याय स्थिति क्षण मात्र होती है, वही समय है। दो परमाणुओं के अतिक्रमकाल प्रमाण समय है ॥५७३॥

विशेषार्थ—जो व्यवहार के योग्य हो वह व्यवहार है। व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय इन शब्दों का एक ही अर्थ है।[3] भेद से कथन करना या पर्याय की अपेक्षा कथन करना यह सब व्यवहार नय का विषय है। व्यवहार अर्थात् पर्याय का जो अवस्थान अर्थात् स्थिति वह व्यवहार काल है, क्योंकि जो स्थिति है वह काल संज्ञक है।[4] जैसे नाड़ी की जो स्थिति है वह उच्छ्वास नामक व्यवहार काल है। द्रव्यों की जघन्य पर्याय-स्थिति क्षण मात्र होती है और जघन्यस्थितिरूप क्षण मात्र को ही समय कहते हैं। गमनपरिणत दो परमाणुओं का परस्पर-अतिक्रम काल प्रमाण ही समय रूप व्यवहार काल होता है।[5] एक परमाणु का दूसरे परमाणु को व्यतिक्रम करने में जितना काल लगता है, उस काल को समय कहते हैं।[6]

तत्प्रायोग्य वेग से एक परमाणु के ऊपर की ओर और दूसरे परमाणु के नीचे की ओर जाने वाले इन दो परमाणुओं के शरीर द्वारा स्पर्शन होने में लगने वाला काल समय कहलाता है।[7]

णभएयपयेसत्थो परमाणु-मंदगइपवट्टंतो ।
बीयमणंतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालो ॥
[स्वा. का. अ. गा. २२० टीका]

—आकाश के एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणु योग्य मन्द गति के द्वारा गमन करके दूसरे अनन्तर प्रदेश पर जितने काल में प्राप्त हो, उतने काल को एक समय कहते हैं।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. २२ की टीका। २. स्वा. का. अ. गा. २२० की टीका। ३. "व्यवहर्तुं योग्यो व्यवहारः विकल्पः भेदः पर्याय इत्येकार्थः ॥" [स्वा. का. अ. गा. २२० टीका]। ४. "स्थितिः कालसंज्ञका" [बृहद् द्रव्य संग्रह गा. २१ टीका]। ५. स्वा. का. अ. गा. २२० टीका। ६. "अणोरण्वंतर व्यतिक्रमकालः समयः।" [धवल पु. ४ पृ. ३१८]। ७. "दोण्णं परमाणूणं तप्पाओग्गवेगेण उड्ढमधो च गच्छंताणं सरीरेहि अण्णोण्णफोसणकालो समओ णाम।" [धवल पु. १३ पृ. २९८]।

शङ्का—आकाश तो अखण्ड द्रव्य है उसमें प्रदेश का कथन उचित नहीं है ?

समाधान—यद्यपि आकाश अखण्ड द्रव्य है तथापि धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य के कारण लोकाकाश, अलोकाकाश ऐसे दो खण्ड अनादि काल से हैं। लोकाकाश के भी मनुष्य लोक, तिर्यग्लोक, नरक लोक, स्वर्ग लोक आदि खण्ड पाये जाते हैं। जितने आकाश में एक पुद्गल परमाणु आजाय वह प्रदेश है।[1]

शंका—जितने काल में आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम संयम है तो परमाणु के चौदह राजू गमन करने पर जितने चौदह राजू आकाश के प्रदेश हैं उतने समय लगने चाहिए, एक समय में चौदह राजू गमन कैसे सम्भव है ?

समाधान—परमाणु एक समय में एक आकाशप्रदेश से दूसरे साथवाले प्रदेश पर गमन करता है। उसको यथायोग्य मन्द गति से गमन करने में एक समय लगता है। यदि परमाणु शीघ्र (तीव्र) गति से गमन करे तो एक समय में चौदह राजू गमन कर सकता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे देवदत्त नामक पुरुष धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है। मन्द गति व शीघ्र गति की अपेक्षा एक समय में एक प्रदेश व चौदह राजू गमन में कोई बाधा नहीं आती।[2]

आवलिअसंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो ।
सत्तुस्सासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥५७४॥[3]
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वेनालिया मुहुत्तं तु ।
एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥५७५॥[4]
दिवसो पक्खो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु ।
संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो ॥५७६॥[5]
ववहारो पुण कालो माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु ।
जोइसियाणं चारे ववहारो खलु समाणोत्ति ॥५७७॥[6]

गाथार्थ—असंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्वास (नाड़ी), सात उच्छ्वास का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव होता है ॥५७४॥ साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली (घड़ी), दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक समय कम मुहूर्त भिन्न

---

१. "जेत्तीवि खेत्तमेत्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च। तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स ॥" जितने आकाश द्रव्य में पुद्गल का एक परमाणु आजाय उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेश के निमित्त से दूर व निकट का व्यवहार होता है [स्वा. का. अ. गा. २२० की टीका]। २. वृहद्द्रव्य संग्रह गा. २२ की टीका। ३.४.५. धवल पु. ३ पृ. ६६ व स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २२० की टीका। ६. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २२१ की टीका।

मुहूर्त होता है। इसी प्रकार शेष दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि को जानना चाहिए। संख्यात असंख्यात व अनन्त आवलियों का व्यवहार काल होता है ।।५७५-५७६।। ज्योतिषी देवों का संचार मानुष क्षेत्र में ही होता है अतः उसी के समान व्यवहार काल जानना चाहिए ।।५७७।।

विशेषार्थ - जघन्य-युक्तासंख्यात प्रमाण समयों की एक आवली होती है।[1] समय का कथन गाथा ५७३ में किया जा चुका है।

शंका—जघन्य-युक्तासंख्यात का क्या प्रमाण है?

समाधान—एक अधिक उत्कृष्ट परीतासंख्यात जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण है। अथवा जघन्य परीतासंख्यात का विरलन कर प्रत्येक एक अंक पर उसी जघन्यपरीतासंख्यात को देय देकर परस्पर गुणा करने से जघन्य युक्तासंख्यात प्राप्त होता है जो आवली सदृश है। इस प्रमाण में से एक कम कर देने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात प्राप्त होता है।

अवरपरित्तं विरलिय तमेव दादूण संगुणिदे ।। ३६ ।।
अवरं जुत्तमसंखं आवलिसरिसं तमेव रूऊणं।
परिमिद वरमावलिकिदि दुगवावरं विरूव जुत्तवरं ।। ३७ ।।[2]

शंका—जघन्यपरीतासंख्यात का प्रमाण किस प्रकार प्राप्त किया जाय?

समाधान—इस सम्बन्ध में त्रिलोकसार ग्रन्थ में गाथा १४-१५ और २९ से ३५ गाथा में इस प्रकार कहा गया है—

—संख्यात का ज्ञान करने के लिए अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ऐसे चार कुण्डों की कल्पना करनी चाहिए। प्रत्येक कुण्ड का व्यास एक लाख योजन और उत्सेध एक हजार योजन है। द्वि आदि संख्यात सरसों से अनवस्था कुण्ड को भरना चाहिए। एक बार अनवस्था कुण्ड भर जाय तब एक सरसों शलाकाकुण्ड में डालना चाहिए। तथा अनवस्था कुण्ड के जितने सरसों हैं, उन्हें बुद्धि द्वारा या देव द्वारा ग्रहण कर प्रत्येक एक-एक द्वीप-समुद्र में एक-एक दाना डालते हुए जिस द्वीप या समुद्र पर दाने समाप्त हो जायें, वहाँ से लेकर नीचे के अर्थात् जम्बूद्वीप पर्यन्त पहले के सभी द्वीप-समुद्रों के प्रमाण बराबर दूसरा अनवस्था कुण्ड बनाकर सरसों से भरना चाहिए। दूसरे अनवस्था कुण्ड के लिए प्रथम कुण्ड के सरसों गच्छ हैं। तीसरे अनवस्था कुण्ड के लिए प्रथम और द्वितीय अनवस्था कुण्ड के सरसों गच्छ हैं। इसी प्रकार जो पूर्व-पूर्व के गच्छ हैं, उन-उन के द्वारा उत्तरोत्तर अनवस्था कुण्डों की सरसों का प्रमाण साधा जाता है। दूसरे अनवस्था कुण्ड को पूर्ण भरकर पुनः एक दूसरी शलाका स्वरूप सरसों शलाका कुण्ड में डालना चाहिए। इसी क्रम से बढ़ते हुए जब शलाका कुण्ड भर जाय तब एक दाना प्रतिशलाका कुण्ड में डालना और शलाकाकुण्ड को खाली करके पूर्वोक्त प्रकार ही पुनः उसे भरकर प्रतिशलाका कुण्ड में दूसरा दाना डालना चाहिए।

---

१. "जघन्ययुक्तासंख्यातसमयराशिः आवलिः स्यात्।" (स्वा. का. अ. गा. २२० टीका); "अवरं जुत्तमसंखं आवलिसरिसं" (त्रि. सा. गा. ३७)। २. त्रिलोकसार।

इस प्रकार जब प्रतिशलाका कुण्ड भी भर चुके तब एक दाना महाशलाका कुण्ड में डाला जाएगा। क्रम से भरते हुए जब ये चारों कुण्ड भर जायेंगे तब अन्त में जो अनवस्थित कुण्ड बनेगा उसमें जितने प्रमाण सरसों होंगे, वही जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण होगा। इसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त जघन्य युक्तासंख्यात समयों की एक आवली होती है।

वह व्यवहारकाल—समय, आवली, क्षण(स्तोक), लव, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन संवत्सर, युग, पूर्व, पर्व, पल्योपम, सागरोपम आदि रूप है।[1]

शंका—तो फिर इसके 'काल' ऐसा व्यपदेश कैसे हुआ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयु की स्थितियाँ कल्पित या संख्यात की जाती हैं अर्थात् कही जाती हैं, वह काल है। इस प्रकार काल शब्द की व्युत्पत्ति है।

काल, समय और अद्धा ये सब एकार्थवाची नाम हैं।

एक परमाणु का दूसरे परमाणु के व्यतिक्रम करने में जितना काल लगता है, वह **'समय'** है। असंख्यात समयों को ग्रहण करके एक **आवली** होती है। तत्प्रायोग्य संख्यात आवलियों से एक उच्छ्वास-निःश्वास निष्पन्न होता है। सात उच्छ्वासों से एक **स्तोक** संज्ञिक काल निष्पन्न होता है। सात स्तोकों से एक **लव** और साढे अड़तीस लवों से एक **नाली** और दो नालिक से एक मुहूर्त होता है।[2]

उच्छ्वासानां सहस्राणि त्रीणि सप्त शतानि च।
त्रिसप्ततिः पुनस्तेषां मुहूर्तो ह्येक इष्यते (३७७३) ॥१०॥[3]

—तीन हजार सात सौ तेहत्तर (३७७३) उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है।

अड्ढस्स अणलसस्स य णिरुवहदस्स य जिणेहि जंतुस्स।
उस्सासो णिस्सासो एगो पाणो त्ति आहिदो एसो॥३५॥[4]

—जो सुखी है, आलस्य रहित है और रोगादिक की चिन्ता से मुक्त है, ऐसे प्राणी के श्वासोच्छ्वास को एक प्राण कहते हैं। ऐसा श्रुतकेवली ने कहा है।

कितने ही आचार्य सात सौ बीस प्राणों का एक मुहूर्त होता है, ऐसा कहते हैं, परन्तु प्राकृत अर्थात् रोगादि से रहित स्वस्थ मनुष्य के उच्छ्वासों को देखते हुए उन आचार्यों का इस प्रकार कथन करना घटित नहीं होता, क्योंकि जो केवलीभाषित अर्थ होने के कारण प्रमाण है, ऐसे इस सूत्र

१. "तस्स समय-आवलिय-खण-लव-मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मास—उडु—अयण-संवच्छर-जुग—पुव्व-पव्व-पलिदोवम-सागरोवमादि-रूवत्तादो।" [धवल पु. ४ पृ. ३१७]। २. धवल पु. ४ पृ. ३१८, पु. ३ पृ. ६५। ३. धवल पु. ४ पृ. ३१८। ४. धवल पु. ३ पृ. ६६।

के साथ उक्त कथन का विरोध आता है।[1]

शंका—सूत्र कहने से उक्त कथन में कैसे विरोध आता है ?

समाधान—क्योंकि ऊपर कहे गये सात सौ बीस प्राणों को चार से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो उसमें सात कम नो सौ (८९३) और मिलाने पर सूत्र में कथित मुहूर्त के उच्छ्वासों का प्रमाण होता है, इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मुहूर्त के उच्छ्वासों का प्रमाण सूत्रविरुद्ध है। यदि सात सौ बीस प्राणों का एक मुहूर्त होता है, इस कल्पना को मान लिया जाय तो केवल इक्कीस हजार छह सौ (२१६००) प्राणों के द्वारा ही ज्योतिषियों के द्वारा माने हुए दिन अर्थात् अहोरात्र का प्रमाण होता है, किन्तु यहाँ आगमानुकूल कथन के अनुसार तो एक लाख तेरह हजार और एक सौ नब्बे (११३१९०) उच्छ्वासों के द्वारा एक दिन अर्थात् अहोरात्र होता है।[2]

मुहूर्त में से एक समय निकाल लेने पर शेष काल के प्रमाण को भिन्न मुहूर्त कहते हैं। उस भिन्नमुहूर्त में से एक समय और निकाल लेने पर शेष काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक समय कम करते हुए उच्छ्वास के उत्पन्न होने तक एक-एक समय निकालते जाना चाहिए। वह सब एक-एक समय कम किया हुआ काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होता है। इसी प्रकार जब तक आवली उत्पन्न नहीं होती है तब तक शेष रहे हुए एक उच्छ्वास में से भी एक-एक समय काल कम करते जाना चाहिए, ऐसा करने पर जो आवली उत्पन्न होती है, वह भी अन्तर्मुहूर्त है।[3] तदनन्तर दूसरी आवली के असंख्यातवें भाग का उस आवली में भाग देने पर जो लब्ध आवे वह (आवली का असंख्यातवाँ भाग) काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।[4] वह एक समय कम मुहूर्त भिन्न मुहूर्त अर्थात् उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। इससे आगे दो समय आदि कम करते हुए आवली के असंख्यातवें भाग तक ये सब अन्तर्मुहूर्त है।[5]

पंचास्तिकाय प्राभृत में व्यवहार काल के निम्नलिखित भेद कहे हैं—

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मास उडु अयणं संवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥२५॥[6]

—समय, निमिष, काष्ठा, कला, नाली, दिन और रात्रि, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर इत्यादि काल परायत्त है। (अन्य द्रव्यों के परिवर्तनाधीन हैं)।

निमेषाणां सहस्राणि पंच भूयः शतं तथा।
दश चैव निमेषाः स्युर्मुहूर्ते गणिताः बुधैः॥ (५११०) ॥११॥[7]

—विद्वानों के द्वारा एक मुहूर्त में पाँच हजार एक सौ दस निमेष गिने गये हैं। तीस मुहूर्त का

---

१. धवल पु.३ पृ. ६६। २. धवल पु. ३ पृ. ६७। ३. धवल पु. ३ पृ. ६७। ४. धवल पु. ३ पृ. ६८। ५. "स च एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तः उत्कृष्टान्तर्मुहूर्त इत्यर्थः। ततोऽग्रे द्विसमयोनाद्या आवल्यसंख्यातैकभागान्ताः सर्वेऽन्तर्मुहूर्ताः।" [स्वा. का. अ. गा. २२० टीका]। ६. पंचास्तिकाय; धवल पु. ४ पृ. ३१७। ७. धवल पु. ४ पृ. ३१८।

एक दिन अर्थात् अहोरात्र होता है। पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक मास होता है। बारह मास का एक वर्ष होता है। पाँच वर्षों का एक युग होता है। इस प्रकार ऊपर-ऊपर भी कल्प उत्पन्न होने तक कहते जाना चाहिए।[1]

शङ्का—निमिष, काष्ठा, कला इन कालों का क्या प्रमाण है ?

समाधान—आँख की पलक मारने से जो प्रगट हो व जिसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं, वह निमिष है। पन्द्रह निमिषों की एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओं की एक कला होती है। कुछ अधिक बीस कला की एक नाली अर्थात् घटिका या घड़ी होती है।[2]

शङ्का—ऋतु व अयन का क्या प्रमाण है ?

समाधान—दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतु का एक अयन होता है। दो अयन का एक वर्ष होता है। इत्यादि पल्योपम, सागर आदि व्यवहार काल जानना चाहिए।[3]

शङ्का—देवलोक में तो दिन-रात्रिरूप काल का अभाव है, फिर वहाँ पर काल का व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ के काल से ही देवलोक में काल का व्यवहार होता है।[4]

शङ्का—मनुष्यलोक में ही कालविभाग (व्यवहार काल) क्यों होता है ?

समाधान - "मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयो नृलोके ॥१३॥ तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥"[5]

सूर्य-चन्द्रमादि ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले और निरन्तर गतिशील हैं। उनके द्वारा किया हुआ दिन, रात, पक्ष, मास, अयन आदि काल-विभाग होता है। चूंकि ज्योतिषी देवों का गमन मनुष्यलोक में ही होता है, अतः मनुष्यलोक में ही व्यवहार काल का विभाजन होता है।

प्रकारान्तर से व्यवहारकाल का प्रमाण

ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु।
तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥५७८॥
समओ हु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।
भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥५७९॥

गाथार्थ—भूत-वर्तमान और भविष्यत् के भेद से व्यवहार काल तीन प्रकार का है।

---

१. "त्रिशन्मुहूर्तो दिवसः। पंचदश दिवसाः पक्षः। द्वौ पक्षौ मासः। द्वादशमासं वर्षम्। पंचभिर्वर्षैर्युगः। एवमुवरि वि वत्तव्वं जाव कप्पोत्ति।"[धवल पु. ४ पृ. ३१८, ३१९-३२०]। २.३. पं. का. गा. २५ तात्पर्य वृत्ति टीका। ४. धवल पु. ४ पृ. ३२१। ५. त. सू. अध्याय ५।

सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीत का प्रमाण होता है ।।५७८।। वर्तमान काल समय मात्र है । सर्व जीवों से और समस्त पुद्गलों से अनन्तगुणा भविष्यत् काल है । ये तीनों व्यवहार काल हैं ।।५७९।।

विशेषार्थ—अतीत काल, भविष्यत्काल और वर्तमानकाल इस प्रकार व्यवहार काल तीन प्रकार का है । अतीत काल की पर्यायें तो व्यय को प्राप्त (नाश) हो चुकी हैं । भविष्यत्काल की पर्यायें होंगी, अभी अनुत्पन्न हैं । वर्तमान काल की एक समय मात्र पर्याय विद्यमान है । यद्यपि अतीत, अनागत और वर्तमान की अपेक्षा काल तीन प्रकार का है तथापि गुणस्थिति काल, भवस्थिति काल, कर्मस्थिति काल , कायस्थिति काल, उपपादकाल और भावस्थिति काल की अपेक्षा व्यवहार काल छह प्रकार का है । अथवा काल अनेक प्रकार का है, क्योंकि परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है तथा परिणाम अनन्त पाये जाते हैं ।

अतीत काल के प्रमाण का कथन करते हुए श्री **कुन्दकुन्द आचार्य** ने भी **नियमसार में** इसी प्रकार कहा है—"**तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं[1]प्पमाणं तु ।।**" **गा. ३१ उत्तरार्ध ।।** अर्थात् सिद्ध जीवों का जितना प्रमाण है उसको संख्यात आवलियों से गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतना अतीत काल है । सिद्धराशि अनन्त है, उससे असंख्यात गुणा अतीत काल है, जो अनन्त है ।

शंका—अतीत काल सिद्धराशि से असंख्यात गुणा क्यों कहा ?

समाधान—गाथा में सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीतकाल का प्रमाण प्राप्त होना है, ऐसा कहा है। एक आवली में जघन्य युक्तासंख्यात समय होते हैं। इन युक्तासंख्यात समयों से संख्यात आवलियों को गुणित करने पर लब्ध असंख्यात समय प्राप्त होते हैं। अतः समयों की अपेक्षा सिद्धों से असंख्यात गुणा अतीत काल है। आवली की अपेक्षा सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा किया जाता है। कहा भी है—

"**तत्रातीतः संख्यातावलिगुणितसिद्धराशिर्भवति ।**"[**स्वा. का. अ. गा.२२१ टीका**]

संख्यात आवली गुणित सिद्धराशि अतीत काल का प्रमाण है।

शंका—संख्यात आवलियों से सिद्धराशि को क्यों गुणा किया ?

समाधान—क्योंकि सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर लब्ध अनन्त आता है जो कि अतीत काल के समयों प्रमाण है । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

चूंकि ६०८ जीवों को मोक्ष जाने में ६ मास ८ समय व्यतीत हुआ,

तो एक जीव को मोक्ष जाने में $\frac{\text{६ मास ८ समय}}{\text{६०८}}$ व्यतीत हुआ,

---

१. प्रमाद या असावधानीवश लेखक से नियमसार में 'सिद्धाणं' के स्थान पर 'संठाणं' लिखा गया जिसकी परम्परा अब तक चली आ रही है । क्योंकि संस्थान को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीत काल का प्रमाण नहीं प्राप्त होता ।—र. च. मुख्तार.

अतः वर्तमान सिद्ध को मोक्ष जाने में $\frac{\text{६ मास ८ समय}}{\text{६०८}} \times \frac{\text{१ सिद्ध}}{\text{१}} = \text{संख्यातआवली} \times \text{सिद्ध}$ = अतीत काल (इतना काल व्यतीत हुआ)

इससे कम या अधिक अतीत काल हो नहीं सकता क्योंकि ६ मास ८ समय में ६०८ के मोक्ष जाने का क्रम अतीत काल में सदा नियत रहा है। अतः अतीतकाल का प्रमाण = $\frac{\text{६ मास ८ समय}}{\text{६०८}} \times \frac{\text{सिद्धराशि}}{\text{१}}$ ही सुनिश्चित है और वह संख्यात आवली × सिद्धराशि प्रमित है।

जो वर्तमान एक समय है वही वर्तमान काल है। क्योंकि वर्तमान एक समय से जो पूर्व के समय हैं, वे तो अतीत काल रूप काल है। वर्तमान समय से जो अनागत काल है वह भविष्यत् काल है। अतः वर्तमान काल एक समय मात्र है। कहा भी है—

तेसु अतीदा णंता अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो एत्तिय-मेत्तो वि सो कालो ॥२२१॥
[स्वा. का. अ.]

अतीत काल अनन्त है जो सिद्धराशि गुणित छह आवली प्रमाण अर्थात् जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण है। अनागत (भविष्यत्) काल उससे अनन्त गुणा है, क्योंकि सर्व जीवराशि से अनन्तगुणी पुद्गल राशि, उससे भी अनन्तगुणा काल है। एक समय मात्र वर्तमान काल है इतना व्यवहार काल है।

शङ्का—अतीत काल जीवराशि के अनन्तवें भाग है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—सिद्धराशि से असंख्यात गुणा अतीत काल है, किन्तु जीवराशि सिद्धराशि से अनन्त गुणी है। इससे सिद्ध होता है कि अतीत काल जीवराशि के अनन्तवें भाग है।

शङ्का—जीवराशि से अनन्तगुणी पुद्गलराशि है, उससे भी अनन्तगुणा काल है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—यह आर्ष वाक्यों से जाना जाता है, जो इस प्रकार है—"**सव्वजीवरासी वग्गिजमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्व पोग्गलदव्वं पावदि। पुणो सव्वपोग्गलदव्वं वग्गिज्जमाणं वग्गिज्जमाणं अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वकालं पावदि।**" [**धवल पु. १३ पृ. २६२-२६३**]

सब जीवराशि का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकप्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सब पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है। पुनः सब पुद्गल द्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब काल प्राप्त होता है।

इस सर्वकाल में से जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण अतीत काल को घटा देने पर भविष्यत् काल शेष रह जाता है जो अतीत काल, सर्व जीवराशि व पुद्गलराशि से अनन्त गुणा होता है।

सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीत का प्रमाण होता है ।।५७८।। वर्तमान काल समय मात्र है । सर्व जीवों से और समस्त पुद्गलों से अनन्तगुणा भविष्यत् काल है । ये तीनों व्यवहार काल हैं ।।५७९।।

विशेषार्थ—अतीत काल, भविष्यत्काल और वर्तमानकाल इस प्रकार व्यवहार काल तीन प्रकार का है । अतीत काल की पर्यायें तो व्यय को प्राप्त (नाश) हो चुकी हैं । भविष्यत्काल की पर्यायें होंगी, अभी अनुत्पन्न हैं । वर्तमान काल की एक समय मात्र पर्याय विद्यमान है । यद्यपि अतीत, अनागत और वर्तमान की अपेक्षा काल तीन प्रकार का है तथापि गुणस्थिति काल, भवस्थिति काल, कर्मस्थिति काल, कायस्थिति काल, उपपादकाल और भावस्थिति काल की अपेक्षा व्यवहार काल छह प्रकार का है । अथवा काल अनेक प्रकार का है, क्योंकि परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है तथा परिणाम अनन्त पाये जाते हैं ।

अतीत काल के प्रमाण का कथन करते हुए श्री **कुन्दकुन्द आचार्य** ने भी **नियमसार में** इसी प्रकार कहा है—**"तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं[1]प्पमाणं तु ।।" गा. ३१ उत्तरार्ध ।।** अर्थात् सिद्ध जीवों का जितना प्रमाण है उसको संख्यात आवलियों से गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतना अतीत काल है । सिद्धराशि अनन्त है, उससे असंख्यात गुणा अतीत काल है, जो अनन्त है ।

शंका—अतीत काल सिद्धराशि से असंख्यात गुणा क्यों कहा ?

समाधान—गाथा में सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीतकाल का प्रमाण प्राप्त होता है, ऐसा कहा है । एक आवली में जघन्य युक्तासंख्यात समय होते हैं । इन युक्तासंख्यात समयों से संख्यात आवलियों को गुणित करने पर लब्ध असंख्यात समय प्राप्त होते हैं । अतः समयों की अपेक्षा सिद्धों से असंख्यात गुणा अतीत काल है । आवली की अपेक्षा सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा किया जाता है । कहा भी है—

"तत्रातीतः संख्यातावलिगुणितसिद्धराशिर्भवति ।" [स्वा. का. अ. गा. २२१ टीका]

संख्यात आवली गुणित सिद्धराशि अतीत काल का प्रमाण है ।

शंका—संख्यात आवलियों से सिद्धराशि को क्यों गुणा किया ?

समाधान—क्योंकि सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर लब्ध अनन्त आता है जो कि अतीत काल के समयों प्रमाण है । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

चूंकि ६०८ जीवों को मोक्ष जाने में ६ मास ८ समय व्यतीत हुआ,

तो एक जीव को मोक्ष जाने में $\frac{\text{६ मास ८ समय}}{\text{६०८}}$ व्यतीत हुआ,

---

१. प्रमाद या असावधानीवश लेखक से नियमसार में 'सिद्धाणं' के स्थान पर 'संठाणं' लिखा गया जिसकी परम्परा अब तक चली आ रही है । क्योंकि सस्थान को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीत काल का प्रमाण नहीं प्राप्त होता ।—र. च. मुख्तार.

अतः वर्तमान सिद्ध को मोक्ष जाने में $\frac{६ \text{ मास } ८ \text{ समय}}{६०८} \times \frac{१ \text{ सिद्ध}}{१} = \frac{\text{संख्यातआवली} \times \text{सिद्ध}}{}$ = अतीत काल (इतना काल व्यतीत हुआ)

इससे कम या अधिक अतीत काल हो नहीं सकता क्योंकि ६ मास ८ समय में ६०८ के मोक्ष जाने का क्रम अतीत काल में सदा नियत रहा है। अतः अतीतकाल का प्रमाण = $\frac{६ \text{ मास } ८ \text{ समय}}{६०८} \times \frac{\text{सिद्धराशि}}{१}$ ही सुनिश्चित है और वह संख्यात आवली × सिद्धराशि प्रमित है।

जो वर्तमान एक समय है वही वर्तमान काल है। क्योंकि वर्तमान एक समय से जो पूर्व के समय हैं, वे तो अतीत काल रूप काल है। वर्तमान समय से जो अनागत काल है वह भविष्यत् काल है। अतः वर्तमान काल एक समय मात्र है। कहा भी है—

तेसु अतीदा णंता अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो एत्तिय-मेत्तो वि सो कालो ।।२२१।।
[स्वा. का. अ.]

अतीत काल अनन्त है जो सिद्धराशि गुणित छह आवली प्रमाण अर्थात् जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण है। अनागत (भविष्यत्) काल उससे अनन्त गुणा है, क्योंकि सर्व जीवराशि से अनन्तगुणी पुद्गल राशि, उससे भी अनन्तगुणा काल है। एक समय मात्र वर्तमान काल है इतना व्यवहार काल है।

शङ्का—अतीत काल जीवराशि के अनन्तवें भाग है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—सिद्धराशि से असंख्यात गुणा अतीत काल है, किन्तु जीवराशि सिद्धराशि से अनन्त गुणी है। इससे सिद्ध होता है कि अतीत काल जीवराशि के अनन्तवें भाग है।

शङ्का—जीवराशि से अनन्तगुणी पुद्गलराशि है, उससे भी अनन्तगुणा काल है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यह आर्ष वाक्यों से जाना जाता है, जो इस प्रकार है—"**सव्वजीवरासी वग्गिजमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्व पोग्गलदव्वं पावदि । पुणो सव्वपोग्गलदव्वं वग्गिज्जमाणं वग्गिज्जमाणं अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वकालं पावदि ।" [धवल पु. १३ पृ. २६२-२६३]**

सब जीवराशि का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकप्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सब पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है। पुनः सब पुद्गल द्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब काल प्राप्त होता है।

इस सर्वकाल में से जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण अतीत काल को घटा देने पर भविष्यत् काल शेष रह जाता है जो अतीत काल, सर्व जीवराशि व पुद्गलराशि से अनन्त गुणा होता है।

कालोविय ववएसो सब्भावपरूवम्रो हवदि णिच्चो ।
उप्पण्णप्पद्धंसी　अवरो　दीहंतरट्ठाई ।।५८०।।[1]

गाथार्थ—'काल' यह व्यपदेश निश्चयकाल के सद्भाव का प्ररूपक है और वह निश्चयकाल-द्रव्य अविनाशी होता है। अवर अर्थात् व्यवहारकाल उत्पन्नध्वंसी है तथा दीर्घान्तर-स्थायी है। अर्थात् दीर्घकाल तक स्थायी है ।।५८०।।

विशेषार्थ—परमार्थकाल अर्थात् निश्चय काल में 'काल' यह संज्ञा मुख्य है और भूत आदिक व्यपदेश गौण हैं। तथा व्यवहार काल में भूतादि संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है, क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार क्रिया वाले द्रव्यों की अपेक्षा होता है तथा काल का कार्य है।[2]

पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होना है। 'समय' नामक व्यवहारकाल भी उत्पन्न व नष्ट होता है, इसलिए पर्याय है। पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती।[3] कहा भी है—

"पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ।।१२।।" [पंचास्तिकाय]

—पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होतीं, दोनों का अनन्य भाव है। इसलिए समय आदि पर्याय रूप व्यवहार काल का द्रव्य निश्चयकाल है। वह व्यवहार काल पल्य, सागर आदि रूप से दीर्घकाल तक स्थायी है अर्थात् रहने वाला है और काल द्रव्य अर्थात् निश्चयकाल अनादि अनन्त होने से नित्य है, अर्थात् अविनाशी है।[4]

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूग्रो ।
दोण्हं एस सहाम्रो कालो खणभंगुरो णियदो ।।२।। [धवल पु. ४ पृ. ३१५]

—व्यवहार काल पुद्गलों के परिणमन से उत्पन्न होता है और पुद्गल आदि का परिणमन द्रव्य-काल के द्वारा होता है, दोनों का ऐसा स्वभाव है। वह व्यवहार काल क्षणभंगुर है परन्तु निश्चय-काल नियत अर्थात् अविनाशी है।

वह निश्चयकाल अर्थात् द्रव्यकाल दो प्रकार के गंध, पाँच प्रकार के रस, आठ प्रकार के स्पर्श और पाँच प्रकार के वर्ण से रहित है, कुम्भकार के चक्र की अधस्तन शिला या कील के समान है, वर्तना ही जिसका लक्षण है और जो लोकाकाश प्रमाण है अर्थात् जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य अर्थात् कालाणु हैं।[5] कहा भी है—

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंध अट्ठफासा य ।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति ।।२४।। [पंचास्तिकाय]

---

१. धवल पु. ४ पृ. ३१५ गा. १। २. स. सि. ५/२२। ३. "पर्यायस्योत्पन्नप्रध्वंसित्वात्। तथा चोक्तं-समग्रो उप्पण्ण पद्धंसी। स च पर्यायो द्रव्य विना न भवति" [वृहद् द्रव्य संग्रह गाथा २१ की टीका]। ४. "केवचिरं कालो? प्रणादिग्रो अपज्जवसिदो।" [धवल पु. ४ पृ. ३२१]। ५. धवल पु. ४ पृ. ३१४ व ३१५]

द्रव्यों की स्थिति

छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकालग्रत्थपज्जाये ।
वेंजणपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदित्तादो ।।५८१।।[1]
एयदवियम्मि जे ग्रत्थपज्जया वियणपज्जया चावि ।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ।।५८२।।[2]

गाथार्थ—छहों द्रव्यों का अवस्थान (स्थिति) समान है, क्योंकि तीनों कालों की अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायों को मिला कर उनकी स्थिति होती है ।।५८१।। एक द्रव्य में जितनी भूत व भविष्यत् और वर्तमान अर्थ व व्यंजन पर्यायें हैं, तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ।।५८२।।

विशेषार्थ—छहों द्रव्यों का अवस्थान (स्थिति) समान होती है, क्योंकि छहों द्रव्य अनादि अनन्त हैं। अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में जितनी अर्थपर्यायें व व्यंजनपर्यायें होती हैं उतनी द्रव्यों की स्थिति होती है। इसी के समर्थन में गाथा ५८२ कही गई है।

शङ्का—अर्थपर्याय किसे कहते हैं ?

समाधान—जो पर्याय अत्यन्त सूक्ष्म क्षण-क्षण में होकर नष्ट होने वाली होती हैं और वचन के अगोचर होती है, वह अर्थ पर्याय है।[3]

शङ्का—व्यंजनपर्याय का क्या लक्षण है ?

समाधान—व्यंजन पर्याय स्थूल होती है, देरतक रहनेवाली, वचनगोचर तथा अल्पज्ञ के दृष्टिगोचर भी होती है।[4]

शङ्का—पर्याय के अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय ऐसे दो भेद क्यों किये गये ?

समाधान—अर्थपर्याय मात्र एक समय रहने वाली है तथा व्यंजन पर्याय चिरकाल रहने वाली है। इस कालकृत भेद को बतलाने के लिए व्यंजनपर्याय व अर्थपर्याय ये दो भेद किये गये हैं।[5]

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।
वंजणपज्जाय पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ।।२५।।
[वसुनन्दि श्रावकाचार]

---

१. स्वा. का. अ. गा. २२० टीका। २. धवल पु. १ पृ. ३८६, पु. ३ पृ. ६। ३. "तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथावाग्गोचरा विषया भवन्ति।" [पं. का. गा. १६ तात्पर्य वृत्ति टीका]। ४. "व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकालस्थायिनो वाग्गोचराश्छद्मस्थ दृष्टिविषयाश्च भवन्ति।" [पं. का. गा. १६ तात्पर्यवृत्ति टीका]। ५. "एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यते इति कालकृतभेद-ज्ञापनार्थं।" [पं. का. गा. १६ टीका]।

—अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली है, किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्द-गोचर है और चिरस्थायी है।

मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ।।६/४५।। [ज्ञानार्णव]

—व्यंजन मूर्तिक है, वचनगोचर है, अनश्वर है, स्थिर है। अर्थपर्याय सूक्ष्म और प्रतिक्षण-ध्वंसी (नष्ट होने वाली) है। व्यंजनपर्याय पुद्गल के अतिरिक्त संसारी जीव में होती है। संसारी जीव अनादि कर्मबन्धनबद्ध होने से मूर्तिक है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमें तो अर्थपर्याय ही होती है। जीव व पुद्गल में अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायें होती हैं।[1] सिद्ध जीव भी शुद्ध द्रव्य है, अतः सिद्धजीवों में भी अर्थ पर्याय ही होती है।

द्रव्य अनादि अनन्त है और पर्यायें भी संतति रूप से अनादि अनन्त हैं अतः एक द्रव्य में जितनी पर्यायें हैं उतना मात्र ही द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य के बिना पर्यायें नहीं होतीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता।[2] जितनी पर्यायें होकर नष्ट हो चुकीं वे तो भूत पर्याय हैं और जो पर्यायें अविद्यमान हैं, आगामी निमित्त व उपादान कारणों के अनुसार होंगी वे भविष्यत् पर्यायें हैं और जो वर्तमान में हो रही हैं वह वर्तमान पर्याय है। इन तीनों पर्यायों का जितना काल है उतना ही द्रव्य का काल है अर्थात् उतनी ही द्रव्य की स्थिति है जो अनादि अनन्त रूप है।

अनादि को अनादिरूप से अनन्त को अनन्तरूप से, अविद्यमान को अविद्यमानरूप से, असत् को असत्रूप से और अभाव को अभावरूप से जानना ही सम्यग्ज्ञान है, अन्यथा जानना मिथ्याज्ञान है। जितनी द्रव्य की स्थिति है उतनी पर्यायें हैं। द्रव्य की स्थिति अनादि अनन्त है, प्रवाह रूप या सन्तति रूप से पर्यायों की स्थिति भी अनादि अनन्त है।

द्रव्यों का आधार अथवा क्षेत्र

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ।।५८३।।
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ।।५८४।।
पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसे कालाणूणं धुवो होदि ।।५८५।।
संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ।।५८६।।

---

१. "धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः। व्यंजनार्थस्य विज्ञेयौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ।" [स्वा. का. अ. गा. २२० टीका]। २. पंचास्तिकाय गा. १२।

लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति ।
सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जियं होदि ।।५८७।।

गाथार्थ—आकाश के अतिरिक्त शेष सर्व द्रव्य लोक (लोकाकाश) में ही हैं, लोकाकाश से बाहर नहीं हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। ये दोनों द्रव्य अवस्थित हैं, अचलित हैं और नित्य हैं ।।५८३।। आत्मप्रदेशों के संकोच-विकोच के कारण एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग को आदि करके (केवलीसमुद्घात की अपेक्षा) सर्व लोक में व्याप्त है ।।५८४।। पुद्गल द्रव्य आकाश के एक प्रदेश से लेकर समस्त लोक में विद्यमान है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है ।। ५८५ ।। संख्यात, असंख्यात व अनन्त पुद्गलप्रदेश वाले स्कन्ध हैं, किन्तु पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश को ही व्याप्त कर रहता है ।।५८६।। लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर छहों द्रव्य स्थित हैं। समस्त अलोकाकाश आकाशद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों से रहित है, शून्य है ।।५८७।।

विशेषार्थ—धर्मादिक द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह है, बाहर नहीं है।

शंका—यदि धर्मादिक द्रव्यों का आधार लोकाकाश है तो आकाश का क्या आधार है?

समाधान—आकाश का अन्य आधार नहीं है, क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है।

शंका—यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिए। यदि धर्मादि द्रव्य का अन्य आधार माना जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार मानना चाहिए। ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य द्रव्य नहीं है, जहाँ आकाश स्थित है यह कहा जाय। वह सबसे अनन्त है। परन्तु धर्मादिक द्रव्यों का आकाश अधिकरण है, यह व्यवहारनय की अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूतनय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं।

शंका—लोक (संसार) में जो पूर्वोत्तर-कालभावी होते हैं, उन्हीं का आधार-आधेयभाव होता है; जैसे कि बेरों का आधार कुण्ड है। आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य बाद में उत्पन्न हुए हों, ऐसा तो है नहीं अतः व्यवहारनय की अपेक्षा भी आधार-आधेय कल्पना नहीं बनती?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक साथ होने वाले पदार्थों में आधार-आधेय भाव देखा जाता है। जैसे घट में रूपादिक का और शरीर में हाथ आदि का।

लोक-अलोक का विभाग धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा जानना चाहिए। अर्थात् धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और इससे बाहर अलोकाकाश है। यदि धर्मास्तिकाय का सद्भाव न माना जाय तो जीव और पुद्गलों की गति के नियम का हेतु न रहने से लोक-अलोक का विभाग नहीं बनता।[1]

---

१. सर्वार्थसिद्धि ५/१२।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का अवगाह समग्र लोकाकाश में है ॥१३॥[1]

—घर में जिस प्रकार घट अवस्थित रहता है उस प्रकार लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह नहीं है, किन्तु जिस प्रकार तिल में तैल रहता है, उस प्रकार पूरे लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह है। यद्यपि ये सब द्रव्य एक जगह रहते हैं तो भी अवगाहन शक्ति के निमित्त से इनके प्रदेश प्रविष्ट होकर व्याघात को नहीं प्राप्त होते।[2]

लोकाकाश के असंख्यात भाग करके जो एक भाग प्राप्त हो, वह असंख्यातवाँ भाग कहलाता है। एक असंख्यातवाँ भाग जिनके आदि में है वे सब असंख्यातवें भाग आदि हैं। एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है। इस प्रकार एक, दो, तीन और चार आदि संख्यात व असंख्यात भागों से लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त एक जीव का अवगाह जानना चाहिए। किन्तु नाना जीवों का अवगाह सब लोक में ही है।

शंका—यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है तो अनन्तानन्त सशरीर जीव-राशि लोकाकाश में कैसे रह सकती है?

समाधान—जीव दो प्रकार के हैं सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाश में अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव हैं उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है। किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होने के कारण एक निगोद जीव आकाश के जितने प्रदेशों का अवगाहन करता है उतने में साधारण शरीरवाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्पर में और बादरों के साथ व्याघात को नहीं प्राप्त होते, इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों के अवगाह में कोई विरोध नहीं आता।[3]

शङ्का—एक जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर असंख्यात हैं तो लोक के असंख्यातवें भाग आदि में एक जीव कैसे रह सकता है, उसको तो समस्त लोक व्याप्त कर रहना चाहिए?

समाधान—यद्यपि आत्मा अमूर्त स्वभावी है तथापि अनादिकालीन बन्ध के कारण एकपने को प्राप्त होने से वह मूर्त हो रहा है और कार्मण शरीर के कारण वह बड़े शरीर में रहता है। इस लिए उसके प्रदेशों का संकोच व विस्तार होता है। दीपक के समान शरीर के अनुसार उसका लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाशप्रदेश में यद्यपि दीपक के प्रकाश के परिमाण का निश्चय नहीं होता तथापि वह सकोरा, ढक्कन तथा आवरण करने वाले दूसरे पदार्थों के आवरण के वश से तत्परिमाण होता है, उसी प्रकार प्रकृत (जीव के विषय) में जानना चाहिए।

शंका—धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश होने के कारण संकर होने से अभेद प्राप्त होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि परस्पर अत्यन्त सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, इसलिए उनमें अभेद नहीं प्राप्त होता।[4] श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

---

१. "धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥५/१३॥" [सर्वार्थसिद्धि]। २. सर्वार्थसिद्धि सूत्र ५/१३ की टीका। ३. सर्वार्थसिद्धि ५/१५। ४. सर्वार्थसिद्धि ५/१६।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ।।७।। [पंचास्तिकाय]

छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते । अर्थात् ये छह द्रव्य परस्पर अवकाश देते हुए अपने-अपने ठहरने के काल पर्यन्त ठहरते हैं, परन्तु उनमें संकर-व्यतिकर दोष नहीं आता । 'प्रवेश' शब्द क्रियावान जीव व पुद्गलों की अपेक्षा है, क्योंकि आये हुओं को अवकाश दिया जाता है । धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल निःक्रिय द्रव्य नित्य सर्व काल मिल के रहते हैं, अतः अवकाश शब्द इन चार की अपेक्षा से है ।[1]

पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से होता है ।।५/१४।।[2] आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु का अवगाह है । बन्ध को प्राप्त हुए या खुले हुए दो परमाणुओं का आकाश के एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अवगाह है । बन्ध को प्राप्त हुए या न प्राप्त हुए तीन परमाणुओं का आकाश के एक या दो या तीन प्रदेशों में अवगाह है । इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धों का लोकाकाश के एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशों में अवगाह जानना चाहिए ।

शंका—यह तो युक्त है कि धर्म और अधर्म अमूर्त हैं, इसलिए उनका एक जगह बिना विरोध के रहना बन जाता है, किन्तु पुद्गल मूर्त है, इसलिए उनका बिना विरोध के एक स्थान पर रहना कैसे बन सकता है ?

समाधान—इनका अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूप से परिणमन हो जाने से मूर्तिमान पुद्गलों का एक जगह अवगाह विरोध को प्राप्त नहीं होता, जैसे एक ही स्थान में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है ।[3] श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ।।६४।। [पंचास्तिकाय]

—यह लोक सर्व ओर से सूक्ष्म व बादर नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलों के स्कन्धों से पूर्ण रूप से भरा हुआ है । जैसे कज्जल से पूर्ण भरी हुई कज्जलदानी अथवा पृथ्वीकाय आदि पाँच प्रकार के सूक्ष्म स्थावर जीवों से बिना अन्तर के भरा हुआ यह लोक है, उसी प्रकार यह लोक अपने सर्व असंख्यात प्रदेशों में दृष्टिगोचर व अदृष्टिगोचर नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धों से भरा हुआ है ।[4]

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाउग्गेहिं जोग्गेहिं ।।७६।।[प्रवचनसार]

---

१. पंचास्तिकाय गा. ७ तात्पर्य वृत्ति टीका । २. "एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।।५/१४।।" [तत्त्वार्थ सूत्र]। ३. सर्वार्थसिद्धि ५/१४ । ४. पंचास्तिकाय गा. ६४ तात्पर्यवृत्ति टीका ।

—यह लोक सब ओर से अथवा सब जगह सूक्ष्म व बादर तथा अप्रायोग्य व योग्य (कर्म-वर्गणा रूप होने अयोग्य व योग्य) पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है।

सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहिं सव्वदो भरिदो।
सुहुमेहिं बायरेहि य णाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिं ।।२०६।। [स्वा. का. अ.]

—नाना प्रकार की शक्तियुक्त सूक्ष्म व बादर पुद्गल द्रव्य से यह सम्पूर्ण लोकाकाश पूर्णरूप से भरा हुआ है। जगश्रेणी के घन रूप इस सर्व लोकाकाश में सूक्ष्म व बादर रूप पुद्गल द्रव्य व्याप्त है। सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध रूप पुद्गल तमाम अर्थात् समस्त लोक में व्याप्त हो रहा है।[1] पुद्गल द्रव्य का ऐसा एक महास्कन्ध है जो सर्व लोक में व्याप्त हो रहा है।

बन्ध के कारणभूत स्निग्धत्व और रूक्षत्व[2] इन दोनों गुणों का कालद्रव्य में अभाव है इसलिए कालाणुओं का परस्पर बन्ध नहीं होता अतः प्रत्येक कालाणु पृथक्-पृथक् है। निश्चय काल रूप वे कालाणु एक-एक आकाशप्रदेश पर एक-एक पृथक्-पृथक् स्थित हैं।

आकाशद्रव्य दो भागों में विभक्त है लोकाकाश और अलोकाकाश।[3] कहा भी है—

"तं आयासं दुविहं लोयालोयाण भेएण।।" २१३ उत्तरार्ध।।
[स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

जितने आकाश में धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल और जीव द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोकाकाश है। जहाँ पर जीवादि पदार्थ दिखाई देते हैं, वह लोकाकाश है और उससे बाहर अनन्त प्रदेशी अलोकाकाश है।[4]

"लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः, तस्माद्बहिर्भूतमनन्तशुद्धाकाशमलोकः।"[5]

—जहाँ जीवादि पदार्थ दिखलाई पड़ें सो लोक है, इस लोक के बाहर अनन्त शुद्ध आकाश है सो अलोक है।

शंका—शुद्ध आकाश से क्या प्रयोजन है?

समाधान—जहाँ पर आकाश द्रव्य के अतिरिक्त धर्मादि अन्य द्रव्य नहीं पाये जाते अर्थात् जिस आकाश में जीव, पुद्गल, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल ये पाँच द्रव्य नहीं पाये जाते या जो आकाश इन पाँच द्रव्यों से रहित है, शून्य है वह शुद्ध आकाश है।

आकाश द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ बन्ध को प्राप्त न होने से अशुद्ध नहीं होता तथापि अन्य द्रव्यों के साथ एकक्षेत्रावगाह नहीं होने की अपेक्षा शुद्ध आकाश कहा गया है। जिसमें आकाश द्रव्य के सिवाय अन्य द्रव्य न पाये जायें वह शुद्धआकाश अर्थात् अलोकाकाश है।

---

१. "जगद्व्यापिनि महास्कन्धे सर्वोत्कृष्टमिति।" [स्वा. का. अ. गा. २०६ की टीका]। २. "स्निग्धरूक्षत्वात् बन्धः।।" ५/३३।। [त. सू.]। ३. "आकाशं द्विधा विभक्तं लोकाकाशमलोकाकाशं।" [सर्वार्थसिद्धि ५/१२] ४. स्वा. का. अ. गा. २१३ की टीका, वृ. द्र. सं. गा. २० की टीका। ५. पंचास्तिकाय गा. ३ तात्पर्यवृत्ति टीका।

द्रव्यों की तथा व्यवहार काल की संख्या का कथन

जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु ।
धम्मतियं एक्केक्कं लोगपदेसप्पमा कालो ।।५८८।।

लोगागासपदेसे एक्केक्के जेट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा ।।५८९।।[1]

ववहारो पुण कालो पोग्गलदव्वादणंतगुणमेत्तो ।
तत्तो अणंतगुणिदा आगासपदेसपरिसंखा ।।५९०।।

लोगागासपदेसा धम्माधम्मेगजीवगपदेसा ।
सरिसा हु पदेसो पुण परमाणु अवट्ठिदं खेत्तं ।।५९१।।

गाथार्थ—संख्या की अपेक्षा जीव अनन्त हैं, जीवों से अनन्तगुणा पुद्गल हैं। धर्मादि तीन द्रव्य एक-एक हैं। लोकाकाश प्रदेशप्रमाण कालाणु हैं ।।५८८।। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो एक-एक स्थित है और रत्नराशि के समान भिन्न-भिन्न है वे कालाणु हैं ।।५८९।। पुद्गल द्रव्य से अनन्तगुणा व्यवहार काल है। व्यवहार काल से अनन्तगुणे आकाशप्रदेश हैं ।।५९०।। लोकाकाश-प्रदेश के सदृश धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव के प्रदेश हैं। जितने आकाशक्षेत्र में परमाणु ठहरता है, वह प्रदेश है ।।५९१।।

विशेषार्थ—जीव अनन्तानन्त हैं, जीवों से अनन्तगुणे पुद्गल हैं। लोकाकाश प्रदेशप्रमाण असंख्यात कालाणु हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य अखण्ड होने से एक-एक हैं।[2]

शंका—कालाणु लोक-प्रदेशप्रमाण क्यों हैं?

समाधान—क्योंकि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है और निष्क्रिय है। इसलिए कालाणु लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं। कहा भी है—

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ।।२२।।

[वृ. द्रव्यसंग्रह]

—जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।[3] ये कालाणु

---

१. धवल पु. ४ पृ. ३१५, पु. ११ पृ. ७६; स्वा. का. अ. गा. २१६ टीका; स. सि. ५/३९; पं. का. गा. १०२ तात्पर्यवृत्ति टीका। २. "तत्रानन्तानन्तजीवाः १६, तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः १६ ख, लोकाकाश-प्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयम्।" [स्वा. का. अ. गा. २१३ टीका]; "धर्माधर्माकाश एकैक एव अखण्डद्रव्यत्वात् कालाणवो लोकप्रदेशमात्रा इति।" [स्वा. का. अ. गा. २१६ टीका]। ३. "लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति।" [बृहद् द्रव्य संग्रह गा. २२ टीका]।

निष्क्रिय हैं।[1] अर्थात् प्रदेश से प्रदेशान्तर नहीं होते। ये कालाणु रूपादि गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त हैं।[2]

परिकर्म में लिखा है कि सर्वजीवराशि का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्ग-स्थान आगे जाकर सब पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है अर्थात् पुद्गलपरमाणुओं की संख्या प्राप्त होती है। पुनः सब पुद्गल द्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक वर्गस्थान आगे जाकर सब काल प्राप्त होता है अर्थात् व्यवहार काल के सर्व समयों की संख्या प्राप्त होती है। पुनः काल समयों का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक मात्र वर्ग स्थान जाकर सब आकाशश्रेणी प्राप्त होती है अर्थात् आकाशश्रेणी के प्रदेश प्राप्त होते हैं।[3] इससे जाना जाता है कि जीव अनन्त हैं, उनसे अनन्त-गुणा सब पुद्गल द्रव्य हैं, उससे भी अनन्तगुणा व्यवहार काल है अर्थात् व्यवहार काल के समयों का प्रमाण है। व्यवहार काल से भी अनन्तगुणी आकाश के प्रदेशों की संख्या है। गुणकार का प्रमाण अनन्तलोक मात्र वर्गस्थान है।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव इनके प्रदेश परस्पर तुल्य होते हुए भी असंख्यात हैं।[4] एक जीव के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर हैं।[5] गिनती न हो सकने के कारण ये प्रदेश असंख्यात हैं अर्थात् गिनती की सीमा को पार कर गये हैं। एक अविभागी परमाणु जितने क्षेत्र में ठहरता है वह प्रदेश है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोक को व्याप्त करके स्थित हैं इसलिए ये निष्क्रिय हैं। लोकपूरण केवली समुद्घात अवस्था के समय जीव के मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथ्वी के और वज्र पटल के मध्य के आठ प्रदेशों पर स्थित हो जाते हैं, बाकी जीव-प्रदेश ऊपर नीचे चारों ओर सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं। एक द्रव्य यद्यपि अविभागी है, वह घट की तरह संयुक्त द्रव्य नहीं है तथापि उसमें प्रदेश वास्तविक है, उपचार से नहीं। घट के द्वारा जो आकाश का क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वही अन्य पटादिक के द्वारा नहीं। दोनों जुदे-जुदे हैं। पटना नगर आकाश के दूसरे प्रदेश में है और मथुरा अन्य प्रदेश में। यदि आकाश अप्रदेशी होता तो पटना और मथुरा एक ही जगह हो जाते।

शंका—धर्मादि द्रव्यों में प्रदेशत्व का व्यवहार पुद्गल परमाणु के द्वारा रोके गये आकाशप्रदेश के नाप से होता है। अतः मानना चाहिए कि उनमें मुख्य प्रदेश नहीं हैं?

समाधान—धर्मादि द्रव्य अतीन्द्रिय हैं, परोक्ष हैं, अतः उनमें मुख्य रूप से प्रदेश विद्यमान रहने पर भी स्वतः उनका ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए परमाणु के माप से उनका व्यवहार किया जाता है।[6]

शंका—असंख्यात के नौ भेद हैं उनमें से किस असंख्यात को ग्रहण करना चाहिए?

---

१. "कालाणवो निष्क्रियाः" [सर्वार्थसिद्धि ५/३९]। २. "रूपादिगुणविरहादमूर्ताः।" [सर्वार्थसिद्धि ५/३९]। ३. धवल पु. १३ पृ. २६२-२६३ "धर्माधर्मैकजीवास्तुल्यासंख्येयप्रदेशाः" [स. सि. ५/८]। ४. "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्। ॥५/८॥" [त.सू.]। ५. "लोकाकाशतुल्यप्रदेशाः।" [रा. वा. ५/१६/१]। ६. रा. वा. ५/८।

समाधान—परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेदों में से यहाँ पर मध्यम असंख्यातासंख्यात ग्रहण करना चाहिए।

जिस प्रकार अनन्त को अनन्त रूप से जानने में सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती, उसी प्रकार असंख्यात को असंख्यात रूप से जानने में सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती। सर्वज्ञ अर्थ को (ज्ञेय को) अन्यथा नहीं जानते क्योंकि वे यथार्थ ज्ञाता हैं।[1]

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और जीव व पुद्गल इन पाँच द्रव्यों के बहुप्रदेशी हो जाने पर उनमें किस द्रव्य के प्रदेश चल और किसके अचल हैं, इस बात को दो गाथाओं द्वारा बतलाते हैं—

सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि ।
रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ।।५९२।।

गाथार्थ—सर्व अरूपी द्रव्य अवस्थित हैं और उनके प्रदेश भी अचलायमान हैं। रूपी जीवद्रव्य चल है और इसके प्रदेश (चल की अपेक्षा) तीन प्रकार के होते हैं ।।५९२।।

विशेषार्थ—संसारी जीव रूपी है और मुक्त (सिद्ध) जीव अरूपी है (गा. ५९३)। पुद्गल द्रव्य रूपी है; धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल द्रव्य ये चार अरूपी हैं (गा. ५९४)। जो अरूपी द्रव्य हैं अर्थात् मुक्त जीव, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य ये अवस्थित हैं अर्थात् जहाँ पर स्थित हैं वहाँ पर ही सदा स्थित रहते हैं, अन्यत्र नहीं जाते और न अपना स्थान बदलते हैं। इन अवस्थित द्रव्यों के प्रदेश भी चलायमान नहीं होते अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर नहीं होते, सदा अचल रहते हैं।

रूपी जीव अर्थात् संसारी जीव के प्रदेशों की तीन अवस्थाएँ होती हैं। आठ मध्य प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य सर्वप्रदेश चलित होते हैं या वे सर्वप्रदेश अचलित होते हैं या उनमें से कुछ चलित होते हैं और कुछ अचलित होते हैं। इस प्रकार संसारी जीवप्रदेशों की १. चल, २. अचल, ३. चलाचल ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। चल या अस्थिति; अचल या स्थिति ये दो-दो शब्द एक अर्थवाची हैं। भवान्तर में गमन के समय, सुख-दुःख का तीव्र अनुभव करते समय या तीव्र क्रोधादि रूप परिणाम होते समय जीव-प्रदेशों में उथल-पुथल होती है, वह ही अस्थिति है। उथल-पुथल का न होना स्थिति है। जीवप्रदेशों में से आठ मध्य के प्रदेश सदा निरपवाद रूप से सब जीवों में स्थित ही रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धों के सभी प्रदेश अचल (स्थित) हैं। व्यायाम, दुःख, परिताप आदि के काल में उक्त आठ मध्य प्रदेशों को छोड़कर शेष प्रदेश अस्थित (चल) ही होते हैं। शेष प्राणियों के प्रदेश स्थित भी हैं और अस्थित भी अर्थात् चलाचल (चल-अचल) हैं।[1]

राग, द्वेष और कषाय से; अथवा वेदनाओं से, भय से अथवा मार्ग से उत्पन्न परिश्रम से मेघों में स्थित जल के समान जीव प्रदेशों का संचार होने पर उनमें समवाय को प्राप्त कर्मप्रदेशों का भी संचार पाया जाता है।

---

१. रा. वा. ५/८/२। २. रा. वा. ५/८/१६।

शङ्का—जीव के आठ मध्य प्रदेशों का सङ्कोच व विस्तार नहीं होता, अतः उनमें स्थित कर्मप्रदेशों का भी अस्थितपना नहीं बनता। इसलिए सर्व जीवप्रदेश किसी भी समय अस्थित होते हैं, यह घटित नहीं होता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव के उन आठ मध्य प्रदेशों को छोड़कर शेष जीवप्रदेशों का आश्रय करके यह घटित हो जाता है।[1]

वेदना एवं भय आदिक क्लेशों से रहित छद्मस्थ के किन्हीं जीवप्रदेशों का संचार नहीं होता अतएव उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी स्थित होते हैं। तथा उसी छद्मस्थ के किन्हीं जीवप्रदेशों का संचार पाया जाता है, उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचार को प्राप्त होते हैं इसलिए वे अस्थित हैं। उन दोनों के समुदाय स्वरूप जीव एक है अतः वह स्थित-अस्थित इन दोनों स्वभाव वाला है।[2]

अयोगकेवली जिन में समस्त योगों के नष्ट हो जाने से जीवप्रदेशों का संकोच व विस्तार नहीं होता है, अतएव वे वहाँ अवस्थित पाये जाते हैं।[3]

शंका—सब जीवों के आठ मध्य प्रदेश सर्वदा स्थिर ही क्यों रहते हैं ?

समाधान—जीव के आठ मध्य प्रदेशों को परस्पर प्रदेश-बंध अनादि है।[4] ऐसा नहीं है कि उन आठ प्रदेशों में से कोई प्रदेश अन्यत्र चला जाय और उसके स्थान पर दूसरा प्रदेश आ जाय। अनादि काल से उन्हीं आठ मध्यप्रदेशों का परस्पर प्रदेशबन्ध चला आरहा है और अनन्तकाल तक चला जाएगा अतः वे आठ मध्य के प्रदेश सदा स्थिर रहते हैं।

शङ्का—मरण समय दूसरे शरीर को धारण करने के काल में जीव पूर्व स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में जन्म लेता है तब तो ये आठ मध्य के प्रदेश अस्थित होते होंगे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विग्रह गति में अर्थात् भवान्तरगमन-काल में आठ मध्य प्रदेश स्थित ही रहते हैं। अन्य सर्वप्रदेश अस्थित रहते हैं।

शङ्का—द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशों का भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान–नहीं, यदि द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जाए, तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों को भ्रमण करती हुई पृथिवी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए आत्मप्रदेशों के भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशों का भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिए।[5] बच्चे जब तेजी से चक्कर खाते हैं और थक कर बैठ जाते हैं तो उनको पृथिवी आदि सब वस्तुएँ घूमती हुई (चक्कर रूप भ्रमण करती हुई) दिखाई पड़ती हैं। इस परिश्रम से उनकी चक्षु के अन्तरंग-निर्वृत्ति रूप आत्मप्रदेश इतनी तेजी से भ्रमण करते हैं। प्रथम समय में जो आत्मप्रदेश

---

१. धवल पु. १२ पृ. ३६५-३६६। २. धवल पु. १२ पृ. ३६६। ३. धवल पु. १२ पृ. ३६७। ४. "जो अणादिय सरीरबंधोणाम यथा अट्ठण्णं जीवमज्झपदेसाणं अण्णेण्णपदेसबंधो भवदि" ॥६३॥ [धवल पु. १४ पृ. ४६]। ५. धवल पु. १ पृ. २३४।

अन्तरंग निर्वृत्ति रूप थे, दूसरे समय में उन प्रदेशों के स्थान पर अन्य आत्मप्रदेश अन्तरंग निर्वृत्ति रूप हो गये, तीसरे समय में अन्य आत्मप्रदेश अन्तरंग निर्वृत्ति रूप हो गये। इस प्रकार प्रतिसमय चक्षु इन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशों के बदलने के कारण उन बच्चों को पृथिवी आदि पदार्थ भ्रमण करते हुए दिखलाई देते हैं। जैसे तेज चलने वाली रेल में बैठे हुए यात्री को वृक्ष आदि चलते हुए दिखलाई देते हैं।

शंका—रूपी जीव के सर्व आत्म-प्रदेश अचल कब होते हैं?

समाधान—अयोगकेवली के सर्व आत्मप्रदेश अचल रहते हैं। अयोगकेवली के आत्मप्रदेशों का कर्म रूप पुद्गलों के साथ संश्लेष सम्बन्ध होने के कारण अयोगकेवली मूर्तिक है।[1] सिद्ध जीव अमूर्तिक है।

पुद्गल द्रव्य चल है

पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा हु।
चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥५६३॥

गाथार्थ—पुद्गल द्रव्य में अणु से लेकर संख्यात, असंख्यात व अनन्त अणुओं के सभी स्कन्ध चल हैं किन्तु अन्तिम महास्कन्ध के प्रदेश चलाचल (चल-अचल) हैं ॥५६३॥

विशेषार्थ—क्रिया, चल, अस्थिति ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य अरूपी होने के कारण अचल (निष्क्रिय) हैं किन्तु रूपी (संसारी) जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य चल अर्थात् क्रियावान हैं (गा. ५६१)। गा. ५६२ में रूपी जीव द्रव्य का कथन हो चुका है। इस गाथा में पुद्गल द्रव्य के सक्रियत्व का कथन है।

शंका—क्रिया किसे कहते हैं?

समाधान—अन्तरंग और बहिरंग निमित्त से द्रव्य की क्षेत्र से क्षेत्रान्तर रूप होने वाली पर्याय क्रिया है।[2] प्रदेशान्तर-प्राप्ति की हेतु परिस्पन्दरूप पर्याय क्रिया है।[3]

बहिरंग साधन के साथ रहने वाले पुद्गल क्रियावान हैं।

शङ्का—पुद्गल की क्रिया में बहिरंग साधन क्या हैं?

समाधान—पुद्गल-अणु व स्कन्ध की क्रिया में बहिरंग साधन काल है। जिस प्रकार सब द्रव्यकर्म और नोकर्म पुद्गलों का अभाव करके जो जीव सिद्ध हो जाते हैं वे क्रियारहित हो जाते हैं, क्योंकि बहिरंग साधन का अभाव हो गया। किन्तु ऐसा पुद्गलों में नहीं होता क्योंकि काल सदा ही विद्यमान रहता है। उसके निमित्त से पुद्गलों में यथासम्भव क्रिया होती रहती है। महास्कन्ध

१. जयधवल पु. १ पृ. ४३; धवल पु. १ पृ. २९२; पु. १४ पृ. ४५; पु. १५ पृ. ३२, पु. १६ पृ. ५१२।
२. "उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य क्षेत्रान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया।" [सर्वार्थसिद्धि ५/७]।
३. "प्रदेशांतरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया।" [पंचास्तिकाय गा. ९८ टीका]।

लोकाकाश प्रमाण है और लोकाकाश में सर्वत्र व्याप रहा है अतः वह चलायमान नहीं होता किन्तु उसमें पुद्गल परमाणु आते-जाते रहते हैं, इस अपेक्षा से वह चल है। इसीलिए महास्कन्ध को चलाचल (चल-अचल) रूप कहा है। यही अवस्था पंचमेरु व अकृत्रिम चैत्यालय आदि की है अर्थात् वे भी चल-अचल रूप हैं, क्योंकि वे अनादि-निधन हैं।

पुद्गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है,[1] तथापि उसमें क्षेत्र से क्षेत्रान्तर रूप गमनक्रिया होती रहती है तथा कभी बन्ध को प्राप्त होकर स्कन्ध रूप परिणम जाता है, भेद होकर पुनः परमाणु हो जाता है।[2] इस प्रकार पुद्गलपरमाणु सक्रिय है। सादिसान्त पुद्गल स्कन्ध क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होते रहते हैं और उनमें भी भेद से, संघात से तथा युगपत् भेद व संघात से[3] क्रिया होती रहती है इसलिए वे भी चलायमान हैं। इस प्रकार पुद्गल सक्रिय अर्थात् चल हैं किन्तु अनादि, अनन्त अकृत्रिम मेरु चैत्यालय पर्वत आदि व महास्कन्ध चल-अचल रूप हैं, क्योंकि वे क्षेत्र से क्षेत्रान्तर नहीं होते।

पुद्गल की २३ वर्गणाओं के नाम

अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहिं अंतरिया।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा ॥५६४॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुव-सुण्णा।
बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा णभो[4] महक्खंधा ॥५६५॥[5]

गाथार्थ—अणु वर्गणा, संख्याताणु वर्गणा, असंख्याताणु वर्गणा, अनन्ताणु वर्गणा, आहार वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तैजस वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, भाषा वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, कार्मण वर्गणा, ध्रुव वर्गणा, सान्तरनिरन्तर वर्गणा, शून्य वर्गणा, प्रत्येक शरीर वर्गणा, ध्रुव शून्य वर्गणा, बादरनिगोद वर्गणा, शून्य वर्गणा, सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, शून्य वर्गणा, महास्कन्ध वर्गणा ॥५६४-५६५॥

विशेषार्थ—'अणु वर्गणा' यह संक्षेप में नाम है, इसका पूरा नाम 'एकप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा' है।

शंका—परमाणु पुद्गल रूप है, यह कैसे सिद्ध होता है?

समाधान—उसमें अन्य पुद्गलों के साथ मिलने की शक्ति है, इसलिए सिद्ध होता है कि परमाणु पुद्गल रूप है।

शंका—परमाणु सदाकाल परमाणुरूप से अवस्थित नहीं रहते, इसलिए उनमें द्रव्यपना नहीं बनता?

---

१. "नाणोः।" [तत्त्वार्थसूत्र ५/११]। २. "भेदादणुः ॥२७॥" [तत्त्वार्थसूत्र अ. ५]। ३. "भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६॥" [तत्त्वार्थसूत्र अ. ५]। ४. 'सुहुमा सुण्णा' यह पाठ धवल पु. १४ पृ. ११७ गाथा ८ में है। ५. धवल पु. १४ पृ. ११७ गा. ७ व ८ किन्तु गाथा ७ अर्थात् ५६४ में पूर्वार्ध इस प्रकार है—"अणुसंखासंखेज्जा तधणंता वग्गणा अगेज्झाओ।"

समाधान—नहीं, क्योंकि परमाणुओं का पुद्गल रूप से उत्पाद और विनाश नहीं होता, इसलिए उनमें भी द्रव्यपना सिद्ध होता है।[1]

इसके ऊपर द्विप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा है॥७७॥[2] अजघन्य स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले दो परमाणुओं के समुदाय समागम से द्विप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा होती है।[3]

शंका—परमाणुओं का समागम क्या एकदेशेन होता है या सर्वात्मना होता है?[4]

समाधान—द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करने पर दो परमाणुओं का कथंचित् सर्वात्मना समागम होता है, क्योंकि परमाणु निरवयव होता है। पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर कथंचित् एकदेशेन समागम होता है। परमाणु के अवयव नहीं होते, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग न हो तो परमाणु का ही अभाव होता है। ये भाग कल्पित भी नहीं हैं, क्योंकि परमाणु में ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यमभाग तथा उपरिमोपरिमभाग कल्पना के बिना भी उपलब्ध होते हैं। तथा परमाणु के अवयव हैं इसलिए उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सब वस्तुओं के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। अवयवों से परमाणु नहीं बना है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों के समूह रूप ही परमाणु दिखाई देता है। तथा अवयवों के संयोग का विनाश होना चाहिए ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादिसंयोग के होने पर उसका विनाश नहीं होता। इसीलिए द्विप्रदेशीपरमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा सिद्ध होती है।[5]

इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, पञ्चप्रदेशी, षट्प्रदेशी, सप्तप्रदेशी, अष्टप्रदेशी, नवप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी और अनन्तानन्तप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य-वर्गणा होती है॥७८॥[6] द्विप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा से लेकर उत्कृष्ट संख्यातप्रदेशी द्रव्यवर्गणा तक यह सब संख्यातप्रदेशी द्रव्यवर्गणा है। इसके एक कम उत्कृष्ट संख्यात भेद होते हैं। उत्कृष्ट संख्यातप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा में एक अंक मिलाने पर जघन्य असंख्यातप्रदेशी द्रव्यवर्गणा होती है। पुनः उत्तरोत्तर एक-एक मिलाने पर असंख्यातप्रदेशी द्रव्यवर्गणायें होती हैं और ये सब उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात प्रदेशी द्रव्यवर्गणा के प्राप्त होने तक होती हैं। उत्कृष्ट असंख्याता-संख्यात में से उत्कृष्ट संख्यात के न्यून करने पर जितना शेष रहे उतनी ही असंख्यातप्रदेशी द्रव्य-वर्गणायें होती हैं। ये संख्यातप्रदेशी वर्गणाओं से असंख्यातगुणी होती हैं। असंख्यातलोक गुणाकार है। ये सब ही तीसरी असंख्यातप्रदेशी वर्गणा हैं।

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा में एक अंक[7] मिलाने पर जघन्य अनन्तप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा होती है। पुनः क्रम से एक-एक की वृद्धि होते हुए अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान आगे जाते हैं। अपने जघन्य से अनन्तप्रदेशी उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी होती है। गुणकार अभव्यों से अनन्तगुणा अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण है, इस प्रकार यह अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणा चौथी है॥४॥

---

१. धवल पु. १४ पृ. ५५। २-३-४. धवल पु. १४ पृ. ५५। ५. धवल पु. १४ पृ. ५६-५७। ६. धवल पु. १४ पृ. ५७। ७. एक अंक से सर्वत्र 'एक प्रदेश' समझना चाहिए।

शंका—ये सब वर्गणायें एक क्यों हैं ?

समाधान—क्योंकि ये सब वर्गणायें अनन्तरूप से एक हैं ।

ये चारों ही वर्गणायें अग्राह्य हैं ।[1]

अनन्तानन्तप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा जो उत्कृष्ट है, उसमें एक अंक मिलाने पर जघन्य आहार द्रव्यवर्गणा होती है। फिर एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण भेदों के जाने पर अन्तिम आहार द्रव्यवर्गणा होती है । यह जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अभव्यों से अनन्तगुणा अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होता हुआ भी, उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणा के अनन्तवें भाग प्रमाण है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गलस्कन्धों की आहार द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। आहार वर्गणा के असंख्यात खण्ड करने पर बहुभाग प्रमाण आहारक शरीरप्रायोग्य वर्गणाग्र होता है। शेष के असंख्यात खंड करने पर बहुभाग प्रमाण वैक्रियिक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है । तथा शेष एक भाग औदारिक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है। [धवल पु. १४ पृ. ५६०] यह पाँचवी वर्गणा है ।५।[2]

उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणा में एक अंक के मिलाने पर प्रथम अग्रहण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी सर्व-जघन्य वर्गणा होती है। फिर एक-एक बढ़ाते हुए अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्य से उत्कृष्ट अनन्तगुणी होती है। अभव्यों से अनन्तगुणा अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण गुणकार है। इस प्रकार यह छठी वर्गणा है ।६।

पाँच शरीर तथा भाषा और मन के अयोग्य जो पुद्गल स्कन्ध हैं, उनकी अग्रहण वर्गणा संज्ञा है। उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर सबसे जघन्य तैजस शरीर द्रव्यवर्गणा होती है। पुनः एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट तैजस-शरीर-द्रव्य-वर्गणा होती है। यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है। अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण विशेष का प्रमाण है इसके पुद्गल स्कन्ध तैजस शरीर के योग्य होते हैं, इसलिए यह ग्रहण वर्गणा है। यह सातवीं वर्गणा है ।७।[3]

उत्कृष्ट तैजस शरीर द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर दूसरी अग्रहण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी पहली सर्व जघन्य अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। फिर आगे एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर दूसरी अग्रहण-द्रव्य-वर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। वह अपनी जघन्य वर्गणा से अपनी उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी है। यह पाँच शरीर, भाषा और मन के ग्रहण योग्य नहीं है, इसलिए इसकी अग्रहण द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह आठवीं वर्गणा है ।८।

दूसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा में एक अंक के प्रक्षिप्त करने पर सबसे जघन्य भाषा द्रव्यवर्गणा होती है । इससे आगे एक-एक अधिक के क्रमसे अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के

---

१. धवल पु. १४ पृ. ५८-५९। २. धवल पु. १४ पृ. ५९। ३. धवल पु. १४ पृ. ६०।

अनन्तवें भाग प्रमाण जाकर भाषा द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट द्रव्यवर्गणा होती है। यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है। अपनी जघन्य वर्गणा का अनन्तवाँ भाग विशेष का प्रमाण है। भाषा द्रव्यवर्गणा के परमाणु पुद्गलस्कन्ध चारों भाषाओं के योग्य होते हैं तथा ढोल, भेरी, नगारा और मेघ का गर्जन आदि शब्दों के योग्य भी ये ही वर्गणायें होती हैं।

शङ्का—नगारा आदि के शब्दों की भाषा संज्ञा कैसे है।[1]

समाधान—नहीं, क्योंकि भाषा के समान होने से भाषा है इस प्रकार के उपचार से नगारा आदि के शब्दों की भी भाषा संज्ञा है।[2] यह नौवीं वर्गणा है।९।

उत्कृष्ट भाषा द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर तीसरी अग्रहण द्रव्य वर्गणा सम्बन्धी सबसे जघन्य वर्गणा होती है। इसके आगे एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर तीसरी अग्रहण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट अनन्तगुणी होती है। अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण गुणाकार है। इसके भी पुद्गल स्कन्ध ग्रहणयोग्य नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर इसकी अग्रहण संज्ञा नहीं बन सकती। यह दसवीं वर्गणा है।१०।

तीसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर जघन्य मनोद्रव्यवर्गणा होती है। फिर आगे एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणा होती है। यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण सबसे जघन्य मनोद्रव्य वर्गणा का अनन्तवाँ भाग है। इस वर्गणा से द्रव्य मन की रचना होती है। यह ग्यारहवीं वर्गणा है।११।[3]

उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर चौथी अग्रहण द्रव्यवर्गणा की सबसे जघन्य वर्गणा होती है। इससे आगे एक-एक प्रदेश के अधिक क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर चौथी अग्रहण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। यह अपनी जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी है। अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण गुणाकार है। यह ग्रहण योग्य नहीं होती। यह बारहवीं वर्गणा है।१२।

चौथी अग्रहण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट द्रव्यवर्गणा में एक अंक प्रक्षिप्त करने पर सबसे जघन्य कार्मण शरीर द्रव्यवर्गणा होती है। आगे एक-एक प्रदेश अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर कार्मण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अपनी जघन्य वर्गणा से अपनी उत्कृष्ट वर्गणा विशेष अधिक है। जघन्य कार्मण वर्गणा का अनन्तवाँभाग विशेष का प्रमाण है। इस वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध आठों कर्मों के योग्य होते हैं। यह तेरहवीं वर्गणा है।१३।[4]

उत्कृष्ट कार्मण वर्गणा में एक अंक मिलाने पर जघन्य ध्रुव स्कन्ध द्रव्यवर्गणा होती है।

---

१. धवल पु. १४ पृ. ६१। २. धवल पु. १४ पृ. ६२। ३. धवल पु. १४ पृ. ६२। ४. धवल पु. १४ पृ. ६३।

अनन्तर एक-एक अधिक के क्रम से सब जीवों से अनन्तगुणे स्थान जाकर ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अपने जघन्य से अपनी उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी है। सब जीवों से अनन्तगुणा गुणाकार है। यह ध्रुवस्कन्ध पद का निर्देश अन्त्यदीपक है। इससे पिछली सब वर्गणायें ध्रुव ही हैं। यह और इससे आगे की सब वर्गणा ग्रहण योग्य नहीं हैं। यह चौदहवीं वर्गणा है।१४।[1]

ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणाओं के ऊपर सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा है। जो वर्गणा अन्तर के साथ निरन्तर जाती है उसकी सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह सार्थक संज्ञा है। उत्कृष्ट ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणा में एक अंक के मिलाने पर जघन्य सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा होती है। आगे एक-एक अंक के अधिक क्रम से सब जीवों से अनन्तगुणे स्थान जाकर सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। वह अपनी जघन्य वर्गणा से अपनी उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी है। सब जीवों से अनन्तगुणा गुणाकार है। यह भी अग्रहण वर्गणा ही है, क्योंकि आहार, तैजस, भाषा, मन और कर्म के अयोग्य है। यह पन्द्रहवीं वर्गणा है।१५।[2]

सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणाओं के ऊपर ध्रुव शून्य वर्गणा है। अतीत, अनागत और वर्तमान काल में इस रूप से परमाणु पुद्गलों का संचय नहीं होता, इसलिए इसकी ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा यह सार्थक संज्ञा है। उत्कृष्ट सान्तर निरन्तर द्रव्य वर्गणा के ऊपर एक परमाणु अधिक परमाणु पुद्गल-स्कन्ध तीनों ही काल में नहीं होता। दो प्रदेश अधिक तीन प्रदेश अधिक आदि के क्रम से सब जीवों से अनन्तगुणे स्थान जाकर प्रथम ध्रुवशून्य वर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। यह अपनी जघन्य वर्गणा से अपनी उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी है। सब जीवों से अनन्तगुणा गुणाकार है। यह वर्गणा सर्वदा शून्य रूप से अवस्थित है। यह सोलहवीं वर्गणा है।१६।[3]

ध्रुवशून्य द्रव्य वर्गणा के ऊपर प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा है।।६१।।[4]

एक-एक जीव के एक-एक शरीर में उपचित हुए कर्म और नोकर्म स्कन्धों की प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। अब उत्कृष्ट ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर जघन्य प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा होती है।

शंका—यह जघन्य प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा किसके होती है?

समाधान—जो जीव सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों में पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर्मस्थिति-काल तक क्षपित कर्मांशिक रूप से रहा, पुनः जिसने पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण संयमासंयम काण्डक, इनसे कुछ अधिक सम्यक्त्व काण्डक तथा अनन्तानुबन्धी विसंयोजना काण्डक तथा आठ संयम काण्डक करते हुए चार बार कषाय की उपशमना की। पुनः अन्तिम भव को ग्रहण करते हुए पूर्व कोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। अनन्तर गर्भ-निष्क्रमण काल से लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त का होने पर सम्यक्त्व और संयम को एक साथ प्राप्त करके सयोगी जिन हो गया। अनन्तर

---

१. धवल पु. १४ पृ. ६४। २. धवल पु. १४ पृ. ६४-६५। ३. धवल पु. १४ पृ. ६५। ४. धवल पु. १४ पृ. ६५।

कुछ कम पूर्व कोटि काल तक औदारिक और तैजसशरीर की अधःस्थितिगलना के द्वारा पूरी निर्जरा करके तथा कार्मण शरीर की गुणश्रेणी निर्जरा करके अन्तिम समयवर्ती भव्य हो गया। इस प्रकार आकर जो अयोगकेवली के अन्तिम समय में स्थित है, उसके सबसे जघन्य प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा होती है।[1] क्योंकि इसके शरीर में निगोद जीवों का अभाव है।

गुणित कर्मांशिक नारकी जीव के अन्तिम समय में सर्वोत्कृष्ट द्रव्य के प्राप्त होने तक कार्मण शरीर के दोनों पुञ्जों को उत्कृष्ट करना चाहिए।[2]

शंका—वैक्रियिक शरीर के विस्रसोपचय से आहारक शरीर का विस्रसोपचय असंख्यातगुणा है, इसलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक, तैजस और कार्मण शरीर के छह पुञ्ज ग्रहण करके प्रत्येक शरीर वर्गणा एक जीव सम्बन्धी क्यों नहीं कही ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्तिम समयवर्ती नारकी को छोड़कर तैजस और कार्मण शरीर का अन्यत्र उत्कृष्ट द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। जहाँ पर तैजस और कार्मण शरीर जघन्य होते हैं वहाँ पर प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा सबसे जघन्य होती है और जहाँ पर इनका उत्कृष्ट द्रव्य उपलब्ध होता है वहाँ पर प्रत्येक शरीर वर्गणा उत्कृष्ट होती है।[3] परन्तु प्रमत्तसंयत मनुष्य के प्रत्येकशरीर वर्गणा उत्कृष्ट नहीं होती, क्योंकि उनके गुणश्रेणी निर्जरा के द्वारा और अधःस्थितिगलना के द्वारा तैजस व कार्मण शरीर का द्रव्य गलित हो जाता है। यदि कहा जाय कि गलित हुए तैजस और कार्मण शरीर के द्रव्य से आहारक शरीर की द्रव्य वर्गणाएँ बहुत होती हैं, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह उनके अनन्तवें भाग प्रमाण होता है। अतः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रत्येक शरीर वर्गणा उत्कृष्ट नहीं होती।[4]

यहाँ पर कर्मस्थिति-काल के भीतर संचित हुए आठ प्रकार के कर्मप्रदेशसमुदाय की कार्मणशरीर संज्ञा है। छचासठ सागर काल के भीतर संचित हुए नोकर्मप्रदेश समुदाय की तैजस शरीर संज्ञा है। तेंतीस सागर काल के भीतर संचित हुए नोकर्मप्रदेश समुदाय की वैक्रियिक शरीर संज्ञा है। क्षुल्लक भव ग्रहण काल से लेकर तीन पल्य काल के भीतर संचित हुए नोकर्मप्रदेश समुदाय की औदारिक शरीर संज्ञा है। और अन्तर्मुहूर्त्त काल के भीतर संचित हुए नोकर्मप्रदेश समुदाय की आहारक शरीर संज्ञा है। इसलिए नारकी जीव के अन्तिम समय में ही उत्कृष्ट स्वामित्व देना चाहिए।[5] यह सत्रहवीं वर्गणा है।१७।

उत्कृष्ट प्रत्येक शरीर वर्गणा में एक अंक मिलाने पर दूसरी ध्रुवशून्य वर्गणा सम्बन्धी सबसे जघन्य ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा होती है। अनन्तर एक-एक अधिक के क्रम से आनुपूर्वी से सब जीवों से अनन्तगुणी ध्रुवशून्य वर्गणाओं के जाने पर उत्कृष्ट ध्रुवशून्य वर्गणा उत्पन्न होती है।[6] वह जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणी है। सब जीवों का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है। एकान्तवादी दृष्टि के समान यह सदाकाल शून्यरूप से अवस्थित है। यह अठारहवीं वर्गणा है।१८।[7]

---

१. धवल पु. १४ पृ. ६५-६६। २. व ३. धवल पु. १४ पृ. ७७। ४. धवल पु. १४ पृ. ७७-७८। ५. धवल पु. १४ पृ. ७८। ६. धवल पु. १४ पृ. ८३। ७. धवल पु. १४ पृ. ८४।

उत्कृष्ट ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा में एक अंक अर्थात् एकप्रदेश के मिलाने पर सबसे जघन्य बादर निगोद द्रव्यवर्गणा होती है। वह क्षीणकषाय के अन्तिम समय में होती है। जो जीव क्षपित कर्मांशिक विधि से आकर पूर्व कोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, अनन्तर गर्भ से लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त का होने पर सम्यक्त्व और संयम को युगपत् ग्रहण करके पुनः कुछ कम पूर्व कोटि काल तक कर्मों की उत्कृष्ट गुणश्रेणी निर्जरा करके सिद्ध होने के अन्तर्मुहूर्त काल अवशेष रहने पर उसने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया। अनन्तर क्षपकश्रेणी में सबसे उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा कर्मनिर्जरा करके क्षीणकषाय हुए इस जीव के प्रथम समय में अनन्त बादर निगोद जीव मरते हैं। दूसरे समय में विशेष अधिक जीव मरते हैं। इसी प्रकार तीसरे आदि समयों में विशेष अधिक विशेष अधिक जीव मरते हैं। यह क्रम क्षीणकषाय के प्रथम से लेकर पृथक्त्वआवली काल तक चालू रहता है। इसके आगे संख्यात भाग अधिक संख्यातभाग अधिक जीव मरते हैं। और यह क्रम क्षीणकषाय के काल में आवली का संख्यातवाँ भाग काल शेष रहने तक चालू रहता है। इसके पश्चात् निरन्तर प्रति समय असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीणकषाय के अन्तिम समय तक असंख्यात गुणे जीव मरते हैं। गुणाकार सर्वत्र पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है।[१]

यहाँ क्षीणकषाय के अन्तिम समय में जो आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियाँ हैं, जो कि पृथक्-पृथक् असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीरों से आपूर्ण हैं उनमें स्थित अनन्तानन्त निगोद जीवों के जो अनन्तानन्त विस्रसोपचय से युक्त कर्म और नोकर्म संघात है, वह सबसे जघन्य बादर निगोद द्रव्यवर्गणा है।[२] स्वयंभूरमण द्वीप की मूली के शरीर में उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा होती है।[३] क्योंकि मूली के शरीर में एकबन्धनबद्ध जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियाँ होती हैं। इस प्रकार यह उन्नीसवीं वर्गणा कही गई है।१९।

उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा में एक अंक मिलाने पर तीसरी ध्रुवशून्य वर्गणा की सबसे जघन्य ध्रुवशून्य वर्गणा होती है। पुनः इसके ऊपर प्रदेश अधिक के क्रम से सब जीवों से अनन्तगुणे स्थान जाकर तीसरी ध्रुवशून्य वर्गणा की सबसे उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अपनी जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यातगुणी है। अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणाकार है। यह बीसवीं वर्गणा है।२०।[४]

उत्कृष्ट ध्रुवशून्य वर्गणा में एक अंक के मिलाने पर सूक्ष्म निगोद द्रव्यवर्गणा होती है। वह जल में, स्थल में और आकाश में सर्वत्र दिखलाई देती है, क्योंकि बादर निगोद वर्गणा के समान इसका देशनियम नहीं है। यह सबसे जघन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणा क्षपित कर्मांशिक विधि से और क्षपित घोलमान विधि से आये हुए सूक्ष्म निगोद जीव के ही होती है, अन्य के नहीं, क्योंकि वहाँ जघन्य द्रव्य के होने में विरोध है।[५] महामत्स्य के शरीर में एकबन्धनबद्ध छह जीवनिकायों के संघात में उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोदवर्गणा दिखलाई देती है। जघन्य सूक्ष्म निगोदवर्गणा से लेकर उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद-वर्गणा पर्यन्त सब जीवों से अनन्तगुणे निरन्तर स्थान प्राप्त होकर एक ही स्पर्धक होता है, क्योंकि मध्य में कोई अन्तर नहीं है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुणी है। पल्य का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है। यह इक्कीसवीं वर्गणा है।२१।[६]

---

१. धवल पु. १४ पृ. ८५। २. धवल पु. १४ पृ. ९१। ३. धवल पु. १४ पृ. १११। ४. धवल पु. १४ पृ. ११२-११३। ५. धवल पु. १४ पृ. ११३-११४। ६. धवल पु. १४ पृ. ११६।

उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर चौथी ध्रुवशून्य वर्गणा की सबसे जघन्य वर्गणा होती है। अनन्तर एक अधिक के क्रम से सब जीवों से अनन्त गुणे स्थान जाकर उत्कृष्ट ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यातगुणी है। जगत्प्रतर का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है, जो कि असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण है। यह बाईसवीं वर्गणा है।२२।[1]

उत्कृष्ट ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर सबसे जघन्य महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा होती है। अनन्तर एक अधिक के क्रम से सब जीवों से अनन्तगुणे स्थान जाकर उत्कृष्ट महास्कन्ध द्रव्य वर्गणा होती है। यह जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है। सबसे जघन्य महास्कन्ध वर्गणा में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना विशेष का प्रमाण है।[2] यह तेईसवीं वर्गणा है।२३।

जघन्य से उत्कृष्ट प्राप्त करने के लिए प्रतिभाग व गुणाकार आदि का कथन

परमाणुवग्गणम्मि ण अवरुक्कस्सं च सेसगे अत्थि ।
गेज्झ महक्खंधाणं वरमहियं सेसगं गुणियं ।।५९६।।

सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठट्ठं ।
पल्लासंखेज्जदियं अंतिमखंधस्सजेट्ठट्ठं ।।५९७।।

संखेज्जासंखेज्जे गुणगारो सो दु होदि हु अणंते ।
चत्तारि अगेज्जेसु वि सिद्धाणमणंतिमो भागो ।।५९८।।

जीवादोणंतगुणो धुवादितिण्हं असंखभागो दु ।
पल्लस्स तदो तत्तो असंखलोगवहिदो मिच्छो ।।५९९।।

सेढी सूई पल्ला जगपदरा संखभागगुणगारा ।
अप्पप्पणअवरादो उक्कस्से होंति णियमेण ।।६००।।

गाथार्थ—परमाणु वर्गणा में जघन्य व उत्कृष्ट का भेद नहीं है। शेष वर्गणाओं में जघन्य व उत्कृष्ट का भेद है ।।५९६।। ग्रहणवर्गणाओं में उत्कृष्ट प्राप्त करने के लिए सिद्धों का अनन्तवाँ भाग प्रतिभाग है। अन्तिम महास्कन्ध में उत्कृष्ट प्राप्त करने के लिए पल्य का असंख्यातवाँ भाग प्रतिभाग है ।।५९७।। संख्यात परमाणु द्रव्यवर्गणा में संख्यात गुणाकार है और असंख्यातप्रदेशी परमाणु द्रव्यवर्गणा में गुणाकार असंख्यात है। अनन्त परमाणु द्रव्यवर्गणा में और चार अग्रहण-वर्गणाओं में सिद्धों का अनन्तवाँ भाग (अथवा अभव्यों से अनन्तगुणा) गुणाकार है ।।५९८।। ध्रुव आदि तीन वर्गणाओं में गुणाकार जीवराशि से अनन्तगुणा है। उससे आगे की वर्गणा में गुणाकार पल्य का असंख्यातवाँ भाग है। उससे आगे की वर्गणा में गुणाकार असंख्यात लोक से भाजित मिथ्यादृष्टि जीवराशि है ।।५९९।। उससे आगे गुणाकार क्रम से श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग, सूच्यंगुल का असंख्यातवाँ भाग, पल्य का असंख्यातवाँ भाग और जगत्प्रतर का असंख्यातवाँ भाग है। जघन्य को गुणाकार से गुणा करने पर अपना-अपना उत्कृष्ट प्राप्त हो जाता है ।।६००।।

---

१. धवल पु. १४ पृ. ११६-११७। २. धवल पु. १४ पृ. ११७।

विशेषार्थ— यह कथन गाथा ५६४-५६५ के विशेषार्थ में किया जा चुका है।

नीचे की उत्कृष्ट वर्गणा से ऊपर की जघन्य वर्गणा का अन्तर

हेट्ठिमउक्कस्सं पुरा रूवहियं उवरिमं जहण्णं खु।
इदि तेवीसवियप्पा पुग्गलदव्वा हु जिणदिट्ठा ।।६०१।।

गाथार्थ—पुद्गल द्रव्य की तेईस वर्गणाओं में अपने से नीचे की उत्कृष्ट वर्गणा में एक अंक मिलाने से ऊपर की जघन्य वर्गणा का प्रमाण होता है। ऐसा जिन (श्रुतकेवली) ने कहा है ।।६०१।।

विशेषार्थ—देखो गाथा ५६४-५६५ का विशेषार्थ।

इन तेईस वर्गणाओं का विशेष कथन धवल पुस्तक १४ से देखना चाहिए।

पुद्गल के छह भेद

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ।।६०२।।[1]
बादरबादर बादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च।
सुहमं च सुहमसुहमं च धरादियं होदि छब्भेयं ।।६०३।।[2]

गाथार्थ—१. पृथिवी, २. जल, ३ छाया, ४. चार इन्द्रियों का विषय, ५. कार्मणवर्गणा और ६.परमाणु; श्री जिनेन्द्र ने पुद्गलद्रव्य के ये छह भेद कहे हैं ।।६०२।। १. बादरबादर, २. बादर, ३. बादर सूक्ष्म, ४. सूक्ष्मबादर, ५. सूक्ष्म, ६. सूक्ष्मसूक्ष्म; ये पृथिवी जल आदि की संज्ञा है ।।६०३।।

विशेषार्थ— जो छेदाभेदा जा सके तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके वह **बादरबादर पुद्गल** है जैसे काष्ठ, पाषाण, पृथिवी आदि।[3] जो छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते वे बादरबादर हैं, जैसे भूमि, पर्वतादि।[4] जो छेदाभेदा न जा सके किन्तु अन्यत्र ले जाया जा सके वह **बादर है** जैसे जल।[5] अथवा जो छेदे जाने पर तुरन्त स्वयमेव मिल जाये, वे बादर हैं; जैसे तेल, जल आदि।[6] जो न छेदेभेदे जा सकें और न अन्यत्र ले जाये जा सकें वे बादर-सूक्ष्म हैं जैसे छाया।[7] अथवा जो हाथ से पकड़े नहीं जा सकते या हाथ के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते और न देशान्तर को लेजाये जा सकते हैं; वे **बादर-सूक्ष्म** हैं, जैसे छाया,धूप आदि।[8] चक्षुइन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियों का विषयभूत बाह्य पदार्थ सूक्ष्म-स्थूल है।[9] अथवा जो पुद्गल चक्षु इन्द्रिय का विषय तो नहीं है किन्तु शेष चार इन्द्रियों का विषय होता है वह **सूक्ष्म बादर** है।[10] कर्म सूक्ष्म है, जो देशावधि व परमावधि ज्ञान का विषय है वह **सूक्ष्म** है।[11] अथवा ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य कार्मण वर्गणा सूक्ष्म हैं क्योंकि ये इन्द्रियाँ-ज्ञान का विषय नहीं हैं।[12] परमाणु **सूक्ष्मसूक्ष्म** है, जो सर्वावधि ज्ञान का विषय है वह सब सूक्ष्मसूक्ष्म है।[13] कार्मणवर्गणाओं से परे अर्थात् कार्मणवर्गणाओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म द्वि अणुक स्कन्ध पर्यन्त सूक्ष्मसूक्ष्म है।[14]

---

१. धवल पु. ३ पृ. ३; जयधवल पु. १ पृ. २१५, वसुनन्दि श्रावकाचार गा. १८; लघु द्रव्य संग्रह गा. ७, पंचास्तिकाय गा. ७६ क; स्वा. का. पृ. १३६। २. स्वा. का. अ. पृ. १३६। ३. स्वा. का. अ. पृ. १३६। ४. ६. ८. १०. १२. १४. पं. का. गा. ७६ की टीका ५. ७. ९. ११. १३. स्वा. का. अ. गाथा २०६ की टीका।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २०६ की टीका में बादरबादर आदि छह भेद पुद्गल की अपेक्षा से किये गये हैं इसलिए सूक्ष्मसूक्ष्म में परमाणु को भी ग्रहण कर लिया है किन्तु **पंचास्तिकाय** की टीका में बादरबादर आदि छह भेद पुद्गल स्कन्ध की अपेक्षा से किये गये हैं, इसलिए इन्होंने परमाणु को ग्रहण न करके द्विअणुक स्कन्ध पर्यन्त ही सूक्ष्मसूक्ष्म का कथन किया है। क्योंकि परमाणु स्कन्ध नहीं है किन्तु सर्वावधि ज्ञान का विषय है। वह देशावधि या परमावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है।

अन्य प्रकार से पुद्गल के भेदों का कथन

खंधं सयलसमत्थं तस्स य श्रद्धं भणंति देसोत्ति ।
श्रद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ।।६०४।।[1]

गाथार्थ—सकल व समस्त पुद्गलद्रव्य स्कन्ध है, उस स्कन्ध का आधा देश है। स्कन्ध के आधे का आधा प्रदेश है। परमाणु अविभागी है ।।६०४।।

विशेषार्थ—**"सयलसमत्थं"** भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, जो इस प्रकार हैं। **मूलाचार की टीका में श्री वसुनन्दि आचार्य** ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"सयल-सह कलाभिर्वर्तते इति सकलं सभेदं परमाण्वन्तं। समत्थं-समस्तं सर्वं पुद्गलद्रव्यं। सभेदं स्कन्धः सामान्यविशेषात्मकं पुद्गलद्रव्यमित्यर्थः।" **'सयल'** का अर्थ सकल न करके 'भेद सहित परमाणु पर्यन्त' यह अर्थ किया है। **'समत्थं'** का अर्थ समस्त अर्थात् सर्व पुद्गल द्रव्य ऐसा किया है। इस प्रकार 'स्कन्ध' का अर्थ भेद सहित सामान्य विशेषात्मक पुद्गल द्रव्य किया गया है। इसी बात को वसुनन्दि-श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है—**"सयलं मुणेहि खंधं।"** सकल पुद्गल द्रव्य को स्कन्ध कहते हैं। **श्री वसुनन्दि आचार्य** ने समस्त पुद्गल द्रव्य को स्कन्ध कहा है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने **"अनन्तानन्तपरमाण्वारब्धोऽप्येकः स्कन्धो नाम पर्यायः।"**[2] यह अर्थ किया है। अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो वह स्कन्ध नाम की पर्याय है।

श्री जयसेन आचार्य ने इस प्रकार अर्थ किया है—**"समस्तोपि विवक्षितघटपटाद्यखण्डरूपः सकल इत्युच्यते तस्यानन्तपरमाणुपिण्डस्य स्कन्धसंज्ञा भवति।"**[3] समस्त अर्थात् विवक्षित घट पट आदि अखण्ड रूप एक को सकल कहते हैं। उस अनन्त परमाणुओं के पिण्ड की स्कन्ध संज्ञा है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा २०६ व २७२ की टीका में इस प्रकार कहा है—

"स्कन्धं सर्वांशसम्पूर्णं भणन्ति।" जो सर्वांशसम्पूर्ण हो वह स्कन्ध है।

श्री वसुनन्दि आचार्य ने स्कन्ध में समस्त पुद्गलद्रव्य को ग्रहण किया है किन्तु अन्य आचार्यों ने घट पट आदि एक अखण्ड पुद्गल पर्याय को स्कन्ध कहा है, क्योंकि वह सर्वांशसम्पूर्ण है। स्कन्ध

---

१. पंचास्तिकाय गा. ७५ किन्तु 'य' के स्थान पर 'दु' है, मूलाचार ५।३४ किन्तु 'परमाणू चेय अविभागी' पाठ है, स्वा. का. अ. गा. २०६ टीका, ति. प. १।९५। २. पं. का. गा. ७५ समय व्याख्या टीका। ३. पं. का. गा. ७५ तात्पर्य वृत्ति टीका।

का आधा 'देश' है। स्कन्ध के आधे के आधे को प्रदेश कहते हैं। इस प्रकार आधा-आधा तब तक करते जाना चाहिए जब तक द्वि-अणुक स्कन्ध प्राप्त हो, ये सब भेद प्रदेश हैं। परमाणु निरंश है जिसका विभाग नहीं हो सकता, इसलिए परमाणु को द्रव्यार्थिक नय से अविभागी कहा है।[1]

स्कन्ध की आधी स्कन्धदेश नामक पर्याय है, आधी की आधी स्कन्धप्रदेश नाम की पर्याय है। इस प्रकार भेद के कारण द्वि-अणुक स्कन्ध पर्यन्त अनन्त स्कन्धप्रदेशरूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग एक प्रदेश वाला, स्कन्ध का अन्तिम अंश एक परमाणु है।[2]

श्री जयसेन आचार्य ने इसको दृष्टान्त द्वारा समझाया है—जैसे १६ परमाणुओं को पिण्ड रूप करके एक स्कन्ध बना। इसमें एक-एक परमाणु घटाते हुए नव परमाणुओं के स्कन्ध तक स्कन्ध के ही भेद होंगे अर्थात् नौ परमाणुओं का जघन्य स्कन्ध और सोलह परमाणुओं का उत्कृष्ट स्कन्ध, शेष मध्य के भेद जानने। आठ परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्धदेश कहेंगे क्योंकि वह सोलह से आधा रह गया। इसमें भी एक-एक परमाणु घटाते हुए पाँच परमाणु स्कन्ध तक स्कन्धदेश के भेद होंगे। उनमें जघन्यस्कन्धदेश पाँच परमाणुओं का तथा उत्कृष्टस्कन्धदेश आठ परमाणुओं का व मध्य के अनेक भेद हैं। चार परमाणुओं के पिण्ड की स्कन्धप्रदेशसंज्ञा है। इसमें भी एक-एक परमाणु घटाते हुए दो परमाणु स्कन्ध तक प्रदेश के भेद हैं। अर्थात् जघन्य स्कन्ध-प्रदेश दो परमाणु स्कन्ध-प्रदेश है, उत्कृष्ट चार परमाणु स्कन्ध प्रदेश है। मध्य तीन परमाणु का स्कन्ध प्रदेश है। ये सब स्कन्ध के भेद हैं। सबसे छोटे विभागरहित पुद्गल को परमाणु कहते हैं।[3]

छहों द्रव्यों का फलाधिकार अर्थात् उपकार

गदिठाणोग्गहकिरियासाधणभूदं खु होदि धम्मतियं।
वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु ॥६०५॥
अण्णोण्णुवयारेण य जीवा वट्टंति पुग्गलाणि पुणो।
देहादीणिव्वत्तणकारणभूदा हु णियमेण ॥६०६॥[4]
आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।
णिस्सासोवि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं ॥६०७॥[5]
भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।
अट्ठविहकम्मदव्वं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६०८॥

गाथार्थ—धर्मादि तीन द्रव्य गति, स्थिति और अवगाह इन क्रियाओं के साधनभूत होते हैं। वर्तना क्रिया का साधनभूत नियम से काल द्रव्य है ॥६०५॥ जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हैं और पुद्गल द्रव्य नियम से शरीर आदि की रचना का कारणभूत है ॥६०६॥ आहार वर्गणा से तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास बनते हैं। तेजोवर्गणा रूप स्कन्ध से तैजस शरीर बनता

---

१. मूलाचार ५।३४ की टीका। २. पंचास्तिकाय गाथा ७५ समयव्याख्या टीका। ३. पंचास्तिकाय गा. ७५ की तात्पर्य वृत्ति टीका। ४. व ५. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २०९ की टीका।

है ॥६०७॥ भाषावर्गणा से वचन व मनोवर्गणा से द्रव्य मन की रचना होती है और कार्मण वर्गणाओं से आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं, इस प्रकार जिन (श्रुतकेवली) के द्वारा कहा गया है ॥६०८॥

विशेषार्थ—गाथा ५६७ व ५६८ में व उनके विशेषार्थ में धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य व काल द्रव्य के गति आदि उपकार का कथन सविस्तार किया जा चुका है।

स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूप से वर्तन करना परस्परोपग्रह है। स्वामी तो धन आदि देकर सेवक का उपकार करता है और सेवक हित का कथन करके तथा अहित का निषेध करके स्वामी का उपकार करता है। आचार्य दोनों लोकों में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करता है और शिष्य भी आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करके आचार्य का उपकार करते हैं।[1] अथवा गुरु की सेवा शुश्रूषा, पादमर्दन आदि करके शिष्य भी गुरु का उपकार करते हैं। इसी प्रकार पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-मित्र परस्पर में उपकार करते हैं।[2]

पुद्गल भी जीव का उपकार करता है। कहा भी है—"**शरीर—वाङ्मनः - प्राणापानाः पुद्गलानाम्** ॥५/१६॥[3]

जीवस्स बहु-पयारं उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं।
देहं च इंदियाणि य वाणी उस्सास-णिस्सासं ॥२०८॥

[स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

—शरीर, वचन, मन और प्राणापान (उच्छ्वास, यह पुद्गलों का उपकार है। पुद्गलद्रव्य जीव का बहुत तरह से उपकार करता है, शरीर बनाता है, इन्द्रिय बनाता है, वचन बनाता है और श्वासोच्छ्वास बनाता है।

गा. ५९४-५९५ के विशेषार्थ में पुद्गल की २३ वर्गणाओं के कथन में यह बतलाया जा चुका है कि आहार वर्गणाओं से औदारिक, वैक्रियिक व आहारक इन तीन शरीरों की रचना होती है। तैजस वर्गणा से तैजस शरीर की, भाषा वर्गणा से वचन की, मनोवर्गणा से मन की और कर्मवर्गणाओं से आठ प्रकार के कर्मों की अथवा कार्मण शरीर की निष्पत्ति होती है। ये पाँच वर्गणाएँ ही ग्राह्य वर्गणाएँ हैं और शेष अग्राह्य वर्गणा हैं, क्योंकि वे जीव के द्वारा ग्रहण के अयोग्य हैं।

जिस वर्गणा के पुद्गल-स्कन्धों को ग्रहण कर तीन शरीरों की निष्पत्ति होती है वह आहार वर्गणा है। अर्थात् औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर के जिन द्रव्यों को ग्रहण कर औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर रूप से परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, उन द्रव्यों की आहार द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। आहार शरीर वर्गणा के भीतर कुछ वर्गणाएँ औदारिक शरीर के योग्य हैं, कुछ वर्गणाएँ वैक्रियिक शरीर के योग्य हैं और कुछ वर्गणाएँ आहारक शरीर के योग्य हैं। इस प्रकार आहार वर्गणा तीन प्रकार की है।[4]

---

१. सर्वार्थसिद्धि ५/२०। २. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २१० की टीका। ३. तत्त्वार्थसूत्र। ४. धवल पु. १४ पृ. ५४६-५४७।

शंका—वे तीन प्रकार की आहारवर्गणाएँ क्या परस्पर समान हैं या हीनाधिक प्रदेश वाली हैं ?

समाधान—औदारिक शरीर द्रव्यवर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा सबसे स्तोक हैं। ।।७८५।। वैक्रियिक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७८६।। आहारकशरीर द्रव्य-वर्गणाएँ प्रदेशार्थता की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७८७।। एक ही समय में एक ही योग से आगमन योग्य वर्गणाओं की अपेक्षा से यह कथन है, क्योंकि तीन जीवों के एक ही समय में एक योग सम्भव है ।[1] इससे जाना जाता है कि इन तीनों शरीरों में प्रदेश समान नहीं है । कहा भी है—

"प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।।२/३८।।" [तत्त्वार्थसूत्र]

—तैजस शरीर से पूर्व औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरों में आगे-आगे का शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुणा है ।

अवगाहना की अपेक्षा कार्मणशरीर द्रव्यवर्गणाएँ सबसे स्तोक हैं ।।७९०।। मनोद्रव्य वर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७९१।। भाषा द्रव्य वर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं ।।७९२।। तैजस शरीर द्रव्यवर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७९३।। आहारक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७९४।। वैक्रियिक शरीर की द्रव्यवर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७९५।। औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणाएँ अवगाहना की अपेक्षा असंख्यातगुणी हैं ।।७९६।।[2]

शङ्का—इन तीन शरीरों की वर्गणाएँ अवगाहना के भेद से और संख्या के भेद से पृथक्-पृथक् हैं तो आहार वर्गणा एक ही है, ऐसा क्यों ?

समाधान— नहीं, क्योंकि अग्रहण वर्गणाओं के द्वारा अन्तर के अभाव की अपेक्षा इन वर्गणाओं के एकत्व का उपदेश दिया गया है ।[3]

शङ्का—कार्मण शरीर का कोई आकार नहीं पाया जाता अतः उसे पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है?

समाधान—नहीं, कार्मणशरीर भी पौद्गलिक है, क्योंकि उसका फल मूर्तिमान् पदार्थों के सम्बन्ध से होता है । जिस प्रकार जलादिक के सम्बन्ध से पकने वाले धान आदि पौद्गलिक हैं, उसी प्रकार कार्मणशरीर भी गुड़ व कांटे आदि मूर्तिमान पदार्थों के मिलने पर फल देते हैं। अतः कार्मणशरीर पौद्गलिक है ।[4]

वचन दो प्रकार का है-द्रव्य वचन और भाव वचन । इनमें से भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के निमित्त से होता है इसलिए वह पौद्गलिक है; क्योंकि पुद्गलों के अभाव में भाववचन का सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

---

१. धवल पु. १४ पृ. ५६०-५६१ । २. धवल पु. १४ पृ. ५६२-५६४ । ३. धवल पु. १४ पृ. ५४७ ।
४. सर्वार्थसिद्धि ५/१९ ।

क्योंकि इस प्रकार की सामर्थ्य से युक्त क्रियावाले आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचन रूप से परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्य वचन भी पौद्गलिक हैं। दूसरे, द्रव्य वचन श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है इससे भी ज्ञात होता है कि वचन पौद्गलिक है।

शंका— वचन इतर (अन्य) इन्द्रियों का विषय क्यों नहीं है ?

समाधान—घ्राण इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है उससे रसादि की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार इतर इन्द्रियों में वचन के ग्रहण करने की योग्यता नहीं है।

शङ्का—वचन अमूर्त हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वचनों का मूर्त इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदि के द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदि के द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है, तथा अन्य कारणों से उनका अभिभव देखा जाता है, इससे शब्द का मूर्तपना सिद्ध होता है।

मन दो प्रकार का है द्रव्य मन और भाव मन। लब्धि और उपयोग लक्षण भाव मन पुद्गलों के आलम्बन से होता है इसलिए पौद्गलिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के निमित्त से जो पुद्गल गुणदोष का विचार और स्मरण आदि उपयोग के सम्मुख हुए आत्मा के उपकारक हैं, वे ही मन रूप से परिणत होते हैं, अतः द्रव्य मन भी पौद्गलिक है।

शंका—मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह रूपादि परिणमन से रहित है और अणुमात्र है; इसलिए उसे पौद्गलिक मानना अयुक्त है ?

समाधान—इस प्रकार की शंका अयुक्त है। क्या वह मन आत्मा और इन्द्रियों से सम्बद्ध है या असम्बद्ध ? यदि असम्बद्ध है तो वह आत्मा का उपकारक नहीं हो सकता और इन्द्रियों की सहायता भी नहीं कर सकता। यदि सम्बद्ध है तो जिस प्रदेश में वह अणुमन सम्बद्ध है, उस प्रदेश को छोड़कर इतर प्रदेशों का उपकार नहीं कर सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि मन अणुमात्र नहीं है, बल्कि सर्व आत्मप्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित है।

शङ्का—अदृष्ट नाम का एक गुण है, उसके वश से यह मन अलातचक्र के समान सब प्रदेशों में घूमता रहता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अदृष्ट नाम के गुण में इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं पाया जाता। यतः अमूर्त और निष्क्रिय आत्मा का अदृष्ट गुण है। अतः यह गुण भी निष्क्रिय है इसलिए अन्यत्र क्रिया का आरम्भ करने में असमर्थ है। देखा जाता है कि वायु नामक द्रव्यविशेष स्वयं क्रियावाला और स्पर्शवाला होकर ही वनस्पति में परिस्पन्द का कारण होता है परन्तु यह अदृष्ट उससे विपरीत लक्षणवाला है, इसलिए यह क्रिया का हेतु नहीं हो सकता।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखनेवाला आत्मा कोष्ठगत जिस वायु को बाहर निकालता है, उच्छ्वास लक्षण उस वायु को प्राण

कहते हैं। तथा वही आत्मा बाहरी जिस वायु को भीतर करता है, निःश्वास लक्षण उस वायु को अपान कहते हैं। इस प्रकार ये उच्छ्वासनिःश्वास लक्षण वाले प्राणापान भी आत्मा का उपकार करते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा जीवित रहती है। ये मन, प्राण और अपान मूर्त हैं, क्योंकि दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा इनका प्रतिघात आदि देखा जाता है। जैसे प्रतिभय उत्पन्न करने वाले बिजलीपात आदि के द्वारा मन का प्रतिघात होता है और सुरा आदि के द्वारा अभिभव। तथा हस्ततल और वस्त्र आदि के द्वारा मुख ढक लेने से प्राण और अपान का प्रतिघात होता है। किन्तु अमूर्त का मूर्त पदार्थ के द्वारा अभिघात आदि नहीं हो सकता, इससे प्रतीत होता है कि ये सब मूर्त हैं। तथा इसीसे आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है।[1]

इनके अतिरिक्त सुख, दुःख, जीवन और मरण में भी पुद्गल के उपकार हैं।[2] जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्म द्रव्यादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है तब आत्मा को जो प्रीति या प्रसन्नता होती है, वह सुख है। इसी प्रकार असाता वेदनीय कर्मोदय से जो संक्लेशरूप परिणाम होते हैं, वह दुख है। भवस्थिति में कारण आयु कर्म के उदय से जीव के श्वासोच्छ्वास का चालू रहना, उसका उच्छेद न होना जीवित है और उच्छेद हो जाना मरण है। साधारणतया मरण किसी को प्रिय नहीं है तो भी व्याधि, पीड़ा, शोकादि से व्याकुल प्राणी को मरण भी प्रिय होता है। अतः उसे उपकार श्रेणी में ले लिया है। यहाँ उपकार शब्द से इष्ट पदार्थ नहीं लिया गया है, किन्तु पुद्गलों के द्वारा होने वाले समस्त कार्य लिये गये हैं। दुःख भी अनिष्ट है किन्तु पुद्गल का प्रयोजन होने से उसका निर्देश किया गया है।[3]

पुद्गलों का स्वोपग्रह भी है। जैसे कांसे को भस्म से तथा जल को कतक फल से साफ किया जाता है।[4]

अविभागी पुद्गल परमाणु के बन्ध का कथन

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी।
संखेज्जासंखेज्जाणंतविहा णिद्धणुक्खगुणा ॥६०९॥

एगगुणं तु जहण्णं णिद्धत्तं विगुणतिगुणसंखेज्जाऽ-।
संखेज्जाणंतगुण होदि तहा रुक्खभावं च ॥६१०॥

एवं गुणसंजुत्ता परमाणू आदिवग्गणम्मि ठिया।
जोग्गदुगाणं बंधे दोण्हं बंधो हवे णियमा ॥६११॥

णिद्धणिद्धा ण बज्झंति रुक्खरुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥६१२॥[5]

णिद्धिदरोलीमज्झे विसरिसजादिस्स समगुणं एक्कं।
रूवित्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवित्ति ॥६१३॥

१. सर्वार्थसिद्धि ५/१९। २. "सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥५/२०॥" [तत्त्वार्थसूत्र]। ३. ४. राजवार्तिक ५/२०। ५. धवल पु. १४ पृ. ३१ गा. ३४।

दोगुणणिद्धाणुस्स य दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी ।
इगितिगुणादि अरूवी रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे ।।६१४।।

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ।।६१५।।[1]

णिद्धिदरे समविसमा दोत्तिगआदी दुउत्तरा होंति ।
उभयेवि य समविसमा सरिसिदरा होंति पत्तेयं ।।६१६।।

दोत्तिगपभवदुउत्तरगदेसणंतरदुगाण बंधो दु ।
णिद्धे लुक्खे वि तहावि जहण्णुभयेवि सव्वत्थ ।।६१७।।

णिद्धिदरवरगुणाणू सपरट्ठाणेवि णेदि बंधट्ठं ।
बहिरंतरंगहेदुहि गुणंतरं संगदे एदि ।।६१८।।

णिद्धिदरगुणा अहिया हीणं परिणामयंति बंधम्मि ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं ।।६१९।।

गाथार्थ—स्निग्धत्व और रूक्षत्व बन्ध के कारण होते हैं। स्निग्ध व रूक्ष गुण के एक को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात व अनन्त भेद होते हैं ।।६०९।। स्निग्धत्व के एक गुण से अभिप्राय जघन्य गुण कहने का है। द्विगुण, त्रिगुण, संख्यात गुण, असंख्यात गुण व अनन्त गुण होते हैं। इसी प्रकार रूक्षत्व के होते हैं ।।६१०।। इस प्रकार गुणसंयुक्त परमाणु प्रथम वर्गणा में स्थित होते हैं। दो आदि गुण वाले परमाणु बन्ध के योग्य होते हैं। दो परमाणुओं का बन्ध होता है कम का नहीं, ऐसा नियम है ।।६११।। स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध पुद्गलों के साथ नहीं बँधते, रूक्षपुद्गल रूक्षपुद्गलों के साथ नहीं बँधते। किन्तु सदृश (समान गुण वाले) और विसदृश (असमान गुणवाले) स्निग्ध व रूक्ष पुद्गल परस्पर बँधते हैं ।।६१२।। स्निग्ध और रूक्ष की पंक्तियों के मध्य जो विसदृश जाति का एक समगुण है उस परमाणु की रूपी संज्ञा है और शेष सब की अरूपी संज्ञा ।।६१३।। द्विगुण वाले स्निग्ध परमाणु की अपेक्षा दो गुण वाला रूक्ष परमाणु रूपी है किन्तु एक गुणवाला व तीन आदि गुणवाले अरूपी हैं। इसी प्रकार रूक्ष की अपेक्षा भी जानना चाहिए ।।६१४।। स्निग्ध पुद्गल का दो गुण अधिक स्निग्ध पुद्गल से और रूक्ष पुद्गल का दो गुण अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है। स्निग्ध पुद्गल का रूक्ष पुद्गल के साथ जघन्य गुण के अतिरिक्त विषम (विसदृश) अथवा सम (सदृश) गुण के रहने पर बन्ध होना है ।।६१५।। स्निग्ध व रूक्ष दोनों में ही दो गुण के ऊपर जहाँ दो-दो की वृद्धि हो वहाँ समधारा होती है और जहाँ तीन गुण के ऊपर दो-दो की वृद्धि हो वहाँ विषम धारा होती है। सदृश और विसदृश ये दोनों सम व विषम इनमें से प्रत्येक में होते हैं ।।६१६।। स्निग्ध में दो गुण के आगे दो-दो की वृद्धि होती है और तीन गुण के आगे दो-दो की वृदि होती है। उनमें दो का अन्तर होने से स्निग्ध का स्निग्ध के साथ बन्ध हो जाता है। रूक्ष में भी इसी प्रकार जानना चाहिए किन्तु दोनों में सर्वत्र जघन्य का बन्ध नहीं होता ।।६१७।। स्निग्ध व रूक्ष का

---

१. धवल पु. १४ पृ. ३३ गा. ३६ राजवार्तिक ५/३६ में उद्धृत।

जघन्य गुणवाला परमाणु स्व या पर-स्थान में कहीं पर भी बन्ध के योग्य नहीं होता। किन्तु बहिरंग व अन्तरंग कारण मिलने पर गुणान्तर को प्राप्त होकर बँध जाता है ।।६१८।। बन्ध होने पर स्निग्ध या रूक्ष अधिक गुण वाला हीन गुण वाले को परिणमा लेता है। उस परमाणु का बन्ध संख्यात प्रदेशी स्कन्ध के साथ भी हो सकता है, असंख्यातप्रदेशी व अनन्तप्रदेशी स्कन्धों के साथ भी हो सकता है अथवा परमाणु का परमाणु के साथ भी बन्ध हो सकता है ।।६१६।।

विशेषार्थ—स्निग्ध या रूक्ष गुण के कारण पुद्गल परमाणु का बन्ध होता है।[1] बाह्य और आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है, उस पर्याय से युक्त पुद्गल स्निग्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति **'स्निह्यते स्मेति स्निग्धः'** होती है। रूखीपर्याय से युक्त पुद्गल रूक्ष होता है। स्निग्ध पुद्गल का धर्म स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गल का धर्म रूक्षत्व है। द्व्यणुक आदि लक्षण वाला जो बंध होता है वह स्निग्धत्व और रूक्षत्व का कार्य है। स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले दो परमाणुओं का परस्पर संश्लेष लक्षण बन्ध होने पर द्वि-अणुक नामक स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। स्निग्ध गुण के एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार रूक्ष गुण के भी एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। जिस प्रकार जल, बकरी के दूध, गाय, भैंस और ऊँट के दूध और घी में उत्तरोत्तर अधिक रूप से स्नेह गुण रहता है तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदि में न्यून रूप से रूक्ष गुण रहता है, उसी प्रकार परमाणुओं में भी न्यूनाधिक रूप से स्निग्ध और रूक्ष गुण का अनुमान होता है।[2]

शङ्का—संश्लेष बन्ध का क्या लक्षण है ?

समाधान—जतु (लाख) और काष्ठ के परस्पर संश्लेष से जो बन्ध होता है वह संश्लेष बन्ध है। जतु पद से वज्रलेप और मैन आदि चिक्कण द्रव्यों का ग्रहण होता है।[3]

शंका—एक गुण को जघन्य गुण कहा है तो उस जघन्य गुण का क्या एक प्रमाण है ?

समाधान—नहीं, वह जघन्य गुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है।[4]

शङ्का—अविभागप्रतिच्छेद किसे कहते हैं ?

समाधान—एक परमाणु में जो जघन्य वृद्धि होती है, वह अविभाग प्रतिच्छेद है। इस प्रमाण से (अविभागप्रतिच्छेद से) परमाणु के जघन्य गुण अथवा उत्कृष्ट गुण छेद करने पर सब जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं।[5]

शङ्का—यदि अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से युक्त जघन्य गुण में 'एक गुण' शब्द प्रवृत्त रहता है तो दो जघन्य गुणों में 'दो गुण' शब्द की प्रवृत्ति होनी चाहिए, अन्यथा 'दो' शब्द की प्रवृत्ति नहीं उपलब्ध होती ?

---

१. 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ।।५/३३।।" [त. सू.] । २. सर्वार्थसिद्धि ५/३३ । ३. धवल पु. १४ पृ. ४१ । ४. धवल पु. १४ पृ. ४५० । ५. धवल पु. १४ पृ. ४३१ ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जघन्य गुण के ऊपर एक अविभाग प्रतिच्छेद की वृद्धि होने पर दो गुणभाव देखा जाता है।

शङ्का—एक ही अविभागप्रतिच्छेद की द्वितीय गुण संज्ञा कैसे है ?

समाधान—क्योंकि मात्र उतने ही गुणान्तर की द्रव्यान्तर में वृद्धि देखी जाती है। गुण के द्वितीय अवस्था विशेष की द्वितीय गुण संज्ञा है और तृतीय अवस्था विशेष की तृतीय गुण संज्ञा है। इसलिए जघन्य गुण के साथ (एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद की वृद्धि होने पर) द्विगुणपना और त्रिगुणपना बन जाता है।[1]

इन गुण वाले परमाणुओं की आदि (प्रथम) वर्गणा होती है। क्योंकि प्रथम वर्गणा की एक अणक संज्ञा है। इनमें से दो आदि गुण वाले परमाणु बन्ध के योग्य होते हैं। बन्ध नियम से कम से कम दो परमाणु का होता है। इन दो परमाणुओं का परस्पर बन्ध हो जाने पर द्वि अणुक संज्ञा हो जाती है। स्निग्ध परमाणु दूसरे स्निग्ध परमाणु के साथ नहीं बँधते, क्योंकि स्निग्ध गुण की अपेक्षा वे समान हैं। रूक्ष परमाणु दूसरे रूक्ष परमाणु के साथ नहीं बँधता, क्योंकि रूक्ष गुण की अपेक्षा वे समान हैं। स्निग्ध पुद्गल और रूक्ष पुद्गल परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं क्योंकि इनमें विसदृशता (असमान जातिता) पाई जाती है।

शङ्का—क्या गुणों के अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा समान स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का बन्ध होता है या अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा विसदृश स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का बन्ध होता है ?

समाधान—जो स्निग्ध और रूक्ष गुणों से युक्त पुद्गल, गुणों के अविभागीप्रतिच्छेदों की अपेक्षा समान होते हैं वे रूपी कहलाते हैं। वे भी बँधते हैं। अरूपी अर्थात् असमान अविभागप्रतिच्छेद वाले भी बँधते हैं। स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल गुणों के अविभागप्रतिच्छेदों की संख्या की अपेक्षा चाहे समान हो चाहे असमान हो उनका परस्पर बन्ध होता है।[2]

शङ्का—क्या स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ सर्वथा बन्ध नहीं होता ?

समाधान—स्निग्ध पुद्गल का अन्य स्निग्ध पुद्गल के साथ यदि बन्ध होता है तो दो गुण अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ ही होता है। रूक्ष पुद्गल का अन्य रूक्ष पुद्गल के साथ यदि बन्ध होता है तो दो गुण अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ ही बन्ध होता है।[3] अन्य अवस्थाओं में स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध नहीं होता। कहा भी है—

"द्व्यधिकादिगुणानां तु ।।५/३६।।" [तत्त्वार्थसूत्र]

—दो अधिक गुण वालों का बन्ध होता है। जैसे दो स्निग्ध गुणवाले परमाणु का एक स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ, दो स्निग्धगुणवाले के साथ, तीन स्निग्धगुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता, चार स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। तथा उसी दो स्निग्ध गुणवाले परमाणु का पाँच स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ, इसी प्रकार छह, सात, आठ, संख्यात, असंख्यात और

---

१. धवल पु. १४ पृ. ४५१। २. धवल पु. १४ पृ. ३१ व ३२। ३. धवल पु. १४ पृ. ३३।

अनन्त स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन स्निग्ध गुणवाले परमाणु का पाँच स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध होता है। किन्तु आगे पीछे के शेष स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। चार स्निग्ध गुणवाले परमाणु का छह स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध होता है, किन्तु आगे पीछे के शेष स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार यह क्रम आगे भी जानना चाहिए। तथा दो रूक्ष गुणवाले परमाणु का एक, दो और तीन रूक्ष गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। चार रूक्ष गुणवाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। उसी दो रूक्ष गुणवाले परमाणु का आगे के पाँच आदि रूक्ष गुणवाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन आदि रूक्ष गुणवाले परमाणुओं का भी दो अधिक गुणवाले परमाणुओं के साथ बन्ध जानना चाहिए।[1]

शङ्का—स्निग्धगुण और रूक्षगुणवाले पुद्गलों का एक-दूसरे के साथ बन्ध होता है, इस नियम के अनुसार क्या सब पुद्गलों का बन्ध होता है?

समाधान—जघन्य गुणवाले परमाणु का किसी भी पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता। जघन्य गुणवाले स्निग्ध और जघन्य गुणवाले रूक्ष पुद्गलों का न तो स्वस्थान की अपेक्षा बन्ध होता है और न परस्थान की अपेक्षा ही बन्ध होता है। जघन्य गुण के अतिरिक्त अन्य गुणवाले स्निग्ध पुद्गलों का रूक्ष गुणवाले पुद्गल के साथ और रूक्ष पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध होता है।[2]

सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक अ. ५ सू. ३६ की टीका में यह गाथा ६१५ उद्धृत है, किन्तु वहाँ पर यह अर्थ किया गया है कि स्निग्ध पुद्गल का रूक्ष पुद्गल के साथ और रूक्ष पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध होने में भी दो अधिक गुण का नियम लागू होता है।

इस प्रकार एक ही गाथा के श्री पूज्यपाद आदि आचार्यों ने तथा श्री वीरसेन आचार्य ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। इन दोनों में से कौन सा अर्थ ठीक है? वर्तमान में इसका निर्णय न हो सकने के कारण दोनों अर्थों को लिख दिया गया है।

(१) क्रमाङ्क	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृश बन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
३	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है
४	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	है
५	जघन्येतर + द्व्यधिकजघन्येतर	है	है
६	जघन्येतर + त्र्यादि अधिकजघन्येतर	नहीं	है

---

१. सर्वार्थसिद्धि ५/३६। २. धवल पु. १४ पृ. ३३।

(२) क्रमाङ्क	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
३	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
४	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
५	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है	है
६	जघन्येतर + त्र्यादिअधिकजघन्येतर	नहीं	नहीं

शङ्का—पारिणामिक का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त कराना पारिणामिक है। जैसे अधिक मीठे रस वाला गीला गुड़, उस पर पड़ी हुई धूलि को अपने गुणरूप से परिणमाने के कारण पारिणामिक होता है, उसी प्रकार अधिक गुणवाला अन्य भी अल्प गुणवाले का पारिणामिक होता है। इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। अतः उनमें एकरूपता आ जाती है।[1] बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है।[2] द्वित्व का त्यागकर एकत्व की प्राप्ति का नाम बंध है।[3] एकीभाव का नाम बन्ध है।[4]

पंचास्तिकाय का कथन

दव्वं छक्कमकालं पंचत्थीकायसण्णिदं होदि ।
काले पदेसपचयो जम्हा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥६२०॥

गाथार्थ—काल में प्रदेश-प्रचय नहीं है, अतः काल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्यों की पंचास्तिकाय संज्ञा दी गई है ॥६२०॥

विशेषार्थ—**"पुद्गलाणोरुपचारतो नानाप्रदेशत्वम्, न च कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् ऋजुत्वाच्च ॥१७०॥" [आलापपद्धति]** उपचार से पुद्गल परमाणु के नाना प्रदेश स्वभाव है क्योंकि वह बंध को प्राप्त हो जाता है किन्तु कालाणु के उपचार से भी नानाप्रदेशत्व भाव नहीं है क्योंकि कालाणु में बन्ध के कारण स्निग्ध-रूक्ष गुण का अभाव है तथा वह स्थिर है क्योंकि निष्क्रिय है।

शङ्का—जैसे द्रव्य रूप से एक पुद्गल परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कन्ध पर्याय द्वारा बहुप्रदेश रूप कायत्व है, ऐसे ही द्रव्य रूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि स्निग्ध-रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य में अभाव है इसलिए वह काय नहीं हो सकता।[5]

---

१. "भावान्तरापादनं पारिणामिकत्वं।" [स. सि. ५/३७]। २. [राजवार्तिक ५/३७/२] "पूर्वावस्थाप्रच्यवपूर्वकं तातीर्यकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकस्कन्धत्वमुपपद्यते।" ३. "बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती" [धवल पु. १३ पृ. ७]। ४. "एकीभावो बन्धः।" [धवल पु. १३ पृ. ३४८]। ५. वृहद् द्रव्यसंग्रह गा. २६ की टीका।

शंका—पाँच अस्तिकाय कौन-कौन से हैं ? अस्तिकाय का क्या स्वरूप है ?

समाधान—जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं, क्योंकि ये सत् रूप हैं और बहुप्रदेशी हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमया अणुमहंता ॥४॥ [पंचास्तिकाय]

—जीव, पुद्गल काय, धर्म, अधर्म तथा आकाश अस्तित्व में नियत और अनन्यमय हैं तथा प्रदेश में बड़े हैं। ये पाँचों द्रव्य अपनी-अपनी महासत्ता व अवान्तर सत्ता में स्थित हैं और सत्ता से अनन्य हैं। इसलिए अस्तिरूप हैं। इन पाँचों द्रव्यों में कायपना भी है, क्योंकि वे अणुमहान् हैं। यहाँ अणु शब्द से सबसे छोटा अंश प्रदेश ग्रहण किया गया है। जो प्रदेशप्रचयात्मक हो वह अणुमहान् है।[1]

शङ्का—एकप्रदेशी पुद्गल परमाणु के कायपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—स्निग्धत्व और रूक्षत्व शक्ति के सद्भाव से परमाणु स्कन्ध का कारण है इसलिए उपचार से कायत्व है।[2]

जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं ॥५॥ [पंचास्तिकाय]

—जिनका विविध गुण और पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव है, वे अस्तिकाय हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पदार्थ अवयवी हैं और प्रदेश उनके अवयव हैं। प्रदेशों के साथ उन पंचास्तिकाय का अनन्यपना है, अतः उनके कायत्व की सिद्धि होती है।[3]

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥२३॥
संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा।
काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥
होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविहपदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥ [बृहद्द्रव्यसंग्रह]

—जीव और अजीव के प्रभेद से ये द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के बिना शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। चूंकि विद्यमान हैं इसलिए ये अस्ति हैं और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं, इसलिए ये काय हैं। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से अस्तिकाय होते हैं। जीव, धर्म, तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तप्रदेशी है। इस प्रकार पुद्गल के तीन प्रकार के प्रदेश हैं। काल के एक ही प्रदेश है, इस कारण काल द्रव्य कायवान नहीं है।

---

१. पंचास्तिकाय गाथा ४ समयव्याख्या टीका। २. पं.का. गा. ४ तात्पर्यवृत्ति टीका। ३. पं.का. गा. ५ समयव्याख्या टीका।

नव पदार्थ

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं ।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतित्ति ।।६२१।।

गाथार्थ—जीव और अजीव (पुद्गल) और उनके पुण्य व पाप ये दो तथा आस्रव, संवर निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ होते हैं ।।६२१।।

विशेषार्थ—मूल द्रव्य जीव और अजीव हैं । अजीव पाँच प्रकार का है पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो अमूर्तिक हैं अतः ये बन्ध को प्राप्त नहीं होते । पुद्गल मूर्तिक है, स्निग्ध व रूक्ष गुण के कारण बन्ध को प्राप्त होता है जैसा कि गाथा ६०९ में कहा गया है । जीव स्वभाव से अमूर्तिक है किन्तु अनादि-कर्मबन्ध के कारण संसारी जीव मूर्तिक हो रहा है ।[1] अतः पुद्गल और संसारी जीव के परस्पर बन्ध के कारण आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं । आस्रव व बंध ये दोनों पुण्य व पाप दो-दो रूप हैं । इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सात तत्त्व तथा इनमें पुण्य और पाप इन दो के मिलने से नव पदार्थ हो जाते हैं ।

इन नव पदार्थों में से पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये जीव स्वरूप भी हैं और अजीव स्वरूप भी हैं । **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने इस गाथा की टीका में इसका कथन किया है—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।।१०८।। [पंचास्तिकाय]

—जीव और अजीव दो मूल पदार्थ तथा उन दोनों के पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं । चैतन्य जिसका लक्षण है वह जीव पदार्थ है । चैतन्य के अभाव लक्षण वाला अजीव है । ये दो मूल पदार्थ हैं । जीव और पुद्गल रूप अजीव इन दो के परस्पर बन्ध से अन्य सात पदार्थ होते हैं । जीव के शुभ परिणाम वह जीव पुण्य है । शुभ परिणामों के निमित से प्रशस्त कर्म परिणाम होता है, वह पुद्गल (अजीव) पुण्य है । जीव के अशुभ परिणाम वह जीवपाप है तथा उनके निमित्त से पुद्गल का अप्रशस्त कर्म रूप परिणमन होना वह अजीव पाप है । जीव के मोह रागद्वेष रूप परिणाम जीव-आस्रव हैं । उनके निमित्त से योग द्वारा आने वाली पौद्गलिक कार्मण वर्गणा वह अजीव आस्रव है । जीव के मोह रागद्वेष रूप परिणाम का निरोध वह जीवसंवर है । उसके निमित्त से योग द्वारा प्रविष्ट होने वाली कार्मण वर्गणाओं का निरोध वह अजीवसंवर है । कर्म की शक्ति नष्ट करने में समर्थ ऐसा जीव का परिणाम सो जीवनिर्जरा है । उसके प्रभाव से पुद्गल कर्मों का नीरस होकर एकदेश संक्षय वह अजीव निर्जरा है । जीव के मोह-राग-द्वेष परिणाम वह जीवबन्ध है । उन परिणामों के निमित्त से कर्मों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन हो जाना अजीव बन्ध है । जीव की अत्यन्त शुद्धात्मोपलब्धि जीवमोक्ष है । पौद्गलिक सर्व कर्मों का जीव से अत्यन्त विश्लेष हो जाना वह अजीवमोक्ष है ।[2]

---

१. गो. जी. गा. ५६३ । २. पंचास्तिकाय गा. १०८ समयव्याख्या टीका ।

जीव के पुण्य और पाप ऐसे दो भेद

जीवदुगं उत्तट्ठं जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा ।
वदसहिदावि य पावा तव्विवरीया हवंतित्ति ।।६२२।।

गाथार्थ—जीव दो प्रकार के हैं एक पुण्यजीव और दूसरा पापजीव। सम्यग्दर्शन सहित हो और व्रत सहित भी हो वह पुण्यजीव है और इससे विपरीत पापजीव होता है।।६२२।।

विशेषार्थ—आगे गाथा ६२३ में मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या बतलाते हुए दोनों को पापी कहा गया है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि इन दोनों के विपरीताभिनिवेश है। वह किस प्रकार है, इसका विवेचन गाथा ६२३ की टीका में किया जायेगा। यहाँ पर तो यह बतलाया जा रहा है कि कौन जीव पुण्यात्मा है और कौन पापात्मा है ?

"सुह-असुह-भावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।"[1]

—शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव, पुण्य व पाप रूप होता है ।।१।।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी **मूलाचार में** कहा है—

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसाय-णिग्गहगुणेहि ।
जो परिणदो स पुण्णे तव्विवरीदेण पावं तु ।।५।४७।।

—जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, पंचमहाव्रत, कषायों का निग्रह इन गुणों से अर्थात् रत्नत्रय से परिणत है वह पुण्यजीव है और जो रत्नत्रय से परिणत नहीं है, वह पापजीव है।

रत्नत्रय में भी मुख्यता चारित्र की है क्योंकि "चारित्तं खलु धम्मो"[2] चारित्र ही वास्तव में धर्म है और मोक्षफल चारित्र रूप धर्मवृक्ष पर लगता है, न कि जड़ पर।

शंका—'द्रव्यसंग्रह' में शुभ से युक्त जीव को पुण्य कहा है, वहाँ शुभ से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—द्रव्यसंग्रह टीका में श्री ब्रह्मदेव सूरि ने शुभ के विषय में निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

उद्वममिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम् ।
भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि ।।१।।

पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् ।
दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरूद्योगम् ।।२।।[3]

—मिथ्यात्व रूपी विष का वमन करने वाला, सम्यग्दर्शन की भावना करने वाला, उत्कृष्ट भक्ति करने और भाव-नमस्कार में तत्पर, सदा ज्ञान में लीन, पंच महाव्रतों का रक्षक, क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह करने वाला, प्रबल इन्द्रियों का विजयी, तपसिद्धि में उद्योगी ऐसे शुभ से परिणत जीव पुण्यजीव होता है तथा इससे विपरीत पापात्मा होता है।

---

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह गा. ३८। २. प्रवचनसार गाथा ७। ३. बृहद् द्रव्यसंग्रह गा ३८ टीका।

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम् ।"[१]

—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है। जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है।

मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि का कथन

मिच्छाइट्ठी पावा णंताणंता य सासणगुणावि ।
पल्लासंखेज्जदिमा अणअण्णदरुदयमिच्छगुणा ।।६२३।।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि पापजीव हैं जो अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि भी पापजीव है, जो पल्य के असंख्यातवें भाग है। किसी एक अनन्तानुबन्धी का उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान (सासादन) में गिरता है ।।६२३।।

विशेषार्थ—मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान रूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं।[२]

सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहते हैं। जो इस आसादन से युक्त है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है। किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किन्तु जो मिथ्यात्व रूप परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ है किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थान के अभिमुख है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है।[३]

शंका—सासादन सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का उदय न होने से उसकी असत्य दृष्टि नहीं है, अतः वह पापजीव नहीं हो सकता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विपरीत-अभिनिवेश दो प्रकार का है। वह विपरीतअभिनिवेश मिथ्यात्व के निमित्त से भी होता है और अनन्तानुबन्धी कषायोदय से भी उत्पन्न होता है। सासादन गुणस्थान वाले के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पाया जाता है।[४] अतः अनन्तानुबन्धी जनित विपरीताभिनिवेश के कारण सासादन गुणस्थान वाला भी पापजीव है।

यह मिथ्यात्व गुणस्थान को नियम से प्राप्त होगा इसलिए इसको मिथ्यादृष्टि पापजीव ही कहते हैं।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषाय तो चारित्रमोहनीय कर्म है फिर वह सम्यग्दर्शन का कैसे घात कर सकती है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषाय द्विस्वभावी है।[५] इसलिए वह सम्यग्दर्शन का भी घात करती है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ६।३। २. धवल पु. १ पृ. १६२। ३. धवल पु. १ पृ. १६३। ४. धवल पु. १ पृ. ३६१। ५. धवल पु. ६ पृ. ४२।

पढमादिकसाया सम्मत्तं देस-सयल-चारित्तं ।
जहाखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ।।४५।।

[गोम्मटसार कर्मकाण्ड]

—प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का घात करती है, द्वितीय अप्रत्याख्यान कषाय देश-चारित्र का, तृतीय प्रत्याख्यान कषाय सकलचारित्र का और चतुर्थ संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती है।

शङ्का—अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रमोहनीय कर्म है तो वह किस चारित्र का घात करती है?

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का चारित्र में व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि अप्रत्याख्यान आदि के अनन्त उदय रूप प्रवाह के कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय के निष्फलत्व का विरोध है।[1]

प्रथम बारह गुणस्थानों में जीव संख्या

मिच्छा सावयसासण-मिस्साविरदा दुवारणंता य ।
पल्लासंखेज्जदिममसंखगुणं संखसंखगुणं ।।६२४।।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव दुवार अनन्त अर्थात् अनन्तानन्त हैं। श्रावक (संयतासंयत जीव) पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। उनसे असंख्यात गुणे सासादन गुणस्थान वाले जीव हैं। उनसे संख्यात गुणे मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) गुणस्थान वाले जीव हैं, उनसे भी असंख्यात गुणे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं ।।६२४।।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। अनन्त अनेक प्रकार का है—

णामं ट्ठवणा दवियं सस्सद गणणापदेसियमणंतं ।
एगो उभयादेसो वित्थारो सव्व भावो य ।।८।।[2]

—नामानन्त, स्थापनानन्त, द्रव्यानन्त, शाश्वतानन्त, गणनानन्त, अप्रदेशिक अनन्त, एकानन्त, उभयानन्त, विस्तारानन्त, सर्वानन्त और भावानन्त इस प्रकार अनन्त के ग्यारह भेद हैं।

(इन ग्यारह प्रकार के अनन्तों का स्वरूप धवल पुस्तक ३ पृ. ११ से १६ तक देखना चाहिए)

शंका—इन ग्यारह प्रकार के अनन्तों में से प्रकृत में किस अनन्त से प्रयोजन है?

समाधान—प्रकृत में गणनानन्त से प्रयोजन है।[3]

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि प्रकृत में गणनानन्त से प्रयोजन है?

---

१. धवल पु ६ पृ. ४३। २. धवल पु. ३ पृ. ११। ३. धवल पु. ३ पृ. १६।

समाधान—'मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं।' इत्यादि रूप से प्रमाण का प्ररूपण करने से जाना जाता है कि प्रकृत में गणनानन्त से प्रयोजन है। इस गणनानन्त के अतिरिक्त शेष दस प्रकार के अनन्त प्रमाण का प्ररूपण करने वाले नहीं हैं, क्योंकि उनमें गणना रूप से कथन नहीं देखा जाता।

शंका—यदि प्रकृत में गणनानन्त से प्रयोजन है तो गणनानन्त के अतिरिक्त शेष दस प्रकार के अनन्तों का प्ररूपण यहाँ पर क्यों किया है ?

समाधान— **अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा-णिमित्तं च।**
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ।।१२।।[1]

—अप्रकृत विषय का निवारण करने के लिए, प्रकृत विषय के प्ररूपण करने के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ का अवधारण करने के लिए यहाँ पर सभी अनन्तों का कथन किया गया है।

गणनानन्त तीन प्रकार का है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। 'मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त। अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत नहीं होते' इस सूत्र से जाना जाता है कि मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं।[2]

वह अनन्तानन्त भी तीन प्रकार का है—जघन्य अनन्तानन्त, उत्कृष्ट अनन्तानन्त, मध्यम अनन्तानन्त। 'जहाँ-जहाँ अनन्तानन्त देखा जाता है, वहाँ-वहाँ मध्यम अनन्तानन्त का ग्रहण होता है' इस आर्ष वचन से जाना जाता है कि यहाँ पर मध्यम अनन्तानन्त का ग्रहण है।[3]

शंका—वह मध्यम अनन्तानन्त भी अनन्त विकल्प रूप है। यहाँ कौनसा विकल्प ग्रहण करने योग्य है ?

समाधान—जघन्य अनन्तानन्त से अनन्त वर्गस्थान ऊपर जाकर और उत्कृष्ट अनन्तानन्त से अनन्त वर्गस्थान नीचे आकर यथासम्भव राशि यहाँ पर अनन्तानन्त से ग्रहण करने योग्य है। अथवा जघन्य अनन्तानन्त के तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर जो राशि उत्पन्न हो उससे अनन्तगुणी और छह द्रव्यों के प्रक्षिप्त करने पर जो राशि उत्पन्न हो उससे अनन्त गुणी हीन मध्यम अनन्त प्रमाण मिथ्यादृष्टि जीवों की राशि है।[4]

तीनबार वर्गित-संवर्गित राशि में सिद्ध, निगोद जीव, वनस्पति कायिक, पुद्गल, काल के समय और अलोकाकाश ये छहों अनन्तानन्त मिला देने चाहिए।[5] प्रक्षिप्त करने योग्य इन छह राशियों के मिला देने पर 'छह द्रव्य प्रक्षिप्त राशि' होती है। इस प्रकार तीन बार वर्गित संवर्गित राशि से अनन्तगुणे और छह द्रव्य प्रक्षिप्त राशि से अनन्तगुणे हीन इस मध्यम अनन्तानन्त की जितनी संख्या होती है, तन्मात्र मिथ्यादृष्टि जीवराशि है।[6]

---

१. धवल पु. ३ पृ. १७। २. धवल पु. ३ पृ. १८। ३. धवल पु. ३ पृ. १९। ४. धवल पु. ३ पृ. १९।
५. "सिद्धा णिगोदजीवा वणप्फदी कालो य पोग्गला चेय। सव्वमलोगागासं छप्पेदे णंतपक्खेवा।।" ति. प. ४/३१२; "सिद्ध णिगोद सहिय वणप्फदिपोग्गलपमा अणंतगुणा। काल अलोगागासं छच्चेदेणंतपक्खेवा।।" त्रि. सा. गा. ४९। ६. धवल पु. ३ पृ. २९।

असंयत सम्यग्दृष्टि के अवहार काल से सम्यग्मिथ्यादृष्टि का अवहारकाल असंख्यातगुणा है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियों के अवहारकाल से सासादन सम्यग्दृष्टि का अवहारकाल संख्यात गुणा है। सासादन सम्यग्दृष्टि के अवहारकाल से संयतासंयत का अवहारकाल असंख्यातगुणा है। संयतासंयत के अवहारकाल से संयतासंयत द्रव्य प्रमाण असंख्यात गुणा है। संयतासंयत प्रमाण के ऊपर सासादन सम्यग्दृष्टि का द्रव्य प्रमाण संयतासंयत के द्रव्य से असंख्यातगुणा है।

शंका—संयतासंयत गुणस्थान का उत्कृष्ट काल संख्यात वर्ष है और सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का उत्कृष्ट काल छह आवली है। अत: इनके उपक्रम काल आदिक अपने-अपने गुणस्थान-काल के अनुसार होते हैं, इसलिए सासादन सम्यग्दृष्टि के द्रव्यप्रमाण से संयतासंयत द्रव्यप्रमाण संख्यात गुणा होना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व और चारित्र के विरोधी सासादन गुणस्थान संबन्धी परिणामों से प्रत्येक समय में असंख्यात गुणी श्रेणी रूप से कर्मनिर्जरा के कारणभूत संयमासंयम परिणाम अतिदुर्लभ हैं। अत: प्रत्येक समय में संयमासंयम को प्राप्त होने वाली जीवराशि की अपेक्षा प्रत्येक समय में सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त होने वाली जीवराशि असंख्यातगुणी है।[1]

सासादन सम्यग्दृष्टि जीवराशि से सम्यग्मिथ्यादृष्टि द्रव्य का प्रमाण संख्यातगुणा है, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टि के छह आवली के भीतर होने वाले उपक्रमण काल से सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उपक्रमण काल संख्यातगुणा है। गुणाकार संख्यात समय है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि द्रव्य के ऊपर असंयत सम्यग्दृष्टि का द्रव्य उससे असंख्यात गुणा है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि के उपक्रमण काल से असंख्यात आवलियों के भीतर होने वाला असंयत सम्यग्दृष्टि का उपक्रमण काल असंख्यातगुणा है। अथवा प्रत्येक समय में सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होने वाली राशि से वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाली राशि असंख्यातगुणी है। तथा जिस कारण से वेदक सम्यग्दृष्टि का असंख्यातवाँ भाग मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और उसका भी असंख्यातवाँ भाग सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तथा 'सर्वदा अवस्थित राशियों का व्यय के अनुसार ही आय होना चाहिए' इस न्याय के अनुसार मोहनीय के अट्ठाईस कर्मों की सत्ता रखने वाले जितने जीव असंयत सम्यग्दृष्टि जीवराशि में से निकलकर मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं, उतने ही मिथ्यादृष्टि वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, इसलिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि के द्रव्य से असंयत सम्यग्दृष्टि का द्रव्य असंख्यात गुणा है, यह सिद्ध हो जाता है। यह व्याख्यान यहाँ पर प्रधान है। आवली का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है।[2]

शङ्का—ये जीवराशियाँ अवस्थित नहीं हैं, क्योंकि इन राशियों की हानि-वृद्धि होती रहती है। यदि कहा जाय कि इन राशियों की हानि और वृद्धि नहीं होती, सो भी ठीक नहीं है। यदि इन राशियों का आय और व्यय नहीं माना जाय तो मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। सासादन आदि गुणस्थानों का काल अनादि अपर्यवसित (अनन्त) भी नहीं है, इसलिए भी इन राशियों में हानि और वृद्धि होती है। यदि इन राशियों को अवस्थित माना जाए तो ये भागहार बन सकते हैं, अन्यथा नहीं, क्योंकि अनवस्थित राशियों के भागहारों का भी अनवस्थित रूप से ही सद्भाव माना जा सकता है ?

---

१. धवल पु. ३ पृ. ११६-११६। २. धवल पु. ३ पृ ११६-१२०।

समाधान—सासादन सम्यग्दृष्टि राशियों के त्रिकालविषयक उत्कृष्ट संचय का आश्रय लेकर प्रमाण कहा गया है, इसलिए उस अपेक्षा से वृद्धि और हानि नहीं है। अतः पूर्वोक्त भागहारों का कथन बन जाता है।[1] अंकसंदृष्टि द्वारा कथन इस प्रकार है—

पण्णट्ठी च सहस्सा पंचसया खलु छउत्तरा तीसं।
पलिदोवमं तु एवं वियाण संदिट्ठिणा दिट्ठं ॥३८॥

विसहस्सं अडयालं छण्णउदी चेय चदु सहस्साणि।
सोल सहस्साणि पुणो तिण्णिसया चउरसीदी या ॥३९॥

पंचसय बारसुत्तरमुद्दिट्ठाइं तु लद्ध दव्वाइं।
सासण—मिस्सासंजद - विरदाविरदाण णु कमेण ॥४०॥[2]

—पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस को पल्योपम मान कर कथन किया गया है। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवराशि का प्रमाण २०४८, सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण ४०९६, असंयत सम्यग्दृष्टि जीवराशि का प्रमाण १६३८४ और संयतासंयत जीवराशि का प्रमाण ५१२ आता है।

सासादन सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी भागहार ३२, सम्यग्मिथ्यादृष्टि संबन्धी भागहार १६, असंयत सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी भागहार ४ और संयतासंयत सम्बन्धी भागहार १२८ है।[3]

प्रमत्त व अप्रमत्त संयत जीवों की संख्या

तिरधिय-सय-णवणउदी छण्णउदी अप्पमत्त वे कोडी।
पंचेव य तेणउदी णवट्ठविसयच्छउत्तरं पमदे ॥६२५॥[4]

गाथार्थ—प्रमत्तसंयत जीवों का प्रमाण पाँच करोड़ तेरानवे लाख अट्ठानवे हजार दो सौ छह है और अप्रमत्तसंयत जीवों का प्रमाण दो करोड़ छयानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन है ॥६२५॥

विशेषार्थ—प्रमत्तसंयत जीवों का प्रमाण ५९३९८२०६ है और अप्रमत्त संयत जीवों का प्रमाण २९६९९१०३ है।

शंका—अप्रमत्तसंयत के द्रव्यप्रमाण से प्रमत्तसंयत का द्रव्यप्रमाण किस कारण से दूना है?

समाधान—क्योंकि अप्रमत्तसंयत के काल से प्रमत्तसंयत का काल दुगुणा है।[5]

चारों गुणस्थानों के उपशमक व क्षपक जीवों की संख्या

तिसयं भणंति केई चउरुत्तरमत्थपंचयं केई।
उवसामगपरिमाणं खवगाणं जाण तद्दुगुणं ॥६२६॥[6]

---

१. धवल पु. ३ पृ. ७०-७१। २. धवल पु. ३ पृ. ८८। ३. धवल पु. ३ पृ. ८८। ४. धवल पु. ३ पृ. ९० किन्तु "तिगहिय-सद" पाठ है और 'पमदे' के स्थान पर 'चेय' पाठ है। ५. धवल पु. ३ पृ. ९०। ६. धवल पु. ३ पृ. ९४ गा. ४५।

गाथार्थ—कितने ही आचार्य उपशमक जीवों का प्रमाण तीन सौ कहते हैं, कितने ही आचार्य तीन सौ चार (३०४) और कितने ही आचार्य तीन सौ चार में से पाँच कम (३०४—५) = २६६ कहते हैं। यह उपशमक जीवों का प्रमाण है। क्षपक जीवों का प्रमाण इससे दूना होता है ।।६२६।।

विशेषार्थ—आठ समयों में संचित हुए सम्पूर्ण जीवों को एकत्र करने पर सम्पूर्ण जीव छह सौ आठ होते हैं। संख्या के जोड़ करने की विधि इस प्रकार है—आठ को गच्छ रूप से स्थापित करके चौंतीस को आदि अर्थात् मुख करके और बारह को उत्तर अर्थात् चय करके **'पदमेगेण विहीणं'**[1] इत्यादि संकलन सूत्र के नियमानुसार जोड़ देने पर क्षपक जीवों का प्रमाण ६०८ प्राप्त होता है।[2]
(८—१ = ७; ७ ÷ २ = ३½; ७/२ × १२ = ४२, ४२ + ३४ = ७६; ७६ × ८ = ६०८)

उत्तरदलहय गच्छे पचयदलूणे सगादिमेत्थ पुणो ।
पक्खिविय गच्छगुणिदे उवसम-खवगाण परिमाणं ।।४४।।[3]

—उत्तर अर्थात् चय को आधा करके और उसको गच्छ से गुणित करके जो लब्ध प्राप्त हो, उसमें से प्रचय का आधा घटा देने पर और फिर स्वकीय आदि प्रमाण को इसमें जोड़ देने पर उत्पन्न राशि को पुनः गच्छ से गुणित करने पर उपशमक व क्षपक जीवों का प्रमाण आता है।

[क्षपकों की अपेक्षा आदि ३४, प्रचय १२, गच्छ ८। उपशमकों की अपेक्षा आदि १७, प्रचय ६, गच्छ ८; प्रचय १२ ÷ २ = ६; ६ × ८ गच्छ = ४८; ४८—१२/२ प्रचय का आधा = ४२; ४२ + ३४ आदि ७६; ७६ × ८ गच्छ = ६०८ क्षपक जीव। ६ ÷ २ = ३; ३ × ८ = २४; २४—३ = २१; २१ + १७ = ३८; ३८ × ८ = ३०४ उपशमक जीव] यह उत्तर मान्यता है। ६०८ में से १० निकाल देने पर दक्षिण मान्यता होती है।

चउरुत्तरतिण्णिसयं पमाणमुवसामगाण केई तु ।
तं चेव य पंचूणं भणंति केइं तु परिमाणं ।।४६।।[4]

—कितने ही आचार्य उपशमक जीवों का प्रमाण ३०४ कहते हैं और कितने ही आचार्य पाँच कम ३०४ अर्थात् २६६ कहते हैं।

एक-एक गुणस्थान में उपशमक और क्षपक जीवों का प्रमाण ८६७ है।

एक्केक्कगुणट्ठाणे अट्ठसु समएसु संचिदाणं तु ।
अट्ठसय सत्तणउदी उवसम-खवगाण परिमाणं ।।४६।।[5]

—एक-एक गुणस्थान में आठ समय में संचित हुए उपशमक और क्षपक जीवों का परिमाण आठ सौ सत्तानवे है।

---

१. "पदमेगेण विहीणं दु भाजिदं उत्तरेण संगुणिदं। पभवजुदं पदगुणिदं पदगणिदं तं विजाणाहि ।।१६४।।" [त्रि. सा. गा. १६४] २. धवल पु. ३ पृ. ६३। ३. धवल पु. ३ पृ. ६४। ४. धवल पु. ३ पृ. ६४। ५. धवल पु. ३ पृ. ६५।

अपने इस उत्कृष्ट प्रमाणवाले जीवों से युक्त सम्पूर्ण समय एक साथ नहीं प्राप्त होते अत: कितने ही आचार्य ३०४ में से पाँच कम करते हैं। पाँच कम का यह व्याख्यान प्रवाहरूप से आरहा है, दक्षिण है और आचार्य परम्परागत है। ३०४ का व्याख्यान प्रवाह रूप से नहीं आरहा है, वाम है, आचार्य परम्परा से अनागत है।[1]

प्रवेश की अपेक्षा आठ समयों में उपशमक जीवों की संख्या

सोलसयं चउवीसं तीसं छत्तीस तह य बादालं।
अडदालं चउवण्णं चउवण्णं होंति उवसमगे ॥६२७॥[2]

गाथार्थ – निरन्तर आठ समय पर्यन्त उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों में अधिक से अधिक प्रथम समय में सोलह, दूसरे समय में चौबीस, तीसरे समय में तीस, चौथे समय में छत्तीस, पाँचवें समय में बयालीस, छठे समय में अड़तालीस, सातवें समय में चौवन और अन्तिम अर्थात् आठवें समय में भी चौवन जीव उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं ॥६२७॥

विशेषार्थ—उपशम श्रेणी के प्रत्येक गुणस्थान में एक समय में चारित्रमोहनीय का उपशम करता हुआ जघन्य से एक जीव प्रवेश करता है और उत्कृष्ट से चौवन जीव प्रवेश करते हैं। यह कथन सामान्य से है। विशेष की अपेक्षा आठ समय अधिक वर्ष पृथक्त्व के भीतर उपशमश्रेणी के योग्य निरन्तर आठ समय होते हैं। उनमें से प्रथम समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्टरूप से सोलह जीव तक उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं। दूसरे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्टरूप से चौबीस जीव तक उपशमश्रेणी पर चढ़ते हैं। तीसरे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्टरूप से तीस जीव तक उपशमश्रेणी पर चढ़ते हैं। चौथे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से छत्तीस जीव तक उपशमश्रेणी पर चढ़ते हैं। पाँचवें समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से बयालीस जीव तक उपशमश्रेणी पर चढ़ते हैं। छठे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से अड़तालीस जीव तक उपशमश्रेणी पर चढ़ते हैं। सातवें और आठवें इन दोनों समयों में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्टरूप से चौवन-चौवन जीव तक उपशमश्रेणी पर चढ़ते हैं।[3]

प्रवेश की अपेक्षा आठ समयों में क्षपक जीवों की संख्या

बत्तीसं अडदालं सट्ठी बावत्तरी य चुलसीदी।
छण्णउदी अट्ठुत्तरसयमट्ठुत्तरसयं च खवगेसु ॥६२८॥[4]

गाथार्थ—निरन्तर आठ समय पर्यन्त क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों में प्रथम समय में बत्तीस, दूसरे समय में अड़तालीस, तीसरे समय में साठ, चौथे समय में बहत्तर, पाँचवें समय में चौरासी, छठे समय में छ्यानवे, सातवें समय में एकसौ आठ, आठवें समय में एक सौ आठ जीव क्षपक-श्रेणी पर चढ़ते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥६२८॥

विशेषार्थ—आठ समय अधिक छह महीना के भीतर क्षपकश्रेणी के योग्य आठ समय होते हैं। सामान्य रूप से प्ररूपणा करने पर जघन्य से एक जीव क्षपक गुणस्थान को प्राप्त होता है तथा

---

१. धवल पु. ३ पृ. ९२। २. धवल पु. ३ पृ. ९१। ३. धवल पु. ३ पृ. ९०-९१। ४. धवल पु. ३ पृ. ९३।

उत्कृष्ट रूप से एकसौ आठ जीव क्षपक गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। विशेष का आश्रय लेकर प्ररूपणा करने पर प्रथम समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से बत्तीस जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। दूसरे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से अड़तालीस जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। तीसरे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से साठ जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। चौथे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से बहत्तर जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। पाँचवें समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से चौरासी जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। छठे समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से छ्यानवे जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। सातवें और आठवें समय में एक जीव को आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से प्रत्येक समय में एक सौ आठ जीव तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं।[1]

सयोगकेवली की संख्या

अट्ठेव सयसहस्सा अट्ठाणउदी तहा सहस्साणं।
संखा जोगिजिणाणं पंचसयबिउत्तरं वंदे ॥६२६॥[2]

गाथार्थ—योगिजिनों की संख्या आठ लाख अठानवे हजार पाँचसौ दो है। इनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥६२६॥ (यह दक्षिण मान्यता है।)

विशेषार्थ—आठ समय अधिक छह माह के भीतर यदि आठ सिद्धसमय प्राप्त होते हैं तो चालीस हजार आठ सौ इकतालीस मात्र अर्थात् इतनी बार आठ समय अधिक छह माह के भीतर कितने सिद्धसमय प्राप्त होंगे? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर (४०८४१ × ८) तीन लाख छब्बीस हजार सातसौ अट्ठाईस (३२६७२८) सिद्धसमय प्राप्त होते हैं।[3]

छह सिद्धसमयों में तीन-तीन जीव और दो समयों में दो-दो जीव यदि केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं, तो आठ समयों में संचित हुए योगिजिन बावीस (२२) होते हैं। यदि आठ सिद्धसमयों में बावीस सयोगी जिन प्राप्त होते हैं तो तीन लाख छब्बीस हजार सात सौ अट्ठाईस (३२६७२८) सिद्धसमयों में कितने सयोगी प्राप्त होंगे। इस प्रकार त्रैराशिक करने पर (३२६७२८ ÷ ८ × २२) आठ लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ दो (८९८५०२) सयोगी जिन प्राप्त हो जाते हैं।

जहाँ पर पहले के सिद्धकाल का अर्ध मात्र सिद्धकाल प्राप्त होता है वहाँ पर इस प्रकार त्रैराशिक होती है। आठ सिद्धसमयों में यदि चवालीस सयोगी जिन प्राप्त होते हैं तो एक लाख त्रेसठ हजार तीनसौ चौसठ सिद्धसमयों में कितने सयोगी जिन प्राप्त होंगे, इस प्रकार त्रैराशिक करने पर पूर्वोक्त ८९८५०२ सयोगीजिनों की संख्या प्राप्त हो जाती है। अथवा जहाँ पूर्वसिद्धकाल का चौथा भाग ८१६८२ सिद्धसमय प्राप्त होते हैं वहाँ पर इस प्रकार त्रैराशिक होती है। आठ समयों में अठासी (८८) सयोगी जिन प्राप्त होते हैं तो इक्यासी हजार छहसौ बयासी मात्र सिद्धसमयों में कितने सयोगी जिन प्राप्त होंगे? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर वही पूर्वोक्त ८९८५०२ सयोगी जिनों

---

१. धवल पु. ३ पृ. ९२-९३। २. धवल पु. ३ पृ. ९६। ३. धवल पु.३ पृ. ९४।

की संख्या प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानकर कथन करना चाहिए।[1]

प्रमाणराशि	फलराशि	इच्छाराशि	लब्धप्रमाण
८ समय	२२ केवली	समय ३२६७२८	८९८५०२
८ समय	४४ केवली	समय १६३३६४	८९८५०२
८ समय	८८ केवली	समय ८१६८२	८९८५०२
८ समय	१७६ केवली	समय ४०८४१	८९८५०२

उत्तर-मान्यता अनुसार सयोगी जिनों की संख्या—आठ समय अधिक छह महीनों के भीतर यदि आठ सिद्धसमय प्राप्त होते हैं तो चार हजार सातसौ उनतीस बार आठ समय अधिक छह माह में कितने सिद्धसमय प्राप्त होंगे? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर सेंतीस हजार आठसौ बत्तीस मात्र सिद्धसमय प्राप्त होंगे। अब इस काल में संचित हुए सयोगी जिनों का प्रमाण कहते हैं, वह इस प्रकार है—आठ समयों में से प्रत्येक समय में चौदह-चौदह सयोगी जिन होते हैं। आठ समयों के (८×१४=११२) एकसौ बारह सयोगी जिन प्राप्त होते हैं तो सेंतीस हजार आठसौ बत्तीस सिद्धसमयों में कितने सयोगीजिन प्राप्त होंगे? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर पाँच लाख उनतीस हजार छहसौ अड़तालीस सयोगीजिन प्राप्त होते हैं।[2]

पंचेव सयसहस्सा होंति सहस्सा तहेव उणतीसा।
छच्च सया अडयाला जोगिजिणाणं हवदि संख्या।।५४।।[3]

—सयोगी जिन जीवों की संख्या पाँच लाख उनतीस हजार छहसौ अड़तालीस है। यह कथन उत्तर मान्यता के अनुसार है।

प्रमाण राशि	फल राशि	इच्छा राशि	लब्ध
६ माह ८ समय	८ समय	४७२९	३७८३२ समय
८ समय	११२ केवली	३७८३२ समय	५२९६४८ केवली

ज्ञान, वेद, अवगाहना आदि की अपेक्षा एक समय में क्षपकों की संख्या

होंति खवा इगिसमये बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य।
उक्कस्सेणट्ठुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा।।६३०।।

---

१. धवल पु.३ पृ. ९६-९७। २. व ३. धवल पु. ३ पृ. १००।

पत्तेय-बुद्धतित्थयरत्थिणउंसयमणोहिणाणजुदा ।
दसछक्कवीसदसवीसट्ठावीसं जहाकमसो ।।६३१।।
जेट्ठावरबहुमज्झिमग्रोगाहणगा दु चारि ग्रट्ठेव ।
जुगवं हवंति खवगा उवसमगा ग्रद्धमेदेसिं ।।६३२।।

गाथार्थ—एक समय में क्षपक उत्कृष्ट रूप से एक साथ बोधितबुद्ध १०८, पुरुषवेद १०८ स्वर्ग से च्युत होकर क्षपकश्रेणी चढ़नेवाले १०८।।६३०।। प्रत्येकबुद्ध १०, तीर्थंकर ६, स्त्रीवेदी २०, नपुंसक वेदी १०, मनः पर्ययज्ञानी २०, ग्रवधिज्ञानी २८।।६३१।। उत्कृष्ट ग्रवगाहना वाले २, जघन्य ग्रवगाहना के धारक ४, बहु मध्यम ग्रवगाहना वाले ८, ये सब मिलकर क्षपक होते हैं। उपशमश्रेणी वाले इनसे ग्राधे होते हैं ।।६३२।।

विशेषार्थ—एक समय में एक साथ छह तीर्थंकर क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। दस प्रत्येक बुद्ध, एकसौ ग्राठ (१०८) बोधितबुद्ध ग्रौर स्वर्ग से च्युत होकर ग्राये हुए एकसौ ग्राठ जीव क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। उत्कृष्ट ग्रवगाहना वाले दो जीव क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। जघन्य ग्रवगाहना वाले चार ग्रौर ठीक मध्य ग्रवगाहना वाले ग्राठ जीव एक साथ क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं। पुरुषवेद के उदय के साथ एकसौ ग्राठ, नपुंसकवेदोदय से दस ग्रौर स्त्रीवेदोदय से बीस जीव क्षपकश्रेणी पर चढते हैं। इन उपर्युक्त जीवों के ग्राधे प्रमाण जीव उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं। चूंकि ज्ञान, वेद ग्रादि सर्व विकल्पों में उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों से क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाले जीव दुगुणे होते हैं।[1]

सर्व संयमी जीवों की संख्या का प्रमाण

सत्तादी ग्रट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे ।
ग्रंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ।।६३३।।[2]

गाथार्थ—जिस संख्या के ग्रादि में सात है ग्रौर ग्रन्त में ग्राठ ग्रौर बीच में नौ-नौ के ग्रंक छह हैं (८९९९९९९७) वह सर्व संयतों की संख्या है[3]। इनको मैं मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक ग्रंजलि रूप से हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ ।।६३३।। (यह दक्षिण मान्यता के ग्रनुसार कथन है।)

---

१. धवल पु. ५ पृ ३२३। २ धवल पु. ३ पृ. ९८ गा. ५१ किन्तु उत्तरार्ध इस प्रकार है—"तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु।।" ३. यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि संयतों की यह संख्या कभी भी एक समय में न जानकर विवक्षा-भेद से यह संख्या कही जाननी चाहिए। कारण कि न तो उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानों में से प्रत्येक में एक ही समय में ग्रपने-ग्रपने गुणस्थान की संख्या प्राप्त होना सम्भव है ग्रौर न क्षपक श्रेणी के चारों गुणस्थानों में से प्रत्येक में एक ही समय में ग्रपने-२ गुणस्थान की उत्कृष्ट संख्या प्राप्त होना सम्भव है। हाँ, उपशम श्रेणी ग्रौर क्षपकश्रेणी के प्रत्येक गुणस्थान में, क्रम से ग्रपने-ग्रपने गुणस्थान की संख्या का कालभेद से ग्रवश्य प्राप्त होना सम्भव है। कारण कि जो जीव ८ समयों में इन श्रेणियों के ग्राठवें गुणस्थान में चढ़े वे ही तो ग्रन्तर्मुहूर्त बाद नौवें गुणस्थान में पहुँचते हैं। इसी प्रकार ग्रागे भी जानना चाहिए ग्रौर इस प्रकार समयभेद से ग्रन्तर्मुहूर्त के भीतर सब संयतों की उक्त संख्या बन जाती है; यहाँ ऐसा ग्रभिप्राय समझना चाहिए। [स. सि. ज्ञानपीठ तृतीय संस्करण का सम्पादकीय पृ. ५-६]

विशेषार्थ—शङ्का—सम्पूर्ण तीर्थंकरों की अपेक्षा श्री पद्मप्रभ भट्टारक का शिष्य-परिवार अधिक था, क्योंकि वे तीन लाख तीस हजार (३३००००) मुनिगणों से वेष्टित थे। इस संख्या को एकसौ सत्तर से गुणा करने पर पाँच करोड़ इकसठ लाख संयत होते हैं। परन्तु यह संख्या गाथा में कहे गये संयतों के प्रमाण को नहीं प्राप्त होती। इसलिए यह गाथा ठीक नहीं है।

समाधान—सम्पूर्ण अवसर्पिणियों की अपेक्षा यह हुण्डावसर्पिणी है, इसलिए युग के माहात्म्य से घटकर ह्रस्व भाव को प्राप्त हुए हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी तीर्थंकरों के शिष्य-परिवार को ग्रहण करके गाथा सूत्र को दूषित करना शक्य नहीं है, क्योंकि शेष अवसर्पिणियों में तीर्थंकरों के बड़ा शिष्य-परिवार पाया जाता है। दूसरे, भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों की अधिक संख्या नहीं पाई जाती है, जिससे उन दोनों क्षेत्र सम्बन्धी एक तीर्थंकर के संघ के प्रमाण से विदेह सम्बन्धी तीर्थंकर का संघ समान हो। किन्तु भरत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों से विदेहक्षेत्र के मनुष्य संख्यात गुणे हैं। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अन्तरद्वीपों के मनुष्य सबसे कम हैं। उत्तरकुरु देवकुरु के मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं। उनसे संख्यातगुणे हरि और रम्यक क्षेत्र के मनुष्य हैं। उनसे संख्यातगुणे हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य हैं। उनसे संख्यातगुणे भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य हैं। उनसे संख्यातगुणे विदेहक्षेत्र के मनुष्य हैं। बहुत मनुष्यों में संयत जीव बहुत ही होंगे इसलिए इस क्षेत्र सम्बन्धी संयतों के प्रमाण को प्रधान करके जो दूषण कहा गया है, वह ठीक नहीं है।[1] उत्तर मान्यता का कथन इस प्रकार है—

चउसट्ठी छच्च सया छासट्ठिसहस्स चेव परिमाणं।
छासट्ठिसयसहस्सा कोडिचउक्कं पमत्ताणं ।।५२।।[2]

—[उत्तर मान्यता के अनुसार] प्रमत्तसंयतों का प्रमाण चार करोड़ छयासठ लाख छयासठ हजार छहसौ चौसठ (४६६६६६६४) है।

वे कोडि सत्तवीसा होंति सहस्सा तहेव णवणउदी।
चउसव अट्ठाणउदी परिसंखा होदि विदियगुणे ।।५३।।[3]

—[उत्तर मान्यता के अनुसार] द्वितीय गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्त संयत जीवों की संख्या दो करोड़ सत्ताईस लाख निन्यानवे हजार चारसौ अट्ठानवे [२२७९९४९८] है।

पंचेव सयसहस्सा होंति सहस्सा तहेव तेत्तीसा।
अट्ठसया चोत्तीसा उवसम-खवगाण केवलिणो ।।५५।।[4]

—[उत्तर मान्यता के अनुसार] चारों उपशमक, पाँचों क्षपक और केवली ये तीनों राशियाँ मिलकर कुल पाँच लाख तेंतीस हजार आठसौ चौंतीस है (५३३८३४)।

इन सब संयतों को एकत्र करने पर एक सौ सत्तर कर्म भूमिगत सम्पूर्ण ऋषि होते हैं।

---

१. ध.पु.३ पृ. ९८-९९। २. धवल पु. ३ पृ. ९९। ३. ध. पु. ३ पृ. १००। ४. धवल पु. ३ पृ. १०१।

(प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले जीव ४६६६६६६४ + अप्रमत्त संयत सातवें गुणस्थान वाले २२७९९४९८ + चारों उपशमक-पाँचों क्षपक-केवली ५३३८३४ = ६९९९९९९६ सब संयत होते हैं।)

छक्कादी छक्कंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु ॥५६॥[1]

—जिस संख्या के आदि में छह, अन्त में छह और मध्य में छह बार नौ है (६९९९९९९६) उतने सम्पूर्ण संयत है। इसमें तीन का भाग देने पर अप्रमत्तसंयत (सातवें गुणस्थान, १४वें गुणस्थान तक) जीव होते हैं। और इस तीसरे भाग को दो से गुणा करने पर प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। (६९९९९९९६ ÷ ३ = २३३३३३३२ सर्व अप्रमत्त संयत; २३३३३३३२ × २ = ४६६६६६६४ प्रमत्तसंयत जीव होते हैं। यह उत्तर मान्यता के अनुसार कथन है।)

इस प्रकार उत्तर व दक्षिण मान्यताओं में परस्पर भेद है।

चारों गतियों के प्रथम चार गुणस्थानों सम्बन्धी अवहार काल अर्थात्
भागहार का तथा परस्पर अल्पबहुत्व का कथन

ओघासंजदमिस्सयसासणसम्माणभागहारा जे।
रूऊणावलियासंखेज्जेणिह भजिय तत्थ णिक्खित्ते ॥६३४॥

देवाणं अवहारा होंति असंखेण ताणि अवहरिय।
तत्थेव य पक्खित्ते सोहम्मीसाण अवहारा ॥६३५॥

सोहम्मसाणहारमसंखेण य संखरूवसंगुणिदे।
उवरि असंजद-मिस्सय-सासण-सम्माण अवहारा ॥६३६॥

सोहम्मादासारं जोइसि-वण-भवण-तिरियपुढवीसु।
अविरद-मिस्से संखं संखासंखगुण सासणे देसे ॥६३७॥

चरमधरासाणहरा आणद-सम्माण आरणप्पहुदि।
अंतिमगेवेज्जंतं सम्माणमसंखसंख-गुणहारा ॥६३८॥

तत्तो ताणुत्ताणं वामाणमणुद्दिसाण विजयादि।
सम्माणं संखगुणो आणदमिस्से असंखगुणो ॥६३९॥

तत्तो संखेज्जगुणो सासणसम्माण होदि संखगुणो।
उत्तट्ठाणे कमसो पणछस्सत्तट्ठचदुरसंदिट्ठी ॥६४०॥

---

१. धवल पु. ३ पृ. १०१।

सगसगअवहारेहिं पल्ले भजिदे हवंति सगरासी।
सगसगगुणपडिवण्णे सगसगरासीसु अवणिदे वामा।।६४१।।

गाथार्थ६३४-६४१—गुणस्थानगत द्रव्यप्रमाण में असंयत सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों के भागहारों का जो प्रमाण कहा गया है, उसमें एक कम आवली के असंख्यातवें भाग का अर्थात् आवली के असंख्यातवें भाग में से एक कम का भाग देकर, लब्ध को भागहार में मिला देने पर देवगति-सम्बन्धी भागहार होता है। उसे पुनः असंख्यात से भागदेकर और उसी में मिलाने पर सौधर्म-ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी भागहार का प्रमाण प्राप्त होता है।।६३४-६३५।। सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के असंयत गुणस्थान सम्बन्धी भागहार को असंख्यात से गुणा करने पर मिश्र गुणस्थान का भागहार होता है। मिश्र गुणस्थान सम्बन्धी भागहार को संख्यात से गुणा करने पर सासादनगुणस्थान का भागहार होता है। अथवा सौधर्म-ऐशान के सासादन सम्बन्धी अवहार-काल को असंख्यात से गुणा करने पर सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देवों के असंयत सम्यग्दृष्टि का अवहार काल प्राप्त होता है। उसको असंख्यात से गुणा करने पर मिश्र गुणस्थान का अवहारकाल होता है। इसको संख्यात से गुणा करने पर सासादन का अवहारकाल होता है ।।६३६।। यह क्रम सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, तिर्यंच, सातों नरक पृथिवियों में अविरत के अवहार काल से मिश्रगुणस्थान का अवहार काल असंख्यात गुणा होता है। इसको संख्यात से गुणा करने पर सासादन गुणस्थान का अवहारकाल होता है। इसको असंख्यात से गुणा करने पर देशसंयत गुणस्थान का अवहार काल अर्थात् गुणाकार होता है ।।६३७।। चरम अर्थात् सप्तम पृथ्वी के सासादन भागहार से आनत-प्राणत स्वर्ग के असंयत का भागहार असंख्यात गुणा है। इसके आगे आरण अच्युत का और आरण-अच्युत से लेकर अन्तिम-ग्रैवेयक पर्यन्त असंयत सम्यग्दृष्टि का भाग-हार संख्यात गुणा है ।।६३८।। अन्तिम-ग्रैवेयक के असंयत सम्यग्दृष्टियों के भागहार को संख्यात से गुणित करने पर आनतप्राणत स्वर्ग के मिथ्यादृष्टियों का भागहार होता है। पुनः इसे उत्तरोत्तर संख्यात गुणा करते जाने पर आगे के स्वर्गों के मिथ्यादृष्टियों का भागहार प्राप्त होता है। यह क्रम अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त ले जाना चाहिए। अन्तिम ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी भागहार को संख्यात से गुणा करने पर नव अनुदिश के असंयत सम्यग्दृष्टियों का भागहार होता है। नव अनुदिश के भागहार को संख्यात से गुणा करने पर विजय-वैजयन्त-जयन्त और अपराजित विमानों के असंयत सम्यग्दृष्टि का भागहार होता है। विजयादिक सम्बन्धी असंयत के भागहार को असंख्यात से गुणा करने पर आनत-प्राणत स्वर्ग सम्बन्धी सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का भागहार होता है ।।६३९।। इस मिश्र भागहार से आरण-अच्युत आदि नवम ग्रैवेयक पर्यन्त दस स्थानों में मिश्र सम्बन्धी भागहार का प्रमाण क्रम से संख्यातगुणा संख्यातगुणा है। यहाँ पर संख्यात की सहनानी आठ का अंक है। अन्तिम ग्रैवेयक के मिश्र सम्बन्धी भागहार से आनतप्राणत से लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यन्त ग्यारह स्थानों में सासादन सम्यग्दृष्टि के भागहार का प्रमाण क्रम से संख्यात-संख्यात गुणा है। इन पूर्वोक्त पाँच स्थानों में संख्यात की सहनानी क्रम से ५, ६, ७, ८ और ४ है ।।६४०।। अपने-अपने भागहार से पल्योपम को भाजित करने पर अपनी-अपनी राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। अपनी-अपनी सामान्य राशि में गुणस्थान प्रतिपन्न जीवराशि घटाने पर मिथ्यादृष्टि जीवराशि प्राप्त होती है ।।६४१।।

विशेषार्थ गा. ६३४-६४१—एक कम अधस्तन विरलन का (एक कम आवली के असंख्यातवें भाग का) ऊपर विरलित ओघ असंयत सम्यग्दृष्टि के अवहारकाल (भागहार) में भाग देने पर

आवली के असंख्यातवें भाग मात्र प्रक्षेप शलाकाएँ प्राप्त होती हैं। उन प्रक्षेपशलाकाओं की ओघ असंगत सम्यग्दृष्टि के अवहार काल मिला देने पर देव असंयत सम्यग्दृष्टि अवहारकाल का प्रमाण प्राप्त होता है।[1]

देव असंयत सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवराशि सम्बन्धी अवहारकाल होता है। क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि के उपक्रमण काल से सम्यग्मिथ्यादृष्टि का उपक्रमण काल असंख्यात गुणा हीन है। देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी अवहारकाल को संख्यात से गुणित करने पर देव सासादन सम्यग्दृष्टि जीवराशि सम्बन्धी अवहार काल प्राप्त होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि के उपक्रमण काल से सासादन-सम्यग्दृष्टि का उपक्रमण काल संख्यातगुणा हीन है। अथवा सम्यग्मिथ्यात्व-गुणस्थान को प्राप्त होने वाली जीवराशि के संख्यातवें भाग मात्र उपशम-सम्यग्दृष्टि जीव सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। इसलिए भी देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अवहार काल से देव सासादन सम्यग्दृष्टि का अवहार काल संख्यात गुणा है।[2]

देव असंयत सम्यग्दृष्टि अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित करके उनमें से एक खण्ड को उसी देव असंयत सम्यग्दृष्टि अवहार काल में मिला देने पर सौधर्म और ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहार काल होता है। इसे आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर सौधर्म और ऐशान सम्बन्धी सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का अवहारकाल होता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के उपक्रमकाल से सम्यग्मिथ्यादृष्टियों के उपक्रमकाल में भेद है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियों के अवहारकाल को संख्यात से गुणित करने पर सौधर्म और ऐशान सम्बन्धी सासादनसम्यग्दृष्टियों का अवहार काल होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टियों के उपक्रमण-काल से सासादन सम्यग्दृष्टियों के उपक्रमणकाल में भेद है। अथवा उक्त दोनों गुणस्थानों को प्राप्त होने वाली राशियों में विशेषता है। सौधर्म और ऐशान सासादनसम्यग्दृष्टियों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर सानत्कुमार और माहेन्द्र असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहार काल होता है, क्योंकि ऊपर शुभ कर्मों की बहुलता होने से बहुत जीव नहीं पाये जाते हैं। इसी प्रकार शतार-सहस्रार कल्प तक ले जाना चाहिए। उन शतार-सहस्रार कल्प के सासादन सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर ज्योतिषी असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहार काल होता है, क्योंकि वहाँ पर व्युद्ग्राहित आदि मिथ्यात्व के साथ उत्पन्न हुए और जिनशासन के प्रतिकूल देवों में सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले बहुत जीवों का अभाव है।[3] उन असंयत सम्यग्दृष्टि ज्योतिषीदेवों के अवहारकाल को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि ज्योतिषियों का अवहार काल होता है। इसे संख्यात से गुणित करने पर सासादनसम्यग्दृष्टि ज्योतिषियों का अवहारकाल होता है। इसी प्रकार वाणव्यन्तर और भवनवासी देवों में क्रम से अवहारकाल ले जाना चाहिए, क्योंकि जिनकी दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित है उनमें बहुत सम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[4]

भवनवासी सासादन सम्यग्दृष्टियों के अवहार काल से तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि का अवहार-

---

१. धवल पु. ३ पृ. १५६। २. धवल पु. ३ पृ. १५६-१६०। ३. धवल पु. ३ पृ. २८२-२८३। ४. धवल पु. ३ पृ. २८३।

काल असंख्यातगुणा है। इससे उन्हीं के सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का अवहारकाल असंख्यात गुणा है। इससे उन्हीं के सासादन सम्यग्दृष्टि का अवहार काल संख्यातगुणा है। इससे उन्हीं के संयतासंयत का अवहारकाल असंख्यातगुणा है।[1] तिर्यंच संयतासंयतों के अवहार काल से प्रथम नरक पृथिवी के असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल असंख्यात गुणा है। इससे उन्हीं के सम्यग्मिथ्यादृष्टि का अवहारकाल असंख्यातगुणा है। इससे उन्हीं के सासादन सम्यग्दृष्टि का अवहार काल संख्यात गुणा है।[2] इसी प्रकार दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं नरक पृथिवी तक लेजाना चाहिए।

सातवीं पृथिवी के सासादन सम्यग्दृष्टि अवहार काल से आनत-प्राणत के असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल असंख्यात गुणा है,[3] क्योंकि शुभ कर्म वाले दीर्घायु जीव बहुत नहीं होते। इस अवहार काल को संख्यात से गुणित करने पर आरण-अच्युत कल्पवासी असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल होता है, क्योंकि उपरिम-उपरिम कल्पों में उत्पन्न होने वाले शुभ कर्मों की अधिकता से दीर्घायुवाले जीवों से नीचे-नीचे के कल्पों में स्तोक पुण्य से स्तोक भवस्थिति में उत्पन्न होने वाले जीव अधिक पाये जाते हैं। नीचे-नीचे अधिक जीव होते हुए भी वे संख्यात गुणे ही होते हैं। क्योंकि ऊपर के कल्पों में उत्पन्न होने वाले जीवों के लिए मनुष्यराशि बीजभूत है और मनुष्यराशि संख्यात ही होती है अतः ऊपर-ऊपर के कल्पों से नीचे के कल्पों में जीव संख्यातगुणे हैं। यहाँ पर गुणकार संख्यात समय है। यही क्रम उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक के असंयत सम्यग्दृष्टि अवहार काल तक लेजाना चाहिए।[4] उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक के असंयत सम्यग्दृष्टि अवहारकाल से आनत-प्राणत के मिथ्यादृष्टियों का अवहार-काल संख्यातगुणा है। इससे आरण अच्युत के मिथ्यादृष्टियों का अवहारकाल संख्यातगुणा है। इसी प्रकार उपरिम-उपरिम (अन्तिम) ग्रैवेयक तक लेजाना चाहिए। उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि अवहारकाल से अनुदिश के असंयत सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल संख्यातगुणा है। इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन अनुत्तरवासी देवों का असंयत सम्यग्दृष्टि-अवहारकाल संख्यातगुणा है यहाँ पर भी सर्वत्र गुणकार संख्यात समय है। इससे आनतप्राणत सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का असंख्यातगुणा है, गुणकार आवली का असंख्यातवाँ भाग है। इससे आरण-अच्युत के सम्यग्मिथ्यादृष्टियों का अवहार काल संख्यातगुणा है।[5] इसी प्रकार उपरिम-उपरिम (अन्तिम) ग्रैवेयक पर्यन्त लेजाना चाहिए। उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक के सम्यग्मिथ्यादृष्टि अवहारकाल से आनत-प्राणत के सासादन सम्यग्दृष्टि का अवहार काल संख्यातगुणा है। इससे आरण-अच्युत सासादन-सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल संख्यातगुणा है। इसी प्रकार उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त लेजाना चाहिए।[6] सर्वत्र गुणकार संख्यात समय है।

उपरिम-उपरिम (अन्तिम) ग्रैवेयक सासादन अवहारकाल से उन्हीं का द्रव्य प्रमाण असंख्यात गुणा है, क्योंकि अवहारकाल से पल्योपम को खण्डित करने पर द्रव्यप्रमाण प्राप्त होता है। इस द्रव्यप्रमाण से उपरिम मध्यम ग्रैवेयक के सासादन सम्यग्दृष्टियों का द्रव्य संख्यातगुणा है। इस प्रकार अवहारकाल के प्रतिलोम क्रम से जब तक सौधर्म और ऐशान कल्प के असंयतसम्यग्दृष्टियों का द्रव्य प्राप्त हो तब तक ले जाना चाहिए। सौधर्म द्विक के असंयत सम्यग्दृष्टि द्रव्य से पल्योपम असंख्यातगुणा है। अपना अवहारकाल गुणकार है।[7]

---

१. धवल पु. ३ पृ. २६८-२६६। २. धवल पु. ३ पृ. २६६। ३. धवल पु. ३ पृ. २६६। ४. धवल पु. ३ पृ. २८३। ५. धवल पु. ३ पृ. २६६। ६. धवल पु.३ पृ. ३००। ७. धवल पु. ३ पृ. २६६ व ३००।

मनुष्य गति में गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों का प्रमाण

तेरसकोडी देसे बावण्णं सासणे मुणेदव्वा ।
मिस्से वि य तद्दुगुणा असंजदा सत्तकोडिसयं ।।६४२।।[1]

गाथार्थ—देशसंयत गुणस्थान में तेरह करोड़ मनुष्य, सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बावन करोड़ मनुष्य, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में सासादन से दुगुणे अर्थात् १०४ करोड़ मनुष्य और असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य सातसौ करोड़ हैं ।।६४२।।

विशेषार्थ—सासादन सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थानवर्ती मनुष्य-राशि संख्यात है, ऐसा सामान्य रूप से कथन करने पर, सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्य बावन करोड़ हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्य सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्यों के प्रमाण से दूने हैं अर्थात् एकसौ चार करोड़ हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि सातसौ करोड़ हैं। संयतासंयत मनुष्यों का प्रमाण तेरह करोड़ है। कहा भी है

तेरह कोडी देसे बावण्णं सासणे मुणेयव्वा ।
मिस्से वि य तद्दुगुणा असंजदे सत्तकोडिसया ।।६८।।[2]

किन्तु कितने ही आचार्य निम्नलिखित गाथा के आधार पर सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्यों का प्रमाण पचास करोड़ कहते हैं।

तेरह कोडी देसे पण्णासं सासणे मुणेयव्वा ।
मिस्से वि य तद्दुगुणा असंजदे सत्तकोडिसया ।।६९।।[3]

—मनुष्यों में सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्यों की संख्या के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक बावन करोड़ का दूसरा पचास करोड़ का। किन्तु इनमें से बावन करोड़ की मान्यता आचार्य-परम्परागत होने से स्वीकार की गई है।

पुण्य व पाप कर्मों का कथन

जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्णं तु ।
सुहपयडीणं दव्वं पावं असुहाण दव्वं तु ।।६४३।।

गाथार्थ—जीवेतर अर्थात् अजीव पदार्थ में कार्मण वर्गणा पुण्य व पाप दो प्रकार की होती है। शुभ प्रकृतियाँ द्रव्य पुण्य हैं। अशुभ प्रकृतियाँ द्रव्य पाप हैं ।।६४३।।

विशेषार्थ—जीव और अजीव दोनों पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। पुण्य जीव व पाप जीव का कथन गा. ६२२ में हो चुका है। यहाँ पर अजीव पुण्य-पाप अर्थात् पुण्य द्रव्यकर्म व पाप द्रव्यकर्म का कथन है। पुण्य प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

सातावेदनीय, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु ये तीन आयु, मनुष्य द्विक (मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी) देवद्विक (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी), पाँच शरीर, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान,

---

१. धवल पु. ३ पृ. २५४। २. व ३. धवल पु. ३ पृ. २५२।

औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग ये तीन अंगोपांग, प्रशस्त विहायोगति, आदि संहनन अर्थात् वज्र वृषभ नाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, त्रसचतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र ये ४२ प्रशस्त, शुभ या पुण्य-प्रकृतियाँ हैं।[1]

पाप प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरण की पाँच, अन्तराय की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की छब्बीस, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आदि के बिना शेष पाँचों संस्थान, आदि के बिना शेष पाँचों संहनन, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, एकेन्द्रियजाति, नरकायु, तीन विकलेन्द्रिय जातियाँ, असातावेदनीय अपर्याप्त, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, दुर्भग, दुःस्वर, अयशःकीर्ति, अनादेय, अस्थिर, अशुभ और नीचगोत्र; ये बयासी अप्रशस्त या अशुभ या पाप प्रकृतियाँ हैं।[2]

शंका—चूंकि सब कार्मण वर्गणाएँ पौद्गलिक होने से एक प्रकार की हैं अतः उनमें से कुछ कर्मप्रकृतियों को पुण्य और कुछ को पाप नहीं कहा जा सकता?

समाधान—भिन्न-भिन्न कर्मों में भिन्न-भिन्न फल देने की शक्ति के कारण अर्थात् अनुभाग के कारण उन प्रकृतियों में भेद है। कहा भी है—

जिन प्रकृतियों की फलदान-शक्ति अर्थात् अनुभाग गुड़, खांड, शक्कर, अमृत के तुल्य उत्तरोत्तर मिष्ट होते हैं वे पुण्यकर्मप्रकृतियाँ हैं। जिनका अनुभाग इससे विपरीत नीम, कांजीर, विष, हलाहल के समान उत्तरोत्तर कटुक हो वे पाप कर्मप्रकृतियाँ हैं।[3]

शङ्का—पुण्यकर्म से मात्र रसना इन्द्रिय को मिठास का स्वाद आता है या अन्य भी कुछ लाभ है?

समाधान—गुड़, खाण्ड, शक्कर, अमृत मात्र उपमारूप है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अमृत-पान करने से मनुष्य अजरअमर हो जाता है इसी प्रकार पुण्य कर्मोदय की सहकारिता से जीव अजर अमर हो जाता है अर्थात् अर्हन्त व सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—**"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादि।"**[4]

—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है जैसे सातवेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियाँ।

शंका—पुण्यकर्म तो आस्रव बन्ध रूप है। आस्रव व बन्ध हेय तत्त्व हैं, क्योंकि संसार को बढ़ाने वाले हैं। ऐसा पुण्यकर्म आत्मा को कैसे पवित्र कर सकता है?

समाधान—सभी कर्मप्रकृतियाँ संसारवृद्धि की कारण नहीं होतीं। कुछ ऐसी भी हैं जो मोक्ष की कारण हैं। सोलह कारण भावना जो तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव व बन्ध की कारण हैं, उन सोलह

---

१. प्रा. पं. सं पृ. २६५ गाथा ४५३-४५५। २. प्रा. पं. सं. पृ. २६६ गाथा ४५६-४५९। ३. प्रा. पं. सं. पृ. २७६। ४. स. सि. ६/३।

कारण भावनाओं की दिगम्बर जैन परम्परा में पूजन होती है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होकर, उदय आने पर मनुष्य को अरहन्त पद की प्राप्ति होती है और धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति होती है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

"पुण्णफला अरहंता।" ।।४५।।[1] अर्थात् अरहन्त पद पुण्यकर्म का फल है।

"मनुष्यगतौ केवलज्ञानोपलक्षितजीवद्रव्यसहकारिकारणसंबंधप्रारंभस्यानंतानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविशेषविभूतिकारणस्य त्रैलोक्यविजयकरस्य तीर्थंकरनामगोत्रकर्मणः कारणानि षोडशभावना भावयितव्या इति ।।[2]

इस संसार में तीर्थंकर नामकर्म मनुष्यगति में जीव को केवलज्ञान उत्पन्न करने में कारण है तीर्थंकर कर्म के उदय का प्रभाव अनन्त व अनुपम है। वह अचिन्त्य विभूति का कारण है और तीनों लोकों की विजय करने वाला है। इसलिए उस तीर्थंकर नाम कर्म की कारणभूत सोलह भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः श्रीरायुरप्रमित-रूपसमृद्धयो गौः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ-आर्हन्त्यमन्त्य-रहिताखिलसौख्यमग्र्यम् ।।१६।७२।।[3]

—सुर-असुर, मनुष्य और नाग इनके इन्द्रिय आदि के उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ-आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर पुनः संसार में जन्म न लेना पड़े ऐसा अरहन्त पद और अनन्त समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सब की प्राप्ति पुण्यकर्म से होती है।

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं
पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ।।३०।१२६।।[4]

—पुण्यकर्म से सर्वविजयी चक्रवर्ती की लक्ष्मी, इन्द्र की दिव्य लक्ष्मी मिलती है, पुण्यकर्म से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्य कर्म से मिलती है। इस प्रकार यह जीव पुण्यकर्म से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है। इसलिए हे सुधी! तुम भी जिनेन्द्र भगवान के पवित्र आगम के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो।

"पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादि-सुख-खानयः।"[5] ये पुण्य कर्मप्रकृतियाँ तीर्थंकर आदि पदों के सुख देने वाली हैं।

शङ्का—अरहंतपद व मोक्षसुख आत्म-परिणामों से प्राप्त होते हैं तथा कर्मों के क्षय से प्राप्त होते हैं, इनमें पुण्य कर्म कैसे सहकारी कारण हो सकता है, कर्म तो बाधक कारण है।

---

१. प्रवचनसार। २. चारित्र सार पृ० ५०। ३ व ४ महापुराण। ५. मूलाचार प्रदीप पृ. २००।

समाधान—मनुष्य गति, वज्रवृषभनाराच संहनन, उच्चगोत्र आदि पुण्य प्रकृतियों के स्वमुख उदय बिना आज तक किसी भी जीव को मोक्षसुख प्राप्त नहीं हुआ है और न होगा। जितने भी अबतक मोक्षगये हैं या भविष्य में जावेंगे, उनके मनुष्य गति, वज्रवृषभनाराचसंहनन और उच्चगोत्र आदि पुण्यप्रकृतियों का उदय था, व उदय अवश्य होगा।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होजाने पर अधिक से अधिक तीसरे भव में अवश्य मोक्षसुख प्राप्त होगा। उपर्युक्त मनुष्य गति, उत्तम संहनन आदि की सम्प्राप्ति के बिना मोक्ष के हेतुभूत समग्र रत्नत्रय की प्राप्त त्रिकाल में भी नहीं हो सकती।

"मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय-चारित्रविशेषात्मक-पौरुषाभ्यामेव संभवात्।[1]" श्री विद्यानन्दी महान् तार्किक आचार्य थे, उन्होंने कहा है "परमपुण्य के अतिशय से तथा चारित्र रूप पुरुषार्थ से इन दोनों कारणों से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहित-परिणामोपार्जित-तीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादि-विशिष्ट पुण्य रूप-कर्मापि सहकारीकारणं भवति, तथा यद्यपि जीव-पुद्गलानां गतिपरिणतेः स्वकीयोपादानकारणमस्ति तथापि धर्मास्तिकायोपि सहकारीकारणं भवति।"[2]

—जिस प्रकार निश्चयधर्म भव्यों को सिद्धगति के लिए यद्यपि उपादान कारण है तथापि निदानरहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्धगति के लिए सहकारी कारण हैं। उसी प्रकार गतिपरिणत जीव पुद्गल, अपनी-अपनी गति के लिये यद्यपि उपादान कारण हैं तथापि उस गति में धर्म द्रव्य सहकारी कारण होता है। इसप्रकार पुण्य कर्मोदय की सहकारिता-मोक्षसुख के लिए सिद्ध हो जाती है।

आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष का द्रव्यप्रमाण

आसवसंवरदव्वं समयपबद्धं तु णिज्जरादव्वं।
तत्तो असंखगुणिदं उक्कस्सं होदि णियमेण ॥६४४॥
बंधो समयपबद्धो किंचूणदिवड्ढमेत्तगुणहाणी।
मोक्खो य होदि एवं सद्दहिदव्वा दु तच्चट्ठा ॥६४५॥

गाथार्थ—आस्रव और संवर का द्रव्यप्रमाण समयप्रबद्ध मात्र है। निर्जरा का उत्कृष्ट द्रव्य असंख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण है ॥६४४॥ बंध भी समयप्रबद्ध प्रमाण होता है। (किंचित् ऊन समयप्रबद्ध प्रमाण डेढ़गुणहानि गुणित द्रव्यकर्म का क्षय होने पर मोक्ष होता है)। इसलिए मोक्ष का द्रव्य किंचित् ऊन डेढ़ गुणहानि समयप्रबद्ध प्रमाण कहा गया है। इस प्रकार तत्त्वों का श्रद्धान करना चाहिए ॥६४५॥

---

१. अष्टसहस्री पृ. २५७। २. पंचास्तिकाय गा. ८५ तात्पर्यवृत्ति।

विशेषार्थ—"**समये प्रबध्यत इति समयप्रबद्धः**"[1] एक समय में जितना कर्म बाँधा जाता है, वह समयप्रबद्ध है।

शङ्का—समयप्रबद्ध का कितना प्रमाण है ?

समाधान—एक समयप्रबद्ध में पुद्गल द्रव्य का प्रमाण अनन्त है। कहा भी है—

पंच रस-पंचवण्णेहिं परिणयदुगंध चदुहिं फासेहिं।
दवियमणंतपदेसं जीवेहि अणंतगुणहीणं ॥[2]
सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं।
सिद्धादो ऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं ॥१६१॥[3]

"**अणंतपदेसं सव्वजीवेहिं अणंतगुणहीणं अभव्वसिद्धेहिं अणंतगुण-सिद्धाणमणंतभागं कम्मबंधजोग्गपुग्गलदव्वं होइ।**"[4]

—सर्व जीवराशि से अनन्तगुणा हीन, अभव्यों से अनन्तगुणा अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग कर्म बंधयोग्य अनन्त पुद्गल प्रदेश (परमाणु) प्रतिसमय जीव से बँधते हैं, वही समय प्रबद्ध है। जितना द्रव्य बँधता है उतने ही द्रव्य का प्रति समय कर्म रूप से आस्रव होता है अर्थात् एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्यकर्म का बन्ध होता है अतः एक समयप्रबद्ध प्रमाण का ही आस्रव होता है। और एक समयप्रबद्ध प्रमाण का ही संवर होता है, क्योंकि आस्रव का निरोध ही संवर है।[5] वह संवर दो प्रकार का है (१) भाव संवर (२) द्रव्य संवर। संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति भावसंवर है। संसार की निमित्तभूत क्रिया का निरोध होने पर कर्मपुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद द्रव्यसंवर है।[6] कहा भी है—

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥ [द्रव्यसंग्रह]

—जो आत्म-परिणाम कर्म-आस्रव को रोकने में कारण हैं वे भावसंवर हैं और द्रव्यकर्मों के आस्रव का रुकना द्रव्यसंवर है। उस द्रव्य-संवर का प्रमाण एकसमयप्रबद्ध मात्र है।

शङ्का—आस्रव का निरोध संवर है, इसलिए आस्रव का कथन करना चाहिए था। आस्रव किसे कहते हैं ?

समाधान—आस्रव दो प्रकार का है (१) भाव-आस्रव (२) द्रव्य-आस्रव।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥ [द्रव्यसंग्रह]

---

१. धवल पु. १२ पृ. ४७८। २. प्रा. पं. सं. पृ.२८० गा. ४६५, पृ. ६२४ गा. १२०। ३. गो. क.। ४. प्रा. पं. सं. पृ. ६२४। ५. "आस्रवनिरोधः संवरः ॥९/१॥" [त. सू]। ६. स. सि. ९/१।

—जिन आत्म-परिणामों से कर्मों का आगमन होता है, वह भावास्रव है। कर्मों का आगमन वह द्रव्य-आस्रव है।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥ [द्रव्यसंग्रह]

—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसे द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेद वाला है। इस द्रव्यास्रव का प्रमाण एकसमयप्रबद्ध मात्र है, जो अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वाला है।[1]

कर्मों का एकदेश झड़ना, निर्जीर्ण होना निर्जरा है।[2] वह निर्जरा दो प्रकार की है—

सा पुण दुविहा णेया सकाल-पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा वय-जुत्ताणं हवे बिदिया ॥१०४॥
[स्वा. का. अ.]

—वह निर्जरा दो प्रकार की है। एक स्वकाल प्राप्त अर्थात् सविपाक और दूसरी तप के द्वारा की जाने वाली अर्थात् अविपाक निर्जरा। पहली निर्जरा चारों गति के जीवों के होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवों के होती है। अनेक जाति विशेष रूपी भँवर युक्त चारगतिरूपी संसार महासमुद्र में चिरकाल तक परिभ्रमण करनेवाले इस जीव के क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभवोदयावली रूपी झरने में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्म का फल देकर जो निवृत्ति होती है, वह विपाकजा निर्जरा है। तथा जैसे आम और पनस को औपक्रमिक क्रियाविशेष के द्वारा अकाल में पका लेते हैं, उसी प्रकार जिसका विपाक काल अभी नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावली के बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदयावली में प्रविष्ट करके अनुभवा जाता है, वह अविपाक निर्जरा है।[3]

प्रतिसमय एकसमयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्य बँधता है और सामान्यतः एकसमयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्यकर्म उदय में आकर निर्जरा को प्राप्त होता है। यह सविपाक निर्जरा है। कुछ कम डेढ़ गुणहानि समयप्रबद्ध प्रमाण सत्त्व द्रव्यकर्म है।

पडिसमयं बंधुदओ एक्को समयप्पबद्धो दु ॥६४२॥ उत्तरार्ध [गो.क.]
सत्तं समयपबद्धं दिवड्ढगुणहाणिताडियं ऊणं ॥पूर्वार्ध ६४३॥ [गो. क.]

अविपाक निर्जरा में प्रतिसमय सविपाक निर्जरा के द्रव्य से अर्थात् समयप्रबद्ध से असंख्यातगुणे द्रव्यकर्म की निर्जरा होती है। कहा भी है—

"मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असंख्यातगुणी निर्जरा विशुद्धिविशेष के द्वारा होती है। अर्थात् एकान्तानुवृद्धि विशुद्ध परिणाम जब तक होते हैं तब तक असंख्यात गुणश्रेणिनिर्जरा होती है। उससे

---

१. "ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभाग-प्रमित-प्रदेशा।" [स. सि. ८/२४]। २. "निर्जरां निर्जरणम् एकदेशेन शडनं गलनं।" [स्वा. का. अ. गा. १०३ टीका]। ३. सर्वार्थसिद्धि ८/२३।

असंख्यातगुण निर्जरा अणुव्रतधारी के होती है। उससे असंख्यातगुण निर्जरा महाव्रतधारी ज्ञानी के होती है। उससे असंख्यातगुण निर्जरा प्रथम चार कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की विसंयोजना करनेवाले के होती है। उससे असंख्यातगुण निर्जरा दर्शन मोहत्रिक कर्म का क्षय करनेवाले के होती है। उससे असंख्यातगुण कर्मनिर्जरा उपशम श्रेणीवाले के, उससे असंख्यातगुण कर्मनिर्जरा उपशान्तमोह के, उससे असंख्यातगुण निर्जरा क्षपक श्रेणी के, उससे असंख्यातगुण निर्जरा क्षीणमोह के, उससे असंख्यातगुणनिर्जरा सयोगीकेवली के और उससे असंख्यातगुण कर्मनिर्जरा अयोगकेवली के होती है।"[1] इस प्रकार अयोगकेवली के उत्कृष्ट कर्मनिर्जरा होती है जो असंख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण है। यहाँ पर अविपाक निर्जरा से प्रयोजन है, क्योंकि अविपाक कर्म-निर्जरा का द्रव्य असंख्यात-समयप्रबद्ध प्रमाण होता है। सविपाक कर्मनिर्जरा का द्रव्य तो एक समयप्रबद्ध मात्र होता है।

त्रिकोण यंत्र-रचना से स्पष्ट हो जाता है कि सत्त्व द्रव्य कर्म कुछ कम डेढ़गुणहानिसमयप्रबद्ध प्रमाण है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में इस सत्त्व द्रव्य कर्म का क्षय करके मोक्ष होता है।[2] अतः मोक्ष का द्रव्य सत्त्व कर्म है जो कुछ कम डेढ़गुणहानि समयप्रबद्ध प्रमाण है।

क्षायिक सम्यक्त्व

खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई।
तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥६४६॥[3]
वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदियभयआणएहिं रूवेहिं।
बीभच्छजुगुच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥६४७॥[4]
दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४८॥[5]

गाथार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है, वह नित्य है और कर्मों के क्षय का कारण है ॥६४६॥ श्रद्धान को भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले आकारों से या वीभत्स (भयंकर) पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से, किंबहुना त्रैलोक्य से भी वह चलायमान नहीं होता ॥६४७॥ कर्मभूमिज मनुष्य ही केवली के पादमूल में दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय का प्रारम्भक होता है, किन्तु निष्ठापक सर्वत्र होता है ॥६४८॥

विशेषार्थ—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीन करण लब्धि रूप परिणाम की सामर्थ्य से तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार प्रकृतियों के क्षय से तथा

---

१. स्वा. का. अनु. गाथा १०६-१०८ २. "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥" १०/२॥ [तत्त्वार्थसूत्र]। ३. धवल पु. १ पृ. ३९५ गा. २१३, प्रा. पं. सं. पृ. ३४ गा. १६०। ४. धवल पु. १ पृ. ३९५ गा. २१४; प्रा.पं. सं. पृ. ३४४ गा. १६१। ५. जयधवल पु. १३ गा. ११० पृ. २; प्रा. पं. सं. पृ.४२ गा. २०२।

मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म की इन तीन प्रकृतियों के क्षय से, इस प्रकार सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है। प्रतिपक्ष कर्मों के अत्यन्त क्षय से उत्पन्न होने के कारण क्षायिक सम्यक्त्व अतिनिर्मल होता है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होकर फिर कभी छूटता नहीं है, अतः नित्य है।[१] विशुद्धि की वृद्धि को प्राप्त होता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने के योग्य होता है।[२] इसलिए क्षायिक सम्यग्दर्शन सर्व कर्मों के क्षय का हेतु कहा गया है।

दर्शनमोहनीय का क्षपण करता हुआ जीव सर्वप्रथम अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन तीन करणों को करके अनन्तानुबन्धिचतुष्क का विसंयोजन करता है। अधःप्रवृत्त-करण में स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं होता है। केवल अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ अधःप्रवृत्तकरण काल के अन्तिम समय तक चला जाता है। केवल विशेषता यह है कि अन्य स्थिति को बाँधता हुआ पहले के स्थितिबन्ध की अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन स्थिति को बाँधता है। इस अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में होने वाले स्थितिबन्ध मे अन्तिम समय में होनेवाला स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है।[३]

अपूर्वकरण के प्रथम समय में पूर्व स्थिति बन्ध से पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थितिबन्ध होता है। उसी समय में आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों के पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र आयामवाले अथवा सागरोपम पृथक्त्व आयामवाले स्थिति कांडकों को आरम्भ करता है। तथा उसी समय अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग के अनन्तबहुभाग मात्र अनुभाग कांडकों को आरम्भ करता है। उसी समय में अनन्तानुबन्धी कषायों का गुणसंक्रमण भी आरम्भ करता है। प्रथम समय में पहले संक्रमण किये गये द्रव्य से असंख्यातगुणित प्रदेश का संक्रमण करता है। दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र का संक्रमण करता है। इस प्रकार यह क्रम सर्वसंक्रमण से पूर्व समय तक लेजाना चाहिए। आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की गलितावशेष गुणश्रेणी को करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अपूर्वकरणकाल में गुणश्रेणी करने की विधि कहनी चाहिए। केवल विशेषता यह है कि प्रथम समय में अपकर्षित प्रदेशाग्र से दूसरे समय में असंख्यात गुणित प्रदेशों का अपकर्षण करता है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। प्रथम समय में दिये जानेवाले प्रदेशाग्र से द्वितीय समय में गुणश्रेणी के द्वारा दिये जाना वाला प्रदेशाग्र असंख्यात गुणित होता है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त विधान से अपूर्वकरण का काल समाप्त हुआ। अपूर्वकरण के प्रथम समय सम्बन्धी स्थिति सत्त्व से और स्थिति-बन्ध से अपूर्वकरण के अन्तिम समय में स्थितिसत्त्व और स्थितिबन्ध संख्यातगुणित हीन होता है।[४]

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में अन्य स्थिति बन्ध, अन्य स्थिति काण्डक, अन्य अनुभाग काण्डक और अन्य गुणश्रेणी एक साथ आरम्भ होती है। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात बहुभाग व्यतीत होने पर विशेष घात से घात किया जाता हुआ अनन्तानुबन्धी चतुष्क का

---

१. स्वा. का. अ. गा. ३०८ टीका। २. स. सि. १०/१। ३. धवल पु. ६ पृ. २४८-२४९। ४. धवल पु. ६ पृ. २४९-२५१।

स्थितिसत्त्व असंज्ञी-पंचेन्द्रिय के स्थितिबन्ध के समान हो जाता है। इसके पश्चात् सहस्रों स्थिति-काण्डकों के व्यतीत होने पर अनन्तानुबन्धी चतुष्क का स्थितिसत्त्व चतुरिन्द्रिय के स्थितिबन्ध के समान हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीवों के स्थितिबन्ध के समान होकर पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्त्व हो जाता है। तब अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्थितिकाण्डक का प्रमाण स्थितिसत्त्व के संख्यात बहुभाग होता है और शेष कर्मों का स्थितिकांडक पल्योपम के संख्यातवें भाग ही है। इस प्रकार सहस्रों स्थितिकांडकों के व्यतीत होने पर दूरापकृष्ट संज्ञावाले स्थितिसत्त्व के अवशेष रहने पर वहाँ से शेष स्थितिसत्त्व के असंख्यात भागों का घात करता है।[1]

शंका—दूरापकृष्ट किसे कहते हैं?

समाधान—पल्योपम को उत्कृष्ट संख्यात से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसमें से एक-एक तब तक कम करते जायें जब तक पल्योपम को जघन्य परीतासंख्यात से भाजित करने पर जो लब्ध आवे, तत्प्रमाण प्राप्त न हो। इस प्रकार स्थिति के जितने विकल्प हैं वे सब दूरापकृष्ट हैं।[2] जिस अवशिष्ट सत्कर्म में से संख्यात बहुभाग को ग्रहण कर स्थितिकाण्डक का घात करने पर शेष बचा स्थिति सत्कर्म नियम से पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण होकर अवशिष्ट रहता है, उस सबसे अन्तिम पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति सत्कर्म की दूरापकृष्ट संज्ञा है।[3]

तत्पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग आयाम वाले अन्तिम स्थितिकांडक को अन्तर्मुहूर्त मात्र उत्कीरण काल के द्वारा छेदन होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में उदयावली से बाह्य सर्व स्थितिसत्त्व को परस्वरूप से संक्रमित कर अन्तर्मुहूर्त काल के व्यतीत होने पर दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ करता है।[4]

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षपण करने वाले परिणाम भी अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनका कथन जिस प्रकार ऊपर अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में किया गया है उसी प्रकार यहाँ पर भी करना चाहिए [विशेष के लिए धवल पु. ६ पृ. २५४ से पृ. २६३ देखने चाहिए अथवा जयधवल पु. १३ में पृ. १४ से ६४ देखने चाहिए] अन्तिम स्थितिकाण्डक के समाप्त होने पर कृतकृत्यवेदक हो जाता है। कृतकृत्य वेदक काल के भीतर उसका मरण भी हो, संक्लेश को प्राप्त हो अथवा विशुद्धि को प्राप्त हो तो भी असंख्यातगुणित श्रेणी के द्वारा, जब तक एक समय अधिक आवली काल शेष रहता है तब तक असंख्यात समयप्रबद्धों की उदीरणा होती रहती है।[5]

जिसने दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय कर दिया है उसका संसार में अवस्थान यद्यपि बहुत है तथापि उसके प्रस्थापकभव को छोड़कर अन्य तीन भवों से अधिक नहीं होते। कहा भी है—

खवणाए पट्ठवगो जम्हि भवे णियमसा तदो अण्णे।
णाधिच्छदि तिण्णि भवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥११३॥[6]

---

१. धवल पु. ६ पृ. २५१। २. "का दूरापकृष्टिर्नामेति? पल्य उत्कृष्टसंख्यातेन भक्ते यल्लब्धं तस्मादेकैकहान्या जघन्यपरिमितासंख्यातेन भक्ते पल्ये यल्लब्धं तस्मादेकोत्तरवृद्धया यावन्तो विकल्पास्तावन्तो दूरापकृष्टभेदाः।" [लब्धि. १२० टीका]। ३. जयधवल पु. १३ पृ. ४५। ४. धवल पु. ६ पृ. २५२। ५. धवल पु. ६ पृ. २६३। ६. जयधवल पु. १३ पृ. ६।

—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव आयुबन्ध के वश से देव और नारकियों में उत्पन्न होता है, वह देव और नारक भव से आकर अनन्तर भव में ही चरम देह के सम्बन्ध का अनुभव कर मुक्त होता है। इस प्रकार उसके दर्शनमोहनीय की क्षपणा सम्बन्धी भव के साथ तीन ही भवों का ग्रहण होता है। परन्तु जो पूर्व में बन्ध को प्राप्त हुई आयु के सम्बन्धवश भोगभूमिज तिर्यंचों या मनुष्यों में उत्पन्न होता है, उसके क्षपणा के प्रस्थापन के भव को छोड़कर अन्य तीन भव होते हैं, क्योंकि भोग-भूमि से देवों में उत्पन्न होकर और वहाँ से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न हुए उसके निर्वाण प्राप्त करने का नियम है।[1]

प्रतिपक्ष कर्मों का अत्यन्त क्षय होजाने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है अतः क्षायिक सम्यग्दृष्टि किन्हीं भी बाह्य कारणों से सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता। अन्तरंग और बाह्य दोनों कारणों के मिलने पर कार्य की सिद्धि होती है, मात्र किसी एक कारण से कार्य नहीं होता। सम्यक्त्व के प्रतिपक्ष दर्शनमोहनीय कर्म व अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क के उदयाभाव में क्षायिक सम्यग्दृष्टि कुयुक्ति आदि द्वारा सम्यक्त्व से च्युत नहीं हो सकता। क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकार से सन्देह नहीं करता और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय को भी प्राप्त नहीं होता।[2]

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिये तुरियभवे।
णादिक्कमदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥१६४॥[3]

—दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होने पर जीव या तो उसी भव में मुक्त हो जाता है, या तीसरे भव में या चौथे भव में मुक्त हो जाता है। चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता।

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षपण का आरम्भ यह जीव जम्बूद्वीप, धातकीखंड और पुष्करार्ध इन अढ़ाई द्वीपों में तथा लवण और कालोदक इन दो समुद्रों में करता है, शेष द्वीप और समुद्रों में नहीं करता, क्योंकि उनमें दर्शनमोह के क्षपण करने के सहकारी कारणों का अभाव है। अढ़ाई द्वीप में भी पन्द्रह कर्मभूमियों में प्रारम्भ करता है, भोगभूमियों में नहीं। कर्मभूमियों में भी मात्र पर्याप्त मनुष्य ही आरम्भ करते हैं, देव व तिर्यंच नहीं।

शंका—मनुष्यों में उत्पन्न हुए जीव समुद्रों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा का कैसे प्रस्थापन करते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि विद्या आदि के वश से समुद्र में आये हुए जीवों के दर्शनमोह का क्षपण होना सम्भव है।

गाथा में आये हुए 'केवलिमूले' पद से यह कहा गया है कि जिस काल में जिन सम्भव हैं उसी काल में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है, अन्य काल में नहीं। इससे दुःषमा, दुःषमदुःषमा, सुषमासुषमा और सुषमा काल में उत्पन्न हुए मनुष्य के दर्शनमोह की क्षपणा का निषेध हो जाता है।

---

१. जयधवल पु. १३ पृ. १०। २. धवल पु. १ पृ. १७१। ३. लब्धिसार; स्वा. का. अ. गा. ३०८ टीका।

शङ्का--सुषमादुःषमा काल में उत्पन्न हुए मनुष्य दर्शनमोह की क्षपणा कैसे कर सकते हैं ?

समाधान—सुषमादुःषमा काल में श्री ऋषभदेव तीर्थंकर हुए हैं। इस अवसर्पिणी के सुषमादुःषमा तीसरे काल में एकेन्द्रिय पर्याय से आकर उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदि को दर्शनमोह की क्षपणा हुई है।

जो स्वयं तीर्थंकर होने वाले हैं, वे दर्शनमोहकर्म की क्षपणा स्वयं प्रारम्भ करते हैं, अन्यथा तीसरी पृथिवी से निकले हुए कृष्ण आदिकों के तीर्थंकरत्व नहीं बन सकता है।[1]

केवली के पादमूल में ही मनुष्य के परिणामों में इतनी विशुद्धता आती है जो वह दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा का प्रारम्भ कर सकता है। अन्यत्र इतनी विशुद्धता सम्भव नहीं है, किन्तु जो उसी भव में तीर्थंकर होने वाले हैं और जिन्होंने पूर्व तीसरे भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया है ऐसे तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व सहित क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के परिणामों में, तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता के कारण स्वतः इतनी विशुद्धता आ जाती है कि वह स्वयं दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा कर सकता है।

कृतकृत्यवेदक होने के प्रथम समय से लेकर ऊपर के समय में दर्शनमोह की क्षपणा करने वाला जीव निष्ठापक कहलाता है। दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाला जीव कृतकृत्यवेदक होने के पश्चात् आयुबन्ध के वश से चारों गतियों में उत्पन्न होकर दर्शनमोह की क्षपणा को सम्पूर्ण अर्थात् सम्पन्न करता है, क्योंकि उन-उन गतियों में उत्पत्ति के कारणभूत लेश्या-परिणामों के वहाँ होने में कोई विरोध नहीं है।[2]

वेदक सम्यक्त्व अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप

दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥६४९॥[3]

गाथार्थ दर्शनमोह (सम्यक्त्व प्रकृति) के उदय से जो चल-मलिन-अगाढ़ रूप पदार्थों का श्रद्धान होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥६४९॥

विशेषार्थ--दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व प्रकृति और तदुभय (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृति। जिस दर्शनमोह के उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान में निरुत्सुक, हिताहित का विचार करने में असमर्थ होता है वह मिथ्यात्व-दर्शन मोहनीय है। जब शुभ परिणामों के कारण दर्शनमोहनीय रूप स्वरस (स्वविपाक) रुक जाता है और उदासीन रूप से अवस्थित होकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता तब वह सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय है। इसका वेदन करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि होता है।[4] चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभाव क्षय और सदवस्थारूप उपशम से और देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[5]

---

१. धवल पु. ६ पृ. २४४-२४७। २. धवल पु. ६ पृ. २४७-२४८। ३. धवल पु. १ पृ. ३९६ गा. २१५; स्वा का. अ. गा. ३०९ टीका। ४. स. सि. ८/९। ५. स. सि. २/५।

अणउदयादो छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्त-कम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ॥३०९॥ [स्वा. का. अ.]

—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभाव से अर्थात् विष, हलाहल आदि रूप से दारु बहुभाग रूप से व शिला व अस्थि रूप से उदय का अभाव हो जाने से और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ के संक्रमण के द्वारा अप्रत्याख्यानआदि रूप से, मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रमण होकर सम्यक् प्रकृतिरूप उदय में आने से और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर चल, मलिन, अगाढ़ दोष सहित क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। चल-मल-अगाढ़ का स्वरूप गा. २५ की टीका (विशेषार्थ) में कहा जा चुका है।

शंका—क्षयोपशम सम्यक्त्व को वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का वेदन करने वाले जीव के जो सम्यक्त्व होता है वह वेदक सम्यक्त्व है।

शङ्का—जिनके दर्शनमोहनीय कर्म का उदय विद्यमान है, उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय की देशघाती प्रकृति के उदय रहने पर भी जीव के स्वभाव रूप श्रद्धान के एकदेश होने में कोई विरोध नहीं आता है।[1]

सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय के साथ रहनेवाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक कहलाता है। मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय-अभाव रूप क्षय से, उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से, तथा उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से अथवा अनुदयोपशमन से और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु यह कथन घटित नहीं होता, क्योंकि वैसा मानने पर अतिव्याप्ति व अव्याप्ति दोष का प्रसंग आता है। अथवा कृतकृत्य वेदक के क्षयोपशम का यह लक्षण घटित नहीं होता।

शंका—अतिव्याप्ति दोष किस प्रकार आता है ?

समाधान—यदि वेदक सम्यक्त्व में सम्यक्-प्रकृति के उदय की मुख्यता न मानकर, केवल मिथ्यात्वादि के क्षयोपशम से ही इसकी उत्पत्ति मानी जावे तो सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक् प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदयाभाव क्षय और सदवस्था रूप उपशम से तथा मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान को भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ पर भी क्षयोपशम का लक्षण घटित होता है।

शङ्का—तो फिर क्षायोपशमिक भाव कैसे घटित होता है ?

---

१. धवल पु. १ पृ. ३९८ सूत्र १४६ की टीका।

समाधान—यथास्थित अर्थ के श्रद्धान को घात करने वाली शक्ति जब सम्यक्त्व प्रकृति के स्पर्धकों में क्षीण हो जाती है, तब उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकों के उपशम को अर्थात् प्रसन्नता को क्षयोपशम कहते हैं। उसमें उत्पन्न होने से वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है। यह कथन घटित हो जाता है।[1]

बात यह है कि कर्मों के उदय होते हुए भी जो जीव गुण का अंश उपलब्ध रहता है वह क्षायोपशमिक भाव है। (ध. ५।१८५) श्री ब्रह्मदेव ने भी कहा है कि देशघाती स्पर्धकों के उदित होते हुए जो एकदेश (आंशिक) ज्ञानादि गुणों का उघाड़ (प्राप्ति) है, वह क्षायोपशमिक भाव है।

जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिल श्रद्धानी होता है, इसलिए वृद्ध पुरुष जिस प्रकार अपने हाथ में लकड़ी को शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थ के विषय में शिथिलग्राही होता है, अतः कुहेतु और कुदृष्टान्त से उस सम्यक्त्व की विराधना करने में देर नहीं लगती है।[2]

उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप तथा पाँच लब्धियाँ

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ॥६५०॥[3]

खयउवसमियविसोही देसण-पाउग्ग-करणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥६५१॥[4]

गाथार्थ—जिस प्रकार कीचड़ के नीचे बैठ जाने से जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से पदार्थ का जो श्रद्धान होता है वह उपशम सम्यक्त्व है ॥६५०॥ क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से चार तो सामान्य हैं। परन्तु करण लब्धि के होने पर सम्यक्त्व अवश्य होता है ॥६५१॥

विशेषार्थ—जैसे कतक आदि द्रव्य के सम्बन्ध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निज शक्ति का करणवश प्रकट न होना उपशम है।[5] प्रथमोपशम-सम्यग्दर्शन से पूर्व क्षयोपशम लब्धि १, विशुद्धि लब्धि २, देशना लब्धि ३, प्रायोग्य लब्धि ४, करण लब्धि ५, ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनका सविस्तार कथन लब्धिसार ग्रन्थ में है, यहाँ भी संक्षेप में कहा जाता है।

कम्ममलपडलसत्ती पडिसमयमणंतगुणविहीणकमा।
होदूणुदीरदि जदा तदा खओवसम लद्धी दु ॥४॥ [लब्धिसार]

—कर्ममल रूप पटल की फलदान शक्ति अर्थात् अनुभाग जिस काल में प्रति समय क्रम से अनन्तगुणा हीन होकर उदय को प्राप्त होता है, वह क्षयोपशम लब्धि है।

---

१. धवल पु. ५ पृ. २००। २. धवल पु. १ पृ. १७१। ३. धवल पु. १ पृ. ३९६। ४. धवल पु. ६ पृ. १३९ व २०५; लब्धिसार गा. ३। ५. सर्वार्थसिद्धि २/१।

धवलाकार ने भी कहा है कि पूर्वसंचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रति समय अनन्तगुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उस समय **क्षयोपशम लब्धि** होती है।[1]

आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं।
सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्धिलद्धी सो ।।५।। [लब्धिसार]

—क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न जीव के जो परिणाम साता आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत हैं वे विशुद्ध परिणाम विशुद्धि लब्धि हैं।

धवलाकार ने भी कहा है कि प्रति समय अनन्तगुणित हीनक्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असातादि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है, उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम **विशुद्धि लब्धि** है।[2]

छद्दव्वणवपयत्थोपदेसयर-सूरिपहुदि लाहो जो।
देसिदपदत्थधारण लाहो वा तदियलद्धी दु ।।६।। [लब्धिसार]

—छह द्रव्य और नव पदार्थ का उपदेश करने वाले आचार्यादि का लाभ अथवा उपदिष्ट पदार्थों के धारण करने की शक्ति की प्राप्ति तीसरी देशना लब्धि हैं।

धवलाकार ने भी कहा है कि छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को **देशना लब्धि** कहते है।[3]

अंतो कोडाकोडी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं।
पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा ।।७।। [लब्धिसार]

—पूर्वोक्त तीन लब्धि युक्त जीव प्रतिसमय विशुद्धि में वृद्धि होने के कारण आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति काट कर अन्तः कोड़ाकोडी मात्र कर देता है और अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग द्विस्थानिक अर्थात् लता दारु रूप कर देता है। इस योग्यता की प्राप्ति **प्रायोग्य लब्धि** है।

धवलाकार ने भी कहा है कि सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और अप्रशस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके क्रमशः अन्तः कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर जीव करण लब्धि के योग्य होते हैं।[4]

प्रारम्भ की ये चारों लब्धियाँ भव्य और अभव्य जीवों के साधारण हैं, क्योंकि दोनों ही प्रकार के जीवों में इन चारों लब्धियों का होना सम्भव है।[5] किन्तु अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों करण भव्य मिथ्यादृष्टि जीव के ही होते हैं, क्योंकि अन्यत्र वे पाये नहीं जाते।[6]

---

१. २. ३. धवल पु. ६ पृ. २०४। ४. ध. पु. ६ पृ. २०४-२०५। ५. धवल पु. ६ पृ. २०५। ६. धवल पु. ६ पृ. १३६।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले जीव के अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं।[1] अधःप्रवृत्त लक्षण वाली विशुद्धियों की 'अधःप्रवृत्तकरण' यह संज्ञा है, क्योंकि उपरितन समयवर्ती परिणाम अधः अर्थात् अधस्तन समयवर्ती परिणामों में समानता को प्राप्त होते हैं, इसलिए अधःप्रवृत्त यह संज्ञा सार्थक है।[2]

जिस करण में विद्यमान जीव के करण परिणाम 'अधः' अर्थात् नीचे [उपरितन (आगे के) समय के परिणाम नीचे (पूर्व) के समय के परिणामों के समान] प्रवृत्त होते हैं वह अधःप्रवृत्तकरण है। इस करण में उपरिम समय के परिणाम नीचे के समय में भी पाये जाते हैं, यह तात्पर्य है।[3]

जिस करण में प्रत्येक समय में अपूर्व अर्थात् असमान होते हुए, नियमतः अनन्तगुण रूप से वृद्धिंगत करण अर्थात् परिणाम होते हैं, वह अपूर्वकरण है। इस करण में होने वाले परिणाम प्रत्येक समय में असंख्यात-लोक-प्रमाण होकर अन्य समय में स्थित परिणामों के सदृश नहीं होते हैं।[4]

जिस करण में विद्यमान जीव के एक समय में परिणामभेद नहीं है, वह अनिवृत्तिकरण है।[5]

समए समए भिण्णा भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु।
अणियट्टीवि तहं वि य पडिसमयं एक्कपरिणामो ॥३६॥[लब्धिसार]

– समय-समय में जीवों के परिणाम जुदे-जुदे ही होते हैं, ऐसे परिणामों का नाम अपूर्वकरण है और जहाँ प्रत्येक समय में एक ही परिणाम हो, वह अनिवृत्तिकरण है।

करण नाम परिणाम का है। अपूर्व जो करण होते हैं वे अपूर्वकरण हैं, जिसका अर्थ असमान परिणाम होता है।[6]

अनिवृत्तिकरण में एक-एक समय के प्रति एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि यहाँ एक समय में जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों के भेद का अभाव है।[7]

इन तीनों करणों के काल से ऊपर (आगे) उपशमन काल होता है। जिस काल विशेष में दर्शनमोहनीय उपशान्त होकर अवस्थित होता है, वह उपशमानाद्धा है। अर्थात् उपशम सम्यग्दृष्टि का काल है।[8]

शङ्का—दर्शनमोहनीय का उपशम किसे कहते हैं?

समाधान—करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदय रूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं।

"अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो" ॥पूर्वार्ध गा. १०३॥[9]

---

१. धवल पु. ६ पृ. २१४। २. धवल पु. ६ पृ. २१७। ३. जयधवल पु. १२ पृ. २३३। ४. व ५. जयधवल पु. १२ पृ. २३४। ६. व ७. धवल पु. ६ पृ. २२१। ८. जयधवल पु. १२ पृ. २३४। ९. जयधवल पु. १२ पृ. ३१४।

सभी दर्शनमोहनीय कर्म का उदयाभावरूप उपशम होने से वे अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहते हैं। "सव्वोवसमेण" ऐसा कहने पर सभी दर्शनमोहनीय कर्मों के उपशम से, ऐसा ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप से विभक्त मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीनों ही कर्मों का उपशान्त रूप से अवस्थान देखा जाता है।[1]

उसी उपशान्त दर्शनमोहनीय के प्रथम समय में अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के प्रथम समय में सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व संज्ञावाले तीन भेद उत्पन्न करता है।

शङ्का—इनकी इस प्रकार उत्पत्ति कैसे होती है ?

समाधान—जैसे यंत्र से कोदों के दलने पर उसके तीन भाग हो जाते हैं, वैसे ही अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा दलित किये गये दर्शनमोहनीय के तीन भेदों की उत्पत्ति होने में विरोध का अभाव है।[2]

काण्डकघात के बिना मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग को घात कर और उसे सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग रूप आकार से परिणमाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम समय में मिथ्यात्व रूप एक कर्म के तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खण्ड उत्पन्न करता है।[3]

मिच्छत्तमिस्ससम्मसरूवेण य तत्तिधा य दव्वादो।
सत्तीदो य असंखाणंतेण य होंति भजियकमा ॥६००॥ [लब्धिसार]

—मिथ्यात्वद्रव्य मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय रूप तीन तरह का हो जाता है। द्रव्य की अपेक्षा सम्यकत्व प्रकृति और मिश्र प्रकृति में मिथ्यात्व का असंख्यातवाँ भाग द्रव्य होता है और मिथ्यात्व का अनन्तवाँ भाग अनुभाग सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृति में होता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में ही अनन्त संसार को काट कर अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र संसारस्थिति कर देता है। कहा भी है—

"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काढूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो"।[4]

—एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम समय में अनन्त संसार को छिन्न कर अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र कर देता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम से इतना महान् कार्य हो जाता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम में अथवा अनिवृत्तिकरण में ही इतनी शक्ति है जो अनन्तानन्त संसार-काल को छेद कर अत्यल्प ऐसे अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र कर देते हैं। अन्य प्रकार से संसारस्थिति अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र नहीं हो सकती।

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. ३१५। २. जयधवल पु. १२ पृ. २८१। ३. धवल पु. ६ पृ. २३५।
४. धवल पु. ५ पृ. ११।

उपशमसम्यक्त्व के योग्य जीव

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो ।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ।।६५२।।

गाथार्थ—चारों गति का भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्ध, साकार उपयोगी, जागृत, प्रशस्त लेश्या वाला और लब्धि संयुक्त जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ।।६५२।।

विशेषार्थ—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों के जीवों में से किसी भी गति का जीव दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता है । कहा भी है—

दंसणमोहस्सुवसामग्रो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचिदिग्रो य सण्णी णियमा सो होदि पज्जत्तो ।।९५।।[1]

"उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि ? चदुसु वि, गदीसु उवसामेदि । चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय-विगलिंदियेसु । पंचिदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु । गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि, णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि ।।६।।[2]

—दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता हुआ यह चारों ही गतियों में उपशमाता है । चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में नहीं । पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है, असंज्ञियों में नहीं । संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में, अर्थात् गर्भज जीवों में उपशमाता है, सम्मूर्च्छिमों में नहीं । गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है, अपर्याप्तकों में नहीं । पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में भी उपशमाता है और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में भी उपशमाता है । लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त अवस्था को छोड़कर नियम से निर्वृत्ति पर्याप्त जीव ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है ।

सव्वणिरय-भवणेसु दीव-समुद्दे गह-जोदिसि-विमाणे ।
अभिजोग्गमणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो ।।९६।।[3]

—सब नरकों में रहने वाले नारकियों में, सब भवनों में रहने वाले भवनवासी देवों में, सब द्वीपों और समुद्रों में विद्यमान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचों में, ढाई द्वीप-समुद्रों में रहने वाले मनुष्यों में, सब व्यन्तरावासों में रहनेवाले व्यन्तर देवों में, सब ज्योतिष्क देवों में, विमानों में रहनेवाले नौ ग्रैवेयक तक के देवों में तथा अभियोग्य और अनभियोग्य देवों में दर्शनमोहनीय का उपशम होता है ।

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. २९६ । २. धवल पु. ६ पृ. २३८ । ३. जयधवल पु. १२ पृ. २९८ ।

शंका—त्रस जीवों से रहित असंख्यात समुद्रों में तिर्यंचों का प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर भी पूर्व के वैरी देवों के प्रयोग से ले जाये गये तिर्यंच सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रवृत्त हुए पाये जाते हैं।[1]

शंका—नव ग्रैवेयक से उपरिम अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—नहीं होती, क्योंकि उनमें सम्यग्दृष्टि जीवों के ही उत्पन्न होने का नियम है।[2]

सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो।
जोगे अण्णदम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए ॥९८॥[3]

—दर्शनमोह की उपशमविधि का आरम्भ करने वाला जीव अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक प्रस्थापक कहलाता है। वह जीव उस अवस्था में साकार अर्थात् ज्ञानोपयोग में ही उपयुक्त होता है, क्योंकि उस समय में अविचारस्वरूप दर्शनोपयोग की प्रवृत्ति का विरोध है। इसलिए मति, श्रुत और विभंग में से कोई एक साकार उपयोग ही उसके होता है, अनाकार उपयोग नहीं होता।[4] क्योंकि अविमर्शक और सामान्यमात्रग्राही चेतनाकार उपयोग के द्वारा विमर्शक स्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के प्रति अभिमुखपना नहीं बन सकता।[5] जागृत अवस्था से परिणत जीव ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है, अन्य नहीं, क्योंकि निद्रारूप परिणाम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य विशुद्धिरूप परिणामों से विरुद्ध स्वभाव वाला है। इस प्रकार प्रस्थापक के साकारोपयोग का नियम करके निष्ठापक रूप अवस्था में और मध्यम (बीच की) अवस्था में साकार उपयोग और अनाकार उपयोग में से अन्यतर उपयोग भजनीय है। दर्शनमोह के उपशामनाकरण को समाप्त करने वाला जीव निष्ठापक होता है। समस्त प्रथम स्थिति को क्रम से गलाकर अन्तर में प्रवेश की अभिमुख अवस्था के होने पर निष्ठापक होता है। साकारोपयोग या अनाकार-उपयोग इन दोनों में से किसी एक के साथ निष्ठापक होने में विरोध नहीं है। इसी प्रकार मध्यम अवस्था वाले के भी कहना चाहिए।[6]

पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में से नियम से कोई एक वर्धमान लेश्या होती है। इनमें से कोई भी लेश्या हीयमान नहीं होती। इस जीव के कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्या नहीं होतीं।

शंका—वर्धमान शुभ तीन लेश्याओं का नियम यहाँ पर किया है, वह नहीं बनता; क्योंकि नारकियों के सम्यक्त्व की उत्पत्ति करने में व्यापृत (तत्पर) होने पर अशुभ तीन लेश्या भी सम्भव हैं।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि तिर्यंचों और मनुष्यों की अपेक्षा यह कहा गया है।

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. २९९। २. जयधवल पु. १२ पृ. ३००। ३. जयधवल पु. १२ पृ. ३०४।
४. जयधवल पु. १२ पृ. ३०४। ५. जयधवल पु. १२ पृ. २०४। ६. जयधवल पु. १२ पृ. ३०५।

तिर्यंच और मनुष्यों के सम्यक्त्व को प्राप्त करते समय शुभ तीन लेश्याओं को छोड़कर अन्य लेश्यायें संभव नहीं हैं। क्योंकि अत्यन्त मन्द विशुद्धि द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव के वहाँ पर जघन्य पीत लेश्या होती है।[1]

शंका—यहाँ पर देव और नारकियों की विवक्षा क्यों नहीं की ?

समाधान—नहीं की, क्योंकि उनके अवस्थित लेश्या होती है। यहाँ पर परिवर्तमान सब लेश्यावाले तिर्यंच और मनुष्यों की ही प्रधान रूप से विवक्षा की गई है।[2]

यद्यपि गाथा में योग और वेद का कथन नहीं किया गया है किन्तु कषायपाहुड़ व जयधवल में इनका कथन है। उसके आधार पर यहाँ भी कथन किया जाता है—

चार प्रकार के मनोयोगों में से अन्यतर (किसी भी) मनोयोग से, चार प्रकार के वचनयोगों में से अन्यतर वचनयोग से तथा औदारिक काययोग और वैक्रियिक काययोग इन सब योगों में से किसी योग से परिणत हुआ जीव दर्शनमोह की उपशम विधि का आरम्भ करता है। इसी प्रकार निष्ठापक और मध्यम अवस्थावाले जीव के भी कहना चाहिए, क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं में प्रस्थापक से भिन्न नियम की उपलब्धि नहीं होती।[3]

सम्यक्त्व की उत्पत्ति में व्यापृत हुए जीव के तीनों वेदों में से कोई एक वेदपरिणाम होता है, क्योंकि द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीन वेदों में से अन्यतर वेदपर्याय से युक्त जीव के सम्यक्त्व की उत्पत्ति में व्यापृत होने में विरोध का अभाव है।[4]

इस जीव के करणलब्धि सव्यपेक्ष (अर्थात् करणलब्धि से सम्बन्ध युक्त) क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन लब्धियों से संयुक्तपना होना चाहिए। क्योंकि उनके बिना दर्शनमोह के उपशम करने रूप क्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[5]

चारों आयु में से किसी भी आयु का बन्ध होने पर सम्यग्दर्शन तो हो सकता है किन्तु अणुव्रत व महाव्रत मात्र देवायु के बन्ध होने पर ही हो सकते हैं; एक गाथा द्वारा इसका कथन किया जाता है—

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥६५३॥[6]

गाथार्थ—चारों गति सम्बन्धी आयु कर्म का बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है। किन्तु अणुव्रत और महाव्रत देवायु के अतिरिक्त अन्य आयु के बन्ध होने पर प्राप्त नहीं हो सकते ॥६५३॥

---

१. जयधवल पु. १२ पृ. २०५। २. जयधवल पु. १२ पृ. २०५। ३. जयधवल पु. १२ पृ. ३०५-३०६। ४. व ५. जयधवल पु. १२ पृ. २०६। ६. धवल पु. १ पृ. ३२६ गाथा १६६। प्रा. पं. सं. पृ. ४२ गाथा २०१; गो. क. गाथा ३३४।

विशेषार्थ—देव और नारकियों के न अणुव्रत होते हैं और न महाव्रत होते हैं। तिर्यंचों के अणुव्रत होते हैं। यदि तिर्यंचों के नरक, तिर्यंच या मनुष्यायु का बन्ध होगया है तो वे अणुव्रत भी धारण नहीं कर सकते; किन्तु सम्यक्त्व हो सकता है। मनुष्य के अणुव्रत व महाव्रत दोनों हो सकते हैं। यदि उसके नरक आयु, तिर्यंचायु या मनुष्यायु का बन्ध हो गया हो तो अणुव्रत या महाव्रत धारण नहीं कर सकता, किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है। देव व नारकी के तिर्यंचायु या मनुष्यायु का बन्ध हो जाने पर भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है।

सासादन सम्यग्दृष्टि का लक्षण

ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो य परिवडिदो।
सो सासणोत्ति णेयो पंचमभावेण संजुत्तो ।।६५४।।[1]

गाथार्थ—जो जीव सम्यक्त्व से च्युत हो गया है और मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है, वह सासादन सम्यग्दृष्टि जीव है। वह पाँचवें भाव से संयुक्त होता है ।।६५४।।

विशेषार्थ—सासादन गुणस्थान प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से परिपतित होने पर ही होता है अन्य सम्यक्त्व से च्युत होने पर नहीं होता, किन्तु कषायपाहुड़ के मतानुसार द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से पतित होने पर भी सासादन गुणस्थान सम्भव है। सासादन सम्यग्दृष्टि के पंचमभाव अर्थात् पारिणामिक भाव कहा गया है, किन्तु यह पारिणामिक भाव भव्यत्व आदि के समान अनादि नहीं है परन्तु दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा यह पारिणामिक कहा गया है जो सादि है। इस गाथा सम्बन्धी विशेष कथन गाथा १९ के विशेषार्थ में है। वहाँ से देखना चाहिए। पुनरुक्ति के दोष के कारण यहाँ पर नहीं लिखा जा रहा।

जिस सम्यग्दृष्टि जीव ने विसंयोजना द्वारा अनन्तानुबन्धी चतुष्क को निःसत्त्व कर दिया है, वह जब मिथ्यात्व या सासादन को प्राप्त होता है तब मिथ्यात्व या सासादन के प्रथम समय में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का स्थितिसत्त्व पाया जाता है।

शंका-असद्रूप अनन्तानुबन्धी चतुष्क की सासादन में सत्तारूप से उत्पत्ति कैसे हो जाती है?

समाधान—सासादन परिणामों से।

शंका—वह सासादन रूप परिणाम किस कारण से उत्पन्न होते हैं?

समाधान—अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय से।

शंका—अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय किस कारण से होता है?

समाधान—परिणाम विशेष के कारण अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय होता है।[2] परिणामों के माहात्म्यवश शेष कषायों का द्रव्य सासादन गुणस्थान में उसी समय अनन्तानुबन्धी रूप से परिणम कर उसका उदय देखा जाता है।[3]

---

१. प्रा. पं. सं. पृ. ३५ गाथा १६८। २. जयधवल पु. ४ पृ. २४। ३. जयधवल पु. १० पृ. १२४।

सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।
विरयाविरयेण समो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ।।६५५।।[1]

गाथार्थ—जिस जीव के तत्त्वों में श्रद्धान और अश्रद्धान युगपत् प्रगट होता है, उसे विरताविरत के समान सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए ।।६५५।।

विशेषार्थ—इस गाथा में सम्यग्मिथ्यादृष्टि का कथन है। गाथा २१ में भी सम्यग्मिथ्यादृष्टि का कथन हो चुका है। अतः विशेष जानने के लिए गाथा २१ का विशेषार्थ देखना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि का लक्षण

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ।।६५६।।[2]

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव जिन-उपदिष्ट प्रवचन का तो श्रद्धान करता नहीं, किन्तु उपदिष्ट व अनुपदिष्ट असद्भाव का श्रद्धान करता है ।।६५६।।

विशेषार्थ—यह गाथा गाथा नं. १८ के समान है अतः गाथा १८ का विशेषार्थ देखना चाहिए।

सद्दहदि असब्भाव का अर्थ यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव अपरमार्थ स्वरूप असद्भूत अर्थ का ही मिथ्यात्व के उदय से श्रद्धान करता है।

सम्यक्त्व मार्गणा में जीवसंख्या

वासपुधत्ते खइया संखेज्जा जइ हवंति सोहम्मे ।
तो संखपल्लठिदिये केवदिया एवमणुपादे ।।६५७।।
संखावलि-हिद-पल्ला खइया तत्तो य वेदमुवसमगा ।
आवलिअसंखगुणिदा, असंखगुणहीणया कमसो ।।६५८।।
पल्लासंखेज्जदिमा सासणमिच्छा य संखगुणिदा हु ।
मिस्सा तेहिं विहीणो, संसारी वामपरिमाणं ।।६५६।।

गाथार्थ—सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में पृथक्त्व वर्ष में संख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं, तो संख्यात पल्य की स्थिति में कितने क्षायिक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होंगे ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर संख्यात आवली से भाजित पल्य प्रमाण क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का प्रमाण प्राप्त होता है। इसको आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर वेदक सम्यग्दृष्टियों का प्रमाण प्राप्त होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से असंख्यात गुणे हीन उपशम सम्यग्दृष्टि जीव हैं ।।६५७-६५८।। पल्य के असंख्यातवें-

---

१. प्रा. पं. सं. पृ.३६ गा. १६६ । २. गो. जी. गाथा १८, धवल पु. ६ पृ. ३४२, जयधवल पु. १२ पृ. ३२२, प्रा. पं. सं. पृ ३६ गा. १७० ।

भाग सासादन सम्यग्दृष्टियों की इच्छित राशि है। इससे संख्यातगुणे मिश्र (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) जीव हैं। इन सबसे विहीन संसारी जीव मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण है ॥६५९॥

विशेषार्थ—वेदक सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल आवली के असंख्यातवें भाग है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का अवहारकाल संख्यात आवली है। उपशम सम्यग्दृष्टि, सासादन और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों का अवहार काल असंख्यात आवली है।[1] इनमें भी सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सबमें स्तोक हैं। उनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव संख्यातगुणे हैं, संख्यात समय गुणाकार है। इनसे उपशम सम्यग्दृष्टि असंख्यात गुणे हैं, आवली का असंख्यातवां भाग गुणाकार है। उपशम सम्यग्दृष्टियों से क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं, आवली का असंख्यातवांभाग गुणाकार है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से वेदक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं। सिद्धों से मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणे हैं।[2]

शंका—अवहार काल कहा गया है, प्रमाण (संख्या) क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—अपने-अपने अवहार काल को पल्य को भाग देने पर अपनी-अपनी राशि का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अवहार कहने से प्रमाण (संख्या) का ज्ञान हो जाता है।

शङ्का—सासादन सम्यग्दृष्टि जीव कितने हैं, यह न बतलाकर मात्र 'सासादन जीव सबसे स्तोक हैं' यह कह दिया गया। इतने मात्र से प्रमाण ज्ञात नहीं होता।

समाधान—सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का अवहार काल असंख्यात आवली है, इस अवहार काल से पल्य को भाजित करने पर असंख्यात प्राप्त होता है, इससे ज्ञात होता है कि सासादन जीव असंख्यात हैं।

शङ्का—सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों का एक ही अवहारकाल असंख्यात आवली प्रमाण बतलाया है। जिससे जाना जाता है कि इन तीनों की संख्या समान है।

समाधान—असंख्यात के असंख्यात भेद हैं। यद्यपि सामान्य से तीनों का अवहारकाल असंख्यात आवली कह दिया गया तथापि उनके अवहार काल भिन्न-भिन्न हैं। सासादन के अवहार काल का संख्यातवां भाग सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों का अवहार काल है और उसका भी असंख्यातवां भाग उपशम सम्यग्दृष्टियों का अवहार काल है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **सम्यक्त्वमार्गणा** नामक सत्रहवां अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. ध. पु. ७ पृ. २६६-२६७। २. ध. पु. ७ पृ. ५७२-५७३।

१८. संज्ञिमार्गणाधिकार

संज्ञी व असंज्ञी जीवों का स्वरूप

णोइंदिय-आवरण-खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा ।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो ।।६६०।।
सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी दु ।।६६१।।[1]
मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ।।६६२।।[2]

गाथार्थ—नोइन्द्रिय (मन) आवरण कर्म का क्षयोपशम और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान संज्ञा है। यह संज्ञा जिसके होती है, वह संज्ञी है और असंज्ञी के मात्र इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है ।।६६०।। जो जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है, वह संज्ञी है । उससे विपरीत असंज्ञी है ।।६६१।। जो जीव कार्य करने से पूर्व कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार करे, तत्त्व-अतत्त्व को सीखे, नाम से पुकारने पर आवे, वह समनस्क है और इससे विपरीत अमनस्क है ।।६६२।।

विशेषार्थ जो भली प्रकार जानता है, वह संज्ञ अर्थात् मन है। वह मन जिसके पाया जाता है वह समनस्क है।[3] मन दो प्रकार का है द्रव्य मन और भाव मन। उनमें से द्रव्य-मन पुद्गलविपाकी अंगोपांग नाम कर्म के उदय से होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाली आत्म-विशुद्धि भाव मन है। जिनके मन नहीं पाया जाता, वे अमनस्क हैं। इस प्रकार मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा संसारी जीव दो प्रकार के हैं।[4] जो समनस्क हैं वे ही संज्ञी जीव हैं । संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ हैं। संज्ञा का अर्थ नाम है। यदि नामवाले जीव संज्ञी माने जायें तो सब जीवों को संज्ञीपने का प्रसंग प्राप्त होता है। संज्ञा का अर्थ यदि ज्ञान लिया जाता है, तो भी सभी प्राणी ज्ञानस्वभाव होने से सब को संज्ञीपने का प्रसंग प्राप्त होता है । यदि आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा माना जाए तो भी पहले के समान दोष प्राप्त होता है। इस प्रकार सबको संज्ञीपने का दोष प्राप्त न हो इसलिए समनस्क जीवों को ही संज्ञी कहा गया है।[5]

शङ्का—भली प्रकार जो जानता है वह संज्ञी है, यह लक्षण एकेन्द्रियादिक में चला जाएगा, इसलिए अतिप्रसंगदोष आजाएगा ?

---

१. धवल पु. १ पृ. १५२ गा. ९७; प्रा. पं. सं. पृ. ३६ गा. १७३ । २. प्रा. पं. सं. पृ. ३६ गा. १७४। ३. धवल पु. १ पृ. १५२। ४. स. सि २।११। ५. स. सि. २।२४।

समाधान—यह बात नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रियादिक के मन नहीं पाया जाता। अथवा जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है, वह संज्ञी है।[1]

हित की विधि और अहित के निषेध रूप शिक्षा होती है। दूसरों की क्रिया को देखकर शिक्षा ग्रहण करना अथवा उस रूप कार्य करना क्रिया है। उपदेश के द्वारा शिक्षा ग्रहण करना और क्रिया करना सो उपदेश है। नाम लेकर पुकारने पर आजाना सो आलाप है, अथवा श्लोक आदि का पाठ उच्चारण करना आलाप है।[2]

शङ्का—मन सहित होने के कारण सयोगकेवली भी संज्ञी होते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि आवरण कर्म से रहित उनके मन के अवलम्बन से बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता, इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते।

शंका—तो केवली असंज्ञी रहे आवें?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थों को साक्षात् कर लिया है, उन्हें असंज्ञी मानने में विरोध आता है।[3]

संज्ञी व असंज्ञी जीवों की संख्या

देवेहिं सादिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं।
तेणूणो संसारी सव्वेसिमसण्णिजीवाणं ॥६६३॥

गाथार्थ—देवों के प्रमाण से कुछ अधिक संज्ञी जीवों का प्रमाण है। संसारी जीवराशि में से संज्ञी जीवों के प्रमाण को घटा देने पर सर्व असंज्ञी जीवों की संख्या प्राप्त हो जाती है ॥६६३॥

विशेषार्थ—संज्ञी जीवों में प्रधान देव ही हैं, क्योंकि शेष तीन गति के संज्ञी जीव देवों के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं।[4] इसीलिए संज्ञी जीव देवों से कुछ अधिक हैं, ऐसा कहा गया है।[5]

शङ्का—देव कितने हैं?

समाधान—असंख्यात हैं। दोसौ छप्पन सूच्यंगुल के वर्गरूप से जगत्प्रतर में भाग देने पर देवों का प्रमाण प्राप्त होता है।[6]

शङ्का—संज्ञी जीव देवों से कितने अधिक हैं?

समाधान—असंख्यात अधिक देवराशि प्रमाण संज्ञी जीव हैं। अथवा संज्ञी जीव देवों के संख्यातवें भाग अधिक देवराशि प्रमाण हैं। देव अवहारकाल दोसौ छप्पन सूच्यंगुल का वर्ग अर्थात्

१-२. धवल पु. १ पृ. १५२ व टिप्पण नं. २। ३. धवल पु. १. पृ. ४०८। ४. धवल पु. ३. पृ. ३८६। ५. धवल पु. ३ पृ. ४८२। ६. धवल पु. ३ पृ. २६८-२६९।

६५५३६ प्रतरांगुल में एक प्रतरांगुल को ग्रहण करके और संख्यात खंड करके उनमें से एक खंड को निकालकर शेष बहुखंड उसी में मिला देने पर संज्ञी जीवों का अवहार काल होता है। इसका जगत्प्रतर में भाग देने पर संज्ञी जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है।[1]

सम्पूर्ण संसारी जीव अनन्त हैं। उनमें से संज्ञी जीवों की संख्या असंख्यात कम कर देने पर शेष अनन्त असंज्ञीजीवराशि का प्रमाण रहता है जो अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत नहीं होते हैं।[2]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **संज्ञी मार्गणा** नामक अठारहवां अधिकार पूर्ण हुआ।

१९. आहारमार्गणाधिकार

आहारक का स्वरूप

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥६६४॥
आहरदि सरीराणं तिण्हं एयदरवग्गणाओ य।
भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥६६५॥[3]

गाथार्थ—शरीर नामकर्मोदय को प्राप्त जीव शरीर-वचन-मन के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण करता है, वह आहारक है ॥६६४॥ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में से किसी एक शरीर के योग्य वर्गणा को तथा भाषा व मन वर्गणाओं को जो जीव नियम से ग्रहण करता है वह आहारक कहा गया है ॥६६५॥

विशेषार्थ—तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।[4] औदारिकादि शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड के आहरण अर्थात् ग्रहण करने को आहार कहते हैं।[5] आहार वर्गणा से तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर) बनते हैं।[6]

शङ्का—जिन वर्गणाओं से आहारक शरीर का निर्माण होता है, क्या उन्हीं वर्गणाओं से औदारिक शरीर और वैक्रियिक शरीर का निर्माण होता है? यदि नहीं तो यह कहना कि आहार वर्गणा से तीन शरीर बनते हैं, कैसे घटित होता है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। यद्यपि सामान्य रूप से आहार वर्गणा के द्वारा

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४८२। २. धवल पु. ३ पृ. ४८३। ३. धवल पु. १ पृ. १५२ गा. ९८; प्रा. पं. सं. पृ. ३७ गा. १७६। ४. "त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः।" [स. सि. २/३०] ५. "शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः।" [ध. पु. १ पृ. १५२; पु. ७ पृ. ७]। ६. गो. जी. गा. ६०७।

ग्रौदारिक ग्रादि तीन शरीरों का निर्माण कहा गया है तथापि विशेष विवक्षा में तीनों शरीरों की वर्गणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। जिन ग्राहारवर्गणाग्रों से ग्रौदारिक शरीर का निर्माण होता है, उनसे वैक्रियिक ग्रौर ग्राहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। जिन ग्राहारवर्गणाग्रों से वैक्रियिक शरीर का निर्माण होता है, उनसे ग्रौदारिक ग्रौर ग्राहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। जिन ग्राहार वर्गणाग्रों से ग्राहारक शरीर का निर्माण होता है उनसे ग्रौदारिक व वैक्रियिक शरीर का निर्माण नहीं होता। क्योंकि ग्रौदारिक ग्रादि तीन शरीरों का निर्माण करने वाली ग्राहार वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु उन तीन प्रकार की वर्गणाग्रों के ग्रग्राह्य वर्गणा के द्वारा व्यवधान नहीं होने से उनकी एक वर्गणा मानी गई है।[1]

शंका—कवलाहार ग्रादि में से किस ग्राहार के ग्रहण से जीव ग्राहारक होता है ?

समाधान—ग्राहार मार्गणा में 'ग्राहार' शब्द से कवलाहार, लेपाहार, ऊष्माहार, मानसिकाहार ग्रौर कर्माहार को छोड़कर नोकर्माहार का ही ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—नोकर्माहार वर्गणा का क्यों ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान—यदि कवलाहार ग्रादि को ग्रहण किया जाए तो ग्राहार काल (ग्राहारक काल) ग्रौर विरह (ग्रन्तर) के साथ विरोध ग्राता है। नोकर्मवर्गणा का निरन्तर ग्रहण होता है, किन्तु कवलाहार ग्रादि का निरन्तर ग्रहण नहीं होता।[2]

शंका—ग्राहारमार्गणानुसार जीव ग्राहारक कैसे होता है ?

समाधान—ग्रौदारिक, वैक्रियिक व ग्राहारक शरीर नामकर्म प्रकृतियों के उदय से जीव ग्राहारक होता है।

शङ्का—तैजस व कार्मण शरीर के उदय से जीव ग्राहारक क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि वैसा माननेपर विग्रह गति में भी जीव के ग्राहारक होने का प्रसंग ग्राजायेगा ग्रौर वैसा है नहीं, क्योंकि विग्रह गति में जीव ग्रनाहारक होता है।[3]

ग्राहारक व ग्रनाहारक जीवों का कथन

विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो ग्रजोगी य।
सिद्धा य ग्रणाहारा सेसा ग्राहारया जीवा ॥६६६॥[4]

गाथार्थ—विग्रह गति को प्राप्त, केवली समुद्घात को प्राप्त, ग्रयोगिकेवली तथा सिद्ध भगवान ग्रनाहारक हैं, शेष जीव ग्राहारक हैं ॥६६६॥

---

१. धवल. पु. १४ पृ. ५४६-५५३। २. धवल. पु. १ पृ ४०९ सूत्र १७६ की टीका। ३. धवल पु. ७ पृ. ११३। ४. धवल पु. १ पृ. १५३ गा. ९९; प्रा. पं. सं. पृ. ३७ गा. १७७।

विशेषार्थ—विग्रह देह को कहते हैं। उसके लिए जो गति होती है, वह विग्रह गति है। यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम-कर्म के उदय से अपने-अपने शरीर की रचना करने में समर्थ नाना प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है, अतएव संसारी जीव के द्वारा शरीर का ग्रहण किया जाता है। इसलिए देह को विग्रह कहते हैं। ऐसे विग्रह अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है, वह विग्रह गति है। अथवा 'वि' शब्द का अर्थ विरुद्ध है और 'ग्रह' शब्द का अर्थ 'घात' होने से 'विग्रह' शब्द का अर्थ व्याघात भी होता है, जिसका अर्थ पुद्गलों के ग्रहण करने का निरोध होता है। इसलिए विग्रह अर्थात् पुद्गलों के ग्रहण करने के विरोध के साथ जो गति होती है उसे विग्रह गति कहते हैं। अथवा विग्रह, व्याघात और कौटिल्य ये पर्यायवाची नाम हैं। इसलिए विग्रह से अर्थात् कुटिलता (मोड़ों) के साथ जो गति होती है, उसे विग्रह गति कहते हैं। उसको प्राप्त जीव विग्गहगदिमावण्णा कहलाता है।[1]

एक गति से दूसरी गति को गमन करने वाले जीव के चार गतियाँ होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्ता गति, लांगलिका गति और गोमूत्रिकागति। उनमें पहली गति विग्रह (मोड़ा) रहित होती है और शेष गतियाँ विग्रह (मोड़े) सहित होती है। सरल अर्थात् ऋजुगति एक समयवाली इषुगति होती है। जैसे हाथ से तिरछे फेंके गये द्रव्य को एक मोड़े वाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीव की एक मोड़े वाली गति को पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समय वाली होती है।[2] जैसे हल में दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़े वाली गति को लांगलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समय वाली होती है। जैसे गाय का चलते समय मूत्र का करना अनेक मोड़ों वाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़े वाली गति को गोमूत्रिका गति कहते हैं। यह गति चार समयवाली होती है।[3]

एक मोड़ेवाली पाणिमुक्ता गति में जीव एक समय तक अनाहारक होता है। दो मोड़ेवाली लांगलिका गति में जीव दो समय तक अनाहारक होता है। तीन मोड़े वाली गोमूत्रिका गति में जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है।[4]

घातने रूप कार्य को घात कहते हैं। जिसका प्रकृत में अर्थ कर्मों की स्थिति, अनुभाग का विनाश होता है। उत्तरोत्तर होने वाले घात को उद्घात कहते हैं और समीचीन उद्घात समुद्घात है।[5]

शंका—इस घात में समीचीनता है, यह कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहुत काल में सम्पन्न होने वाले घातों से एक समय में होने वाला घात अधिक है, अतः इस घात में समीचीनता पाई जाती है।

समुद्घात को प्राप्त केवली को समुद्घातगत केवली कहते हैं।[6]

केवलीसमुद्घात दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण चार प्रकार का होता है। लौटते हुए प्रतर, कपाट, दण्ड और शरीरप्रवेश ये चार क्रियाएँ होती हैं। इनमें से प्रतर, लोकपूरण और पुनः प्रतर इन तीन अवस्थाओं में तीन समयों के लिए समुद्घातगत केवली तीन समय तक अनाहारक रहते हैं।[7] अयोगकेवली के अनाहारक का अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है।[8] सिद्ध भगवान भी

---

१. धवल पु. १ पृ. २९९। २. धवल पु. १ पृ. २९९-३००। ३. धवल पु. १. पृ. ३००। ४. "एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।" ॥२/३०॥ [त. सू.]। ५. धवल पु. १ पृ. ३००। ६. धवल पु. १ पृ. ३०१। ७-८ धवल पु. ७ पृ. १८५।

अनाहारक हैं। अयोगकेवली और सिद्ध भगवान के योग का अभाव होने के कारण नोकर्मवर्गणाओं के ग्रहण का अभाव होने से वे अनाहारक हैं।

आहारक जीव मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।[1]

विग्रहगति को प्राप्त जीवों के मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान, समुद्घातगत केवलियों के सयोगिकेवली इन चार गुणस्थानों में रहने वाले जीव और अयोगकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं।[2] कहा भी है—

"प्रतरयोर्लोकपूरणे च कार्मणः। तत्र अनाहार इति।" [स्वा. का. अ. पृ. ३८८ गा. ४८७ टीका]

दोनों प्रतर समुद्घात व लोकपूरण में कार्मण काययोग होता है और अनाहारक अवस्था होती है।

समुद्घात का स्वरूप एवं भेद

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ।।६६७।।[3]
वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ।।६६८।।

गाथार्थ - मूल शरीर को न छोड़ कर उत्तरदेह के व जीवपिण्ड के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो समुद्घात है ।।६६७।। वह समुद्घात, वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली इस तरह सात प्रकार का होता है ।।६६८।।

विशेषार्थ— समुद्घात का विस्तृत कथन प्रसंगवश लेश्यामार्गणा के क्षेत्र व स्पर्शन का कथन करते हुए गाथा ५४३ की टीका में किया जा चुका है तथापि मूल गाथाओं के अनुसार पुन: यहाँ पर कथन किया जाता है। गा. ६६७ में "उत्तरदेहस्स" से अभिप्राय तैजस शरीर व कार्मण शरीर से है। मात्र आत्मप्रदेश बाहर नहीं निकलते, किन्तु उन पर स्थित कार्मण शरीर व तैजस शरीर के प्रदेश भी बाहर निकलते हैं।

"मूलसरीरमछंडिय" अर्थात् मूल शरीर को न छोड़कर, यह कथन केवली समुद्घात के अतिरिक्त अन्य छह की अपेक्षा कहा गया है। क्योंकि लोकपूरण समुद्घात अवस्था में केवली

---

१. धवल पु. ७ पृ. ४०६। २. धवल पु. १ पृ. ४१०। ३. मुद्रित पुस्तक में यह गाथा ६६८ नम्बर की है किन्तु स्वरूप बताये बिना समुद्घात के भेदों का कथन उचित नहीं अत: गाथा ६६८ को ६६७ और गाथा ६६७ को ६६८ लिखा गया है। ये दोनों गाथाएँ बृहद् द्रव्य संग्रह गा. १० की टीका में तथा स्वा. का.अ.गा.१७६ की टीका में उद्धृत हैं। गा. ६६८ प्रा. पं. सं. पृ. ४१ गा. १९९ है और धवल पु. ४ पृ. २९ पर गा. ११ है।

की आत्मा का प्रत्येक प्रदेश लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर फैल जाने पर सर्व आत्मप्रदेश मूल शरीर से बाहर हो जाते हैं।

शंका—जिन आकाशप्रदेशों पर केवली का शरीर है, उन आकाशप्रदेशों पर केवली के आत्मप्रदेश भी हैं। अतः सर्व आत्मप्रदेश मूल शरीर से बाहर नहीं निकले ?

समाधान—जहाँ पर केवली का शरीर है, उन आकाशप्रदेशों पर केवली के आत्मप्रदेश हैं, परन्तु उन आत्मप्रदेशों का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे जहाँ नारकियों के शरीर हैं वहाँ पर भी केवली के आत्मप्रदेश हैं किन्तु नारक शरीर से उन आत्म प्रदेशों का कोई सम्बन्ध नहीं है, मात्र एकक्षेत्र अवगाह है, इसी प्रकार केवली के शरीर से उन आत्मप्रदेशों का कोई सम्बन्ध नहीं है, मात्र उतने प्रदेश एकक्षेत्र अवगाह रूप हैं। केवली के सर्व आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकल कर सर्व लोकाकाश में फैल गये अन्यथा सर्व लोकाकाश में सर्व आत्मप्रदेश नहीं फैल सकते।

शंका समुद्घात का क्या लक्षण है ?

समाधान—**"संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं समुद्घातः।"** [रा वा. १/२०/१२] अर्थात् मिलकर आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना समुद्घात है। 'समुद्घात' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार से हुई—यहाँ 'सम्' और 'उत्' उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु है और भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय लगा है। इस तरह समुद्घात शब्द बना है। यहाँ पर 'हन्' धातु से गमन क्रिया विवक्षित है।

१. **वेदना समुद्घात**—तीव्र वेदना के अनुभव से मूल शरीर को न छोड़ कर आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना वेदना समुद्घात है। जैसे सीतादि के द्वारा पीड़ित रामचन्द्र आदि की चेष्टा हुई थी। वह चेष्टा वेदनासमुद्घात है।[1]

२. **कषाय समुद्घात**—मूल शरीर को न छोड़ते हुए तीव्रकषाय के उदय से दूसरे के घात के लिए आत्म प्रदेशों का बाहर निकलना कषायसमुद्घात है। जैसे—संग्राम में सुभटों के लाल नेत्र आदि के द्वारा कषाय समुद्घात प्रत्यक्ष दिखलाई देता है।

३. **वैक्रियिक समुद्घात**—मूल शरीर को न छोड़ते हुए विक्रिया करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना वैक्रियिक समुद्घात है। वह विष्णुकुमार आदि के समान महर्षियों व देवों के होता है।

४. **मारणान्तिक समुद्घात**—मरणान्त समय में, मूल शरीर को न छोड़कर जहाँ की आयु का बंध किया है, उस प्रदेश को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना मारणान्तिक समुद्घात है।

शंका—वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात ये दोनों मारणान्तिक समुद्घात में अन्तर्भूत क्यों नहीं होते ?

---

१. स्वा. का. अनु. गा. १७६ की टीका पृ. ११५।

समाधान—वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात का मारणान्तिक समुद्घात में अन्तर्भाव नहीं होता है क्योंकि जिन्होंने परभव की आयु बाँध ली है, ऐसे जीवों के ही मारणान्तिक समुद्घात होता है। किन्तु वेदना और कषाय समुद्घात बद्धायुष्क जीवों के भी होता है और अबद्धायुष्क जीवों के भी होता है। मारणान्तिक समुद्घात निश्चय से जहाँ उत्पन्न होना है, ऐसे क्षेत्र की दिशा के अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्घातों के इस प्रकार एक दिशा में गमन का नियम नहीं है क्योंकि उनका दसों दिशाओं में भी गमन पाया जाता है। मारणान्तिक समुद्घात की लम्बाई उत्कृष्टतः अपने उत्पद्यमान क्षेत्रों के अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्घातों का यह नियम नहीं है।[1]

५. तैजस समुद्घात (अशुभ): अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देख कर क्रोधित, संयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्ति वाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजन के अग्रविस्तार वाला, काहल (बिलाव) के आकार का धारक पुरुष (पुतला) निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधी हो, उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकल कर द्वारिकानगरी को भस्म करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म हो गया। यह अशुभ तैजस समुद्घात है।

तैजस समुद्घात (शुभ): जगत् को रोग, दुर्भिक्षादि से दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई, ऐसे परम संयमनिधान महा-ऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दाएँ कन्धे से निकल कर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जावे वह शुभ तैजस समुद्घात है।

६. आहारक समुद्घात—पद या पदार्थ में शंका उत्पन्न होने पर परम ऋद्धि से सम्पन्न महा-ऋषि के मूल शरीर को न छोड़ते हुए मस्तक के मध्य से एक हाथ प्रमाण शुद्ध स्फटिक जैसी आकृति वाले पुतले का निकल कर जहाँ पर केवलज्ञानी है वहाँ पर जाकर दर्शन करके मुनि की शंका का निवारण करके अपने स्थान पर लौट कर मूल शरीर में प्रवेश कर जाता है। यह आहारक समुद्घात है।

७. केवली समुद्घात—दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण केवली समुद्घात हैं।[2]

पढमे दंडं कुणइ य बिदिए य कवाडयं तहा समए।
तइए पयरं चेव य चउत्थए लोय-पूरणयं ॥१८६॥[3]
विवरे पंचमसमए जोई मंथाणयं तदो छट्ठे।
सत्तमए य कवाडं संवरइ तदोऽट्ठमे दंडं ॥१८७॥[4]
दंडदुगे ओरालं कवाडजुगले य पयरसंवरणे।
मिस्सोरालं भणियं कम्मइओ सेस तत्थ अणहारी ॥१८८॥[5]

—समुद्घातगत केवली भगवान् प्रथम समय में दंडरूप समुद्घात करते हैं। द्वितीय समय

---

१. धवल पु. ४ पृ. २७। २. स्वा. का. अ. गाथा १७६ की टीका। ३. प्रा. पं. सं. पृ. ४१।
४. व ५. प्रा. पं. सं. पृ. ४२।

में कपाट रूप समुद्घात करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप और चौथे समय में लोकपूरण समुद्घात करते हैं। पाँचवें समय में वे सयोगिजिन लोक के विवरगत आत्मप्रदेशों का संवरण (संकोच) करते हैं। पुनः छठे समय में मन्थान (प्रतर) गत आत्मप्रदेशों का संवरण करते हैं। सातवें समय में कपाटगत आत्मप्रदेशों का संवरण करते हैं और आठवें समय में दण्ड समुद्घातगत आत्मप्रदेशों का संवरण करते हैं। दण्ड-द्विक दोनों दण्ड समुद्घातों में औदारिक काययोग होता है। कपाट-युगल में अर्थात् विस्तार और संवरण-गत दोनों कपाट समुद्घातों में औदारिकमिश्र काययोग होता है। शेष समयों में अर्थात् तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मण काययोग होता है और उन तीन समयों में केवली भगवान अनाहारक रहते हैं।

शंका— केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी केवलियों को समुद्घात करने के अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि सभी केवली समुद्घात पूर्वक ही मोक्ष जाते हैं, ऐसा मान लिया जावे, इसमें क्या हानि है? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की वर्षपृथक्त्व के अनन्तर बीस संख्या होती है, यह नियम नहीं बन सकता है। केवलिसमुद्घात सहेतुक होता है, यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि केवली समुद्घात का कोई हेतु नहीं पाया जाता। यदि कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु कर्म की स्थिति से अधिक है, यह कारण है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षीण कषाय के चरम समय में सर्व कर्मों की स्थिति समान न होने से सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसंग आ जायेगा।[1]

समाधान—यतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातियाकर्मों की स्थिति समान नहीं होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की बीस संख्या का नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।

शंका—कौनसे केवली समुद्घात नहीं करते हैं?

समाधान—जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है, वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली करते हैं।

शंका—अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर संसारव्यक्ति-स्थिति और शेष तीन कर्मों की स्थितियों में विषमता क्यों रहती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि संसार की व्यक्ति और कर्मस्थिति के घात के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों के समान रहने पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मों की स्थिति के समान मान लेने में विरोध आता है।

शंका—संसार-विच्छेद का क्या कारण है?

---

१. धवल पु. १ पृ. ३०१-३०२।

समाधान—द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसार के विच्छेद के कारण हैं। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवों में संभव नहीं है, क्योंकि दशपूर्व और नौपूर्व धारी जीवों का भी क्षपक श्रेणी पर चढ़ना देखा जाता है। अतः वहाँ पर संसार व्यक्ति के समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में नियम से नाश को प्राप्त होने वाले पल्योपम के असंख्यातवें भाग आयाम वाले या संख्यात आवली आयाम के स्थिति-काण्डकों का विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्घात के बिना ही आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं। तथा कितने ही जीव समुद्घात के द्वारा शेष कर्मों को आयु कर्म के समान करते हैं। परन्तु यह संसार का घात केवली में पहले सम्भव नहीं है। क्योंकि पहले स्थितिकाण्डक के घात के समान सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

शंका—जबकि परिणामों में कोई अतिशय नहीं पाया जाता है अर्थात् सभी केवलियों के परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसार का घात मत होओ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वीतरागरूप परिणामों के समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु कर्म की अपेक्षा से आत्मा के उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामों से संसार का घात बन जाता है।

शंका—अन्य आचार्यों के द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थ का इस प्रकार व्याख्यान करने वाले आचार्य सूत्र के विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि वर्षपृथक्त्व के अन्तराल का प्रतिपादन करने वाले सूत्र के वशवर्ती आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

शंका—छह माह प्रमाण आयु कर्म के शेष रहने पर जिस जीव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घात करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं।[1] इस सम्बन्धी प्रमाण गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

छम्मासा उवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥१६७॥[2]
छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जेसिं केवलं णाणं।
तं णियमा समुग्घायं सेसेसु हवंति भयणिज्जा ॥२००॥[3]

इन गाथाओं का उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस प्रकार विकल्प के मानने में कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथाओं का उपदेश नहीं ग्रहण किया है।

शङ्का—निम्नलिखित गाथा में समुद्घात करने और न करने का कारण कहा गया है—

---

१. धवल पु. १ पृ. ३०२-३०३। २. धवल पु. १ पृ. ३०३। ३. प्रा. पं. सं. पृ. ४२।

जेसिं आउ-समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च।
ते अकय-समुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए ॥१६८॥[1]

—जिन जीवों के नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है, वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। दूसरे समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं ॥१६८॥

इस गाथा के उपदेश को क्यों नहीं ग्रहण किया जाता ?

समाधान—इस पूर्वोक्त गाथा में कहे गये अभिप्राय को तो किन्हीं जीवों के समुद्घात के होने में और किन्हीं जीवों के समुद्घात नहीं होने में कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण जीवों में समान अनिवृत्तिरूप परिणामों के द्वारा कर्मस्थितियों का घात पाया जाता है, अतः उनका आयु के समान होने में विरोध आता है। दूसरे क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में तीन अघातिया कर्मों की जघन्य स्थिति भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग सभी जीवों के पाई जाती है।

शङ्का—आगम तर्क का विषय नहीं है। इसलिए इस प्रकार तर्क के बल से पूर्वोक्त गाथाओं के अभिप्राय का खण्डन करना उचित नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि इन गाथाओं का आगम रूप से निर्णय नहीं हुआ है अथवा यदि इन दोनों गाथाओं का आगम रूप से निर्णय हो जाय तो इनका ही ग्रहण रहा आवे।[2]

जब आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक हो तो भगवान, आत्मोपयोग अतिशय व्यापार विशेष से व यथाख्यात चारित्र की सहायता से महासंवर सहित होकर, शीघ्र कर्म परिपाचन में समर्थ और सर्व कर्मरज को उड़ाने में समर्थ ऐसे दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण समुद्घात को चार समयों में करते हैं। केवली जिन समुद्घात करते हुए पूर्वाभिमुख होकर या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग से करते हैं या पल्यंकासन से करते हैं। वहाँ कायोत्सर्ग से दण्डसमुद्घात को करने वाले केवली के मूलशरीर की परिधि प्रमाण कुछ कम चौदह राजू लम्बे दण्डाकाररूप से जीवप्रदेशों का फैलना **दण्डसमुद्घात है**। यहाँ कुछ कम का प्रमाण लोक के नीचे और ऊपर लोक-पर्यन्त वातवलय से रोका गया क्षेत्र होता है। ऐसा यहाँ जानना चाहिए, क्योंकि स्वभाव से ही उस अवस्था में वातवलय के भीतर केवली के जीवप्रदेशों का प्रवेश नहीं होता। इसी तरह पल्यंकासन से समुद्घात करने वाले केवली जिन के दण्डसमुद्घात कहना चाहिए। इतना विशेष है कि मूलशरीर की परिधि से उस अवस्था में दण्डसमुद्घात की परिधि तिगुणी हो जाती है।[3]

जैसे कपाट मोटाई की अपेक्षा अल्प ही होकर लम्बाई और चौड़ाई की अपेक्षा बढ़ता है। उसी प्रकार यहाँ (कपाट समुद्घात में) भी मूल शरीर के बाहल्य की अपेक्षा अथवा उसके तिगुणे बाहल्य की अपेक्षा जीवप्रदेशों के अवस्थाविशेषरूप होकर, कुछ कम १४ राजू प्रमाण आयाम की अपेक्षा तथा ७ राजू प्रमाण विस्तार की अपेक्षा अथवा वृद्धि-हानिगत विस्तार की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त होकर

---

१. धवल पु. १ पृ. ३०४। २. धवल पु. १ पृ. ३०४। ३. जयधवल फलटण पृ. २२७८।

स्थित रहता है, वह **कपाट समुद्‌घात** कहा जाता है, क्योंकि इस समुद्‌घात में स्पष्ट रूप से ही कपाट जैसा आकार पाया जाता है।[1]

तीनों वातवलयों को छोड़ कर सम्पूर्ण लोक में आत्मप्रदेश जब फैलते हैं तब तृतीय समयवाला **प्रतर समुद्‌घात** होता है। चतुर्थ समय में तीनों वातवलयों में भी आत्मप्रदेश फैल जाते हैं। यही **लोकपूरण समुद्‌घात** है।[2]

समुद्‌घातों की दिशा

आहारमारणंति य दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ॥६६९॥

गाथार्थ—आहारक-समुद्‌घात और मारणान्तिक समुद्‌घात इन दो समुद्‌घातों में तो एक ही दिशा में आत्मप्रदेशों का गमन होता है। शेष पाँच समुद्‌घातों में दसों दिशाओं में गमन होता है ॥६६९॥

विशेषार्थ—आहारक और मारणान्तिक समुद्‌घात एक दिशा में होते हैं। आहारक शरीर की रचना के समय श्रेणीगति होने के कारण एक ही दिशा में (जिस ओर केवली या श्रुतकेवली होते हैं।) असंख्यात आत्मप्रदेश निकल कर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीर की रचना करते हैं। जहाँ नरक आदि में जीव को (पूर्वबद्ध आयु अनुसार) मरकर उत्पन्न होना है, उसी दिशा में आत्मप्रदेश निकलते हैं। शेष पाँच समुद्‌घात श्रेणी के अनुसार ऊपर-नीचे-पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इन छहों दिशाओं में आत्मप्रदेश निकलते हैं।[3] आहारक समुद्‌घात में एक हाथ प्रमाण आहारक पुतला उसी दिशा में गमन करता है जिस दिशा में केवली या श्रुतकेवली होते हैं, अन्य दिशा में गमन नहीं करता। यदि केवली या श्रुतकेवली विदिशा में होते हैं तो आहारक शरीर मोड़ा लेकर उस स्थान पर पहुँचता है, क्योंकि आहारक पुतले की अनुश्रेणि गति होती है। मारणान्तिक समुद्‌घात में भी जहाँ पर उत्पन्न होता है उसी क्षेत्र की ओर आत्मप्रदेश फैलते हैं, अन्य क्षेत्र की ओर आत्मप्रदेश नहीं जाते। इसमें भी अनुश्रेणी गति होती है। अतः इन दोनों समुद्‌घातों को एक-दिक् कहा गया है। वेदना आदि पाँचों समुद्‌घातों में आत्मप्रदेश चारों ओर और ऊपर नीचे फैलते हैं, इसलिए छह दिशाओं में फैलते हैं ऐसा कहा गया है। किन्तु जब आत्मप्रदेश शरीर के चारों ओर फैलते हैं तो विदिशाओं में भी जाते हैं अतः विदिशाओं को पृथक् गिन कर दशों दिशाओं में फैलते हैं, ऐसा कहा गया है। छह दिशा व दश दिशा कहने में मात्र शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है क्योंकि दोनों का अभिप्राय एक है।

वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस और आहारक इन छह समुद्‌घातों का काल असंख्यात समय है। केवलि-समुद्‌घात का काल आठ समय है। दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण के चार समय पुनः प्रतर, कपाट, दण्ड और स्वशरीर में प्रवेश के चार समय इस प्रकार केवलि-समुद्‌घात का काल आठ समय होता है।[4]

---

१. जयधवल फलटण पृ. २२७९ २. स्वा. का. अनु. गा. ४८७ टीका पृ. ३८८। ३. राजवार्तिक १/२०/१२। ४. रा. वा. १/२०/१२।

आहारक और अनाहारक का काल

अंगुलअसंखभागो कालो आहारयस्स उक्कस्सो ।
कम्मम्मि अणाहारो उक्कस्सं तिण्णि समया हु ।।६७०।।

गाथार्थ– आहारक का उत्कृष्ट काल अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। कार्मण शरीर में अनाहारक का उत्कृष्ट काल तीन समय है ।।६७०।।

विशेषार्थ—आहारक जीवों का नाना जीव की अपेक्षा सर्व काल है किन्तु एक जीव की अपेक्षा आहारक का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त अर्थात् तीन समय कम क्षुद्र भव प्रमाण है । कोई जीव तीन मोड़े (विग्रह करके) लेकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होकर चौथे समय में आहारक हुआ, फिर भुज्यमान आयु को कदलीघात से छिन्न करके अन्त में विग्रह करके निकलने वाले जीव के तीन समय कम क्षुद्रभवग्रहण मात्र जघन्य आहारक काल पाया जाता है । अधिक से अधिक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल तक जीव आहारक रहता है ।[1]

एक जीव की अपेक्षा अनाहारक का जघन्य काल एक समय है, क्योंकि एक विग्रह करके उत्पन्न होने वाले जीवों के यह काल पाया जाता है । अधिक से अधिक तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है । क्योंकि समुद्घात करने वाले सयोगिकेवली व तीन विग्रह करने वाले जीव के अनाहारत्व का तीन समयप्रमाण काल पाया जाता है। अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त काल तक भी जीव अनाहारक रहता है, क्योंकि अयोगिकेवली अनाहारक का अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है ।[2] अथवा पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल के समान है ।[3]

आहारक व अनाहारक जीवों की संख्या

कम्मइयकायजोगी होदि अणाहारयाण परिमाणं ।
तव्विरहिदसंसारो सव्वो आहार-परिमाणं ।।६७१।।

गाथार्थ—कार्मणकाययोगी जीवों का जितना प्रमाण है, उतना ही अनाहारक जीवों का प्रमाण है । संसारी जीवराशि में से कार्मणकाययोगी जीवों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे, उतने आहारक जीव हैं ।।।६७१।।

विशेषार्थ—संख्यात आवली मात्र अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा यदि सर्व जीवराशि का संचय होता है तो तीन समयों में कितना संचय होगा। इस प्रकार इच्छाराशि से फलराशि को गुणित करके जो लब्ध आये उसे प्रमाणराशि से भाजित करने पर अन्तर्मुहूर्त काल से भाजित सर्व जीवराशि आती है। यह अनाहारक जीवों का प्रमाण है ।[4] यहाँ पर अयोगी जिन का प्रमाण गौण है, क्योंकि

---

१. धवल पु. ७ पृ. १८४ व १८५ । २. धवल पु.७ पृ.१८५ । ३. धवल पु. ४ पृ. ४८८ । ४. धवल पु. ३ पृ. ४०३ ।

वे मात्र ६०८ हैं और कार्मणकाययोगी जीव अनन्त हैं। अतः संसारी जीवराशि अनन्त में असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर लब्ध अनन्त प्राप्त होता है। इस अनन्त को संसारी जीवराशि में से घटाने पर आहारक जीवों की संख्या प्राप्त होती है। अथवा सर्व संसारी जीवों के असंख्यात खंड करने पर एक खण्ड प्रमाण अनाहारक है और बहु भाग आहारक जीव हैं।[1] अनाहारक से आहारक जीव असंख्यात गुणे हैं, गुणाकार अन्तर्मुहूर्त है।[2]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **आहार मार्गणा** नामक उन्नीसवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

२०. उपयोगाधिकार

साकार व अनाकार उपयोग

वत्थुणिमित्तं भावो जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो सायारो चेव णायारो ॥६७२॥[3]
णाणं पंचविहंपि य अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।
चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥६७३॥
मदिसुदओहिमणेहिय सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु सायारो ॥६७४॥[4]
इंदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणायारो ॥६७५॥[5]

गाथार्थ—वस्तु (ज्ञेय) को ग्रहण करने के लिए जीव का जो भाव होता है, वह उपयोग है। वह उपयोग साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार का है ॥६७२॥ पाँच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये साकार उपयोग हैं। चार प्रकार का दर्शन अनाकार उपयोग है। ये सब जीव के लक्षण हैं, अर्थात् आठ प्रकार का साकार उपयोग और चार प्रकार का अनाकार उपयोग जीव का लक्षण है ॥६७३॥ अन्तर्मुहूर्त काल तक मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्यय ज्ञान अपने-अपने विषय को विशेष रूप से ग्रहण करता है, वह साकार उपयोग है ॥६७४॥ इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अविशेष रूप पदार्थ का जो ग्रहण है, वह अनाकार उपयोग है, उसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है ॥६७५॥

विशेषार्थ—जीव का लक्षण उपयोग है। जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों

---

१. धवल पु. ३ पृ. ४८५। २. धवल पु. ७ पृ. ५७४। ३. प्रा. पं. सं. पृ. ३७ गा. १७८। ४. प्रा. पं. सं. पृ. ३८ गा. १७९। ५. प्रा. पं. सं. पृ. ३८ गा. १८०।

से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग है।[1]

शंका—बाह्य निमित्त कौन-कौन से हैं ?

समाधान—बाह्य निमित्त दो प्रकार का है–आत्मभूत बाह्य निमित्त और अनात्मभूत बाह्य निमित्त। आत्मा से सम्बद्ध शरीर में निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मभूत बाह्य हेतु हैं और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य निमित्त है।

शङ्का—अन्तरंग निमित्त कौन-कौन से हैं ?

समाधान—अन्तरंग निमित्त भी आत्मभूत और अनात्मभूत के भेद से दो प्रकार का है। मन-वचन-काय की वर्गणाओं के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन रूप द्रव्य योग अन्त:प्रविष्ट होने से आभ्यन्तर अनात्मभूतहेतु अन्तरंग निमित्त है।[2]

इन दोनों निमित्तों के होने पर जो चैतन्य अनुविधायी परिणाम अर्थात् आत्मा के चैतन्य गुण का परिणमन है, वह उपयोग है और यह उपयोग जीव का लक्षण है।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥२।९॥ [तत्त्वार्थसूत्र]

—वह उपयोग दो प्रकार का है। साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। साकार उपयोग आठ प्रकार का और अनाकार उपयोग चार प्रकार का है।[3] साकार उपयोग ज्ञान है और अनाकार उपयोग दर्शन है।[4]

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥ [बृहद् द्रव्यसंग्रह]
णाणं अट्ठवियप्पं मदि सुदि ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥ [बृहद् द्रव्यसंग्रह]

—ज्ञान और दर्शन के भेद से उपयोग दो प्रकार का है। उनमें से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञान आठ प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, अवध्यज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं।

शंका—साकार-उपयोग और अनाकार-उपयोग किसे कहते हैं ?

समाधान—जो उपयोग आकार सहित है, वह ज्ञानोपयोग है, क्योंकि वह आकार सहित है।

---

१. स. सि. २/८। २. रा. वा. २/८/१। ३. रा. वा. २/९। ४. "साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति"। [स. सि. २/९]।

जो उपयोग निराकार है, वह दर्शनोपयोग है, क्योंकि वह आकार से रहित है।

शंका—आकार किसे कहते हैं ?

समाधान—कर्म-कर्तृभाव का नाम आकार है। उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है, उसका नाम साकार है।[1] प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय-प्रतिभासमान होता है, उसे आकार कहते हैं। वह आकार जिस उपयोग में नहीं पाया जाता है, वह उपयोग अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग कहलाता है।[2]

शंका—बिजली के प्रकाश से पूर्वदिशा, देश और आकार से युक्त जो सत्ता का ग्रहण होता है, वह ज्ञानोपयोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें विशेष पदार्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता।

समाधान—नहीं क्योंकि वहाँ पर ज्ञान से पृथग्भूत कर्म पाया जाता है, इसलिए वह भी ज्ञान ही है। वहाँ पर दिशा, देश, आकार और वर्ण आदि विशेषों से युक्त सत्ता का ग्रहण पाया जाता है।[3]

अन्तरंग को विषय करने वाले उपयोग को अनाकार उपयोग रूप से स्वीकार किया है। अन्तरंग उपयोग विषयाकार होता है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि इसमें कर्ता रूप द्रव्य से पृथग्भूत कर्म नहीं पाया जाता।[4]

अन्तरंग उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। कारण यह कि आकार का अर्थ 'कर्मकर्तृत्व' है, उसके बिना जो अर्थोपलब्धि होती है, उसे अनाकार-उपयोग कहा जाता है। अन्तरंग उपयोग में कर्म-कर्तृत्व होता है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें कर्ता की अपेक्षा द्रव्य व क्षेत्र से स्पष्ट कर्म का अभाव है।[5]

उपयोग अधिकार में जीवों की संख्या

णाणुवजोगजुदाणं परिमाणं णाणमग्गणं व हवे।
दंसणुवजोगियाणं दंसणमग्गण व उत्तकमो ॥६७६॥

गाथार्थ—ज्ञानोपयोग वाले जीवों का प्रमाण ज्ञानमार्गणा वाले जीवों की तरह समझना चाहिए और दर्शनोपयोग वालों का प्रमाण दर्शनमार्गणा वालों की तरह समझना चाहिए ॥६७६॥

विशेषार्थ—ज्ञानमार्गणा के अनुसार मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानियों का प्रमाण नपुंसकवेदियों के समान अनन्त है जो अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होते हैं अर्थात् मध्यम अनन्तानन्त हैं। विभंगज्ञानी देवों से कुछ अधिक हैं अर्थात् साधिक दो सौ छप्पन अंगुलों के वर्ग का जगत्प्रतर में भाग देने पर देव विभंगज्ञानियों का प्रमाण होता है, इसमें तीन गतियों के विभंगज्ञानियों का प्रमाण जोड़ने पर समस्त विभंगज्ञानियों का प्रमाण होता है। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं अर्थात् आवली के असंख्यातवें

---

१. धवल पु. १३ पृ. २०७। २. जयधवल पु. १ पृ. ३३१। ३. जयधवल पु. १ पृ. ३३८। ४. धवल पु. १३ पृ. २०७-२०८। ५. धवल पु. ११ पृ. ३३३।

भाग से पल्योपम में भाग देने पर इन तीनों ज्ञानियों की संख्या प्राप्त होती है। मन:पर्ययज्ञानी असंख्यात हैं। केवलज्ञानी अनन्त हैं, क्योंकि सिद्ध भगवान भी केवलज्ञानी हैं।[1]

चक्षुर्दर्शनी असंख्यात हैं, क्योंकि सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग के वर्ग से जगत्प्रतर को अपहृत करने पर चक्षुर्दर्शनी राशि प्राप्त होती है। अचक्षुर्दर्शनियों का प्रमाण मतिअज्ञानियों के समान है। अवधिदर्शनियों का प्रमाण अवधिज्ञानियों के समान है और केवलज्ञानियों के समान केवलदर्शनियों का प्रमाण है।[2]

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **उपयोग प्ररूपणा** नामक बीसवां अधिकार पूर्ण हुआ।

२१. अन्तर्भावाधिकार

बीस प्ररूपणाओं का कथन करके अब अन्तर्भावाधिकार का कथन किया जाता है—

प्रतिज्ञा

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणुवजोगो।
जोग्गा परूविदव्वा ओघादेसेसु पत्तेयं ॥६७७॥

गाथार्थ—ओघ (गुणस्थानों) में और आदेश (मार्गणाओं) में गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग का निरूपण किया जायेगा ॥६७७॥

मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन

चउपण चोद्दस चउरो णिरयादिसु चोद्दसं तु पंचक्खे।
तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणट्ठाणं ॥६७८॥

गाथार्थ—नरक गति में चार गुणस्थान, तिर्यंच गति में पाँच गुणस्थान, मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान और देवगति में चार गुणस्थान होते हैं। पंचेन्द्रिय और त्रस काय में चौदह गुणस्थान, और शेष इन्द्रियों व काय में एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है ॥६७८॥

विशेषार्थ—सातों नरकों में चारों गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में मात्र प्रथम नरक में चतुर्थ गुणस्थान होता है शेष छह नरकों में प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। दूसरा और तीसरा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था में किसी भी नरक में नहीं होता। तिर्यंचों में प्रथम पाँच गुणस्थान होते हैं, किन्तु तीसरा और पाँचवां गुणस्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचों के पर्याप्त अवस्था में ही होता है किन्तु दूसरा और चौथा गुणस्थान पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। प्रथम गुणस्थान सभी तिर्यंचों के सब अवस्थाओं में सम्भव है। मनुष्यों में चौदह गुणस्थान होते हैं। मनुष्य के निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में पहला, दूसरा, चौथा गुणस्थान होता है किन्तु मनुष्यिनी के चौथा

---

१. धवल पु. ७ पृ. २८६-२८७। २. धवल पु. ७ पृ. २९०-२९२।

गुणस्थान निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में नहीं होता। लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य के प्रथम गुणस्थान ही होता है। देवों में चार गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में पहला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान होते हैं। तीसरा गुणस्थान पर्याप्त अवस्था में ही होता है। भवनत्रिक देवों के अपर्याप्त अवस्था में पहला और दूसरा ये दो ही गुणस्थान होते हैं, तीसरा और चौथा गुणस्थान मात्र पर्याप्त अवस्था में ही होता है।[1]

इन्द्रियमार्गणा के अनुसार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के चौदह गुणस्थान होते हैं। किन्तु निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होते हैं। तीसरा और पाँचवें से चौदहवें तक ये गुणस्थान पर्याप्त अवस्था में ही होते हैं। केवली समुद्घात की अपेक्षा तेरहवाँ गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था में भी सम्भव है। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सब जीवों के पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।[2]

कायमार्गणा के अनुसार स्थावरों के एक पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। त्रस में चौदह गुणस्थान होते हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक के पहला, दूसरा व चौथा ये तीन गुणस्थान सम्भव हैं। शेष गुणस्थान पर्याप्त अवस्था में ही होते हैं। केवली समुद्घात की अपेक्षा तेरहवाँ गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था में भी सम्भव है।[3]

योगमार्गणा में गुणस्थानों का कथन

मज्झिमचउमणवयणे सण्णिप्पहुदिं दु जाव खीणोत्ति।
सेसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो ।।६७९।।

ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगोत्ति।
तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ।।६८०।।

मिच्छे सासणसम्मे पुंवेदयदे कवाडजोगिम्मि।
णरतिरियेवि य दोण्णिवि होंतित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।६८१।।

वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु।
सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्सजोगो हु ।।६८२।।

आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु।
अंतोमुहुत्तकाले छट्ठगुणे होदि आहारो ।।६८३।।

ओरालियमिस्सं वा चउगुणठाणेसु होदि कम्मइयं।
चदुगदिविग्गहकाले जोगिस्स य पदरलोगपूरणगे ।।६८४।।

गाथार्थ—मध्य के चार मनोवचन योग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक होते हैं। शेष मनोयोग व वचनयोग सयोगीकेवली पर्यन्त होते हैं किन्तु अनुभय विकलेन्द्रियों के भी

१.२.३. धवल पु.२ गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा।

होता है ।।६७९।। औदारिक काययोग स्थावर पर्याप्त से लेकर सयोगीकेवली पर्यन्त होता है। औदारिक मिश्र अपर्याप्त के चार गुणस्थानों में नियम से होता है ।।६८०।। वे चार गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन, असंयत सम्यग्दृष्टि व सयोगकेवली हैं। असंयत सम्यक्त्व पुरुषवेदी के ही और कपाटगत सयोगकेवली के ही औदारिकमिश्रकाययोग होता है ।।६८१।। देव व नारकी पर्याप्त के वैक्रियिक काययोग में चार गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक मिश्र काययोगी के भी मिश्र गुणस्थान बिना शेष तीन गुणस्थान होते हैं ।।६८२।। छठे गुणस्थानवर्ती आहारक समुद्घात वाले मुनि के पर्याप्त अवस्था में आहारक काययोग होता है और अपर्याप्त अवस्था में आहारकमिश्र काययोग होता है जिसका काल अन्तर्मुहूर्त है ।।६८३।। औदारिकमिश्र काययोग के समान कार्मण काययोग में भी चार गुणस्थान होते हैं। चतुर्गति जीवों के विग्रह गति में और सयोग-केवली के प्रतर व लोकपूरण अवस्था में कार्मण काययोग होता है ।।६८४।।

विशेषार्थ—गाथा में कहे गये **"मज्झिमचउमणवयणे"** शब्द से चार मनोयोगों में से बीच के दो मनोयोग (असत्य व उभय) तथा चार वचनयोगों में से बीच के दो वचनयोग (असत्य व उभय); ये कुल चार योग ग्रहण करने चाहिए। इन चारों योगों में मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक बारह गुणस्थान होते हैं, किन्तु ये चारों योग संज्ञी जीवों के ही होते हैं। शेष अर्थात् सत्य मनोयोग व सत्य वचन योग में तथा अनुभय मनोयोग व अनुभय वचनयोग में भी पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोग-केवली तक तेरह गुणस्थान होते हैं। इतनी विशेषता है कि अनुभयवचनयोग विकलचतुष्क (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय) जीवों के भी होता है और इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन न होने से वे विकल कहे जाते हैं। इस प्रकार चारों मनोयोग व चारों वचनयोग के स्वामी व उनमें होने वाले गुणस्थानों का कथन किया गया।

औदारिक काययोग में पर्याप्त स्थावरकाय अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान तक के तेरह गुणस्थान होते हैं, किन्तु ये पर्याप्त अवस्था में होते हैं क्योंकि औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था में होता है। औदारिकमिश्र काययोग अपर्याप्त अवस्था में होता है, उसमें मिथ्यात्व, सासादन, असंयत सम्यक्त्व व सयोगकेवली अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान होते हैं। चौथा गुणस्थान औदारिक मिश्र में पुरुषवेदी मनुष्य या तिर्यंच के होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर अप्रशस्त वेद वाले मनुष्य या तिर्यंचों में उत्पन्न (जन्म) नहीं होता। सयोगकेवली के कपाट समुद्घात में औदारिकमिश्र काययोग होता है। इसलिए औदारिक मिश्र काययोग में तेरहवाँ गुणस्थान कहा गया है।

शंका—कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवली पर्याप्त हैं या अपर्याप्त ?

समाधान—उन्हें पर्याप्त तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि औदारिकमिश्र काययोग और कार्मण काययोग अपर्याप्तकों के होता है, इसलिए वे अपर्याप्तक हैं।

शङ्का—सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत नियम से पर्याप्तक होते हैं ऐसा आर्षवाक्य है। इससे सिद्ध होता है कि सयोगकेवली पर्याप्तक हैं। सयोगकेवली के अतिरिक्त अन्य औदारिक मिश्र काय योग वाले जीव अपर्याप्तक होते हैं। ऐसा क्यों न माना जाये ?

समाधान—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्तकों के होता है। इससे सिद्ध होता है कि छठे गुणस्थानवर्ती संयत अपर्याप्तक भी होते हैं।[1]

शङ्का—जबकि कपाट-समुद्घातगत केवली-अवस्था में अभिप्रेत होने के कारण 'औदारिक-मिश्र काययोग अपर्याप्तकों के होता है' यह सूत्र पर है तो 'संयतस्थान में जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं', इस सूत्र में आये हुए नियम शब्द की क्या सार्थकता रह गई? और ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होता है कि उक्त सूत्र में आया हुआ नियम शब्द सप्रयोजन है कि निष्प्रयोजन?

समाधान—इन दोनों विकल्पों में से दूसरा विकल्प तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि श्री पुष्पदन्त के वचन से निकले हुए तत्त्वों में निष्प्रयोजन (निरर्थकता) का होना विरुद्ध है। और सूत्र की नित्यता का प्रकाशन करना भी नियम शब्द का फल नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर जिन सूत्रों में नियम शब्द नहीं पाया जाता है, उन्हें अनित्यता का प्रसंग आजायेगा। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'औदारिक काययोग पर्याप्तकों के होता है' इस सूत्र में नियम शब्द का अभाव होने से अपर्याप्तकों में भी औदारिक काययोग के अस्तित्व का प्रसंग प्राप्त होगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः सूत्र में आया हुआ नियम शब्द ज्ञापक है, नियामक नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो उसको अनर्थकपने का प्रसंग आजायेगा।

शंका—इस नियम शब्द के द्वारा क्या ज्ञापित होता है?[2]

समाधान—इससे यह ज्ञापित होता है कि 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयतस्थान में जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं' यह सूत्र अनित्य है। अपने विषय में सर्वत्र समान प्रवृत्ति का नाम नित्यता है और अपने विषय में ही कहीं प्रवृत्ति हो और कहीं न हो, इसका नाम अनित्यता है। इससे उत्तर शरीर को उत्पन्न करने वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयतों के तथा कपाट, प्रतर और लोकपूरणसमुद्घात को प्राप्त केवलियों के अपर्याप्तपना सिद्ध हो जाता है।[3]

शङ्का—आरम्भ किया हुआ शरीर जिसके अर्ध (अपूर्ण) है वह अपर्याप्त है। परन्तु सयोगी-अवस्था में शरीर का आरम्भ तो होता नहीं अतः सयोगी के अपर्याप्तपना नहीं बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि कपाट-आदि समुद्घात-अवस्था में सयोगी जिन छह पर्याप्ति रूप शक्ति से रहित होते हैं, अतएव वे अपर्याप्त हैं।[4]

देव व नारकियों के पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक काययोग में मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व और असंयत सम्यक्त्व अर्थात् पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा ये चार गुणस्थान होते हैं। इन्हीं के अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियिकमिश्र काययोग में सम्यग्मिथ्यात्व तीसरा गुणस्थान नहीं होता। इतनी विशेषता है कि नारकियों के वैक्रियिकमिश्र काययोग में सासादन दूसरा गुणस्थान भी नहीं होता अर्थात् पहला और चौथा ये दो गुणस्थान होते हैं। देवों के वैक्रियिकमिश्रकाययोग में पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होते हैं। भवनत्रिक देवों के और सब देवियों के वैक्रियिक-मिश्र काययोग में पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं।

---

१. धवल पु. २ पृ. ४४१। २. धवल पु. २ पृ. ४४३। ३. धवल पु. २ पृ. ४४३। ४. धवल पु. २ पृ. ४४४।

आहारक समुद्घात छठे गुणस्थान में ही होता है। छठे गुणस्थानवालों के अपर्याप्त-अवस्था में आहारकमिश्र काययोग होता है। उस आहारकमिश्र काययोगी के एक प्रमत्तसंयत छठा गुणस्थान होता है। इस आहारक-मिश्र काययोग का काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि आहारक-मिश्र काययोगी का मरण नहीं होता है। पर्याप्ति पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त काल लगता ही है, इससे कम काल में पर्याप्ति पूर्ण भी नहीं होती।

औदारिकमिश्र काययोग के समान कार्मण काययोग में मिथ्यात्व, सासादन, अविरतसम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान होते हैं। इतनी विशेषता है कि औदारिकमिश्र काययोग तो मात्र मनुष्य व तिर्यंचों के होता है, किन्तु कार्मण काययोग चारों गतिवाले जीवों के विग्रहगति में होता है। तेरहवें गुणस्थान में भी औदारिकमिश्र काययोग कपाट समुद्घात में होता है, किन्तु कार्मण काययोग प्रतर व लोकपूरण समुद्घात में होता है।

कपाट समुद्घात के समय चौदह राजू आयाम से और सात राजू विस्तार से अथवा चौदह राजू आयाम से और एक राजू को आदि लेकर बढ़े हुए विस्तार से व्याप्त जीव के प्रदेशों का संख्यात अंगुल की अवगाहना वाले पूर्व शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि सम्बन्ध माना जायेगा, तो जीव के प्रदेशों के परिमाणवाला ही औदारिक शरीर को होना पड़ेगा। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि विशिष्ट बन्ध को धारण करने वाले शरीर के पूर्वोक्त प्रमाण रूप से पसरने की शक्ति का अभाव है। यदि मूल शरीर के प्रसरण शक्ति मानी जाये तो उनके औदारिकमिश्र व कार्मण-काययोग नहीं बन सकता अतः कपाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घातकेवली के पुराने मूल शरीर के साथ सम्बन्ध है ही नहीं।[1]

वेद मार्गणा में गुणस्थानों का कथन

थावरकायप्पहुदी संढो सेसा असण्णिआदी य।
अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६८५॥

गाथार्थ—नपुंसक वेद में स्थावर काय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक होते हैं। शेष स्त्रीवेद व पुरुषवेद में असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के सवेदभाग तक होते हैं। ऐसा जिन (श्रुतकेवली) ने कहा है ॥६८५॥

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक जीव सम्मूर्च्छन होने के कारण नपुंसक वेदी ही होते हैं।[2] इसलिए स्थावरकाय को अर्थात् एकेन्द्रियों के प्रथम गुणस्थान को आदि करके अनिवृत्तिकरण नवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक नौ गुणस्थान नपुंसक वेद में होते हैं। स्त्रीवेद और पुरुषवेद गर्भजों व उपपाद जन्म वाले देवों के होता है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव गर्भज भी होते हैं और उनके स्त्रीवेद व पुरुषवेद होता है। इसलिए स्त्रीवेद व पुरुषवेद में असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के प्रथम गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के सवेद भाग तक नौ गुणस्थान होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) में नौ-नौ गुणस्थान होते हैं अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर

---

१. धवल पु. २ पृ. ६६०। २. "नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥२/५०॥" [त सू.]।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं। स्त्रीवेदी के अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व और सासादन ये दो ही गुणस्थान होते हैं। नपुंसकवेदी के अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व, सासादन व असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। पुरुषवेदी के अपर्याप्त काल में पहला, दूसरा, चौथा और छठा ये चार गुणस्थान होते हैं।[1]

शंका—नपुंसकवेदी के अपर्याप्त अवस्था में असंयत सम्यग्दृष्टि वाला चौथा गुणस्थान कैसे सम्भव है? स्त्रीवेदी के अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान क्यों नहीं होता?

समाधान—जिसने पूर्व में नरकायु का बन्ध कर लिया है और बाद में केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ कर दिया है ऐसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होते हैं।[2] नरक में नियम से नपुंसकवेद होता है, इस प्रकार नपुंसकवेदी नारकी के अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान सम्भव है। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री-वेदियों में उत्पन्न नहीं होता। इसलिए स्त्रीवेदी के अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थगुणस्थान नहीं होता, कहा भी है :—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥१३३॥[3]

—सम्यग्दृष्टि जीव नीचे की छह नारक पृथिवियों में, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों में और सर्वप्रकार की स्त्रियों में उत्पन नहीं होता है।

जिन्होंने पहले आयु कर्म का बंध कर लिया है, ऐसे जीवों के सम्यग्दर्शन का उस गति सम्बन्धी आयु सामान्य के साथ विरोध न होते हुए भी उस-उस गति सम्बन्धी विशेष में उत्पत्ति के साथ विरोध पाया जाता है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवों में, नीचे के छह नरकों में, सब प्रकार की स्त्रियों में, नपुंसकवेद गें, विकलेन्द्रियों में, एकेन्द्रियों में, लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में और कर्मभूमिज तिर्यंचों में सम्यग्दृष्टि का उत्पत्ति के साथ विरोध है। इसलिए इतने स्थानों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता।[4] नरक में नपुंसकवेद ही है, जिसने पूर्व में नरकायु बाँध ली है, पश्चात् सम्यग्दर्शन ग्रहण किया है, ऐसे जीव की नरक में उत्पत्ति को रोकने का सामर्थ्य सम्यग्दर्शन में नहीं है।[5] इस प्रकार मात्र प्रथम नरक के नपुंसकों में असंयत सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है।

कषायमार्गणा में गुणस्थानों का कथन

थावरकायप्पहुदी अणियट्टी-बि-ति-चउत्थभागोत्ति।
कोहतियं लोहो पुण सुहमसुरागोत्ति विण्णेयो ॥६८६॥

गाथार्थ—क्रोधकषाय स्थावर से लेकर अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग तक, मानकषाय स्थावर से लेकर अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग तक और मायाकषाय स्थावर से लेकर अनिवृत्तिकरण के चतुर्थ भाग तक तथा लोभकषाय स्थावर से लेकर सूक्ष्मराग तक जाननी चाहिए ॥६८६॥

---

१. धवल पु. २ वेदमार्गणा। २. धवल पु. २ पृ. ४५०। ३. धवल पु. १ पृ. २०९। ४. धवल पु. १ पृ. ३३७। ५. धवल पु. १ पृ. ३३६।

विशेषार्थ—स्थावरकाय अथवा एकेन्द्रिय जीवों से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक चारों कषाय होती है। स्थावरकाय में नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। इसलिए स्थावर से लेकर, ऐसा कहने का अभिप्राय मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण अर्थात् नौवें गुणस्थान के दूसरे, तीसरे व चौथे भाग तक क्रमश: क्रोध, मान, माया कषाय होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि क्रोध, मान, माया इन तीन कषायों में प्रथम गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं और लोभकषाय में प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सूक्ष्म साम्पराय दसवें गुणस्थान तक दस गुणस्थान होते हैं ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ ये चार गुणस्थान अकषायी जीवों के होते हैं, क्योंकि इन चार गुणस्थानों में किसी भी कषाय का उदय सम्भव नहीं है।

शंका—अपूर्वकरण आदि गुणस्थान वाले साधुओं के कषाय का अस्तित्व कैसे पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषाय की अपेक्षा वहाँ पर कषायों के अस्तित्व का उपदेश दिया है।[1]

शङ्का शेष तीन कषायों के उदय के नाश हो जाने पर उसी समय लोभ कषाय का विनाश क्यों नहीं हो जाता?

समाधान—अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में लोभ कषाय का विनाश नहीं होता, क्योंकि लोभकषाय की अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है। इसलिए क्रोधादि तीन कषायों के उदय का नाश हो जाने पर भी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में लोभकषाय के उदय का विनाश नहीं होता।[2]

शङ्का—अनन्त कषाय-द्रव्य का सद्भाव होने पर भी उपशान्तकषाय गुणस्थान को कषाय-रहित कैसे कहा गया?

समाधान—कषाय के उदय के अभाव की अपेक्षा उसमें कषायों से रहितपना बन जाता है।[3]

ज्ञानमार्गणा में गुणस्थानों का कथन

थावरकायप्पहुदी मदिसुदअण्णाणयं विभंगो दु।
सण्णीपुण्णप्पहुदी सासणसम्मोत्ति णायव्वो ॥६८७॥
सण्णाणतिगं अविरदसम्मादी छट्ठगादि मणपज्जो।
खीणकसायं जाव दु केवलणाणं जिणे सिद्धे ॥६८८॥

गाथार्थ—मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान स्थावरकाय से लेकर सासादन गुणस्थान तक होते हैं।[4] विभंगज्ञान संज्ञी पर्याप्त से लेकर सासादन सम्यक्त्व पर्यन्त होता है ॥६८७॥[5] तीन सम्यग्ज्ञान अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं। मनःपर्यय ज्ञान छठे गुणस्थान से क्षीणकषाय तक होता

---

१. धवल पु. १ पृ. ३५१। २. धवल पु. १ पृ. ३५२। ३. धवल पु. १ पृ. ३५२। ४. "मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति ॥११६॥" [धवल पु. १ पृ. ३६१]। ५. "विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ॥११७॥ पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥११८॥" [धवल पु. १ पृ. ३६२]।

है। केवलज्ञान जिनेन्द्र और सिद्ध भगवान के होता है ॥६८८॥

विशेषार्थ— स्थावर काय अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है अतः स्थावरकाय या एकेन्द्रिय के द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थान का ग्रहण होता है। इस प्रकार मत्यज्ञान व श्रुताज्ञान में मिथ्यात्व व सासादन दो ही गुणस्थान होते हैं। विभंग ज्ञान में भी दो ही गुणस्थान मिथ्यात्व और सासादन होते हैं। तथापि विभंग ज्ञान असंज्ञियों में नहीं होता, इस बात का ज्ञान कराने के लिए गाथा में संज्ञी पर्याप्त शब्द दिया गया है। इसके द्वारा असंज्ञी और अपर्याप्तकों का निषेध हो जाता है।

शङ्का—मिथ्यादृष्टि जीव के भले ही मति-श्रुत दोनों अज्ञान होवें, क्योंकि वहाँ पर मिथ्यात्व कर्म का उदय पाया जाता है, परन्तु सासादन में मिथ्यात्व का उदय नहीं पाया जाता, इसलिए वहाँ पर वे दोनों ज्ञान अज्ञान रूप नहीं होने चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विपरीत अभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं और वह मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी इन दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है। सासादन वाले के अनन्तानुबन्धी का उदय तो पाया ही जाता है, इसलिए वहाँ पर भी दोनों अज्ञान सम्भव हैं।

शंका—एकेन्द्रियों अर्थात् स्थावरों के श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ? क्योंकि श्रोत्रइन्द्रिय का अभाव होने से शब्द के विषयभूत वाच्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्द के निमित्त से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहते हैं। किन्तु शब्द से भिन्न रूपादिक लिंग से भी जो लिंगी का ज्ञान होता है, उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

शङ्का—मनरहित जीवों के ऐसा श्रुतज्ञान भी कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मन के बिना वनस्पतिकायिक जीवों के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है, इसलिए मनसहित जीवों के ही श्रुतज्ञान मानने में उनसे अनेकान्त दोष आता है।[1]

शङ्का—विकलेन्द्रिय जीवों के विभंगज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर विभंगज्ञान का कारणभूत क्षयोपशम नहीं होता।

शंका वह क्षयोपशम भी विकलेन्द्रियों में क्यों सम्भव नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय होता है। परन्तु विकलेन्द्रियों में ये दोनों प्रकार के कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिए उनके विभंगज्ञान सम्भव नहीं है।

---

१. धवल पु. १ पृ. ३६१।

शङ्का—देव और नारकियों के विभंगज्ञान भवप्रत्यय होता है। वह अपर्याप्त काल में भी हो सकता है, क्योंकि अपर्याप्त काल में भी विभंगज्ञान के कारणभूत भव की सत्ता पाई जाती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि 'सामान्य विषय का बोध कराने वाला वाक्य विशेषों में रहा करता है।' इस वाक्य के अनुसार अपर्याप्त अवस्था से युक्त देव और नारक पर्याय विभंग ज्ञान का कारण नहीं है। किन्तु पर्याप्त अवस्था से युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंग ज्ञान का कारण है, इसलिए अपर्याप्त काल में विभंग ज्ञान नहीं होता है।[1]

आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक नौ गुणस्थानों में होते हैं ॥१२०॥[2]

शंका—देव और नारकी सम्बन्धी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों में अवधिज्ञान का सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होता है। उसी प्रकार देशविरति आदि ऊपर के गुणस्थानों में भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत गुणों का वहाँ पर सद्भाव पाया जाता है। परन्तु असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत भव और गुण असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में नहीं पाये जाते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणरूप सम्यग्दर्शन का असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में सद्भाव पाया जाता है।

शंका—चूंकि सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियों में अवधिज्ञान की अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती, इससे ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है?

प्रतिशंका—यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण संयतों में अवधिज्ञान की अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती, इसलिए संयम भी अवधिज्ञान का कारण नहीं है?

प्रतिशंका का उत्तर—विशिष्ट संयम ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए समस्त संयतों के अवधिज्ञान नहीं होता है, किन्तु कुछ के ही होता है।[3]

शंका का समाधान—यदि ऐसा है तो यहाँ पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिए कि असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। इसलिए सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में अवधिज्ञान नहीं होता, किन्तु कुछ के ही होता है।

शङ्का—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों ही प्रकार के विशेष सम्यग्दर्शन में अवधिज्ञान की उत्पत्ति में व्यभिचार देखा जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन विशेष अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, यह नहीं कहा जा सकता है।[4]

---

१. धवल पु १. पृ. ३६२-३६३। २. "आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥१२०॥" [धवल पु. १ पृ. ३६४]। ३. धवल पु. १ पृ. ३६५। ४. धवल पु. १ पृ. ३६५।

प्रतिशङ्का—यदि ऐसा है तो संयम में भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पाँच प्रकार के विशेषसंयमों के साथ और देशविरति के साथ भी अवधिज्ञान की उत्पत्ति का व्यभिचार देखा जाता है, इसलिए अवधिज्ञान की उत्पत्ति संयमविशेष के निमित्त से होती है। यह भी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और संयम इन दोनों को अवधिज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान है।

प्रतिशङ्का का समाधान—असंख्यात लोकप्रमाण संयमरूप परिणामों में कितने ही विशेष जाति के परिणाम अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण होते हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

शङ्का का समाधान—यदि ऐसा है तो असंख्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शन रूप परिणामों में दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा से युक्त होते हुए कितने ही विशेष जाति के सम्यक्त्वरूप परिणाम अवधिज्ञान की उत्पत्ति में कारण हो जाते हैं। यह बात निश्चित हो जाती है।[1]

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ॥१२१॥[2]

शङ्का—देशविरत आदि नीचे के गुणस्थानवर्ती जीवों के मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि संयमासंयम और असंयम के साथ मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का विरोध है।

शङ्का—यदि संयममात्र मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण है तो समस्त संयमियों के क्यों नहीं होता?

समाधान—यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता तो ऐसा भी होता, किन्तु मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति के अन्य भी कारण हैं, इसलिए उन दूसरे हेतुओं के न रहने से समस्त संयतों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

शङ्का—वे दूसरे कौन से कारण हैं?

समाधान- विशेष जाति के द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं, जिनके बिना सभी संयमियों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।[3]

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानों में होते हैं ॥१२२॥[4]

शङ्का—अरिहन्त परमेष्ठी के केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि वहाँ पर नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए मन का सद्भाव पाया जाता है?

---

१. धवल पु. १ पृ. ३६६। २. "मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥१२१॥" [धवल पु. १ पृ. ३६६]। ३. धवल पु. १ पृ. ३६६-३६७। ४. "केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१२२॥" [धवल पु. १ पृ. ३६७]।

समाधान—नहीं, क्योंकि जिनके सम्पूर्ण आवरण कर्मनाश को प्राप्त हो गये है, ऐसे अरिहन्त परमेष्ठी के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिए क्षयोपशम के कार्यरूप मन भी उनके नहीं है। उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति की अपेक्षा वहाँ पर मन का सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिनके वीर्यान्तराय कर्म का क्षय पाया जाता है, ऐसे जीव के वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति का सद्भाव मानने में विरोध आता है।[1]

शंका—फिर अरिहन्त परमेष्ठी को सयोगी कैसे माना जाय?

समाधान - नहीं, क्योंकि प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुभय) भाषा की उत्पत्ति के निमित्त-भूत आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द वहाँ पर पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से अरिहन्त परमेष्ठी के सयोगी होने में कोई विरोध नहीं आता।

शङ्का—अरिहन्त परमेष्ठी के मन का अभाव होने पर मन के कार्यरूप वचन का सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य हैं, मन के नहीं।

शङ्का—अक्रम ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि घटविषयक अक्रम ज्ञान से युक्त कुम्भकार द्वारा क्रम से घट की उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए अक्रमवर्ती ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—सयोगिकेवली के मनोयोग का अभाव मानने पर, 'सत्य मनोयोग असत्यमृषा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक होता है' गाथा के इस वाक्य से विरोध आजायेगा?

समाधान—नहीं, मन के कार्यरूप सत्य और अनुभय भाषा के सद्भाव की अपेक्षा उपचार से मन के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, जीवप्रदेशों के परिस्पन्द के कारण-रूप मनोवर्गणारूप नोकर्म से उत्पन्न हुई शक्ति के अस्तित्व की अपेक्षा सयोगिकेवली में मन का सद्भाव पाया जाता है, ऐसा मान लेने में भी कोई विरोध नहीं आता है।[2]

संयममार्गणा में गुणस्थानों का कथन

अयदोत्ति हु अविरमणं देसे देसो पमत्त इदरे य।
परिहारो सामाइयछेदो छट्ठादि थूलोत्ति ॥६८९॥
सुहमो सुहमकसाये संते खीणे जिणे जहक्खादं।
संजममग्गणभेदा सिद्धे णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥६९०॥

---

१. धवल पु. १ पृ. ३६७। २. धवल पु. १ पृ. ३६८।

गाथार्थ—अविरत में चार गुणस्थान होते हैं। देशसंयत में पाँचवाँ गुणस्थान होता है। परिहारविशुद्धिसंयम में प्रमत्त व अप्रमत्त संयत ये दो गुणस्थान होते हैं। सामायिक व छेदोपस्थापना संयम में छठे गुणस्थान से लेकर बादर साम्पराय नौवें गुणस्थान तक होते हैं ॥६८९॥ सूक्ष्मसाम्पराय संयम में सूक्ष्मकषाय नामक दसवाँ गुणस्थान होता है। उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय तथा सयोगकेवली व अयोगकेवली इन दो जिनों में यथाख्यात चारित्र होता है अर्थात् यथाख्यात चारित्र में उक्त चार गुणस्थान होते हैं। सिद्धों में संयममार्गणा का कोई भेद नहीं होता ॥६९०॥

विशेषार्थ — सामायिक व छेदोपस्थापना शुद्धि संयम में प्रमत्त संयत से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं ॥१२५॥[1] परिहार-शुद्धि-संयत प्रमत्त व अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में होते हैं ॥१२६॥[2]

शंका—ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में यह संयम क्यों नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी अमृत के सागर में निमग्न हैं, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने-जाने रूप व्यापार को संकुचित कर लिया है ऐसे जीवों के शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार बन ही नहीं सकता, क्योंकि गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करने वाला नहीं। इसलिए ऊपर के आठवें आदि ध्यान अवस्था को प्राप्त अष्टम आदि गुणस्थानों में परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है।

शंका—परिहार-शुद्धि-संयम क्या एक यम रूप है या पाँच यम रूप है? यदि एक यम रूप है तो उसका सामायिक में अन्तर्भाव होना चाहिए और यदि पाँच यम रूप है तो उसका छेदोपस्थापना में अन्तर्भाव होना चाहिए। संयम को धारण करने वाले पुरुष के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इन दोनों संयमों से भिन्न तीसरे संयम की सम्भावना तो है नहीं, इसलिए परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता?

समाधान—नहीं, क्योंकि परिहार ऋद्धिरूप अतिशय की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना से परिहार-शुद्धि संयम का कथंचित् भेद है।

शंका—सामायिक और छेदोपस्थापना अवस्था का त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धिरूप पर्याय से यह जीव परिणत होता है, इसलिए सामायिक-छेदोपस्थापना से भिन्न यह संयम नहीं हो सकता है।[3]

समाधान—नहीं, क्योंकि पहले अविद्यमान परन्तु पीछे से उत्पन्न हुई परिहारऋद्धि की अपेक्षा उन दोनों संयमों से इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापना से परिहार-शुद्धि-संयम भिन्न है।

---

१. "सामाइय-च्छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥१२५॥" [ध. पु.१ पृ. ३७४]।
२. "परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अपमत्तसंजद-ट्ठाणे ॥१२६॥" [धवल पु. १ पृ. ३७५]।
३. धवल पु. १ पृ. ३७५।

शङ्का—परिहारऋद्धि की आगे के आठवें आदि गुणस्थानों में भी सत्ता पाई जाती है, अतएव वहाँ पर इस संयम का सद्भाव मान लेना चाहिए ?

समाधान—नहीं, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार ऋद्धि पाई जाती है, परन्तु वहाँ पर परिहार करने रूप उसका कार्य नहीं पाया जाता, इसलिए आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार-शुद्धि संयम का अभाव कहा गया है ।[1]

सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयम में एक सूक्ष्मसाम्पराय-शुद्धिसंयत गुणस्थान ही होता है ।।१२७।।[2]

शङ्का—सूक्ष्मसाम्परायसंयम क्या एक यमरूप है अथवा पाँच यमरूप है ? इनमें से यदि एक यमरूप है तो पंचयम रूप छेदोपस्थापना संयम से मुक्ति अथवा उपशमश्रेणी का आरोहण नहीं बन सकता, क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान की प्राप्ति के बिना मुक्ति की प्राप्ति और उपशमश्रेणी का आरोहण नहीं बन सकेगा ? यदि सूक्ष्मसाम्पराय पाँच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयम को धारण करनेवाले जीवों के पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं ? यदि सूक्ष्मसाम्पराय को उभययमरूप मानते हैं तो एक यम और पाँच यम के भेद से सूक्ष्मसाम्पराय के दो भेद हो जाते हैं ?

समाधान—आदि के दो विकल्प तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि वैसा हमने माना नहीं है । इसी प्रकार तीसरे विकल्प में दिया गया दोष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि पंच यम और एक यम के भेद से संयम में कोई भेद ही सम्भव नहीं है । यदि एक-यम और पंच-यम संयम के न्यूनाधिक भाव के कारण होते तो संयम में भेद भी हो जाता । परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि संयम के प्रति दोनों में कोई विशेषता नहीं है । अतः सूक्ष्मसाम्पराय के उन दोनों की अपेक्षा दो भेद नहीं हो जाते हैं ।

शङ्का—जबकि उन दोनों की अपेक्षा संयम के दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पाँच प्रकार के संयम का उपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान—यदि पाँच प्रकार का संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ ।

शङ्का—तो संयम कितने प्रकार का है ?

समाधान संयम चार प्रकार का है, क्योंकि पाँचवाँ संयम पाया ही नहीं जाता ।[3]

यथाख्यात-शुद्धि-संयत में उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं ।।१२८।।[4]

संयतासंयत नामक संयम में एकदेशविरत अर्थात् संयमासंयम गुणस्थान होता है ।।१२९।।[5]

---

१. धवल पु. १ पृ. ३७६ । २. "सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा एक्कम्मि चेव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजद-ट्ठाणे ।।१२७।।" [धवल पु. १ पृ. ३७६] । ३. धवल पु. १ पृ. ३७६-३७७ । ४. "जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवली त्ति ।।१२८।।" [धवल पु. १ पृ. ३७७] । ५. "संजदासंजदा एक्कम्मिचेय संजदासंजद-ट्ठाणे ।।१२९।।" [धवल पु. १ पृ. ३७८] ।

असंयत में एकेन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि) से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते है ॥१३०॥[1]

शंका—कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—सिद्ध जीवों के कौनसा संयम होता है ?

समाधान—(संयममार्गणा में से) एक भी संयम नहीं होता है। उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्ति का अभाव होने से वे संयत नहीं हैं, संयतासंयत नहीं हैं और असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि उनके सम्पूर्ण पाप-क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।[2] विषयों में दो प्रकार के असंयम अर्थात् इन्द्रियासंयम और प्राणिवध रूप से प्रवृत्ति न होने के कारण सिद्ध असंयत नहीं हैं। इसी तरह सिद्ध संयत भी नहीं हैं, क्योंकि प्रवृत्तिपूर्वक उनमें विषयनिरोध का अभाव है। तदनुसार संयम और असंयम इन दोनों के संयोग से उत्पन्न संयमासंयम का भी सिद्धों के अभाव है। [धवल पु. ७ पृ. २१]। इस प्रकार संयममार्गणा के सात भेदों का सिद्धों में अभाव होने पर भी सिद्धों में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से क्षायिक चारित्र है,[3] क्योंकि क्षायिक भाव का नाश या अभाव नहीं होता।

दर्शनमार्गणा में गुणस्थान

चउरक्खथावरविरदसम्माइट्ठी दु खीणमोहोत्ति ।
चक्खुअचक्खू ओही जिणसिद्धे केवलं होदि ॥६६१॥

गाथार्थ—चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रिय से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त होता है।[4] अचक्षुदर्शन स्थावरकाय (मिथ्यादृष्टि) से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त होता है।[5] अवधिदर्शन अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त होता है।[6] केवलदर्शन जिन व सिद्धों में होता है[7] ॥६६१॥

विशेषार्थ—चक्षुदर्शन में मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह तक बारह गुणस्थान होते हैं। गाथा में 'चतुरिन्द्रिय से लेकर' इन शब्दों के द्वारा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय इन जीवों का निषेध हो जाता है अर्थात् एकेन्द्रिय से त्रीन्द्रिय जीवों तक चक्षुदर्शन नहीं होता है। चतुरिन्द्रिय जीवों में मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है अतः चतुरिन्द्रिय जीवों से लेकर अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अचक्षुदर्शन स्थावरकाय से लेकर अर्थात् एकेन्द्रिय (मिथ्यात्व

---

१. "असंजदा एइंदिय प्पहुडि जाव असंजद सम्माइट्ठि त्ति ॥१३०॥" [धवल पु. १ पृ. १७८]। २. धवल पु. १ पृ. ३७८। ३. रा. वा. २/४/७। ४. "चक्खु-दंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥१३२॥" ५. "अचक्खुदंसणी एइंदिय प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय छदुमत्था त्ति ॥१३३॥" [धवल पु. १ पृ. ३८३]। ६. ओधिदंसणी असंजद सम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥१३४॥ [धवल पु. १ पृ. ३८४]। ७. केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१३५॥" [धवल पु. १ पृ. ३८५]।

गुणस्थान) से लेकर होता है, क्योंकि स्थावरकाय एकेन्द्रिय व मिथ्यादृष्टि होते हैं। अचक्षुर्दर्शन में भी मिथ्यात्व से लेकर क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान होते हैं। अवधिदर्शन में असंयत सम्यक्त्व से लेकर क्षीणमोह तक नौ गुणस्थान होते हैं। केवलदर्शन में सयोगकेवली, अयोगकेवली ये दो गुणस्थान और सिद्ध जीव होते हैं।

लेश्यामार्गणा में गुणस्थानों का कथन

थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतियलेस्सा।
सण्णीदो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ ॥६९२॥
णवरि य सुक्का लेस्सा सजोगिचरिमोत्ति होदि णियमेण।
गयजोगिम्मि वि सिद्धे लेस्सा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥६९३॥

गाथार्थ—अशुभ तीन लेश्या स्थावरकाय से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि तक होती हैं। तीन शुभ लेश्या संज्ञी से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होती हैं, किन्तु शुक्ल लेश्या सयोगकेवली गुणस्थान के अन्त तक होती है। अयोगकेवली और सिद्धों में लेश्या नहीं होती ॥६९२-६९३॥

विशेषार्थ—कृष्णलेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या में स्थावर काय अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं ॥१३७॥[1] अर्थात् तीन अशुभ लेश्याओं में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

शङ्का—चौथे गुणस्थान तक ही आदि की तीन लेश्या क्यों होती हैं?

समाधान—तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्रकषाय के उदय का सद्भाव चौथे गुणस्थान तक ही पाया जाता है, अतः यहाँ तक ही तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं।[2]

पीत और पद्म लेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं ॥१३८॥[3] अर्थात् इन दो लेश्याओं में आदि के सात गुणस्थान होते हैं।

शङ्का—ये दोनों शुभ लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक कैसे पाई जाती हैं?

समाधान—क्योंकि इन लेश्यावाले जीवों के तीव्र आदि कषायों का उदय नहीं पाया जाता है।[4]

शुक्ल लेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।[5]

शंका—जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई हैं, उन जीवों के शुक्ल लेश्या

---

१. "किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥१३७॥" [धवल पु. १ पृ. ३९०]। २. धवल पु. १ पृ. ३९१। ३. "तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति ॥१३८॥" [धवल पु. १ पृ. ३९१]। ४. ध. पु. १ पृ. ३९१। ५. "सुक्कलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥१३९॥" [धवल पु. १ पृ. ३९१]।

कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई हैं, उनमें कर्मलेप का कारण योग पाया जाता है, इसलिए उनके शुक्ल लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता।[1]

तेरहवें गुणस्थान से आगे सभी जीव लेश्यारहित हैं ।।१४०।।[2]

शंका—यह कैसे ?

समाधान—क्योंकि वहाँ पर बन्ध के कारणभूत योग और कषाय का अभाव है।[3] इस तरह शुक्ल लेश्या में तेरह गुणस्थानों का कथन करके, अयोगकेवली और सिद्ध जीवों को लेश्यारहित बतलाया गया।

भव्य मार्गणा में गुणस्थानों का कथन

थावरकायप्पहुदी अजोगि चरिमोत्ति होंति भवसिद्धा ।
मिच्छाइट्ठिट्ठाणे अभव्वसिद्धा हवंति त्ति ।।६९४।।

गाथार्थ—भव्यसिद्ध में स्थावरकाय (मिथ्यात्व गुणस्थान) से लेकर अयोगि नामक अन्तिम गुणस्थान तक होते हैं। अभव्य सिद्ध में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है ।।६९४।।

विशेषार्थ—भव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ।।१४२।।[4] जितने भी जीव आज तक सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं या होंगे वे सब नित्य निगोद से निकले थे या निकलेंगे इसीलिए भव्य जीव स्थावरकाय अथवा एकेन्द्रिय में हमेशा पाये जाते हैं। दूसरे से चौदहवें गुणस्थान तक तो भव्य जीवों के ही होते हैं। स्थावर या एकेन्द्रिय कहने से मिथ्यात्व गुणस्थान का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि एकेन्द्रियों में व स्थावरों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि तक होते हैं ।।१४३।।[5] अभव्य जीव चौदह जीवसमासों में पाये जाते हैं, किन्तु उनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही पाया जाता है, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बिना मिथ्यात्वकर्म के तीन खण्ड नहीं होते और अभव्य जीवों में सम्यक्त्व प्राप्त करने की शक्ति नहीं है।

सम्यक्त्व मार्गणा में गुणस्थानों का कथन

मिच्छो सासण-मिस्सो सगसगठाणम्मि होदि अयदादो ।
पढमुवसमवेदगसम्मत्तदुगं अप्पमत्तो त्ति ।।६९५।।

---

१. धवल पु. १ पृ. ३९१। २. "तेण परमलेस्सिया ।।१४०।।" [धवल पु. १ पृ. ३९२]। ३. ध. पु.१ पृ. ३९२।
४. "भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगि केवलि त्ति ।" ।।१४२।। [धवल पु. १ पृ. ३९४]। ५. "अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्ठि त्ति ।।१४३।।" [धवल पु. १ पृ. ३९४]।

विदियुवसमसम्मत्तं अविरदसम्मादि संतमोहो-त्ति।
खइगंसम्मं च तहा सिद्धोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६६६॥

गाथार्थ— मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र में अपना-अपना एक-एक गुणस्थान होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में और वेदक (क्षयोपशम) सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान तक होते हैं ॥६६५॥ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोह ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायिकसम्यक्त्व भी अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धों तक होता है ॥६६६॥

विशेषार्थ– क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ॥१४५॥[1] यद्यपि सिद्धों में भी क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु सिद्ध जीव गुणस्थानातीत हैं इसलिए इस सूत्र में उनको ग्रहण नहीं किया गया। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्त काल में कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।[2] क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न हो सकता है। प्रथम नरक में कापोत लेश्या है इसलिए अपर्याप्त काल में कापोत लेश्या कही गई है। तीन शुभ लेश्या देवों में उत्पत्ति की अपेक्षा अपर्याप्त काल में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के होती है। शेष विशेषता भी विचार कर कहनी चाहिए। दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी तक नारकी जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं।[3] तिर्यंच संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते।[4]

शङ्का—तिर्यंचों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नहीं होते?

समाधान—नहीं, क्योंकि तिर्यंचों में यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमि में ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं। भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रत की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ पर अणुव्रत के होने में आगम से विरोध आता है।[5] योनिनी तिर्यंचों के असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते।[6] भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवों तथा उनकी देवियों और सौधर्म व ईशान कल्पवासी देवियों के असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता।[7]

शंका—क्षायिक सम्यग्दर्शन उक्त स्थानों में क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर दर्शनमोहनीय का क्षपण नहीं होता है। दूसरे, जिन जीवों ने पूर्व पर्याय में दर्शनमोहनीय का क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि अधम देवों में और सभी देवियों में उत्पत्ति नहीं होती।[8] मनुष्यगति में पर्याप्त मनुष्य के पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था में

---

१. "खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥१४५॥" [धवल पु. १ पृ. ३९६]। २. धवल पु. २ पृ. ८११। ३. धवल पु. १ पृ. ४०१ सूत्र १५५। ४. धवल पु. १ पृ. ४०२ सूत्र १५६। ५. धवल पु. १ पृ. ४०२। ६. ध. पु. १ पृ. ४०३ सूत्र १६१ ७. धवल पु. १ पृ. ४०६ सूत्र १६६। ८. धवल पु. १ पृ. ४०६।

क्षायिक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व पर्याप्त अवस्था में ही होता है। मनुष्यिनी में क्षायिक, क्षायोपशमिक व औपशमिक ये तीनों सम्यक्त्व पर्याप्त अवस्था में होते हैं, अपर्याप्त अवस्था में नहीं होते। मनुष्यिनियों में क्षायिक सम्यक्त्व भाववेद की अपेक्षा से है। द्रव्यस्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता।[१] मनुष्यों में असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं।[२]

वेदक सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं ॥१४६॥[३] नरक में वेदक सम्यग्दर्शन पर्याप्त अवस्था में होता है किन्तु प्रथम नरक में कृतकृत्यवेदक अपर्याप्त अवस्था में भी होता है।[४] पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचों में वेदक सम्यग्दर्शन में चौथा व पाँचवाँ गुणस्थान होता है। किन्तु अपर्याप्त अवस्था में भोगभूमिया पुरुषवेदी तिर्यंच के कृतकृत्य-वेदक सम्यक्त्व में एक असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान होता है।[५] मनुष्य गति में मनुष्यों की पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था में वेदक सम्यक्त्व में चौथा गुणस्थान होता है किन्तु पर्याप्त अवस्था में चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। देवों में भी वेदक सम्यक्त्व में चोथा गुणस्थान होता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती मनुष्यों के अपर्याप्त अवस्था में छहों लेश्यायें होती हैं, कारण यह है कि प्रथम नरक से लेकर छठी पृथिवी तक के असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मरण करके मनुष्यों में अपनी-अपनी पृथिवी के योग्य अशुभ लेश्याओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं इसलिए तो कृष्ण, नील, कापोत लेश्या पाई जाती है, उसी प्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि देव भी मरण करके मनुष्यों में उत्पन्न होते हुए अपनी-अपनी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक चार गुणस्थान होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थान होते हैं। वेदक सम्यक्त्व से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। मिथ्यात्व से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का असंयत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानों में रहने वाला जीव उपशम करने वाला होता है। अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृति रूप से रहना अनन्तानुबन्धी का उपशम है और उदय में नहीं आना ही दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम है।[६] इस प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर उपशमश्रेणी चढ़ने के अभिमुख

---

१. "मनुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव। द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासम्भवात्।" [स. सि. १/७]। २. धवल पु. १ पृ. ४०५ सूत्र १६४। ३. धवल पु. १ पृ. ३९७ सूत्र १४६। ४. धवल पु. २ पृ. ४५० व ४६४ व ८११। ५. धवल पु. २ पृ. ४७३ व ८११।
६. "अणंताणुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्त पयडीओ असंजद-सम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि। सरूवं छड्डिय अण्ण-पयडि-सरूवेणच्छणमणंताणुबन्धीणमुवसमो। दंसणतियस्स उदयाभावो उवसमो।" [धवल पु. १ पृ. २१०] "चतुर्थ पञ्चम षष्ठ सप्तमेषु गुणस्थानेषु मध्ये अन्यतमगुणस्थाने अनन्तानुबन्धि, चतुष्कस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्रयस्य च करण-विधानेन धर्मध्यानबलेन उपशमं कृत्वा उपशमसम्यग्दृष्टिर्भवति।" [स्वा.का.अ. गा. ४८४ टीका] "अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभ-सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्वानीत्येताः सप्तप्रकृतीः असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्त-संयताप्रमत्तादिनां मध्ये कोऽप्येक उपशम्यति" [मूलाचार पर्याप्त्यधिकार १२ गा. २०५ टीका]।

होता है। उपशमश्रेणी वाले जीव द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ मरते हैं और देवों में उत्पन्न होते हैं अतः उनकी अपेक्षा अपर्याप्तकाल में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पाया जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गतियों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाले पाये जाते हैं, किन्तु मरण को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण का अभाव है।[1] मन:पर्ययज्ञान के साथ उपशमश्रेणी से उतर कर प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के द्वितीयोपशम के साथ मनःपर्यय ज्ञान पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्व से पीछे आये हुए उपशम-सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत्त जीव के मन:पर्ययज्ञान नहीं पाया जाता है, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि के मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[2] उपशम सम्यग्दृष्टि के औदारिक-मिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग और परिहारविशुद्धि संयम भी नहीं होता।[3]

मिथ्यात्व में सादि मिथ्यादृष्टि व अनादि मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। इसका कथन प्रथम गुण-स्थान के समान जानना चाहिए, क्योंकि इसमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

सासादन सम्यग्दृष्टि का कथन दूसरे गुणस्थान के अनुसार जानना चाहिए, क्योंकि इसमें एक सासादन नामक दूसरा गुणस्थान ही होता है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि का कथन तीसरे गुणस्थान के अनुसार जानना चाहिए, क्योंकि इसमें एक तीसरा गुणस्थान ही होता है।

संज्ञीमार्गणा में गुणस्थानों का कथन

सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओत्ति होदि णियमेण।
थावरकायप्पहुदी असण्णित्ति हवे असण्णी हु ॥६९७॥

गाथार्थ—संज्ञी जीव नियम से संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते हैं। स्थावर-काय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक असंज्ञी जीव होते हैं ॥६९७॥

पं. रतनचन्दजी मुख्तार (सहारनपुर) कृत गोम्मटसार जीवकाण्ड की प्रस्तुत टीका यहीं तक उपलब्ध है। क्रूर काल का ग्रास हो जाने के कारण वे अन्तिम ३८ गाथाओं की भाषाटीका न लिख सके। इन गाथाओं की भाषाटीका स्व. मुख्तार सा. के सुयोग्य शिष्य वर्तमान में करणानुयोग के अप्रतिम विद्वान् युवा **पण्डित जवाहरलाल जी जैन सिद्धान्तशास्त्री** (भीण्डर) ने लिखी है।—सं.

॥ ॐ ह्रीं श्रीपद्मप्रभवे नमः ॥

प्रणमामि सुपार्श्वेशमनन्तांश्च मुनीश्वरान्।
जिनवाणीं तथा वन्दे सर्वलोकोपकारिणीम् ॥१॥
इति प्रणत्य सम्भक्त्या सर्वजीवहिताय वै।
टीकाऽपूर्णायथाशक्ति सम्पूर्णीक्रियते मया ॥२॥

अथ अवशिष्टटीका प्रारम्यते

गाथा ६९७ का विशेषार्थ—यहाँ यह बताया जा रहा है कि संज्ञी मार्गणा में कितने गुणस्थान शक्य हैं। सो संज्ञी मार्गणा में संज्ञी व असंज्ञी दोनों गर्भित हैं। षट्खण्डागम में कहा भी है कि संज्ञी

1. धवल पु.२ पृ.४३० व गो. जी. गा ७३०। 2. धवल पु. २ पृ. ८२२। 3. धवल पु.२ पृ. ८१८।

मार्गणा के अनुवाद से संज्ञी व असंज्ञी जीव होते हैं।[1] यानी समनस्क और अमनस्क इन दो भेद रूप संज्ञी मार्गणा है। अतः संज्ञी मार्गणा विषयक इस गाथा में दोनों का कथन किया गया है। (ऐसे सर्वत्र जानना।) वहाँ संज्ञी जीव तो प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं।[2] तथा असंज्ञी जीव नियम से प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं। पूज्यपादाचार्य ने कहा भी है कि असंज्ञी में मात्र एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।[3] अतः असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक, जहाँ तक कि असंज्ञी होते हैं, गुणस्थान भी मिथ्यात्व नामक ही होता है।

आहारमार्गणा में गुणस्थानों का कथन

थावरकायप्पहुदी सजोगिचरिमोत्ति होदि आहारी।
कम्मइय अणाहारी अजोगिसिद्धे वि णायव्वो ॥६९८॥

गाथार्थ—स्थावरकाय से लेकर सयोगी गुणस्थान पर्यन्त आहारक होते हैं। कार्मणकाययोग वाले तथा अयोगी व सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥६९८॥

विशेषार्थ—यहाँ आहारमार्गणा में गुणस्थान बताये हैं। आहारमार्गणा के दो भेद हैं (१) आहारक (२) अनाहारक। सो स्थावर काय (एकेन्द्रिय) मिथ्यात्वी से लेकर तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगीपर्यन्त जीव आहारक होते हैं।[4] तथा कार्मण काययोगी जीव, अयोगी केवली भगवान तथा सकल सिद्ध अनाहारक होते हैं।[5]

शंका—किस-किस गुणस्थान में अनाहारक होते हैं ?

समाधान—(१) मिथ्यादृष्टि (२) सासादन (३) असंयत सम्यग्दृष्टि (४) सयोगकेवली (इन चार में कार्मणयोग सम्भव होने से) तथा (५) अयोगकेवली; इन पाँच गुणस्थानों में जीव अनाहारक होते हैं, अन्य गुणस्थानों में आहारक ही होते हैं।

शंका—कार्मणकाययोगस्थ जीवों के कार्मणकाययोगी-अवस्था में भी कर्म के ग्रहण का अस्तित्व तो है, तो इस अपेक्षा से कार्मण काययोगी जीवों को आहारक क्यों नहीं कह दिया जाता ताकि अनाहारक फिर अयोगी व सिद्ध ही होवें ?

समाधान—उन्हें आहारक नहीं कहा जाता है, क्योंकि कार्मणकाययोग के समय नोकर्मवर्गणाओं के आहार का, अधिक से अधिक तीन समय तक विरह काल पाया जाता है। सारतः कार्मणकाययोगी जीवों के अनाहारकत्व का कारण उनके नोकर्मवर्गणाओं के ग्रहण का अभाव है।[6]

---

१. सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ॥१७२॥ जीवस्थान, षट्खण्डागम। २. सण्णी मिच्छा इट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय वीयराय-छदुमत्था ति ॥१७३॥ जीवस्थान षट्खं.; सर्वार्थसि. १/८। ३. असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। स. सि. १/८; ध. २/५८९ नवी. संस्क.। एवं षट्खं. १/१७४। ४. आहाराणुवादेण आहारीणं भण्णमाणे अत्थि तेरहगुणट्ठाणाणि। धवला पु. २/८३६; स. सि. १/८ प्रकरण ४४/पृ.२४। ५. अणाहारा चदुसुट्ठाणेसु विग्गगइ समावण्णाणं, केवलीणं वा समुग्घादगदाणं, अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१७७॥ षट्० आ० जीवस्थान। प्रा. प. संग्रह १/१७७; स. सि. १/८/४४; संस्कृत पं.संग्रह १/३२४; ध. पु. १/४/२; ध. पु. २ पृ. ८५०, ८५१; धवल पु. १ पृ. १५४ एवं गो. जी. ६६६। ६. धवल पु. २। पत्र ६७० अणाहारिणो, णोकम्मगहणाभावादो।

गुणस्थानों में जीवसमास का कथन

मिच्छे चोद्दस जीवा सासण-अयदे पमत्तविरदे य ।
सण्णिदुगं सेसगुणे सण्णीपुण्णो दु खीणोत्ति ॥६९९॥[1]

गाथार्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में सभी चौदह जीवसमास हैं । सासादन, असंयत व प्रमत्तसंयत इन गुणस्थानों में संज्ञीपर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । तथा बारहवें गुणस्थान पर्यन्त के अवशिष्ट गुणस्थानों में मात्र एक संज्ञी पर्याप्त जीवसमास होता है । गाथा के पूर्वार्धस्थ 'य' से [यानी 'व' से] जाना जाता है कि सयोगकेवली में भी दो जीवसमास होते हैं— संज्ञीपर्याप्त व संज्ञीअपर्याप्त ।[2] तथा गाथा के उत्तरार्धस्थ 'दु' (संस्कृत 'तु') शब्द से जाना जाता है कि अयोग-केवली में एक संज्ञी पर्याप्त ही जीवसमास होता है ॥६९९॥[3]

मार्गणाओं में जीवसमासों का कथन

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसेसु जाण दोद्दो दु ।
मग्गणठाणस्सेवं णेयाणि समासठाणाणि ॥७००॥

गाथार्थ—तिर्यंच गति में १४ जीवसमास होते हैं, परन्तु अवशिष्ट गति नरकगति, मनुष्य-गति व देवगति, इन तीन गतियों में मात्र संज्ञीपर्याप्त व संज्ञी अपर्याप्त— ये दो ही जीवसमास होते हैं । इस प्रकार यथायोग्य पूर्वकथित क्रम से समस्त मार्गणाओं में जीवसमास जानने चाहिए ॥७००॥

विशेषार्थ—जातिमार्गणा में एकेन्द्रिय जाति में एकेन्द्रिय सम्बन्धी ४ जीवसमास होते हैं (बादर, सूक्ष्म व इनके पर्याप्त व अपर्याप्त) ।[4] द्वीन्द्रिय जाति में द्वीन्द्रिय सम्बन्धी दो जीवसमास होते हैं ।[5] त्रीन्द्रियजाति में त्रीन्द्रिय सम्बन्धी दो (त्रीन्द्रिय पर्याप्त व त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ऐसे सर्वत्र लगाना) जीवसमास होते हैं ।[6] चतुरिन्द्रिय जाति में स्वसम्बन्धी दो जीवसमास होते हैं ।[7] पंचेन्द्रिय जाति ४ (संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय । प्रत्येक के पर्याप्त व अपर्याप्त ऐसे ४) जीवसमास होते हैं ।[8]

कायमार्गणा में त्रसकाय में १० जीवसमास होते हैं ।[9] (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी व संज्ञी—ये कुल पाँच । इन सबके पर्याप्त व अपर्याप्त, ऐसे कुल दस हुए ।) स्थावरकाय में चार जीवसमास होते हैं । एकेन्द्रिय सूक्ष्म व बादर तथा दोनों के पर्याप्त व अपर्याप्त—ऐसे ४) पाँचों स्थावरकायों में से प्रत्येक में यह लगाना चाहिए ।

योगमार्गणा में मनोयोग में एक मात्र संज्ञीपर्याप्त जीवसमास है ।[10] वचनयोग में द्वीन्द्रिय से लेकर सैनी तक के पर्याप्तावस्था में सम्भव जीवसमास यानी ५ जीवसमास होते हैं ।[11] (असत्यमृषा को छोड़कर अन्य वचनयोगों में मात्र संज्ञी पर्याप्तक जीवसमास है, इतना विशेष है) ।

---

१. प्रा. पं. सं. ४।२०। पृ. ८६ । २. ध. पु. २ पत्र ४४४ यथा—सजोगिकेवलीणं भण्णमाणे अत्थि दो जीवसमासा...... । ३. अजोगिकेवलीणं भण्णमाणे एगो जीवसमासो....... ध. पु. २ पत्र ४९९ व ४५० आदि । ४. ध. पु. २।५७१ । ५. ध. पु. २।५७७, प्रा. पं. सं. गा. ९ पृ. ८२ । ६. ध. पु. २।५८१; प्रा. पं. सं. ४।९।८२ । ७. ध. पु. २।५८१; प्रा. पं. सं. ४।९।८२ । ८. ध. पु. २।५८३; प्रा. प. सं. ४।९।८२ । ९. ध. पु. २ पृ. ६२२ व प्रा. पं. सं. ४।१०।८२ । १०. ध. पु. २ पृ. ६३० से ६३५ । ११. ध. पु. २ पृ. ६३५ ।

काययोग में सभी जीवसमास होते हैं।[१] औदारिक काययोग में ७ पर्याप्त जीवसमास व औ० मिश्र में ७ अपर्याप्त जीवसमास होते हैं। वैक्रियिक काययोग में संज्ञी पर्याप्त एक जीवसमास व उसके मिश्र में संज्ञी अपर्याप्त एक ही जीवसमास है। वैक्रियिकयोगवत् आहारकयोग और वैक्रियिक-मिश्रवत् आहारकमिश्र में जीवसमास जानना।[२] कार्मण योग में भी ७ अपर्या. जीवसमास हैं।

वेदमार्गणा में स्त्रीवेद में ४जीवसमास होते हैं—संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त एवं असंज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त व असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त।[३] पुरुषवेद में भी उपर्युक्तवत् ४ जीवसमास होते हैं।[४] पर नपुंसक वेद में १४ ही जीवसमास सम्भव हैं।[५]

कषायमार्गणा में क्रोध कषाय में (या सामान्य से) क्रोधकषायी जीवों के १४ ही जीवसमास होते हैं।[६] अन्य कषाय में भी क्रोधकषायवत् सभी जीवसमास होते हैं।[७]

ज्ञानमार्गणा में मतिश्रुतअज्ञान में सामान्य से १४ जीवसमास, विभंग ज्ञान में संज्ञी पर्याप्त-एक जीवसमास, मतिश्रुतज्ञान में संज्ञी पर्याप्त व अपर्याप्त ये दो जीवसमास, मनःपर्ययज्ञान में मात्र एक संज्ञीपर्याप्त जीवसमास तथा केवलज्ञान में संज्ञीपर्याप्त जीवसमास व संज्ञीअपर्याप्त जीवसमास ये दो हैं अथवा एकपर्याप्त जीवसमास (अयोगी की अपेक्षा) तथा अतीत जीवसमास (सिद्धों की अपेक्षा) भी है।

संयममार्गणा में सामान्यतः संयम में संज्ञी पर्याप्त व संज्ञी अपर्याप्त ये दो ही जीवसमास सम्भव हैं (विशेषापेक्षया प्रमत्तसंयत के दोनों, परन्तु अप्रमत्त के संज्ञीपर्याप्तनामक एक जीवसमास सम्भव है)। सामायिक व छेदोपस्थापना संयम में दोनों, परिहारविशुद्धि संयम में एक (संज्ञीपर्याप्त ही) तथा सूक्ष्मसाम्परायसंयम में एक संज्ञीपर्याप्त जीवसमास तथा यथाख्यातशुद्धिसंयम (अथवा अथाख्यातशुद्धिसंयम) में दो जीवसमास हैं (संज्ञीपर्याप्त व संज्ञीअपर्याप्त)। असंयत जीवों के १४ जीवसमास सम्भव हैं।[८] संयतासंयतों के भी एक संज्ञीपर्याप्त जीवसमास है।[९]

दर्शनमार्गणा में चक्षुर्दर्शनी के यानी चक्षुर्दर्शन में सामान्यतः ६ जीवसमास होते हैं—चतुरिन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त २ तथा पंचेन्द्रिय संज्ञी व असंज्ञी तथा इनके पर्याप्त व अपर्याप्त ४ ऐसे कुल २+४=६ हुए। अपर्याप्तकाल में भी चक्षुर्दर्शन के क्षयोपशम का सद्भाव होने से, अथवा शक्त्यपेक्षया ६ जीवसमास हैं, ❀ऐसा समझना।[१०] अचक्षुर्दर्शन मेंसा मान्यतः १४ ही जीवसमास होते हैं।[११] अवधिदर्शन में दो जीवसमास होते हैं (संज्ञी संबंधी)। तथा केवलदर्शन में केवलज्ञानवत् जानो। यानी संज्ञीपर्याप्त व अपर्याप्त ये दो।

लेश्यामार्गणा में अशुभत्रय लेश्या में सामान्यतः १४ ही जीवसमास होते हैं।[१२] शुभलेश्याओं

---

१. ध. पु. २ पृ. ६३८; प्रा. पं. सं. ४।११।८३। २. ध. पु २ पृ. ६६६ परन्तु प्राकृतपञ्चसंग्रहग्रन्थे औदारिकमिश्रयोगे कार्मणकाययोगे च अष्ट जीवसमासाः दर्शिताः। प्रा. पं. सं. १।४ गा. १२ पृष्ठ ८३। ३. ध. पु. २ पृ. ६७४; प्रा. पं. सं. ४।१४। पृ. ८३। ४. ध. पु. २ पृ. २६५ प्रा. पं. सं. ४।११।८३। ५. ध. पु. २ पृ. ६८६, प्रा. पं. सं. ४।११।८३। ६. ध. पु. २ पृ. ७०१। ७. ध. पु. २ पृ. ७१३। ८. ध. २/७३२-७४० एवं प्रा. पं. सं. ४/१६/८४। ९. ध. २/४३६ एवं प्रा. पं. सं. ४/१६/८४। ३. ध.२/७४०। १०. ध. २/७४४। ११. ध. २/७५१ एवं प्रा. पं. सं. ४/१७/८४। १२. ध. २/७५०-७६९ एवं पं. सं. ४/१८/८४-८५। ❀अपर्याप्तकालेऽपि चक्षुर्दर्शनस्य क्षयोपशमसद्भावात् शक्त्यपेक्षया वा षड्धा जीवसमासा भवन्ति। पं. सं. शतक/गा.१७ टीका।

में तेजोलेश्यावाले के संज्ञीपर्याप्त व संज्ञीअपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं।[1] क्योंकि पंचेन्द्रिय असंज्ञी के लेश्या अशुभत्रय ही होते हैं।[2] अवशिष्ट शुभलेश्याद्वय में भी मात्र संज्ञीपर्याप्त व संज्ञी अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं।

भव्यमार्गणा में भव्य व अभव्य दोनों में १४ जीवसमास होते हैं। **सम्यक्त्वमार्गणा** में सम्यग्दृष्टि के संज्ञीपर्याप्त, अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं।[3] [तथा अतीत जीवसमास हैं। तथा विशेष यह कि ऐसा सर्वत्र (मार्गणा में) लगा लेना चाहिए पर यथासम्भव]।

ये ही जीवसमास क्षायिकसम्यक्त्वी में होते हैं। वेदक सम्यक्त्वी व उपशमसम्यक्त्वी में भी ये ही दो जानने चाहिए। मिथ्यादृष्टि के १४ जीवसमास व सासादन के दो[4] जीवसमास होते हैं। यह भगवान वीरसेनाचार्य आदि का मत है,[5] परन्तु पञ्चसंग्रहकार आदि के मतानुसार सातों अपर्याप्त व संज्ञी पर्याप्त इन ८ जीवसमासों में सासादनसम्यक्त्व सम्भव है।[6] सम्यग्मिथ्यात्वी के मात्र संज्ञीपर्याप्त जीवसमास होता है।[7]

संज्ञीमार्गणा में संज्ञी में तत्सम्बन्धी दो जीवसमास (संज्ञी पर्याप्त व अपर्याप्त) तथा असंज्ञी में भी असंज्ञी सम्बन्धी १२ जीवसमास होते हैं। (संज्ञी सम्बन्धी दो को छोड़कर बाकी के १२)।

आहारमार्गणा में आहारक के सभी १४ जीवसमास होते हैं तथा अनाहारक के अपर्याप्त ७ व अयोगी का संज्ञी पर्याप्त सम्बन्धी १, ऐसे ८ जीवसमास हैं।[8] व अतीत जीवसमास भी।

गुणस्थानों में पर्याप्ति और प्राण

पज्जत्ती पाणावि य सुगमा भाविंदियं ण जोगिम्हि।
तहिं वाचुस्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ ॥७०१॥[9]

गाथार्थ– पर्याप्ति और प्राण सुगम हैं। सयोगकेवली में भावेन्द्रिय नहीं है। सो वहाँ ४ प्राण होते हैं—वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु और कायबल। अथवा यहाँ तीन व दो प्राण भी होते हैं। अयोगी के मात्र आयुप्राण होता है ॥७०१॥

विशेषार्थ–बारहवें गुणस्थान तक सब पर्याप्ति व सब प्राण होते हैं। सयोगी के द्रव्य-इन्द्रियों की दृष्टि (अपेक्षा) से छह पर्याप्तियाँ हैं और उपर्युक्त ४ प्राण। पाँच इन्द्रियप्राण व १ मनःप्राण, ये कुल ६ प्राण यहाँ नहीं हैं। इस प्रकार सयोगकेवली के इन ४ प्राणों में से वचनयोग के विश्रान्त हो जाने पर तीन प्राण ही रहते हैं तथा फिर उच्छ्वास-निश्वास की विश्रान्ति होने पर दो प्राण रहते

---

१. ध. २/७६६ व पं सं. ४/१८/८५। २. ध. २/५८६-५६०। ३. ध. २/८०१-८०३ प्रा. पं सं. शतक/पृ. ८५/गा. १८। ४. ध. २।४३० एवं गो. जी. ६६६। ५. वीरसेनाचार्यः नेमिचन्द्राचार्य गो. जी. ६६६ इत्यादीनाम् इति। ६. पं. संग्रह ४।१६।८५। ७. ध. २।४३२ व पं. सं ४।१६।८४-८५। ८. पं. सं. ४।२०।८६। ६. प्रा. पं सं.। शतक ४, गा. २० पृ. ८६।

हैं।[1]ॐ अयोगी के एक आयुप्राण मात्र होता है।

शंका—केवली के द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा दस प्राण क्यों नहीं कह दिये जाते हैं ?

समाधान—यदि प्राणों में द्रव्येन्द्रियों का ही ग्रहण किया जावे तो संज्ञी जीवों के अपर्याप्त काल में सात प्राणों का अभाव होकर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे; क्योंकि, उनके द्रव्येन्द्रिय का अभाव होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सयोगी के दस प्राण नहीं हो सकते।[2]

शङ्का— कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियों के अस्तित्व की अपेक्षा १० प्राण कहते हैं, सो क्या उनका कहना नहीं बनता ?

समाधान— हाँ, भगवान वीरसेनस्वामी के कथनानुसार उनका कहना नहीं ही बनता है, क्योंकि, सयोगी जिन के भावेन्द्रियाँ नहीं पाई जाती हैं। पाँचों इन्द्रियावरणकर्मों के क्षयोपशम को भावेन्द्रिय कहते हैं। परन्तु जिनका आवरण कर्म समूल नष्ट हो गया है, उनके वह क्षयोपशम नहीं होता है, अतः इन क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियों व भावमन के अभाव में केवली भगवान के छह के बिना ४ प्राण ही होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।[3]

शङ्का— अयोगी के एक आयुप्राण (ही) होने का क्या कारण है।

समाधान—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप इन्द्रिय प्राण तो अयोगी केवली के हैं नहीं क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय हो जाने पर क्षयोपशम का अभाव पाया जाता है। आनापान, भाषा व मनःप्राण भी उनके नहीं हैं, क्योंकि पर्याप्तिजनित प्राण संज्ञावाली शक्ति का उनके अभाव है। उनके कायबल प्राण भी नहीं है, क्योंकि, उनके शरीर नामकर्म के उदय-जनित कर्म व नोकर्म के आगमन का अभाव है। अतः अयोगी भगवान के एक आयुप्राण ही होता हैं।[4] उपचार का आश्रय करके उनके एक प्राण, छह प्राण अथवा ७ प्राण भी होते हैं, परन्तु यह पाठ गौण है। [ऐसे उपचार का आश्रय सयोगकेवली के भी लिया जाना सम्भव है।][5]

शङ्का— क्या अयोगी भगवान के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

---

१. वागुच्छ्वास-निश्वासायुकायप्राणाश्चत्वारो भवन्ति सयोगिजिने, शेषेन्द्रियमनःप्राणाःषट् न सन्ति। तत्रापि वाग्योगेविश्रान्ते त्रयः३। पुनः उच्छ्वासनिःश्वासे विश्रान्ते द्वौ २। अयोगे आयुः प्राणः एकः। प्रा. पं. सं. ४।२०। पृ. ८६ एवं ध. २।४२३, ४४७, ४४८, ५३१, ६५६, ६७३, ७३०, ८५३ आदि। अयमत्र विशेषो वर्तते यत् धवलायां उपर्युक्तस्थानेषु सयोगिनः प्राणत्रयप्ररूपणा नास्ति। परन्तु पंचसंग्रहे (पृ. ८६ गा. २० टीका, शतक); प्रकृत जीवकाण्डग्रन्थे (गा. ७०१) प्राणत्रयप्ररूपणाऽप्यस्ति। प्राणत्रय— प्ररूपणा च योगनिरोध-समयापेक्षया घटिता भवति। ॐकेवलिनः समुद्घातापर्याप्तावस्थायामपि द्वौ, त्रयोदशगुणस्थानान्त-समयेऽपि द्वौ (आयुः कायश्च) इति विशेषो ज्ञातव्यः। २. ध. पु.२ पृ. ४४८ अध दव्विंदियस्स जदि गहणं कीरदि तो सण्णीणमपज्जत्तकाले सत्त पाणा फिट्टिदूण दो चेव पाणा भवंति, पंचण्हं दव्वेंदियाणमभावादो। तम्हा सजोगिकेवलिस्स चत्तारि पाणा, दो पाणा भवंति। ३. ध. पु. २ पृ. ४४७-४८। ४. ध. २/४४६-५०। ५. उवचारमस्सिऊण एक्को वा छ वा सत्त वा पाणा भवंति। ध. २/४५०।

समाधान—हाँ, छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। छहों के होने का कारण यह है कि पूर्व से आयी हुई पर्याप्तियाँ तथैव स्थित रहती हैं। अतः छहों पर्याप्तियाँ अयोगी के कहना अविरुद्ध है। हाँ यहाँ पर पर्याप्तिजनित कोई कार्य नहीं होता, यह ठीक है।[1]

शंका— औदारिक मिश्र व कार्मण काययोग के काल में केवली के कितने प्राण होते हैं ?

समाधान—दो, आयु व काय प्राण।[2] विशेष यह है कि कार्मण काययोग में तो केवली के दो (आयु व काय) प्राण ही हैं। औदारिकमिश्र में भी अपर्याप्तावस्था के कारण उपर्युक्त प्राणद्वय ही बनते हैं। अथवा केवली के विद्यमान शरीर की अपेक्षा पूर्वोक्त प्राणों की कारणभूत पर्याप्तियाँ रहती ही हैं, इसलिए छठे समय से वचनबल और श्वासोच्छ्वास ये दो प्राण माने जा सकते हैं। इस तरह केवली के औदारिकमिश्र अवस्था में ४ प्राण भी कहे जा सकते हैं।[3]

गुणस्थानों में संज्ञा

छट्ठोत्ति पढमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा।
पुव्वो पढमणियट्टी सुहुमोत्ति कमेण सेसाओ ॥७०२॥[4]

गाथार्थ—छठे गुणस्थान पर्यन्त चारों संज्ञाएँ सकार्य होती हैं।❀ आगे प्रथम संज्ञा नहीं है। शेष तीन संज्ञाएँ कारण की अपेक्षा क्रमशः अपूर्वकरण तक, अनिवृत्तिकरण के प्रथम भाग तक व सूक्ष्मसाम्पराय तक होती हैं॥७०२॥

विशेषार्थ—संज्ञा के वैसे चेतना, बुद्धि, ज्ञान, संकेत, नाम, वाञ्छा आदि अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ वाञ्छा अर्थ विवक्षित है। संज्ञा यानी वाञ्छा। [व्युत्पत्ति की अपेक्षा सम् उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से अङ्-टाप् प्रत्यय होकर संज्ञा शब्द बना है] संज्ञाएँ चार होती हैं—आहार, भय, मैथुन व परिग्रह।[5] इनका स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है।[6] विशेष यह है कि प्रथम गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक चारों संज्ञाएँ कार्यरूप पायी जाती हैं। परन्तु छठे गुणस्थान के बाद में आहार संज्ञा नहीं होती; क्योंकि, आहारसंज्ञा का अन्तरंग कारण असातावेदनीय की उदीरणा है।[7] और असातावेदनीय की उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है।[8] अतः अप्रमत्तसंयत के असातावेदनीय की उदीरणा का अभाव हो जाने से आहार संज्ञा नहीं होती है।[9] (सातवें में आहारसंज्ञा का कारण

---

१. ध. २।४४६। २. ध. २/६५६ व ६७३ व ७३०। ३. ध. २/६६०। ४. प्रा. पं. सं.। शतक। पृ. ८६ गा. २०, टीका। एवं सं. पं. संग्रह १/६१-६२ टीका पृ. ६६५। ५. सण्णा चउव्विहा आहार-भय-मेहुण-परिग्गहसण्णा चेदि। ध. २/४१५, प्रा. पं. सं. १।५१ से ५४ पृ. ११-१२; गो. जी. १३४-१३८। ६. गो. जी. १३४-१३८। ❀. प्रा. पं. सं. शतक गा. २० संस्कृत टीका पृ. ८६। ७. सादिदरुदीरणाए होदि हु आहारसण्णा हु। प्रा. पं. सं. १।५२ पृ. ११ एवं गो. जी. १३५ एवं ध. २ पृ. ४१५ गा. २२४। ८. गो. क. २८०; अवणिद-तिप्पयडीणं पमत्तविरदे उदीरणा होदि। प्रा पं. सं.। कर्मस्तव ४४-४५-४६ पृ. ६५; संस्कृत पं. सं. ३।८ पृ. ६७६; धवल पु. १५ पृ. ५५ व ५७। ९. असादावेदणीयस्स उदीरणाभावादो आहारसण्णा अप्पमत्तसंजदस्स णत्थि। ध. २/४३७।

नहीं, अतः कार्य भी नहीं है।) शेष तीन संज्ञाएँ भी कार्य रूप से तो आगे नहीं हैं, क्योंकि आगे सातवें आदि गुणस्थान में भय से भागना, रतिक्रीड़ा व परिग्रह-स्वीकार रूप कार्य तो देखा जाता है नहीं। सातवें आदि में शेष तीन संज्ञाएँ उपचार से कही गई हैं और उपचार का कारण उन तीन संज्ञाओं के कारणभूत कर्मों की वहाँ उदयोदीरणा है। अतः कर्मोदय मात्र की दृष्टि से अप्रमत्तसंयत के आहार बिना तीन संज्ञाएँ हैं। अपूर्वकरण में भी ये तीन संज्ञाएँ हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रथम भाग में मैथुन व परिग्रह ये दो संज्ञाएँ ही हैं।

शंका—क्यों ?

समाधान—इन दो संज्ञाओं के होने का कारण यह है कि अपूर्वकरण गुणस्थान के अन्तिम समय में भय के उदय व उदीरणा, दोनों नष्ट हो चुके हैं। इससे भय संज्ञा यहाँ नहीं है।[1] अतः उक्त दो संज्ञाएँ ही रह जाती हैं। अनिवृत्तिकरण के द्वितीय भाग में वेद नोकषाय कर्म का उदय नष्ट हो जाने से मैथुन संज्ञा भी नहीं है। यानी अन्तरकरण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त जाकर वेद का उदय नष्ट होता है। अतः द्वितीय भागवर्ती जीवों के मैथुनसंज्ञा नहीं रहती है।[2] अतः मात्र एक परिग्रह संज्ञा उपचार से (उपचार का कारण कर्म का अस्तित्व) अनिवृत्तिकरण के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पञ्चम भाग में रहती है। सूक्ष्मसाम्पराय में परिग्रह संज्ञा भी सूक्ष्म (अल्प) रूप से है क्योंकि यहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है, स्थूल का नहीं। ग्यारहवें गुणस्थान में संज्ञाएँ उपशान्त अवस्था को प्राप्त होती हैं। कहा भी है कि संज्ञा के उपशान्त होने का कारण यह है कि यहाँ पर मोहनीय कर्म का पूर्ण उपशम रहता है, इसलिये उसके निमित्त से होने वाली संज्ञाएँ भी उपशान्त ही रहती हैं, अतएव यहाँ उपशान्त संज्ञा कही।[3] लेकिन आगे बारहवें आदि सब गुणस्थानों में 'क्षीणसंज्ञा' यानी संज्ञा का पूर्ण अभाव जानना चाहिए; क्योंकि, कषायों का यहाँ सर्वथा क्षय हो गया है, अतः संज्ञाओं का क्षीण (नष्ट) हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार उपशान्तादि गुणस्थानों में कार्यरहित भी संज्ञाएँ नहीं हैं, कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है।[4]

गुणस्थानानुसार संज्ञाओं की संख्या (व व्युच्छित्ति) का नक्शा इस प्रकार है—

गुणस्थान	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
संज्ञा	४	४	४	४	४	४	३	३	२	१	०	०	०	०
व्युच्छित्ति	०	०	०	०	०	१	०	१	१	१	०	०	०	०

गुणस्थानों में मार्गणा

मग्गण उवजोगावि य सुगमा पुव्वं परूविदत्तादो।
गदिआदिसु मिच्छादी परूविदे रूविदा होंति ॥७०३॥

---

१. पढम-अणियट्टिस्स भण्णमाणे ....अपुव्वकरण चरिमसमए भयस्स उदीरणोदया णट्ठा तेण भयसण्णा णत्थि। ध. २।४३८। २. ध. २/४४१। ३. ध. २/४४२। ४. उपशान्तादिषु कार्यरहिताऽपि न, कारणाभावे कार्यस्याभावः। प्रा. पं. सं. अधि ४/गा.२०/टीका।

गाथार्थ— गुणस्थानों में मार्गणा व उपयोग सुगम हैं, क्योंकि, पूर्व में कह आये हैं। क्योंकि गत्यादि मार्गणाओं में मिथ्यादृष्टि[1] आदि के कहने से उनका कथन हो ही जाता है ।।७०३।। गुणस्थानों में मार्गणा का कथन इस प्रकार है—

मार्गणा	किस गुणस्थान में
गति मार्गणा नरकगति	—प्रथम चार गुणस्थानों में नरकगति होती है। वहाँ प्रथम गुणस्थान में पर्याप्त व अपर्याप्त नरकगति होती है। द्वितीय गुणस्थान में नरकगति पर्याप्त ही होती है। तृतीय गुणस्थान में नरकगति पर्याप्त ही होती है। चतुर्थ गुणस्थान में नरकगति के जीव अपर्याप्त, पर्याप्त प्रथम नरक में, पर शेष नरकों में नरकगति पर्याप्त ही (चतुर्थगुणस्थान में) होती है।
तिर्यंचगति	—आदि के ५ गुणस्थानों में तिर्यंचगति सम्भव है। वहाँ प्रथम व द्वितीय गुणस्थान में तिर्यंचगति पर्याप्त व अपर्याप्त होती है। तृतीय में नियम से पर्याप्त। चतुर्थ में पर्याप्त ही, पर भोगभूमि की अपेक्षा अपर्याप्त भी। पंचम गुणस्थान में तिर्यंचगति नियम से पर्याप्त होती है।
मनुष्यगति	—सभी गुणस्थानों में मनुष्यगति मार्गणा के जीव सम्भव हैं। वहाँ प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ व त्रयोदश–इन पाँच गुणस्थानों में मनुष्यगति पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों तथा शेष गुणस्थानों में पर्याप्त मनुष्य गति ही होती है।
देवगति	—यह चार गुणस्थानों में सम्भव है। वहाँ प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ गुणस्थान में देवगति पर्याप्तापर्याप्त तथा तृतीय गुणस्थान में देवगति नियम से पर्याप्त होती है। (भवनत्रिक की अपेक्षा चौथे में नियमतः पर्याप्त देवगति ही है।)
एकेन्द्रियजाति	—मात्र प्रथम गुणस्थान में पर्याप्त व अपर्याप्त सभी प्रकार की एकेन्द्रिय जाति होती है। (परन्तु किन्हीं❀ आचार्यों, विद्वानों के मत से एकेन्द्रियों में भी सासादन सम्भव है, उनके हिसाब से एकेन्द्रिय अपर्याप्त जाति द्वितीय गुणस्थान में भी सम्भव है। यह द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पंचे. अप. तक समझना चाहिए।)
द्वीन्द्रियादि विकलत्रयजाति व असैनी पंचेन्द्रिय जाति	—ये सभी पर्याप्त व अपर्याप्त मात्र प्रथम गुणस्थान में होते हैं। [मतान्तरानुसार (पूर्ववत्) अपर्याप्तावस्था में यानी अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचे. जाति द्वितीय गुणस्थान में भी सम्भव है।]
संज्ञी पंचेन्द्रिय-जाति	—ये पर्याप्त तो सभी गुणस्थानों में होते हैं पर अपर्याप्त १, २, ४, ६, व १३ इन पाँच गुणस्थानों में होते हैं।
त्रसकाय	—इसमें पर्याप्त त्रस सभी गुणस्थानों में सम्भव हैं, अपर्याप्त त्रस—१,२,४,६,१३, इन गुणस्थानों में सम्भव हैं। [द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के त्रस पर्याप्तापर्याप्त,

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान। ❀ पंचसंग्रहकार अमितगतिः भूतबली, पूज्यपादाचार्य, जीवप्रबोधिनीकार, आदि।

प्रथम गुणस्थान में होते हैं। पर मतांतर से ये ही मात्र अपर्याप्त, द्वितीय गुणस्थान में भी होते हैं, पर संज्ञी तो द्वितीय गुणस्थान में पर्याप्तापर्याप्त दोनों होते हैं।]

स्थावरकाय—इनमें पर्याप्तों व अपर्याप्तों का मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होना सम्भव है। [मतान्तरानुसार बादर जल, पृथ्वी, वनस्पति के अपर्याप्त द्वितीय गुणस्थान में सम्भव हैं।]

गुणस्थानों में योग

तिसु तेरं दस मिस्से सत्तसु णव छट्ठयम्मि एयारा।
जोगिम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥७०४॥

गाथार्थ—तीन में तेरह, मिश्र में दस, सात में नौ, छठे में ग्यारह, सयोगी में सात योग तथा अयोगीस्थान शून्य होता है ॥७०४॥[1]

विशेषार्थ—तीन अर्थात् प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ गुणस्थान में १३ योग होते हैं। यानी कुल १५ योगों[2] में से आहारक व आहारकमिश्र को छोड़कर अन्य १३ योग, १,२ व ४ गुणस्थान में होते हैं। मिश्र यानी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान-तीसरे गुणस्थान में उक्त तेरह में से वैक्रेयिकमिश्र, औदारिकमिश्र व कार्मण, इन तीनों को घटाने पर अवशिष्ट रहे १० योग होते हैं। छठे गुणस्थान में इन दस में से वैक्रेयिक घटाकर आहारकद्विक योग जोड़ने पर कुल ११ योग होते हैं। तथा सात में नौ यानी संयतासंयत पाँचवाँ गुणस्थान व सातवें से १२ वें गुणस्थान तक के छह गुणस्थान, इन कुल ७ गुणस्थानों में उक्त दस में से वैक्रेयिक योग घटाने पर शेष बचे ९ योग होते हैं। सयोगीकेवली में सत्य व अनुभय वचन व मनोयोग तथा औदारिक, औदारिकमिश्र व कार्मण ऐसे ७ योग होते हैं। अयोगी में कोई योग नहीं होता। अब वेद आदि मार्गणाओं को भी संक्षिप्त तथा गुणस्थानों में बताते हैं—

मार्गणा	किन गुणस्थानों में ?
वेदमार्गणा	—तीनों ही वेद नौवें गुणस्थान में प्रथम सवेद भाग पर्यन्त होते हैं।[3]
कषायमार्गणा **४ क्रोध कषाय** **४ मान कषाय** **४ माया कषाय** **४ लोभ कषाय**	—इनमें से चारों अनन्तानुबन्धी कषायें प्रथम व द्वितीय गुणस्थानों में उदय को प्राप्त होती हैं, आगे नहीं। तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी बिना शेष तीन (प्रकार की ४-४) कषायें (उदित) रहती हैं। पाँचवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यान इन दो बिना अवशिष्ट दो कषायें रहती हैं। छठे गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिनामक नवम के दूसरे भाग तक एक मात्र कषाय (चारों सञ्ज्वलन कषायें) रहती हैं। तृतीय भाग में संज्वलन क्रोध बिना तीन कषायें रहती हैं, चतुर्थभाग में संज्वलन माया व लोभ ये दो ही रहती हैं। तथा पंचम भाग में लोभ ही रहती है।

---

१. तिसु तेरेगे दस णव सत्तसु इक्कम्हि हुंति एक्कारा।
इक्कम्हि सत्त जोगा अजोयठाणं हवइ सुण्णं ॥७४॥ प्रा. पं. सं.।शतक।पृ.१०३।एवं सं. पं. सं.। १२-१३ पृ. ८२। २. पञ्चदशयोगानां नामानि पूर्वम् (२१६-२४१ गाथा पर्यन्त) इत्येतासु गाथासु प्रोक्तानीति नोच्यन्ते। ३. धवल २/४३८-४३९।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय ही रहती है। ऊपर के सभी गुणस्थानों में कषाय नहीं है।[1]

ज्ञानमार्गणा —प्रथम व दूसरे गुणस्थान में तीन मिथ्याज्ञान ही होते हैं। मिश्र में भी आदि के तीनों ज्ञान मिश्र रूप होते हैं। चौथे व पाँचवें गुणस्थान में मति, श्रुत व अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान होते हैं। छठे से बारहवें गुणस्थान में उपर्युक्त तीन के साथ मनः-पर्यय भी होता है। आगे तेरहवें आदि गुणस्थानों में केवलज्ञान मात्र होता है।[2]

संयममार्गणा —आदि के ४ गुणस्थानों में असंयम मार्गणा है। पाँचवें गुणस्थान में देशसंयम मात्र होता है। छठे सातवें में सामायिक, छेदोपस्थापना व परिहारविशुद्धि ये तीन संयम होते हैं। आठवें व नौवें गुणस्थान में मात्र सामायिक, छेदोपस्थापना संयम ही होता है। दसवें में सूक्ष्मसाम्पराय संयम होता है। ऊपर सब गुणस्थानों में यथाख्यात संयम है। इसे ही पूज्यपादाचार्य आदि ने अथाख्यात संयम भी कहा है।

दर्शनमार्गणा —आदि के तीन गुणस्थानों में चक्षु व अचक्षु ये दो दर्शन[3] ही हैं। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक में चक्षु, अचक्षु व अवधिदर्शन ये तीन होते हैं। आगे के गुणस्थानों में मात्र केवलदर्शन होता है। (पंचसंग्रह में तीसरे गुणस्थान में भी अवधिदर्शन बताया है।[4])

शङ्का—विभंग दर्शन (प्रथम द्वितीय गुणस्थान में) क्यों नहीं कहा?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसका अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा ही **'सिद्धिविनिश्चय'** में भी कहा है—"अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के अवधिदर्शन ही होता है।"[5]

लेश्यामार्गणा —चौथे तक के गुणस्थानों में छहों लेश्याएँ होती हैं। पाँचवें से सातवें तक के गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। इससे आगे सयोगी पर्यन्त शुक्ललेश्या ही होती है। अयोगिगुणस्थान लेश्यारहित है। [विशेष यह है कि सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद के मतानुसार बकुश, प्रतिसेवना व कषायकुशील निर्ग्रन्थ संयतों के भी अशुभलेश्या सम्भव है।[6] जबकि धवलाकार के मतानुसार चौथे के बाद अशुभत्रय असम्भव हैं।[7]]

भव्यमार्गणा —प्रथमगुणस्थान में भव्य व अभव्य दोनों हैं। दूसरे से १२ वें तक के गुणस्थानों में भव्य ही हैं। सयोगी व अयोगी—इन दोनों गुणस्थानों में भी भव्य ही होते हैं।[8]

---

१. ध. २/४३९ से ४४२। २. सजोगि-केवलीणं भण्णमाणे अत्थि........ केवलणाणं. ....। एवं अयोगिकेवलीनामपि ज्ञातव्यम्। ध. २/४४८। ३. ध. २/४३२। ४. पं. सं. गाथा ६४-६७ पृ. १००। ५. विहंगदंसणं किण्ण परूविदं? ण, तस्स ओहिदंसणे अंतब्भावादो। तथा सिद्धिविनिश्चयेऽप्युक्तम्...."अवधिविभंगयोरवधिदर्शनमेव" इति। धवल पु. १३ पत्र ३५६। ६. स. सि. ९।४९; ता. वृ. ९।४७।३१६; रा. वा. ९।४९ बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि। कषायकुशीलस्य उत्तराश्चतस्रः। ७. ध. २।४३५ दृष्यताम् (नक्शा १३ आदि) तथा ध. २।८०१। ८. ध. २/४४८ से ४५०; ध. १/३९६; स. सि. १/८ पु. २३ पृ. २८। पृ. ३८। पृ. ५६; सं. पं. सं. १/२१५ पृ. ६७।

हाँ, गुणस्थानातिक्रान्तसिद्ध भव्याभव्य विकल्प से रहित हैं। यानी न ही भव्य हैं, न ही अभव्य।[1] पर पंचसंग्रह में भव्यमार्गणा की अपेक्षा १२ ही (क्षीणकषाय पर्यन्त) गुणस्थान कहे हैं। तथा सयोगी के भव्य व्यपदेश नहीं है, ऐसा कहा है।[2] (धवला, सर्वार्थसिद्धि आदि में तो भव्यों में १४ ही गुणस्थान बताये हैं पर पंचसंग्रह में भव्यों में १२ ही गुणस्थान बताये हैं।)

सम्यक्त्वमार्गणा—मिथ्यात्व तो प्रथम गुणस्थान में ही होता है। सासादन सम्यक्त्व दूसरे गुणस्थान में ही होता है। सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थान में ही होता है। चौथे से सातवें में वेदक, उपशम व क्षायिक तीनों होते हैं। ऊपर श्रेणी में उपशम श्रेणी के स्थानों में उपशम या क्षायिक सम्यग्दर्शन सम्भव है। क्षपकश्रेणी के गुणस्थानों में मात्र क्षायिक सम्यक्त्व होता है। तथा बारहवें से आगे के गुणस्थान द्वय व सिद्धों में भी क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है।

संज्ञीमार्गणा —असंज्ञी मात्र प्रथम गुणस्थान में[3] अथवा प्रथम व द्वितीय गुणस्थान में[4] सम्भव हैं। तथा संज्ञी सभी गुणस्थानों में (बारहवें तक) होते हैं। तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में जीव न संज्ञी, न ही असंज्ञी यानी संज्ञी-असंज्ञी विकल्प से रहित होते हैं।[5]

आहारमार्गणा —प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ तथा त्रयोदश—इन ४ गुणस्थानों में तो अनाहारक भी होते हैं पर अयोगी अनाहारक ही होते हैं। शेष नौ गुणस्थानों में नियम से आहारक ही होते हैं।[6] (गुणस्थानातीत, सिद्धिप्राप्त सिद्ध अनाहारक हैं ही)

गुणस्थानों में उपयोगों का कथन

दोण्हं पंच य छच्चेव दोसु मिस्सम्मि होंति वामिस्सा।
सत्तुवजोगा सत्तसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ।।७०५।।

गाथार्थ—दो में पाँच और दो में छह, मिश्र में मिश्र रूप छह होते हैं। सात में सात उपयोग, जिनों में दो ही व सिद्धों में भी दो ही उपयोग होते हैं ।।७०५।।

विशेषार्थ—जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण के लिए प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं।[7] उपयोग के मूलतः दो भेद हैं - ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग। प्रथमउपयोग, ज्ञानोपयोग के ८ भेद होते हैं। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल। दर्शनोपयोग के ४ भेद

१. ध. २/४५१ सिद्धाणंति भण्णमाणे णेव भवसिद्धिया, णेव अभवसिद्धिया होंति। गो. जी. ५५९। २. भव्ये मिथ्यादृष्ट्यादीने क्षीणकषायान्तानि द्वादश १२। सयोगायोगयोर्भव्य-पदेशो नास्तीति। प्रा. पं. सं. ४/१७/१००। ३. ध. २/८३३ यथा असण्णीणं भण्णमाणे अत्थि एयं गुणट्ठाणं........। ४. इदं कथनं प्राकृतपञ्चसंग्रहमतानुसारं वर्तते—यथा असण्णियम्मि जीवे दोण्णि य मिच्छाइ बोहव्वा। प्रा. पं. सं. ४/६९/१०१। ५. ध. १/४४-४५ ६. प्रा. पं. सं. ४/७० पृ. १०१-१०२ एवं ध. २ पृ. ४५७ पर्यन्त। एवं ध. २/८३६ से ८५५। ७. गो. जी. ६७२, गो. जी. ७, प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १७८ पृ. ३७ आदि। ध. २/४१६।

होते हैं - चक्षु, अचक्षु, अवधि व केवल।[1] इस प्रकार कुल १२ उपयोगों में से कितने कहाँ होते हैं। यह बताया जाता है। आदि के दो गुणस्थानों में, आदि के तीन ज्ञान (मिथ्या) व दो दर्शन ये पाँच उपयोग होते हैं। चौथे व पाँचवें गुणस्थान में मति, श्रुत, अवधिज्ञान, चक्षु, अचक्षु व अवधि दर्शन ये छह उपयोग होते हैं। मिश्र नामक तीसरे गुणस्थान में ये छहों मिश्र रूप होते हैं। छठे से १२वें तक के सात गुणस्थानों में मनःपर्यय ज्ञानोपयोग सहित सात उपयोग होते हैं। सयोगी, अयोगी तथा सिद्धों के केवलज्ञान व केवलदर्शन, ये दो ही उपयोग होते हैं।

गुणस्थानों में उपयोग का नक्शा[2]

गुण०	उपयोग	क्रमशः ज्ञान, दर्शन
मि.	५	(३+२)
सासा.	५	(३+२)
मिश्र	६	(३+३)
अवि.	६	(३+३)
देश.	६	(३+३)
प्रम.	७	(४+३)
अप्र.	७	(४+३)
अपू.	७	(४+३)
अनि.	७	(४+३)
सू.	७	(४+३)
उप.	७	(४+३)
क्षी.	७	(४+३)
सयो.	२	(१+१)
अयो.	२	(१+१)

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **अन्तर्भाव** प्ररूपणा नामक इक्कीसवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

२२. आलापाधिकार

प्रतिज्ञा

गोयमथेरं पणमिय, ओघादेसेसु वीसभेदाणं।
जोजणिकाणालावं, वोच्छामि जहाकमं सुणह ॥७०६॥

गाथार्थ—गौतम स्थविर को प्रणाम करके गुणस्थान और मार्गणा-स्थानों में, पूर्व में योजित २० प्रकारों के आलाप को यथाक्रम कहूंगा, उसे सुनो।

ओघे चोद्दसठाणे, सिद्धे वीसदिविहाणमालावा।
वेदकसायविभिण्णे अणियट्टी पंचभागे य ॥७०७॥

गाथार्थ—प्रसिद्ध गुणस्थानों में और १४ मार्गणास्थानों में बीस प्ररूपणाओं[3] के आलाप सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त होते हैं। एवं वेदों व कषायों से भेद को सम्प्राप्त अनिवृत्तिकरण नामा नौवें गुणस्थान के पाँच भागों में भी आलाप भिन्न-भिन्न होते हैं।

विशेषार्थ—बीस प्ररूपणाएँ निम्नलिखित हैं—१ गुणस्थान, १ जीवसमास, १ पर्याप्ति, १ प्राण, १ संज्ञी, १४ मार्गणा व उपयोग ऐसे (१+१+१+१+१+१४+१=२०) प्ररूपणा हैं।

शङ्का—प्ररूपणा किसे कहते हैं?

---

१. गो. जी. ६७३; पंचास्तिकाय मूल ४१-४२, ध. २/४१६। २. प्रा. पं. सं. १/४/७३ पृ. १०२-१०३। ३. ध. २/१, गो. जी. गाथा २।

समाधान—सामान्य और विशेष की अपेक्षा गुणस्थानों में, जीवसमासों में, पर्याप्तियों में, प्राणों में, संज्ञाओं में, इन्द्रियों में, कायों में, योगों में, वेदों में, कषायों में, ज्ञानों में, संयमों में, दर्शनों में, लेश्याओं में, भव्यों में, अभव्यों में, सम्यक्त्वों में, संज्ञी-असंज्ञियों में, आहारी-अनाहारियों में, और उपयोग में, पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जो जीवों की परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं।[1]

गुणस्थानों में आलाप

ओघे मिच्छदुगेवि य, अयदपमत्ते सजोगिठाणम्मि ।
तिण्णेव य आलावा, सेसेसिक्को हवे णियमा ।।७०८।।

गाथार्थ—गुणस्थानों में मिथ्यात्वद्विक तथा असंयत व प्रमत्त एवं सयोगिस्थान में तीनों ही आलाप होते हैं। शेष में नियम से एक ही होता है ।।७०८।।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सासादन, असंयत, प्रमत्तसंयत व सयोगीकेवली इन पाँच गुणस्थानों में पर्याप्त, अपर्याप्त व सामान्य ये तीनों ही आलाप होते हैं। पर अवशिष्ट गुणस्थानों में यानी मिश्र, देश संयत, अप्रमत्तसंयत व अपूर्वकरणादि क्षीणकषायपर्यन्त ५ एवं अयोगीकेवली गुणस्थान इन नौ गुण-स्थानों में एक पर्याप्त ही आलाप होता है। आगे आचार्य इसी के स्पष्टीकरणार्थ गाथा कहते हैं—

सामण्णं पज्जत्तमपज्जत्तं चेदि तिण्णि आलावा ।
दुवियप्पमपज्जत्तं लद्धीणिव्वत्तगं चेदि ।।७०९।।

गाथार्थ—सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त—इस प्रकार तीन आलाप हैं। पुनः अपर्याप्त आलाप के दो भेद होते हैं (१) लब्ध्यपर्याप्त (२) निर्वृत्यपर्याप्त ।।७०९।।

दुविहं पि अपज्जत्तं, ओघे मिच्छेव होदि णियमेण ।
सासणअयदपमत्ते णिव्वत्तिअपुण्णगो होदि ।।७१०।।

गाथार्थ—दोनों ही प्रकार के अपर्याप्त आलाप (लब्ध्यपर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त) सर्व गुण-स्थानों में से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। सासादन, असंयत व प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में निर्वृत्यपर्याप्त आलाप होता है ।।७१०।।

विशेषार्थ—यहाँ यह बताया गया है कि प्रथम गुणस्थान में ही दोनों प्रकार के अपर्याप्त आलाप होते हैं। क्योंकि, लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यात्वगुणस्थान में ही होते हैं।[2] किञ्च, अपर्याप्ति नाम कर्म का उदय भी प्रथम गुणस्थान तक ही रहता है।[3] इससे आगे के गुणस्थानों में नहीं।

शंका—अपर्याप्ति नाम कर्म क्या है ?

समाधान—जिसके उदय से कोई भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो अर्थात् लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था हो

---

१. ध. २/१ २. लद्धि अपुण्णं मिच्छे। गो. जी. १२७। ३. गो. क. २६५।

वह अपर्याप्ति नामकर्म है और इसका सासादनादि में उदय नहीं हो सकने से सासादनादि जीव लब्धिअपर्याप्तक अवस्था प्राप्त नहीं कर सकते ।[1]

शंका—तो फिर निर्वृत्यपर्याप्तक के क्या पर्याप्ति नाम कर्म का उदय रहता है, क्योंकि, यहाँ निर्वृत्यपर्याप्तकों के तो सासादन आदि गुणस्थान बताये हैं ?

समाधान—हाँ, निर्वृत्यपर्याप्तक के भी पर्याप्ति नाम कर्म का उदय ही रहता है ।[2]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि सयोगकेवली के भी निर्वृत्यपर्याप्त आलाप कहना चाहिए, सो क्यों नहीं कहा ? सो ही कहा जाता है—

जोगं पडि जोगिजिणे होदि हु णियमा अपुण्णगत्तं तु ।
अवसेसणवट्ठाणे पज्जत्तालावगो एक्को ।।७११।।

गाथार्थ—योग की अपेक्षा ही सयोगीजिन में नियम से अपूर्णता यानी अपर्याप्तपना होता है (अर्थात् अपर्याप्त आलाप होता है) । शेष नव स्थानों में (नौ गुणस्थानों में) एकमात्र पर्याप्तालाप ही होता है ।।७११।।

विशेषार्थ—सयोगकेवली में भी अपर्याप्तालाप बन जाता है; पर वह योग की अपेक्षा ही सम्भव है । क्योंकि, सयोगकेवली का शरीर पूर्ण है और उनके पर्याप्ति नाम कर्मोदय भी विद्यमान है तथा काययोग भी है । अत: उनके अपर्याप्तता 'योग पूर्ण नहीं होने से' ही गौणरूप से कही गई है अत: 'अपूर्णयोग'❀ की अपेक्षा केवली (सयोगी) को भी निर्वृत्यपर्याप्त कहा जा सकता है ।

चौदह मार्गणाओं में आलाप/नरक गति में आलाप

सत्तण्हं पुढवीणं, ओघे मिच्छे य तिण्णि आलावा ।
पढमाविरदेवि तहा सेसाणं पुण्णगालावो ।।७१२।।

गाथार्थ—सातों ही पृथिवियों में, गुणस्थानों में से मिथ्यात्व गुणस्थान में तीनों आलाप होते हैं । प्रथम पृथिवी में अविरत गुणस्थान में भी वैसे ही अर्थात् तीनों आलाप हैं । शेष पृथिवी में (यानी द्वितीय से सप्तम नरक तक) अविरत गुणस्थान में एक पर्याप्त आलाप ही होता है ।।७१२।।

विशेषार्थ—सर्व नरकों में नारकी मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में पाये जाते हैं, अत: सर्व पृथ्वी में मिथ्यात्व गुणस्थान में तीनों आलाप बन जाते हैं । प्रथम पृथ्वी में सम्यग्दृष्टि पूर्वकाल में नरकायु के बंध वश जन्म लेता है[3] अत: प्रथम पृथ्वी में पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में सम्यक्त्व बन जाने से[4] तीनों आलाप बन जाते हैं । शेष छह पृथ्वियों

---

१. ध. १/२७० या २६७; गो. जी. १२२; ध. ८/६; । २. स्वा. का. अ. पृ. ७४ (भावार्थ) ध. १/२५६ एवं गो. जी. १२१ आदि । ❀ औदारिकमिश्रकाययोगस्य, कार्मणकाययोगस्य च सद्भाव एवाऽपूर्णयोग इति ।
३. प्रा. पं. सं. १/१/गा. १९३/पृ. ४१ तथा संस्कृत पं. सं. १/२६७, ध. १/२१० गा. १३३ । एवं ध. १/३३९ ।
४. प्रथमायां पृथिव्यां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । स. सि. १/७ ।

में अविरत गुणस्थान में भी एक पर्याप्तालाप ही (सम्यग्दृष्टि वहाँ जन्म नहीं लेते अतः) बनता है। सर्व पृथ्वियों में सासादन गुणस्थान में पर्याप्तालाप ही बनता है,[१] क्योंकि सासादन गुणस्थानवर्ती तिर्यंच-मनुष्यों के नरकगति को गमनयोग्यपरिणाम भी नहीं पाये जाते हैं।[२] एवं देवनारकी सासादन-गुणी तो नरक को जाने से रहे[३] (यानी देव व नारकी मात्र नरक को नहीं जाते)❀ अतः सासादन गुणस्थान सहित नरक में गमन का, जन्म लेने का, अभाव होने से सातों नरकों में अपर्याप्तावस्था में सासादन गुणस्थान का अभाव बनता है।[४]

अतः सातों पृथिवियों में सासादन गुणस्थान में एक पर्याप्त आलाप ही बनता है। तथा मिश्र (तीसरे) गुणस्थान में भी सातों पृथिवियों में एक पर्याप्त आलाप ही होता है; क्योंकि, मिश्रगुणस्थान वाला, अपर्याप्त अवस्थायुक्त नरक में नहीं मिलता।[५] कारण कि मिश्र गुणस्थान में, चारों गतियों में से कहीं भी आयुबन्ध नहीं होता।[६] और "जिस गति में, जिस गुणस्थान में आयुकर्म का बन्ध नहीं है, उस गति से, उस गुणस्थान सहित निर्गमन का भी अभाव है; ऐसा कषाय उपशामकों को छोड़कर अन्य जीवों के लिये नियम है"[७] इस नियम के अनुसार मिश्रगुणसहित जीव मरण नहीं कर सकने से卐 अपर्याप्त नारकी के रूप में कैसे उपस्थित होगा? फलतः मिश्र में 'पर्याप्त' आलाप ही सातों नरकों में सम्भव है; क्योंकि अपर्याप्तकाल में मिश्रगुणस्थान के अस्तित्व को बताने वाले आगम का अभाव है।[८]

तिर्यञ्चगति में आलाप

तिरियचउक्काणोघे मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णेव।
णवरि य जोणिणि अयदे पुण्णो सेसेवि पुण्णो दु ॥७१३॥

गाथार्थ—चार तिर्यंचों के गुणस्थानों में से—मिथ्यात्वद्विक और अविरत गुणस्थान में तीनों आलाप होते हैं। इतनी विशेषता है कि योनिनी तिर्यंच में असंयत गुणस्थान में एक पर्याप्त ही आलाप होता है। शेष गुणस्थानों में भी एक पर्याप्त ही आलाप होता है ॥७१३॥

विशेषार्थ—तिर्यञ्च पाँच प्रकार के होते हैं।[९] १. तिर्यञ्च २. पंचेन्द्रिय तिर्यंच ३. पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त ४. पंचेन्द्रियतिर्यञ्च योनिनी और ५. पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त। इनमें से पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त के तो एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।[१०] पूर्व के चार तिर्यंचों के आदि के ५ गुणस्थान सम्भव हैं।[११] वहाँ उनमें प्रथम द्वितीय व असंयत इन तीन गुणस्थानों में, तीनों आलाप होते हैं।[१२] लेकिन योनिनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के असंयत गुणस्थान में एक पर्याप्तालाप ही होता है।[१३]

---

१. ण सासणो णारयापुण्णे। गो.जी. १२८ २. तिरिक्खमणुससासणाणं णिरयगइगमणपरिणामाभावा। ध. ६/४५६। ३. ध. ६/४७८ एवं ध. ६/४४७। ❀ गत्यागतिसूत्र ७६-२०२ षट् खं.। ४. ध. ६/४३८ एवं ध. १/२०७ एवं ध. ६/४३८ सासादन-सम्यग्दृष्टीनां नरकगतौ प्रवेशो नास्ति। ५. ध. १/२०७। ६-७ ध. ६/४६३-४६४; गो. जी. २३; ध. ४/३४९-३४३; ध. ५/३१। 卐 गो. जी. २३-२४; ध. ४/३४९; ध. ५/३१। ८. सम्यग्मिथ्यात्व-गुणस्थानस्य पुनः सर्वदा सर्वत्रापर्याप्ताद्धाभिर्विरोधस्तत्र तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्ष-विरोधात्। ध. १/२०७। ९. ध. २/४७३। १०. ध. २/५०२; ध. १/३३१। ११. ध. २/४७५-४९५। १२. षट् खं. १/८४ से ८८; ध. २/४७५ पृ. से ४९५। १३. स. सि. १/७; षट् खं १/८८; ध. १/३३०।

क्योंकि सम्यक्त्वी कभी योनिनी में जन्म नहीं लेता,[1] जिससे कि निर्वृत्यपर्याप्तक योनिनी के भी सम्यक्त्व बन जाय। तथा शेष यानी तीसरे व पंचम गुणस्थान में मूल ओघवत् (गुणस्थानों में कथन के समान ही) एक पर्याप्तालाप ही जानना चाहिए।[2]

तेरिच्छियलद्धियपज्जत्ते एक्को अपुण्ण आलावो।
मूलोघं मणुसतिये मणुसिणिअयदम्हि पज्जत्तो ॥७१४॥

गाथार्थ—तिर्यंच लब्ध्यपर्याप्तकों में एक अपूर्ण (अपर्याप्त) आलाप ही होता है। मनुष्यों में तीन में मूलोघ के समान आलाप है। इतनी विशेषता है कि मनुष्यिनी के अविरत गुणस्थान में एक पर्याप्त ही आलाप होता है[3] ॥७१४॥

विशेषार्थ—मनुष्य चार प्रकार के होते हैं:– मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और मनुष्य अपर्याप्त।[4] वहाँ मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त व मनुष्यिनी इन तीन के तो १४ गुणस्थान होते हैं।[5] यदि यहाँ यह कहा जाय कि इस तरह तो मनुष्यिनी के १४ गुणस्थान सिद्ध हो जाने से स्त्री को मुक्ति हो जाएगी, सो बात नहीं है; क्योंकि सचेल, मायाचारमयी व अपवित्र स्त्रियों को मुक्ति तो क्या, संयम भी सम्भव नहीं।[6] यहाँ तो भाववेद का प्राधान्य है, द्रव्यवेद का नहीं।[7] अतः उक्त तीन भेदों में १४ गुणस्थान बन जाने से गुणस्थान में सम्भव आलापों के समान ही आलाप हैं।[8] शेष कथन सरल है।

मणुसिणि पमत्तविरदे आहारदुगं तु णत्थि णियमेण।
अवगदवेदे मणुसिणि सण्णा भूदगदिमासेज्ज ॥७१५॥

गाथार्थ—मनुष्यिनी के प्रमत्तविरत गुणस्थान में नियम से आहारद्विक नहीं है। अपगतवेद अवस्था में 'मनुष्यिनी' के जो मैथुनसंज्ञा कही है वह भूतगति न्याय की अपेक्षा कही है ॥७१५॥

विशेषार्थ—'भावस्त्री व द्रव्यपुरुष' ऐसी मनुष्यिनी में प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान म आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग का उदय नियम से नहीं हो सकता है।

शङ्का—मनुष्यिनियों के आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग नहीं होने का क्या कारण है?

समाधान—यद्यपि जिनके भाव की अपेक्षा स्त्रीवेद और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेद होता है, वे (भावस्त्री) जीव भी संयम को प्राप्त होते हैं। किन्तु द्रव्य की अपेक्षा स्त्रीवेद वाले मनुष्य संयम को प्राप्त नहीं होते हैं; क्योंकि वे सचेल अर्थात् वस्त्र सहित होते हैं। फिर भी भाव की अपेक्षा स्त्री-वेदी और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेदी संयमधारी मनुष्यों के आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है।

---

१. ध. १/३३९ एवं ध. १/२१०; प्रा. पं. सं. १/१/१९३ पृ. ४० तथा सं. पंचसंग्रह १/२९७ २. षट् खं. १/८८ व १/८५; ध. १/३२८, ३३०। ३. स. सि. १/७/१७ षट् खं. १/९३ ४. ध. २/५०३ ५. ध. २/५०४ से ५३२ ६. ध. १/३३५; ध. २/५१५; योगसार प्राभृत गाथा ४३ से ४९। ७. एत्थ भावेदेण पयदं ण दव्ववेदेण। ध. २/५१५ ८. देखें गो. जी. ७०८ से ७११।

इसलिये स्त्रीवेद वाले मनुष्यों के आहारकद्विक के बिना ग्यारह योग कहे गये हैं।[१] 'तु' शब्द से यह लेना है कि इसके (मनुष्यिनी के) मनःपर्यय व परिहारविशुद्धि नहीं होते। अर्थात् मनुष्यिनी के मनःपर्यय के बिना ७ ज्ञान व परिहारविशुद्धि के बिना ६ संयम सम्भव हैं।[२]

शंका क्या मनुष्यिनी के आहारक शरीर नामकर्म का उदय व आहारक अंगोपांग नामकर्म का उदय भी नहीं हो सकता ?

समाधान—कैसे होगा ? नहीं हो सकता। ऊपर कहा जा चुका है।[३] शेष कथन सुगम है।

णरलद्धिअपज्जत्ते एक्को दु अपुण्णगो दु आलावो।
लेस्साभेदविभिण्णा, सत्त वियप्पा सुरट्ठाणा ॥७१६॥

गाथार्थ—मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक में मात्र एक अपूर्णक (अपर्याप्तक) आलाप होता है। देवगति में लेश्याओं के भेद की अपेक्षा से सात विकल्प होते हैं ॥७१६॥

विशेषार्थ—मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक भी नियम से संज्ञी, पंचेन्द्रिय व मिथ्यादृष्टि होते हैं। तथा लब्ध्यपर्याप्तक होने के नाते छहों पर्याप्तियों से अपर्याप्त होते हैं। तथा इनके लब्ध्यपर्याप्तक होने से एक लब्ध्यपर्याप्त आलाप ही सम्भव है।[४] देवगति में लेश्याभेद की अपेक्षा जो सात भेद होते हैं, वे निम्नलिखित हैं।[५]—

१. तीन (भवनत्रिक) के तेजो लेश्या का जघन्य अंश।
२. दो (सौधर्म, ऐशान स्वर्गवासी) में तेजोलेश्या का मध्यम अंश।
३. दो (सानत्कुमार व माहेन्द्र स्वर्गवासी) में तेजोलेश्या का उत्कृष्ट व पद्म का जघन्य अंश।
४. छह (ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र व महाशुक्र स्वर्गवासी) के मध्यम पद्म लेश्या।
५. दो (शतार व सहस्रार स्वर्गवासी) के उत्कृष्ट पद्म लेश्या व जघन्य शुक्ल लेश्या।
६. १३ (आनत, प्राणत, आरण व अच्युत स्वर्गवासी व नौ ग्रैवेयकवासी) के मध्यम शुक्ल लेश्या।
७. चौदह (नौ अनुदिश तथा ५ अनुत्तरवासी) के उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या।

इस प्रकार देवों के लेश्या के भेद से भिन्नता प्राप्त ये सात स्थान हैं, ऐसा ज्ञातव्य है।

सव्वसुराणं ओघे मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णेव।
णवरि य भवणतिकप्पित्थीणं च य अविरदे पुण्णो ॥७१७॥

---

१. एत्थ आहारआहारमिस्सकायजोगा णत्थि। किं कारणं ? जेंसि भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो, ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति। दव्वित्थिवेदा पुण संजमं ण पडिवज्जंति, सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहारसिद्धी समुप्पज्जदि दव्व-भावेहि पुरिसवेदाणं चेव समुप्पज्जदि तेणित्थिवेदे णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि, तेण एगारहजोगा भणिदा, ध.२/५१५ २. मणुसिणीणं भाणमाणे अत्थि मणपज्जवणाणेण-विणा सत्त णाणाणि, परिहारसंजमेण विणा छ संजमा ध. २/५१६ ३. गो. क. ३०१। ४. ध. २/५३२ ५. ध. २/५३६; पं. सं. १/१८८-१८९ पृ. ४०; गो. जी. ५३३-५३४।

गाथार्थ—समस्त देवों के सब (चार) गुणस्थानों में से मिथ्यात्वद्विक व अविरत में तीनों ही आलाप होते हैं। इतनी विशेषता है कि भवनत्रिक व कल्पवासिनी देवियों के अविरत गुणस्थान में एक पर्याप्त आलाप ही होता है ।।७१७।।

विशेषार्थ—समस्त देवों में कुल ४ ही गुणस्थान सम्भव हैं।[1] उसमें से प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ गुणस्थान में तीनों आलाप होते हैं क्योंकि इन गुणस्थानों के साथ देवों में जन्म तथा अपर्याप्त अवस्था में भी मिथ्यात्व, सासादन व असंयत सम्यक्त्व गुणस्थान देखा जाता है। यानी देव मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि व असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी।[2] सकल देव मिश्र गुणस्थान में नियम से पर्याप्त ही होते हैं।[3] अतः इस तृतीय गुणस्थान में एक पर्याप्त आलाप ही होता है।

शंका—'देव तृतीय गुणस्थान में नियम से पर्याप्त हैं।' यह कैसे ?

समाधान—क्योंकि तृतीय गुणस्थान के साथ उनका मरण नहीं होता है तथा अपर्याप्त काल में भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति नहीं होती है।[4]

शंका—'तृतीय गुणस्थान में पर्याप्त ही होते हैं।' इस प्रकार के नियम के स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भित एकान्त के सद्भाव होने में कोई विरोध नहीं आता है।[5]

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियों तथा सौधर्म और ऐशानकल्पवासिनी देवियाँ, ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी और अपर्याप्त भी होते हैं, क्योंकि इन दोनों गुणों से युक्त जीवों की उपर्युक्त देव व देवियों में उत्पत्ति देखी जाती है, पर विशेष इतना है कि सम्यग्मिथ्यात्व व अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में उपर्युक्त देवदेवी नियम से पर्याप्त होते हैं[6] क्योंकि, सम्यक्त्वी मरकर उनमें जन्म नहीं लेता।[7] अतः भवनत्रिक में और कल्पवासी देवांगनाओं में असंयत गुणस्थान में पर्याप्त आलाप ही होता है।[8]

शंका—मिश्रगुणस्थान वाले जीव की उपर्युक्त देवदेवियों में उत्पत्ति मत होओ, यह ठीक है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के साथ जीव का मरण नहीं होता है।❀ परन्तु यह बात नहीं बनती है कि असंयत सम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियों में उत्पन्न नहीं होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि की जघन्य देवों में उत्पत्ति नहीं होती है।[9]

शङ्का—जघन्य अवस्था को प्राप्त नारकियों में और तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाला सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त भवनवासी देव और देवियों में तथा कल्पवासिनी देवियों में

---

१. षट् खं. १/२८, ध.१/२२६ २. षट् खं. १/९४; ध. १/३३६। ३. षट् खं. १/९५ ४. धवल १/३३७, धवल ६/४५१, ४६३-४६४ ५. धवल १/३३७। ६. ष. खं. १/९७। ७. ध. १/३३९, ध. १/२१०; प्रा. पं. सं १/१९३/४१ ८. ध. २/५६३ ९. धवल पु. १/३३८ ❀ गो. जी. २४; ध. ५/३१; ध. ४/३४९।

क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो आयु कर्म का बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया है, ऐसे जीवों की नरकादिगति में उत्पत्ति को रोकने का सामर्थ्य सम्यग्दर्शन में नहीं है ।

शङ्का—सम्यग्दृष्टि जीवों की जिस प्रकार नरकगति में उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार देवों में क्यों नहीं होती है ?

समाधान—यह ठीक है, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है ।

शंका—तो फिर भवनवासी आदि में भी असंयत सम्यक्त्वी की उत्पत्ति प्राप्त हो जायेगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिन्होंने पहले आयुकर्म का बन्ध किया है ऐसे जीवों के सम्यग्दर्शन का उस-उस गति सम्बन्धी आयु सामान्य के साथ विरोध न होते हुए भी उस-उस गति सम्बन्धी विशेष में उत्पत्ति के साथ विरोध पाया जाता है । ऐसी अवस्था में भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवों में, नीचे की ६ पृथिवियों में, सब स्त्री में, प्रथम नारक बिना सब नपुंसकों में, विकलत्रय में, स्थावरों में, लब्ध्यपर्याप्तकों में व कर्मभूमिजतिर्यंचों में असंयत सम्यक्त्वी के साथ उत्पत्ति में विरोध सिद्ध हो जाता है ।[1]

सारतः सम्यक्त्वी नरतिर्यंच मरकर भवनत्रिक देवों व सब देवियों में उत्पन्न नहीं होते, अतः वहाँ असंयत में एक पर्याप्तालाप ही सम्भव है ।

मिस्से पुण्णालावो अणद्दिसाणुत्तरा हु ते सम्मा ।
अविरद तिण्णालावा अणुद्दिसाणुत्तरे होंति ।।७१८।।

गाथार्थ—देवों में मिश्रगुणस्थान में पर्याप्त ही आलाप होता है । अनुदिश व अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र सब नियम से सम्यक्त्वी ही होते हैं । अतः उनके असंयत में ३ आलाप होते हैं ।।७१८।।

विशेषार्थ—मिश्रगुणस्थान अन्तिमग्रैवेयकपर्यन्त सम्भव है । अतः वहाँ तक के अहमिन्द्रों के मिश्रगुणस्थानों में नियम से पर्याप्त आलाप ही होता है ।[2] पर ऊपर सब सम्यक्त्वी ही होते हैं क्योंकि "वहाँ पर सभी के एकमात्र अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान हैं ।"[3] ऐसा आगम-वचन है । अतः उनके असंयत गुणस्थान में तीन आलाप बन जाते हैं ।[4]

इन्द्रियमार्गणा में आलाप

बादरसुहमेइंदियबितिचउरिंदियअसण्णिजीवाणं ।
ओघे पुण्णे तिण्णि य अपुण्णगे पुण अपुण्णो दु ।।७१९।।

---

१. ध. १/३३६ । २. ष. खं. १/६६ । ३. ध. २/५६७ एवं स. सि. १/७/प्रकरण२८/ एवं स. सि. ४/२६ एवं ध. १/३४१ सूत्र १०० । ४. धवल पु. २ पत्र ४६६-४७० ।

गाथार्थ— बादर व सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन जीवों में से जिनके पूर्ण यानी पर्याप्त कर्म का उदय है, उनके तीन आलाप और जिनके अपर्याप्त नाम का उदय है उनके एक अपूर्ण यानी अपर्याप्त ही आलाप होता है ।।७१६।।

विशेषार्थ—यहाँ जिनके अपर्याप्त नाम का उदय है उनके अपर्याप्त में से भी लब्ध्यपर्याप्त आलाप ही होगा, निर्वृत्यपर्याप्त आलाप नहीं। बाकी निर्वृत्यपर्याप्तजीव के तो तीनों आलाप हो जाते हैं। शेष कथन सुगम है।

सण्णी ओघे मिच्छे गुणपडिवण्णे य मूलआलावा ।
लद्धियपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ।।७२०।।

गाथार्थ—संज्ञी के (संज्ञी पंचेन्द्रिय) गुणस्थानों में से मिथ्यादृष्टि के और गुणस्थान प्रतिपन्न के, मूल के समान ही आलाप होते हैं। लब्ध्यपर्याप्त संज्ञी के एक अपर्याप्त ही आलाप होता है ।।।७२०।।[1]

विशेषार्थ - संज्ञी पंचेन्द्रिय में आदि के १४ गुणस्थान होते हैं।[2] संज्ञी के प्रथम गुणस्थान में सभी आलाप होते हैं तथा गुणस्थान प्रतिपन्न (ऊपर के गुणस्थानों में चढ़े संज्ञी) के मूल के समान ही आलाप जानने चाहिए [यानी सासादन, असंयत सम्यग्दृष्टि, प्रमत्त व सयोगी के तीन-तीन आलाप तथा अन्य गुणस्थान मिश्र, देशविरत व अप्रमत्तादि अयोग्यन्त के संज्ञी पंचेन्द्रियों में मात्र पर्याप्त ही आलाप होता है।]

कायमार्गणा में आलाप

भूआउतेउवाऊणिच्चचदुग्गदिणिगोदगे तिण्णि ।
ताणं थूलेदरसु वि, पत्तेगे तद्दुभेदे वि ।।७२१।।
तसजीवाणं ओघे, मिच्छादिगुणे वि ओघ आलाओ ।
लद्धिअपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ।।७२२।।

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्य व चतुर्गति निगोद इनके बादर व सूक्ष्म, प्रत्येक वनस्पति, सप्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक इन सभी में तीनों आलाप होते हैं। त्रसों में, चौदह गुणस्थानों में गुणस्थानवत् ही आलाप जानने चाहिए। उपर्युक्त सभी जीवों में (पृथ्वी से त्रसकाय तक) लब्ध्यपर्याप्तकों के एक लब्ध्यपर्याप्त आलाप ही होता है ।।७२१-७२२।।

योगमार्गणा में आलाप

एक्कारसजोगाणं, पुण्णगदाणं सपुण्णआलाओ ।
मिस्सचउक्कस्स पुणो सगएक्क अपुण्णआलाओ ।।७२३।।

---

१. ध. २/५६१। २. ध. २/५८६।

गाथार्थ—पर्याप्तिगत (पर्याप्तावस्था में ही जो हों) ग्यारह योगों में अपना-अपना एक पर्याप्त ही आलाप होता है। शेष चार मिश्रयोगों में अपना एक अपर्याप्त आलाप होता है ।।७२३।।

विशेषार्थ—ग्यारह पर्याप्तिगत योग ये हैं–४ मनोयोग, ४ वचनयोग, एक औदारिककाययोग, एक आहारक काययोग, एक वैक्रेयिक काययोग। ४ मिश्रकाययोग ये हैं—औदारिक मिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग, वैक्रेयिकमिश्र काययोग, कार्मण काययोग। शेष कथन सुगम है।

शेष मार्गणाओं के आलापों का कथन

वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघ आलाओ।
णवरि य संढित्थीणं, णत्थि हु आहारगाण दुगं ।।७२४।।

गाथार्थ—वेदमार्गणा से आहारमार्गणा पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थानवत् (यानी जिस वेद आदि मार्गणा में जो-जो गुणस्थान सम्भव हों, व उनमें मूल गुणस्थानों में आलाप जो-जो होते हैं, वे ही उन-उन मार्गणाओं के समझने चाहिए) इतनी विशेषता है कि नपुंसक व स्त्री के आहारकद्विक नहीं है ।।७२४।।

विशेषार्थ—**शंका**—आहारककाययोगी व तन्मिश्रयोगी को नपुंसक व स्त्रीवेद क्यों नहीं होता?

समाधान—क्योंकि अशुभवेदों के साथ आहारकऋद्धि नहीं उत्पन्न होती है।[1]

वेद मार्गणा से आहार मार्गणा तक आलाप

मार्गणा	सम्भवगुणस्थान	सम्भव आलाप
वेद मार्गणा		
स्त्री नपुंसकवेद	१से९ सवेद भाग पर्यन्त	स्त्री-नपुंसक के १, २, ४ में आलाप त्रय। शेष गुणस्थानों में पर्याप्त आलाप। इतनी विशेषता है कि स्त्रीवेदी के चौथे गुणस्थान में पर्याप्तालाप।
पुरुषवेद	,, ,, ,,	पुं. वेदी के १, २, ४, ६ में आलापत्रय। शेष में पर्याप्तालाप
कषाय मार्गणा		
क्रोध, मान, माया व लोभ	१ से १० के अन्त तक	१, २, ४, ६ में आलापत्रय। शेष में पर्याप्तआलाप चारों कषायों में पृथक्-पृथक् भी इसी तरह समझना। इतना विशेष है कि क्रोध, मान, माया में ९ तक गुणस्थान व लोभ में १० तक हैं।

१. गो. क. गाथा ३१९; ध. २/६६८।

मार्गणा	सम्भव गुणस्थान	सम्भव आलाप
ज्ञानमार्गणा		
मति श्रुत अज्ञान	१ से २	उभयत्र आलाप त्रय
विभंग	१ से २	पर्याप्तालाप
मतिश्रुतावधिज्ञान	४ से १२	४, ६ में आलाप त्रय शेष में पर्याप्त आलाप
मनःपर्ययज्ञान	६ से १२	एक पर्याप्तालाप (सर्वत्र)
केवलज्ञान	१३ से १४	१३ वें में आलापत्रय। १४ वें में एक पर्याप्त आलाप।
संयममार्गणा		
असंयम	१ से ४	१, २, ४ में आलापत्रय। ३ में पर्याप्त आलाप
संयमासंयम	५ वाँ	पर्याप्त आलाप
सामायिक छेदो.	६ से ९	६ में आलापत्रय, शेष में (७, ८, ९) में पर्याप्त आलाप
परिहारविशुद्धि	६ से ७	एक मात्र पर्याप्त आलाप
सूक्ष्मसाम्पराय	१० वाँ	एक मात्र पर्याप्त आलाप
यथाख्यात	११ से १४	एक मात्र पर्याप्त आलाप (पर १३ वें में आलापत्रय)
दर्शनमार्गणा		
चक्षु, अचक्षु	१ से १२	१, २, ४, ६ में आलापत्रय। शेष में पर्याप्त आलाप।
अवधि	४ से १२	४, ६ में आलापत्रय। शेष में पर्याप्त आलाप।
केवल	१३ से १४	१३ वें में आलाप त्रय। १४ वें में पर्याप्त आलाप।
लेश्यामार्गणा		
अशुभत्रय	१ से ४	१, २, ४ में आलाप त्रय। शेष में पर्याप्त आलाप।
शुभद्विक	१ से ७	१, २, ४, ६ ,, ,, ,, ,, ,,
शुक्ल	१ से १३	१, २, ४, ६, १३ ,, ,, ,, ,,
भव्यमार्गणा		
अभव्य	१ पहला	आलापत्रय
भव्य	१ से १४	१, २, ४, ६, १३ में आलाप त्रय। शेष में पर्याप्त आलाप

मार्गणा	सम्भव गुणस्थान	सम्भव आलाप
	(परन्तु प्रा. पं. सं. पृ. १००-१०१ के अनुसार १ से १२ गुणस्थान भव्य के)	
सम्यक्त्व मार्गणा		
मिथ्यात्व	पहला गुणस्थान	आलाप त्रय।
सासादन	दूसरा	आलाप त्रय।
मिश्र	तीसरा	पर्याप्त आलाप।
उपशम सम्यक्त्व	४ से ११	आलापत्रय चौथे में द्वितीयोपशम की अपेक्षा। प्रथमो. में पर्याप्त आलाप। शेष में पर्याप्त आलाप
क्षयोपशम सम्यक्त्व	४ से ७	,, चौथे व छठे में आलाप त्रय। शेष में पर्याप्त आलाप
क्षायिक सम्यक्त्व	४ से १४	,, ४, ६, १३ में आलाप त्रय। शेष में पर्याप्त आ.
संज्ञी मार्गणा		
असंज्ञी	१ प्रथम	आलाप त्रय।
संज्ञी	१ से १२	१, २, ४, ६ में आलाप त्रय। शेष में पर्याप्त आलाप।
आहार मार्गणा		
अनाहारक	१, २, ४, १३ व १४	१, २, ४, १३ में एक अपर्याप्त आलाप। १४ वें में पर्याप्त आलाप[1]
आहारक	१ से १३	१, २, ४, ६, १३ में आलाप त्रय। शेष में पर्याप्त आलाप।

इस प्रकार वेद से आहार मार्गणा तक आलाप कह कर आगे २० प्ररूपणा को ओघादेश में निरूपणार्थ कहते हैं।

गुणजीवापज्जत्ती, पाणा सण्णा गइंदिया काया।
जोगा वेदकसाया, णाणजमा दंसणा लेस्सा ॥७२५॥

---

१ सेसेसिक्को हवे णियमा ॥ इति वचनादयोगिनि एकः पर्याप्त एवालापः।

भव्वा सम्मत्तावि य, सण्णी आहारगा य उवजोगा ।
जोग्गा परूविदव्वा ओघादेसेसु समुदायं ।।७२६।।

गाथार्थ—१४ गुणस्थान, १४ जीवसमास, ६ पर्याप्तियाँ, १० प्राण, ४ संज्ञाएँ, ४ गति, ५ इन्द्रियाँ, ६ काय, १५ योग, ३ वेद, ४ कषाय, ८ ज्ञान, ७ संयम, ४ दर्शन, ६ लेश्या, भव्याभव्यत्व, ६ सम्यक्त्व, संज्ञित्वासंज्ञित्व, आहारकानाहारक व १२ उपयोग[1] ये समस्त ओघ व आदेश में (गुणस्थान व मार्गणास्थानों में) यथायोग्य-प्ररूपणीय हैं ।।७२५-२६।।

विशेषार्थ—ऊपर गुणस्थान आदि उपयोगपर्यन्त २० बताये हैं । उन बीसों का ओघ अर्थात् गुणस्थानों में तथा आदेश अर्थात् मार्गणास्थान में इस प्रकार से प्ररूपण करना चाहिए, जो कि आगम के विरुद्ध न पड़े । जैसे प्रथम गुणस्थान में गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण आदि २०, कितने-कितने, कैसे, कब सम्भव हैं ? इसी तरह द्वितीयादि गुणस्थानों में व सकल मार्गणास्थानों में २० प्ररूपणा करनी चाहिए ।

जीवसमासों में विशेष

ओघे आदेसे वा, सण्णीपज्जंतगा हवे जत्थ ।
तत्थ य उणवीसंता इगिबितिगुणिदा हवे ठाणा ।।७२७।।

गाथार्थ—ओघ (गुणस्थान) या आदेश (मार्गणा) में संज्ञीपर्यन्त मूल जीवसमासों का जहाँ कथन हो वहाँ उन्नीस पर्यन्त उत्तर जीवसमास स्थान के भेदों को एक (सामान्य) दो (पर्याप्त व अपर्याप्त) तथा तीन (सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त) से गुणा करने पर समस्त स्थान (जीवसमास के भेद) होते हैं ।

विशेषार्थ—गुणस्थानों में व मार्गणास्थानों में संज्ञी पंचेन्द्रिय तक १ से १६ तक जो जीव-समासों के भेद गिनाये हैं, उन्हें सामान्य आलाप से गुणा करने पर १६, उन्हें ही पर्याप्त व अपर्याप्त इन दो आलापों से गुणा करने पर १६ × २ = ३८ भेद एवं पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त इन तीन से गुणा करने पर ५७ भेद हो जाते हैं ।

संक्षिप्ततः—'सामान्य जीव' इस प्रकार एक जीवसमास तथा त्रस व स्थावर इस प्रकार दो जीवसमास के स्थान तथा एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय व सकलेन्द्रिय—इस तरह जीवसमास के ३ स्थान हैं । इसी तरह क्रमशः आगे-आगे जीवसमास स्थानों को यथागम[2] उत्पन्न करते हुए जीवसमास के १६ स्थान इस प्रकार होते हैं—

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, चतुर्गतिनिगोद ये छह हैं । ये बादर और सूक्ष्म सप्रतिष्ठित प्रत्येक व अप्रतिष्ठित प्रत्येक भेद, द्विइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचे., संज्ञी पंचे. । इस तरह सामान्य जीव रूप एक स्थान से उन्नीस भेद पर्यन्त स्थानों को १, २ व ३ से गुणा करने पर

---

१. विशेष जानकारी के लिए धवला का सम्पूर्ण दूसरा भाग देखना चाहिए । २. गो. जी. ७५-७६-७७, ध. २ पृ. ५९३ से ६०१ ।

यथाक्रम १९ भेदस्थान, ३८ भेदस्थान और ५७ भेदस्थान होते हैं। यहाँ विशिष्ट स्पष्टीकरण नहीं किया जा रहा है क्योंकि इसी ग्रन्थ में पहले विस्तृत कथन किया जा चुका है।[1]

अब 'गुणजीवा पज्जत्तीपाणा.....'इस गाथा[2] द्वारा कथित विंशति भेदों की योजना करते हैं—

वीरमुहकमलणिग्गयसयलसुयग्गहणपयउणसमत्थं।
णमिऊण गोयममहं, सिद्ध ंतालावमणुवोच्छं ।।७२८।।

गाथार्थ—महावीर स्वामी के मुख-कमल से निकले सकल श्रुत को ग्रहण करने एवं उसे प्रकट करने में सक्षम गौतम गणधर को नमस्कार करके अब मैं सिद्धान्तालाप कहूँगा ।।७२८।।

विशेष—ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार है। अतः इसमें २० प्ररूपणा का कथन सार रूप में किया गया है। यही स्थिति सिद्धान्तालाप की भी है। सिद्धान्तसम्बन्धी मुख्य मुद्दे आचार्यश्री द्वारा आगे ६-७ गाथाओं में कह दिये गये हैं। सिद्धान्तालाप का मतलब सिद्धान्तविषयक कुछ मुख्य मुद्दों का कथन। इतना ही यहाँ आचार्य श्री को 'सिद्धान्तालाप' से इष्ट रहा है।[3] विस्तार से निरूपण षट्खण्डागम की धवला टीका की दूसरी पुस्तक (पृ. ४१८ से लेकर अन्तिम पृष्ठ पर्यन्त) से समझना चाहिए। ग्रन्थ के अत्यधिक विस्तार के भय से यहाँ वह प्ररूपणा नहीं की जा रही है।

सिद्धान्तालाप कथन में ध्यातव्य नियम

मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा।
एदेसु एक्कपगदे णत्थित्ति असेसयं जाणे ।।७२९।।[4]

गाथार्थ—मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारकद्वय (आहारक व आहारकमिश्र) इन चारों में से एक के होने पर अन्य तीन भेद नहीं होते, ऐसा जानना चाहिए ।।७२९।।

विशेषार्थ— उपर्युक्त ४ मार्गणाओं में से किसी एक के होने पर (किसी जीव के) शेष ३ मार्गणाएँ नहीं होती हैं। यथा, किसी जीव के मनःपर्यय ज्ञान है तो उसके परिहारविशुद्धिसंयम, प्रथमोपशमसम्यक्त्व व 'आहारकशरीर व आहारक अंगोपांग' ये तीनों नहीं होंगे, ऐसा जानना चाहिए ।।७२९।।

शंका— तब इस तरह से तो आहारककाययोगी व आहारकमिश्र काययोगी मुनिराज के उपशम सम्यक्त्व हो, यह सम्भव नहीं है?

समाधान—नहीं, ऐसे मुनिराजश्री के क्षायिक व क्षायोपशमिक–ये दो सम्यक्त्व ही बन सकते

---

१. गो. जी. ७७-७८ एवं ७३-से७६। २. गो. जी. २ एवं गो. जी. ७२६ तथा ध. २/४१२ एवं प्रा. पं. सं. १/२। ३. सिद्धान्ताचार्यपण्डितकैलाशचन्द्रमहोदयानां प्रकथनानुसारेणेदं लिखितम्। ४. प्रा. पं. सं. १/१/१९४/पृ. ४१ एवं सं. पं. सं. १/३४० एवं ध. २/८२४ गा. २४४। परं तत्र पूर्वार्धे मणपज्जव परिहारो 'उवसमसम्मत्त दोण्णि आहारा' इति पाठः तदपि 'पढमुवसम्मत्त' इत्यस्य पाठस्योचितत्वं प्रतिभाति [टीकाकारः]

हैं, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व के साथ आहारक शरीर या आहारक सम्बन्धी योग नहीं बन सकता।[1]

शंका—गाथा में 'पढमुवसम्मत्त' शब्द आया है सो इससे तो यह साबित होता है कि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के लिए यह बात नहीं है। क्या यह ठीक है?

समाधान—ठीक है, इसमें क्या शंका?

शंका—तो फिर "द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ आहारकद्विक व परिहारविशुद्धि व मनःपर्यय होने सम्भव हैं" ऐसा कहना ठीक है ना?

समाधान—ऐसा नहीं है, वही कहा जाता है—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ जैसे मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम और आहारकद्विक ये सब (यानी तीनों) नहीं हो सकते,[2] वैसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ सभी के सभी (तीनों ही) में से कोई भी नहीं हो सकते हों, ऐसी बात नहीं है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ मनःपर्ययज्ञान तो हो सकता है।[3] हाँ, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ परिहारविशुद्धि[4] व आहारकद्विक[5] नहीं होते, इतना ठीक है। सारतः द्वितीय उपशम के साथ तीनों मार्गणाएँ निषिद्ध न होकर मार्गणाद्वय ही निषिद्ध हैं।

शंका—द्वितीयोपशमसम्यक्त्व मनःपर्ययज्ञानी के कैसे सम्भव है?

समाधान—जो वेदक सम्यक्त्व से पीछे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उस उपशम सम्यक्त्वी के प्रथम समय में भी मनःपर्ययज्ञान पाया जाता है। किन्तु सीधे मिथ्यात्व से आये हुए उपशम सम्यग्दृष्टि जीव में मनःपर्ययज्ञान नहीं पाया जाता है।

क्योंकि, मिथ्यात्व से पीछे आये हुए उपशम सम्यक्त्वी के उपशम सम्यक्त्व के उत्कृष्टकाल से भी ग्रहण किये गये संयम के प्रथम समय से लगाकर सर्व जघन्य मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करने वाला काल बहुत बड़ा है। अतः द्वितीयोपशमसम्यक्त्वी के मनःपर्ययज्ञान सम्भव है।[6] यानी प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व के रहने का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। तथा यह अन्तर्मुहूर्त काल, संयम को ग्रहण करने के पश्चात् मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करने के लिए योग्य संयम में विशेषता लाने के लिए जितना काल लगता है, उससे छोटा है। अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में मनःपर्यय की उत्पत्ति हो सकती नहीं, परन्तु द्वितीय उपशमसम्यक्त्व तो उपशम श्रेणी के अभिमुख विशेषसंयमी के ही होता है। इसलिए यहाँ पर अलग से मनःपर्ययज्ञान के योग्य विशेष संयम को उत्पन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। फलतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के ग्रहण के प्रथम समय में भी मनःपर्ययज्ञान सम्भव है।

---

१. धवल २/६६८-६६९। २. गो. जी. ७२९, ध. २/८२४ (भाषा टीका), प्रा. पं. सं. १/गा. १९४ पृ.४१ (भाषा); सं. पं. सं. १/३४० आदि। ३. ध. २/७२८-७२९ एवं पृ. ८२२ व पृ. ८२४ आदि। ४. ध.२/७३५ एवं २/८२३; २/८२४ (नक्शा ५००)। ५. धवल पु. २/६६८। ६. मणपज्जवणाणीणं भण्णमाणे अत्थि....तिण्णि सम्मत्ताणि; वेदगसम्मत्तपच्छायदुवसमसम्मत्तसम्माइट्ठिस्स पढमसमए वि मणपज्जवणाणुवलंभादो। (मिच्छत्तपच्छायद-उवसमसम्माइट्ठिम्मि मणपज्जवणाणं ण उवलब्भदे, मिच्छत्तपच्छादुक्कस्सुवसमसम्मत्तकालादो वि गहिदसंजम पढमसमयादो सव्वजहण्णमणपज्जवणाणुप्पायणसंजम कालस्स बहुत्तुवलंभादो। ध. २/७२८-७२९ एवं ८२२।

शंका—परिहारविशुद्धिसंयम, उपशम सम्यग्दृष्टि मुनिराज के क्यों नहीं हो सकता है ?

समाधान—इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व से पीछे आये हुए प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव तो परिहारविशुद्धिसंयम को प्राप्त होते नहीं हैं, क्योंकि, प्रथम उपशमसम्यक्त्व का काल तो बहुत थोड़ा है, इसलिए उसके भीतर परिहारविशुद्धिसंयम की उत्पत्ति के निमित्तभूत विशिष्ट संयम, तीर्थंकर चरणमूल वसति, प्रत्याख्यान महासमुद्र का पढ़ना आदि गुणों के होने की सम्भावना का अभाव है और न उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के भी परिहारविशुद्धि संयम की सम्भावना है, क्योंकि, उपशमश्रेणी पर चढ़ने से पूर्व ही जब अन्तर्मुहूर्तकाल शेष रहता है तभी परिहारविशुद्धि संयमी अपने गमनागमनादि विहार को बन्द कर लेता है और न उपशम श्रेणी से उतरे हुए द्वितीयोपशमसम्यक्त्वी संयत जीवों के भी परिहारविशुद्धि की सम्भावना है, क्योंकि उपशमसम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर परिहारविशुद्धिसंयमी का पुनः विहार सम्भव है।[1]

शंका—देवगति को जाने वाले मुनि के (श्रेणी से उतरकर) गमन के समय (विग्रहगति में गमन के समय) अपर्याप्तावस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पाया जाता है, अतः वहाँ परिहारविशुद्धि बन जाओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उस समय उस द्वितीयउपशमसम्यक्त्वी के गमन के समय में चतुर्थगुणस्थान पाया जाता है।[2] तथा चौथे गुणस्थान में परिहारविशुद्धिसंयम का उपदेश आगम में नहीं है।[3]

शंका—परिहारविशुद्धिसंयत के ५ संयमों में से कितने संयम होते हैं ?

समाधान—एक परिहारविशुद्धिसंयम ही होता है।[4] अथवा ऐसा परिहारविशुद्धिसंयत अन्य संयम को भी धारण करता है, यथा "जो ५ समिति और ३ गुप्ति से युक्त होता है, सदा ही सर्वसावद्य योग का परिहार करता है तथा ५ यम रूप छेदोपस्थापना संयम को और एक यमरूप सामायिक संयम को धारण करता है, वह परिहारविशुद्धि संयत कहा जाता है।"[5]

इस प्रकार चारों में से एक मार्गणा हो एक जीव में होती है, ऐसा कहकर अब आगे द्वितीयोपशमसम्यक्त्वी के मरण के बारे में आचार्यश्री कहते हैं—

बिदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु।
सग-सगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥७३०॥

गाथार्थ—उपशम श्रेणी से नीचे उतरने पर असंयत आदि गुणस्थानों को पाने वाले जीव म

---

१. ध. २/८२२-२३। २. ध. १/४०६, गो. जी. ७३० किञ्च, तस्मिन् विग्रह-काले देवगतित्वाच्चतुर्थ-गुणस्थाना दुपरितनगुणस्थानं न सम्भवति। षट्. खं. १/१६६। ३. परिहारसुद्धिसंजदाणं, भण्णमाणे अत्थि दो गुणट्ठाणाणि (पमत्त अपमत्त-गुणट्ठाणाणि) ध. २/७३४, ध. १/३७३, ३७४। ४. पमत्त-अप्पमत्त-परिहारसुद्धिसंजदाणं, परिहारसंजमो एक्को चेव। ५. पंच समिदो ति-गुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं। पंचमेय-जमो वा परिहारो संजदो सो हु। १८६/ध. १/३७४; प्रा. पं. सं. १।१३१।पृ. २८ संस्कृत पं. सं. १।२४१।

जो स्व-स्व लेश्या के अनुसार मरण करके देवगति में जाता है, उसी के देवगति में अपर्याप्तकाल में द्वितीय उपशमसम्यक्त्व होता है ॥७३०॥

विशेषार्थ—एक मात्र देवों में गमन का कारण यह है कि ऐसे जीव का अबद्धआयुष्क का तो मरण उपशम श्रेणी में होता नहीं और आयुबंध भी हुआ हो तो नियम से ऐसे जीव के देवायु ही सम्भव है, क्योंकि, अन्य नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयु के बन्ध होने पर तो वह श्रेणी चढ़े या संयम या आंशिक संयम (देश संयम) पावे, यह भी असम्भव है।[1] अतः उस सम्यक्त्वी के पास सत्त्व मनुष्यायु के सिवाय (मरण से पूर्व) किसी भी स्थिति में देवायु का ही बन पाता है, अन्य का नहीं। अतः गमन भी ऐसे जीव का देवों में ही होना बताया है।[2]

शङ्का—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति किस गुणस्थान वाले जीव के होती है ?

समाधान—मात्र असंयत सम्यक्त्वी से अप्रमत्तसंयत तक के किसी भी गुणी के इसकी उत्पत्ति सम्भव है।[3]

शंका—द्वितीय उपशम सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

समाधान—उपशम श्रेणी चढ़ते समय क्षयोपशम सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयउपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

शङ्का—सारतः द्वितीय उपशम सम्यक्त्व कहाँ-कहाँ सम्भव है ?

समाधान—पर्याप्त मनुष्यगति में व निर्वृत्यपर्याप्त देवगति, इन दो में।[4]

शंका—द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व काल के भीतर छह आवली के शेष रहने पर सासादन को भी प्राप्त हो सकता है क्या ?

समाधान—हाँ. पर यह उपदेश कषायप्राभृत चूर्णिसूत्र[5] (यतिवृषभ आचार्य कृत) के अनुसार है। किन्तु भगवान् भूतबली के उपदेशानुसार उपशम श्रेणी से उतरा हुआ सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं करता[6] ❀। प्रज्ञाऽभाव में उभयमत यावत् केवलीसन्निधि सङ्ग्रहणीय है।

---

१. हंदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण ण सक्को कसाए उवसामेदुं, तेण कारणेण णिरय-तिरिक्ख-मणुसगदिओ ण गच्छदि। ध. ६।३३१। व गो. क. ३३४-३३५ व लब्धिसार क्ष. ३५१। २. गो. क. ३३४-३५, गो. जी. ६५३। ३. ध. १।२११-१२ व कर्मप्रकृति [श्वे.] ग्रन्थ पृ. २६७ तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४८४ टीका, मूलाचार ।१२।२०५ टीका ४. (i) ध. २/४३४, (ii) पर्याप्तमनुष्यसंयमिन एव द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं भवति इति धवलायां द्वितीय-पुस्तके ७२६ पृष्ठे लिखितम्। अपर्याप्तावस्थायाञ्च द्वितीयोपशमसम्यक्त्विनो देवगतिः एव [ध. २ पृ. ८२१] इति आगमवचनाच्च। ❀ ध. २।५३८। ५. एदिस्से उवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरदो असंजमं वि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज, दो वि गच्छेज्ज। छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज ॥ ५४२-५४३ सूत्र, १४ चारित्र उप. अधि.; पतमानउपशामकक्रियाविशेष पृ. ७२६ कषायपाहुडसुत्त [चूर्णिसूत्रमय] ६. उवसमसेढिदो ओदिण्णाणं सासण-गमणा भावादो [तं पि कुदो णव्वदे? एदम्हादो चेव भूदबली-वयणादो [यत् 'सासादनानां जघन्येन पल्योपमासंख्येय-भागप्रमितमन्तरम्'] ध. ५ पृ. ११। ❀ ध. ६।३३१ व ल. सा. ३४८, ३५० [अत्र मतद्वयं निरूपितं वर्तते]।

शङ्का—गाथा में "सग-सग लेस्सा भरिदे" को पढ़कर एक चर्चा उठती है, कि किस-किस लेश्या से द्वितीयोपशमसम्यक्त्वी कहाँ जन्मेगा ? तथा इन सम्यग्दृष्टियों का उत्पाद देवों में कहाँ से कहाँ तक होता है ?

समाधान—इसे ही कहा जाता है—वेदक सम्यक्त्व को उपशमा करके और उपशम श्रेणी पर चढ़कर फिर वहाँ से उतरकर प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, असंयत और संयतासंयत उपशमसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों से मध्यम तेजोलेश्या को परिणमाकर और मरण करके सौधर्म-ऐशान कल्पवासी देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों के अपर्याप्तकाल में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। तथा, उपर्युक्त गुणस्थानवर्ती ही उत्कृष्ट तेजोलेश्या अथवा जघन्य पद्मलेश्या को परिणमाकर यदि मरण करते हैं तो औपशमिक सम्यक्त्व के साथ सानतकुमार और माहेन्द्र कल्प में उत्पन्न होते हैं। तथा, वे ही उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मध्यम पद्मलेश्या को परिणमाकर यदि मरण करते हैं, तो ब्रह्म आदि ६ कल्पों में उत्पन्न होते हैं। तथा, वे ही उपशमसम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्ट पद्मलेश्या को अथवा जघन्य शुक्ललेश्या को परिणमाकर यदि मरण करते हैं तो औपशमिक सम्यक्त्व के साथ ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग के देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा उपशम श्रेणी पर चढ़ करके और पुनः उतरे बिना ही मध्यम शुक्ल लेश्या से परिणत होकर यदि मरण करते हैं तो उपशम सम्यक्त्व के साथ तेरहवें आदि नवमें ग्रैवेयक तक इन १३ में उत्पन्न होते हैं। तथा पूर्वोक्त उपशम सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या को परिणमाकर यदि मरण करते हैं तो उपशम सम्यक्त्व के साथ नौ अनुदिश और ५ अनुत्तर विमानवासी दे में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार लेश्यानुसार मरण कहा। तथा इस (उपर्युक्त) कारण से सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊपर के सभी (यानी सर्वार्थसिद्धि तक के) असंयत सम्यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।[1]

गुणस्थानातीत सिद्धों का स्वरूप

सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खयियं।
सम्मत्तमणाहारं उवजोगाणक्कमपउत्तो ॥७३१॥

गाथार्थ—सिद्धों के सिद्धगति, केवलज्ञान और केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहार और ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग की युगपत् प्रवृत्ति होती है ॥७३१॥

विशेषार्थ—सिद्धों के नाम कर्मोदयकृत ४ गति, अशुद्ध ४ ज्ञान, ३ दर्शन तथा वेदक या उपशम (दोनों) सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व सासादन या मिश्र भाव व आहार (कर्म-नोकर्म का) एवं ज्ञान-दर्शन की क्रमवृत्ति नहीं होती है, यह इस गाथा से फलित होता है।

अन्य बात यह है कि सिद्धों के ही क्या-क्या भाव हैं, इस सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ के कर्मकाण्ड में इस प्रकार कहा गया है-

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक व पारिणामिक इन पाँच भावों में से सिद्धों के क्षायिक व पारिणामिक ये दो भाव होते हैं। तथा इन्हीं दो के उत्तरभेदों की अपेक्षा सिद्धों के सम्यक्त्व, ज्ञान,

---

१. ध.२/५६२।

दर्शन व वीर्य (ये चार क्षायिक) एवं जीवत्व (१ पारिणामिक भाव) ये कुल ५ भाव होते हैं ।[1] साथ ही सिद्धों के क्षायिकदान गुण भी है, 'क्षायिकवीर्य' की तरह, यह विशेषतया ज्ञातव्य है ।[2] इस प्रकार सिद्धों के उपर्युक्त सिद्धगति, केवलज्ञान आदि के साथ क्षायिक वीर्य, क्षायिकदान❀, क्षायिक चारित्र आदि गुणों का अस्तित्व भी ज्ञातव्य है । यद्यपि यहाँ पर कथन तो इस बात का है कि विंशति-प्ररूपणाओं में से सिद्धों के कौन-कौनसी प्ररूपणा हैं ? इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि सिद्धों में २० प्ररूपणाओं में से गाथोक्त सिद्धगति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व आदि षट् प्ररूपणा तो है और आगामी गाथा में बतायेंगे कि शेष (२०–६ = १४) चतुर्दश प्ररूपणा रहित (यथा गुणस्थानातीत आदि) हैं, परन्तु केवलज्ञान, केवलदर्शन व सम्यक्त्व ये सिद्धों के क्षायिक गुण भी हैं । अतः अन्य भी सिद्धों के क्षायिक गुणों के अस्तित्व के संकेतार्थ उपर्युक्त भावों विषयक कथन कर दिया गया है ।

शंका—कषायमार्गणा व वेदमार्गणा के अभाव होने पर उन्हें अकषाय गुणमय आदि कहा जा सकता है या नहीं ?

समाधान—क्यों नहीं ? कषाय, वेद आदि के अभाव होने से सिद्धों में अकषायत्व, अवेदत्व आदि गुण भी होते हैं, ऐसा कहना शास्त्र से अविरुद्ध है ।[3]

शङ्का—तो फिर मार्गणा के अभावों की अपेक्षा तो सिद्धों के निर्योगत्व, निरिन्द्रियत्व आदि गुण भी कहे जा सकते हैं ?

समाधान—क्यों नहीं, सिद्धों के निर्गतित्व, निरिन्द्रियत्व, निष्कषायत्व, निर्योगत्व, निर्वेदत्व आदि गुण भी कहे जा सकते हैं ।[4]

शंका—सिद्धों में आपने चारित्र कहा, सो सिद्धों के चारित्रगुण कैसे सम्भव है ? कर्मकाण्ड (गा. ८१६-८२१) में तो चारित्रगुण सिद्धों में गिनाया नहीं ?

समाधान—सिद्धों में भी अकषायरूप चारित्रगुण है, उनके चारित्रगुण की निर्मलपर्याय है । पूर्व में भी ऐसा कहा जा चुका है । वहाँ कर्मकाण्ड में सामान्य से कथन है, कहीं चारित्रगुण या क्षायिक चारित्र का सिद्धों के, वहाँ पर निषेध थोड़े ही किया गया है ।

सिद्ध किन-किन से रहित हैं

गुणजीवठाणरहिया, सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा ।
सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ।।७३२।।

गाथार्थ—सिद्ध गुणस्थान, जीवसमास, संज्ञा, पर्याप्ति व प्राण इनसे रहित होते हैं । तथा इनके

---

१. गो. क. ८२१, ८२२, ८१६ । २. स. सि. २।४ परमानंदाव्याबाधरूपेण तेषां, [क्षायिकदानादीनां] तत्र [सिद्धेषु] वृत्तिः [अस्तित्वमिति] प. प्र. १२७, २ टीका भाषा । ❀ रा. वा. २/४/७ । ३. अकषायमवेदत्तं अकारयत्तं विदेहदा चेव । अचलत्तमलेपत्तं च होंति अच्चंति याइं से ।।३१।। ध. १३।७० । ४. विशिष्टभेदनयेन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्वं, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वम्...... इत्यादिविशेषगुणाः...... बृ. द्र. सं. गा. १४ टीका [सं.]

(पूर्व की गाथा में कथित सिद्धगति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व व अनाहार इन ५ को छोड़कर) शेष नौ मार्गणाएँ नहीं पायी जाती हैं। ये सदा सिद्ध तथा शुद्ध ही रहते हैं। (क्योंकि, उनका पुनः अशुद्धावस्था से लेप असम्भव है।) ॥७३२॥

विशेषार्थ—स्पष्टीकरणार्थ सिद्धों में बीस प्ररूपणा में से गुणस्थान आदि प्ररूपणा इस प्रकार की जा सकती है, यथा-सिद्धों के—अतीत गुणस्थान, अतीत जीवसमास, अतीतपर्याप्ति, अतीत प्राण, क्षीणसंज्ञा, सिद्ध गति, [अथवा अगतित्व (चार गति के अभाव की अपेक्षा)] अतीत जाति, अकाय, अयोग, अपगतवेद, अकषाय, केवलज्ञान, संयम, असंयम और संयमासंयम इन विकल्पों से मुक्त, केवलदर्शन, द्रव्यभावतः अलेश्य, भव्याभव्यविकल्प रहित, क्षायिक सम्यक्त्व, संज्ञिकासंज्ञिक विकल्पातीत, अनाहारक, साकार-अनाकार दोनों उपयोगों से युगपत् उपयुक्त —इस प्रकार प्ररूपणा है।[1]

अतीत	०	गु.
अतीत	०	जी.
अतीत	०	प.
अतीत	०	प्रा.
क्षीण सं.	०	सं.
सिद्धगति	१	ग.
अतीन्द्रिय	०	इं.
अतीतकाय	०	का.
अयोगी	०	यो.
अपगतवेद	०	वे.
क्षीणकषाय	०	क.
केवलज्ञान	१	ज्ञा.
अनुभय	०	संय.
केवलदर्शन	१	द.
अलेश्य	०	ले.
अनुभय	०	भ.
क्षायिक	१	स.
अनुभय	०	संज्ञि
अनाहारक	१	आ.
साकार-अनाकार युगपत्	२	उ.

सिद्धों में २० प्ररूपणा

२० भेदों के ज्ञान का उपाय व फल

णिक्खेवे एयत्थे, णयप्पमाणे णिरुत्ति अणियोगे।
मग्गइ वीसं भेयं, सो जाणइ अप्पसब्भावं ॥७३३॥

गाथार्थ—जो निक्षेप में, एकार्थ में, नय में, प्रमाण में तथा निरुक्ति व अनुयोग में २० भेदों को जानता है, वह आत्म सद्भाव को जानता है।

विशेषार्थ—जो किसी एक निश्चय या निर्णय में क्षेपण करता है अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तु का उसके नामादिक द्वारा निर्णय कराता है, उसे निक्षेप कहते हैं।[1] अथवा यों भी कह सकते हैं कि अप्रकृत अर्थ का निराकरण करके प्रकृत अर्थ का निरूपण करने वाला निक्षेप है।[2] अथवा संशय, विपर्यय व अनध्यवसायरूप विकल्प से हटाकर जो निश्चय में स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ के सम्बन्ध में जितने विकल्प होते हैं, उनका जो कथन करता है उसे निक्षेप कहते हैं।[3] तथा वह नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव के भेद से ४ प्रकार का होता है।[4]

प्राणभूत असाधारण लक्षण एकार्थ कहा जाता है। यथा जीव का लक्षण चेतना। अथवा एक ही है अर्थ जिनका, वे शब्द एकार्थ

---

१. ध. २/४५१/५७०/८५५/४६२ ....१८५५ आदि। २. ध. १।११ ३. ध. १३।३ जयधवला ८।८
४. ध. १३।१९८। ५. ध. १३/४९८।

कहे जाते हैं, यथा "प्राणी व जीव" दोनों शब्द आत्मा (आत्मा नामक अर्थ) के ही वाचक हैं।

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।[1] अथवा श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।[2] अथवा प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) के द्वारा सम्यक् प्रकार से गृहीत वस्तु के एकधर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। अथवा जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, वह नय है।[3] अथवा यों कहा जा सकता है कि वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला नय होता है।[4] अथवा यों भी कहा जा सकता है कि वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का लक्षण है।[5]

यह नय प्रमाण के अवयव रूप होता है।[6] इसके मूलतः दो भेद होते हैं १. द्रव्यार्थिक २. पर्यायार्थिक[7] अथवा यों भी कहा जा सकता है कि नयों के ये मूल दो भेद हैं १. निश्चय २. व्यवहार। इन्हीं मूलनयद्वय के उत्तरभेद संख्यात या असंख्यात अथवा अनन्त तक भी होते हैं।

सकल वस्तु का ग्राहक प्रमाण होता है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु-स्वरूप जाना जाता है, निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है।[8]

सारतः अनियत अनेक धर्मविशिष्ट वस्तु (सम्पूर्ण वस्तु) को विषय करने वाला प्रमाण होता है और नियत एकधर्मविशिष्ट वस्तु को विषय करने वाला नय होता है।

जिस क्रिया, प्रत्यय आदि के द्वारा, जिस अर्थ में शब्द की निष्पत्ति होती है, उसको उसी प्रकार से कहना निरुक्ति है। जैसे "जो जीता है, जियेगा और पूर्व में जी चुका है, उसे जीव कहते हैं।"[9]

जीव आदि पदार्थों के जानने के उपाय विशेष को अनुयोग कहते हैं। वे ये हैं - (६ भेद) निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान[10]।

इस प्रकार इन उपर्युक्त निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति व अनुयोग के द्वारा जो पूर्व कथित २० प्ररूपणाओं को जानता है, वह आत्मा के स्वरूप को जान लेता है।

इस प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्ड में **आलाप प्ररूपणा** नामक बाईसवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. आ. पद्धति १८१, धवला ९। २. आ. प. १८१ एवं समयसार ता. वृ. १५०। ३. आ. प. १८१, स्याद्वाद मञ्जरी ३१०। ४. स्वा. कार्ति. अनु. गा. २६३। ५. प्रवचनसार १८१ ता. वृ. ६. आ. प. नयाधिकार ३९ ७. ध. १।१२ एवं स. सि. १।३३ ८. आ. प. ७७। सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं, प्रमीयते, परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम्। अथवा सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् आ. प. ३४। ९. रा. वा. १/४/७ जीवति, अजीवत् जीविष्यति इति वा जीवः। स्वा. कार्ति. अ. ११० लोकानुप्रेक्षा। गा. १३९ टीका १०. त-सू. १।७।

अन्त में नेमिचन्द्राचार्यवर्य आशीर्वचनात्मक गाथा कहते हैं

अज्जज्जसेणगुणगणसमूह-संधारि अजियसेणगुरू ।
भुवणगुरू जस्सगुरू सो राम्रो गोम्मटो जयउ ।।७३४।।

गाथार्थ—आर्य आर्यसेन के बहुत गुणों के समूह का संधारण करने वाले अजितसेन गुरु-जो त्रिभुवन के गुरु हैं- वे जिसके गुरु हैं, वह गोम्मट राजा जयवन्त वर्तो ।

❀ गाथासूची ❀